'फोबोस' अभियान : मंगल के रहस्यमय चन्द्रमा से घनिष्ठ परिचय की योजना

राघवेन्द्र कृष्ण प्रताप

'भौमो भूमिपुत्रश्च ऋणहर्ता धनप्रदा' यह पंक्ति आज भी कर्मकाण्डी हिन्दू अपनी प्रातःकालीन उपासना के क्रम में दुहराते हैं। 'सत्य जातकम्' के अनुसार मंगल रक्तवर्ण, युवा, ऊर्ध्वादृष्टा है। प्रकृति से अत्यन्त निर्दय, अस्थिर चित्त और भयानक तथा कार्यों में अविवेकी है। 'फल दीपिका' में मंगल के सम्बन्ध में निम्नलिखित कथन प्रस्तुत किया गया है :

मध्येकृशः कुञ्चितदीप्तकेशः क्रूरेक्षणः पैत्तिक उग्रबुद्धिः।
रक्ताम्बरो रक्ततनुर्महीजश्चण्डोऽत्युदारस्तरुणोऽति-मज्जः ॥

यह एक तथ्य है कि अन्य रहस्यमय ग्रह-विवरणों की भाँति उपरोक्त कथन वैज्ञानिकता की कसौटी पर सही नहीं उतरते। मंगल के वैज्ञानिक विवरणों में उसके दो उपग्रहों का उल्लेख 1910 में **केप्लर** द्वारा किया गया था परन्तु **केप्लर** की यह उपकल्पना 1877 में ही सत्यापित की जा सकी। इन उपग्रहों का नामकरण यूनानी युद्धदेवता के दो सहयोगियों **फोबोस (भय)** और **दिमोस (आतंक)** के नाम पर किया गया, परन्तु अन्य जानकारी अन्तरिक्ष अभियानों द्वारा ही प्राप्त हो सकी।

फोबोस का व्यास 27 किलोमीटर है और इसकी मात्रा मंगल की मात्रा की $1 \cdot 5 \times 10^{-8}$ वाँ भाग है। इसका घनत्व 2 ग्रा०/ घनसेमी०. होने के कारण इसकी ज्वालामुखी-लावा होने की सम्भावना के स्थान पर कार्बन-कोन्ड्राइट उल्कापिण्ड होने की सम्भावना है, जो सी-ग्रहिकाओं (C-Asteroids) में प्राप्त पदार्थ के समान है।

वैज्ञानिकों के अनुसार ग्रहिका-पट्टी (Asteroid Belt) विभिन्न संरचनाओं के आकारों से बनी है। इसका भीतरी क्षेत्र जो पृथ्वी के निकट है उसमें एस-ग्रहिकाओं (S-Asteroids) की बहुलता है जो पृथ्वी और चन्द्रमा के महत्वपूर्ण घटक के समान सिलीकेट उल्कापिंडों की बनी है। बाहरी क्षेत्र में सी-ग्रहिकाओं की सघनता है। इन्हीं से मंगल के उपग्रहों की निर्मित स्वीकार की जाती है।

यह उपग्रह मङ्गल के चारों ओर उसी प्रकार प्रदक्षिणा करते हैं जैसे पृथ्वी के चतुर्दिक चन्द्रमा। उनका एक ही पहलू ग्रह की ओर रहता है।

इन उपग्रहों की गति की प्रथम व्याख्या 1911 में सोवियत अन्तरिक्ष वैज्ञानिक **जी० स्त्रुवे** द्वारा 1877 से 1909 की अवधि के प्रेक्षणों के आधार पर की गयी थी। आज भी इन गणनाओं के आधार पर ही इन उपग्रहों का मार्ग निर्धारण किया जाता है। यह भी अनुमान किया गया है कि 3 से 7 करोड़ वर्षों में मङ्गल के गुरुत्वाकर्षण बल के कारण फोबोस मङ्गल से टकरा जाएगा।

परन्तु फोबोस और दिमोस मङ्गल की उपग्रह-कक्षाओं में कैसे पहुँचे, इसका भी कोई सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं है। केवल गुरुत्व-बल के कारण ऐसा सम्भव नहीं हो सकता क्योंकि दोनों उपग्रहों का निर्माण मङ्गल से अपेक्षाकृत अधिक दूरी पर हुआ है।

प्रवक्ता (शिक्षा), ए० पी० एन० डिग्री कॉलेज, बस्ती (उ० प्र०)

एक सिद्धांत उन्हें एक अन्तरिक्षीय विस्फोट से उत्पन्न स्वीकार करता है जबकि एक अन्य सिद्धांत उन्हें मङ्गल के उस आकर्षण बल से जोड़ता है जो आज की तुलना में कभी 10000—100000 गुना था। परन्तु इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि बृहस्पति के निकट के ग्रहिका क्षेत्र से आने वाले यह उपग्रह मंगल तक किसी महान अन्तरिक्षीय विक्षोभ के परिणाम-स्वरूप ही पहुँचे होंगे। फिर भी यह प्रश्न अनुत्तरित ही है कि ग्रहिका-पट्टी की बाह्य परिधि से सी-ग्रहिकाएँ मङ्गल की उपग्रह कक्षाओं में आकर क्यों स्थापित हुयीं जबकि निकट की एस-ग्रहिकाएँ उपलब्ध थीं।

फोबोस के तल पर कुछ विशेष गड्ढों (क्रेटर) की उपस्थिति भी आश्चर्यजनक है। यह गड्ढे, स्पष्ट ही किसी ज्वालामुखी का परिणाम नहीं हैं। परन्तु इनमें सबसे बड़ा स्टिकनी क्रेटर 10 किमी० व्यास का है और इसकी निकटवर्ती दरारें 400-600 मीटर चौड़ी और 60-90 मीटर गहरी हैं—किसी शक्तिशाली आघात या संघट्ट की ओर संकेत करता है।

फोबोस का धरातल अल्कापिंडों से टकराव के कारण परिवर्तित भी हुआ है और इसका अध्ययन हमें सौरमण्डल के सम्बन्ध में भी महत्वपूर्ण जानकारी दे सकता।

फोबोस अभियान में आस्ट्रिया, बलगारिया, हंगरी, जर्मन जनवादी गणतन्त्र, पोलैंड, फिनलैंड, फ्रांस, चेकोस्लोवाकिया, स्विटजरलैंड, स्वीडन और यूरोपीय अन्तरिक्ष एजेन्सी के वैज्ञानिक भाग ले रहे हैं।

1988 के मध्य में फोबोस-अभियान का प्रारम्भ इस वैज्ञानिक घटना पर आधारित है कि वर्षों के अंतराल में एक बार पृथ्वी मङ्गल और सूर्य को मिलाने वाली रेखा में स्थित होती है। लगभग 200 दिनों में अभियान राकेट मङ्गल की दीर्घवलयी कक्षा में प्रवेश करेगा। इसके कुछ दिनों बाद अन्तरिक्षयान के मार्ग को इस प्रकार निर्देशित किया जाएगा कि फोबोस और अन्तरिक्षयान दोनों ही लगभग 20 मिनटों की अवधि के लिये कुछ दर्जन मीटरों की दूरी पर रह सकें। इस स्थिति में अन्तरिक्षयान 2-5 मीटर प्रति सेकेन्ड की गति से गतिमान रहेगा।

फोबोस-अभियान का एक उद्देश्य फोबोस के धरातल की जाँच है। लेसर और आयन-किरणों द्वारा किसी उपग्रह के धरातल की दूर से जानकारी का यह प्रयोग अन्तरिक्ष-अध्ययन के क्षेत्र में पहला होगा। इस प्रयोग के दो भाग हैं।

लीमा-प्रयोग में एक लेसर किरण को क्षणांश (10^{-8} से०) के लिये एक मिलीमीटर व्यास के क्षेत्र पर केन्द्रित किया जाएगा। इससे एक विस्फोटजन्य वाष्पीकरण की स्थिति उत्पन्न होगी-- इस प्रक्रिया में निसृत कुछ आयन पृथ्वी-प्रेषित यान के विशेष उपकरणों द्वारा विश्लेषित किये जायेंगे।

दियोन-प्रयोग में त्वरित क्रिप्टन आयन किरणों के फोबोस-धरातल पर टकराने के कारण उत्पन्न द्वितीयक आयनों का विश्लेषण वर्णक्रममापी द्वारा करने की योजना है।

फोबोस और अभियान-राकेट के साथ-साथ गति करने के क्रम में लगभग सौ स्थानों के धरातल का विश्लेषण इन प्रयोगों द्वारा किया जाएगा।

इन प्रयोगों के अतिरिक्त अन्य पारम्परिक विधियों का प्रयोग टेलीविज़न फिल्मीकरण भी किया जाएगा। इससे प्राप्त रंगीन चित्र, और धरातल के पदार्थ के लीमा और दियोन-प्रयोगों के परिणाम फोबोस-धरातल के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी प्रदान करेंगे।

इन्फ्रारेड और गामा-वर्णक्रम विश्लेषण की विधियाँ भी प्रयोग की जाएँगी। पहली विधि से फोबोस धरातल के तापीय और परावर्तनीय गुणों और खनिज संगठन के सम्बन्ध में सूचनाएँ मिलेंगी। गामा वर्णक्रम विश्लेषण लोहा, सिलिकन, एल्युमिनियम, कैल्शियम और मैग्नीशियम के साथ-साथ रेडियो सक्रिय तत्वों यूरेनियम, थोरियम आदि के विषय में भी सूचना प्रदान करेगा। फोबोस के धरातलीय विश्लेषण के लिये यान पर राडार-संकुल की भी व्यवस्था की जाएगी।

[शेष पृष्ठ 4 पर]

गरीबों का सेब : टमाटर

प्रो० सीताराम सिंह 'पंकज'

टमाटर एक सस्ता किन्तु स्वास्थ्यवर्द्धक लोकप्रिय फल है। इसे भारत ही नहीं विदेशों में भी बड़े चाव से खाया जाता है। टमाटर का वानस्पतिक नाम **लाइकोपर्सिकम इस्कुलेन्टम** है। अमेरिका की खोज के पूर्व इसकी खेती पेरू (द० अमेरिका) में होती थी। आज यह भारत के विभिन्न भागों में उपजाया एवं खाया जाता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में टमाटर भारत में आया। देहाती भाषा में इसे 'विलायती बैंगन' और अलंकारिक भाषा में 'गरीबों का सेब' (पुअर्स एप्पल) कहते हैं। टमाटर की विभिन्न प्रजातियाँ भारत और विदेशों में पायी जाती है। बहुत अधिक ठंढ़े भागों को छोड़कर सारे संसार में इसकी खेती होती है। कुछ टमाटर छोटे और लंबे होते हैं जबकि अधिकांश गोल होते हैं। कच्चा टमाटर हरा होता है किन्तु पकने पर यह पीला और लाल हो जाता है। लाल टमाटर जितना सुन्दर दिखता है, उतना ही सुन्दर और स्वादिष्ट खाने में भी लगता है।

रासायनिक संगठन

टमाटर में विभिन्न प्रकार के विटामिन तथा खनिज लवण पाये जाते हैं, जो पोषण की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण होते हैं। एक पके टमाटर में (प्रति 100 ग्राम)—सोडियम 2·8 मि० ग्राम, पोटाशियम 2 88 मि० ग्रा०, मैगनीशियम 11·0 मि० ग्रा०, लोहा 0·43 मि० ग्रा०, तांबा 0·10 मि० ग्रा०, फॉस्फोरस 21·3 मि० ग्रा०, सल्फर 10·7 मि० ग्रा०, तथा क्लोरीन 51 0 मि० ग्रा० होता है। इसके अतिरिक्त विटामिन 'ए', 'बी', 'सी', 'ई', 'के' तथा अन्याय तत्व भी मिलते हैं। कच्चे तथा पक्के टमाटर की तुलनात्मक रासायनिक संरचना निम्नलिखित तालिका द्वारा प्रदर्शित की गई है—

	कच्चा टमाटर	पका टमाटर
(i) विटामिन मि० ग्रा०/100 ग्राम		
एस्कार्बिक अम्ल (विटामिन 'सी')	31·0	32·0
रिबोफ्लेबिन	0·06	0·06
थाइमिन	0 07	0·12
निकोटिनिक अम्ल	0·4	0·4
(ii) खनिज लवण मि० ग्रा०/100 ग्राम		
लोहा	2·4	0·1
फॉस्फोरस	40·0	20·0
कैल्शियम	20·0	10·0
(iii) वर्णक (आई० यू०)		
कैरोटीन (विटामिन 'ए' के रूप में)	3·20	3·20

पके टमाटर में फ्रुक्टोज, ग्लूकोज एवं सुक्रोज प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। कच्चे टमाटर में स्टार्च, लोहा, कैल्शियम की प्रचुरता होती है। टमाटर के पकने पर स्टार्च की मात्रा कम तथा शर्करा की मात्रा ज्यादा हो जाती है। प्रोटोपेक्टिन की उपस्थिति से

के० एस० आर० कॉलेज, सरायरंजन, समस्तीपुर, बिहार

कच्चा टमाटर कड़ा होता है। पकने पर टमाटर में प्रोटोपेक्टिन की मात्रा कम हो जाती है तथा पेक्टिन की मात्रा बढ़ जाती है। बीटा कैरोटीन की उपस्थिति के कारण पका टमाटर आकर्षक लाल रंग का दिखता है।

टमाटर का खट्टापन और इसकी अम्लीयता एस्कार्बिक अम्ल की प्रचुरता के कारण होती है। इसके अतिरिक्त टमाटर में मैलिक अम्ल, ऐसिटिक अम्ल, फॉर्मिक अम्ल, लैक्टिक अम्ल, सक्सिनिक अम्ल आदि भी अल्पांश में पाए जाते हैं। कच्चे और पके टमाटर में लगभग सभी महत्वपूर्ण एमीनोअम्ल पाये जाते हैं। पके टमाटर में कोबाल्ट, जिंक, आरसेनिक, मैंगनीज, बोरन, अल्यूमिनियम आदि भी सूक्ष्मांश में पाये जाते हैं।

आहार का टमाटर

आहार में टमाटर विविध रूपों में प्रयोग में लाया जाता है। टमाटर का महत्व संतरे और सेब से कम नहीं है। कच्चे और पके दोनों प्रकार के फल खाये जाते हैं। सच पूछिए तो टमाटर सम्पूर्ण विश्व में भोजन का एक प्रमुख अंग बन गया है। प्याज, मूली, गाजर, संतरा, अमरूद आदि के साथ टमाटर मिलाकर लजीज सलाद बनाया जाता है। यही नहीं इसका मीठा या नमकीन चटनी, जूस, सूप, कटलेट, जेली आदि भी बहुत स्वादिष्ट और पोषक होता है। टमाटर में मौजूद विटामिन और खनिज लवण बच्चे, बूढ़े और सयाने—सबके लिए रुचिकर, पोषक और स्वास्थ्यवर्द्धक होता है।

आयुर्वेदशास्त्र में टमाटर

आयुर्वेदशास्त्र में भी टमाटर की चर्चा है। आयुर्वेद के अनुसार टमाटर अम्लीय, मधुर, शीत वीर्य, पाचक, रक्तशोधक और दीपन होता है। यह अतिसार, बेरी-बेरी, गठिया, सूखा रोग, मधुमेह, हृदयदौर्बल्य में उपयोगी होता है। यह यकृत को उत्तेजित कर भूख जगाता है तथा स्मृति को तीक्ष्ण बनाता है। विटामिन 'सी' की प्रचुरता से यह शरीर के विजातीय तत्वों को निकालने में सक्षम है। यह कब्ज एवं रक्त-विकारों को दूर कर सुन्दर स्वास्थ्य प्रदान करता है। हर दृष्टि से टमाटर का अधिकाधिक प्रयोग सुन्दर, पोषक एवं स्वास्थ्योपयोगी है।

□□

[पृष्ठ 2 का शेषांश]

अभियान राकेट के फोबोस के निकट से गुजरने के समय एक विशेष उपकरण फोबोस-धरातल पर उतरेगा। अभी इस उद्देश्य से दो प्रकार के उपकरण विकसित किये जा रहे हैं। इनमें से एक उपकरण लम्बे समय तक सूचना देने वाले केन्द्र (Long Surviving Autonomous Station-LAS) के रूप में विकसित किया जा रहा है। धरातल पर पहुँचने के साथ यह उपकरण अपने को धरातल से संयुक्त कर सकेगा क्योंकि फोबोस का स्वयं गुरुत्वाकर्षण पृथ्वी की अपेक्षा हज़ारवाँ भाग ही है। जब उपकरण के धरातल पर उतरने के कारण उत्पन्न धूल का गुबार शांत हो जाएगा तभी उपकरण के सौर-फलक खुलेंगे और अपने को सूर्य की ओर मोड़ लेंगे।

प्रत्येक दिन एल० एस० ए० और पृथ्वी के बीच रेडियो-सूचना-सम्पर्क के दौरान एल० एस० ए० की पृथ्वी के सापेक्ष गति और दूरी की सूचनाओं के साथ साथ अन्य सूचनाएँ भी प्राप्त की जाएँगी। उदाहरण के लिये, एक रेडियो ट्रांसमीटर पृथ्वी पर अपने संकेत विशाल रेडियो टेलिस्कोपों को प्रेषित करेगा और इन आंकड़ों से अन्तरिक्षीय यांत्रिकी की समस्याओं के समाधान के प्रयास किये जायेंगे। 100 वर्षों में फोबोस की कक्षा में घटने वाले परिवर्तन और इस उपग्रह के गुरुत्वकेन्द्र के सापेक्ष के स्वयं के कम्पन भी इस अभियान की जाँच के विषय होंगे।

□□

सैद्धान्तिक भौतिकी के मूल नियम

मूल : ऐल्बर्ट आइंस्टीन
अनुवाद : डॉ० शिवगोपाल मिश्र

विज्ञान वह प्रयास है जिसके द्वारा अपने अस्त-व्यस्त इन्द्रिय अनुभवों को तार्किक दृष्टि से समरूप देना चाहते हैं। इस प्रणाली में किसी अनुभव को सैद्धान्तिक ढाँचे से इस प्रकार सहसम्बन्धित किया जाता है कि जो समन्वय प्राप्त हो वह विश्वसनीय तथा अभूतपूर्व हो।

इन्द्रिय अनुभव तो ज्ञात विषय हैं लेकिन जो सिद्धान्त उनकी विवेचना करेगा वह मानव निर्मित है और यह अनुकूलन की अत्यन्त श्रमसाध्य विधि का परिणाम होता है—यह सदैव काल्पनिक होता है—अधूरा एवं सन्देहास्पद। धारणाओं (Concepts) को बनाने की वैज्ञानिक विधि हमारे दैनिक जीवन में व्यवहृत विधि से भिन्न होती है—अत्यन्त कष्टप्रद एवं प्रयोगात्मक सामग्री के क्रमबद्ध चुनाव से युक्त तथा तर्क के लिए बहुत कम अवसर प्रदान करने वाली।

जिसे हम भौतिकी (Physics) कहते हैं वह प्राकृतिक विज्ञान का वह समूह है जिसकी धारणाएँ मापों पर आधारित होती हैं और जिसकी धारणाओं तथा साध्यों से गणितीय सूत्र बनते हैं। अतएव भौतिकी जगत् की परिभाषा हमारे उस समग्र ज्ञान के रूप में की जा सकती है जो गणितीय पदों में व्यक्त किया जा सकता है। किन्तु विज्ञान की प्रगति के साथ भौतिकी जगत् इतना विस्तीर्ण हुआ है कि इसका परिसीमन विधि की सीमाओं से ही सम्भव प्रतीत होता है।

> प्रायः कहा जाता है कि विज्ञानी मन्द दार्शनिक होता है तो फिर क्या यह ठीक बात नहीं होगी कि भौतिकीविद् दार्शनिक को दर्शन सँभालने दे ? ऐसे समय, जब भौतिकीविद् के पास मूलभूत धारणाओं एवं नियमों का ढेर है जो संशय से परे हैं, ऐसा सोचना ठीक ही होगा किन्तु जब भौतिकी की नींव ही समस्यामूलक बन चुकी हो तो ऐसा सोचना ठीक न होगा। ऐसी परिस्थिति में, जब अनुभव बाध्य कर रहा हो कि नवीनतर और सुदृढ़ आधार भूमि ढूँढी जाय, भौतिकीविद् मूक दर्शक नहीं बनना चाहेगा क्योंकि उसे पता है कि उसका जूता कहाँ चुभता है। ऐसी नवीन आधारभूमि की खोज करते हुए उसे मन में स्पष्ट हो लेना होगा कि वह जिन धारणाओं को प्रयोग में ला रहा है वे कितनी वैध और आवश्यक हैं। —आइंस्टीन

भौतिक शोध का अधिकांश भौतिकी की विविध शाखाओं के विकास से बना हुआ है जिसमें से प्रत्येक का उद्देश्य अनुभव के सीमित परिसर का सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त करना है ओर प्रत्येक में नियम तथा धारणाएँ यथासम्भव अनुभव से सम्बद्ध रहती हैं। विज्ञान

के इसी विभाग ने अपने नित्य वर्धमान विशिष्टीकरण के द्वारा विगत शताब्दियों में व्यावहारिक जीवन में क्रान्ति उत्पन्न कर दी है और ऐसी सम्भावना उत्पन्न की है जिससे मनुष्य शारीरिक श्रम करने से मुक्ति पा सकता है।

प्रारम्भ से ही सारे विज्ञानों को बाँधने वाले सैद्धान्तिक आधार (नींव) की खोज की जाती रही है। लोगों का यह विश्वास रहा है कि इस चरम उद्देश्य की प्राप्ति हो सकती है और शोधकर्त्ताओं की लगन का यही प्रमुख स्रोत रहा है। जब हम आधार या नींव की बात करते हैं तो हमारा अभिप्राय शतप्रतिशत इमारत की नींव जैसा नहीं होता। हाँ, भौतिकी के विभिन्न नियम इसी आधार पर टिके होते हैं। किन्तु इमारत किसी अंधड़ या बाढ़ से क्षतिग्रस्त भले हो जाय, उसकी नींव अक्षत रही आती है, इसके विपरीत विज्ञान में नये अनुभवों या नये ज्ञान के कारण विज्ञान की नींव सबसे अधिक ख़तरे में पड़ जाती है। हमें आश्चर्य होता है कि भौतिकी में क्रान्तिकारी युग के समय यह नींव क्यों नहीं बदली।

एक समान सैद्धान्तिक नींव डालने का प्रयास **न्यूटन** ने किया। उन्नीसवीं शती के अन्त तक उसके सिद्धान्त निर्णायक बने रहे। इसमें दूरी पर गुरुत्वाकर्षण का नियम सूत्रबद्ध हुआ था। इससे न केवल नैसर्गिक पिण्डों की गतियों का विस्तृत पता चलता था अपितु ऊर्जा की अविनाशिता और उष्मा के सिद्धान्त का सरल विवेचन प्राप्त होता था। किन्तु इसके द्वारा प्रकाश के सिद्धान्त की विश्वसनीय व्याख्या नहीं हो पा रही थी। **न्यूटन** प्रकाश के तरंग सिद्धान्त को सुनना भी नहीं चाहता क्योंकि यह उसके सैद्धान्तिक आधार के लिए अनुप्रयक्त था। यह कल्पना कि अवकाश (Space) ऐसे द्रव्य कणों से पूरित है जो प्रकाश तरंगों का वहन करते हैं उसे नितान्त कृत्रिम लगती रही होगी। उस समय प्रकाश की तरंग प्रकृति विषयक प्रबल से प्रबल तर्क अज्ञात थे अतएव **न्यूटन** का अपने प्रकाश के कणिका सिद्धान्त में दृढ़ बने रहना ठीक ही था।

उन्नीसवीं शती में आकर तरंग सिद्धान्त के पक्ष में निर्णय हो गया किन्तु किसी के मन में भौतिकी के आधार को लेकर कोई गम्भीर सन्देह उत्पन्न नहीं हुआ क्योंकि किसी को ज्ञात न था किस अन्य विन्दु पर नींव डाली जाय। यह तो क्रमशः विकास होते रहने पर भौतिकी की नई नींव क्षेत्र भौतिकी (Field Physics) के रूप में पड़ी।

न्यूटन के समय से ही गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त (यान्त्रिक सिद्धान्त) कृत्रिम लगता था और गतिज सिद्धान्त के द्वारा उसकी विवेचना करने वाले प्रयासों की कमी नहीं थी किन्तु प्रयास सतही थे अतएव निष्फल रहे आये। अवकाश की भूमिका को महत्व देने वाले हुए **अर्न्स्ट माख**।

फैराडे, मैक्सवेल तथा हर्त्स आजीवन यान्त्रिक सिद्धान्त (Machanical theory) के पोषक बने रहे। हर्त्स ने वैद्युत्चुम्बकीय क्षेत्र के समीकरण प्राप्त किये और घोषित किया कि जो भी सिद्धान्त इन समीकरणों को प्राप्त करेगा वह मैक्सवेल का सिद्धान्त होगा किन्तु हर्त्स ने अपने जीवन के अन्तिम काल में एक शोध-पत्र लिखा जिसमें उसने शक्ति की धारणा से विहीन यांत्रिक सिद्धान्त प्रस्तुत किया। फैराडे ने अपने द्वारा ज्ञात किये गये वैद्युत्चुम्बकीय प्रभावों की एक गुणात्मक धारणा बना रखी थी—किस प्रकार विद्युत् क्षेत्र में रखे लोहे के रेतन विद्युत् कण बनकर

> यदि आप सैद्धान्तिक भौतिकीविदों की विधियों के विषय में कुछ जानना चाहते हैं तो मेरी राय है कि उनके शब्दों पर मत जाइये अपितु उनके कार्यों पर ध्यान दीजिये।

नाचते हैं। और ऐसे क्षेत्रों को दिक्काल (Time -space) में सूत्र-बद्ध करना मैक्सवेल का कार्य था। जरा उसकी अनुभूतियों के विषय में कल्पना करें कि जब उसके द्वारा बनाये गये अवकल समीकरण उसे बतला रहे थे कि वैद्युत्चुम्बकीय क्षेत्र ध्रुवित तरंगों के रूप में प्रकाश के वेग से फैले हैं। उसने उन रोमांचक क्षणों में कभी सोचा भी नहीं होगा कि प्रकाश की प्रकृति सम्बन्धी यह गुत्थी भावी पीढ़ियों को भी भरमाती रहेगी। जब हर्त्स ने प्रयोगों द्वारा दिखला दिया कि मैक्सवेल की वैद्युत् चुम्बकीय तरंगें विद्यमान हैं तब कहीं जाकर नवीन सिद्धान्त के प्रति अवरोध दूर हो सका।

समन्वित ऐसे सिद्धान्त प्राप्त करने के प्रयास होते रहे हैं किन्तु अभी तक किसी को सफलता नहीं मिली है। कोई सिद्धान्त बनाने के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं होता कि लक्ष्य की स्पष्ट धारणा हो। इसके लिए अनन्त सम्भावनाओं को सीमित करने वाली दृष्टि चाहिए। अभी तक ऐसा नहीं हो पाया इसीलिए समग्र भौतिकी के लिए क्षेत्र सिद्धान्त कोई आधार नहीं दे पाया।

कई दशकों तक भौतिकीविद् इसी विश्वास पर अड़े रहे कि मैक्सवेल सिद्धान्त के लिए यान्त्रिक ढाँचा ढूँढ़ लिया जावेगा किन्तु उनके प्रयास सन्तोषजनक

शुद्ध तार्किक चिन्तन से प्रत्यक्ष जगत् का हमें कोई ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। वास्तविकता का ज्ञान अनुभव से शुरू होता है और उसी में समाप्त होता है। शुद्ध तर्क से प्राप्त संकल्पनाएँ वास्तविकता से शून्य होती है। **गैलीलियो** ने इसे समझा इसीलिए उसे आधुनिक भौतिकी का या समग्र आधुनिक विज्ञान का जनक माना जाता है।

सैद्धान्तिक भौतिकी की सम्पूर्ण प्रणाली धारणाओं मूलभूत नियमों से बनी है जो तार्किक निगमन द्वारा प्राप्त धारणाओं और निष्कर्षों के लिए वैध माने जाते हैं। भौतिकी की सैद्धान्तिक प्रणाली में शुद्ध तर्क (कारण) तथा अनुभव को उनका यथेष्ट स्थान प्रदान किया जाता है। न्यूटन प्रथम स्रष्टा है सैद्धान्तिक भौतिकी का।

परिणाम नहीं दे पाये जिससे वे यान्त्रिक आधार क विचारधारा को त्याग नहीं सके।

यदि वैद्युत्चुम्बकीय क्षेत्र पदार्थ स्रोत से स्वतन्त्र रहकर तरंग रूप में विद्यमान रह सकता है तो फिर गुरुत्वाकर्षण के साथ ऐसा क्यों नहीं हो सकता? अब न्यूटन के गति-नियम में द्रव्यमान विन्दु रह गये किन्तु **जे० जे० टामसन** ने यह इंगित किया कि मैक्सवेल सिद्धान्त के अनुसार गतिशील विद्युत् आवेशित पिंड में चुम्बकीय क्षेत्र होना चाहिए। इस तरह के प्रश्नों से पदार्थ की विवेचना क्षेत्र सिद्धान्त के रूप में होने लगी जिसको हल करने से पदार्थ की परमाणु-संरचना की व्याख्या हो सकती है। शीघ्र ही ऐसा समझा जाने लगा कि मैक्सवेल सिद्धान्त से इस लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता। तब से पदार्थ के सिद्धान्त से

इस तरह भौतिकीविद् क्षेत्र सिद्धान्त पर डटे हैं किन्तु इसे आधार (नींव) नहीं कहा जा सकता क्योंकि कोई यह नहीं बता सका कि एक ओर यह गुरुत्वाकर्षण की विवेचना कर सकेगा और दूसरी ओर पदार्थ के मूलभूत घटकों की भी विवेचना कर सकेगा। ऐसी दशा में पदार्थ के कणों को न्यूटन के गति नियमों का पालन करते सोचना आवश्यक हो गया। इस विधि से ही **लोरेन्ट्ज** ने इलेक्ट्रॉन सिद्धान्त तथा गतिशील पिंडों की वैद्युत् चुम्बकीय घटना प्राप्त की।

वर्तमान शताब्दी में दो स्वतन्त्र सैद्धान्तिक प्रणालियाँ विकसित हुईं—**सापेक्षता का सिद्धान्त** और **क्वाण्टम सिद्धान्त**। यद्यपि ये सिद्धान्त एक दूसरे के विरोधी नहीं लगते किन्तु इनसे एकीकृत सिद्धान्त नहीं बन पाया। सापेक्षता का सिद्धान्त कैसे विकसित हुआ—जरा देखें। मैक्सवेल के समीकरण लारेन्ट्ज रूपान्तरण होने पर एक रूप के समीकरणों में बदल जाते हैं। सापेक्षता का सामान्य सिद्धान्त **गैलीलियो** तथा न्यूटन के समय से ज्ञात तथ्य की विवेचना के फलस्वरूप बना। न्यूटन तथा गैलीलियो ने जड़त्व (inertia) की जो धारणा प्रस्तुत की थी उसे तोड़ना आवश्यक था। इसे सापेक्षता के सिद्धान्त ने कर दिखाया। किन्तु यह कहना कठिन है कि इससे भौतिकी को पूर्ण तथा सन्तोषजनक आधार मिल गया है। समग्र क्षेत्र गुरुत्वाकर्षण तथा वैद्युत्-चुम्बकीय क्षेत्रों से बना हुआ रहता है। फिर इस नये सिद्धान्त से पदार्थ की परमाणु संरचना की कोई व्याख्या प्राप्त नहीं हो पायी। कहना चाहें तो यह भी कह सकते हैं कि इस सिद्धान्त ने क्वांटम घटना को समझाने में कोई योगदान नहीं किया।

सन् 1900 में सैद्धान्तिक खोजों के दौरान **मैक्स-प्लांक** ने एक उल्लेखनीय खोज की। उसने बतलाया कि दी हुई आवृति (frequency) का विकिरण ऊर्जा परमाणुओं से बना होता है जिनकी ऊर्जा hv होती है, जिसमें h प्लांक स्थिरांक है। **नील्स बोर** ने परमाणु संरचना समझाई जिसमें ऊर्जा क्वांटम के उत्सर्जन या अवशोषण के द्वारा तत्वों तथा यौगिकों द्वारा ज्ञात आवृति के प्रकाश के उत्सर्जन या अवशोषण की व्याख्या की। **डॉ० ब्रागली** ने अलग डग भरा। उसने परमाणु के नाभिक के चारों ओर इलेक्ट्रॉन को परिभ्रमण करते अंकित किया। बाद में **एर्विन श्रांडिजर** ने तरंग यांत्रिक सिद्धान्त का विस्तार किया। इस प्रकार यह क्वांटम सिद्धान्त यांत्रिक तथा क्षेत्र सिद्धान्तों से भिन्न था। किन्तु अभी तक प्रकाश तथा पदार्थ के समस्त गुणों को प्रदर्शित करने के सारे प्रयास व्यर्थ रहे हैं।

हम न तो यह स्वीकार कर सकते हैं कि दिक्-काल के रूप में वास्तविक विकास हो सकता है न ही यह कि प्रकृति की घटनाएँ खेल के पासे जैसी हैं। हर एक को अपना प्रयास करने की छूट है। सच ही कहा गया है कि सत्य की खोज सत्य की थाती से अधिक मूल्यवान है।

□□

> एक बार एक गणितज्ञ ने **आइंस्टीन** से मजाक में कहा, "गणितज्ञ तमाम काम कर सकता है किन्तु जब तुम उससे कुछ कराना चाहोगे तब नहीं।" यही बात सैद्धान्तिक भौतिकीविद् पर लागू होती है, जब प्रयोगवादी भौतिकीविद् उससे सहायता माँगता है।

विज्ञान के लेखकों और पाठकों के लिए

नव वर्ष 1987 शुभ एवं मंगलमय हो।

गैसोहॉल : पेट्रोल का एक विकल्प

बृज भूषण

आज हम बड़े गर्व से कहते है कि विज्ञान ने जीवन अति गतिमय बना दिया। समस्त विश्व सिमट सा गया है। कोई भी दूरी, अब दूरी नहीं समझी जाती है। कारण विभिन्न यातायात साधनों का उपलब्ध होना है। प्रकृति में जैसे प्रत्येक प्राणी को क्रियाशील रहने के लिये भोजन की आवश्यकता है उसी प्रकार अधिकतर यातायात वाहनों को भी भोजन या ऊर्जा की आवश्यकता होती है। यातायात साधनों का ऊर्जा स्रोत पेट्रोल अथवा डीज़ल होता है। जरा कल्पना कीजिए अगर डीज़ल और पेट्रोल न हो तो क्या होगा? क्या विश्व अपने पहले जैसी स्थिती में आ जायेगा? निश्चय ही परिणाम अति गंभीर होंगे क्योंकि प्रकृति में इनका भंडार सीमित है। जहाँ एक ओर विश्व के वैज्ञानिक पेट्रोल तथा डीज़ल के कृत्रिम संश्लेषण में जुटे है वहीं दूसरी ओर इनके विकल्पों की खोज के प्रयास भी जारी हैं। इनके परिणाम, विशेषतया विकल्पों की खोज के, काफी उत्साहजनक हैं।

विकल्पों की खोज की इसी कड़ी में वैज्ञानिकों ने ऐसे वाहन बनाने का प्रयास किया जिसमें ईंधन की आवश्यकता ही न हो, उदाहरणार्थ बैटरी-चालित वाहन। यद्यपि इन वाहनों के बनने से समस्या के कुछ कम होने की संभावना प्रतीत हुई परन्तु पूर्ण हल नहीं निकला। कारण बैटरी-चालित वाहनों को अधिकतम 200 कि० मी० तक ही ले जाया जा सकता है। उसके बाद बैटरी को चार्ज करना आवश्यक हो जाता है। अगर इन खोजे गए विकल्पों पर एक नजर डाली जाए तो पेट्रोल तथा डीज़ल का सबसे उत्तम विकल्प गैसोहॉल ही लगता है। ऐथिल एल्कोहॉल तथा पेट्रोल के मिश्रण को गैसोहॉल कहते हैं। गैसोहॉल में एल्कोहॉल तथा पेट्रोल साधारणतया 80:20 प्रतिशत के अनुपात में होता है।

अभी तक किये गए प्रयोगों से तो यही निष्कर्ष निकलता है कि गैसोहॉल, पेट्रोल का, कम से कम वाहनों में, एक पूर्ण विकल्प ही नहीं अपितु बेहतर विकल्प है। गैसोहॉल से प्राप्त ऊर्जा की मात्रा भी पेट्रोल से प्राप्त होने वाली ऊर्जा से 30 प्रतिशत अधिक है। तकनीकी दृष्टि से भी पेट्रोल-चालित इंजनों को गैसोहॉल से चलाने के लिये उनमें बहुत ज़्यादा परिवर्तन आवश्यक नहीं होते। पेट्रोल इंजन के कार्बुरेटर (Carburettor), पिस्टन स्ट्रोक (Pistan stroke) की लम्बाई एवं ईंधन वितरण में थोड़ा सा परिवर्तन करके ही इसको गैसोहॉल से चलाया जा सकता है। भारतीय तकनीकों के अनुसार इस परिवर्तन की लागत अधिक से अधिक 650 रु० आयेगी। इसके अतिरिक्त गैसोहॉल-चालित इंजनों के रखरखाव का खर्च भी पेट्रोल-चालित वाहनों के बराबर ही है और गैसोहॉल-चालित इंजनों का अत्यधिक गर्म होने का डर भी नहीं होता। संक्षेप में हम कह सकते है कि गैसोहॉल पेट्रोल से लगभग हर दृष्टि से उत्तम है। इसका प्रमाण विदेशों में इसका अत्यधिक लोकप्रिय होना है। ब्राज़ील सरकार तो अपनी डाक एवं तार विभाग की समस्त मोटरकारों में गैसोहॉल को ही ईंधन के रूप में प्रयुक्त कर रही है। अमेरिका में यह ईंधन हजारों गैस-स्टेशनों पर उपलब्ध है।

रीडर, रसायन विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक (हरयाणा)

भारत में भी पेट्रोल को गैसोहॉल से विस्थापित करने का विचार तेजी से जोर पकड़ रहा है। 'भारतीय तेल निगम' और 'भारतीय पैट्रोलियम संस्थान' के तत्वावधान में इसपर परीक्षण चल रहे हैं। भारतीय औद्योगिक संस्थान के **प्रो० एच० बी० माथुर** तथा मद्रास के गुण्डी इंजीनियरिंग कॉलेज के **प्रो० टी० आर० जगदीसन** द्वारा इस संदर्भ में किया गया कार्य उल्लेखनीय है। भारत में तो वाहनों में पेट्रोल के स्थान पर गैसोहॉल का प्रयोग आर्थिक दृष्टि से भी अति लाभकारी है। भारत में चीनी बनाने के सैकड़ों कारखाने हैं। इन कारखानों में शीरा (मौलैसेज़) एक उप-उत्पाद होता है। यह अधिक उपयोगी नहीं होता, परन्तु इससे एल्कोहॉल बनाई जा सकती है। अगर इससे एल्कोहॉल बना ली जाए तो शीरा के निपटान से छुटकारा तो मिलेगा ही, साथ ही तेल के आयात पर खर्च होने वाली विदेशी मुद्रा का एक बड़ा भाग देश में ही सुरक्षित रहेगा। इसके अतिरिक्त, लकड़ी के बुरादे, धान के छिलके, चुकन्दर इत्यादि से भी एल्कोहॉल बनाई जा सकती है। वैसे तो 'बिड़ला वैज्ञानिक अनुसन्धान संस्थान' द्वारा की गई एक गणना के अनुसार अब भी भारत में लगभग 100 लाख लिटर एल्कोहॉल आवश्यकता से अधिक है परन्तु देश में उपलब्ध अपशिष्ट कृषि-पदार्थों से ही एल्कोहॉल बनाई जाये तो 1600 लाख लिटर वार्षिक की दर से एल्कोहॉल का उत्पादन होगा। अगर भारत अपने स्रोतों से प्राप्त सभी प्रकार के एल्कोहॉल उत्पादन-युक्त कच्चे पदार्थों से इसका उत्पादन प्रारम्भ कर दे तो निश्चय ही उत्पादन इतनी मात्रा में होगा कि पूरा देश उसमें तैर सकता है। इसमें जहाँ एक ओर भारत एल्कोहॉल में आत्मनिर्भर होगा वहीं इसकी उत्पादन लागत भी कम होगी। अतएव आवश्यकता है गैसोहॉल के उत्पादन को बढ़ावा देने की। □□

महिलाओं में स्तन कैंसर

स्तन कैंसर पर हुये एक सेमिनार में **डॉ० डी० जे० जस्सावाला** ने **'लेडी रतन टाटा मेडिकल एंड रिसर्च सेंटर, बम्बई'** के सर्वेक्षण का हवाला देते हुये कहा कि हिन्दू, मुस्लिम और ईसाई महिलाओं के मुकाबले पारसी महिलाओं में स्तन कैंसर के मामले दुगुने होते हैं। इसका एक कारण सांस्कृतिक तौर-तरीकों का अलग-अलग होना है, इसके अतिरिक्त कुछ सम्प्रदाय शराब, तम्बाकू और मांस आदि का सेवन करते हैं। यह सब भी कैंसर के कारण होते हैं।

उन्होंने बताया कि हिन्दू लड़की का विवाह पौने सत्रह साल की उम्र में होता है जबकि पारसी लड़कियों की शादी लगभग चौबीस वर्ष की उम्र के आस-पास होती है, और बच्चे भी देर से तथा कम संख्या में होते हैं। यह भी एक कारण है जिससे पारसी महिलाओं में कैंसर के मामले अधिक होते हैं।

'अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान' की निदेशक **डॉ० स्नेह भार्गव** ने कहा कि कम उम्र में विवाह के बाद शीघ्र बच्चा पैदा हो जाय तो कैंसर पनपने की संभावना कम रहती है। उन्होंने कहा कि प्रति एक लाख पारसी महिलाओं में 47.2 कैंसर की मरीज पायी गयी हैं, जब कि इसी आबादी में ईसाई 26.2, मुस्लिम 25.7 और हिन्दू 22.8 महिलायें कैंसर रोगी पायी गयीं।

डॉ० भार्गव ने बताया कि देश में हरेक साल स्तन कैंसर से पचास हज़ार महिलायें मरती हैं। भविष्य में यह संख्या बढ़ने के आसार हैं। उन्होंने कहा कि बम्बई में इसका उल्टा है। वहाँ स्तन कैंसर के मुकाबले गर्भाशय का कैंसर महिलाओं में अधिक होता है। 1976 से ऐसा हुआ है। उन्होंने कहा कि कैंसर का पता लगाने के लिए देश में विशेष ध्यान नहीं दिया जा रहा है। परन्तु आशा व्यक्त की कि इस स्तर पर अनुसन्धान में लगे युवा डॉक्टर निश्चय ही कुछ खोज करेंगे। □□

कृन्तकों की विनाशलीला

डॉ० अशोक कुमार गुप्ता

[बम्बई शहर में चूहों ने इधर नगरवासियों के बीच आतंक फैला रखा है। ये चूहे लोगों को काट खाने लगे हैं। इससे अस्पताल में प्रतिदिन दो हज़ार व्यक्ति इसका इलाज कराने आते हैं। एक अन्य सर्वेक्षण (नवम्बर 1986) **से पता लगा है कि बम्बई शहर में चूहे प्रतिवर्ष आठ लाख व्यक्तियों को काट खाते हैं।**

—सम्पादक]

1967 में **क्रेमर** के द्वारा किये गये सर्वेक्षण के अनुसार विश्व में नाशीजीव (Pest), चूहों, बीमारियों तथा खर-पतवार के द्वारा कुल फसल-उत्पादन का 30%, लगभग 1,300 लाख टन (उस समय अनुमानतन 6378 करोड़ रुपये मूल्य का) अनाज प्रतिवर्ष नष्ट होता है। इसमें गेहूँ, जौ, ज्वार, बाजरा, धान, मक्का, दलहन तेलहन बीजों का 42%, लगभग 37· 0 करोड़ टन (अनुमानतन 19125 करोड़ रुपये) का नुकसान होता है। गन्ना का 56·70 करोड़ टन (करीब 3825 करोड़ रुपये) जो पूरे फसल उत्पादन का 55% है। तथा 38·2% सब्जी लगभग 7·8 करोड़ टन (अनुमानतन 4800 करोड़ रुपये) और 21·6%, लगभग 65 लाख टन फल (अनुमानतन 523 करोड़ रुपए) का नुकसान इन कृषि-नाशी जीवों द्वारा प्रतिवर्ष किया जाता है। चाय, काफी, कोको के कुल उत्पादन का 22%, लगभग 26400 टन (288 करोड़ रुपये), तेलहन बीज का 32·2% (3817 करोड़ रुपये), कपास का 5 7 लाख टन लगभग 34% (2550 करोड़ रुपये) तथा जूट, सन का 24%, लगभग 15 लाख टन (255 करोड़ रुपये) इन्हीं कृषि-शत्रुओं के द्वारा प्रत्येक वर्ष नष्ट किया जाता है।

एक अन्य सर्वेक्षण द्वारा यह भी देखा गया है कि पूरे विश्व के कुल उत्पादन का लगभग 2% अनाज, लगभग 200 लाख टन (अनुमानतन 1225 करोड़ रुपये) चूहों द्वारा प्रतिवर्ष नष्ट होता है। सभी फसल तथा भंडारण के हानि को लेकर विश्व के 35% खाद्यान्न, लगभग 60,000 करोड़ रुपये मूल्य की प्रतिवर्ष हानि, कृन्तक-समूह (रोडेन्ट) द्वारा होता है। कृन्तक (दाँतों से कुतर कर खाने वाले) अपने वज़न का 10% भाग अन्न प्रतिदिन खाते हैं। खड़ी फसल एवं खेत में खाते हुये कुल फसल-उत्पादन का 4·5—12·4% भाग ये चट कर जाते हैं। फसल के विभिन्न वृद्धि स्तरों पर इसके द्वारा हुई हानि को निम्न प्रकार से आँका गया है :

गेहूँ —
- 0·4%—पौध वृद्धि के समय
- 2 5%—बाली लगने के समय
- 5·0% - भंडारण के समय।

मूँगफली—
- 0·94—1·3%—पौध की प्रारम्भिक वृद्धि के समय
- 0·69—2·0%—फसल पकने के समय
- 0·60—4·2%—भंडारण के समय।

इलाहाबाद एग्रीकल्चरल इंस्टीट्यूट, नैनी, इलाहाबाद—211007

नारियल—
2·86—11·2%—बाग में
3·36—17·6% भंडारण के समय ।
ज्वार-बाजरा—
0·33—5·3 पौध वृद्धि के समय
5·85—6·2% फसल पकते समय
6·25—8·0% भंडारण के समय ।
धान—
5·7—9·4% फसल पकने तथा भंडारण के समय ।
चना—
1·6—3·0% खेत में पकते समय
4·0—4·5% भंडारण के समय ।

केवल उत्तर प्रदेश में चूहों के द्वारा प्रतिवर्ष किये जाने वाले नुकसान को निम्न प्रकार से आँका गया है :

फसल	वार्षिक कुल उत्पादन की हानि (लाख टन)
धान	3·96
गेहूँ	3·50
चना	2·37
जौ	1·44
मटर एवं मक्का	0·92
ज्वार, बाजरा	0·85

क्रन्तक-समूह द्वारा किये जाने वाले विनाश एवं हानि को निम्न प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है—

(1) मनुष्यों की जानलेवा बीमारियों के कीटाणुओं के वाहक (vector) एवं संचय में इस क्रन्तक समूह की मुख्य भूमिका है जैसे **प्लेग, टाइफस, रिलीजिंग बुखार, चूहों के काटने का बुखार, लेप्टोस्पाइरल पोलिया, रिकेट्सियल पाक्स, लिम्फोसाइटिक, कोरिया मेनिनजाइटिस, अमीबी अतिसार, लिप्टोप्लासमिओसिस, गेस्ट्रोइन्टेस्टराइनल इन्फेक्शन, क्यासानुर फॉरेस्ट रोग, रेबीज** आदि ।

(2) अनेक बहुमूल्य घरेलू वस्तुओं जैसे किताबें, रिकार्ड, फर्नीचर को नष्ट करना तथा घर को गन्दा कर देना इस समूह की विशेषता है ।

(3) मानव खाद्यान्न का एक बहुत बड़ा हिस्सा यह समूह खा जाता है । पालतू पशुओं के चारे को भी यह समूह नष्ट करता है ।

(4) तेजी से इनकी संख्या बढ़ने के कारण इनके द्वारा उपरोक्त विनाश और भी तेज गति से होना प्रारम्भ हो जाता है ।

इलरमैन ने (1963) के एक सर्वेक्षण द्वारा इस समूह की वंशों, जातियों, उपजातियों का उल्लेख "फाना ऑफ़ इण्डिया" अंक 3, **रोडेन्सिया** (Rodentia) के अन्तर्गत किया है । उनके अनुसार भारत में पाये जाने वाले क्रन्तक वर्ग के **छह** कुल हैं ।

(1) **स्यूरिडी** (Sciuridae)—जो गिलहरी या स्क्यूरल (Squirrels) का समूह है ।

(2) **हिस्ट्रीसिडी** (Hystricidae)—जो साही (Porcupine) का समूह है।

(3) **डिपोडिडी** (Dipodidae)—जो बिर्च माइस (Birch mice) का समूह है।

(4) **मस्केरडिनिडी** (Muscardinidae)—जो डोरमाइस (Dormice) का समूह है।

(5) **राइज़ोमाइडी** (Rhizomyoidae)—जो बाँस के चूहे या बम्बू रैट (Bamboo Rat) का समूह है।

(6) **म्यूरिडी** (Muridae)—जो चूहों, जर्विलों (Rats, Gerbils) का समूह है।

इन सभी कुलों में म्यूरिडी सबसे बड़ा है जिसमें उपकुल (Sub-Families) हैं तथा 21 वंश (Genera), 50 स्पीशीज़ या जाति और 252 उपजातियाँ हैं जो भारत में पाई जाती हैं। यह कुल कृषि, भंडारण, जन स्वास्थ्य, उद्योगों के लिये बहुत ही हानिकारक है साथ ही प्राकृतिक संतुलन (चक्र) में भी इस कुल का अनूठा योगदान है। इस कुल के चार उपकुल—क्रिसेटिनी (Cricetinae), म्यूरियानी (Murianae), माइक्रोटिनी (Microtinae), जर्विलिनो (Gerbillinae) हैं। इनमें म्यूरियानी सबसे बड़ा उपकुल है जिसमें 12 वंश, 37 जाति, तथा 85 उपजातियाँ हैं जो भारत में देखी जाती हैं, और जो निम्न हैं—

वंश (1) **एपोडेमस** (Apodemus)

दो जातियों तथा छह उपजातियों वाला यह वंश खेत के चूहों (Field Mouse) का है जो नेफा, काश्मीर, उत्तरी पहाड़ी क्षेत्रों में पाये जाते हैं। इसकी दो जातियाँ **एपोडेमस सिलवैटिकस** (*A. sylvaticus*) तथा **ए० फ्लेविकोलिस** (*A. flavicollis*) हैं।

(2) **बेन्डिकोटा** (Bandicota)

इस वंश में दो मुख्य जातियाँ तथा पाँच उपजातियाँ हैं। **बेन्डीकोटा बंगालेन्सिस** (*Bandicota bengalensis*) पंजाब, उ० प्र० के उत्तरी तराई क्षेत्र, आंध्र प्रदेश, राजस्थान, तमिलनाडु में पाये जाते हैं। इन्हें छोटे बेन्डीकूट चूहे या भारतीय मोल चूहे (Indian mole rats) के नाम से जाना जाता है। **बेन्डीकोटा इन्डिका** (*Bandicota indica*) बड़े बेन्डीकूट चूहे के नाम से प्रसिद्ध ये चूहे एशिया के सबसे बड़े चूहे हैं जो महाराष्ट्र, असम, नागालैण्ड, मणिपुर, त्रिपुरा में पाये जाते हैं।

(3) **चिरोपोडोमिस** (Chiropodomys)

ट्री माउस (Tree mouse) के नाम से प्रसिद्ध इन चूहों की जाति **चिरोपोडोमिस ग्लीरोडिया** (*Chiropodomys gliroidea*) असम की पहाड़ियों (खासी एवं जैन्टा) में पाये जाते हैं। स्वभाव से ये पेड़ों पर ही बसेरा करना पसंद करते हैं।

(4) **डेक्नोमिस** (Dacnomys)

डेक्नोमिस मिलार्डी (*Dacnomys millardi*) जाति के इन चूहों को मिलार्ड जाइन्ट रैट (Millard giant rat) के नाम से जाना जाता है जो उत्तरी बंगाल, नेफा, नागालैण्ड, असम की पहाड़ियों में पाये जाते हैं।

(5) **डायोमिस** (Diomys)

क्रम्प माउस (Crump mouse) के नाम से जाने जाने वाले इन चूहों की पूँछ पर घने मुलायम रोयें होते हैं। इनकी जाति **डायोमिस क्रम्पी** (*Diomys crumpi*) बिहार के पारसनाथ पहाड़ियों, तथा मणिपुर में देखे जाते हैं।

(6) **गोलुण्डा** (Gollunda)

गोलुण्डा इलोआइटी (*Gollunda ellioti*) जाति वाले इन चूहों की छह उपजातियाँ पंजाब, सिंध के नमक वाले खारे क्षेत्रों में, हिमांचल प्रदेश, कुमायूं के पहाड़ी क्षेत्रों में, नेपाल तथा भूटान की सीमाओं पर, उत्तरी बंगाल में देखे जाते हैं। पीले-भूरे रंग के इन चूहों को भारतीय झाड़ी चूहा (Indian bush rat) कहा जाता है।

(7) **हाड्रोमिस** (*Hadromys*)

ये ह्यूम चूहा (Hume rat) के नाम से जाने जाते हैं। इनकी जाति **हाड्रोमिस ह्यूमी** (*Hadromys humei*) असम, मणिपुर की पहाड़ियों पर देखने को मिलते हैं।

(8) **माइक्रोमिस** (Micromys)

इस वंश की एक जाति **माइक्रोमिस माइनूटस** (*Micromys minutus*) दो उपजातियों सहित आसाम की खासी पहाडियों तथा नागालैण्ड की पहाडियों पर हारवेस्ट माउस (Harvest mouse) के नाम से जानी जाती हैं।

(9) **मूष** (*Mus*)

मूष वंश की आठ जातियाँ तथा 24 उपजातियाँ पूरे भारत में फैली हैं। इनमें **बूडुंगा** (*M. boodunga*), **मस्कुलस** (*M. musculus*), **प्लेटीथ्रिक्स** (*M. platythrix*), **गुहाई** (*M. guhai*), **पहाड़ी** (*M. pahari*) आदि प्रमुख जातियाँ हैं। खेतों, घरों, गोदामों में ही ये सीमित रहते हैं।

(10) **निसोकिया** (Nesokia)

छोटे पूँछ वाले बेन्डीकूट चूहे कुमायूँ, पंजाब, हरियाणा, राजस्थान, दिल्ली, पश्चिमी उत्तर प्रदेश में पाये जाते हैं।

(11) **रैटस** (Rattus)

सबसे बड़ा वंश रैटस का है जिसमें 19 जातियाँ, 55 उपजातियाँ भारत के सभी प्रान्तों में पायी जाती हैं। इसमें प्रमुख जातियाँ निम्न है जिनकी संख्या बहुत अधिक है तथा अति विनाशकारी हैं।

रैटस रैटस (*Rattus rattus*)--सामान्य भारतीय चूहा—14 उपजातियाँ।

रैटस रैटायडिस (*Rattus rattoides*)—तुर्किस्तान चूहा—2 उपजातियाँ।

रैटस निटिडस (R*attus nitidus*)—हिमालयी चूहे (Himalayan rat)।

रैटस ब्लेनफोर्डी (*Rattus blanfordi*)—उड चूहे (Wood rat)।

रैटस बोवर्सी (*Rattus bowrsi*)—बोवर चूहे 2 उपजातियाँ।

रैटस मनीपुलस (*Rattus manipulus*)—मणिपुरी चूहे—2 उपजातियाँ।

रैटस फलवेसेन्स (*Rattus fulvesens*)-अखरोटी चूहे (Chestnut rat)—2 उपजातियाँ।

रैटस कच्छीकस (*Rattus cutchicus*) कछ चूहे—5 उपजातियाँ।

रैटस ग्लीडोयी (*Rattus gleadowi*)—फील्ड माउस–11 उपजातियाँ।

रैटस मेल्टाडा (*Rattus meltada*)—मेलाद चूहा—2 उपजातियाँ।

रैटस बूडुगा (*Rattus booduga*)--सामान्य भूरा मैदानी चूहा।

11. **वेन्डिल्यूरिया** (Vandeleuria)

वेन्डिल्यूरिया ओलेरेसी (*Vandeleuria oleraceae*) जाति के चूहों को ट्रीमाउस के नाम से जाना जाता है जो गुजरात, कुमायूँ, उत्तरी बंगाल, बिहार, आसाम में पाये जाते हैं। इनकी 6 उपजातियाँ हैं।

कुल जर्बिलिनी (Gerbillinae) में 5 वंश मुख्य हैं जो भारतवर्ष में देखे जाते हैं। इनमें निम्न 3 अति विनाशकारी हैं—

1. **जर्बिलस** (Gerbillus)

वेगनर जर्बिल (Wagner's Gerbils) के नाम से पुकारे जाने वाले इन जर्बिलों की दो प्रमुख जातियाँ **डेसाइरस** (*G. dasyurus*) तथा **ग्लीडोयी** (*G. gleadowi*) जर्बिल के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये जर्बिल राजस्थान, पंजाब, गुजरात में पाये जाते हैं।

2. **टटेरा** (Tatera)

भारतीय जर्बिल या एन्टीलोप चूहा (Antelope Rat) के नाम से पुकारे जाने वाले इन चूहों की जाति **टटेरा इन्डिका** (*Tatera indica*) पंजाब, उ० प्र०, पं० बंगाल, राजस्थान में पाये जाते हैं। इनकी 3 उपजातियाँ देखी गई हैं।

3. **मेरिओन्स** (Meriones)

मेरिओन्स हुरियेनी (*Meriones hurrianae*) जो मरुस्थलीय जर्बिल के नाम से जाना जाता है म० प्र०, उ० प्र०, दिल्ली, हरियाणा, राजस्थान, गुजरात, पंजाब में पाये जाते हैं। इनकी अधिक संख्या राजस्थान के रेगिस्तानी भागों में है जो वहाँ की सिंचित भूमि में उत्पात मचाये हुये हैं।

भारतीय रेगिस्तानी जर्बिल (Desert Gerbil)

60 से 100 ग्राम भार के 160 मि० मी० लम्बी पूँछ वाले ये कृन्तक राजस्थान के सिंचित क्षेत्रों के लिये आज चिन्ता के विषय बने हुये हैं। ये न केवल वनस्पतियों का सफाया कर रहे हैं अपितु ये मिट्टी को अस्थिर बना कर उसे मरुस्थल में परिवर्तित कर रहे हैं। जर्बिल, सामान्य चूहों की अपेक्षा कई गुना अधिक प्रकोपी है जो प्रतिदिन 1.6 लाख किलोग्राम प्रति वर्ग किलोमीटर क्षेत्र से फसल तथा चारे का सफाया कर जाते हैं। इनका जीवनकाल लगभग 8 से 14 महीने तक होता है। प्रति हेक्टर खेत में औसतन 200 से 470 जर्बिल पाये गये हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि इनके बिलों का भूमि के अन्दर एक जाल बना होता है जो एक मीटर से एक किलोमीटर तक का होता है। इससे भूमि का निचला संस्तर बिल्कुल पोपला हो जाता है जो मृदा को अस्थिर कर देता है। कभी-कभी ट्रैक्टर के पहिये पूरी तरह धँस जाते हैं और भूमि की जुताई कठिन हो जाती है। पशु चारे के लिये उपयुक्त घास **संकरा सिलियेरिस** (*Sankara eiliaris*) का 60% भाग यह बड़े चाव से खाकर सूखे टुकड़ों को बिलों के मुँह पर जमा कर देता है। ये सदैव कुछ न कुछ कुतरते ही रहते हैं जिससे इनके दाँत नुकीले बने रहें और उनके तीव्र गति से बढ़ते (0.4 मि० मी० प्रति दिन की दर से) दाँत इनके मुखद्वार को बन्द न कर दें। नुकीले दाँतों से ये एल्युमिनियम के बर्तनों को भी कुतर कर उनमें छेद कर डालते हैं। गर्मियों में पेड़ों की छालों को कुतर कर उसका रसपान करने में ये चूकते नहीं; विशेष कर नये बढ़ते पेड़ों का।

राजस्थान के किसानों में एक प्रचलित प्रथा है कि वे खेत में फ़सल की पहली कतार चिड़ियों के लिये, दूसरी कीटों के लिये तथा तीसरी कतार कृन्तकों (मूषों) के लिये छोड़ते हैं परन्तु ये जर्बिल जो इन्दिरा गाँधी नहर के साथ चलकर दूर से आ गये हैं उनकी आशाओं के विपरीत उनकी तबाही का कारण बन गये हैं। सात वंश के कृन्तकों की अपेक्षा जर्बिल बहुत अधिक हानिकारक साबित हुये हैं। ये प्रत्येक 10 ग्राम खाने के अलावा 60-70 ग्राम को बिलों में छिपा कर जमा करते हैं। गर्मियों में ये खेतों को (अपने बिल) छिपकिली, गिरगिट, झींगुर, मकड़ी, साँपों के लिये छोड़कर अन्यत्र नम स्थानों की खोज में भूमि के अन्दर बढ़ते जाते हैं।

रेगिस्तान का एक बड़ा सिंचित क्षेत्र, जो सिकार, झुन्झुनू, बालोत्तरा, मानेकलाउ के आसपास के क्षेत्रों के ये जर्बिल नमी के पास जाने की लालसा में जलाशयों के कच्चे बंध को छेद कर पोपला बना देते हैं। ऐसा कार्य ये गर्मियों में पानी की कमी के समय करते हैं और अपना निर्वाह करते हैं। परन्तु वर्षा के दिनों में जब इन बंधों पर जलाशय में पानी भर जाने के कारण बोझ बढ़ जाता है तो ये पोपले बंध जलाशय के लिये ख़तरा उत्पन्न कर देते हैं। ये मई-जून में उन कीटों को खाकर अपना निर्वाह करते हैं जो हरे मैदान के अभाव में इनके बिलों में गर्मी से अपनी रक्षा के लिये शरण लेते हैं।

बन संरक्षण, पारिस्थितिकी तथा पर्यावरण वैज्ञानिकों ने इन्हें प्राकृतिक-चक्र की एक मुख्य कड़ी बतलाया है। ये चूहे सूखे रेगिस्तान या मरुस्थल के लोमड़ियों, साँपों, मांसाहारी चिड़ियों के आहार तथा जल के स्रोत होते हैं। उन महत्वपूर्ण प्राकृतिक-चक्र के प्राणियों का निर्वाह इन्हीं तेज़ी से बढ़ने वाले जर्बिल या कृन्तक पर है जो वन-जीव या वन-संरक्षण में अनूठा योगदान देते हैं। कई प्रकार के कीटों तथा घासों को खाकर कृषि की एक तरह से रक्षा भी करते हैं। ये घासों तथा हरे वनस्पतियों के द्वारा संजोयी ऊर्जा को लोमड़ियों, साँपों, चिड़ियों (बाजों, चीलों' उल्लुओं, गीधों, गरुड़ों) तथा अन्य वन-जीवों तक पहुँचाते हैं। परन्तु कृन्तकों के द्वारा किये जाने वाले विनाश को ध्यान में रखते हुये इन वैज्ञानिकों के तर्क को पूरी तरह स्वीकार नहीं किया जा सकता। कृषि-योग्य क्षेत्रों में इनकी रोकथाम करना आवश्यक है।

मरुभूमि के निवासी दो कुन्तक **टटेरा इण्डिका** (*Tatera indica*) तथा **मेरिओन्स हुरियेनी** (*Meriones hurrianae*) प्लेग के कीटाणु के प्रति अवरोधी होने के कारण ये उनके वाहक तथा भंडार बने रहते हैं और **रैटस रैटस** (*Rattus rattus*) को पहुँचाते हैं जो इन कीटाणुओं के प्रति अत्यन्त संवेदनशील हैं। अब तो **बैन्डीकूट** चूहा (*Bandicota bengalensis*) और **टटेरा इण्डिका** या भारतीय जर्बिल दोनों एक साथ नहरों के आस पास रहते हैं जो कई जानलेवा बिमारियों को फैला सकते हैं।

भारत सरकार ने इस विनाशकारी कुन्तक-समूह से कृषि एवं जनस्वास्थ्य की रक्षा के लिये सर्वप्रथम कुन्तक शोध केन्द्र (1959), केन्द्रीय शुष्क मण्डल शोध संस्थान (Central Arid Zone Research Institute – C A Z R I) जोधपुर में खोला गया। वर्तमान समय में चार शोध संस्थान हैं जो आल इण्डिया को-आर्डिनेटेड रिसर्च प्रोग्राम ऑन रोडन्ट कन्ट्रोल (A I C R P O R C) के अन्तर्गत शोध कार्य कर रहे हैं। ये हैं, कृषि विश्वविद्यालय, बंगलोर; पंजाब कृषि विश्वविद्यालय, लुधियाना; केन्द्रीय शुष्क मण्डल शोध संस्थान, जोधपुर; केन्द्रीय वृक्षारोपण शोध संस्थान, कसारगढ़। इनकी रोकथाम के लिये कई सरकारी कार्यक्रम चलाये गये हैं—'नेशनल रोडन्ट कन्ट्रोल एडवाइजरी बोर्ड', 'स्टेट रोडेन्ट कन्ट्रोल एडवाइजरी कमेटी' एवं 'आपरेशनल ट्रेनिंग केन्द्र' जो इनकी रोकथाम की किसानों एवं ग्रामीण संस्थाओं को शिक्षा एवं ट्रेनिंग देते हैं। ऐसे ट्रेनिंग केन्द्र हैदराबाद, हापुड़, जोधपुर में है। केन्द्रीय शुष्क मण्डल शोध संस्थान, (C A Z R I) इस कार्यक्रम में तेज़ी से लगा है तथा यहाँ से निकलने वाले न्यूज लेटर "रोडेन्ट" (कुन्तक) त्रैमासिक पत्रिका द्वारा नये रोकथाम उपायों की जानकारी दी जाती है।

कुन्तकों की रोकथाम

कृषि कार्य एवं भंडारण के नाशीजीव कुन्तक की रोकथाम की नितान्त आवश्यकता है। पिछले दो दशकों में इस ओर काफी प्रगति हुई है। अनेक धूमकों, प्राकृतिक एवं संश्लेषित कुन्तकनाशियों का विकास हुआ है। वैसे तो इन कुन्तकनाशियों के अनियोजित प्रयोग से कुन्तक प्रतिरोधी हो गये हैं परन्तु उनमें कुछ धूमक, एन्टीकोआगुलेन्ट, कीमोस्ट्रीलेन्ट आदि काफी प्रभावकारी हैं। अलु० फास्फाइड, रेड स्क्वील, स्ट्रेकनीन, ज़िंक फॉस्फाइड, बेरियम कार्बोनेट, ड्रेट, अन्टू (Antu), एपी०लाक, वेकोर, टेट्रामाइन, काउमाट्रिल, काउमाफ्यूरिल (Fumarin), वारफेरिन, फ्यूमासॉल, डाइफेसिनान, पिवालिन आदि कुन्तकनाशी काफी प्रचलित एवं कारगर हैं। कुन्तकों के द्वारा किये जाने वाले विनाश को देखते हुये इनके रोकथाम की ओर अधिक जागृति हुई है। राजस्थान के मरुभूमि में नई सिंचाई योजना से जितना उस क्षेत्र के किसानों को लाभ हुआ है उतना ही जर्बिल के कारण हरियाली का नाश भी हुआ है अतः कृषि की शत्रुओं से रक्षा का भी समुचित प्रबन्ध आवश्यक है। □□

पाँच वैज्ञानिक पुरस्कृत

भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी ने विभिन्न वैज्ञानिक क्षेत्रों में असाधारण कार्यों के लिए पाँच वैज्ञानिकों को सम्मानित किया है।

प्रो० एम० ए० विश्वामित्र को वर्ष 1986 का 'जगदीश चंद्र बोस पदक' **प्रो० ओ० सिद्दीकी** को 'स्वर्ण जयंती स्मृति पदक' **प्रो० एस० रमेशन** को 'आर्यभट्ट पदक' **ओ० सी० एस० पीचामुतु** को 'डी० एन० वाडिया पदक' तथा **सी० बी० सुन्दरम** को 'एस० एच० जहीर पदक' दिया गया। ये पुरस्कार हर तीसरे वर्ष दिए जाते हैं। □□

एन्जाइना : घातक हृदय रोग

चन्द्रकान्त श्रीवास्तव

विश्व में आज हज़ारों-लाखों की संख्या में स्त्री-पुरुष 'एन्जाइना' नामक घातक बीमारी से परेशान हैं। आज भी स्त्री/पुरुषों की हल्की सी लापरवाही के कारण वे इसको नजरअन्दाज़ करते हुए मौत की भयानक काली स्याह चादर को अपने ऊपर ओढ़ लेते हैं। आज के इस वैज्ञानिक युग में मनुष्य जितना ही शिक्षित होता चला जाता है उतना ही वह अपनी ओर से, अपने भोजन की ओर से, अपने शरीर के प्रति लापरवाह होता चला जाता है। परिणाम यह होता है कि उसको एक-एक करके भयानक से भयानक बीमारी का सामना करना पड़ता है और शीघ्र ही उसको प्राणघातक बीमारी हो जाती है। जब उसको वास्तविकता का आभास होता है तब तक बहुत देर हो चुकी होती है। एक बार जिसको यह बीमारी हो जाती है उसको ज़िन्दगी भर अत्यन्य सावधान रहने की ज़रूरत है।

'एन्जाइना' का पूरा नाम **'एन्जाइना पेक्टोरिस'** है। इस प्राणघातक बीमारी का ऐंठन भरा दर्द मुख्य रूप से शरीर के छाती के ऊपरी भाग में होता है और ज़्यादातर यह देखा गया है कि बार-बार बायें हाथ की ओर बढ़ता है। यह ऐंठन भरा दर्द दाहिने हाथ की ओर, गर्दन व कभी-कभी ऊपर की ओर भी हो सकता है। दर्द इतना भयानक और तीव्र गति से उठता है कि मनुष्य ज़ोर-ज़ोर से अपनी छाती को सहलाता या पकड़ लेता है। एन्जाइना के दर्द के समय बायें हाथ में झनझनाहट होने के कारण, गर्दन व कन्धे तक उसको ऐसा प्रतीत होता है कि वह अंग उसके लिए बेकार हो गया है। दर्द की समाप्ति पर काफी समय तक मनुष्य को थकान सी प्रतीत होती है और उसको ऐसा लगता है कि वह मीलों का लम्बा सफर पैदल तय करके आया हो। कार्य के थकान के बाद और विशेषकर सीढ़ी पर चढ़ने व उतरने के बाद दर्द का तेज़ या कम होने को अच्छी तरह महसूस किया जा सकता है एवं पूर्ण विश्राम के बाद जिस समय दर्द पूर्ण रूप के खत्म हो गया हो मनुष्य फिर उसी प्रकार से अपने को स्वस्थ एवं प्रसन्नचित्त महसूस करने लगता है। किन्तु वृद्धावस्था में यह दर्द आराम के बाद भी बना रहता है। हृदय की मांसपेशियों में ऑक्सीजन की मात्रा कम हो जाती है फलस्वरूप हृदय की मांसपेशियों को बिना ऑक्सीजन के कार्य करना पड़ता है और उस समय हृदय की मांसपेशियों में तीव्र ऐंठन भरा दर्द उठता है जो ऑक्सीजन की कमी के कारण होता है—यही दर्द 'एन्जाइना' कहलाता है। ब्लड प्रेशर उपकरण को कफ पर हाथ में बाँधने, खोलने व बन्द करने से यदि छाती में दर्द ऐंठन भरा होता है या बना रहता है तो यह रोगी के लिए खतरे का संकेत है कि वह एक प्राणघातक बीमारी की चपेट में आ चुका है और उसको जीवनपर्यन्त अत्यन्त सावधान रहने की ज़रूरत है। एन्जाइना का दर्द तेज़ और बार-बार होना जीवन के लिए अत्यन्त घातक है क्योंकि ऐसे दर्द से उसकी मृत्यु भी हो सकती है। मनुष्य का हद से ज़्यादा मोटापा व भावुक होना भी घातक है। छोटे बच्चों में एन्जाइना का दर्द यदा कदा ही सुनने में आता है।

वनस्पति विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद

लक्षण

(1) हृदय की रुधिर भेजने वाली कोरोनरी धमनी में आर्टेरियो स्किलोरिसिस हो जाता है। रुधिर वाहिनियों के मोटे हो जाने से उसमें वसा संग्रहित होने लगता है जिससे वाहिनियों की दीवारें सँकरी हो जाती है एवं ऑक्सीजन का सञ्चय रुधिर में कम हो जाता है।

(2) ब्लड प्रेशर के ज्यादा हो जाने से तथा हृदय बड़ा हो जाने से ऑक्सीजन की आवश्यकता बढ़ जाती है।

(3) एओरटिक एन्यूरिज्म (एओरटा का फैल जाना) में कोरोनरी धमनी सँकरी हो जाती है।

(4) रक्त की कमी।

(5) कोरोनरी धमनी का दबाव कम हो जाना।

सावधानियाँ एवं बचाव

ऐसे रोगी को जिसे एक बार एन्जाइना का दर्द उठ चुका हो, उसे भारी कार्य से बचना चाहिये एवं मेहनत वाला कार्य कदापि नहीं या कम से कम करना चाहिये। जहाँ तक हो वह उस कार्य से दूर रहे। ऐसे मनुष्य को ज्यादा आराम करना चाहिये। तथा उत्तेजना, मानसिक दुर्बलता (मस्तिष्क की परेशानी), एवं ज्यादा भावुक नहीं होना चाहिये। मनुष्य का मोटापा भी 'एन्जाइना' जैसी बीमारी के लिए ख़तरनाक है। अतः मनुष्य को कम कैलारी वाला कम व हल्का भोजन करना चाहिये। उसको चाहिये कि वह मोटापा कम करने वाली वस्तुओं का सेवन करे एवं जहाँ तक सम्भव हो वह चिकना व वसा पैदा करने वाली वस्तुओं से दूर रहे जिससे कि रुधिरवाहिनियों में वसा न जम सके और ऑक्सीजन की कमी न हो सके। मनुष्य को यह भी चाहिये कि वह ज़्यादा भोजन न करे व बार-बार खाना न खाये जिससे कि बदहज़मी हो जाय। 'एन्जाइना' जैसी बीमारी अत्यन्त कष्टप्रद है। इसलिए ऐसी वस्तुयें जो एन्जाइना जैसी बीमारी के बढ़ावा देती हैं, उनका कभी भी सेवन नहीं करना चाहिये।

एन्जाइना के दर्द को कम करने के लिए एन्जीसिड, सारबिट्रेट, एन्ड्रॉल नाम से पेटेन्ट दवायें बाज़ार में उपलब्ध हैं। जिस मनुष्य को 'एन्जाइना' का दर्द एक बार उठ चुका हो उसे यह दवायें अपने पास हमेशा रखनी चाहिये। काम्पोज या वैलियम-5 देने से मनुष्य को जल्दी ही नींद आ जाती है और उसकी सारी क्रियायें शिथिल हो जाती हैं। मनुष्य को उस समय किसी भी प्रकार की चिन्ता नहीं रहती है और ऐसे समय में दर्द धीरे-धीरे खत्म हो जाता है एवं रोगी को बहुत जल्द आराम हो जाता है।

एमाइल नाइट्रेट को सुंघाने पर कोरोनरी धमनी डाइलेट हो जाती है (फैल जाती है) और रक्त-सञ्चय बढ़ जाता है। ग्लिसरॉल ट्राइनाइट्रेट 0·5 मि० ग्रा० भी ऐसे दर्द में बहुत फायदा करती है। फिनोबारबिटोन, सोडियम गार्डिनॉल भी एन्जाइना के दर्द को कम करने में मदद देती हैं। ग्लिसरॉल ट्राइनाट्रेट 2% आयन्टमेन्ट (कैडिलाक या इन्डोफार्मेसिट्कल्स) बाज़ार में उपलब्ध है। किन्तु ऐसी दवाओं का सेवन किसी डॉक्टर की राय से ही करना चाहिए।

□□

प्रो० बी० एस० मेहरोत्रा सम्मानित

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के वनस्पति विभाग के अवकाशप्राप्त अध्यक्ष **प्रोफेसर बी० एस० मेहरोत्रा** को मद्रास में हुई इंडियन बोटैनिकल सोसायटी की वार्षिक बैठक में 'बीरबल साहनी स्वर्ण पदक' से सम्मानित किया गया। प्रोफेसर मेहरोत्रा देश के चोटी के कवकविज्ञानी हैं।

भाषा, विज्ञान और व्याकरण

अनिल कुमार शुक्ल

भाषा विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम है अतः सामाजिक प्राणी होने के नाते हम जिस किसी भी साधन द्वारा अपने विचार दूसरे व्यक्तियों तक पहुँचाने का प्रयास करते हैं, वह सब व्यापक अर्थ में भाषा के अन्तर्गत ही आता है। पर वस्तुतः 'भाषा' क्या है और इसको किस प्रकार परिभाषित किया जाय— यह एक कठिन एवं विवादास्पद विषय है। विभिन्न भाषाविदों ने समय-समय पर इसे परिभाषित करने की कोशिश की है पर अभी भी कोई सर्वमान्य परिभाषा नहीं उभर सकी है। इस मतवैभिन्य का कारण 'भाषा' शब्द के प्रयोग के प्रति दृष्टिकोण में अन्तर ही कहा जा सकता है। कुछ विद्वान 'भाषा' शब्द का प्रयोग उसके व्यापक अर्थ में करते हैं और विभिन्न प्राणियों की मुखाकृति, पक्षियों के कलरव, गूंगे-बहरे व्यक्तियों के संकेत आदि को भी विस्तृत अर्थ में भाषा मानते है। इस दृष्टि से **एक प्राणी अपने किसी अवयव द्वारा दूसरे प्राणी पर जो कुछ भी व्यक्त कर देता है, वही भाषा है।** यही नहीं बल्कि प्रकृति प्रेमी कवियों एवं पर्यावरण विशेषज्ञों के लिए तो निश्चेष्ट खड़ा हिमालय, फूलों की महकती घाटी, थार का जलता मरुस्थल एवं अकूत जैव संपदा सम्पन्न शांति घाटी की भी अपनी जीती जागती भाषाएँ हैं।

पर व्यवहार में सामान्यतः भाषा का इतना व्यापक अर्थ न लेकर विचारों की केवल ध्वन्यात्मक अभिव्यक्तियों को ही भाषा के अन्तर्गत मानते हैं। इस सीमित अर्थ में भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के निमित्त हिन्दी के कतिपय भाषा वैज्ञानिकों द्वारा दी गई परिभाषाएँ निम्नांकित हैं—

(1) "मनुष्य और मनुष्य के बीच वस्तुओं के विषय में अपनी इच्छा और मति का आदान-प्रदान करने के लिए व्यक्त ध्वनि-संकेतों का जो व्यवहार होता है, उसे भाषा कहते हैं।"

डॉ० श्यामसुन्दर दास

(2) "जिन ध्वनिचिह्नों द्वारा मनुष्य परस्पर विचार-विनमय करता है उनको समष्टि रूप से भाषा कहते हैं।"

—**डॉ० बाबूराम सक्सेना**, सामान्य भाषा विज्ञान, तृतीय संस्करण, पृष्ठ 5

(3) "भाषा मनुष्यों की उस चेष्टा या व्यापार को कहते हैं, जिससे मनुष्य अपने उच्चारणोपयोगी शरीरावयवों से उच्चारण किए गए वर्णनात्मक या व्यक्त शब्दों द्वारा अपने विचारों को प्रकट करते हैं।"

—**डॉ० मंगलदेव शास्त्री**

(4) "उच्चरित ध्वनि-संकेतों की सहायता से भाव या विचार की पूर्ण अथवा जिसकी सहायता से मनुष्य परस्पर विचार-निमय या सहयोग करते हैं उस यादृच्छिक, रूढ़ ध्वनि-संकेत की प्रणाली को भाषा कहते हैं।"

—**आचार्य देवेन्द्र नाथ शर्मा**

(5) "भाषा, उच्चारण अवयवों से उच्चरित मूलतः प्रायः यादृच्छिक ध्वनि-प्रतीकों की वह व्यवस्था

17 म्योर कॉलेज कॉलोनी, इलाहाबाद विश्वविद्यालय कैम्पस, इलाहाबाद

है, जिसके द्वारा किसी भाषा-समाज के लोग आपस में विचारों का आदान-प्रदान करते हैं।"

— **डॉ० भोलानाथ तिवारी**

भाषाविज्ञान (1973 संस्करण) पृष्ठ 4

इन परिभाषाओं को दृष्टिगत रखते हुए भाषा के संबन्ध में कतिपय निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं जैसे—

(i) भाषा मनुष्यों के पारस्परिक विचार-विनिमय एवं सहयोग का माध्यम है।

(ii) भाषा मनुष्य के उच्चारण अवयवों से उच्चरित ध्वनि संकेत है।

(iii) ये ध्वनि संकेत मूलतः यादृच्छिक (at random) है किन्तु कालान्तर में (भाषा के विकास के साथ-साथ) रूढ़ एवं सार्थक हो जाते हैं।

(iv) ये ध्वनि-संकेत किसी क्षेत्र, वर्ग या समाज से सम्बद्ध लोगों के लिए ही सार्थक होते हैं और अन्यों के लिए अपरिचित व निरर्थक।

निश्चय ही ये निष्कर्ष भाषाविज्ञान के अध्येताओं के उस दृष्टिकोण से सम्बन्धित हैं जिसमें भाषा को उसके व्यापकतम् रूप में देखने के बजाय, सीमित अर्थों में लिया (समझा) जाता है। पर इस सीमित (संकुचित) दृष्टिकोण के बावजूद भाषावैज्ञानिक यह स्वीकार करते हैं कि 'रुढ़' ध्वनि संकेतों की यह प्रणाली सदा सर्वदा रूढ़ नहीं रहती, बल्कि समय के साथ निरन्तर परिवर्तनशील है, गतिशील (गतिमान) है। भाषा में आने वाला यह परिवर्तन कभी न रुकने वाली एक चिरंतन प्रक्रिया का अंग है जिसे विकास कहते हैं। भाषा का विकास यानी परिवर्तन क्यों और कैसे होता है, इस प्रश्न के जटिल भाषावैज्ञानिक विस्तार में न जाकर केवल इतना ही कहना चाहूँगा कि मानवीय चाह अपनी अभिव्यक्ति का ज़्यादा स्पष्ट, आसान और प्रवाहपूर्ण बनाने की है और उसकी इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए भाषा निरंतर विकासमान है।

व्यवहारिक दृष्टि से विकास क्रम में भाषा के तीन रूप दृष्टिगत होते हैं—सांकेतिक भाषा, वाचिक भाषा, और लिखित भाषा। ऐतिहासिक दृष्टि से भी भाषावैज्ञानिक भाषा के इन्हीं तीनों रूपों को मानते हैं। उनके अनुसार प्रारम्भिक युग (Primitive stage) में मानवीय सम्बन्ध अत्यन्त सीमित थे अतः अपनी ज़रूरतों से सम्बन्धित जानकारी यदा-कदा दूसरों तक पहुँचने की आवश्यकता पड़ने पर कतिपय आंगिक संकेतों से काम चल जाता था। आज भी अपरिचित भाषा समाज में अथवा प्रतिबन्धित अभिव्यक्ति की स्थिति विशेष में **सांकेतिक भाषा** ही कारगर सिद्ध होती है। भाषा के इस विकास क्रम में दूसरा चरण **वाचिक भाषा** का है। मानवीय सम्बन्धों में विकास के साथ-साथ कालांतर में सांकेतिक भाषा की अपर्याप्तता सिद्ध होती गई और संकेतों का स्थान विभिन्न प्रकार की ध्वनियों ने ले लिया। शुरुआत में निश्चय ही इन ध्वनियों में शेर आदि जंगली पशुओं की दहाड़ (आवाज़), नदी-झरनों की कलकल ध्वनि तथा हर्ष व भय आदि मानवीय भावों को प्रकट करने वाले शब्दों की प्रचुरता रही होगी। पर धीरे-धीरे आवश्यकतानुसार विभिन्न भावों को प्रकट करने वाली ध्वनियों का विकास होता रहा। किन्तु प्राकृतिक ध्वनियों पर आधारित यह वाचिक भाषा, किसी विचार को एक प्राणी से दूसरे प्राणी तक पहुँचाने के लिए स्थान और समय (Time-space) के सीमाओं में बँधी हुई थी। अर्थात् इस वाचिक भाषा के द्वारा केवल वर्तमान से सम्बद्ध घटनाओं को ही व्यक्त किया जा सकता था और साथ ही अपनी बात केवल ऐसे व्यक्ति तक ही पहुँचाई जा सकती थी जिस तक आवाज़ (ध्वनि) पहुँच सके। **लिखित भाषा** के विकास ने वैचारिक अभिव्यक्ति को देश-काल की इन सीमाओं (बंधन) से मुक्त किया यानी हम भूत और भविष्यत कालों की बातें भी वर्तमान की ही तरह स्पष्ट एवं सरलता से व्यक्त करने में सक्षम हो गए।

पर लिखित भाषा के विकास के बावजूद, सांकेतिक व वाचिक भाषा की आवश्यकता, पूर्णतः खत्म नहीं हो गई। अभी तक सांकेतिक भाषा एवं वाचिक भाषा का प्रचलन में होना इनकी उपयोगिता का प्रमाण तो है ही, लिखित भाषा की कमियों का

निर्देशक भी है। लिखित भाषा में कहीं न कहीं कुछ कमी जरूर है जिसे पूरा करने का दायित्व आंगिक संकेत एवं वाचिक ध्वनियों ने सँभाल रखा है। समय और स्थान की बचत सांकेतिक भाषा के पक्ष में महत्वपूर्ण तर्क है। समय तो सभी के लिए महत्वपूर्ण होता है पर गणितज्ञों एवं विज्ञानियों को समय बचाने की चिंता सर्वाधिक सताती है। शायद यही कारण है कि गणित व विज्ञान के सैद्धांतिक विवेचनों में **शब्द** कम, **प्रतीक ज्यादा** होते हैं। प्रतीकों एवं संकेतों के उपयोग से व्यक्त सिद्धांतों की शुद्धता और स्पष्टता निश्चित हो जाती है, साथ ही उन्हें स्मरण रख पाना भी आसान हो जाता है। उदाहरण के लिए **इकाई समय में किसी व्यक्ति द्वारा किया गया कार्य ही उसकी शक्ति का मापक है**। लिखित भाषा के इस सामान्य कथन को विज्ञान के विद्यार्थी **शक्ति** $=\frac{\text{कार्य}}{\text{समय}}$ अथवा $P=\frac{W}{T}$ के रूप में अच्छी तरह से समझ कर याद रख सकते हैं। इसी प्रकार विभिन्न शब्दों को संक्षिप्त रूप में प्रकट करने की प्रथा वैज्ञानिक गणितीय विवेचन में है। किसी वस्तु का आयतन उसकी लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई के गुणनफल के बराबर होता है। अतः इसे आ० = ल० × चौ० × ऊँ० से व्यक्त कर देते हैं। त्रिकोणमितिय अनुपात स्पर्शज्या क से [समकोण त्रिभुज में किसी न्यूनकोण का एक अनुपात] को संक्षिप्त रूप में स्पर्शज्या क या स्प क लिखकर ही काम चला लेते हैं। इसी प्रकार लघुगणक की परिभाषा है—'दिए हुए आधार (Base) पर किसी दी हुई संख्या का लघुगणक, उस दी हुई संख्या को प्राप्त करने के लिए आधार पर लगाई गई घात (Power) के बराबर होता है।' इसी शाब्दिक परिभाषा को गणितीय भाषा में निम्नवत् व्यक्त करते हैं—

यदि $10^4 = 10000$ तो $\text{लघु}_{10} 10000 = 4$

$10^2 = 100$ तो $\text{लघु}_{10} 100 = 2$

$2^4 = 16$ तो $\text{लघु}_2 16 = 4$

$\text{क}^{\text{य}} = \text{म}$ तो $\text{लघु}_{\text{क}} \text{म} = \text{य}$

यहाँ द्रष्टव्य है कि लघुगणक शब्द पूरा लिखने के बजाय केवल लघु लिखकर ही काम चलाया गया है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित ही होगा कि गणितीय व वैज्ञानिक भाषा में संक्षिप्ति एवं सूत्र की प्रवृत्ति दुनिया की हर भाषा बोलने वाले वैज्ञानिकों एवं गणितज्ञों में समान रूप से पाई जाती है। अंग्रेजी में स्पर्शज्या के लिए Tangent के बजाय tan व कोज्या के लिए Cosine के बजाय केवल Cos लिखना ही पर्याप्त समझा जाता है। इसी प्रकार लघुगणक के लिए Logarithm के बजाय केवल log लिख देने से ही काम चल जाता है। संक्षिप्ति की इसी प्रवृत्ति को और वैज्ञानिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय रूप देने के लिए अनेक गणितीय चिन्हों का विकास हुआ है। जोड़, घटाना, गुणा, भाग, बराबर आदि चिह्न, विभिन्न गणितीय अभिक्रियाओं को एक साथ और छोटे में व्यक्त करने के लिए बड़े, मंझोले, छोटे एवं रेखा कोष्ठकों का प्रयोग, असमानता (बड़े या छोटे) को प्रकट करने वाले चिह्न इसी श्रेणी के हैं। [+, −, ×, ÷, =, [ ], { }, ( ), —, >, <] अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त प्रतीकों की इस सूची में रासायनिक तत्वों के प्रतीक, विभिन्न रासायनिक पदार्थों के सूत्र एवं रासायनिक समीकरण भी हैं। उदाहरणार्थ विश्व की किसी भी भाषा में लिखी रसायनशास्त्र की पुस्तक में NH_3 लिखा है तो उसका मतलब अमोनिया और CO_2 का कार्बन डाइऑक्साइड ही है। इसी प्रकार आवर्त सारणी में दिए गए तत्वों के विभिन्न संकेत पूरे विश्व में समान हैं। Au, Ag, Zn, P, H और O हमेशा क्रमश सोना, चाँदी, जस्ता, फॉस्फोरस, हाइड्रोजन और ऑक्सीजन के लिए प्रयोग किए जाएंगे।

तात्पर्य यह कि विज्ञान और गणित की अपनी एक अलग भाषा है—जो बहुत कुछ अर्थों में अन्तर्राष्ट्रीय है, जो जनसामान्य की भाषा से भिन्न है, जिसमें प्रतीक चिह्नों की बहुलता है और जिसमें शुद्धता, स्पष्टता एवं संक्षिप्तता पर बल दिया जाता है।

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि विज्ञान

की भाषा की इस अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता का कारण क्या है ? इसमें वह कौन सी विशेषता है जिसके कारण सारा संसार सामान्य भाषा के बजाय इन्हीं संकेतों के द्वारा अपने विचार व्यक्त करना सुविधाजनक समझता है ? ऐसे ही प्रश्नों पर विचार करते हुए प्रसिद्ध वैज्ञानिक **आइंस्टीन** ने लंदन की विज्ञान कांफ्रेंस में 28 सितंबर 1941 को कहा था—

"विज्ञान का लक्ष्य, विभिन्न विचारों (Concepts) के आपसी संबंधों को ऐन्द्रिक अनुभवों (sensory-data) से समन्वित कर पूरी स्पष्टता एवं शुद्धता के साथ प्रकट करना है। एक तरफ विचारों एवं अभिव्यक्ति का और दूसरी तरफ ऐन्द्रिक अनुभवों का यह समन्वय, गणना एवं मापन की पूर्वनिर्धारित, स्वयं सिद्ध गणितिय प्रक्रियाओं के माध्यम से सम्पन्न होता है।"

अतः स्वाभाविक है कि संसार के विभिन्न देशों के श्रेष्ठ विद्वानों द्वारा समय-समय पर विकसित इस वैज्ञानिक भाषा का स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय हो।

पर ये 'विचार' (Concepts) कैसे पैदा होते हैं ? निश्चय ही किसी व्यक्ति, वस्तु या घटना के बारे में कोई निश्चित अवधारणा या विचार बनाने से पहले हम उसके बारे में सोचते हैं, उसके विभिन्न पक्षों पर तर्क करते हैं और उससे संबंधित दैनिक अनुभवों से अपने तर्कों का मिलान करते हैं। इस प्रक्रिया से बार-बार गुजरने के बाद ही हम उसके बारे में कोई निश्चित अवधारणा या विचार (Concept) बना पाने की स्थिति में आते हैं।

सोचने और तर्क करने की यह सारी क्रिया हम किस भाषा में करते हैं ? वह कौन सी भाषा है जिसमें निर्द्वन्द्व होकर अपनी-अपनी स्वाभाविक लय और तान में स्वाभाविक ढंग से सोच सकते हैं ? निश्चय ही वह भाषा हमारी लोक भाषा ही हो सकती है, हमारी मातृभाषा ही हो सकती है। **आइंस्टीन** का स्पष्ट मत है कि—

"चिन्तन और भाषा परस्पर जुड़े हुए हैं। अतः किसी भी व्यक्ति का मानसिक विकास तथा अवधारणा (Concept) बनाने की उसकी क्षमता प्रधानतः उसकी भाषा पर ही निर्भर है। यही कारण है कि एक ही भाषा बोलने वालों की मानसिकता भी प्रायः समान होती है।"

भाषा, विज्ञान और चिन्तन की इस प्रक्रिया से ही जुड़ा एक और महत्वपूर्ण प्रश्न है कि किस तरह कुछ अक्षरों, प्रतीकों और ध्वनियों से मिलकर बनी किसी भाषा में व्यक्त विचार, किसी अन्य व्यक्ति के लिए बोधगम्य हो जाते हैं ? इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिए या यों कहें कि ऐसे ही प्रश्नों को न उठने देने के लिए व्याकरण की रचना होती है। क्योंकि, यदि भाषा का लक्ष्य समझ का विकास करना है तो एक तरफ विभिन्न संकेतों (प्रतीकों या अक्षरों) का आपस में और दूसरी तरफ उन संकेतों (प्रतीकों या अक्षरों) व उनके अर्थों में, सामंजस्य स्थापित करने के लिए नियम अवश्य होने चाहिए। यही कारण है कि हर भाषा का अपना व्याकरण होता है। यह व्याकरण, भाषा की प्रकृति एवं प्रवाह को ध्यान में रखते हुए अनुभव किये गये सामान्य नियमों का संकलन होता है। **डॉ० भोलानाथ तिवारी** के अनुसार, 'व्याकरण' शब्द का अर्थ है टुकड़े-टुकड़े करके, उसका ठीक स्वरूप दिखाना।' यानी व्याकरण किसी भाषा के टुकड़े-टुकड़े करके उसके ठीक स्वरूप को दिखाता है। कुछ अन्य वैयाकरणों द्वारा दी गई परिभाषाएँ निम्नवत् हैं—

(1) जिस शास्त्र में शब्दों के शुद्ध रूप और प्रयोग के नियमों का निरूपण होता है उसे व्याकरण कहते हैं।

—**कामता प्रसाद गुरु**, हिन्दी व्याकरण, पृष्ठ 4।

(2) व्याकरण का मुख्य कार्य भाषा के नियम ढूँढ़कर उन्हें स्थिर और क्रमबद्ध करना है।

—**रामचन्द्र वर्मा**, अच्छी हिन्दी, पृष्ठ 1।

(3) जिस विद्या से हम लोग शुद्ध बोलने और लिखने की विधि सीखते हैं, उसे व्याकरण कहते हैं।
—**रघुनन्दन शर्मा** 'राकेश', अभिनव हिन्दी व्याकरण रचना, पृष्ठ 14।

(4) जिस विद्या के द्वारा किसी भाषा के ठीक-ठीक लिखने, बोलने व समझने का ज्ञान हो उसे व्याकरण कहते हैं।

—भागीरथ प्रसाद दीक्षित, हिन्दी व्याकरण-शिक्षा, पृष्ठ 1।

वस्तुत: **व्याकरण** शब्द की व्युत्पत्ति है— वि + आ + करण। यहाँ 'वि' एक विशेषता सूचक उपसर्ग है तथा 'आ' मर्यादा, सीमा, गौरव, नियम आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है और 'करण' का अर्थ है 'कार्य' या 'क्रिया'। इस व्युत्पत्ति के आधार पर कहा जा सकता है कि व्याकरण वह शास्त्र है जो अपने कार्य (यानी भाषा) को अच्छी तरह नियमों की सीमा में रखते हुए मर्यादित और गौरवान्वित करे।

अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट है कि 'व्याकरण' भाषा के लिए नियम बनाता है, पर क्या भाषा इन नियमों में बँधकर चलती है? स्पष्टत: **नहीं। भाषा का अपना नैसर्गिक प्रवाह होता है जिसे कृत्रिम नियमों को बनाकर रोका या मोड़ा नहीं जा सकता। यही कारण है कि व्याकरण के नियम प्राय: अपवादों से भरे होते हैं।** किसी भी जीवित भाषा के लिए, पूर्णत: अपवादरहित किसी नियम का प्रतिपादन करना शायद संभव नहीं, पर नियमविहीन भाषा का अस्तित्व भी असंभव है। यदि व्याकरण के नियम न हों तो लेखक व वक्ता अभिव्यक्त कुछ करेंगे और पाठक व श्रोता ग्रहण कुछ और करेंगे। इस भ्रमपूर्ण स्थिति के निवारण के लिए **व्याकरण** की उपयोगिता निर्विवाद है।

जहाँ तक वैज्ञानिक भाषा का प्रश्न है, उसका अपना अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप है, अंतर्राष्ट्रीय नियम हैं। पर यह भाषा और नियम उन विशेषज्ञों एवं वैज्ञानिकों के ही प्रयोग में आते हैं। जनसामान्य तो इस वैज्ञानिक भाषा और ज्ञान का लाभ तभी उठा पाता है, जब यह उन तक उनकी बोलचाल की भाषा में पहुँचे। जनता तक विज्ञान पहुँचाने का यह दायित्व विभिन्न पत्रिकाओं के माध्यम से विज्ञान लेखक निभाते हैं अत: ज़रूरी है कि ये विज्ञान लेखक एक तरफ उस अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक भाषा के जानकार हों तो दूसरी तरफ जनसामान्य की भाषा के व्याकरणसम्मत प्रयोग से भी अच्छी तरह परिचित हों। यह लोक-भाषा के विज्ञान लेखन के मानकीकरण के लिए भी जरूरी है। उदाहरण के लिए अब समय आ गया है कि हम यह तय कर लें कि 'परमाणुवीय', 'परमाणवीय' या 'परमाण्वीय' में से कौन सा प्रयोग शुद्ध है? 'चिकित्सीय' उचित है या 'चिकित्सकीय'? इसी प्रकार के अनेक प्रश्न **मानक वैज्ञानिक हिन्दी** के सन्दर्भ में अभी तक अनुत्तरित हैं। इससे जुड़े तमाम प्रश्नों के उत्तर के प्रयास में अगली बार हम हिन्दी विज्ञान लेखन के अनुदित पक्ष पर विचार करेंगे। □□

74वाँ विज्ञान कांग्रेस

3 जनवरी को भारतीय विज्ञान कांग्रेस के 74वें अधिवेशन के अध्यक्ष पद से बोलते हुये डॉ० श्रीमती **अर्चना शर्मा**, प्रोफेसर, वनस्पति विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय ने चेतावनी दी कि खाद्य समस्या को हल करने के लिये जंगल कटते रहे तो पर्यावरण को अपूरणीय क्षति होगी। प्रोफेसर शर्मा ने कहा कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी की सहायता से हम उपलब्ध संसाधनों से अधिकाधिक उत्पादन करें। इस सम्बन्ध में उन्होंने कृषि, स्वास्थ्य, परिवार कल्याण और ऊर्जा के गैरपारम्परिक स्रोतों द्वारा उत्पादन बढ़ाने का ज़िक्र किया। उन्होंने कहा कि यह ज़रूरी है कि संसाधनों के उचित उपयोग और नयी प्रौद्योगिकी विज्ञान के योगदान आदि के बारे में लोगों को अधिक जानकारी हो।

भारत तथा 15 अन्य देशों के लगभग $3\frac{1}{2}$ हज़ार प्रतिनिधियों ने कांग्रेस के 74वें अधिवेशन में भाग लिया। **सी० वी० रमन** और **विश्वेश्वरैया** की कर्मभूमि बंगलौर में विज्ञान कांग्रेस का अधिवेशन सातवीं बार सम्पन्न हुआ।

विज्ञान कांग्रेस के उद्घाटन समारोह की एक विशेषता, देश के युवा वैज्ञानिकों को भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी के पदकों का प्रदान किया जाना थी।

शब्दावली आयोग का रजत जयंती समारोह

प्रेमानन्द चंदोला

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग का रजत जयंती समारोह 29-30 नवम्बर, 1986 को मावलंकर सभागार, नई दिल्ली में सम्पन्न हुआ। समारोह के उद्घाटनकर्ता थे माननीय **श्री पी० वी० नरसिंह राव**, मानव संसाधन विकास मंत्री भारत सरकार और उद्घाटन सत्र के अध्यक्ष थे विख्यात वैज्ञानिक **डॉ० दौलत सिंह कोठारी**। पुस्तक प्रदर्शनी का उद्घाटन शिक्षा तथा संस्कृति राज्य मंत्री, भारत सरकार माननीया **श्री मती कृष्णा साही** ने किया।

स्वागत भाषण में शब्दावली आयोग के अध्यक्ष **प्रो० मलिक मोहम्मद** ने बताया कि आयोग पारिभाषिक शब्दावली, विश्वविद्यालयी पाठ्यपुस्तकों तथा कोशों के निर्माण से सम्बद्ध राष्ट्रीय महत्व का कार्य कर रहा है। आयोग ने विज्ञानों से लेकर सामाजिक विज्ञान और मानविकी तक के सभी प्रमुख विषयों के लगभग पाँच लाख वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्द निर्मित और प्रकाशित कर दिए हैं। उन्होंने आगे बताया कि हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में विभिन्न विषयों की लगभग 7,500 विश्वविद्यालय स्तर की पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं और प्रमुख विषयों के 30 परिभाषा-कोश। उन्होंने यह भी जानकारी दी कि शब्दावली के प्रयोग की बानगी के लिए प्राध्यापकों के प्रशिक्षण के निमित्त विश्वविद्यालयों में "शब्दावली कार्यशालाएँ" आयोजित की जा रही हैं और दो त्रैमासिक पत्रिकाओं का प्रकाशन किया जा रहा है।

पारिभाषिक शब्दावली निर्माण में विशेष योगदान करने वाले कुछ विद्वानों को **श्री पी० वी० नरसिंह राव** द्वारा सम्मानित किया गया। सम्मानित विद्वान थे—**डॉ० दौलत सिंह कोठारी**, **डॉ रामचरण मेहरोत्रा**, **श्री रमा प्रसन्न नायक**, **डॉ० दत्तात्रेय वामन बाल**, **डॉ० नगेन्द्र**, **डॉ० गोपाल शर्मा**, **प्रो० जयकृष्ण**, **प्रो० बी० एन० खत्री और डॉ० प्रेमनाथ वाही**। **डॉ० बाबूराम सक्सेना**, **प्रो० गंटिजोगि सोमयाजी**, **प्रो० हरवंश लाल शर्मा** और **स्वामी (डॉ०) सत्यप्रकाश सरस्वती** सम्मान समारोह में उपस्थित न हो सके।

उद्घाटन भाषण में श्री पी० वी० नरसिंह राव ने शिक्षा सम्बन्धी अनेक पक्षों को उजागर किया। उन्होंने कहा कि आयोग ने अपना काम कर दिया है—तकनीकी शब्द और कोश बना दिए हैं, हिन्दी तथा अन्य भाषाओं में पाठ्यपुस्तकें भी तैयार कर दी हैं। मुश्किल यह है कि ये इस्तेमाल में नहीं आ रही हैं। कभी कहा जाता है कि ये क्लिष्ट और कठिन हैं। जहाँ हम अंग्रेज़ी के लैटिनजन्य लम्बे-लम्बे और कठिन शब्दों को अपनाने के लिए तैयार रहें हैं वहाँ संस्कृत और फारसी के शब्द ग्रहण करने में संकोच करते हैं। समस्या का मूल कारण हमारी मानसिक दासता है। एक दूसरे पर आरोप लगाने से काम नहीं चलेगा। अंग्रेज़ी को कोसने के बदले हमें अपने गरेबां में मुँह डाल कर देखना होगा कि इसके पीछे क्या कटु सत्य हैं।

श्रीमती कृष्णा साही ने 'रजत जयंती स्मारिका', समेकित प्रशासन शब्दावली, **'विज्ञान गरिमा सिंधु'** पत्रिका, समाज विज्ञान, भूगोल तथा खगोलिकी की अखिल भारतीय शब्दावली तथा अन्य सब प्रकाशित

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली अयोग, पश्चिमी खण्ड-7, आर० के० पुरम, नई दिल्ली-66

हमारा प्रथम राष्ट्रीय विज्ञान दिवस

जगदीश सिंह चौहान

यूँ तो इस देश में अनेक महापुरुषों एवं व्यक्तियों की जन्म तिथियाँ अथवा शताब्दियाँ मनाई जाती हैं, वे भी बड़ी धूमधाम से, परन्तु यदि हम ध्यान से देखें तो पायेंगे कि इनमें से अधिकांश व्यक्ति धर्म तथा राजनीति से ही सम्बद्ध रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस देश में ऐसे स्तरीय वैज्ञानिक, साहित्यकार अथवा समाजसेवी नहीं हुए हैं जिन्हें हम याद कर सकें। परन्तु यह सत्य नहीं है। यह तो हमारी कृतघ्नता ही कही जायगी कि हम उन व्यक्तियों के स्मृतिदीप नहीं जला सके जिन्होंने इस देश के निर्माण में नींव की ईंट का कार्य किया। इस देश की शस्य श्यामला धरती के गर्भ से एक नहीं अनेक सपूतों ने जन्म लिया है जिन्होंने अपने व्यक्तित्व एवं कृतित्व की दीप्ति से भारत का नाम सम्पूर्ण विश्व में आलोकित किया है।

ऐसे ही एक रत्न का जन्म 7 नवम्बर 1888 को त्रिचनापल्ली (तमिलनाडु) में हुआ। हम उन्हें **चन्द्रशेखर वेंकट रमण** के नाम से जानते हैं। आपने भौतिकी के क्षेत्र में भारतवर्ष का परचम उस समय (सन् 1928) फहराया जबकि पूरी दुनिया भारतवर्ष को एक पिछड़े देश के रूप में जानती थी। 28 फरवरी 1928 को 'रमण इफेक्ट' का सिद्धान्त प्रतिपादित करके दिखा दिया कि विज्ञान के क्षेत्र में नई ऊँचाइयों को छूने का माद्दा भारत भी रखता है।

'देर आये दुरुस्त आये' वाली कहावत को चरितार्थ करते हुए भारत सरकार ने 28 फरवरी का दिन 'राष्ट्रीय विज्ञान दिवस' के रूप में मनाने की घोषणा की है। भारत सरकार के इस निर्णय की क्या उपयोगिता है या इसे किस रूप में मनाया जाना

रीडर, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

चाहिये, इसकी चर्चा हम बाद में करेंगे। पहले हम उस महान विभूति के जीवन पर दृष्टिपात करें।

डॉ० रमण का जन्म 7 नवम्बर 1888 को हुआ था। आपके पिता **श्री चन्द्रशेखर अय्यर** वाल्टेयर के एक कॉलेज में विज्ञान के अध्यापक थे। रमण के उन्नत शैक्षिक जीवन का शुभारम्भ यहीं से हुआ था।

बचपन से ही कुशाग्र बुद्धि होने के कारण रमण जब केवल 12 वर्ष के थे तभी उन्होंने हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण कर ली। तदुपरान्त उच्च शिक्षा प्राप्ति हेतु आपने मद्रास विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया। वहाँ उन्होंने अपनी कुशाग्रता का परिचय देते हुए बी० एस-सी० की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की एवं भौतिकी का स्वर्णपदक भी प्राप्त किया। प्रथम श्रेणी एवं प्रथम स्थान प्राप्त करने की अपनी परम्परा को आगे बढ़ाते हुए वे एम० ए० में भी शीर्ष पर रहे एवं प्राप्तांकों का एक कीर्तिमान स्थापित किया।

विश्वविद्यालयी शिक्षा समाप्त कर आपने **'इण्डियन फाइनेन्स विभाग'** में अधिकारी का पद सम्भाला एवं उसी पद पर दस वर्षों तक कार्य किया। परन्तु उनकी रगों में तो एक वैज्ञानिक का खून बह रहा था। इसी रुचि के कारण इण्डियन फाइनेन्स विभाग जैसे इतर विभाग में नौकरी करते हुए भी आपने अपने शोध कार्यों को जारी रक्खा। प्रातः कार्यालय जाने से पहले एवं सायंकाल को रमण **'इण्डियन एसोसियेशन फॉर कल्टीवेशन ऑव साइन्स'** की प्रयोगशाला में शोधकार्य किया करते थे। सरकारी नौकरी होने के कारण आपको कलकत्ता छोड़कर ढाका तथा नागपुर स्थानान्तरण पर जाना पड़ा। तब आपने अपने घर में ही एक प्रयोगशाला का निर्माण करके अपनी शोध साधना की निरन्तरता को बनाये रक्खा।

सी० वी० रमण अब तक काफी शोधकार्य सम्पन्न कर चुके थे और कई शोध पत्र प्रकाशित कर चुके थे। धीरे-धीरे रमण ख्यातिप्राप्त हो गये। उनके कार्यों एवं ख्याति से प्रभावित होकर कलकत्ता विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति **सर आशुतोष मुखर्जी** ने उन्हें भौतिकी विभाग में प्रोफेसर के पद पर आमन्त्रित किया। इसके बाद से तो रमण ने अपना सारा समय विज्ञान की सेवा में समर्पित कर दिया।

रमण ने विदेशी मदद नहीं ली। किसी स्तरीय वैज्ञानिक ने उनकी सहायता भी नहीं की। उनके पास अपनी कोई सुसज्जित प्रयोगशाला भी नहीं थी। आप एक सरल एवं निःस्वार्थी व्यक्ति थे। खुद तो प्रयोगशाला में घण्टों कार्य करते थे, साथ ही साथ अपने अन्य सहयोगियों तथा छात्रों को भी काम करने के लिए प्रोत्साहित करते रहते थे।

इसी प्रकार प्रयोगात्मक कार्यों में डूबे हुए **डॉ० रमण** ने 28 फरवरी 1928 को भौतिकी-जगत् में धमाका कर दिया। उन्होंने **'रमण प्रभाव'** नामक सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उनके इसी सिद्धान्त ने भौतिकी के क्षेत्र में नये क्षितिजों का सृजन किया। इस सिद्धान्त पर शोध करने के पीछे एक रोचक घटना छिपी है।

डॉ० रमण एक बार सीमाविहीन सागर की उत्ताल लहरों को मुग्धभाव से निहारते हुए उन्होंने सोचा कि समुद्र का जल नीलाभ क्यों होता है? **रमण** एक सच्चे वैज्ञानिक थे। वे अपने मन में उठी जिज्ञासा को हर कीमत पर शान्त करना चाहते थे। इसीलिये उन्होंने कमर कस ली इसका कारण जानने के लिये। उन्होंने द्रवों द्वारा एकल आवृत्ति के प्रकाश के प्रकीर्णन पर शोध करना शुरू किया। अन्ततः उन्होंने देखा कि प्रकीर्णित प्रकाश के स्पेक्ट्रम में आपतित आवृत्ति के दोनों ओर कुछ दूसरी आवृत्तियाँ भी होती हैं। उन्होंने यह भी पता लगाया कि निम्न आवृत्तियों की ओर वाली रेखायें, उच्च आवृत्तियों की ओर वाली रेखाओं की अपेक्षा संख्या में अधिक एवं तीव्र होती हैं। इस प्रकार प्राप्त स्पेक्ट्रम को **'रमण स्पेक्ट्रम'** के नाम से जाना जाता है।

'रमण स्पेक्ट्रम' की प्रमुख विशेषता यह है कि **'रमण रेखाओं'** का आवृत्ति विस्थापन प्रकीर्णन का गुण

रखता है तथा आपतित प्रकाश पर निर्भर नहीं करता।

'रमण प्रभाव' की नई खोज **क्लासिकल सिद्धान्त** को अमान्य करती है और इसीलिये इसकी खोज ने सैद्धान्तिक क्षेत्र में कार्य करने की रुचि उत्पन्न की। उसी खोज ने **क्वाण्टम सिद्धान्त** की और भी पुष्टि की। 'रमण प्रभाव' द्रव्य की संरचना एवं गुण दोष के बारे में जानकारी प्राप्त करते समय आने वाली कठिनाइयों को दूर करने में बहुत प्रभावकारी सिद्ध हुआ। मुख्य रूप से ठोस, द्रव तथा गैसीय अवस्था के अणु की संरचना के संदर्भ में इस सिद्धान्त ने नये द्वार खोले।

इस प्रकार **डॉ० रमण** ने भौतिकी के क्षेत्र में क्रान्तिकारी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसी महान वैज्ञानिक उपलब्धि के लिए आपको 1930 में भौतिकी के **नोबेल पुरस्कार** से सम्मानित किया गया। भारतवर्ष के लिए यह एक रेखांकित करने योग्य उपलब्धि है। आपकी कार्य प्रतिभा से प्रसन्न होकर ब्रिटिश सरकार ने आपको 'सर' की उपाधि से विभूषित किया।

विज्ञान के क्षेत्र में किये गये असाधारण कार्य से आप विश्वविख्यात हो चुके थे। उसके बाद विश्व स्तर के प्रत्येक वैज्ञानिक सम्मेलन, गोष्ठियों आदि में आपको ससम्मान आमन्त्रित किया जाने लगा। पेरिस, ग्लासगो, फाइबर्ग, कलकत्ता, मद्रास, बनारस तथा ढाका विश्वविद्यालयों ने आपको **मानद डॉक्टरेट** की उपाधियों से सम्मानित किया।

सर सी० वी० रमण हमारे लिये इसीलिये ही महत्त्वपूर्ण नहीं हैं कि वे एक विश्वविख्यात वैज्ञानिक थे अथवा उन्हें **नोबेल पुरस्कार** एवं 'सर' की उपाधि मिली अपितु उनका महत्त्व इसलिए और अधिक है कि वे एक सरल, सहज, निष्ठावान एवं कार्य के प्रति समर्पित व्यक्ति थे। आपने जिस कार्य को अपने हाथ में लिया उसे अपनी साधना माना। आपके पास न तो सम्पूर्ण साधनसम्पन्न प्रयोगशाला थी और न ही बेपनाह धन-दौलत। फिर भी आपने उस असाधारण लक्ष्य को प्राप्त कर दिखाया। आप भारतीय वैज्ञानिकों तथा इस देश के युवाओं के लिए एक मापदण्ड सिद्ध हुए। आपकी इस सफलता ने सिद्ध कर दिया कि भारतीय वातावरण में वे गुण मौजूद हैं जिनमें महान वैज्ञानिक, साहित्यकार, समाजसेवी एवं राजनीतिज्ञ पैदा हो सकते हैं। आज हम विश्व की दसवीं औद्योगिक शक्ति के रूप में उभरे हैं। परमाणु एवं अन्तरिक्ष से सम्बन्धित कार्यक्रम तथा योजनायें द्रुत गति से चल रही हैं। इन सब उपलब्धियों के पीछे क्या हमें **सर सी० वी० रमण** तथा अन्य वैज्ञानिकों का खून-पसीना दृष्टिगोचर नहीं होता है?

किन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति के 40 वर्ष बाद भी हमने अपने महान वैज्ञानिकों को कितनी बार याद किया है? किसी भी स्तर के राजनेता के मृत्योपरान्त न जाने कितने पुल, भवन आदि उनके नामों को समर्पित कर दिये जाते हैं परन्तु अपनी महान वैज्ञानिक विभूतियों की स्मृतियों को किस प्रकार सहेजें, यह हमें शायद नहीं आता।

अभी भी समय हाथ से निकला नहीं है। हम अपने समस्त विख्यात व्यक्तियों एवं उनके कार्यों को सुरक्षित रखकर उसमें नया जोड़कर आने वाली पीढ़ी को सौंप सकते हैं।

अब ऐसा प्रतीत होता है कि सरकार का ध्यान इस ओर धीरे-धीरे आकृष्ट होना प्रारम्भ हुआ है। विज्ञान तथा तकनीकी के क्षेत्र में हुए कार्यों की समीक्षा करना तथा प्रसिद्ध वैज्ञानिकों को सम्मानित करने की दिशा में जो समारोह 28 फरवरी 87 को आयोजित किये जायेंगे वे मील का पत्थर साबित होंगे।

हमें आशा ही नहीं वरन् विश्वास भी है कि यह **राष्ट्रीय विज्ञान दिवस** अन्य समारोहों की तरह परम्परागत न होकर रचनात्मक होगा। भारत सरकार सभी राज्य सरकारों, विश्वविद्यालयों, कॉलेजों, स्कूलों को यह दिन **राष्ट्रीय पर्व** के रूप में मनाना चाहिये जिससे कि छात्र अपने देश में हो रही वैज्ञानिक उपलब्धियों के बारे में जान सकें। उनके मन में भी विज्ञान के प्रति लगाव पैदा हो सके। हो सकता है इन्हीं नन्हें एवं युवा छात्रों में से कोई नया **रमण** पैदा हो जाय।

सर० सी० वी० रमण द्वारा देश, विज्ञान एवं समाज के लिए की गयी अमूल्य सेवाओं के प्रति हमारी यही वास्तविक श्रद्धांजलि होगी। □□

और रमण क्यों नहीं जन्म लेते हैं ?

त्रिभुवन नाथ उपाध्याय

दक्षिण भारत के तिरुचिरापल्ली नगर में 7 नवम्बर सन् 1888 को जन्मे प्रोफेसर **चन्द्रशेखर वेंकट रमण** का नाम भौतिक विज्ञान में 'नोबेल पुरस्कार' प्राप्त करने वाले एकमात्र भारतीय वैज्ञानिक के रूप में हमेशा याद किया जाएगा। उन्हें यह पुरस्कार सन् 1930 में उस समय मिला था जब देश पर अंग्रेजों का राज था और अनुसंधान कार्य करने की सुविधाएँ नाम मात्र ही उपलब्ध थीं। आज यह सोचकर भी आश्चर्य होता है कि उन्होंने जिस उपकरण का उपयोग किया था वह केवल दो सौ रुपयों में ही बन कर तैयार हो गया था। अब हम स्वतंत्र हैं, पूरे देश में प्रयोगशालाओं का एक जाल-सा फैला हुआ है और अनुसंधान के नाम पर प्रति वर्ष करोड़ों रुपये खर्च किया जाता है फिर भी किसी भारतीय वैज्ञानिक को क्यों अब 'नोबेल पुरस्कार' पाने के लायक नहीं समझा जाता है ? आखिर यह स्थिति क्यों है ? क्या इस देश की वैज्ञानिक धरती बंजर बनकर और **रमण** पैदा करने में अक्षम हो गई है या कि देश में वैज्ञानिकों को काम करने का उचित वातावरण नहीं मिल पा रहा है ? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो कि उमड़-घुमड़ कर बार-बार प्रत्येक चिन्तनशील मनुष्य के मन-मास्तिष्क को उद्वेलित करके सोचने के लिए बाध्य करते हैं।

समस्या पर विचार का प्रारम्भ शिक्षा-मन्दिरों की दयनीय स्थिति, पाठ्य क्रम, पठन-पाठन के माध्यम शिक्षा नीति, परीक्षा प्रणाली तथा उसके परिणामों, से करते हैं। विद्यालयों में विज्ञान पठन-पाठन का तरीका नितांत अवैज्ञानिक है। विद्यार्थी पढ़ते किसी माध्यम में हैं, लिखते किसी अन्य माध्यम में और सोचते किसी दूसरे माध्यम में। अधिकांश पाठ्य-पुस्तकें तथा पाठ्यक्रम ऐसे हैं जो कि विद्यार्थियों में स्वतंत्र चिंतन करने की प्रवृति के बजाय रटने की आदत डालते हैं। विद्यालयों में विज्ञान के प्रयोगों की सही-सही जानकारियाँ देने की सुविधाएँ नहीं के बराबर हैं। इस कारण विद्यार्थी विषय की सैद्धान्तिक जानकारियाँ तो फिर भी प्राप्त कर लेते हैं, लेकिन उनके प्रयोगात्नक पक्ष को आत्मसात करने में अपने आप को असमर्थ पाते हैं। वर्ष के अन्त में एक परीक्षा होती है, जिसमें कुछ प्रश्नों के रटे-रटाये उत्तर देकर कक्षा में पास होना ही अपना कर्तव्य समझता है। ऐसी शिक्षा के कारण माध्यमिक तथा विश्वविद्यालयों से विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करके निकलने वाले विद्यार्थियों का स्तर बहुत अच्छा नहीं होता है।

आज हमारे समाज में मनुष्य का मूल्यांकन उसकी आर्थिक स्थिति से किया जाता है और उसे पैसों की कसौटी पर कसा जाता है। विज्ञान के क्षेत्र में कार्य करने वालों की मासिक आय बहुत कम होती है, यह आज सभी लोग जानते हैं। इसलिए विश्व-विद्यालयों से विज्ञान की उच्च शिक्षा प्राप्त करके बाहर आने वाले भावी वैज्ञानिक भी प्राथमिकता के आधार पर विज्ञान के क्षेत्र को सबसे अन्त में चुनते हैं। वे अन्य आकर्षक सेवाओं में जाने का प्रयास करते हैं और बहुधा अपने प्रयास में सफल भी हो जाते हैं।

रक्षा शरीर क्रिया एवं सम्बद्ध विज्ञान संस्थान, दिल्ली छावनी—110010 (71-बी, हरिनगर, एल० आई० जी०, नई दिल्ली—1'0864)

जो लोग अच्छी सेवाओं में जाने से वंचित रह जाते हैं वे वैज्ञानिक बन जाते हैं। यह भी कैसी विडंबना है कि जिन वैज्ञानिकों से देश एक नई दृष्टि की आशा करता है उनके चयन की प्रक्रिया मात्र व्यक्तिगत साक्षात्कार पर आधारित है। उनके चयन में भाई-भतीजाबाद, प्रान्तीयता, जातीयता तथा अन्य कई घटक अपनी भूमिका निभाते हैं। एकाध बार असफल होने वाले लोग भी अपना टिप्पस भिड़ा कर अन्ततोगत्वा कहीं न कहीं अपने आपको फिट करवा ही लेते हैं।

यदि हम वैज्ञानिकों के शोध की विषय-वस्तु पर अपनी नजर दौड़ाएँ तो यह पाएँगे कि वे मौलिक न होकर नितांत घिसे-पिटे होते हैं। अधिकतर वे पुराने कार्यों की पुनरावृति ही करते रहते हैं। उनके विषय न तो हमारी समस्याओं को सम्बोधित होते हैं और न ही वे हमारी किसी समस्या का कोई समाधान ही प्रस्तुत करते हैं। नतीजा यह होता है कि उन शोध कार्यों का हमारे जीवन पर कोई व्यापक प्रभाव नहीं पड़ता है। यदि कोई वैज्ञानिक किसी नवीन एवं महत्वपूर्ण विषय पर अनुसंधान कार्य करने का प्रयत्न भी करता है तो उसकी इस धृष्टता को ऊँचे पदों पर पदासीन वैज्ञानिक पुरोहित सहन नहीं कर पाते और उसके मार्ग में तरह-तरह के रोड़े अटकाना अपना जन्म सिद्ध अधिकार मानते हैं।

अनुसंधान एक संयुक्त कार्य है जिसे कोई भी एक वैज्ञानिक अकेले अपने दम खम पर पूरा नहीं कर सकता। इसलिए शोधकार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए यह आवश्यक होता है कि दल के नेता को दल के प्रत्येक सदस्य का पूरा-पूरा सहयोग मिले। शोध के निम्न स्तर का होने का एक बहुत बड़ा कारण यह है कि दल के नेता को उसके अन्य सदस्यों का पूरा सहयोग नहीं मिलता है। कभी उनका अहम आड़े आ जाता है तो कभी सदस्यों में परस्पर विश्वास की कमी। आपसी खींच-तान के कारण शोध का स्तर गिरता जाता है, बस किसी प्रकार काम पूरा हो जाता है।

कार्यरत वैज्ञानिकों की पदोन्नति का आधार व्यक्तिगत साक्षात्कार होता है जिसमें एक निश्चित समय अन्तराल पर उनके द्वारा किये गए शोध कार्यों का मूल्यांकन किया जाता है। इसमें यह भी देखा जाता है कि उन्होंने उस अवधि में अपने नाम से कितना शोध-पत्र प्रकाशित करवाया है। प्रकाशित शोध-पत्रों की संख्या बढ़ाने की गरज से वे गोष्ठियों सेमिनारों तथा कान्फ्रेंसों में अपना शोध-पत्र पढ़ने के लिए जाते हैं और अधिक से अधिक शोध-पत्र पढ़ते हैं। इसके लिए चाहे भले उन्हें अपने पुराने पत्रों को ही तोड़ना मरोड़ना क्यों न पड़े। यह "सेमिनार-सभ्यता" बड़ी तेज़ी के साथ फैलती जा रही है और सभी वैज्ञानिक एक दूसरे से बढ़-चढ़ कर इसके प्रसार में अपना योगदान दे रहे हैं। इन सेमिनारों में शोध-पत्र पढ़ना अपने आप में कोई गलत कार्य नहीं है बशर्ते की आपके पास कहने के लिए अपना कुछ मौलिक कार्य हो। लेकिन आज हो इसके विपरीत रहा है। अपने रिश्तेदारों से मिलने, जान-पहचान बढ़ाने या भ्रमण के उद्देश्य से विशेष मौकों को ध्यान में रखकर शोध-पत्र लिखना और उन्हें सेमिनारों में पढ़ना एक घृणित कार्य है जिसे तत्काल बन्द किया जाना चाहिए, स्तरीय शोध कार्य को करने के लिए। कुछ वैज्ञानिक अपनी मनोहारी छवि बनाने के चक्कर में अपना अधिक समय प्रयोगशालाओं में रहकर अनुसंधान कार्य करने के स्थान पर सेमिनारों और कान्फ्रेंसों को आयोजित करने में लगाते हैं। वरिष्ठ वैज्ञानिक भी अपने अधीनस्थ वैज्ञानिकों को उचित पथ-प्रदर्शन देने के स्थान पर अपनी अगली पदोन्नति के लिए जोड़-तोड़ बैठाने में अपना अधिक समय बर्बाद करते हैं। वरिष्ठ वैज्ञानिकों का अधिक समय प्रशासनिक कार्य करने में भी व्यतीत होता है और इन कारणों से वे स्तरीय शोध कार्य नहीं कर पाते हैं। इस सबके बावजूद कुछ वैज्ञानिक ऐसे हैं जो प्रचार तंत्र से दूर रहकर प्रयोगशालाओं में अनुसंधान कार्य में जुटे रहते हैं।

वैसे देखा जाए तो स्तरीय अनुसंधान कार्य एक

[शेष पृष्ठ 8 पर]

विज्ञान शिक्षा की हिलती बुनियाद

विजय जी

आज हम देश में वैज्ञानिक प्रगति के बड़े-बड़े दावे किया करते हैं। बहुत सारी वैज्ञानिक प्रगति हुई भी है लेकिन अधिकांश प्रगति विदेशी सहायता या शोधों पर आधारित है। यही कारण है कि जहाँ एक ओर हमारे देश में तकनीशियन और वैज्ञानिक संख्या की दृष्टि से विश्व में तीसरे स्थान पर हैं वहीं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के वैज्ञानिकों की संख्या उँगलियों पर गिने जाने योग्य है। **सी० वी० रमण** एकमात्र भारतीय नागरिक और वैज्ञानिक रहे हैं जिन्हें दुनिया का सर्वोच्च पुरस्कार 'नोबेल प्राइज' मिला, पर वह भी गुलाम भारत में। आजाद भारत में दो वैज्ञानिकों **डॉ० हरगोविन्द खोराना** और **डॉ० एस० चन्द्रशेखर** को 'नोबेल प्राइज' जरूर मिला लेकिन भारत में नहीं, अमेरिका में, वह भी अमेरिकी नागरिक की हैसियत से।

ऐसा नहीं कि भारतीय लोगों का दिमाग अमेरिका, योरोप या रूस के लोगों जैसा विकसित नहीं होता। निश्चय ही दोष कहीं और है। लेकिन अभी तक न तो हमने दोषों को खोजने का प्रयास किया और न आगे ही ऐसा कोई प्रयास होने वाला है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की प्रतिभाओं का जन्म चन्द चुने हुये लोगों को सुविधाएँ मुहैया करने से नहीं होता है। उसके लिये पूरे देश में ऐसा माहौल बनाना पड़ता है जिसमें हर बच्चे को शिक्षा का उचित वातावरण उपलब्ध हो। यदि बच्चे में वैज्ञानिक अभिरुचि हो तो विना किसी राजनीति, जाति या लिंग का भेद किये उसे लगातार आगे बढ़ने के लिये प्रोत्साहित किया जाय।

यदि हम अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के वैज्ञानिकों की बात न भी करें तो भी देश के आम आदमी के दृष्टिकोण को तो वैज्ञानिक बनाना ही होगा, अन्यथा हमारी अन्तरिक्ष की ऊँचाइयाँ हास्यास्पद हो जायेंगी। जब देश के अधिसंख्य लोग जादू, टोने-टोटके, पाखण्ड, अंधविश्वास में डूबे होंगे उस समय क्या हम अपने को विकसित कह सकेंगे ? अतः प्रत्येक दृष्टि से विज्ञान शिक्षा अत्यन्त महत्वपूर्ण पहलू प्रतीत होता है। वह भी प्राथमिक स्तर और माध्यमिक स्तर का विज्ञान शिक्षण, क्योंकि इस स्तर तक ही अधिकतर बच्चे पढ़ाई करके अन्य कार्यों में लग जाते हैं। उचित विज्ञान शिक्षा उनमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित कर सकेगी। राष्ट्रीय स्तर और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की वैज्ञानिक प्रतिभाओं की खोज का काम भी इसी स्तर पर सुगमतापूर्वक हो सकता है।

अवैज्ञानिक पाठ्यक्रम और प्राथमिक शिक्षा

उत्तर प्रदेश में प्राथमिक कक्षाओं में पढ़ाई जा रही पाठ्यपुस्तकों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि हमारे बच्चों का पाठ्यक्रम कितना अवैज्ञानिक बनाया गया है। कक्षा तीन की किताब में एक पाठ है 'सोती सुन्दरी'। इस पाठ में दिखाया गया है कि किस तरह एक परी के शाप के कारण एक राजकुमारी की उँगली में तकुआ चुभ गया और राजकुमारी वहीं सो गयी। राजकुमारी के सोते ही सारा शहर सो गया और पशु-पक्षी, नौकर-चाकर सभी सौ वर्षों तक सोते ही रहे। सौ वर्षों बाद एक राजकुमार द्वारा राजकुमारी

जवाहर इण्टर कॉलेज, जारी, इलाहाबाद—212107

के सिर पर हाथ रखते ही राजकुमारी के साथ-साथ पूरा महल जग जाता है। इसी किताब में 'चाँद का कुरता' एक पाठ है। इसमें चाँद, जब अपनी माँ से कुरता सिलवाने की ज़िद करता है तो माँ उससे प्रश्न करती है कि आखिर कुरता किस नाप का सिलवाया जाय ? क्योंकि चाँद हमेशा घटता-बढ़ता रहता है। कक्षा दो की पुस्तक में एक पाठ है 'चमेली के फूल'। इस पाठ में बताया गया है कि एक रात आकाश में जब तारे नहीं चमके तो चाँद ने उन्हें क्रोधित होकर ज़मीन पर भगा दिया। तारे दूसरे दिन सूरज से ऊपर बुलाने की बिनती करने लगे। सूरज ने उन्हें ऊपर न बुलाकर चमेली के फूलों में बदल दिया।

उपरोक्त की तरह ही अन्य कई पाठ आज भी प्राथमिक कक्षाओं की पुस्तकों में शामिल हैं। इन पाठों को पाठ्यक्रम में रखने का क्या अर्थ है ? छात्र में किस तरह की भावनाओं का विकास किया जा रहा है, समझ में नहीं आता ? राजा-रानी, भूत-प्रेत और कपोल-कल्पनाओं की कहानियाँ तो उसके आस-पास खुद भी बिखरी हैं। आज जब उसे काल्पनिक दुनिया से निकाल कर ठोस धरातल पर लाने की ज़रूरत है तो फिर परीकथाओं की शिक्षा देना कहाँ तक उचित है ?

प्राथमिक कक्षाओं में विज्ञान की पुस्तक 'विज्ञान आओ करके सीखें' चलती है। पुस्तक बच्चों के लिये अत्यन्त उपयोगी है। उसे बड़े परिश्रम से तैयार किया गया है। विज्ञान के प्रत्येक सिद्धान्त को प्रयोगों के आधार पर ही बताया गया है। यह पुस्तक राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद, दिल्ली की मूल पुस्तक का अनुकूलित रूप है। इतना सब होने के बावजूद इसका अपेक्षित फायदा छात्रों को नहीं मिल पा रहा है, क्योंकि अधिकांश प्राथमिक कक्षाओं में विज्ञान की पढ़ाई होती ही नहीं, विशेषरूप से ग्रामीण क्षेत्रों में। विज्ञान उपकरणों की समस्या तो हर जगह है ही लेकिन यदि कहीं उपकरण हैं भी तो उनका उपयोग नहीं किया जाता। विज्ञान शिक्षकों की कमी स्थिति को और भी निराशाजनक बना देती है।

जूनियर और हाई स्कूल कक्षाओं में विज्ञान शिक्षा

पिछले कई वर्षों से उत्तर प्रदेश सरकार ने हाई-स्कूल कक्षाओं में विज्ञान अनिवार्य कर दिया है, लेकिन किसी न किसी कारण का बहाना लेकर यह अनिवार्यता कार्यरूप में परिणत नहीं हो पायी। कभी वित्तीय कमी का बहाना किया गया, कभी प्रयोगशालाओं की और कभी शिक्षकों की कमी आदि। कुल मिलाकर विज्ञान शिक्षा उपेक्षित रह गई है। जहाँ विज्ञान शिक्षा की व्यवस्था है भी वहाँ भी न प्रयोगशालाएँ हैं और न शिक्षक हैं। उत्तर प्रदेश में तो पिछले तीन वर्षों से नये शिक्षकों की भरती ही बन्द है। ऐसी स्थिति में यदि नये विद्यालयों में विज्ञान शिक्षा चालू हो भी पायेगी तो किसके बल पर ?

जूनियर कक्षाओं में विज्ञान अनिवार्य है। यूनीसेफ के निर्देशन में बनी अच्छी पाठ्यपुस्तकें भी हैं, लेकिन शिक्षण कार्य सुचारु रूप से नहीं चल रहा है। विज्ञान पढ़ाने का ढंग भी वही है जो संस्कृत और इतिहास पढ़ाने का है। शायद ही दो-चार प्रतिशत स्कूल होंगे जहाँ सही ढंग से उपकरणों की सहायता से शिक्षण कार्य हो रहा हो। इसमें सबसे बड़ा अभाव खटकता है निरीक्षण का। कहीं कोई ऐसी एजेंसी नहीं है जो विज्ञान शिक्षण पर निगाह रख सके। छात्रों में वैज्ञानिक शोधों के प्रति रुचि जागृत हो तथा उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक बने ऐसा कहीं कोई वातावरण नहीं दिखायी देता। फलतः अगली कक्षाओं की विज्ञान वर्ग में आने वाले छात्रों में विशेष मेधा वाले छात्रों का प्रतिशत घटता है।

विज्ञान किट और प्रयोगशालाएँ

यूनीसेफ के सहयोग से प्राथमिक और जूनियर कक्षाओं के लिये विज्ञान किट्स बनायी गयी हैं। इन किटों में वे सारे उपकरण रखे गये है जिनके आधार पर पाठ्यपुस्तक में प्रयोग बताये गये हैं। वास्तव में सभी किट अत्यन्त उपयोगी हैं। इनमें कम से कम कीमत के पर्याप्त उपकरण रखे गये हैं। यदि उनका सही उपयोग हो तो निश्चय ही श्रेष्ठ विज्ञान शिक्षा दी जा सकती है।

दुर्भाग्य से इन किटों का भी बेहद दुरुपयोग हो रहा है। पहली बात तो किट अपर्याप्त मात्रा में उपलब्ध कराये गये। अतः हर विद्यालय में पहुँच भी न पाये। जहाँ ये हैं भी वहाँ इनका कोई उपयोग नहीं हो रहा है। लेखक ने इलाहाबाद के दर्जनों स्कूलों में विज्ञान किटों के उपयोग अनुपयोग की जानकारी ली। उसे मालूम हुआ कि कहीं भी विज्ञान किटों का उपयोग नहीं किया जा रहा है। प्राइमरी कक्षाओं के अध्यापकों ने उसे खोला नहीं था। उनका कहना था कि यदि कोई सामान टूट जायेगा तो वे हिसाब कहाँ से देंगे। जूनियर विद्यालयों में भी किसी न किसी कारण से किटों का उपयोग नहीं हो रहा है और वे कूड़ेखाने में पड़े हैं। जब लेखक ने कारण जानना चाहा तो उसे मालूम हुआ कि कुछ स्कूलों में तो प्रयोग दिखाने के लिये अलग से कोई कक्ष नहीं है, कहीं पर विज्ञान के अध्यापक नहीं है और कहीं पर शिक्षक को प्रयोग दिखाने में खुद भी कोई रुचि नहीं है।

हाईस्कूल कक्षाओं में विज्ञान शिक्षा की मान्यता मिलने पर राज्य सरकार विद्यालय को 10 हज़ार रुपये उपकरण खरीदने के लिये देती है लेकिन व्यक्तिगत प्रबन्धकों की मिल्कियत बने उत्तर प्रदेश के माध्यमिक विद्यालयों को मिलने वाली इस सहायता की अधिकांश रकम विद्यालयों के भ्रष्ट अधिकारियों की जेबों में चली जाती है। सरकार को फर्जी बाउचर और रसीदें भेज दी जाती हैं।

विज्ञान शिक्षक और प्रशासनिक कमज़ोरी

विज्ञान शिक्षक, विज्ञान शिक्षा की रीढ़ है। लेकिन आज इस रीढ़ की देखभाल की लगातार अनदेखी की जा रही है। विज्ञान में नित्य नयी-नयी खोजें हो रही हैं। 25-30 वर्ष पूर्व से यदि शिक्षक लगातार शिक्षण करता आ रहा है तो आज के परिवेश वा नवीन पाठ्यक्रम में वह कर्तव्य पालन नहीं कर पावेगा, क्योंकि अब तक की पुस्तकों में तमाम ऐसी चीज़ें आ चुकी होंगी जिनके बारे में शिक्षक को कोई जानकारी न हो अतः विज्ञान शिक्षकों का प्रत्येक पाँच वर्ष में एक बार कुछ दिनों का पुनर्प्रशिक्षण अवश्य हो। अन्य विषयों के लिये यह बात उतनी आवश्यक नहीं है जितनी कि विज्ञान शिक्षा के लिये।

प्रशासन को एक ऐसी चुस्त एजेन्सी रखनी चाहिये जो विज्ञान शिक्षा पर निगाह रख सके। समय-समय पर विज्ञान शिक्षकों का सम्मेलन, सेमिनार आदि भी उपयोगी होगा। विज्ञान के ऊपर आधारित तरह-तरह की प्रतियोगिताएँ करवाकर अधिकतम् बच्चों को वैज्ञानिक रुचियों की ओर आकर्षित किया जा सकता है। वैज्ञानिक पत्र-पत्रिकाओं को उचित प्रोत्साहन मिलना चाहिये ताकि साहित्य में वैज्ञानिक विषयों का प्रर्याप्त प्रवेश हो सके। उपरोक्त कुछ बातों पर गौर करके व्यवस्था की कमियों को यदि ईमानदारी से दूर करने का प्रयास किया जायेगा तो देश में विज्ञान का भविष्य उज्जवल हो सकता है।□□

[पृष्ठ 5 का शेषांश]

सतत साधना है, लेकिन अपनी व्यक्तिगत समस्याओं के कारण अधिकांश वैज्ञानिक अपने आपको इस साधना में लीन नहीं कर पाते हैं। आर्थिक स्तर पर वह एक निरीह प्राणी है। ज्योंही लोग किसी के मुँह से यह सुनते हैं कि वह वैज्ञानिक है, उसकी यह निरीहिता सामने आ जाती है। समाज में उसकी पहचान एक डॉक्टर तथा इंजीनियर के बराबर भी नहीं है। समाज में जब तक उसे एक सम्मानित स्थान नहीं मिलता, उसके लिए अपनी साधना में लीन होना असंभव ही होगा। यदि समाज वैज्ञानिकों से यह आशा करता है कि वह स्तरीय शोध कार्य करके देश का नाम ऊँचा करें तो उन्हें सम्मानित स्थान देना ही होगा।

यदि विद्यालयों में प्रारम्भ से ही विज्ञान को पढ़ाने तथा प्रयोगों को करने की समुचित व्यवस्था हो, वैज्ञानिक दैनिक समस्याओं से मुक्त हों और अपने छोटे-मोटे स्वार्थों से ऊपर उठकर शोधकार्यों में अपना अधिक समय लगायें तो कोई वजह नहीं है कि वे विज्ञान के सर्वोच्च पुरस्कार से वंचित रह जाएँ।

□□

मत्स्याहार और हृदय रोग

अरविन्द मिश्र

संतुलित आहार के रूप में मछलियों की उपयोगिता पहले ही सिद्ध हो चुकी है। इधर वैज्ञानिक अनुसंधानों से यह तथ्य भी सामने आया है कि नियमित मत्स्याहार से कई रोगों से भी छुटकारा मिल सकता है।

मछलियों का नियमित सेवन हृदय रोगों से भी मुक्ति दिला सकता है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण कुछ एस्किमों जातियों में देखा जाता है, जिनका मुख्य भोजन मछलियाँ हैं। एस्किमों लोगों को किसी तरह का हृदय रोग नहीं है। वे विश्व के सबसे स्वस्थ लोग हैं, उनके रक्त में कोलेस्टेराल की मात्रा हमारी तुलना में नगण्य है, उनमें किसी तरह का तनाव यानी हाइपरटेन्शन नहीं देखा जाता है। वे मोटापे एवं गठिया जैसे रोगों से भी पूरी तरह मुक्त हैं, डायबटीज तो उन्हें कभी होती ही नहीं।

पिछले करीब पच्चीस सालों से वैज्ञानिकों ने एस्किमों जातियों के अच्छे स्वास्थ्य का रहस्य जानने का प्रयत्न किया है। वैज्ञानिकों ने उनके भोजन के नमूनों की जाँच की है और उनके रहन-सहन पर भी अध्ययन किया है। आखिर उनके अच्छे स्वास्थ्य के राज का पता चल ही गया, जो कि नियमित मत्स्याहार है।

काफी पहले से ही यह मान्यता रही है कि मछलियाँ दिमाग़ के लिए अच्छी टॉनिक हैं, लेकिन अब प्रयोग द्वारा यह साबित हो गया है कि इनके नियमित सेवन से हृदय सम्बन्धी रोगों से भी बचा जा सकता है। मछलियों में प्रथम श्रेणी की वसा—'ओमेगा 3 एस' पायी जाती है, जो कि मानव के उपापचयी क्रियाओं (मेटाबोलिज्म) में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। अनुसंधानों से पता चला है कि मछलियों से प्राप्त होने वाले तेल मानव रक्त में कोलेस्टेराल और ट्राइग्लिसेराइड की मात्रा तेज़ी से कम कर देते हैं। यही दोनों पदार्थ रक्त की वे वसायें हैं, जो हृदय रोगों से सम्बन्धित हैं। इस तरह भोजन के रूप में नियमित मत्स्याहार से रक्त-नलिकाओं में कोलेस्टेराल का जमाव नहीं होता और रुधिर के थक्के भी नहीं बनते जिससे "हार्ट अटैक" की सम्भावना नहीं रहती है। साथ ही, एथेरोस्केलेरोसिस यानी रक्त-नलिकाओं के सख्त पड़ते जाने का भय भी नहीं रहता।

नये शोधों से पता चला है कि मछलियों में उपस्थित "ओमेगा 3 एस वसा" रक्त-चाप (ब्लड प्रेशर) को कम करती है और कई त्वचा सम्बन्धी रोगों जैसे एक्ज़िमा पर नियन्त्रण रखती है। साथ ही, यह मांपेशियों के सूजन जैसे **गठिया** को नियंत्रित करती है, और मस्तिष्क के विकास में भी सहायक होती है।

मछली के यकृत से प्राप्त वसा विटामिन ए और डी से भरपूर होती है जो कि आँख, दाँत, त्वचा और अन्य हड्डियों को स्वस्थ रखती है। मछली की मांसपेशियों में विटामिन बी समूहों, विशेषकर निएसिन और बी-6 की प्रचतुरता होती है। इसके साथ ही मछली से फॉसफोरस, पोटैशियम, लोहा, आयोडीन, सेलेनियम आदि महत्वपूर्ण तत्व भी प्राप्त होते हैं,

सहायक निदेशक मत्स्य, झाँसी

जो कि मानव-स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। सेलेनियम की पर्याप्त मात्रा कैंसर जैसे रोगों से मुक्ति दिला सकती है। मत्स्य उद्योग के अन्तर्गत केवल मछलियाँ ही नहीं आतीं बल्कि पानी में पाये जाने वाले कई जीव-जन्तु भी इसमें सम्मलित हैं। जैसे सीपियाँ, झींगें, घोंघे आदि भी भोजन के रूप में प्रयुक्त होते हैं। "शेलफिश" नामक मोलस्क में जस्ते की प्रचुर मात्रा पायी गयी है। शरीर में जस्ते की उपस्थिति से प्रतिरोधात्मक क्षमता यानि 'इम्यून सिस्टम' प्रभावशाली बना रहता है। इसी तरह समुद्रों में पायी जाने वाली कई तरह की सीपियों, झींगों की कई जातियों में कैल्शियम भरपूर मात्रा में होता है। **मैकरील** और **सारडाइन** मछलियों में भी कैल्शियम पर्याप्त मात्रा में होता है। इन मछलियों के नियमित खाने से हड्डियों का पोषण तो होता ही है, साथ ही, इनमें फ्लोराइड की उपस्थिति से दाँतों की कुछ बीमारियों जैसे "कैवेटीज़" का भय नहीं रहता।

वैज्ञानिकों का मानना है कि समुद्री मत्स्य सम्पदा अल्प कैलोरी, प्रोटीन का विशाल भण्डार है। साथ ही, इनमें मानव-रक्त से सम्बन्धित उपापचयी क्रियाओं को नियमित करने की अद्भुत क्षमता होती है। **एथेरोस्कलेरोसिस** एक ऐसी घातक बीमारी है, जो दिल की धमनियों के संकरे होते जाने से सम्बन्धित है। इसमें धमनियों की भीतरी परत पर चर्बी, कोलेस्टेराल, सड़ी गली कोशिकाएँ जमती जाती हैं, फलस्वरूप किसी भी समय हृदय गति धमनी के बन्द हो जाने से रुक जाती है। यह बीमारी उन लोगों में खास तौर से देखी जाती है जो अपने भोजन में कोलेस्टेराल और संतृप्त वसा की भारी मात्रा लेते रहते हैं। ये दोनों पदार्थ माँस और दुग्ध उत्पादों में प्रचुर मात्रा में होते हैं। इसके विपरीत बहुत से 'समुद्री भोजन' इन पदार्थों से मुक्त होते हैं। यहाँ तक कि झींगें, केकड़ों और **लोबस्टर** जीवों में अण्डे की तुलना में काफी कम मात्रा में कोलेस्टेराल पाया जाता है। समुद्री मत्स्य सम्पदा जिसे हम सुविधा के लिए "समुद्री भोजन" का नाम दे सकते हैं, काफी हद तक संतृप्त वसा से मुक्त है, इसलिए इन्हें भोजन के रूप में लेते रहने से खून में कोलेस्टेराल की मात्रा नहीं बढ़ती। समुद्री मछलियों में पायी जाने वाली वसा का केवल 11 से 27 प्रतिशत भाग ही संतृप्त होता है जबकि सुअर के मांस में 36 प्रतिशत वसा संतृप्त किस्म की होती है। बकरे के मास में संतृप्त वसा 48 प्रतिशत होती है। इस तरह यदि आप 100 ग्राम **मैकरील** या उबला झींगा खाते हैं तो आपको दशमलव एक से दशमलव दो ग्राम तक संतृप्त वसा प्राप्त होगी जबकि इतनी ही मात्रा में सुअर या बकरे का मांस 50 गुना अधिक यानी 11 ग्राम संतृप्त वसा प्रदान करता है। यह संतृप्त वसा पाचन एवं स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिकारक पायी गयी है।

सबसे बड़ा चमत्कारिक ओषधीय गुण तो मछलियों की कुछ जातियों के तेल उत्पादों में देखा जाता है। **मैकरील**, **हेरिंग** और **सारडाइन** मछलियों की कुछ जातियों के तेल में बहुअसंतृप्त वसा मिलती है जो हृदय रोगों से रक्षा करती है। "ओमेगा 3 एस" वसीय अम्ल भी समुद्री भोजन में पर्याप्त मात्रा में मिलता है। बहु असंतृप्त वसा दो प्रमुख भागों में बाँटी गयी है, एक तो "ओमेगा-6 वसीय अम्ल" और दूसरी "ओमेगा-3 वसीय अम्ल"। इसमें 'ओमेगा-6' वानस्पतिक तेलों में मिलता है और 'ओमेला-3' मछलियों के तेलीय उत्पादों में मिलता है। यही ओमेगा-3 एस वसीय अम्ल कई तरह के हृदय रोगों से स्वास्थ्य की रक्षा करता है।

देखा गया है कि ओमेगा-3 वसा में डोकोसा हेक्जेनोइक अम्ल भी मिलता है जो मस्तिष्क को स्वस्थ रखता है। हमारे मस्तिष्क के ग्रे-मैटर का 65 प्रतिशत भाग वसा के रूप में होता है जिसमें "डोकोसाहेक्जेनोइक" अम्ल का बड़ा हिस्सा होता है। इसी से आँख की रेटिना का काफी भाग भी निर्मित होता है। इसलिए मत्स्य तेलों का नियमित सेवन काफी लाभकर देखा गया है। यह भी पाया गया है

[शेष पृष्ठ 14 पर]

जैव प्रौद्योगिकी

अम्बरीष तिवारी

पिछले कुछ वर्षों में आण्विक जीवविज्ञान एवं कोशिका विज्ञान के क्षेत्र में हुए महत्वपूर्ण अनुसंधानों के परिणामस्वरूप एक नवीन प्रौद्योगिकी का विकास हुआ है। यह नवीन प्रौद्योगिकी अपने विकास की प्रारम्भिक अवस्था में ही है, किन्तु इसका विकास अन्य किसी भी प्रौद्योगिकी के विकास की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से हो रहा है। अनेक वैज्ञानिक निरन्तर इस प्रौद्योगिकी के द्वारा लाभप्रद परिणाम निकालने के लिये अनुसंधान कार्यों में जुटे हुए हैं। इस प्रौद्योगिकी का सफल विकास मनुष्य के उत्कर्ष तथा प्रकृति पर मानव की विजय की दिशा में एक महत्वपूर्ण चरण होगा।

साधारणतया जैव प्रौद्योगिकी से अभिप्राय 'किसी जीवित कोशिका में प्रायोगिक विधियों के प्रयोग द्वारा वांछित बाह्य डी एन ए (डिऑक्सी रिबोन्यूक्लिक एसिड) को प्रविष्ट करा के उस कोशिका की आनुवंशिक संरचना में ऐच्छिक परिवर्तन' से होता है। इस प्रकार जैव प्रौद्योगिकी द्वारा जीन की संरचना को इच्छानुसार परिवर्तित किया जा सकता है। वैज्ञानिकों का मत है कि इस प्रौद्योगिकी के प्रयोग से प्राकृतिक प्रजनन-चक्र को उपयोग में लाये बिना ही पौधों तथा प्राणियों की उन्नत प्रजातियाँ विकसित की जा सकती हैं। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि अगले दस-पन्द्रह वर्षों में विकसित होने वाली फसलों की किस्में व्याधियों के प्रति अधिक प्रतिरोधक हों। इसके अतिरिक्त, जैव प्रौद्योगिकी का क्षेत्र निरन्तर विस्तृत होता चला जा रहा है। 'जैव ईंधन' या 'ऊर्जा फसलें' भी इस प्रौद्योगिकी की महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ होंगी, जो अतिशीघ्र बढ़ कर ईंधन की अधिक मात्रा उपलब्ध करायेंगी या एल्कोहॉल या अन्य ज्वलनशील पदार्थों के उत्पादन में सहायक होंगी। छूत की बीमारियों के नियंत्रण, मानव की प्रजनन सम्बन्धी अनियमितताओं को समाप्त करने में, मृदा की उर्वरता बढ़ाने में, फसलों की उत्पादकता बढ़ाने में तथा पर्यावरण के संरक्षण में इसके महत्वपूर्ण योगदान की अपेक्षा की जा रही है। इतना ही नहीं, यह आशा की जा रही है कि जैव प्रौद्योगिकी के सफल प्रयोग से मनुष्य की जाति तक बदली जा सकती है।

जैव प्रौद्योगिकी के विभिन्न जैविक उपकरण निम्नलिखित हैं--

(i) **डी एन ए**—समस्त जीवों का आनुवंशिक पदार्थ है और यह सभी जीवित कोशिकाओं में पाया जाता है। किसी जाति विशेष के समस्त गुणों व विशेषताओं के लिये इस डी एन ए को ही उत्तरदायी माना जाता है।

(ii) **पैसेन्जर डी एन ए**—इस डी एन ए को प्रायोगिक विधि से कोशिका में प्रयोग किया जाता है।

(iii) **वेटिकिल डी एन ए**—वेटिकिल डी एन ए उस डी एन ए को कहते हैं जो पैसेन्जर डी एन ए को कोशिका में एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने के लिये वाहन का कार्य करता है।

(iv) **एन्ज़ाइम**—एन्ज़ाइम ऐसे जैव रसायन हैं, जो वांछित पैसेन्जर डी एन ए से लेकर कोशिका की आनुवंशिक संरचना में परिवर्तन करने तक के प्रत्येक चरण के लिये आवश्यक हैं।

शोध छात्र, कृषि रसायन, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद—211002

आज विश्व के सभी देश जैव प्रौद्योगिकी के महत्व को स्वीकार कर चुके हैं। अणुओं के विखंडन से, अब तक की खोजों में, जैव प्रौद्योगिकी को सर्वाधिक बुद्धिमत्ता पूर्ण एवं महत्वपूर्ण खोज माना जा रहा है। जापानी वैज्ञानिकों ने तो जैव प्रौद्योगिकी को 'इस शताब्दी की अन्तिम महान प्रौद्योगिकीय क्रान्ति' बतलाया है। अन्य विकसित देश भी इसके औद्योगिक महत्व को ध्यान में रखते हुए, जैव प्रौद्योगिकी से सम्बन्धित अनुसंधानों पर अगाध धनराशि का व्यय कर रहे हैं।

जैव प्रौद्योगिकी के महत्व को देखते हुए, हमारे देश में भी सन् 1982 में नेशनल 'बायोटेक्नोलॉजिकल बोर्ड' की स्थापना हुई। इस बोर्ड का मुख्य कार्य जैव प्रौद्योगिकीय अनुसंधानों को नवीन दिशा देना एवं बढ़ावा देना है। इस बोर्ड ने अपने अध्ययन क्षेत्र में **आनुवंशिक अभियांत्रिकी, प्रकाश संश्लेषण, टिशू कल्चर, एन्ज़ाइम अभियांत्रिकी, एल्कोहॉल फर्मेन्टेशन** तथा **एमीनों प्रौद्योगिकी** आदि विषयों को रखा है। इस समय लगभग 60 संस्थानों में जैव प्रौद्योगिकी पर अनुसंधान कार्य चल रहे हैं।

अभी हाल में एक ऐसे अनुसंधान संस्थान की स्थापना की गई है जो जैव प्रौद्योगिकी में प्रयुक्त होने वाले विभिन्न उपकरणों एवं जैव रसायनों का उत्पादन करेगा। इस संस्थान में जैवचिकित्सा सम्बन्धी अनुसन्धानों पर भी कार्य होगा। दिल्ली के पास, 'यूनाइटेड नेशनल इन्डस्ट्रियल डेवेलपमेन्ट ऑर्गेनाइज़ेशन' की सहायता से विश्व के पहले अन्तर्राष्ट्रीय आनुवंशिकी अभियांत्रिकी एवं जैव प्रौद्योगिकी केन्द्र की स्थापना हुई है। यह केन्द्र जैव प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में, विशेष रूप से विकासशील देशों में, शांन्तिपूर्ण ढंग से तथा मिल कर कार्य करने के लिये बनाया गया है। इस केन्द्र में वैज्ञानिकों को प्रशिक्षण भी दिया जायेगा और ऐसे सूक्ष्मजीवों पर कार्य करना सिखाया जायेगा जो यदि गल्ती से वातावरण में आ जायें तो किसी भी भीषण दुर्घटना के लिये उत्तरदायी हो सकते हैं।

यह प्रौद्योगिकी कितनी लाभकारी अथवा कितनी हानिकारक सिद्ध हो सकती है इस विषय में काफी मतभेद रहा है। इसके यथोचित दिशा में समुचित विकसित हो जाने पर नये भोज्य पदार्थ, ऊर्जा के नये स्रोत, अपेक्षाकृत अधिक लाभप्रद दवायें तथा प्रदूषण के नियंत्रित करने के नवीन साधन तो उपलब्ध होंगे ही, साथ ही कृषि के क्षेत्र में क्रांति आ जाने की सम्भावना है।

जैव प्रौद्योगिकी की सहायता से उपयुक्त पौधों में लाभकारी जीन, जैसे—'**रोग प्रतिरोधक जीन**' प्रविष्ट कराये जा सकते हैं। पौधों को सूखाग्रस्त या ऊसर भूमि पर उगने योग्य बनाया जा सकता है। इस समय 'निफ' जीन अर्थात् नाइट्रोजन का स्थिरीकरण करने वाली जीन को अनाज वाली फसलों में प्रविष्ट कराने की दिशा में भी महत्वपूर्ण अनुसंधान कार्य चल रहे हैं। इसके सफल हो जाने पर अनाज वाली फसलें भी नाइट्रोजन का स्थिरीकरण कर सकेंगी। फलस्वरूप खर्चीले उर्वरकों पर हमारी निर्भरता कम हो जायेगी और 'खाद्य समस्या' को हल करने में यह एक अति महत्वपूर्ण प्रयास होगा।

मनुष्यों पर भी इस प्रौद्योगिकी का प्रयोग किया जा सकता है। इसके द्वारा मनुष्य के आनुवंशिक (पीढ़ी दर पीढ़ी चले आने वाले) दोषों को भी दूर किया जा सकेगा। सम्भवतः मनुष्य के '**दोषी जीन**' को निकाल कर उसके स्थान पर '**स्वस्थ जीन**' का प्रत्यारोपण करके मनुष्य के विकारों को दूर किया जा सकेगा।

यह भी संभव है, कि जैव प्रौद्योगिकी का विकास यहाँ तक हो जाये कि इसकी सहायता से अपनी इच्छा के अनुरूप गुणों से युक्त व्यक्ति का सृजन किया जा सके। इस प्रकार इस प्रौद्योगिकी में—जो अपनी प्रारम्भिक अवस्था में है—मानव को '**सुपर मानव**' में परिवर्तित कर देने की संभावनायें भी विद्यमान हैं।

□□

नारियल के व्यावसायिक व्यंजन

भानु प्रताप सिंह

नारियल 'कल्प वृक्ष' के नाम से जाना जाता है क्योंकि इससे जीवन की बहुत सी जरूरतें पूरी होती हैं। लेकिन यह विशेषतौर से गरी के लिए ही उगाया जाता है। यह उष्ण जलवायु में रहने वाले मनुष्यों के लिए एक मुख्य भोजन है। इसका उपयोग खाने के लिए कोपरा, तेल, खली, बारीक नारियल के रूप में किया जाता है। तरह-तरह के नारियल से तैय्यार होने वाले पदार्थ भोजन में आवश्यक होते हैं।

गरी बनाना ज़्यादा लाभकर है। यदि गरी अर्द्ध-विकसित फल से बनाते हैं तो उसके प्राप्त होने वाला तेल कम तथा गुण में अच्छा नहीं होगा। फल पूर्ण विकसित होने के दो महीने पहले तोड़ें तो गरी की मात्रा $\frac{1}{8}$ कम प्राप्त होगी। ग्रीष्म ऋतु के फल से गरी की मात्रा अधिक प्राप्त होती है तथा गरी के गोले का आकार भी बड़ा होता है।

भारतवर्ष में दो तरह से गरी बनाया जाता है। एक घरेलू तरीके से बना हुआ तथा दूसरा कारखाने में बना हुआ। घरेलू तरीके से बना गरी समूचा या प्यालानुमा मिलेगा, लेकिन कारखाने से प्राप्त होने वाला गरी प्यालानुमा होगा। कारखाने से गरी-गोला बनाने के लिए ऊँचे चबूतरे पर गरी को छाया के नीचे 8-12 महीने तक रखना चाहिए। इतने समय के भण्डारण से गरी सूख जाती है और अन्दरूनी गरी के गोले की आवाज़ नारियल के फल के हिलाने पर होती है। इसके बाद गरी के छिलके को हटा कर खोल को सावधानी से तोड़ना चाहिए जिससे गरी गेंद के आकार में प्राप्त हो जाय। इस विधि से बनाया गया गरी साफ़, सफ़ेद, स्वाद में मीठा तथा ज़्यादा कीमती होगा।

प्यालानुमा गरी भी नारियल के फल से बनाया जाता है। इसके लिए फल का छिलका पहले निकाल लेते हैं। इसके बाद नारियल को दो हिस्सों में तोड़ लेते हैं। अब प्यालानुमा नारियल को उल्टा रख देते हैं जिससे लगा हुआ पानी सूख जाए। इसके बाद गरी को धूप में रखते हैं ताकि वह सूख जाए। दो-तीन दिन बाद नारियल कप को खोल से अलग कर लेते हैं। इस प्रकार प्राप्त नारियल को धूप में चार-पाँच दिन तक सुखाते हैं। सुखाते समय गरी को वर्षा जल तथा ओस से बचाना चाहिए। यदि अच्छा गुण वाला गरी प्राप्त करना है तो उसे अच्छी धूप में 5-7 दिन सुखाना चाहिए। यदि प्यालानुमा गरी बरसात या बादल के दिनों में तैय्यार करते हैं तो सम्भव है कि वह गरी खराब गुणों वाला निकले और रंग भी खराब दिखेगा। बरसात के दिनों में अच्छा गरी प्राप्त करना है तो उसे भट्टी में सुखाना चाहिए। गरी से मुख्यत: खली एवं तेल ही प्राप्त करते हैं लेकिन ज़्यादातर घरों में बहुत प्रकार के व्यंजन बनाये जाते हैं।

गरी की तरह-तरह से पिराई करके तेल निकाला जाता है। तेल की मात्रा कोल्हू से 58-60 प्रतिशत, रोटरी मिल से 62-63 प्रतिशत तथा एक्सपेलर से 63-65 प्रतिशत प्राप्त होती है। गरी से तेल निकालने के बाद बचे भाग को खली कहते हैं, जिसकी मात्रा 33-44 प्रतिशत होती है। खली का उपयोग प्राय: जनावरों तथा मुर्गियों को खिलाने के लिए होता है

वैज्ञानिक, एस-2 उद्यान विज्ञान केन्द्रीय कृषि अनुसंधान संस्थान, पोर्टब्लेयर

तथा कभी-कभी गरीब लोग भी इसका उपयोग करते हैं। नारियल के तेल का उपयोग हर रोज खाना बनाने में किया जाता है। इस प्रकार भोजन में तेल का बहुत महत्व है।

बारीक टुकड़ेदार नारियल बनाने के लिए कड़े छिलके को ताज़ी गरी से अलग कर लेते हैं। बाहर की बारीक भूरे रंग की परत को भी गरी से हटा देते हैं। नारियल की गिरी को पानी से कई बार धोते हैं। इसके बाद नारियल को बारीक टुकड़ों में काट कर खुली धूप या भट्टी में सुखा लें लेकिन सूखने के बाद उसमें 2.5 प्रतिशत नमी रहनी चाहिए। इसको बारीकी के आधार पर अलग-अलग वर्गों में छाँटते हैं। बाद में टिन में अच्छी तरह रख लें जिससे उनके गुणों में कोई खराबी न आने पाये। इसका उपयोग कैन्डी, पेस्ट्री तथा अन्य चीजें बनाने के लिए किया जाता है। अतः इसका अत्यधिक व्यापारिक महत्व है। □□

[पृष्ठ 10 का शेषांश]

कि माँ के दूध में 'ओमेगा-3 एस' की उपस्थिति से बच्चों का मानसिक विकास अच्छा होता है।

एक अमेरिकी वैज्ञानिक **डॉ० विलियम केन्नार** इसीलिए भोजन के मीनू में मछलियों की नियमित उपस्थिति की ज़ोरदार सिफारिश करते हैं, पर इतना ध्यान रखना चाहिए कि खाने में प्रयुक्त होने वाली मछलियाँ प्रदूषित क्षेत्रों से न पकड़ी गई हों और वे पूरी तरह से रोगमुक्त हों। मछलियों के परिरक्षण में भी विशेष सावधानी बरतनी चाहिये। जहाँ तक सम्भव हो ताज़ी और अच्छी तरह पकायी गयी मछलियाँ ही भोजन के रूप में इस्तेमाल में लाई जायें।

हमारे यहाँ मीठे जल में पायी जाने वाली कई जातियों की मछलियों में ओषधीय गुण देखे गये हैं, जैसे **सिंघी** और **मांगुर** मछलियों को खाने की सिफारिश स्वास्थ्य लाभ के लिए की जाती है। यह भी मान्यता है कि **चीतल**, **हिल्सा**, **चेलवा** और **पबदा** मछलियाँ हृदय रोगों पर अंकुश रखती हैं। इस दिशा में शोध चल रहा है और नये तथ्यों की प्रतीक्षा है।

□□

नया पॉलिमरिक उर्वरक तैयार

मूल रूप से एक नया उर्वरक पॉलिमरिक इलेक्ट्रोलाइट सोवियत कृषि वैज्ञानिकों द्वारा तैयार किया गया है। यह बड़ी आसानी से सूक्ष्म तत्वों को भूमि में पहुँचाता है। यह उर्वरक जल में घुलता नहीं है और प्रदूषण नहीं पैदा करता है। वास्तव में, पौधों के लिए आवश्यक किसी भी धातु को इस पॉलिमर में मिलाया जा सकता है। यह नया उर्वरक आयन-विनिमय के ज़रिये हाइड्रोजन के लिए सूक्ष्म तत्वों को सोख लेता है और इस तरह पॉलिमेटाक्रिलिक एसिड बनाता है जो निश्चित रूप से मिट्टी की संरचना में सुधार करता है।

यह प्रक्रिया पाँच साल तक बनी रहती है। इसलिए यदि एक बार इस उर्वरक का इस्तेमाल कर दिया जाता है तो इसे फिर लम्बे समय तक डालने की ज़रूरत नहीं पड़ती है

ट्यूमर के निदान की नई विधि

मनुष्य के शरीर में ट्यूमरों के निदान के लिए सोवियत चिकित्सा विशेषज्ञों द्वारा एक नई विधि निकाली गई है। रोगी के शरीर में एक प्रतिदीप्त मिश्रण का इंजेक्शन दिया जाता है और चूंकि कैंसर वाली कोशिकायें इस तरह के मिश्रणों को जमा कर सकती हैं, कैंसरग्रस्त भाग डिस्प्ले टर्मिनल के परदे पर तेज़ हरे रंग में दिखने लगते हैं। चमकीले भागों की परिरेखायें ट्यूमर की सीमाओं से मेल खाती हैं।

विज्ञान समाचार | संकलन : कु० अर्पिता प्रेमचन्द्र

(1) जर्मन जनवादी गणतन्त्र की प्राचीनतम वेधशाला

ज. ज. ग. की विशालतम एवं प्राचीनतम वेधशाला की स्थापना का श्रेय जर्मन ज्योतिर्विद् **फ्रीडरिश सायमन आरशेनहोल्ड** को है, जिन्होंने नब्बे वर्ष पूर्व बर्लिन वेधशाला की स्थापना की। 1946 से ही इस वेधशाला का नामकरण उनके ही नाम पर कर दिया गया है।

आरशेनहोल्ड का जन्म 125 वर्ष पूर्व हुआ था और उन्होंने खगोलविज्ञान की अवधारणाओं तथा प्राकृतिक विज्ञान की जानकारियों को जनसाधारण तक पहुँचाने में अपना सारा जीवन लगा दिया। उन्होंने 1896 में बर्लिन में आयोजित की जा रही एक औद्योगिक प्रदर्शनी के आयोजकों को अपने विचारों से प्रभावित किया और बर्लिन में विश्व की सबसे बड़ी अपवर्तक दूरबीन लाकर स्थापित की, जिसकी लम्बाई इक्कीस मीटर और भार 130 टन था। भवन निर्माण के बाद 1907 में इस नयी वेधशाला का उद्घाटन हुआ। बाद में वे **ऐलबर्ट आइन्सटीन** और ध्रुव खोजी **फ्रिड्टयोफ नानजेन** जैसे महान वैज्ञानिकों के भाषण भी इस वेधशाला में कराने में सफल हुये। अक्टूबर 1935 में **आरशेनहोल्ड** का निधन हुआ। यह वेधशाला ज. ज. ग. की 150 वेधशालाओं में से एक प्रमुख वेधशाला है। वर्षों के पुर्ननिमाण के बाद आरशेनहोल्ड वेधशाला की विशाल दूरबीन ने 1983 में दुबारा पूरी तरह से काम करना शुरू कर दिया है। इस वेधशाला में प्रतिवर्ष लगभग 40,000 पर्यवेक्षक छानबीन, रिपोर्टों तथा रात्रि निरीक्षण के लिए आते हैं।

(2) विशेष वानस्पतिक उद्यान

'समाजवादी जर्मनी' नामक पत्रिका के नम्बर 1986 अंक में प्रकाशित एक समाचार के अनुसार जर्मन जनवादी गणतंत्र के पंद्रह वानस्पतिक उद्यानों में सभी जलवायुओं तथा महाद्वीपों की वनस्पतियों का प्रतिनिधित्व है। इनमें से सर्वाधिक प्राचीन उद्यान है लाइपज़िक विश्वविद्यालय का "होर्टस मेडिकस उद्यान", जिसकी स्थापना 1542 में हुई थी और जो अपने नाम के अनुकूल जड़ी-बूटियों को उगाने के उद्देश्य की पूर्ति करता है। हाल्ले के प्राचीन वानस्पतिक उद्यान की स्थापना भी इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए 280 वर्ष पूर्व की गई थी। इस उद्यान में 11,000 प्रजातियों की वनस्पतियाँ उगाई जाती हैं। इनमें से आधे पौधों ने विशेष योग्यता प्राप्त कर ली—जैसे **आर्किड्स** और रसीले पौधों (सकुलेन्ट्स) ने। इसके अतिरिक्त, हाल्ले बीजों को भी उपजाता है। प्रतिवर्ष यहाँ से विश्व के विभिन्न देशों को बीजों के 25,000 पैकेट भेजे जाते हैं, जिनसे 600 से अधिक वानस्पतिक उद्यानों को उनके कार्यों में सहायता मिलती है।

(3) कंदरायें : हिम युग के रेफ्रीजेरेटर

काफी समय पूर्व से ही विशेषज्ञों की ऐसी मान्यता रही है कि प्राचीन पाषाण युग में मानव मध्य यूरोप के पूरे क्षेत्र में कंदराओं का उपयोग सर्दी और जंगली जानवरों से अपनी रक्षा के लिए करता था किन्तु अब

जे० टी० गर्ल्स इण्टर कॉलेज, इलाहाबाद

पुरातत्वविदों को कुछ ऐसे प्रमाण मिले हैं जिनसे यह प्राचीन मान्यता ध्वस्त हो गई है। तुबिनजेन यूनिवर्सिटी के प्रकाशन 'आर्कियॉलोजिकल वेनैटोरिया' (*Archaeological Venatoria,* 8/85) के अनुसार प्राचीन पाषाण युग का मानव बहुत बड़ा शिकारी था और लगभग 25 लोगों का झुंड एक साथ रहता था। भोजन के लिए जब वे विशालकाय 'मैमथ' या 'गैंडे' का शिकार करते थे तो मांस को सुरक्षित रखने की आवश्यकता पड़ती थी क्योंकि वे प्रतिदिन 50-60 किलोग्राम से अधिक मांस का उपयोग नहीं कर पाते थे। इसलिए अपने शिकार (मांस) को कंदराओं में उपयोग के लिए सुरक्षित रख देते थे क्योंकि कंदराओं का ठंढा, नम वातावरण मांस को सड़ने से बचाने के लिए सर्वथा उपयुक्त था। **प्रोफेसर हैन्स-जुरगेन मुलर बेक** (इंस्टीट्यूट ऑव प्राइमेवल हिस्ट्री, तुबिनजेन विश्वविद्यालय) के निर्देशन में हुए दक्षिणी जर्मनी में कंदराओं की खुदाई से प्राप्त पत्थरों और अत्यधिक मात्रा में पाये गए जानवरों की हड्डियों से पता चलता है कि प्राचीन पाषाण युग का मानव इन कंदराओं का उपयोग तब तक करता रहा जब तक वह नवीन पाषाण युग में नहीं प्रवेश कर गया और खेती द्वारा मक्के जैसे खाद्यान्न उपजाना, उसका भंडारण और पालतू जानवरों के झुण्ड के झुण्ड रखना नहीं सीख गया।

(4) मस्तिष्क का दाहिना भाग विनोदी और बायाँ बुद्धिजीवी है

आकेल टेक्निकल यूनिवर्सिटी हॉस्पिटल के न्यूरॉलोजिकल विभाग के **डॉ० मैनफ्रेड डागे** (Man fred Dagge) और प्रोफेसर **उल्फगैंग हार्ट्ज** (Wolfgang Hartje) के प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध हो गया है कि मस्तिष्क का दाहिना भाग विनोद या हँसी-मज़ाक संबंधी संवेदनायें ग्रहण करता है। इन अनुसंधान कर्त्ताओं ने अपने शोध 'कॉर्टेक्स' (Cortex, Vol. 21) नामक पत्रिका (मेडिकल जर्नल) में प्रकाशित करवाया है। परीक्षण ऐसे रोगियों पर किया गया जिनके मस्तिष्क का दायाँ भाग आघात से क्षतिग्रस्त हो गया था। रोगी और स्वस्थ—दोनों प्रकार के व्यक्तियों को एक 'कार्टून' और तीन समान किन्तु असंगत ड्राइंग्स दी गईं। रोगी व्यक्ति इन ड्राइंग्स में कौन सी हास्यकर थी यह उतनी जल्दी नहीं बता पाये जितना कि स्वस्थ व्यक्ति या वे रोगी जिनके मस्तिष्क का बायाँ भाग क्षतिग्रस्त था। इसी प्रकार के प्रयोगों से अमेरिकी मनोविज्ञानवेत्ता **पाल ई० मैक् घी** (Panl Mc Ghee) ने पता लगाया कि मस्तिष्क का बायाँ भाग बुद्धिजीवी होता है।

(5) समान नाक-नक्श वाले स्त्री-पुरुषों में प्रेम की संभावना अधिक

हैम्बर्ग विश्वविद्यालय (जर्मनी) के ह्यूमन बायलोजी इंस्टीट्यूट के **कॉर्नेलिया स्टेगेमैन** और प्रोफेसर **रेनर** (Cornelia Stegemann & Prof. Rainer knussmann) ने इस बात की खोज की है कि समान नाक-नक्श या चेहरे-मोहरे वाले स्त्री-पुरुषों में असमान नाक-नक्श वाले स्त्री-पुरुषों की अपेक्षा प्यार की अधिक संभावना होती है। इन अनुसंधानकर्त्ताओं ने अपना शोध पत्र 'होमो' (*Homo*,Vol. 35) नामक शोधपत्रिका में प्रकाशित करवाया। समान गुणों में लम्बाई, भार और कमर की मोटाई मुख्य हैं। हाथ-पाँवों की समानता भी किसी हद तक महत्वपूर्ण है। लम्बी अवधि तक साथ रहने वाले जोड़ों में थोड़े समय से साथ रह रहे जोड़ों की अपेक्षा कम समानता होती है। इसका एक कारण यह है कि दो में से एक व्यक्ति उम्र के बढ़ने के साथ अधिक मोटा हो गया हो और देखने में काफी असमानता नज़र आती हो।

यह एक आम धारणा है कि अत्यधिक पुष्ट पुरुष का कोमलांगी सुन्दरी के प्रति सहज आकर्षण होता है किन्तु इन खोजियों के प्रयोगों से इस बात की पुष्टि नहीं हो सकी। विपरीत इसके लम्बे पुरुष लम्बी स्त्री की ओर आकर्षित होते हैं और छोटे कद के जनाना से दिखने वाले पुरुष, छोटे कद वाली सुन्दर स्त्री की ओर आकर्षित होते हैं। □□

महान वैज्ञानिक रमण : कुछ स्मृतियाँ

कहते हैं यदि सुबह का भूला शाम को घर आ जाये तो भूला नहीं कहा जाता। सो यदि हमारी सरकार ने 28 फरवरी को 'राष्ट्रीय विज्ञान दिवस' मनाने का निश्चय किया है तो इसका विज्ञान जगत् में निश्चय ही सर्वत्र स्वागत है और सरकार इसके लिए साधुवाद की पात्र है। देर आयद, दुरुस्त आयद। पर 28 फरवरी ही क्यों? क्योंकि 28 फरवरी 1928 को **प्रो० सी० वी० रमण** ने 'रमण प्रभाव' (Raman Effect) की खोज द्वारा सम्पूर्ण विश्व का ध्यान भारत की ओर आकर्षित किया था। उनकी इस खोज के लिए उन्हें वर्ष 1930 में भौतिकी के 'नोबेल पुरस्कार' से अलंकृत किया गया था।

रमण सन् 1921 में यूरोप गये थे। मार्ग में भूमध्य सागर के गहरे नीले रंग को देखा, बदलते रंगों को देखा और उसके कारण पर विचार करने लगे। वैज्ञानिकों को यह तो मालूम था कि श्वेत प्रकाश में सभी रंगों की लहरें पहले से ही विद्यमान रहती हैं और इसी कारण बिखरे प्रकाश में ये रंग दीख पड़ते हैं, पर अब तक एक रंग के प्रकाश की किरण के बिखरने के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं थी। रमण ने इसी कमी को पूरा किया। अपने प्रयोग में रमण ने एक रंग की किरण पर प्रयोग करने के लिए पारे की भाप से उत्पन्न प्रकाश लिया। पारे की वाष्प की किरण को शीशे के एक गोले में प्रवेश कराया। गोले में कोई द्रव या वायव्य पदार्थ रखा। अब गोले में पहुँचती हुई प्रकाश किरण को ध्यान से देखा और किरण से समकोण बनाते हुये एक किरण चित्र-दर्शक यंत्र रखा। ऐसा इसलिए किया ताकि उस गोले से बाहर आते हुये प्रकाश का किरण चित्र बगल से लाया जा सके। रमण ने देखा कि पारे का प्रकाश जब बिखरता है तो उसकी शक्ति कुछ क्षीण हो जाती है। यही नहीं, गोले में रखे पदार्थ के अणु उत्तेजित होकर अपना भी कुछ प्रकाश उत्पन्न कर देते हैं और उस बिखरे प्रकाश में मिला देते हैं। उन्होंने यह भी देखा कि पारेवाली रेखा तो उत्पन्न होती ही है, दूसरी भी अनेक रेखायें पैदा हो जाती हैं। इन रेखाओं के उत्पन्न होने का कारण निश्चय ही गोले के भीतर रखा हुआ पदार्थ था। इन्हीं रेखाओं को आज हम 'रमण रेखाओं' के नाम से जानते हैं और चित्रपट 'रमण चित्रपट' के नाम से विख्यात है। 1928 फरवरी की 28 तारीख वह ऐतिहासिक दिन है जब रमण ने विशेष प्रयोग द्वारा यह पता लगाया कि विशेष प्रकाश गोले के पदार्थ के कारण ही है। यही वह युगान्तरकारी खोज थी जिस पर रमण को 'नोबेल पुरस्कार' मिला और जो 'रमण प्रभाव' के नाम से जानी जाती है तथा जिस पर 10,000 से भी अधिक शोधपत्र प्रकाशित हो चुके हैं। विज्ञान की दुनिया में रमण की इस खोज के परिणामस्वरूप अनेक महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हुई हैं। 'रमण रेखाओं' ने अणुओं के अंतस्तल का भेद बताया है, अणुओं की संरचना के सम्बन्ध में दर्पण का कार्य किया है और भौतिकी तथा रसायन विज्ञान की अनेक उलझी गुत्थियाँ सुलझाई हैं। 'रमण प्रभाव' के सफल अध्ययन के द्वारा विश्व में अनेक नवीन उपकरण आविष्कृत हुये हैं।

प्रो० सी० वी० रमण की प्रकृति में गहरी रुचि

थी। सुन्दरता उन्हें अपनी ओर आकर्षित करती थी, चाहे वह एक पौधा हो, फूल हो अथवा पत्थर का एक टुकड़ा। उन्होंने हीरों की चमक और फूलों के रंग पर भी कार्य किया। संगीत से उन्हें विशेष अनुराग था।

प्रो० रमण पर इतना लिखने के बाद मुझे ऐसा लगा जैसे मैं पढ़ी-पढ़ाई बातें ही लिख रहा हूँ। इस कारण मैंने आगे लिखना बन्द कर दिया और सोचने लगा क्यों न किसी ऐसे विद्वान से बात की जाये जिसने प्रो० रमण को देखा हो, सुना हो और किसी हद तक समझा भी हो। चूंकि किताबी ज्ञान से हट कर मैं कुछ ऐसी जानकारी की खोज में था जो अभी तक अप्रकाशित हो तो कितना अच्छा हो सो मैं पहुँच गया **डॉ० जे० पी० श्रीवास्तव** के पास जो सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज में वनस्पति विज्ञान विभाग के अध्यक्ष रह चुके हैं और अपनी विद्वता के लिए विख्यात हैं। डॉ० श्रीवास्तव द्वारा खींचा गया रमण का व्यक्ति-चित्र 'विज्ञान' के पाठकों के लिए प्रस्तुत है। अब सुनिये **डॉ० जे० पी० श्रीवास्तव** को—

"जब मैं इलाहाबाद विश्वविद्यालय में विद्यार्थी था उस समय प्रो० सी० वी० रमण निःसंदेह न केवल भारत वरन् विश्व के चोटी के वैज्ञानिकों में एक थे और अपनी ख्याति के शिखर पर थे। यह इलाहाबाद विश्वविद्यालय का सौभाग्य था कि उस समय **प्रो० के० एस० कृष्णन,** जो प्रो० रमण के शिष्य और मित्र थे, इलाहाबाद विश्वविद्यालय में भौतिकी के प्रोफेसर थे। सम्भवतः इसी कारण प्रो० रमण का इलाहाबाद विश्वविद्यालय में प्रायः आना होता था। प्रो० रमण जब भी आते थे तो विश्वविद्यालय के सीनेट हाल या विजयनगरम हाल में उनका व्याख्यान अवश्य होता था। व्याख्यान कहीं भी हो, हाल श्रोताओं से खचा-खच भरा रहता था। उन्हें सुनने वालों में विश्वविद्यालय के विद्यार्थी और अध्यापक तो रहते ही थे, नगर के भी बहुत से गण्यमान व्यक्ति अवसर का लाभ उठाने के लिए उपस्थित रहते थे। प्रो० रमण ख्याति प्राप्त भौतिकीविद् और बहुमुखी प्रतिभा के धनी शक्तिशाली वक्ता थे। उन्हें ज्ञान-विज्ञान के विविध विषयों को जनसामान्य के सम्मुख रोचक और ग्राह्य बनाकर प्रस्तुत करने में महारत हासिल थी। विषय की प्रभावपूर्ण प्रस्तुति के साथ ही बीच-बीच में हास्य का पुट भी रहता था और इसी कारण श्रोता मंत्रबिद्ध से अपनी कुर्सियों से चिपके रहते थे।

प्रो० रमण से सम्बन्धित अनेक घटनायें हैं जो आज भी ताजी हैं। यहाँ उनमें से कुछ की चर्चा का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ।

अपने व्याख्यान के दौरान एक बार सर सी० वी० रमण ने कार्बन की संयोजकता का ज़िक्र करते हुये बताया कि कार्बन की **4** वैलेन्सीज़ (Valencies) उसी प्रकार हैं जैसे किसी मुसलमान सज्जन की चार पत्नियाँ हों। एक दूसरे अवसर पर सूक्ष्म जीव विज्ञान के लिए उन्होंने अंग्रेज़ी में मीक्रोबॉयलोजी (meecro-biology) का उच्चारण किया और बताया कि इसे **प्रो० साहनी** (प्रसिद्ध वनस्पति विज्ञानी बीरबल साहनी) माइक्रोबॉयलोजी (microbiology) कहते हैं। जब प्रो० साहनी प्रो० रमण के भाषण के बाद औपचारिक रूप से धन्यवाद देने के लिए उठे, तब उन्होंने शब्दों के उच्चारण के सम्बन्ध में एक रोचक चुटकुला सुनाया। एक बार एक अंग्रेज़ और एक आयरिश में अंग्रेज़ी के शब्द either के उच्चारण को लेकर विवाद हो रहा था। अंग्रेज़ का कहना था कि शब्द का उच्चारण आइदर (either) होना चाहिए जबकि आयरलैण्डवासी का कहना था कि सही उच्चारण ईदर (eether) होना चाहिए। उसी समय उधर से एक स्कॉटलैण्ड निवासी गुज़रा और कहा कि आप दोनों झगड़ते क्यों हैं? क्यों न हम इसे ऊदर (oother) कहें।

प्रो० रमण बड़े ही विनोदप्रिय थे और दम्भ तो उन्हें छू भी नहीं सका था। 'भारतीय विज्ञान कांग्रेस' की 'रजत जयंती' के अवसर पर एक बार **प्रो० कृष्णन, प्रो० रमण** और **प्रो० साहनी** साथ थे। ये तीनों वैज्ञानिक लंदन की 'रॉयल सोसाइटी' के फेलो (FRS) थे। जब किसी फोटोग्राफर ने यह कहते

हुये कि इस समय तीन FRS एक साथ हैं, फोटो खींचने की इच्छा व्यक्त की तो प्रो० रमण झट तैयार हो गये और हँसते हुये कहा, "हम तीनों 'FRS' नहीं 'KRS' हैं" (जो इन तीनों के नामों का क्रम से पहला अक्षर है)। इसी अवसर पर मुझे प्रो० रमण को निकट से देखने का संयोग प्राप्त हुआ और इस लम्बे, पगड़ीधारी विशुद्ध भारतीय वैज्ञानिक में मुझे जो सबसे विशेष बात लगी वह थी उनकी आँखें। उनकी आँखों में एक विशेष प्रकार की चमक थी। ऐसा लगता था जैसे वे आँखें लगातार कुछ ढूंढ़ रही हों। मुझे अच्छी तरह से याद है कि लगभग एक वर्ष बाद अपने एक व्याख्यान में प्रो० रमण की चर्चा करते हुये प्रो० साहनी ने उनकी आँखों की विशेषता का ज़िक्र किया। प्रो० साहनी ने बताया कि एक बार प्रो० रमण और प्रो० साहनी ट्रेन में साथ-साथ सफर कर रहे थे। दोनों ने रात लगभग जागकर बितायी थी, किन्तु सुबह प्रो० साहनी ने प्रो० रमण की आँखों में नींद का कोई चिह्न नहीं देखा। सदा की भाँति प्रो० रमण की आँखें उसी प्रकार चमक रही थीं।

प्रो० साहनी ने प्रो० रमण की तीक्ष्ण बुद्धिकी प्रशंसा करते हुये बताया कि जब वे महान भारतीय गणितज्ञ **श्रीनिवास रामानुजन** से मिलने उस समय गये जब वे रोग-शैय्या पर थे तो महान गणितज्ञ रामानुजन ने प्रो० साहनी से गणित का एक बड़ा ही रोचक प्रश्न किया था। प्रो० साहनी ने वही प्रश्न दोहराया। "मान लो कि पृथ्वी की परिधि विषुवत रेखा पर 25,000 मील है। इसके चारों ओर एक पेटी (बेल्ट) बाँधो। अब पेटी खोल लो और पेटी की लम्बाई 6 फीट बढ़ाओ। क्या बता सकते हो कि पृथ्वी की सतह और पेटी के बीच में कितनी दूरी होगी ?" हम लोगों में से जब कोई भी इस प्रश्न का उत्तर न दे सका तो प्रो० साहनी ने बताया कि उन्होंने इस प्रश्न को विश्व के चोटी के वैज्ञानिकों से पूछा पर मात्र दो वैज्ञानिक ही इसका उत्तर तुरन्त दे पाये। एक तो लन्दन के **प्रो० हैरिस** और दूसरे भारत के **प्रो० रमण**। प्रो० रमण ने यह उत्तर उस समय दिया था जब वे पूरी रात के जगे थे और सुबह रेलवे प्लेटफार्म पर टहल रहे थे। प्रो० साहनी ने हँसते हुये बताया कि पृथ्वी की सतह और बेल्ट के बीच की दूरी लगभग एक फीट होगी।"

डॉ० जे० पी० श्रीवास्तव द्वारा वर्णित सर सी० वी० रमण के संस्मरण और अनोखी गणितीय पहेली ने मुझे बहुत प्रभावित किया। मैं स्वयं इस प्रश्न को समझने के लिये उत्सुक हो उठा। इसी सम्बन्ध में मैंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय के गणित विभाग के रीडर **डॉ० आर० एस० डी० दुबे** से सम्पर्क किया। जब मैंने उपर्युक्त प्रश्न का गणितीय हल जानने की इच्छा डॉ० दुबे से व्यक्त की तो उन्होंने झट कलम-कागज़ की सहायता से हल प्रस्तुत कर दिया।

"माना पृथ्वी की विषुवतरेखीय त्रिज्या a है। अतः विषुवत रेखा पर पृथ्वी की परिधि $2\pi a$ होगी जब कि $\pi = \frac{22}{7}$ लगभग। यदि अभीष्ट दूरी x हो तो निम्नलिखित समीकरण बनेगा—

$$2\pi(a+x) = 2\pi a + 6$$

$$\text{अतः}\quad x = \frac{6}{2\pi} = \frac{21}{22} = \text{लगभग एक}$$

इस प्रकार दूरी लगभग 1 फीट होगी। प्रस्तुत प्रश्न में विषुवत रेखा पर पृथ्वी की परिधि 25,000 मील का कोई महत्व नहीं है। यदि पेटी की बृद्धि 6 सेन्टीमीटर हो तो x एक सेन्टीमीटर होगा।"

डॉ० जे० पी० श्रीवास्तव और डॉ० दुबे से मिलने के बाद मैं प्रो० रमण के बहुआयामी व्यक्तित्व से अभिभूत हो गया था। मुझे 'रामायण' के रचयिता **महाकवि वाल्मीकि** द्वारा वर्णित 'राम-रावण युद्ध' के उस प्रसंग की याद आ गई जिसमें कहा गया है—

गगनं गगनाकारं सागरस्सागरोपमः।
राम रावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव ॥

अर्थात् आकाश की तुलना केवल आकाश से की जा सकती है, सागर मात्र सागर के ही समतुल्य है।

आधुनिक भारत में रमण की तुलना केवल रमण से ही की जा सकती है क्योंकि रमण अद्वितीय थे। □

प्रस्तुति : प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव
संयुक्त मंत्री, विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद

समीक्षा

नयी पत्रिका

(1) **'विज्ञान गरिमा सिंधु'** (वर्ष 1986, अंक 1, प्रवेशांक)

प्रधान संपादक : प्रोफेसर मलिक मोहम्मद

प्रकाशक : वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग (मानव संसाधन विकास मंत्रालय, शिक्षा विभाग) भारत सरकार, नई दिल्ली

मूल्य (वार्षिक) : संस्थाओं के लिए 50 रु० (4 अंक)
विद्यार्थियों के लिए 30 रु० (4 अंक)

आलोच्य नयी पत्रिका 'विज्ञान गरिमा सिंधु' (त्रैमासिक) का प्रकाशन, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, नई दिल्ली द्वारा इस उद्देश्य से किया गया है कि विज्ञान का श्रेष्ठतम साहित्य छात्र-वर्ग और आम आदमी तक आसानी से पहुँच सके। पत्रिका के प्रवेशांक से ऐसा लगता है कि शब्दावली आयोग ने अपने लक्ष्य की पूर्ति की दिशा में एक ठोस कदम रखा है। 74 पृष्ठों की बड़ी आकार वाली इस पत्रिका में 15 लेख सम्मिलित हैं। वैज्ञानिक प्रगति और सामाजिक परिवर्तन, संख्या, जल संसाधनों का विकास, कीट ध्वनि, अंतरिक्ष में भारतीय पहल, उत्तर प्रदेश के हिमालयी क्षेत्र में कृषि नियोजन तथा विकास, अल्पपरिचित सूक्ष्ममात्रिक तत्व, यौनता की मनोकायिकी उर्वरक प्रयोग क्षमता—एक विचारणीय पहलू, गंगा की गरिमा : एक वैज्ञानिक विवेचन, पर्यावरण और प्रदूषण, गेहूँ में सूत्र कृमि की समस्या और समाधान, भोजन में कवक-विष, भारत का नाभिकी ऊर्जा कार्यक्रम, भारत की मैंग्रोव वनस्पति जैसे लेखों के माध्यम से पत्रिका ने अपने कलेवर में अनेक सामयिक और चर्चित विषयों को समेट रखा है। सभी लेख सूचनाप्रद और ज्ञानवर्धक हैं। पाठकों को 'आयोग की गतिविधियाँ' स्तंभ के अन्तर्गत शब्दावली, परिभाषा कोश, विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ-निर्माण आदि के क्षेत्रों में होनेवाली प्रगति से अवगत रखा जा सकेगा, यह शुभ समाचार है। पत्रिका हिन्दी भाषा के माध्यम से उच्चस्तरीय सामग्री देती रहेगी ऐसी आशा है। 'शब्दावली चर्चा' और 'पुस्तक समीक्षा' स्तम्भ उपयोगी हैं। सम्पादकगण, लेखक और प्रकाशक सभी बधाई के पात्र हैं। पत्रिका का मुद्रण अच्छा है, प्रूफ की अशुद्धियाँ कम हैं और कवर आकर्षक है। किन्तु एक सुझाव भी देना चाहूँगा। पत्रिका के प्रत्येक अंक में स्नातक कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए यदि उनके पाठ्यक्रम के अनुसार विज्ञान के प्रत्येक विषय से संबंधित सामग्री उपलब्ध हो सके तो विश्वविद्यालय स्तर पर हिन्दी माध्यम द्वारा विज्ञान शिक्षा के पुनीत कार्य को यह पत्रिका और भी अच्छे ढंग से कर सकेगी।

—प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

(2) **'शब्दायन स्मारिका'**

अध्यक्ष : प्रो० मलिक मोहम्मद

संपादक : प्रेमानन्द चंदोला

मूल्य :

प्रकाशक : वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, पश्चिमी खंड 7, रामकृष्ण पुरम्, नई दिल्ली—110066

कलाकार : आलोकवाही

मुद्रक : सबीना प्रिंटिंग प्रेस, 387/24 फरीदाबाद (हरियाणा)

वर्ष : 1986, रजत जयंती वर्ष

[शेष पृष्ठ 24 पर]

पानी से H_2O तक

डॉ० महेन्द्र सिंह वर्मा

आज यह कहना कि पानी का रासायनिक आण्विक सूत्र H_2O है, बहुत ही सरल बात है। इसका सीधा सा अर्थ है कि पानी के एक अणु में हाइड्रोजन के दो परमाणु तथा ऑक्सीजन का एक परमाणु होता है। यह साधारण सी बात अपने गर्भ में हज़ारों बर्ष के सैकड़ों वैज्ञानिकों के अत्यधिक कष्टसाध्य अन्वेषणों को छिपाए पड़ी है। प्रस्तुत लेख का उद्देश्य इन्हीं अन्वेषणों का पुनः अवलोकन करना तथा छितरे पड़े मणियों को एक सूत्र में पिरोना है जिससे यह एक मोतियों का हार प्रतीत हो, बिखरे पड़े पत्थर नहीं।

आइये अपने ऋषि-मुनियों से ही प्रारम्भ करते हैं। वे तो सारे संसार के गुरु थे। अतः उनका ज्ञान तो अतुलनीय होना ही चाहिए। इसके साक्षी आज हमारे धर्मग्रन्थ हैं जो वैज्ञानिक ज्ञान के भण्डार माने जाते हैं। सुना जाता है कि गणित, भौतिकी, रसायन शास्त्र, जीव विज्ञान, औषधि विज्ञान, तकनीकी तथा औद्योगिक ज्ञान से ये ग्रन्थ भरे पड़े हैं। लेकिन ऐसा लगता है कि हमारे विदेशी वैज्ञानिक क्या, भारतीय भी इस ज्ञान को समझ नहीं पाए। संभवतः इसलिए कि ग्रन्थ गूढ़ तथा सूत्र रूप में देववाणी (संस्कृत) में लिखे हुए हैं।

इस सब के बावजूद, इतना तो निश्चित है कि वे लोग पाँच तत्वों को मानते थे जिनमें से एक तत्व पानी था। संभवतः उनका तत्व आज के वैज्ञानिक तत्व (Element) से भिन्न था। ये सब चिन्तन और मनन तक ही सीमित था। उन लोगों की दृष्टि आध्यात्मिक थी, वैज्ञानिक नहीं। ऐसा लगता है कि सारा चिन्तन-मनन 2500 ई० पूर्व से लेकर 1500 ई० पू० तक ही हुआ। इसके बाद या तो विचारक हुए नहीं या हुए भी तो सिर्फ पुरानी बातों को दुहराते रहे।

भारत की तरह ग्रीस में भी अनेक विचारक हुए। इनमें से **अरस्तू** (384-322 ई० पू०) का नाम विज्ञान के विकास की दृष्टि से उल्लेखनीय है। उसका भी मानना था कि पार्थिव पिण्ड पाँच तत्वों से बने हैं। उसके अनुसार आकाश परिवर्तनशील तत्व नहीं था। अरस्तू के तत्व आज के वैज्ञानिक तत्वों के अर्थ में ही प्रतिपादित हुए प्रतीत होते हैं।

अरस्तू के बाद उसके विचार 1800 वर्ष तक एकछत्र राज्य करते रहे। कोई भी विचार अरस्तू के विचारों का खण्डन करने का अथवा उनमें कुछ सुधार करने का साहस नहीं कर सका। 1526 में जाकर स्विस वैज्ञानिक **पैरासेलसस** (1493-1541) अरस्तू से कुछ भिन्न विचार रख पाया। उसने उद्घोषणा की कि मनुष्य का जीवन नमक, गन्धक तथा पारद का यौगिक है। इस उद्घोषणा को उसने प्रधान-त्रिक मत का नाम दिया। उस समय हवा को एक अक्रिय गैस समझा जाता था। यह माना जाता था कि यह एक भौतिकीय कर्मक की भाँति कार्य करती है।

इसके बाद सत्रहवीं सदी के प्रारम्भ (1600-30) में एक अत्यन्त रोचक कहानी प्रारम्भ हो गई। रसायनज्ञों को ज्ञात था कि हवा में अत्यधिक गर्म

2/बी-5, शिक्षक आवास, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

करने पर धातुओं के भार में वृद्धि हो जाती है। इस तथ्य की उस समय दो व्याख्याएँ हो सकती थीं—

(1) कि कोई पदार्थ लौ में से निकलकर धातु पर चिपक जाता है और

(2) कि हवा या उसमें से कोई भाग धातु पर चिपक जाता है।

उस समय अधिकतर वैज्ञानिक पहली व्याख्या पर विश्वास करते थे। फ्रांसीसी वैज्ञानिक **जीन रे** का विश्वास था कि गर्म होने पर हवा चिपचिपी हो जाती है और धातु से चिपक जाती है। दुर्भाग्य से उस समय हवा का संघटन ज्ञात नहीं था, नहीं तो **रे** सत्य की तह तक पहुँच सकता था अर्थात् वह ऑक्सीजन की खोज कर सकता था।

इस दिशा में गम्भीर प्रयास 'रॉयल सोसाइटी' के संस्थापक अंग्रेज़ वैज्ञानिक **रॉबर्ट बॉयल** (1627-1691) ने किए। 1673 में उसने कुछ ऐसे प्रयोग किए जिनसे यह ज्ञात हो सका कि दहन के लिए हवा आवश्यक है अथवा नहीं अर्थात् उसने यह खोजने का प्रयास किया कि निर्वात में पदार्थ जल सकते हैं अथवा नहीं। उसने पाया कि गन्धक, कोयला तथा नाइटर तो निर्वात में नहीं जलते किन्तु उनका मिश्रण गन पाउडर निर्वात में जलता है। अतः वह कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाल पाया।

बॉयल के शिष्य तथा सहायक **रॉबर्ट हुक** (1635-1703) ने यह जानने का प्रयास कि यदि गन पाउडर के अवयव – नाइटर, गन्धक तथा कोयला— निर्वात में नहीं जलते तो उनका मिश्रण क्यों जलता है। उसने पाया कि पिघले हुए नाइटर में गन्धक और कोयला इतने अधिक तेज़ जलते हैं कि उतना हवा में भी नहीं जलते। उसने इसका निष्कर्ष निकाला कि नाइटर में हवा होती है (हवा का अर्थ उस समय गैस होता था)। उसने इस गैस का नाम 'नाइटर हवा' रखा।

हुक के इन प्रयोगों से पता चलता है कि वह ऑक्सीजन के कितने नजदीक पहुँच गया था। आज हम कह सकते हैं कि 'नाइटर हवा' और कुछ नहीं, बल्कि ऑक्सीजन थी। किन्तु इस निष्कर्ष तक पहुँचने में अभी वैज्ञानिकों को सैकड़ों वर्ष लगने थे।

1675 में **जॉन मेयोव** ने प्रदर्शित किया कि यदि हवा में से 'नाइटर हवा' निकाल दी जाय तो शेष हवा न तो वस्तुओं के ज्वलन में सहायक होती है और न जीवन में ही।

इस तरह हवा के अवयवों के वियोजन की कहानी एक सरल मार्ग पर चल रही थी। मंज़िल आने ही वाली थी कि जर्मनी के दो वैज्ञानिकों **बेशर** तथा उनके शिष्य **स्टाल** ने 1700 में एक व्यवधान खड़ा कर दिया। उनके जरा से गलत विचारों ने बायवीय रसायन को सैकड़ों वर्ष पीछे धकेल दिया। दरअसल वे दोनों इस बात से प्रभावित थे कि जब वस्तुएँ जलती हैं तो धुआँ निकलता है और राख बच जाती है जो मूल वस्तु के भार से कम भार की होती है। उन्होंने इसका सीधा सा निष्कर्ष यह निकाला कि ज्वलनशील वस्तुओं में 'फ्लोजिस्टन' (एक ज्वलन-शीलताकारी पदार्थ) होता है जो वस्तुओं के जलने पर बाहर निकल जाता है और इसीलिए शेष राख का भार मूल वस्तु के भार से कम होता है।

यदि प्रत्येक पदार्थ को जलाने पर उसमें से फ्लोजिस्टन निकल जाता है तो हर केस में जली हुई अथवा भस्मीकृत वस्तु का भार मूल वस्तु के भार से कम होना चाहिए। उस समय भी इसके अनेक अपवाद थे अर्थात् धातुओं का भस्मीकरण (आधुनिक ऑक्सीकरण) करने पर भार में वृद्धि होती है, कमी नहीं। यह तथ्य कई वैज्ञानिकों को ज्ञात था, लेकिन फ्लोजिस्टन का कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि सैकड़ों वर्षों तक वैज्ञानिक उसी के रंग में रंगे हुए निष्कर्ष निकालते रहे और तथ्य सामने होने पर भी उसे पहचानने में असमर्थ रहे। चारों ओर फ्लोजिस्टन का ही बोला बाला हो गया और वैज्ञानिक असली तथ्यों को छोड़ कर फ्लोजिस्टन के वियोजन में जुट गए। प्रयोगवादी वैज्ञानिकों की एक लम्बी श्रृंखला है जो मायावी फ्लोजिस्टन का पीछा करती रही। उनके विचार फ्लोजिस्टन से इतने अधिक प्रभावित थे कि वे यह

सोच भी नहीं पाए कि यह सिद्धान्त गलत भी हो सकता है। इस तरह वायवीय रसायन का गहन अध्ययन प्रारम्भ हो गया।

सत्रहवीं सदी के प्रारम्भ में बैलजियम में **जे० बी० हैलमॉण्ट** ने 62 पौण्ड लकड़ी जलाई जिससे उसे सिर्फ 1 पौण्ड राख मिली। शेष लकड़ी जिस वस्तु में परिवर्तित हो गई, उसका नाम उसने 'गैस' रखा। यही प्रयोग 1754 में **जे० ब्लैक** ने दुहराया और प्राप्त गैस का नाम 'बद्ध हवा' रखा। आज हम इस 'बद्ध हवा' को कार्बन डाइ-ऑक्साईड गैस कहते हैं।

1745 में, रूसी वैज्ञानिक **एम० वी० लोमोनोसोव** ने लिखा, 'लोहे पर अम्ल की क्रिया से एक ज्वलनशील वाष्प निकलती है, जो फ्लोजिस्टन है।'

इंगलैण्ड में, **एच० केवेंडिश** (1731-1810) स्वयं फ्लोजिस्टन के वियोजन में लगे हुए थे। घर पर ही उसकी एक सुसज्जित प्रयोगशाला थी। उसने सल्फ्यूरिक तथा हाइड्रोक्लोरिक अम्ल लिए तथा साथ ही लोहे, जस्ते तथा बंग के टुकड़े लिए। अम्ल तथा धातुओं के विभिन्न युग्मों से उत्पन्न गैस के बुलबुलों को छः अलग-अलग थैलियों में भरा। उल्लसित केवेंडिश ने पाया कि सारी संकलित गैसें हल्की हैं, समान भार की हैं और नीली लौ के साथ जलती हैं। उसने सोचा था कि मैंने फ्लोजिस्टन को वियोजित कर लिया है। 1766 में उसने अपने निष्कर्षों को 'रॉयल सोसाइटी' के समक्ष रखा। **केवेंडिश** ने इस गैस का नाम 'ज्वलनशील हवा' रखा। इसको 'हाइड्रोजन' नाम फ्रांसीसी रसायनज्ञ **ए० लैवोशिए** ने दिया तथा इसका संकेत H (एच) **बर्जेलियस** ने प्रस्तावित किया।

1784 में, **केवेंडिश** ने 'ज्वलनशील हवा' को **प्रीस्टले** की 'अफ्लोजिस्टीकृत हवा' के साथ जला कर शुद्ध पानी प्राप्त किया।

उधर 1753 में **लोमोनोसोव** ने लिखा,...."नेक **रॉबर्ट बॉयल** का विचार गलत है।" उसने बताया कि दहन क्रिया में हवा के कण दहनशील पदार्थ से जुड़ जाते हैं और उसका भार बढ़ जाता है।

1772 में, स्वेडिश रसायनज्ञ **के० शीले** (1742-1786) ने विभिन्न अकार्बनिक यौगिकों का विघटन करके 'आग्नेय हवा' (ऑक्सीजन) उत्पन्न की। **शीले** भी फ्लोजिस्टन सिद्धान्त से अभिभूत था। आश्चर्य की बात यह है कि ज्वलनशील हवा को आग्नेय हवा के साथ जलाने पर **शीले** को ऊष्मा के अतिरिक्त कुछ भी उत्पाद प्राप्त नहीं हुआ। उसका निष्कर्ष था कि आग्नेय हवा फ्लोजिस्टन के साथ संयुक्त होने पर ऊष्मा उत्पन्न करती है जो विघटित होने पर आग्नेय हवा उत्पन्न करती है।

1774 में, फ्रांसीसी रसायनज्ञ **पी० बेयन** ने एक शोधपत्र लिखा जिसमें उसने भस्मीकरण के दौरान वस्तुओं के बढ़ने वाले भार की व्याख्या की। उसका विश्वास था कि एक विशेष प्रकार की हवा भस्मीकरण प्रक्रिया में दहनशील पदार्थ से संयुक्त हो जाती है। उसके अनुसार यही हवा पारद को गर्म करने पर लाल यौगिक में परिवर्तित कर देती है।

लगभग उसी समय एक अंग्रेज रसायनज्ञ **जे० प्रीस्टले** (1733-1804) भी एक महत्वपूर्ण गैस के वियोजन में व्यस्त था। उसका तरीका बहुत ही सरल तथा अभिव्यक्तिकारक था। उसने आंशिक रूप से मरक्यूरी से भरे काँच के फ्लास्क में लाल मरक्यूरिक ऑक्साइड का एक नमूना रखा तथा उसको पारद की एक द्रोणिका में उल्टा रख दिया। तब उसने उस मरक्यूरिक ऑक्साइड को सूर्य किरणों द्वारा गर्म किया। **प्रीस्टले** ने पाया कि मरक्यूरिक ऑक्साइड से बहुत सारी गैस निकलती है। यदि जलती हुई मोमबत्ती गैस में रखी जाय तो और तेज़ी से जलने लगती है, किन्तु गैस स्वयं नहीं जलती। उसने इस गैस को 'अफ्लोजिस्टनकृत हवा' का नाम दिया। बाद में इसी गैस को लैवोशिए ने ऑक्सीजन कहा और बर्जेलियस ने इसको O (ओ) संकेत दिया।

□□

[शेष अगले अंक में]

मातृभाषा में विज्ञान की शिक्षा देना अधिक उपयोगी

इलाहाबाद, 9 फरवरी । मातृभाषा में ज्ञान प्राप्त करना जितना सरल है उतना किसी अन्य भाषा में नहीं । इसलिए कोई भी शिक्षा हो उसे मातृभाषा में देना चाहिए । विज्ञान के क्षेत्र में आज बहुत प्रगति हो रही है उसे समाज के समाने लाना विद्वानों एवं वैज्ञानिकों का कर्तव्य है । वैज्ञानिक तभी इस कार्य में सफल होंगे जब वे मातृभाषा या राष्ट्र भाषा के माध्यम से शिक्षा दें । ये बातें मानव संसाधन मंत्रालय (शिक्षा विभाग) के शब्दावली अयोग के अध्यक्ष प्रो० मलिक मुहम्मद ने आज यहाँ शब्दावली कार्यशाला के उद्घाटन समारोह में अध्यक्ष पद से कहीं । यह कार्यशाला इलाहाबाद विश्वविद्यालय के वनस्पतिविभाग में आयोजित की गयी है ।

प्रो० मलिक ने बताया कि शब्दावली आयोग ने अब तक हिन्दी में 5 लाख से अधिक पारिभाषिक शब्दों का निर्माण किया है और ढाई हजार से अधिक ग्रन्थों का प्रकाशन किया है । मातृभाषा में शिक्षा देने के लिए उन्होंने शिक्षकों से तैयार रहने की अपील की और कहा कि शिक्षा जब तक अपने को तैयार नहीं करता गाड़ी आगे चलने वाली नहीं है । इस कार्यशाला का एक उद्देश्य अध्यापकों को प्रेरित भी करना है । प्रो० पति ने कहा कि हिन्दी के माध्यम से शोध-प्रबन्धों को प्रकाशित कर लेना पर्याप्त नहीं है बल्कि पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से इसके प्रचार-प्रसार एवं अन्य भाषाओं के साथ समन्वय स्थापित करना जरूरी है ।

इस अवसर पर प्रदेश के भूतपूर्व शिक्षामंत्री एवं कानपुर विश्वविद्यालय के भूतपूर्व कुलपति प्रो० भक्त दर्शन ने कहा कि कितने खेद का विषय है कि आजादी के 40 वर्षों बाद भी हम भाषा की समस्या को सुलझाने में लगे हुए हैं । उन्होंने कहा कि हिन्दी का प्रश्न केवल भाषा का नहीं बल्कि एक अस्मिता एवं सम्मान का प्रश्न है । सर्वश्री बृजेश्वर वर्मा एवं सीतावर शरण ने भी अपने विचार व्यक्त किये । डॉ० एच० एस० सक्सेना ने धन्यवाद ज्ञापित किया । संचालन श्री प्रेमानन्द चन्दोला ने किया ।

अपराह्न में विज्ञान परिषद् में आयोजित व्याख्यान में प्रो० मलिक मुहम्मद ने कहा कि शब्दावली सरस, संक्षिप्त एवं बोधगम्य होनी चाहिए । पारिभाषिक शब्द कठिन नहीं होते । जिन शब्दों से हम अपरिचित होते हैं वे कठिन लगते हैं । विज्ञान परिषद् के प्रधानमंत्री डॉ० शिव गोपाल मिश्र ने हिन्दी में वैज्ञानिक ग्रन्थ लिखने में आने वाली दिक्कतों की चर्चा करते हुए विज्ञान परिषद् के कार्यों पर प्रकाश डाला । आरम्भ में रसायन विभाग के पूर्व अध्यक्ष प्रो० राम दास तिवारी ने प्रो० मलिक का स्वागत किया । □□

[पृष्ठ 20 का शेषांश]

227 पृष्ठों की इस स्मारिका के प्रथम खण्ड में शब्दावली आयोग का वैज्ञानिक तथा तकनीकी इतिहास, द्वितीय खण्ड में शब्दावली निर्माण, कोश विज्ञान, भारतीय भाषाएँ और वैज्ञानिक ग्रन्थ निर्माण, शिक्षा का माध्यम और तृतीय खण्ड में शब्दकार परिचय के अन्तर्गत 36 लेखों के माध्यम से उच्चस्तरीय, ज्ञान-वर्धक, खोजपूर्ण सामग्री उपलब्ध है । मुद्रण बढ़िया और कवर आकर्षक है । मैं इस बात की संस्तुति करता हूँ कि इसे देश के कॉलेजों, विश्वविद्यालयों एवं अन्य पुस्तकालयों में भेजा जाये ताकि विद्यार्थी, अध्यापक और आम लोग इसका लाभ उठा सकें ।

—प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

□□

महान गणितज्ञ रामानुजन

गुणाकर मुले

घटना 1913 के जनवरी की है। सुबह का समय था। कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के ट्रिनिटी कॉलेज के फेलो और सुप्रसिद्ध गणितज्ञ **प्रोफेसर जी० एच० हार्डी** नाश्ते का इन्तजार करते हुए उस दिन की डाक में आयी चिट्ठियों पर नज़र डाल रहे थे। डाक में एक बड़ा लिफाफा था, जिस पर भारत के टिकट लगे हुए थे।

हार्डी ने लिफाफा खोला। भीतर से निकला एक पत्र, और उसके साथ थे कुछ पुराने कागज़ के पन्ने जिन पर गणित के 120 सूत्र लिखे हुए थे। पत्र-लेखक ने अपना परिचय देते हुए लिखा था कि मैं मद्रास पोर्ट-ट्रस्ट के कार्यालय में मामूली क्लर्क हूँ। 'मैंने विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा प्राप्त नहीं की है पर गणितीय अनुसंधानों में मेरी गहरी दिलचस्पी है।' पत्र-लेखक ने प्रोफेसर हार्डी से अनुरोध किया था कि 'आप संलग्न सूत्रों की जाँच करें और उसमें कुछ भी महत्व नजर आये तो इनके प्रकाशन में मदद करें।' पत्र के अन्त में हस्ताक्षर थे—**एस० रामानुजन।**

प्रोफेसर हार्डी ने नज़र दौड़ायी। वे एक सुप्रसिद्ध गणितज्ञ थे। उन्हें यह जानने में अधिक देर नहीं लगी कि रामानुजन के कुछ सूत्र या प्रमेय पहले के खोजे हुए हैं, पर यहाँ इस तरह पेश किये गये हैं जैसे वे मौलिक हों। फिर, किसी भी प्रमेय के लिए कोई उपपत्ति नहीं दी गयी है। हार्डी कुछ चिढ़-से गये। उन्हें लगा कि यह सारा मामला शायद धोखाधड़ी है। उन्होंने वे कागज़ वापस लिफाफे में रख दिये, और अपने रोज़मर्रा के काम में जुट गये।

लेकिन उस दिन उनका मन काम में नहीं लगा। रह-रह कर उनके दिमाग़ में रामानुजन के वे प्रमेय मंडराते रहे। उनमें से कुछ प्रमेय ऐसे भी भी थे जिन्हें उन्होंने पहले कभी नहीं देखा था, जिनकी उन्होंने कभी कल्पना तक नहीं की थी। वे सोचने लगे ये गणितीय प्रतिभा का चमत्कार हैं, या धोखाधड़ी? पुनः उन प्रमेयों को देखा। फिर अपने सहयोगी गणितज्ञ **जे० ई० लिटलवुड** को संदेशा भेजा—'आकर मिलो, एक ज़रूरी मामले पर बात करनी है।'

आधुनिक गणित के इतिहास में **हार्डी-लिटलवुड की** जोड़ी अपने दीर्घकालीन संयुक्त अनुसंधान-कार्य के लिए प्रसिद्ध है। हार्डी और लिटलवुड ने रात देर तक साथ बैठकर रामानुजन के प्रमेयों का अध्ययन किया। अन्त में वे इस निर्णय पर पहुँचे कि उन

सी—210 पाण्डवनगर, दिल्ली—110092

प्रमेयों का लेखक निश्चय ही एक गणितीय प्रतिभा है। उस रात सिर्फ इतना ही स्पष्ट हुआ। यह तो हार्डी को बाद में जाकर ही स्पष्ट हुआ कि रामानुजन की प्रतिभा **गौस**, **आउलर** और **याकोबी** जैसे महान गणितज्ञों के कोटि की है।

इस घटना के बाद प्रोफेसर हार्डी ने रामानुजन से पत्र-व्यवहार किया और उन्हें कैम्ब्रिज बुलाने की व्यवस्था की। लगभग साल-भर बाद अप्रैल 1914 में रामानुजन इंगलैण्ड पहुँचे और उन्होंने प्रो० हार्डी के साथ गणित का अपना अध्ययन और अनुसंधान-कार्य आरम्भ कर दिया। रामानुजन-जैसी मौलिक प्रतिभा को सम्भालना और संवारना बड़ा ही कठिन काम था। लेकिन हार्डी इसमें सफल रहे। पाँच साल के इंगलैण्ड-निवास में रामानुजन के कई शोध-निबन्ध यूरोप की प्रख्यात पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। इनमें से कुछ तो हार्डी और रामानुजन के सहयोग के परिणाम थे।

थोड़े समय में ही रामानुजन का नाम गणित की दुनिया में मशहूर हो गया। उन्हें अपने समय का एक अतिश्रेष्ठ गणितज्ञ समझा जाने लगा। लंदन की प्रख्यात 'रायल सोसायटी' ने उन्हें अपना फेलो चुना और उसके तुरन्त बाद ट्रिनिटी कॉलेज ने भी उन्हें फेलोशिप प्रदान की। रामानुजन रायल सोसायटी का फेलो निर्वाचित होने वाले दूसरे भारतीय थे। पहले थे जहाज़-निर्माता इंजीनियर **अर्देशर करसेटजी**, जिन्हें 1841 में यह सम्मान मिला था।

थोड़े समय में ही **रामानुजन** का नाम गणित की दुनिया में मशहूर हो गया। उन्हें अपने समय का एक अतिश्रेष्ठ गणितज्ञ समझा जाने लगा। लंदन की प्रख्यात 'रॉयल सोसायटी' ने उन्हें अपना फेलो चुना और उसके तुरन्त बाद ट्रिनिटी कॉलेज ने भी उन्हें फेलोशिप प्रदान की। रामानुजन रॉयल सोसायटी का फेलो निर्वाचित होनेवाले दूसरे भारतीय थे। पहले थे जहाज़-निर्माता इंजीनियर **अर्देशर करसेटजी**, जिन्हें 1841 में यह सम्मान मिला था।

रामानुजन की प्रतिभा को पहचानने और प्रकाश में लाने का श्रेय डाक्टर हार्डी को है। लेकिन काफी हद तक इसे अदभुत् संयोग ही समझना चाहिए। यह निष्कर्ष निकालना ग़लत होगा कि उस समय के इंगलैण्ड के सभी गणितज्ञ इस भारतीय प्रतिभा को पहचानने में समर्थ थे। जानकारी मिलती है कि हार्डी को पत्र लिखने के पहले रामानुजन ने इंगलैण्ड के दो अन्य मशहूर गणितज्ञों को अपने प्रमेय भेजे थे और उन दोनों ने बिना कोई राय दिये वे प्रमेय उन्हें लौटा दिये थे।

वस्तुत: रामानुजन की असाधारण प्रतिभा को भारत में ही पहचान लिया गया था। भारत में आरम्भ में अगर रामानुजन को सुविधाएँ नहीं मिली तो इसके कई बड़े कारण थे। वे निर्धन परिवार में पैदा हुए थे, पूरी तरह गणित में खोये रहने से कॉलेज या विश्वविद्यालय की शिक्षा पूरी नहीं कर सके थे; और अंग्रेज़ों द्वारा नियोजित उस समय की भारतीय उच्च शिक्षा-प्रणाली कैम्ब्रिज की शिक्षा की तरह लचीली नहीं थी।

फिर भी, इंगलैण्ड जाने के पहले ही चंद प्रभाव-शाली भारतीयों के प्रयासों से और अंग्रेज़ अधिकारियों की अनुकम्पा से रामानुजन के लिए मद्रास विश्व-विद्यालय ने छात्रवृत्ति की व्यवस्था कर दी थी और वे निश्चिन्त होकर शोधकार्य में जुट गये थे। इंगलैण्ड जाने के पहले ही 'इंडियन मैथमेटिकल सोसायटी' के

जर्नल में उनके कुछ शोध-निबन्ध प्रकाशित भी हो चुके थे।

परन्तु प्रोफेसर हार्डी के सानिध्य और सहयोग से रामानुजन की प्रतिभा तेज़ी से चमक उठी। गणित के कुछ विषयों पर, विशेषतः प्राकृतिक संख्याओं से संबंधित परिक्रमों और संख्या-सिद्धांत पर रामानुजन का असाधारण अधिकार था, परन्तु उच्च गणित के कई विषयों से वे लगभग अनभिज्ञ थे। अपने गहन चिंतन और अपनी अपूर्व अंतःप्रज्ञा से वे सीधे ही नतीजों पर पहुँच जाते थे, सूत्र या प्रमेय खोज लेते थे। परन्तु प्रमेय की उपपत्ति प्रस्तुत करना उनके लिए सहज संभव नहीं होता था।

इस दृष्टि से रामानुजन की प्रतिभा प्राचीन भारतीय गणित-परम्परा का ही प्रतिनिधित्व करती है। **आर्यभट, ब्रह्मगुप्त** और **भास्कराचार्य** जैसे महान भारतीय गणितज्ञों के पद्यबद्ध ग्रंथों में सूत्र और प्रमेय तो हैं, परन्तु उपपत्तियाँ नहीं दी गयी हैं। गणित का इतिहास इस सचाई का साक्षी है कि कुछ महान प्रतिभाएँ अपनी अन्तः प्रज्ञा की शक्ति से प्रमेयों का उद्घाटन कर देती है। गणितीय प्रमाण या उपपत्ति एक तकनीक है।

लेकिन आधुनिक पाश्चात्य गणित में उपपत्ति का बहुत ही महत्व है। पिछले करीब तीन सौ सालों में यूरोप के महान गणितज्ञों ने उपपत्ति की तकनीकों का खूब विकास किया है। रामानुजन को इन तकनीकों की समुचित जानकारी नहीं थी। कहा जा सकता है कि उनकी प्रतिभा को इनकी ज़रूरत भी नहीं थी। उन्हें तो इसकी भी स्पष्ट जानकारी नहीं थी कि यूरोप के गणितज्ञों ने क्या कुछ नया खोजा है। यही कारण है कि उनके प्रमेयों में कुछ ऐसे भी थे, जिन्हें पहले के गणितज्ञ खोज चुके थे।

ऐसी जन्मजात प्रतिभा को सँवारा प्रोफेसर हार्डी ने। दोनों की शिक्षा-दीक्षा और अवस्थाओं में ज़मीन-आसमान का अन्तर था। हार्डी का जन्म 1877 में हुआ था और रामानुजन का दस साल बाद 22 दिसम्बर 1887 को। हार्डी ने गणित की विधिवत उच्च शिक्षा प्राप्त की थी और जब 1914 में रामानुजन उनके पास पहुँचे तब वे संसार के एक श्रेष्ठ गणितज्ञ के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुके थे। दूसरी ओर, रामानुजन एफ० ए० में दो बार फेल होने के बाद आगे की पढ़ाई छोड़ देने को विवश हो गये थे। 22 साल की आयु में ही उनका विवाह भी हो गया था, जब कि हार्डी आजन्म अविवाहित रहे। रामानुजन आस्तिक थे, इंगलैण्ड की प्रतिकूल परिस्थितियों में भी खानपान की ब्राह्मण-प्रथाओं का कठोरता से पालन करते थे और अपना निरामिष भोजन स्वयं पकाते थे। हार्डी घोर नास्तिक थे, ईश्वर को अपना व्यक्तिगत शत्रु मानते थे।

लेकिन गणित के प्रति दोनों का दृष्टिकोण लगभग एक समान था। हार्डी विशुद्ध गणित के आराधक थे। वे उस गणित को विशुद्ध मानते थे, जो पूर्णतः निरुपयोगी हो। युद्ध से उन्हें घृणा थी, और शायद इसीलिए उपयोगी या युद्धोपयोगी गणित से उन्हें घृणा थी। रामानुजन भी विशुद्ध गणित के ही भक्त थे। दोनों की ही साधना का लक्ष्य था केवल गणित के लिए गणित की खोज करना। दोनों ही चाहते थे कि उनके गणितीय अनुसंधानों का युद्धोपयोगी साधनों के विकास के लिए कभी कोई उपयोग न हो।

लेकिन तथाकथित विशुद्ध गणित भी देर-सबेर उपयोगी बन ही जाता है। रामानुजन और हार्डी के गणितीय सिद्धांत भी धीरे-धीरे उपयोगी बनते जा रहे हैं। हार्डी के कुछ गणितीय सिद्धांतों का क्वांटम सांख्यिकी और आनुवंशिकी के क्षेत्रों में उपयोग हुआ भी है। रामानुजन का रीमान के जीटाफंक्शन से संबंधित अनुसंधान कार्य बेहतर वात-भट्ठियाँ बनाने में उपयोगी सिद्ध हुआ है। रामानुजन के कुछ गणितीय सिद्धांत परमाणु-ऊर्जा के क्षेत्र में भी उपयोगी साबित हो जायें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

रामानुजन की अधिकांश गवेषणाएँ संख्या-सिद्धांत यानी संख्याओं के गुण-धर्मों से संबंधित हैं। उनकी इन गवेषणाओं को गणित के विशिष्ट संकेतों का उपयोग

किये बिना समझना सम्भव नहीं। फिर भी प्रोफेसर हार्डी के सहयोग से विकसित किये गये उनके विभाजन सिद्धांत (पार्टीशन थियरी) का थोड़ा जिक्र यहाँ हम करना चाहेंगे। कोई भी घन पूर्णांक लीजिए। सवाल है—किसी घन पूर्णांक को अन्य पूर्णांकों के योग के रूप में कितने प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है? हम जानते हैं कि 3 को तीन प्रकार से, 4 को पाँच प्रकार से और 5 को सात प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है। लेकिन जैसे-जैसे संख्या बड़ी होती जाती है, वैसे-वैसे उसके विभाजनों की संख्या भी तेज़ी से बढ़ती चली जाती है। गणना से पता चला है कि संख्या 200 के 3972999029388 विभाजन संभव हैं। रामानुजन ने एक ऐसा फारमूला खोज निकाला, जिसकी सहायता से बड़ी से बड़ी संख्या के लगभग सही-सही विभाजनों की जानकारी मिल जाती है।

रामानुजन की गवेषणाएँ इसी कोटि की हैं। उनके जो शोध-निबन्ध यूरोप की पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए थे, वे एक संकलन के रूप में छप चुके हैं। रामानुजन के जीवन और कृतित्व पर प्रोफेसर हार्डी के बारह भाषण भी पुस्तक के आकार में उपलब्ध हैं। रामानुजन की तीन कापियाँ (नोटबुक्स) का फोटोस्टेट संस्करण बम्बई के 'टाटा इंस्टिट्यूट ऑव फंडामेन्टल रिसर्च' ने प्रकाशित किया है। तब से पिछले करीब तीन वर्षों में देश तथा विदेश के अनेक गणितज्ञों ने इन नोटबुक्स के प्रमेयों परअनुसंधान कार्य किया है। गणित की इस महान भारतीय प्रतिभा की अन्तःप्रज्ञा से उपजे ये प्रमेय आगे अनेक वर्षों तक संसार के अनेक गणितज्ञों के लिए अनुसंधान का विषय बने रहेंगे।

श्रीनिवास रामानुजन की जीवन-गाथा बड़ी करुण है। ईरोड (तमिलनाडु) के एक गरीब श्री वैष्णव ब्राह्मण परिवार में 22 दिसम्बर 1887 को उनका जन्म हुआ था। पिता कपड़े की एक दुकान में मुनीम थे। रामानुजन की हाईस्कूल की पढ़ाई कुम्भकोणम में हुई। मैट्रिक की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण करने पर उन्हें छात्रवृत्ति मिली। लेकिन दो बार प्रयास करने पर वे एफ० ए० नहीं कर पाये। 1909 में विवाह हुआ। उनकी पत्नी **श्रीमती जानकी अम्मा** (86 वर्ष) सौभाग्य से आज भी हमारे बीच मौजूद हैं।

पढ़ाई छूट जाने पर भी रामानुजन ने अपना गणितीय अनुसंधान जारी रखा। हितैषियों ने उनके लिए मद्रास पोर्ट ट्रस्ट के कार्यालय में 25 रुपये माह की नौकरी की व्यवस्था कर दी। इस दौरान उनकी असाधार प्रतिभा को पहचाना गया और मद्रास विश्वविद्यालय ने उन्हें छात्रवृत्ति प्रदान की। फिर जल्दी ही उनके इंगलैण्ड जाने की व्यवस्था भी हो गयी। इंगलैण्ड में वे पाँच साल रहे। लेकिन उनकी अपनी कठोर जीवनचर्या ने और इंगलैण्ड की प्रतिकूल जलवायु ने उन्हें तपेदिक (क्षयरोग) का मरीज बना दिया। मार्च 1919 में वे भारत लौटे। एक साल बाद 25 अप्रैल 1920 को 32 साल की छोटी उम्र में ही इस महान गणितज्ञ की मृत्यु हो गयी।

आमतौर पर महान गणितज्ञों की सृजनप्रक्रिया को समझने में काफी कठिनाई होती है। रामानुजन के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है। उनके बारे में कहा जाता है कि बहुत बार उन्हें स्वप्न में नये दर्शन होते थे। अपने आसपास के भौतिक जीवन को भूलकर पूर्णतः गणित में निमग्न होने पर ऐसा होना स्वाभाविक बात है। रामानुजन को गणित का एक महान द्रष्टा माना जा सकता है। दूसरी तरफ, उनकी कुछ मान्यताएँ बड़ी विचित्र थीं। आस्तिक तो थे ही, फलित ज्योतिष में भी आस्था रखते थे। उनका विश्वास था कि प्रत्येक व्यक्ति दिक और काल के एक बिन्दु में सुनिश्चित होता है। लेकिन ये उनके निजी विश्वास थे। महत्व की वस्तु है उनकी गणितीय प्रतिभा, जो हम भारतीयों के लिए प्रेरणा का एक महान स्रोत है।□□

('आज' से साभार)

नाभिकीय विस्फोट और भूकम्पीय तरंगें

कृष्ण प्रकाश त्रिपाठी

जब विस्फोट होता है तो ऊर्जा अनियंत्रित ढंग से और बड़ी तेज़ी से निर्मुक्त होती है। नाभिकीय विस्फोट में ऊर्जा नाभिकीय प्रक्रिया (विखंडन या संलयन) द्वारा उत्पन्न होती है। निर्मुक्त ऊर्जा अवयव नाभिकों, विखंडन या संलयन के बाद बने नाभिकों तथा बम कन्टेनरों को भी वाष्पित कर देती है। अत्यधिक दाब वाली ये गर्म ग़ैसें परिवेश (हवा, पानी या ज़मीन) पर कई तरह के प्रभाव छोड़ती हैं। साधारण रूप से चार तरह के विस्फोट होते हैं—हवा में (in air), ज़मीन के अन्दर (under ground), पानी के अन्दर (under water) तथा बाह्य वातावरण में (exoatmospheric)।

इन विस्फोटों के कई प्रभाव होते हैं: ध्वानिक (acoustic, पृथ्वी की सतह या निचले वायुमंडल में, कभी-कभी ऊपरी वायुमंडल यानि 15.3 किमी० से अधिक ऊपर विस्फोट होने पर), जलध्वानिक (hydroacoustic), पानी में विस्फोट होने पर, विखंडन के बाद बचा मलबा (जमीन के अन्दर, पानी में, धरातल पर, निचले वायुमंडल, कभी-कभी ऊपरी वायुमंडल में विस्फोट होने पर), भूकम्पीय असर, जब कभी विस्फोट से उत्पन्न ऊर्जा पृथ्वी में प्रवेश कर जाती है (पानी में, ज़मीन के अन्दर धरातल व निचले वायुमंडल में विस्फोट होने पर), रेडियो संकेतों की उत्पत्ति (विस्फोट से उत्पन्न विकिरण द्वारा विभिन्न दिशाओं में उत्पन्न विषमदैशिक आयनन), गामा किरणों व न्यूट्रानों का विकिरण (ऊपरी वायुमंडल में विस्फोट होने पर), विद्युत्-चुम्बकीय तरंगें (धरातल, निचले वायुमंडल, ऊपरी वायुमंडल, बाह्य अंतरिक्ष में विस्फोट होने पर), दृश्य प्रकाश (धरातल, निचले वायुमंडल, ऊपरी वायुमंडल, कभी-कभी बाह्य अंतरिक्ष में विस्फोट होने पर), एक्स-किरणें (धरातल, निचले वायुमंडल, ऊपरी वायुमंडल, बाह्य अंतरिक्ष में विस्फोट होने पर), पृथ्वी से काफी दूरी पर होने वाले विस्फोटों से उत्पन्न विकिरण आयनमंडल को सीधे ही नुकसान पहुँचाते हैं।

उपर्युक्त विक्षोभों द्वारा उत्पन्न भूकम्पों को भूकम्पलेखी (seismograph) द्वारा रिकार्ड किया जाता है। कभी-कभी तो एक ही भूकम्प से उत्पन्न ऊर्जा को नष्ट होने में घंटों लग जाते हैं। भूकम्पीय तरंगों को दो भागों में बाँटा जा सकता है: पिंड तरंगें (body waves) तथा पृष्ठ तरंगें (surface waves)। पिंड तरंगें पृथ्वी के अन्दर से होकर चलती हैं। ये दो तरह की होती हैं: (i) संपीडनी (आयतन प्रसार, अघूर्णी या प्राथमिक) तरंगें, जिनकी चाल सबसे अधिक होती है और कण तरंग संचरण की दिशा में ही गति करते हैं। (ii) अपरूपण (अनुप्रस्थ, घूर्णीय या द्वितीयक) तरंगें जिनकी चाल कम होती है तथा कण संचरण की दिशा के लम्बवत् कम्पन करते हैं। वायुमंडल या समुद्र में होने वाले बड़े विस्फोटों से ऐसी तरंगें पैदा होती हैं जो ज़मीन से होकर संचरित होती हैं। भूपटल की विषमांगता भूकम्पीय पिंड तरंगों में अपवर्तन, प्रकीर्णन व व्यतिकरण उत्पन्न करती हैं।

इन दोनों ही तरंगों के बाद पृष्ठ तरंगें पहुँचती हैं और वे भूकम्पलेखी पर अपेक्षाकृत बड़े आयाम का संकेत देती हैं। ये तरंगें एक ही अन्तरापृष्ठ (धरातल या एक या एक से अधिक आन्तरिक सांतत्यक) में ही

14, सर पी० सी० बनर्जी हॉस्टल, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

बद्ध रहती हैं और उसी में संचरित होती हैं। पृष्ठ तरंगें दो प्रकार की होती हैं। **रैले तरंगें** तथा **लव तरंगें**। रैले तरंगों में गतिमान कण संचरण तल में एक ऊर्ध्व दीर्घवृत्त बनाते हैं जबकि लव तरंग एक तरह से पृष्ठीय अपरूपण तरंग ही होती है जिसमें कणों की गति लम्बबत् दिशा में होती है (पृष्ठ के समान्तर व संचरण दिशा के लम्बवत्)। ज़मीन के अन्दर होने वाले विस्फोटों में लव तरंगें व पिंडीय अपरूपण तरंगें क्षीण होती हैं। रैले तरंगों की ऊर्जा दो दिशाओं में फैल जाती है। उनका आयाम त्रिविमीय अनुदैर्घ्य तरंगों से अधिक होता है, इसीलिए वे ज़्यादा हानिकारक होती हैं।

समुद्र में होने वाले ज्वालामुखीय विस्फोट से एक ही साथ वायु, जल तथा पृथ्वी में तरंगें उत्पन्न होती हैं। पनडुब्बियों से उत्पन्न भूकम्पों से गुरुत्वीय जल तरंगें (tsunamis) पैदा होती हैं जो स्रोत की विनाशकारी ऊर्जा को हज़ारों किमी० दूर समुद्री किनारों तक ले जाती हैं। ज्वालामुखी विस्फोटों के दौरान ज्वालामुखियों के पास रखे भूकम्पलेखी प्राय: कई लघु आयामी व तीक्ष्ण आघात रिकार्ड करते हैं। ये आघात कभी-कभी तो वास्तविक विस्फोटों (द्रष्ट या श्रवित) से सहसम्बद्ध किये जा सकते हैं।

क्राकातोआ में 27 अगस्त 1883 में हुए ज्वालामुखी विस्फोट तथा केन्द्रीय साइबेरिया के ऊपर हुए धूमकेत्वीय विस्फोट (30 जून 1908) से उत्पन्न विश्वव्यापी दाब संकेतों के कारण वायुमंडल में एक स्पंद तरंग उत्पन्न हुई थी। क्राकातोआ में हुए विस्फोट से समुद्र में पिघले लावा की बहुत अधिक मात्रा भर गयी थी। इससे उत्पन्न वाष्प से एक स्फोट-तरंग बनी थी जिससे 155 किमी० दूर स्थित बटाबिया द्वीप हिल गया था।

नाभिकीय विस्फोटों से बड़ी वायुमंडलीय तरंगें पैदा हो जाती हैं जिन्हें अत्यंत सुग्राही वायुदाबमापियों के विश्वव्यापी नैटवर्क पर रिकार्ड किया जा सकता है। वायुमंडल में उत्पन्न दाब तरंगों का संबंध स्थानीय भूकम्पों से होता है। पृष्ठ तरंगें ज़मीन के अन्दर होने वाले नाभिकीय विस्फोटों व वायुमंडलीय विस्फोटों से प्रेरित होती हैं। ज़मीन की हलचल से उत्पन्न दाब तरंगों के दौरान इसकी अवधि का इंजीनियरी महत्व है। इसका उपयोग भूकम्परोधी भवनों को बनाने में किया जा सकता है।

लव व रैले गति से युक्त तरंगों का एक जटिल समुदाय कानिकिन नाभिकीय विस्फोट से उत्पन्न पृष्ठ, तरंगावलि के बाहरी भागों में देखा गया था। पूर्वी क़ज़ाख़िस्तान में ज़मीन के अन्दर हुए विस्फोटों से उत्पन्न असंगत पृष्ठ तरंगों की भी सूचना मिली है।

वायुमंडल में होने वाले कुछ भयंकर विस्फोटों से समुद्री तरंगें प्रेरित हो सकती हैं। इन्हें विस्फोट के स्थान से अधिक दूरी पर देखा जा सकता है। समुद्री तरंगों द्वारा ऊर्जा वायु तरंगों से पानी में स्थानान्तरित हो जाती है, अनुनादी युग्मन (resonant coupling) द्वारा जब यह विक्षोभ समुद्र की ओर से उस स्थान की तरफ बढ़ता है। आन्तरिक समुद्र-गुरुत्व तरंगें जिनकी कला व ग्रुप वेग वायुमंडलीय ध्वनि-गुरुत्व तरंगों जैसा ही होता है, वायुमंडल से समुद्र में ऊर्जा स्थानान्तरण से प्रेरित हो सकती हैं।

नाभिकीय विस्फोट की लगभग पूर्ण निर्मुक्त ऊर्जा परिवेश की हवा में अत्यधिक शक्तिशाली प्रघात तरंगों के रूप में मिल जाती है। यह प्रघात तरंग बाहर की ओर संचरित होती है, हवा को चमकीला बनाती है और विस्फोट के एकदम पास आग का एक गोला सा बनाती है। यह तरंग लम्बी दूरियों तक त्रैज्यिक रूप से संचरित होती है तथा इसकी शक्ति घटती जाती है। यदि विस्फोट धरातल के बहुत पास ही होता है तो वहाँ प्रघात तरंग ज़मीन या पानी से सीधे ही मिल जाती है, नतीजतन ज़मीन में एक गड्ढा बन सकता है या फिर पानी में क्षणिक विक्षोभ या तरंगें पैदा हो सकती हैं। इन विस्फोटों में सबसे अधिक नुकसान प्रघात तरंगों द्वारा होता है। जब प्रघात तरंग किसी इमारत के ऊपर से होकर गुजरती है, तरंग में विद्यमान (व तरंग द्वारा उत्पन्न) दाब कुछ विशेष इमारतों को बहुत अधिक नुकसान पहुँचा

सकते हैं। दीप्तिमान आग के गोले से उत्पन्न प्रकाश तापीय प्रभाव छोड़ता है जो उद्भाषित पदार्थ (Exposed material) पर आपतित तापीय ऊर्जा की मात्रा पर निर्भर करता है। किसी विस्फोट के लिए, इकाई क्षेत्रफल की तापीय ऊर्जा दूरी के साथ विलोम रूप से घटती है, ऐसा वायुमंडलीय अवशोषण व प्रकीर्णन के कारण होता है। विकिरण की तीव्रता विस्फोट की ऊर्जा से समानुपाती संबंध रखती है। विस्फोट से उत्पन्न विकिरण की गामा तरंगें व न्यूट्रॉन मानव के लिए बहुत अधिक घातक होते हैं। यह मात्रा विस्फोट के स्थान से दूरी के साथ तेज़ी से घटती जाती है।

ज़मीन के अन्दर होने वाला नाभिकीय विस्फोट वाष्पीकृत ज़मीन व बम से अत्यधिक दाब पर बना अधिक गर्म गैसों का एक क्षेत्र उत्पन्न करता है जिससे पृथ्वी में एक प्रघात तरंग बनने लगती है। प्रघाती तरंगों में बहुत अधिक ऊष्मा होती है। ऐसे विस्फोटों से निर्मुक्त ऊर्जा का 90-95% भाग अवशिष्ट तापीय ऊर्जा के रूप में बचा रहता है।

यदि विस्फोट कम गहराइयों पर होता है तो प्रघाती तरंगें धरातल में छिद्र बनाकर निकलती हैं और निकलने वाली गैसों द्वारा मिट्टी व चट्टान की बड़ी मात्राएँ हवा में मिला दी जाती हैं। सूखी ज़मीन के अन्दर 1 मेगाटन के विस्फोट से 381 मीटर व्यास का तथा 45.7 मीटर गहरा गड्ढा बन जाता है। व्यास व गहराई ऊर्जा के घनमूल व चतुर्थ घात के क्रम के होते हैं। जैसे-जैसे गहराई बढ़ती जाती है, तापीय विकिरण व नाभिकीय विकिरण दोनों की मात्रा (ज़मीन पर नापी जाने वाली) तेज़ी से घटती जाती है। प्रघाती तरंग व छिद्रों के विस्तार से अप्रत्यास्थ विकृतियाँ पैदा होती हैं व समीप की चट्टानें टूटने लगती हैं। इन विस्फोटों से बड़े आयाम वाली (ज़मीन की) गतियाँ अचानक प्रारम्भ हो जाती हैं।

पानी में होने वाले नाभिकीय विस्फोट से अधिक दाब वाली वाष्प का बुलबुला बनता है जो पानी में बाहर की ओर चलने वाली शक्तिशाली प्रघाती तरंग उत्पन्न करता है। पानी में होने वाले विस्फोटों से पानी में बहुत अधिक दाब उत्पन्न होता है। यह दाब वायु में होने वाले विस्फोटों से उत्पन्न दाब से कहीं अधिक होता है यदि समान ऊर्जा वाले विस्फोट समान दूरियों पर नापे जायें।

गैस का बुलबुला पानी में बढ़ता जाता है और बार-बार फूटता है और उठने लगता है। सामान्य गहराइयों के लिए पृष्ठ पर अधिक तापीय विकिरण नहीं पैदा होता चाहे बुलबुला पृष्ठ में छिद्र करके बाहर निकले तब भी रेडियोधर्मी विखंडनीय उत्पाद पानी की सतह पर फैल जाते हैं। यह मलबा बहुत दूर-दूर तक बहुत जल्दी विक्षेपित हो जाता है तथा नतीजतन विकिरण की तीव्रता क्षीण होने लगती है।

पानी के अन्दर के विस्फोटों से विभिन्न सामुद्रिक क्षेत्रों की भूकम्पीय अपवर्तनी जानकारियाँ मिलती हैं। इन जानकारियों के विश्लेषण से पृथ्वी की विभिन्न पर्तों की स्थिति व मोटाई के बारे में तथा इन पर्तों में भूकम्पीय तरंगों की चाल का पता लगाया जा सकता है।

पृथ्वी के वायुमंडल के बाहर लेकिन इसके चुम्बकीय क्षेत्र के भीतर किये गये विस्फोटों से चुम्बकीय क्षेत्र तथा आयनित बम-टुकड़ों में तीव्र संक्रिया (interaction) होती है। बम-प्लाज़्मा की गतिज ऊर्जा चुम्बकीय क्षेत्र रेखाओं को अलग करने में होने वाले कार्य में बदल जाती है। बम का मलबा इन रेखाओं की दिशा में फैलता जाता है और पृथ्वी के वायुमंडल में भर जाता है जो अरुणोदय जैसा दृश्य पैदा करता है। विखंडनीय उत्पाद से उत्पन्न इलेक्ट्रॉन पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र में अच्छी तरह बन्द हो जाते हैं और बड़ी तेज़ी से पृथ्वी के चारों ओर पश्चिम से पूर्व की ओर फैल जाते हैं। ये इलेक्ट्रॉन एक तरह की कृत्रिम फान एलन विकिरण मेखला (Van Allen Radiation Belt) बनाते हैं।

भूकम्प के दौरान निर्मुक्त ऊर्जा का आकलन भूकम्पलेखी द्वारा प्रदर्शित ज़मीन की गतियों के आयामों को नापकर किया जा सकता है। परमाणु

बमों से उत्पन्न भूकम्पीय तरंगों को काफी दूर तक रिकार्ड किया गया है। परमाणु बम की ऊर्जा का छोटा सा भाग ही पृथ्वी में भूकम्पीय तरंगों के रूप में प्रवेश करता है। दूर स्थानों पर रिकार्ड की गयी प्राथमिक तरंगें (विखंडन बमों से उत्पन्न) लगभग वैसी ही होती हैं जैसी कि 5.5 परिमाण वाली भूकम्प तरंगें। लेकिन कुल निर्मुक्त ऊर्जा बड़े भूकम्पों की तुलना में थोड़ी ही होती है।

(**रिक्टर** ने भूकम्प के परिमाण (M) व निर्मुक्त ऊर्जा (E) के बीच एक संबंध स्थापति किया है।

$$\text{Log } E = 11.4 + 1.5\,M$$

जहाँ E अर्ग में तथा M माइक्रॉन में है।)

धरातल पर होने वाले विस्फोटों से निर्मुक्त अधिकांश ऊर्जा ऊष्मा व वायु दोलनों में खर्च हो जाती है। आकलन किया गया है कि जर्मनी में ओप्पो में 21 सितम्बर 1921 को हुए विस्फोट से निर्मुक्त रासायनिक ऊर्जा लगभग 6×10^{19} अर्ग थी जबकि धरातलीय दोलनों के रूप में विकिरित ऊर्जा लगभग 5×10^{16} अर्ग ही थी। हिरोशिमा पर गिराये गये बम से 20,000 टन TNT के बराबर ऊर्जा निर्मुक्त हुई थी। इस मात्रा के बराबर बम से निर्मुक्त ऊर्जा 8×10^{20} अर्ग होती है। बहुत बड़े भूकम्प से 8×10^{26} अर्ग ऊर्जा निर्मुक्त हो सकती है जिसकी तुलना एक मिलियन परमाणु बम से की जा सकती है। पत्थर निकालने के लिए खानों में किये जाने वाले विस्फोटों का परिणाम अधिक से अधिक 2 हो सकता है। बीकनी परमाणु बम के परीक्षण विस्फोट का परिमाण 5.5 आकलित किया गया था।

जब ज़मीन के अन्दर 5 या अधिक परिमाण के विस्फोट किये जाते हैं तो भूकम्पीय सक्रियता बढ़ती है। 6 या अधिक परिमाण के विस्फोटों से सक्रियता सबसे अधिक बढ़ती है और कई दिनों तक बनी रहती है। मसलन 6.4 परिमाण वाले बॉक्सकार विस्फोट से द्वितीयक-प्राथमिक गुनी सक्रियता बढ़ी जिसका मान 15 से 18 s के बीच था। 6.5 परिमाण का बेन्हॉम विस्फोट नेवादा क्षेत्र का सबसे बड़ा विस्फोट है। इसमें द्वितीयक-प्राथमिक समयान्तराल में 21—25 s सक्रियता वृद्धि प्रेक्षित की गयी थी।

नाभिकीय विस्फोटों के बाद बने आघातों (उत्पन्न झटकों) की संख्या प्राकृतिक रूप से आये भूचाल के बाद बने आघातों की संख्या से कम होती है। हॉफ बीक में हुए नाभिकीय विस्फोटों के बाद केवल 4 परिमाण वाले दो भूचाल आये थे जबकि प्राकृतिक भूचालों से 10-12 से ज़्यादा भूकम्पीय आघात महसूस किये गये थे।

विस्फोट से उत्पन्न झटकों के बारे में दो तरह की घटनायें देखी गयी हैं। एक तो प्राथमिक-द्वितीयक तरंगों (आवृत्ति = 10 हर्ट्ज या अधिक) द्वारा पहचानी जाती है। लगभग सभी स्थितियों में गति आयतन प्रसारी (Dilatational ही होती है। झटकों का यह क्रम प्राकृतिक भूचाल की तरह ही होता है। दूसरे किस्म की घटनायें, आकस्मिक प्राथमिक आगमनों व द्वितीयक तरंगों (आवृत्ति = 3—4 हर्ट्ज व पृष्ठ तरंगें दीर्घ अवधि की होती हैं) द्वारा पहचानी जाती हैं। इस स्थिति में पहली गति सदैव संपीडनी (Compressional) होती है और प्राकृतिक भूचालों जैसे झटकों से पृथक् होती है। इस तरह एक अलग ही किस्म की कार्यविधि प्रदर्शित करती हैं।

चूँकि विस्फोटों में उत्पादक बल मुख्य रूप से त्रैज्यीय होता है इसलिये ऊर्जा अधिकांशतः आयतन प्रसारी तरंगों (Dilatational) के रूप में विकिरित होती है। प्राकृतिक भूचाल से उत्पन्न गति किसी विस्फोट से उत्पन्न गति से कहीं अधिक जटिल होती है। विस्फोट में गति एक अचानक उठाव से शुरू होती है, इसके पीछे अपनी अक्ष पर घूमते ज़मीन के कम्पन आते हैं। धरातलीय विस्फोटों में वायु में बनी दाब तरंग (जो ज़मीन की गति के किनारे की ओर पहुँचती है) प्रायः हिलने (Shaking) की सबसे अधिक भयानक दशा होती है।□□

कंप्यूटर और उसकी पीढ़ियाँ

आशुतोष मिश्र

परिवर्तन हमारे जीवन का अभिन्न अंग है। चाहे वह हमारी परिस्थितियों में हो, चाहे हमारे विचारों में, अथवा हमारे कार्य करने की प्रक्रियाओं में, परिवर्तन द्वारा होने वाले प्रभाव दूरगामी होते हैं। ऐसा ही एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आज से हज़ारों वर्ष पूर्व लगभग 3000 ई० पू० में गिनतारे के बनने के साथ हुआ। **गिनतारा** एक अत्यन्त साधारण सा यन्त्र होता है जिससे बच्चे गिनना, जोड़ना, घटना आदि सीखते है। पहला गिनतारा रेत और पत्थर के छोटे टुकड़ों
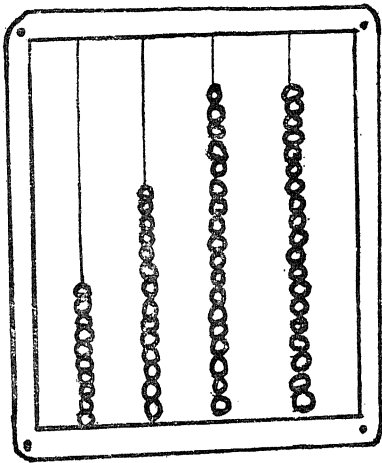
गिनतारा

चित्र 1

द्वारा निर्मित था। चाहे जितना भी साधारण रहा हो, यह मनुष्य द्वारा जोड़ने, घटाने आदि की मशीन बना सकने के सतत् प्रयास का प्रथम परिणाम था। फिर लगभग 500 ई० पू० में चीनियों ने तारों व लकड़ी के गुटकों को जोड़कर गिनतारे का परिष्कृत रूप ईजा़द करने में सफलता प्राप्त की। आज भी गिनतारे का यह प्रारूप नर्सरी कक्षाओं में देखा जा सकता है।

परन्तु मनुष्य को इन सबसे सन्तोष होता तब न। अतएव सन् 1643 में **ब्लेज़ पास्कल** ने जोड़-घटाने आदि का कार्य कर सकने वाली एक **गणक मशीन** (Calculator) बनाई। इसकी कार्य पद्धति अत्यन्त सामान्य थी। मशीन पर छोटे-छोटे चक्र थे और प्रत्येक चक्र की दस स्थितियाँ होती थीं। इसमें खाँचेदार पहियों द्वारा जोड़ने-घटाने का कार्य होता था। जोड़ना-घटना आदि तभी सम्भव है जब मशीन में कोई ऐसी युक्ति हो जिसके द्वारा "हाथ ली गई" (Carry over) संख्या को अगले दशमलव स्थान (Decimal place) में जोड़ा जा सके।

उदाहरणार्थ—

$$377+423$$

पास्कल की मशीन में—

सैकड़ा [Hundereds]	दहाई [Tens]	इकाई [Units]
3	7	7
4	2	3

इकाई के अंकों का योग 10 है। अतः मशीन 10 के शून्य को दर्शाएगी तथा एक छोटी युक्ति द्वारा दहाई का चक्र स्वतः एक स्थान आगे बढ़

25, अशोक नगर, इलाहाबाद

जाएगा और इस प्रकार दहाई के अंकों का योग भी $7+2+1=10$ होगा। ठीक इसी प्रकार सैकड़े के अंक भी जुड़ते हैं और मशीन उत्तर दर्शाती है—"800"।

पास्कल के यंत्र के पश्चात् ऐसे ही अनेक यंत्रों का निर्माण हुआ। यदि हम यहाँ **चार्ल्स बैबेज** का उल्लेख न करें तो यह ठीक नहीं होगा। वह एक अंग्रेज़ वैज्ञानिक तथा गणितज्ञ था तथा अपने जीवन काल में उसने दो विशाल संगणकों—**अन्तर इंजन** (Difference Engine) तथा **वैश्लेषिक इंजन** (Analytical Engine) का परिकल्पन व निर्माण किया परन्तु, **उसका दुर्भाग्य यह था कि सीमित साधनों के कारण वह इन मशीनों को वास्तविक रूप न दे पाया। फिर भी हम उसकी मशीनों को कंप्यूटर होने का गौरव अवश्य दे सकते हैं।** इन मशीनों में प्रोग्राम (Programming) की व्यवस्था थी—अर्थात् इन्हें कुछ विशेष चरणों में कार्य करने के लिए निर्देशित किया जा सकता था। वैश्लेषिक इंजन में निर्णय ले सकने की भी व्यवस्था थी जो आजकल के आधुनिक कंप्यूटरों में पायी जाती है। निवेश (Input) के लिए भी छिद्रित कार्डों (Punched cards) की व्यवस्था थी। निर्गम (Output) प्रिंटर के माध्यम से होता था। इसी समय **चार्ल्स बैबेज** की एक महिला मित्र **लेडी एडा ऑगस्टा** (जो कि **लार्ड बायरन** की पुत्री थीं) ने इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया। संभवतः वह विश्व की प्रथम कंप्यूटर प्रोग्रामक (Programmer) थीं। उसने इस विषय पर अत्यन्त गम्भीरता से विचार किया कि किस प्रकार गणितीय समस्याओं का हल सरल विधियों से निकाला जा सकता है। उनके सम्मान में अमेरिकी रक्षा मंत्रालय ने अतिविकसित कंप्यूटर भाषा का नाम एडा (ADA) रखा है। ऐसा विश्वास है कि यह भाषा भविष्य में अन्य सभी कंप्यूटर भाषाओं—कोबॉल, बेसिक आदि का स्थान ले लेगी।

चार्ल्स बैबेज ने जिन मशीनों की परिकल्पना की थी, उन्हें उस समय के उपलब्ध सीमित साधनों द्वारा बनाना संभव न था। इन मशीनों के लिए जो गियर बनने थे, उनके निर्माण में अत्यन्त निपुणता की आवश्यकता थी—चूँकि यह कार्य कुछ तकनीशियन ही कर सकते थे, इसलिए **बैबेज** अपनी मशीन पूरी न कर पाये। उसी समय एक अंग्रेज़ गणितज्ञ—**जार्ज बूल** (1815-1864) ने तर्कशास्त्र व गणितीय समस्याओं में सीधा सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया। उन्होंने ही O (शून्य) तथा 1 (एक) द्वारा तार्किक प्रमेय (Logical propositions) की गलत अथवा सही स्थिति को दर्शाया। **जार्ज बूल** को इस बात का श्रेय दिया जाता है कि उन्होंने गणित को एक नवीन दिशा प्रदान की जिसके फलस्वरूप आज आधुनिक कंप्यूटर का अस्तित्व सम्भव है। बीजगणित की एक शाखा को बूल के सम्मान में **बूलीय बीजगणित** (Boolean Algebra) कहते हैं।

इलेक्ट्रॉनिक कंप्यूटरों का जन्म

1936 में हारवर्ड विश्वविद्यालय के **हावर्ड एकन** ने वैद्युत्यांत्रिक रिले (electromagnetic relay) द्वारा बने कंप्यूटर का प्रारूप सामने रखा। चूंकि इस कार्य में बहुत खर्च आना था, इसलिए आई० बी० एम० [International Business Machines Corporation] ने आर्थिक सहायता प्रदान की। लगभग चार वर्षों के अथक परिश्रम के पश्चात् यह मशीन बनकर तैयार हुई जिसे ए० एस० सी० सी० [ASCC-Automatic Sequence Controlled Calculation] अथवा **हारवर्ड मार्क** I [Harvard Mark I] कहते थे। यह लगभग 15 मीटर लंबी तथा 2·4 मीटर चौड़ी थी। इसका भार लगभग दो टन था। पेन्सिलवेनिया विश्वविद्यालय के मूर स्कूल के दो इंजीनियर—**जॉन मॉक्ली** तथा **प्रेस्पर एकर्टन ने** कंप्यूटरों में निर्वात नलिकाओं (Vaccum tubes) के प्रयोग का विचार प्रस्तुत किया क्योंकि इनके द्वारा विभिन्न परिपथों का 'स्विचिंग काल' (Suitching time) सेकेंड के लाखवें भाग तक कम किया जा सकता था। इन दोनों शोधकर्त्ताओं ने एक तीव्र गति से कार्य करने वाला संगणक बनाया जो अमेरिकी सेना
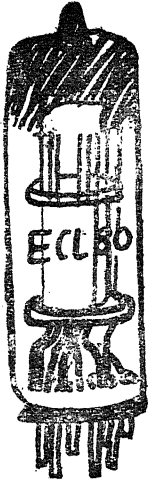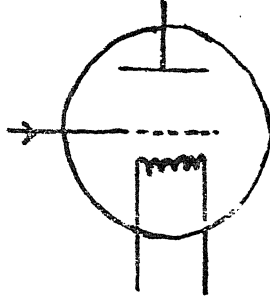
चित्र 2

को पसंद आ गया क्योंकि उस समय उन्हें एक ऐसी युक्ति की आवश्यकता थी जो तेजी से गणनाएँ कर सके (वास्तव में उस समय सेना फायरिंग सारणियाँ—Firing tables बना रही थी जिसमें जटिल गणनाओं की आवश्यकता होती है)। इसलिए सेना ने सहायता प्रदान की और 1946 में 'ईनिऐक' [Electronic Numeric Integrator and Automatic Calculator] बनकर तैयार हुआ। यह विश्व का सर्वप्रथम इलेक्ट्रॉनिक कंप्यूटर था। यह एक अत्यन्त विशालकाय मशीन थी जो कई कमरों में रखी जाती थी। चूँकि निर्वात नलिकाएँ जल्द गर्म हो जाती हैं, इसलिए पूरे कंप्यूटर को ठंडा करने के लिए वातानुकूलन की विशेष व्यवस्था होती थी। इसे कंप्यूटरों की पहली पीढ़ी के अंतर्गत गिना जाता है।

इसी समय **जॉन वॉन न्यूमैन** (1903-1957) ने "मैनिऐक" [Maniac Mathematical Analyser Numerical Integrator and Computer] के निर्माण में सहयोग दिया तथा 'रेडियो कॉर्पोरेशन ऑव अमेरिका' (RCA) के **जान रैचमैन के** साथ 'कोर मेमोरी' (Core Memory) का विकास किया। इस प्रकार की स्मृति (मेमोरी) का उपयोग यद्यपि आज-कल कम हो गया है परन्तु इसके विकास ने ही अन्य विचारों को जन्म दिया।

इस दौरान ब्रिटेन में भी इस विषय पर शोध हुआ—फलस्वरूप कैम्ब्रिज के **मौरिस विल्केस** ने अपने दल के साथ 'एडसैक' [EDSAC-Electronic Delay Storage Automatic Calculator] तैयार किया। पहली पीढ़ी के ये सभी कंप्यूटर विशालकाय होते थे तथा इनकी 'मेमोरी' भी विचित्र प्रकार की होती थी। इनका मुख्य उपयोग ऐसे वैज्ञानिक कार्यों में होता था जिनमें बहुत अधिक गूढ़ता और यथार्थता की आवश्यकता होती थी। इनमें मुख्यतः छिद्रित कार्डों (Punched cards) द्वारा निवेश (Input) किया जाता था। इस श्रृंखला के अन्य कंप्यूटर मैनचेस्टर मार्क I, फैरेन्टी मार्क I, आदि थे। 1951 में विश्व का ऐसा प्रथम कंप्यूटर बना जिसमें डेटा प्रोसेसिंग (Data Processing) की सुविधा थी। यह 'यूनीवैक' [UNIVAC-Universal Automatic Computer] कहलाया। इसके बन जाने से अत्यधिक मात्रा में जानकारी (data) एकत्रित कर पाना और उसका विश्लेषण कर पाना संभव हो सका।

कंप्यूटरों की दूसरी पीढ़ी

सन् 1955 से कंप्यूटरों की दूसरी पीढ़ी प्रारम्भ होती है। 1948 में ट्रांजिस्टर के आविष्कार से इलेक्ट्रॉनिकी के क्षेत्र में क्रान्ति आ चुकी थी। ट्रांजिस्टरों की मुख्य विशेषता यह है कि वे जल्दी गर्म नहीं होते, इनमें अधिक कार्य क्षमता होती है, स्विचिंग काल भी बहुत कम होता है। निर्वात नलिकाओं की अपेक्षा इनका आकार अत्यधिक छोटा होता है। कंप्यूटरों में ट्रांजिस्टर का उपयोग होने से उनमें बहुत से सुधार आये—वे आकार में छोटे हो गये, उनकी कीमतें गिर गईं और वे अधिक कार्यसक्षम हो गए। उनकी 'स्मृति' को भी सुधारा गया तथा उनमें 'चुंबकीय
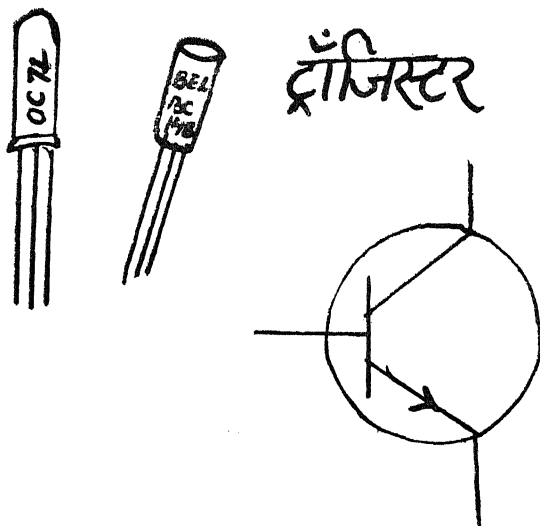
चित्र 3

डिस्क' व 'टेप' वाली स्मृतियाँ प्रयोग में लायी जाने लगीं। इसी समय प्रोग्रामन को फोर्ट्रान (Fortran) भाषा भी बनायी गयी। आई० बी० एम० श्रृंखला के कंप्यूटर इस पीढ़ी के मुख्य कंप्यूटर थे।

तीसरी पीढ़ी : 'चिप्स' की

1960 के आसपास कंप्यूटरों के क्षेत्र में महान क्रान्ति आयी। यह उस गुणकारी 'सिलिकॉन चिप' की देन थी जिसने ट्रांजिस्टरों का स्थान ले लिया इनका आकार बहुत ही छोटा होता है तथा एक छोटी। चिप हजारों ट्रांजिस्टरों के समतुल्य होती है। इसके द्वारा विभिन्न घटकों को तारों से जोड़ने की भी आवश्यकता नहीं रह जाती तथा कार्य क्षमता में असीमित वृद्धि होती है। कंप्यूटरों की 'मेमोरी' में भी 'चिप्स' तथा 'स्वीकृत परिपथों' [Integrated circuits] का प्रयोग होने लगा तथा ऐसे कंप्यूटर तीसरी पीढ़ी के कंप्यूटर कहलाये। 'Burroughs 5000' तथा 'IBM-360' इस तरह के मुख्य कंप्यूटर हैं।
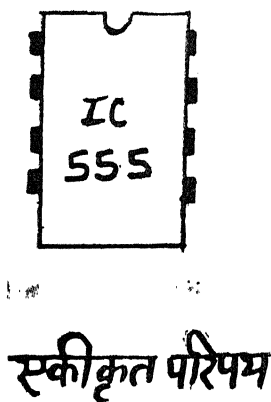
चित्र 4 और चित्र 5

चौथी पीढ़ी

सन् 1970 से चौथी पीढ़ी के कंप्यूटर अस्तित्व में आये। इनमें एक ही चिप पर पूरे माइक्रोप्रोसेसर (microprocessor) का उपयोग होता है तथा ये एक सेकेंड में दो मिलियन (20 लाख) निर्देशों का पालन कर सकते हैं।

पाँचवी पीढ़ी

ऐसा विश्वास किया जाता है कि पाँचवीं पीढ़ी के कंप्यूटरों में किसी प्रोग्रामन भाषा की आवश्यकता नहीं होगी तथा उनमें मात्र बोलकर ही निर्देश देना सम्भव हो सकेगा। यदि हम पहली, दूसरी तथा तीसरी पीढ़ी के कंप्यूटरों के आकर व गति की तुलना

करें तो पहली पीढ़ी के कंप्यूटर डायनोसॉर की भाँति होंगे, दूसरी पीढ़ी के कंप्यूटर हाथी की भाँति व तीसरी पीढ़ी वाले कंप्यूटर एक तेज़ शिकारी कुत्ते की तरह होंगे। इससे आप स्वयं इस क्षेत्र में हुई महान प्रगति का अंदाज़ लगा सकते हैं। अब तो कंप्यूटरों को अधिक से अधिक बुद्धिमान बनाया जा रहा है जिससे कि उनमें निर्णय लेने की क्षमता आ सके।

कंप्यूटर की परिभाषा

आइए, अब कंप्यूटरों की परिभाषा देखें—"**कंप्यूटर एक ऐसी मशीन है जो एकत्रित आँकड़ों का इलेक्ट्रॉनिक विश्लेषण करती है।**"

यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि कंप्यूटर स्वतन्त्र नहीं है। वह पूर्णरूप से मनुष्य पर आश्रित है। आप उसे आदेश दीजिए तो वह उसका पालन करेगा, अन्यथा नहीं। ऐसा कोई भी कंप्यूटर नहीं जो बिना एकत्रित आँकड़ों के कार्य कर सके। **आप यदि कंप्यूटर को बिना कुछ सिखलाये उससे 'न्यूटन के गति के नियम' पूछ लीजिए तो वह कुछ नहीं बतलाएगा।** वहीं दूसरी ओर यदि उसमें यान्त्रिकी के सभी सिद्धांत पहले से एकत्रित (Preprogrammed) हैं तो वह इस विषय के बारे में कुछ भी बतला सकता है। आम आदमी भले ही कंप्यूटर के बिना अपना काम चला ले, परन्तु एक आम कंप्यूटर भी मनुष्य के अभाव में पूर्णतया निष्क्रिय होता है। कंप्यूटर व मनुष्य के बीच होड़ प्रारम्भ हो चुकी है। यदि मनुष्य ने कंप्यूटर को अपने से भी अधिक बुद्धिमान बना दिया तो उसका प्रभाव अच्छा होगा या बुरा, यह भी कह सकना कठिन है। □□

फार्म/4 FORM IV

[नियम 8 देखिए (See Rule 8)]

1. प्रकाशन स्थान	विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद–211002
2. प्रकाशन अवधि	मासिक, प्रत्येक मास का 15 दिनांक
3. मुद्रक का नाम	श्री सरयू प्रसाद पाण्डेय
(क्या भारत का नागरिक है)	हाँ
पता	नागरी प्रेस, 186 अलोपीबाग, इलाहाबाद
4. प्रकाशक का नाम	डॉ० शिवगोपाल मिश्र
(क्या भारत का नागरिक है)	हाँ
पता	रीडर, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय
5. सम्पादक का नाम	डॉ० जगदीश सिंह चौहान
(क्या भारत का नागरिक है)	हाँ
पता	रीडर, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय
6. उन व्यक्तियों के नाम व पते जो समाचारपत्र के स्वामी हों तथा जो समस्त पूंजी के एक प्रतिशत से अधिक साझेदार या हिस्सेदार हों	विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद-2

मैं शिवगोपाल मिश्र एतद्द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिए गए विवरण सत्य हैं।

दिनांक 1–3–87

शिवगोपाल मिश्र

प्रधान मंत्री, विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद–2

अनुवाद की कठिनाइयाँ

अनिल कुमार शुक्ल

हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के माध्यम से विज्ञान-शिक्षा दिये जाने की आवश्यकता एवं महत्व को हर व्यक्ति स्वीकार करता है। सब लोग यह मानते हैं कि छात्रों में वैज्ञानिक शोधों एवं प्रयोगों के प्रति स्वाभाविक रुचि तब तक नहीं जागृत की जा सकती जब तक कि उन्हें, उनके विषय से संबंधित वैज्ञानिक नियमों व तथ्यों की जानकारी, उनकी अपनी भाषा में नहीं दी जाती। किसी विदेशी भाषा में शिक्षा प्राप्त कर **सी० वी रमण** और **जगदीश चन्द्र बोस** सा असाधारण व्यक्तित्व भी, अपवादस्वरूप भी उच्चकोटि की उपलब्धियाँ हासिल कर सकता है। ऐसी ही वैज्ञानिक उपलब्धियाँ हासिल करने के लिए और ऐसे ही असाधारण वैज्ञानिकों के निर्माण के लिए हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के माध्यम से, उच्चतम स्तर तक, विज्ञान-शिक्षा की व्यवस्था अपरिहार्य है।

पर हिन्दी व अन्य भारतीय भाषाओं के माध्यम से विज्ञान-शिक्षा की व्यवस्था कर पाने में राजनीति तथा आधिकारिक स्तर पर अनेक कठिनाइयाँ गिनाई जाती हैं। इनमें से कुछ कठिनाइयाँ तो वास्तविक हैं, पर अधिकांश काल्पनिक। सबसे प्रमुख कठिनाई विश्व की विभिन्न विकसित भाषाओं में प्रस्तुत वैज्ञानिक जानकारी को अपनी भाषा में उपलब्ध कराने की है। यों तो, हिन्दी में विश्व की सभी भाषाओं से आवश्यकतानुसार अनुवाद होता है, पर मुख्यतः अंग्रेजी को ही स्रोत भाषा के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। अतः यहाँ अंग्रेजी से हिन्दी में किये जाने वाले वैज्ञानिक अनुवाद से संबंधित कठिनाइयों का ही जिक्र किया जाएगा।

हिन्दी में वैज्ञानिक लेखन और अनुवाद की सबसे बड़ी कठिनाई उपयुक्त वैज्ञानिक शब्दावली की बताई जाती है। पर मेरी समझ से असली कठिनाई हिन्दी में तकनीकी (वैज्ञानिक) **पर्यायों का अभाव नहीं, बल्कि रचनाकारों द्वारा मनमाने पर्यायों का प्रयोग है**। यों तो हिन्दी में अनूदित प्रायः हर पुस्तक में ऐसे मनमाने प्रयोग देखने को मिलते हैं, पर यहाँ मीरप्रकाशन मास्को से 1986 में प्रकाशित 'ललित विज्ञान साहित्य' माला की एक पुस्तक **ऊर्जिकी: आज और कल** में प्रयुक्त कुछ शब्दों की ही चर्चा की जाएगी।

इस पुस्तक में पृष्ठ 10 पर Impulse शब्द के लिए **गतिमात्रा (आवेग)** पर्याय लिखा गया है, पर उसके बाद पूरी पुस्तक में बार-बार **गतिमात्रा** शब्द का प्रयोग किया गया है। हिन्दी में बहुप्रचलित **आवेग** शब्द से परिचित होने के बावजूद अनुवादक द्वारा **गतिमात्रा** जैसे अप्रचलित व अनुपयुक्त शब्द का प्रयोग, पाठकों की कठिनाई बढ़ाने वाला एवं अवांछनीय ही कहा जाएगा। इसी प्रकार Thermodynamics के लिए, पृष्ठ 23 पर और आगे भी प्रचलित शब्द **तापगतिकी** के बजाय **तापप्रवेगिकी** शब्द का प्रयोग है। पुनः इसी तर्ज पर **विद्युत् प्रवेगिकी** शब्द का प्रयोग किया गया है। Radioactive शब्द के लिए, अधिकांश हिन्दी लेखक, अब **रेडियो सक्रिय** या **रेडियो ऐक्टिव** शब्दों का प्रयोग करते हैं और पुराने हिन्दी पर्याय **रश्मि सक्रिय**

17 म्योर कॉलेज कॉलोनी, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

या **विकिरण सक्रिय** को उपयुक्त नहीं मानते। पर इस पुस्तक में **रश्मि सक्रिय** शब्द का ही प्रयोग किया गया है। Nuclearchain Reaction का प्रचलित हिन्दी पर्याय है **नाभिकीय श्रृंखल अभिक्रिया** पर इस पुस्तक में प्रयुक्त शब्द है **श्रृंखला नाभिकीय प्रतिक्रिया**। यहाँ Reaction के लिए प्रयुक्त 'प्रतिक्रिया' शब्द अत्यन्त भ्रामक, अतएव त्याज्य है। विज्ञानेतर संदर्भों में यह शब्द भले ही उपयुक्त हो पर इस संदर्भ में तो 'अभिक्रिया' ही उपयुक्त शब्द है। इस पुस्तक के पृष्ठ 45 पर नाभिकीय रिएक्टर की **प्रतिकारिता** का विवेचन है। यह 'प्रतिकारिता' कौन-सी बला है? इसे शायद अनुवादक भी न समझा पायें। Geothermal Energy के लिए पुस्तक के प्रारंभ में पृष्ठ 12 पर **भूतापीय (ज्यातापीय) ऊर्जा** का प्रयोग है पर बाद के पृष्ठों में इसे लगातार **ज्यातापीय ऊर्जा** ही कहा गया है। क्या इस शब्द—ज्यातापीय—की रचना में 'ज्या' शब्दांश Geothermal के Geo शब्दांश का ध्वन्यात्मक अनुकरण है? यदि हाँ, तो अंधानुकरण की यह प्रवृत्ति त्याज्य है, इसे निरुत्साहित करना ही हिन्दी के हित में है।

शब्दों के मनमाने एवं भ्रामक प्रयोग हिन्दी में अनूदित प्राय: प्रत्येक वैज्ञानिक पुस्तक में पाये जाते हैं। यह प्रवृत्ति पाठकों में हिन्दी की वैज्ञानिक पुस्तकों में पाये जाते हैं। यह प्रवृत्ति पाठकों में हिन्दी की वैज्ञानिक पुस्तकों के प्रति ऐसी रुचि पैदा कर देती है कि हिन्दी में प्रकाशित अच्छी पुस्तकों का भी पर्याप्त प्रसार एवं उपयोग नहीं हो पाता। अत: हिन्दी के विज्ञान-लेखकों एवं अनुवादकों को इस प्रवृत्ति से बचना चाहिए। प्रत्येक रचनाकार को वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग द्वारा निर्मित शब्दावली का ही प्रयोग करना चाहिए, ताकि पाठक उन शब्दों से परिचित हो सकें एवं उन्हें किसी प्रकार का भ्रम भी न हो। यद्यपि शब्दावली आयोग द्वारा स्वीकृत हिन्दी पर्यायों में भी सुधार की काफ़ी गुंजाइश है, पर यह सुधार व्यक्तिगत स्तर पर करने से भाषा में अव्यवस्था पैदा होती है। रचनाकारों को चाहिए कि वे ऐसे सुधारों को शब्दावली आयोग के माध्यम से लागू कराने की कोशिश करे। हाँ, जब तक शब्दावली आयोग नये पर्याय को स्वीकार न कर ले तब तक रचनाकार को नया पर्याय, पूर्व-स्वीकृत पर्याय के साथ-साथ कोष्ठक में लिखने की छूट दी जा सकती है।

उपर्युक्त शब्दों के प्रयोग के सवाल से ही जुड़ी दो और कठिनाइयाँ भी हैं, जिनका सामना हिन्दी विज्ञान लेखकों को करना पड़ता है। वे कठिनाइयाँ हैं—बड़े वैज्ञानिक शब्दों की संक्षिप्ति का प्रश्न एवं विदेशी शब्दों व नामों के देवनागरी में लिप्यंतरण की समस्या। जहाँ तक बड़े-बड़े वैज्ञानिक शब्दों की संक्षिप्ति का प्रश्न है यह एक अनुभूत सत्य है कि हिन्दी की प्रकृति इसके अनुकूल नहीं है। हिन्दी शब्दों की संक्षिप्ति का प्रयास प्राय: अत्यन्त भोंडा, हास्यास्पद, एवं कठिन हो जाता है। वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग, वैज्ञानिक व औद्योगिक अनुसंधान परिषद, राष्ट्रीय शोध विकास निगम आदि की संक्षिप्तियाँ, क्रमश: वै० त० श० आ०, वै० औ० अ० प०, रा० शो० वि० नि० पाठक की कठिनाइयाँ कम करने के बजाय और बढ़ा देती हैं। हाँ, यदि हम इन्हें अंग्रेजी शब्दों के संक्षिप्त रूपों के अनुसार प्रयोग करें तो अधिक सुविधा जान पड़ती है; जैसे—एस० टी० टी० सी०, सी० एस० आई० आर०, एन० आर० डी० सी० आदि। हिन्दी में वैज्ञानिक शब्दों की संक्षिप्ति का यह भोंडापन मीर प्रकाशन की उस पुस्तक **ऊर्जिकी : आज और कल** में भी द्रष्टव्य है। इस पूरी पुस्तक में ताप-विद्युत् केन्द्रों, जल-विद्युत केन्द्रों एवं परमाणु विद्युत केन्द्रों के लिए इनके संक्षिप्त रूप क्रमश: **ताविक**, **जविक** एवं **परविक** का प्रयोग है और इन संक्षिप्तियों को मूल शब्द मानते हुए वचन आदि विकारों से प्रभावित होने दिया गया है। यदि इस पुस्तक से वाक्यों के कुछ उद्धरण दिए जायँ तो संक्षिप्तियों की इस पृष्ठभूमि से अनभिज्ञ पाठक चौंक उठेगा। कुछ वाक्य द्रष्टव्य हैं—

यही कारण है कि ताविक विशाल जल स्रोतों के पास बनाए जाते हैं।

जबकि में नदी की ऊर्जा का उपयोग किया जाता है।

दुनिया के परविकों की कुल शक्ति 1980 में 10 करोड़ KW से अधिक थी।

इसी प्रकार की अनेक संक्षिप्तियाँ इस पुस्तक में हैं। जैसे—**ताविस, जज्र, प्रवैब्र, ज्वारविक, चुजप्र** आदि आदि। ये प्रयोग हिन्दी के पाठकों के लिए नये एवं अटपटे हैं। मुझे नहीं लगता कि हिन्दी में ऐसे प्रयोगों को स्वीकारा जा सकेगा। अतः फिलहाल ऐसे प्रयोगों से यथाशक्य बचने की ही सलाह दी जा सकती है।

जहाँ तक विदेशी शब्दों एवं नामों को देवनागरी में लिप्यंतरित करने की बात है, सारे रचनाकार अपने-अपने मनोनुकूल रास्ते अपनाते हैं। इस विषय में विद्वानों की एक मान्यता रही है कि यदि विदेशी शब्द लिए जायँ तो उन्हें यथासंभव मूल भाषा के उच्चारण के अनुरूप लिया जाय।

पर इन शुद्धतावादी विद्वानों का यह सुझाव अधिकांश रचनाकारों व पाठकों को पसंद नहीं। रचनाकारों एवं अनुवादकों के सामने भी मूल भाषा का शुद्ध उच्चारण ज्ञात न हो पाने की कठिनाई होती है। भारत में वैज्ञानिक विषयों के लेखक की जानकारी का मुख्य स्रोत प्रायः अंग्रेजी ही है। ऐतिहासिक कारणों से अंग्रेजी बहुत दिनों तक विश्व के एक बड़े भूभाग के ज्ञान-विज्ञान की भाषा रही है। अतः इसमें प्रायः हर भाषा के शब्द आकर मिले हैं। इन सभी शब्दों का मूल उच्चारण जान पाना किसी भी व्यक्ति के लिए अव्यावहारिक एवं असम्भव है। अतः मेरी भी दृष्टि में इन शब्दों के **शुद्ध एवं मूल उच्चारण के पीछे समय व शक्ति बरबाद करने के बजाय, अपनी भाषा की प्रकृति एवं उच्चारण की सुविधा के अनुसार, इन विदेशी शब्दों को लिप्यंतरित कर लेना चाहिए। हाँ शब्दकोशों एवं भाषा-वैज्ञानिक अध्ययनों के निमित्त, मूल भाषा के शुद्ध उच्चारणों का ज्ञान अनिवार्य है, और यहाँ किसी प्रकार के परिवर्तन या सुधार की गुंजाइश नहीं है।** उदाहरण के लिए हिन्दी में कुछ वैज्ञानिक शब्दों के लिप्यंतरण पर यहाँ विचार किया जा रहा है। विभिन्न वैज्ञानिकों के नाम, जिन्हें हिन्दी के लेखक अनेक प्रकार से लिखते हैं, वे हैं—Avogadro, Einstein Lavosier, Thomson आदि। Avogadro को हिन्दी में अवगाद्रो, एवगेद्रो, आवोगाद्रो, एवगेड्रो आदि न जाने कितने रूपों में लिखा और उच्चारित किया जाता है। इसी प्रकार Einstein को आइंस्टीन व आइंस्टाइन लिखा जाता है तो Lavosier के लेवोशिए, लेर्वाशये व लेवोजियर आदि रूप प्रचलन में हैं। Thomson को कभी टामसन लिखा जाता है तो कभी थामसन। मुझे लगता है कि इन्हें **अवग्राद्रो, आइन्स्टीन, लेवोशिए व थामसन** लिखना व बोलना अधिक व्यावहारिक होगा। पर चाहे जिस रूप में ये लिखे व बोले जायँ, वह ऐसा मानक रूप होना चाहिए कि हर लेखक केवल उसी का प्रयोग करे। मेरा सुझाव है कि हिन्दी में लिप्यंतरित कर प्रयोग करने के लिए स्वीकृत सभी वैज्ञानिक शब्दों एवं वैज्ञानिकों के नामों का मानक स्वरूप निश्चित करने की दिशा में ठोस प्रयत्न होने चाहिए तथा इन मानक रूपों की एक सूची लेखकों-अनुवादकों की सुविधा के लिए प्रकाशित कर देनी चाहिए। यह काम **विज्ञान परिषद इलाहाबाद अथवा वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग जैसी संस्थाओं को अपने जिम्मे लेना चाहिए। इस प्रकार की सूची के निर्माण एवं प्रकाशन की भूमिका तकनीकी हिन्दी के मानक स्वरूप के विकास में अत्यन्त महत्वपूर्ण होगी, ऐसा विश्वास है।**

पर समस्या केवल उपयुक्त हिन्दी पर्यायों के चयन तक ही सीमित नहीं है। समस्या की शुरुआत तो वैज्ञानिक विषयों के लिए उपयुक्त एवं अधिकारी लेखकों-अनुवादकों के चयन से ही हो जाती है। अनुवाद भी अपने आप में एक सृजनात्मक प्रक्रिया है, पर प्रायः इसे मौलिक लेखन से घटिया दर्जे का एवं अनुवादक को दूसरे दर्जे का रचनाकार समझा जाता है। यद्यपि मौलिक लेखन आसान और एक भाषा से दूसरी में अनुवाद कठिन होता है, तथापि अनुवादक को

मिलने वाला पारिश्रमिक एवं सम्मान, मूल रचनाकार से प्रायः कम ही होता है। यही कारण है कि समर्थ रचनाकार अनुवाद के बजाय मौलिक लेखन को प्राथमिकता देते हैं। पर इन सब कठिनाइयों के बावजूद न तो अनुवाद की महत्ता कम हुई है और न ही अनुवादकों का अकाल पड़ा है। पर उत्कृष्ट अनुवाद के लिए किसी अनुवादक में कुछ विशिष्टताओं का होना ज़रूरी है। जैसे—

(1) अनुवादक को अपनी भाषा का पूर्ण और सम्यक ज्ञान होना चाहिए, जिससे वह मूल लेखक की अभिव्यक्ति साफ-साफ शब्दों में और प्रभावपूर्ण ढंग से कर सके।

(2) उसे उस भाषा का भी अच्छा ज्ञान होना चाहिए जिससे उसे अनुवाद करना है।

(3) वह जिस पुस्तक (या लेख) का अनुवाद करने जा रहा है, उसकी विषयवस्तु से उसका अच्छा और गहरा परिचय होना चाहिए।

(4) जिस पुस्तक (या लेख) का अनुवाद करना है, उसके मुख्य विषय से संबद्ध और अनुपूरक विषयों का ज्ञान भी उत्कृष्ट अनुवाद में सहायक होता है।

पर हिन्दी में वैज्ञानिक विषयों के लिए जब हम इन विशेषताओं से युक्त अनुवादक खोजने चलते हैं तो प्रायः निराशा ही हाथ लगती है। इस समय देश में मौजूद विज्ञान विषयों के प्रायः सभी विशेषज्ञों की शिक्षा-दीक्षा में अंग्रेज़ी का ही प्रभुत्व है, अतः उन विशेषज्ञों से **अपनी भाषा के पूर्ण और सम्यक ज्ञान** की आशा करना (पहली विशेषता) ही बेमानी है। यद्यपि वैज्ञानिक विषयों के कुछ विशेषज्ञ अपनी भाषा हिन्दी की भी सम्यक जानकारी रखते हैं, पर केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय एवं सरकारी ग्रंथ अकादमियों की अनुवाद-योजनाओं तक उनकी पहुँच न हो पाने से अनुवाद-कार्य प्रायः ऐसे व्यक्ति को मिल जाता है जिससे अनूदित पुस्तक शुष्क, नीरस एवं उबाऊ हो जाती है और न बिक पाने के कारण सरकारी अकादमियों के गोदामों में सड़ जाती है।

यदि कभी संयोगवश अनुवाद कार्य किसी योग्य अनुवादक को मिल भी गया तो वैज्ञानिक विषयों के अनुवादक को अनेक ऐसी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, जो अन्य विषयों के अनुवादक को नहीं झेलनी पड़तीं। जैसे—वैज्ञानिक शब्दों के लिंग और वचन की समस्या, विदेशी शब्दों एवं नामों के लिप्यंतरण की समस्या, बड़े-बड़े वैज्ञानिक शब्दों की संक्षिप्ति का प्रश्न, तकनीकी शब्दों के लिए उपयुक्त क्रिया रूपों का चुनाव तथा उनके कृन्दत रूपों का निर्माण आदि। इन विशिष्ट कठिनाइयों के साथ कुछ ऐसी कठिनाइयाँ भी हैं जिनका सामना हर विषय के अनुवादक को करना पड़ता है। विराम चिह्नों का प्रयोग, प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष कथन एवं वाक्यों का गठन, ऐसी ही समस्याएँ हैं।

पर इन सबसे महत्वपूर्ण एवं उलझन भरी समस्या अनुवादक के लिए यह तय करना है कि—अनुवाद शाब्दिक हो या स्वतंत्र रूपांतर? साहित्य प्रेमी विद्वानों के लिए यह हमेशा ही एक विवादास्पद प्रश्न रहा है और इस पर कभी भी मतैक्य नहीं हो सका। हर व्यक्ति ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार एक या दूसरे का पक्ष लिया है और अपने मत के समर्थन में तर्क दिए हैं। कुछ विद्वान शाब्दिक अनुवाद के विचार को उपयुक्त मानते हुए यह घोषित करते हैं कि अनुवादक को अनुवाद करना चाहिए न कि नवरचना। पर यहाँ हम स्पष्ट कर दें कि अब तक का सारा विचार-विमर्श शुद्ध साहित्यिक कृतियों के अनुवाद संबंधी अनुभवों पर आधारित रहा है। शायद ही किसी ने कभी वैज्ञानिक पुस्तकों की अनुवाद संबधी कठिनाइयों को ध्यान में रखा हो। फिर मेरी समझ से अनुवाद के शाब्दिक या स्वतंत्र रूपांतर होने के प्रश्न से भी महत्वपूर्ण सवाल यह है कि प्रस्तावित अनुवाद किस पाठक वर्ग के लिए है? इस संदर्भ में एक और सवाल जो महत्वपूर्ण हो जाता है वह यह कि इस प्रस्तावित अनुवाद का प्रयोजन क्या है?

यदि अनुवाद का प्रयोजन मूल कृति के सामान्य ढाँचे, कथानक, भाषा आदि की विशेषताओं का

दिग्दर्शन कराना हो **तथा** वह अनुवाद यदि ऐसे अध्ययन में रुचि रखने वाले पाठकों के लिए किया जा रहा हो [जैसा कि पाठ्यक्रम में निर्धारित शुद्ध साहित्यिक कृतियों के संदर्भ में सही है] तो निश्चय ही यह अनुवाद **शाब्दिक** होना चाहिए। ऐसे अनुवाद में अनुवादक को मूल लेखक की भाषा व शैली संबंधी विशेषताओं को यथाशक्य प्रकट करने का प्रयत्न करना चाहिए। पर यदि अनुवाद का प्रयोजन मूल कृति की विषय सामग्री को सामान्य पाठक की जानकारी के लिए उपलब्ध कराना हो तो अनूदित कृति को इस रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास करना चाहिए मानों वह हमारी ही धरती पर लगाई गई पौध हो।

जहाँ तक वैज्ञानिक कृतियों के अनुवाद की बात है, उन कृतियों के भी दो स्पष्ट वर्ग हैं—पाठ्य पुस्तकें एवं लोकप्रिय विज्ञान लेखन। यहाँ हमें यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि इन पाठ्य पुस्तकों का लक्ष्य भी विद्यार्थियों को संबंधित विषयों के नियमों, तथ्यों एवं प्रयोगों को हृदयंगम् कराना मात्र होता है न कि उस भाषा की विशेषताओं व क्षमताओं का दिग्दर्शन कराना। इसी प्रकार लोकप्रिय विज्ञान (Popular science) की कृतियों का लक्ष्य जनोपयोगी वैज्ञानिक जानकारी को रोचक भाषा में आम लोगों तक पहुँचाना ही होता है। इस प्रकार हर वैज्ञानिक कृति का उद्देश्य वैज्ञानिक सत्यों एवं संभावनाओं से अपने पाठकों को परिचित कराना है। अब यह अनुवादक पर निर्भर है कि वह इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए शाब्दिक अनुवाद का सहारा लेता है या स्वतंत्र रूपांतर का। चूंकि इन अनूदित कृतियों के पाठकों को मूल रचना की भाषा, शैली, कथानक या प्रस्तुति के ढंग से परिचित कराने की कोई अनिवार्य बाध्यता नहीं है, अतः मेरी समझ में वैज्ञानिक कृतियों के अनुवाद का काम उस विषय के विशेषज्ञ को सौंपकर, उसे **अनुवाद की भाषा** (हिन्दी) की प्रकृति एवं गठन के अनुरूप **स्वतंत्र रूपांतर** की छूट दे देनी चाहिए। ऐसा स्वतंत्र रूपांतर उस अनूदित कृति के पाठकों को अपनी भाषा में लिखित मौलिक कृति सा ही आनन्द देगा।

हिन्दी में वैज्ञानिक विषयों के अनुवाद की अन्य कठिनाइयों, जैसे—शब्दों के लिंग और वचन की समस्या, उपयुक्त क्रियारूपों का चयन और उनके कृदंत रूपों का निर्माण, विरामचिह्नों का प्रयोग और प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष कथन तथा वाक्यों के गठन आदि पर विस्तार-भय से यहाँ विचार नहीं किया जा रहा है। 'विज्ञान' के आगामी अंकों में इन पक्षों पर अलग-अलग विस्तार से विचार किया जाएगा।

□□

सी० एस० आई० आर० के महानिदेशक का विज्ञान परिषद् में आगमन

सी० एस० आई० आर० के महानिदेशक डॉ० ए० पी० मित्र ने 16 जनवरी 1987 को विज्ञान परिषद् में पधारने की कृपा की। उन्होंने विज्ञान परिषद् का सभागार और पुस्तकालय देखा। परिषद् के सभापति डॉ० रामदास तिवारी और प्रधानमंत्री डॉ० शिवगोपाल मिश्र ने विज्ञान परिषद् की कठिनाइयों से उन्हें अवगत कराया। डॉ० मित्र ने ध्यानपूर्वक सभी बातें सुनीं और सहायता का आश्वासन भी दिया। परिषद् और अधिक कार्यक्षम हो सके इसके लिए अपने अमूल्य सुझाव भी दिये।

21 फरवरी 1927 को जन्मे डॉ० ए० पी० मित्र ने 1948 में प्रथम श्रेणी में एम० एस-सी० की परीक्षा उत्तीर्ण की और उन्हें कलकत्ता विश्वविद्यालय में सर्वोच्च स्थान मिला। अपने विद्यार्थी काल में आपको अनेक पदक एवं पुरस्कार मिले। बाद में आपने अनेक उच्च पदों की शोभा बढ़ाई और अपने उच्चस्तरीय शोध के फलस्वरूप देश और विदेश में अनेक सम्मान प्राप्त किये। अब तक आपके 142 शोधपत्र, 15 पुस्तकें/मोनोग्राफ प्रकाशित हो चुके हैं और 21 शोधकर्त्ताओं ने आपके निर्देशन में पी० एच० डी० की उपाधि प्राप्त की है।

स्वस्थ वैज्ञानिक परिवेश की तलाश

डॉ० शिवगोपाल मिश्र

हाल ही में 'वैज्ञानिक मूल्यों की समिति' (Society for Scientific Value) की स्थापना दिल्ली में की गई है। इसका मूल उद्देश्य उन कारणों का पुनरावलोकन करना एवं विचार-मंथन करना है जिनके कारण देश में पूँजी निवेश की तुलना में देश की वैज्ञानिक उपलब्धि नगण्य रही है। चूंकि घोषणा-पत्र में स्पष्ट कहा गया है कि विगत दशाब्दियों में देश में शायद ही कोई नवीन एवं महत्वपूर्ण खोज हुई है। समिति ने इसके कई कारणों का अंगुल्य निर्देश भी किया है—यथा वैज्ञानिकों के वेतन, उनके आवास, परिवहन, चिकित्सा आदि की असंतोषजनक एवं अपर्याप्त व्यवस्था। उसमें यह भी प्रश्न उठाया गया है कि आज जितनी भी सुविधाएँ उपलब्ध हैं, स्वतन्त्रता के पूर्व उतनी भी नहीं थी किन्तु तब देश में अत्यधिक वैज्ञानिक प्रगति हुई। ऐसा क्यों है ?

उत्तर भी दिया गया है—लगता है, कि **देश में स्वस्थ वैज्ञानिक परिवेश का अभाव है**। स्वस्थ वैज्ञानिक परिवेश की व्याख्या करते हुए कहा गया है, "स्वस्थ वैज्ञानिक परिवार वह है जिसके सदस्य न तो मनमाने दावे करते हैं, न धोखाधड़ी करते हैं, अपितु वे अपनी क्षमताओं से परिचित होते हैं। वे व्यवस्था को दोषी नहीं ठहराते, वे युवकों की बातें धैर्यपूर्वक सुनते हैं। उनमें भले ही व्यक्तिगत दुर्बलताएँ हों किन्तु समूह के रूप में वे अडिग रहते हैं। स्वतन्त्रता, मौलिकता, सहिष्णुता तथा असहमति—ये उनके मुख्य गुण होते हैं।

सचाई या सत्यता तो विज्ञान की रीढ है ही। विज्ञान मनुष्य-मनुष्य के बीच सेतु का काम करता है। वह उसे सम्मान एवं प्रतिष्ठा प्रदान कराता है। समिति के संस्थापकों का विश्वास है कि इससे राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण होगा। धोखाधड़ी, दिखावा, बेईमानी, उत्पीड़न, शोषण, राजनीतिक दाँव-पेंच, छल-छद्म का अन्त होगा। और चूंकि विज्ञान अन्तर्राष्ट्रीय होता है अतएव इससे विश्वबन्धुत्व स्थापित होगा।

निस्सन्देह देश में स्वस्थ वैज्ञानिक परिवेश की तलाश सामयिक एवं आत्म-निरीक्षण या पर्यालोचन की दिशा में महत्वपूर्ण कदम होगा। आइये इस पर दत्तचित्त होकर विचार करें—

जोसेफ नीढम ने 'चीन में विज्ञान और सभ्यता' नामक पुस्तक में लिखा हैं, "विज्ञान एक महान नदी के समान है जिसमें विभिन्न सांस्कृतिक परम्पराओं की सहायक नदियाँ मिल-मिल कर सहयोग प्रदान करती रही हैं।" न केवल चीन में अपितु अन्य देशों में भी सहिष्णुता की सांस्कृतिक परम्परा ने वैज्ञानिक विकास में सहयोग दिया है। विज्ञान का ध्येय समाज को सांस्कृतिक परम्परा से एकबद्ध होना है।

सुप्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक **डॉ० चन्द्रशेखर वेंकट रमण**, ने लिखा है कि यदि हम देश की आर्थिक समस्याओं का हल चाहते हैं तो उसका एकमात्र उपाय है कि हम जीवन में विज्ञान को अधिकाधिक स्थान दें। वे विज्ञान को संस्कृति का अभिन्न अंग भी मानते हैं। उन्होंने विज्ञान को 'सर्जनात्मक कला' (Creative art) भी कहा है।

रीडर, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

यदि हम स्वतन्त्रतापूर्वक भारत के वैज्ञानिक उत्थान पर एक दृष्टि डालें तो स्पष्ट हो जावेगा कि देश का वैज्ञानिक उन्नयन (विशेषतया बीसवीं शती के प्रारम्भिक पच्चीस वर्षों तक) भारतीय संस्कृति का ही सूचक था। बंगाल में एक नहीं चार-चार बड़े वैज्ञानिकों का उदय हुआ था। इनके नाम हैं— **डॉ० जगदीशचन्द्र बोस**, डॉ० **प्रफुल्लचन्द्र राय**, **डॉ० मेघनाद साहा**, तथा डॉ० **सत्येन्द्र नाथ बोस**। चाहें तो इसी में **डॉ० चन्द्रशेखर वेंकट रमण** एवं **डॉ० धर** का भी नाम सम्मिलित कर सकते हैं क्योंकि उनकी भी प्रारम्भिक कर्मभूमि बंगाल ही थी। केवल **डॉ० होमी भाभा** ही ऐसे वैज्ञानिक थे जिनका सम्बन्ध महाराष्ट्र से था। यदि इन स्रोतों से प्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिकों के जीवन में झाँका जाय तो पता चलेगा कि वे भारतीय संस्कृति से ओत-प्रोत थे। **डॉ० जगदीश चन्द्र बोस** सुप्रसिद्ध बंगला कवि **रबीन्द्रनाथ टैगोर** के साथी थे, स्वयं अच्छे कवि थे और बंगला में भी लेखन कार्य करते थे। विदेश से शिक्षा प्राप्त करने पर भी देश में ही, साधनों को जुटा कर वैज्ञानिक प्रयोग करते रहे, और देश के परतन्त्र होने के सारे दोषों का परिणाम भुगतते रहे। उनकी खोज को वह प्राथमिकता नहीं मिल पाई, जो मिलनी थी, न ही उनकी खोजों का उन्हें कोई लाभ मिल पाया। यह देश के लिए उनकी त्याग एवं कर्म की भावना का ही प्रतिफल था। इसी प्रकार आचार्य प्रफुल्ल चन्द्र राय को विदेश में रसायन की शिक्षा मिली किन्तु जब भारत लौटे तो कुर्त्ता-धोती पहनने लगे, और आजीवन परम्परागत भारतीय संस्कृति के पुजारी बने रहे। उन्होंने धन एकत्र करके भारत में रसायनिक उद्योग का सूत्रपात्र किया और प्राचीन भारत के रसायन का सुसम्बद्ध इतिहास भी लिखा। उन्होंने रसायन विज्ञान की परम्परा को भारतीय भूमि में खोजने का प्रयास किया। डॉ० मेघनाद साहा ने अपनी कठिन तपस्या से पहले इलाहाबाद को और फिर कलकत्ता को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। 1930 में ही देश के आर्थिक विकास में विज्ञान के उपयोग पर बल दिया था। डॉ० रमण ने भी तो देश के आर्थिक विकास के प्रसंग में विज्ञान के अधिकाधिक प्रयोग की बात कही थी। डॉ० साहा पहले वैज्ञानिक थे जिन्होंने देश की प्रजातांत्रिक प्रणाली में वैज्ञानिकों की विचारधारा को स्थान दिलाया। और डॉ० भाभा ने 1948 में 'परमाणु ऊर्जा आयोग' के अध्यक्ष के रूप में स्पष्ट कर दिया कि वैज्ञानिक देश के उत्थान में कितनी प्रमुख भूमिका निभाता है। डॉ० भाभा अत्यन्त सरल, भावुक, कवि हृदय, चित्रकार एवं संगीत प्रेमी वैज्ञानिक थे। वे विज्ञान के अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप को पहचान कर ही अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का समर्थन करते थे। इसीलिए देश में परमाणु ऊर्जा के विकास हेतु उन्होंने कनाडा, इंगलैंड, फ्रांस, अमेरिका जैसे देशों का सहयोग प्राप्त करने में कोई संकोच नहीं किया। उनकी भाव भूमि का क्षेत्र विश्वव्यापी था। एक सहज प्रश्न कुरेदा करता है कि आखिर स्वतन्त्रता के पूर्व हमार वैज्ञानिकों में वह कौन सी भावना थी या वह कौन सी प्रेरणा थी जिसने उन्हें महान तो बनाया ही, देश को प्रगति के मार्ग पर ला खड़ा किया।

इस संदर्भ में सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक **लार्ड बेकन** के निम्नलिखित शब्द अत्यन्त सारगर्भित प्रतीत होते हैं—

"किसी भी विज्ञान का उपयोग मन के आनन्द या सन्तोष के लिए या दूसरे से श्रेष्ठ बनने या यश लाभ, शक्तिलाभ, या अन्य तुच्छ बात के लिए नहीं होना चाहिए। इसका उपयोग मात्र जीवन के लाभ तथा उपयोग के लिए होना चाहिए। ज्ञान निःशुल्क दान होना चाहिए।" स्पष्ट है कि रमण, रामानुजन, साहा आदि में ज्ञान की प्रखर पिपासा थी और उनमें इतना **आत्मविश्वास** था कि वे छिद्रान्वेषण तथा मूल्यांकन से घबड़ाते नहीं थे। उन्हें अपने कार्य पर, अपने योगदान पर पूरा-पूरा विश्वास था। वे विश्व के बड़े से बड़े वैज्ञानिक के समक्ष अपने प्रयोगफलों को रख सकते थे। डॉ० साहा वे अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए 1935 में Science and Culture वैज्ञानिक पत्रिका निकाली जिसमें वे धड़ल्ले से अपने मुक्त विचार व्यक्त करते रहे। इसी प्रकार डॉ० रमण

ने 'इण्डियन एकेडमी ऑव सांइस' की स्थापना कर भारतीयों की कर्मठता, प्रबन्धक्षमता को उजागर किया। इन सारे वैज्ञानिकों में उपयोगी योजना बताया तथा उसे अपने साधनों और अपने श्रम से चलाने की अभूतपूर्व क्षमता थी।

शायद **पं० जवाहरलाल नेहरू** में विज्ञान के प्रति जो विशेष अनुराग था, वह इसी स्वस्थ भारतीय वैज्ञानिक परम्परा का प्रभाव था। उत्तर प्रदेश में **डॉ० सम्पूर्णानन्द** ने भी अपनी भारतीय वैज्ञानिक परम्परा के इसी शुद्ध एवं स्वस्थ दृष्टिकोण को प्रदर्शित किया। ये दोनों ही व्यक्ति विज्ञानी नहीं थे किन्तु भारतीय संस्कृति के ही ढाँचे में वैज्ञानिक विकास के समर्थक थे और देशभक्त तो थे ही।

इसी प्रसंग में दो कृषि विज्ञानियों का नाम लिया जा सकता है। एक हैं डॉ० धर जो साहा के खेमे के विज्ञानी हैं। उन्होंने उत्तर भारत में शोध की परम्परा स्थापित की और अपने सैकड़ों शिष्यों के द्वारा उसे समुन्नात बनाया। उन्होंने अपने गुरु आचार्य राय की भारतीयता तो ग्रहण की ही अपने वैज्ञानिक शोध में गाँधीवादी दृष्टिकोण को भी स्थान दिया। उन्होंने भारतीय किसानों के लिए उनके ही साधनों से खेतों को उर्वर बनाने की जो विधि दी वह अद्वितीय है। खेद हैं कि किन्ही कारणों से (जिन्हें उनके व्यक्तिगत दोष ही कह लें) डॉ० धर को वह सम्मान एवं प्रतिष्ठा नहीं मिली जो शुद्ध और मूलभूत विज्ञान के खोजियों को मिलनी चाहिए। **डॉ० स्वामीनाथन** दूसरे कृषिविज्ञानी हैं जो कृषि आनुवंशिकी के क्षेत्र में कार्य करके अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। उन्होंने देश में 'हरित क्रान्ति' का अवतरण किया। वे आधुनिक भगीरथ हैं जो कृषि की ज्ञान गंगा को भारत की भूमि में उतार कर लाये। आज भी वे उसी मनोयोग से कार्यरत हैं।

लेकिन हमारे देश में इस समय बहस छिड़ी है कि मूलभूत विज्ञान अधिक प्रयोजनीय है या सम्प्रयुक्त (व्यवहृत) विज्ञान। इस बहस से लाभ नहीं मिलेगा, हानि ही होनी है। इधर भारत के सुप्रसिद्ध रसायनविद् **डॉ० सी० एन० आर० राव** (बंगलोर) ने भारत की सामयिक वैज्ञानिक परिस्थिति का विहंगावलोकन करते हुए निराशा प्रकट की है। अन्तरिक्ष विज्ञान तथा परमाणु ऊर्जा के क्षेत्र में भारत ने जो प्रगति की है, उसको कुछ क्षणों के लिए भुलाकर आज जो वैज्ञानिक परिवेश भारत में व्याप्त है उससे किसी भी विचारक को घुटन का अनुभव होगा। आखिर क्या कारण है कि देश में वैज्ञानिक जनशक्ति का विश्व में तृतीय स्थान होते हुए, देश भर में राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं का जाल बिछा होने तथा एक सौ से अधिक विश्वविद्यालयों के होते हुए भी देश का वैज्ञानिक वातावरण क्षुब्ध है? ऐसा भी नहीं है कि वैज्ञानिक विदेश नहीं जा रहे, ऐसा भी नहीं है कि देश में वैज्ञानिकों को पुरस्कृत या सम्मानित नहीं किया जा रहा, ऐसा भी नहीं कि देश में हर वर्ष साइन्स कांग्रेस सम्मेलन नहीं होता, न तो ऐसा ही कि विश्वविद्यालयों में शोधकार्य बन्द हो गया है या ऐसा नहीं है कि देश के वैज्ञानिकों के शोध-निबन्धों के प्रकाशनों में कमी आई है, लेकिन जनसामान्य से लेकर एक-एक राजनेता तथा एक-एक चोटी का वैज्ञानिक यही कहता है कि देश में स्वस्थ वैज्ञानिक परिवेश का अभाव है। ऐसा क्यों है? डॉ० सी० एन० आर० राव ने इस दिशा में कुछ संकेत किये हैं। उन्होंने लिखा है कि प्रयोगात्मक विज्ञान बड़ा कष्टसाध्य है, विशिष्ट उल्लेखनीय प्रयोगों को सम्पन्न कर पाना अत्यन्त कष्टप्रद कार्य होता है। प्रयोगों के आकलपन में कठिनाई, प्रयोगों को चलाने में धनाभाव और न जाने कितने कष्ट सामने आते हैं लेकिन खोज से जो सुख मिलता है वह अनिर्वचनीय है और सारे कष्टों को भुला देने वाला है। वस्तुतः वैज्ञानिक को यही सुख—स्वान्तः सुख—प्रेरित करता है कि वह सारे कष्ट झेले। वह अपने राष्ट्र का अंग बनकर, कष्टों को झेल कर, अपने साथ सारे राष्ट्र को नई कृति, नई खोज देते हुए रोमांचित, पुलकित, आनंदित होता है। सचमुच विज्ञान मानव समाज का अभिन्न अंग होता है। खोजों से ही मानव समाज में सम्पन्नता, शान्ति एवं समदृष्टि आती है।

डॉ० राव का अभिमत है कि न तो हर समय, न ही हर राष्ट्र में, नोबेल पुरस्कार प्राप्त होने योग्य शोधकार्य चलते हैं, किन्तु ऐसे शोधकार्य तो होने ही चाहिए जिनसे टेक्नोलॉजी में महान परिवर्तन हो सके। रूस तथा जापान में यही हो रहा है, अमेरिका की बात छोड़ दें। हमें यह कहकर सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए कि हम यथाशक्ति प्रयास कर तो रहे हैं। हमें अपनी पूरी-पूरी क्षमताओं का प्रयोग कुछ विशेष क्षेत्रों में विशेष कार्यों के लिए करना चाहिए। उदाहरणार्थ, ऊर्जा संकट को हल करने में अन्य साधनों की ओर न मुड़कर केवल **सौर शक्ति** पर दत्तचित्त होना चाहिए। इसके लिए हमें उच्चकोटि के वैज्ञानिकों तथा इंजीनियरों की आवश्यकता होगी, जिनकी खोज हमारे देश के IIT में करनी होगी। हमारे देश में पेय जल की समस्या मुख बाये खड़ी है यदि गाँवों के लिए शुद्ध पेय जल की पूर्ति करा दें तो भारतीय वैज्ञानिकों का यह एक महान योगदान होगा। इसी तरह हमारे पास ईंधन की भी कमी है—ईंधन का विकल्प ढूंढ दें तो बहुत बड़ी समस्या हल हो सकती है।

हमें विज्ञान में विशिष्टता (Excellence) को वरीयता देनी है न कि मध्यम कोटि के चलताऊ शोध को। क्या अकेला व्यक्ति ऐसा कर सकेगा? आजकल व्यक्ति नहीं, एक टोली या समुदाय के कार्य को महत्व मिल रहा है। लेकिन क्या इसके लिए देश में अनुकूल वातावरण है?

हमें छुटपुट विशिष्टता प्राप्त नहीं करनी है। यह अपर्याप्त सिद्ध होगी। हमें तो एक सुदृढ़ आधार चाहिए। इसके लिए हमें दूर दृष्टि से दीर्घकालीन योजनाएँ बनानी होगी। विज्ञान शिक्षा प्रणाली में सुधार लाना होगा। तरुणों को स्कूल-स्तर से ही अनुप्राणित करना होगा जिससे वे विज्ञान की ओर उन्मुख हों—विज्ञान व्यवसाय को आकर्षक बनाना होगा जिससे लोग इधर आवें। उन्हें केवल भाग्य पर न छोड़ा जाय। तरुणों को प्रोत्साहन एवं सम्यक शिक्षा—साथ ही उन्हें काम करने की पूरी-पूरी छूट होनी चाहिए। हमें विदेशी सहायता की बाट नहीं जोहनी चाहिए। राष्ट्र के कर्णधारों को एवं व्यवसायिकों को इसके लिए प्रचुर आर्थिक सहयोग करना चाहिए। देश में ऐसे केन्द्रों की स्थापना हो जहाँ विशिष्ट अध्ययन हो सके। इनमें बहुआयामी पढ़ाई पर बल न हो। यद्यपि शोध के उपकरण महँगे पड़ते हैं लेकिन इसका यह भी अर्थ नहीं है कि सस्ते उपकरणों का प्रयोग करके समय नष्ट किया जाय। ऐसा करने पर मध्यम कामचलाऊ शोध होगा।

यदि इतना प्रबन्ध कर भी लिया जाय तो आज के भारत की सबसे बड़ी समस्या है अनुशासनहीनता। हमारे विश्वविद्यालयों तो इससे एक दशाब्दी से भी अधिक काल से पीड़ित हैं। सरकारी प्रयोगशालाओं में भी अनुशासनहीनता ने घर कर रखा है। वैज्ञानिक अधिक कार्य नहीं करना चाहते, अपनी पदोन्नति के लिए कार्य करते हैं। कभी-कभी झूठे तथ्यों को प्रकाशित करते हैं। सर्वत्र पदोन्नति न होने पर आत्महत्या तक कर लते हैं। अराजकता ने घर कर रखा है। अतएव एक आचार संहिता की आवश्यकता है। यह संहिता बल प्रयोग से नहीं वरन् स्वेच्छा से आचरण में बरती जाय।

यह भी आवश्यक है कि चुने लोगों को विशेष प्रशिक्षण के लिए देश में या विदेश में भेजा जाय। प्रतिभाशाली छात्रों को देश भर की प्रयोगशालाओं में कहीं भी कार्य करने की सुविधा दी जाय। राष्ट्रीय प्रतिभा खोज परीक्षा में साइंस टैलेन्ट के अन्तर्गत चुने गये प्रतिभाशाली छात्रों को विज्ञान के क्षेत्र में बने रहने पर बल दिया जाय। वैज्ञानिकों को रहने के लिए सारी सुविधाएँ दी जाय। यथासम्भव 'विज्ञान बस्तियाँ' 'बनाई जायँ। (देखें मई 1984 का **विज्ञान**) देश की सांस्कृतिक धारा से जुड़े रहने के लिए आवश्यक है कि राष्ट्रभाषा में विचार व्यक्त करने के लिए छूट हो, देश में ही इतने शोधपत्र छपें कि महत्वपूर्ण परिणाम पहले यहीं छपें। पीछे उनका अनुवाद हो। लोग गर्वित हों कि विज्ञान के क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा वैज्ञानिकों के बीच नहीं, अपितु नये से नया ज्ञान देने में हो। निजी स्वार्थ नहीं, देश या जन कल्याण हमारा लक्ष्य है।□□

पानी से H_2O तक

डॉ० महेन्द्र सिंह वर्मा

(गतांक से आगे)

तब **प्रीस्टले** ने अपने प्रयोग में **केवैंडिश** की ज्वलनशील हवा और अपनी अफ्लोजिस्टनकृत हवा को विद्युत् स्पार्क में विस्फोटित किया। कांच के बर्तन पर कुछ ओस जैसी बन गई थी। अप्रैल 1783 में **प्रीस्टले** ने **जेम्स वाट** को बतलाया कि बने हुए पानी की मात्रा दोनों गैसों की मात्रा के बराबर है। **वाट** ने इससे निष्कर्ष निकाला कि पानी दो गैसों, हाइड्रोजन तथा ऑक्सीजन का एक यौगिक है, कोई एकल वस्तु या तत्व नहीं है।

कितने आश्चर्य की बात है कि जिस वस्तु को हमारे विश्व के दार्शनिक और चिन्तक हज़ारों हज़ार साल तक एक तत्व मानते रहे वह वस्तु वैज्ञानिकों के हाथों में आकर एक यौगिक सिद्ध हुई। क्या इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि बिना प्रयोग अथवा अभ्यास के दर्शन और चिन्तन अधूरा है? वह सत्य से काफी परे रह जाता है?

उधर फ्रांस में **ए० लैवोशिए** भी इसी प्रकार के प्रयोगों में लगा हुआ था। प्रीस्टले के प्रयोग के विषय में पढ़कर या सुनकर ही वह सन्तुष्ट नहीं हुआ। उसने इसी प्रयोग को 1783 में पेरिस में दुहराया और प्रीस्टले की बात की पुष्टि की। लेकिन उस समय के अन्य लोग तो क्या, वैज्ञानिकों के लिए इस बात को स्वीकार कर पाना बहुत कठिन काम था। उनके विचार थे कि हमें जादू से यह विश्वास करने के लिए राजी किया जा रहा है कि पानी एक यौगिक है। उनके विचार से, जो पानी एक अत्यधिक प्रबल प्राकृतिक फ्लोजिस्टन विरोधी है, वह सर्वाधिक ज्वलनशील फ्लोजिस्टन का यौगिक कैसे हो सकता है?

वास्तव में **लैवोशिए** ने ज्वलनशील हवा का नाम हाइड्रोजन ग्रीक शब्द हुड्रो (Hudro) माने 'पानी' और जीनिस (Genes) माने 'से उत्पन्न' रखा। इसी प्रकार ऑक्सीजन का नाम ग्रीक शब्द ऑक्सस (Oxus) माने अम्ल तथा जीनिस (Genes) माने 'से उत्पन्न' रखा। असल में लैवोशिए का यह मानना था कि सभी अम्लों में ऑक्सीजन होती है। आज हम जानते हैं कि यह स्पष्टतः गलत धारणा थी।

लैवोशिए ने अनेक रासायनिक अभिक्रियाओं में भार में वृद्धि या हानि का मात्रात्मक अध्ययन किया। अतः उसकी स्वयं की धारणा रासायनिक नामकरण के नये निकाय उत्पन्न करने के काफी हद तक आधुनिक थी।

उन्नीसवीं शताब्दी का शुभारम्भ अंग्रेज़ वैज्ञानिक **डाल्टन** (1766—1844) के परमाण्विक मत की प्रस्तावना के साथ हुआ। उसने दावा किया कि सारे पदार्थ छोटे-छोटे अविभाज्य कणों से बने हैं, जिन्हें परमाणु कहते हैं। विभिन्न तत्वों के परमाणुओं के गुणधर्म अलग-अलग होते हैं किन्तु एक ही तत्व के सभी परमाणुओं के समान होते हैं। किसी रासायनिक अभिक्रिया में परमाणु परिवर्तित नहीं होते हैं। उसने तत्वों के परमाणु भारों को हाइड्रोजन परमाणु के भार

2/बी-5, शिक्षक आवास, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

को 1 (एक) मानकर संस्थापित किया। उसका मानना था कि हाइड्रोजन का एक परमाणु ऑक्सीजन के एक परमाणु से मिलकर पानी का एक अणु बनाता है। अतः उसने पानी का रासायनिक आण्विक सूत्र HO रखा।

1808 में **जे० गे लुसैक** (1778-1850), एक फ्रांसीसी रसायनज्ञ, ने प्रदर्शित किया कि विभिन्न तत्वों की तुल्य मात्राएँ आपस में संयुक्त होती हैं। उसके अनुसार समान ताप और दाब पर संयुक्त होने वाली गैसों के आयतनों में एक सरल अनुपात होता है और उत्पाद भी गैसीय है तो उसके आयतन के साथ भी एक सरल अनुपात होगा अर्थात्

आयतन हाइड्रोजन + आयतन ऑक्सीजन = 2 आयतन वाष्प (1)

डाल्टन के नियम कि परमाणु सरल अनुपात में संयुक्त होते हैं और **गे लुसैक** के नियम कि गैसें आयतनों के सरल अनुपात में संयुक्त होती हैं, को जानकर स्वेडिश रसायनज्ञ **बर्जेलियस** ने प्रस्तावित किया कि समान ताप और दाब पर गैसों के समान आयतन में परमाणुओं की संख्या समान होती है। अतः समीकरण (1) को लिखा जा सकता है—

2 परमाणु हाइड्रोजन + 1 परमाणु ऑक्सीजन = 2 परमाणु वाष्प (2)

यदि हम एक ही परमाणु वाष्प बनाना चाहें तो

1 परमाणु हाइड्रोजन + $\frac{1}{2}$ परमाणु ऑक्सीजन = 1 परमाणु वाष्प (3)

लेकिन **डाल्टन** के अनुसार परमाणु अविभाज्य होता है। अतः ऑक्सीजन का आधा परमाणु स्थिर नहीं रह सकता। इस परेशानी को 1811 में इतालवी वैज्ञानिक **आवोगाद्रो** (17~6-1856) ने दूर किया। उसके अनुसार--समान ताप और दाब पर गैसों के समान आयतन में अणुओं की संख्या समान होती है। ये अणु चाहे एकल परमाणुओं के बने हों या दो या अधिक समान या विभिन्न परमाणु के। वास्तव में यह कल्पना करना कि अणु दो परमाणुओं का बना भी हो सकता है, **आवोगाद्रो** का एक क्रान्तिकारी और साहसी कदम था। अब समीकरण (1) को निम्न प्रकार लिखा जा सकता है—

2 अणु हाइड्रोजन + 1 अणु ऑक्सीजन = 2 अणु वाष्प (4)

यदि एक ही अणु वाष्प बनाना हो तो

1 अणु हाइड्रोजन + $\frac{1}{2}$ अणु ऑक्सीजन = 1 अणु वाष्प (5)

अर्थात् आधुनिक रासायनिक भाषा में समीकरण (5) को लिख सकते हैं—

$$1\ H_2 + \frac{1}{2}\ O_2 = 1\ H_2O$$

$$\text{या } H_2 + \frac{1}{2}O_2 = H_2O \qquad (6)$$

अतः पानी का रासायनिक आण्विक सूत्र H_2O होना चाहिए न कि डाल्टन द्वारा प्रस्तावित HO.

1860 में, पश्चिम जर्मनी के शहर कार्लस्रूहे में प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय रासायनिक कांग्रेस सम्मेलन हुआ, जहाँ पर रासायनिक मतों में प्रस्तुत उलझनों को दूर करने का प्रयास किया गया। **एस० कैनीजारो,** जो एक प्रसिद्ध इतावली रसायनज्ञ था, ने आवोगाद्रो की परिकल्पना का प्रबल समर्थन किया और कहा, "देखिए, यह सब कितना आसान है? कुल मिलाकर हमको जो मानना है वह यह कि अणु बनाने के लिए भिन्न-भिन्न तत्वों के परमाणुओं का मिलना आवश्यक नहीं है, वरन् यह आवश्यक है कि अणु बनाने के लिए कम से कम दो परमाणु मिलें। इस तरह ऑक्सीजन का एक अणु उसके दो परमाणुओ से बनता है।" **कैनीजारो** के अनवरत प्रयासों को अन्ततः मान्यता मिल गई और **आवोगाद्रो** की आण्विक धारणा को अन्ततोगत्वा स्वीकार कर लिया गया।

इस तरह अब पानी से H_2O तक की यात्रा कभी सड़क और कभी झाड़ियों तथा जंगलों से गुजरती हुई समाप्त हुई। (समाप्त)

□□

समन्वय रसायन के इतिहास का एक अछूता अध्याय

डॉ० एम० एस० वर्मा

आज अधिकांश रसायनविद् स्विस रसायनज्ञ **ए० वर्नर** (1866-1919) के कार्य के महत्व तथा प्रकृति से भलीभाँति परिचित हैं, चाहे उनकी निपुणता रसायनशास्त्र के किसी भी क्षेत्र में हो। वास्तव में, रसायन का हर विद्यार्थी उनके 'समन्वय सिद्धान्त' के प्रमुख पहलुओं से परिचित करा दिया जाता है, लेकिन डैनिश रसायनज्ञ **एस० एम० जोरगेंसन** (1837-1914) का नाम संकुल रसायन के विशेषज्ञों के अतिरिक्त कोई नहीं जानता।

इस बात को बहुत कम लोग जानते हैं कि **वर्नर** का नया तथा क्रान्तिकारी सिद्धान्त, कोपेनहेगेन विश्वविद्यालय (डेनमार्क) के रसायनशास्त्र के **प्रोफेसर जोरगेंसन** के द्वारा वर्षों तक कठिन परिश्रम तथा सतर्कतापूर्वक एकत्र किए गए आँकड़ों पर आधारित था। यहाँ तक कहा जाता है कि यदि **जोरगेंसन** ने अत्यधिक विश्वसनीय आँकड़े प्रदान न किए होते तो **वर्नर** का समन्वय सिद्धान्त कभी भी प्रतिपादित न होता।

कुछ पुरातन छिटपुट शोधों के अलावा, **जोरगेंसन** ने अपना सारा जीवन कोबाल्ट, क्रोमियम, रेडियम तथा प्लैटिनम के समन्वय यौगिकों के अन्वेषण में लगा दिया। इसी कार्य पर उसकी सारी प्रसिद्धि आधारित है। 1878 से 1906 तक किया गया यह कार्य एक अन्तर्बद्ध और अटूट शृंखला के रूप में मिलता है। **जोरगेंसन** ने पिंग (luteo), नीललोहित (purpureo), आरक्त (roseo), हरित (praseo), बैंगनी (violeo), पीत (Croceo) तथा फ्लैवो (flavo) आदि रंगों के संकुलों का अध्ययन किया तथा उनके गुण धर्मों तथा संरचना की व्याख्या अपने गुरु स्वीडन के प्रसिद्ध रसायनशास्त्री **सी० डब्ल्यू० ब्लोमस्ट्रैंड** (C. W. Blomstrand, 1826-1897) द्वारा प्रस्तावित शृंखला सिद्धान्त के आधार पर की।

जोरगेंसन के विचार 1891 तक निर्विवाद रूप से राज्य करते रहे, जब तक कि 26 वर्षीय **वर्नर** ने अपना शोधपत्र "Beitrage our Theorie der Affinitat and Valeng" अर्थात् "बन्धुता तथा संयोजकता के सिद्धान्त के लिए योगदान" प्रकाशित नहीं किया। इसके बाद दोनों वैज्ञानिकों के बीच जो विवाद उठ खड़ा हुआ, वह रसायनशास्त्र के इतिहास में एक बहुत ही उत्तेजक तथा रोचक अध्याय है। यह आज भी एक आदर्श वैज्ञानिक चर्चा के उदाहरण के रूप में जाना जाता है।

जोरगेंसन के कार्य के इतने अधिक महत्व के बावजूद, उसकी जीवनी के आँकड़े सन्तोषजनक रूप से उपलब्ध नहीं हैं। जो कुछ बिखरे पड़े आँकड़े मिल पाए हैं, उन्हीं को एक सूत्र में पिरो कर यह लेख तैयार किया गया है।

सोफ़स मैड्स जोरगेंसन (Sophus Mads Jorgensen) का जन्म 4 जुलाई 1837 में डेनमार्क के स्लेजेल्से नामक स्थान पर हुआ था। उसकी बचपन में पढ़ाई स्लेजेल्से में हुई और बाद में सोरो वेलविली में। यहाँ पर एक बहुत ही समर्पित शिक्षक **एफ० जोन्स्ट्रप** (F. Johnstrup) से उसको रसायन पढ़ने की प्रेरणा मिली। असल में, जोन्स्ट्रप रविवार को भी अपनी प्रयोगशाला में कार्य करते थे तथा अपने पुराने विद्या-

रसायन अध्ययनशाला, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

र्थियों को भी इस दिन कार्य करने देते थे। **जोरगेंसन** ने इस अवसर का खूब लाभ उठाया।

सन् 1857 में स्नातक होने के बाद, **जोरगेंसन** ने कोपेनहेगेन विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया। सन् 1869 में वहीं से अपनी डॉक्टरेट की डिग्री प्राप्त की। सन् 1871 में, उसी विश्वविद्यालय में अध्यापक बने तथा 1887 में रसायन के प्रोफेसर। अपनी सेवानिवृत्ति, जो 1908 में हुई, तक वह इसी पद पर रहे। 1914 में उनका निधन हो गया।

अपने 41 वर्ष के शिक्षण काल में **जोरगेंसन** ने डेनमार्क के सभी रसायनज्ञों पर अपना प्रभाव छोड़ा, फलस्वरूप उनका एक अलग स्कूल ही बन गया। **ओ० टी० क्रिस्टेंसन, ई० कोफोड, एन० बैरूम** तथा **एस० पी० एल० सोरेंसन** जैसे उत्कृष्ट लोगों ने अपने शोधजीवन की शुरुआत उन्हीं के निर्देशन में की।

जोरगेंसन सदैव ही परिकल्पनाओं की अपेक्षा तथ्यों को अधिक महत्व देते थे। यह बात उनके वर्नर के साथ उठे विवाद से साफ जाहिर है। **बैरूम** लिखते हैं, "**जोरगेंसन** अपने शिष्यों को स्मरण दिलाया करते थे कि परमाणविक सिद्धांत यद्यपि बहुत सारे तथ्यों की व्याख्या करने तथा उनका परस्पर सम्बन्ध बतलाने के लिए एक उपयोगी तथा प्रभावशाली धारणा है, किन्तु फिर भी, परमाणुओं को वास्तविक वस्तु नहीं मानना चाहिए।"

हालांकि **जोरगेंसन** प्रभावशाली वक्ता नहीं थे, फिर भी अपनी रुचि के विषय में श्रोताओं को निमग्न रखते थे। उदाहरणार्थ, **लैवोशिए** के जीवन और कार्य पर दिए गए व्याख्यान विद्यार्थियों पर बहुत गहरा प्रभाव छोड़ते थे। अपने शिक्षण में वह केवल रसायन का ही गहन ज्ञान नहीं कराते थे, बल्कि समग्र विज्ञान के प्रति प्रेम व आदर प्रकट करते थे।

अपनी पुस्तकों के माध्यम से **जोरगेंसन** ने अपने शिक्षण के प्रभाव को अपने स्वयं के विद्यार्थियों के दायरे से बाहर भी प्रसारित किया। उनकी कृतियों में भी उसी विशेष सम्पूर्णता का आभास मिलता है जो उनकी प्रयोगशाला के अन्वेषणों में मिलता है। संभवतः उनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध पाठ्य-पुस्तक "Remiens Grundbegreben" (Fundamentals of Chemistry) अर्थात् 'रसायन के मूलतत्व' है, जो 1902 में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक के 200 पृष्ठों में ही **जोरगेंसन** ने रसायन की आधारभूत धारणाओं के सार के साथ ही उसके विकास का विवरण भी दिया है। इस छोटी सी पुस्तक का अनुवाद कई भाषाओं में हो चुका है जिसमें जर्मन (1903), इतालवी (1904), ग्रीक (1904) तथा अंग्रेज़ी (1908) शामिल हैं।

जोरगेंसन एक व्यवस्थित, विचारवान और सतर्क शोधकर्त्ता थे। यद्यपि वे अपने नित्य के कार्य को अपने सहायकों को दे सकते थे, लेकिन वे हर विश्लेषण को स्वयं करने पर जोर देते थे। सम्पूर्णता के लालच में वे दिन रात कार्य करते थे। वास्तव में समन्वय रसायन जगत् उनके बहुत से मूल प्रयोगात्मक तथ्यों के लिए उनका ऋणी है।

इसके विपरीत, **वर्नर** एक जल्दबाज शोधकर्त्ता थे जो पुराने मात्रात्मक तरीकों की बजाय पोर्सेलिन प्लेटों तथा वाचग्लासों के उपयोग से गुणात्मक विश्लेषणों को अधिक प्रसन्द करते थे। **वर्नर** के आवेगशील स्वभाव की ओर संकेत करने के लिए एक घटना सुनाई जाती है। कहा जाता है कि एक बार जब **वर्नर** के प्रोफेसर **हांत्श** (Hantzsch) ने कहा की शीघ्र ही एक शोधपत्र लिख दो तो **वर्नर** सिगारों का एक डिब्बा लेकर एक कमरे में बन्द हो गए और तब निकले जब सारा शोधपत्र पूर्णतः लिख गया। इस बीच सिगार का डिब्बा खाली हो गया।

अनेक प्रसिद्ध रसायनज्ञों की तरह **जोरगेंसन** सिर्फ प्रयोगशाला में किए गए मूल कार्य से ही संतुष्ट नहीं होते थे, वरन् वे रसायन के ऐतिहासिक विकास में भी उत्कट रुचि रखते थे। ऐतिहासिक विकास के क्षेत्र में भी उनका अध्ययन उतना ही उत्साहवर्धक तथा सम्पूर्ण था जितना प्रयोगशाला के अन्वेषणों में। दुर्भाग्य से, उनके सारे अन्वेषण प्रकाशित नहीं हो पाए।

जोरगेंसन के इसी प्रबल इतिहासबोध ने उन्हें **वर्नर** की नयी थिअरी को रासायनिक संरचनाओं की थिअरियों के विकास में अनावश्यक अवरोध मानने के लिए मजबूर किया। उन्होंने इसे तदर्थ व्याख्या माना, जिसमें प्रयोगात्मक प्रमाणों की कमी थी।

यद्यपि आज उन्हें लोग लगभग भूल से गए है, किन्तु यह एक तथ्य है कि उनके कार्य ने उनके समकालीन बहुत से रसायनज्ञों में इस विषय के प्रति रुचि पैदा की। सन् 1906 में, फ्रांस की विज्ञान अकादमी ने उन्हें अपने '**लैवोशिए पदक**' से सम्मानित किया। सन् 1907 के प्रारम्भ में **एच० मॉइसाँ** ने, जो वर्ष 1906 के '**नोबेल पुरस्कार**' का विजेता थे, 'नोबेल कमेटी' के लिए एक प्रस्ताव बनाया, जिसमें अगले वर्ष रसायन में '**नोबेल पुरस्कार**' के लिए **जोरगेंसन** के नाम का मनोनयन किया था। दुर्भाग्य से, उसी वर्ष के अन्त में **मॉइसाँ** का देहावसान हो गया और वह प्रस्ताव कभी भी विचारार्थ प्रस्तुत नहीं किया जा सका।

यद्यपि **जोरगेंसन** ने अणु-संरचना की अपनी स्वयं की कोई नयी थिअरी नहीं दी, फिर भी उन्होंने **ब्लोमस्ट्रेंड** की 'शृंखला थिअरी' को तर्कपूर्ण और सुसंगत रूप से विस्तृत तथा ठोस बनाया और उसी के आधार पर अपने स्वयं के सर्वप्रथम तैयार किये गये संकुल यौगिकों की सीरीज़ की व्याख्या की। उन्होंने अपने नये यौगिकों की व्याख्या करने के प्रयास में अपने गुरु **ब्लोमस्ट्रेंड** की थिअरी को टूटने के बिन्दु तक खींचा। सन् 1891 में **वर्नर** ने नयी थिअरी का प्रतिपादन किया। **वर्नर** के स्वयं के अनुसार, यह नया सिद्धान्त **जोरगेंसन** के कष्टसाध्य प्रयोगात्मक अन्वेषणों के बल पर किए गए सशक्त सूत्रीकरण पर आधारित था। वास्तव में **जोरगेंसन** के कार्य में ही '**जोरगेंसन-ब्लोमस्ट्रेंड** थिअरी' की बरबादी के बीज थे। इस घटना से **प्रीस्टले** की ऑक्सीजन की खोज की घटना की याद ताज़ा हो आती है, जिसने तब प्रचलित **लैवोशिए** के ज्वलन के स्वभाव के प्रयोगों को सहयोग दिया जिसके आधार पर 'फ्लोजिस्टन थिअरी' धराशायी हो गई। लेकिन दोनों घटनाओं में एक अन्तर है। **प्रीस्टले** तो जीवन भर 'फ्लोजिस्टन थिअरी' के ही गीत गाते रहे, जबकि **जोरगेंसन** ने '**वर्नर की थिअरी**' को स्वीकार कर लिया।

जोरगेंसन के शोध को सात समूहों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम समूह (1866-1878) में कुछ एकांकी शोधपत्र हैं तथा अन्य छः समूहों (1878-1906) में वे कार्य हैं जिससे उन्हें प्रसिद्धि मिली। इसमें धातु-अमीन संकुलों पर उनके अन्वेषण हैं। इनमें से आठ शोध-पत्र कोबाल्ट-अमोनिया संकुलों पर, दस शोध-पत्र क्रोमियम-अमोनिया संकुलों पर, नौ शोध-पत्र रेडियम-अमोनिया संकुलों पर, सात शोध-पत्र धातु-द्विअमीन संकुलों पर, चार शोध-पत्र प्लैटिनम बेसों की संरचना पर तथा ग्यारह शोध-पत्र कोबाल्ट-क्रोमियम तथा रेडियम बेसों की संरचना पर प्रकाशित हुए।

डब्ल्यू० ओस्टवाल्ड कहा करते थे कि वैज्ञानिक प्रतिभाएँ दो प्रकार की होती हैं। यह विभाजन **जोरगेंसन** और **वर्नर** पर पूर्णतः फिट बैठता है। **जोरगेंसन** एक रूढ़िवादी तथा पुरातनपंथी था जो गहन अध्ययन के आधार पर धीरे-धीरे एक लम्बे विचार-विमर्श के बाद एक परम्परागत सिद्धान्त का विकास नये परिणामों की व्याख्या के लिए करता था जबकि **वर्नर** एक स्वच्छन्द, कल्पनाशील, आवेगशील तथा प्रतिभाशाली प्रवर्तक था। विज्ञान को दोनों की आवश्यकता है। □□

हस्तलिपि को पढ़ने वाला कंप्यूटर

मास्को के प्रबंध-सूचना प्रणाली संस्थान के विशेषज्ञों ने एक अद्भुत ओक्रुस मिनी कंप्यूटर तैयार किया है जो किसी भी प्रकार की लिखावट को आसानी से पढ़ सकता है। इसकी फोटो-मेट्रिक्स प्रकाश संकेतों को विद्युत् संकेतों में बदल देती है।

अंतरिक्ष में कहाँ से आती हैं गामा किरणें ?

मनोज कुमार पटैरिया

प्रथम ब्रह्माण्डीय गामा किरण स्रोतों की खोज अमेरिकी उपग्रहों के द्वारा 1968 में हमारी आकाशगंगा में ही हुई। फिर 1970 के दशक के शुरू में उन्होंने सक्रिय 'व्रेब तथा बेला' पलसारों की पहचान की, जो गामा किरणों के कणों को एक सुनिश्चित लय में अंतरिक्ष में छोड़ते हैं। इन अंतरिक्ष विकिरणों की विद्यमानता हमारी शताब्दी के आरंभ में ही सिद्ध हो गई थी। तीसरे दशक में भौतिकीविदों को काफी पक्का विश्वास हो गया था कि वायु का आयनन जो इलैक्ट्रोस्कोप का आवेश उतारता है, निःसंदेह पृथ्वी के बाहर की उत्पत्ति है। **मिलिकेन** प्रथम व्यक्ति था, जिसने उक्त परिकल्पना प्रस्तुत की। इस परिघटना का आधुनिक नाम अंतरिक्ष विकिरण उसी ने रखा।

आजकल खुले आकाश में आसानी से किये जा सकने वाले अध्ययनों से यह सिद्ध होता है कि पृथ्वी पर अनवरत रूप से नाभिकीय कणों की बौछार हो रही है, जो निरंतर चलती रहती है। ये कण हम तक लगभग प्रकाश की गति से आते हैं। इनकी ऊर्जा दस करोड़ इलेक्ट्रॉन वोल्ट से लेकर करोड़ों खरब इलेक्ट्रॉन वोल्ट तक होती है। मुख्य रूप से अंतरिक्ष किरणें प्रोटान तथा अन्य अधिक भारी नाभिकों से बनी होती हैं। इससे यह स्पष्ट है कि अंतरिक्ष किरणें अन्य अणुओं और परमाणुओं तथा नाभिकों के साथ मिलकर सभी प्रकार के मूल कण बना सकती हैं। लेकिन भौतिक खगोलविदों के लिये प्राथमिक विकिरण ही रुचि का विषय है, कि आखिर इतनी अधिक ऊर्जा वाले कणों के किरणमय प्रवाह किस प्रकार बनते हैं ? इन कणों का स्रोत कहाँ है ? इनकी उत्पत्ति कैसे होती है ?

हाल ही में यूरोपीय अंतरिक्ष एजेंसी के कॉस-बी उपग्रह के इस्तेमाल से लगभग 20 गामा स्रोतों का पता चला है, जो हमारी आकाशगंगा तथा अन्य नीहारिकाओं से आते हैं। खगोलविद तथा भौतिकीविद विश्वास करते हैं कि इन अदृश्य खगोलीय बिजलीघरों की संख्या असीमित है। इनका पता प्रामाणिक तौर पर लगाने के लिये अनेक अनुसंधान और अध्ययन किये गये हैं। गामा किरण स्रोतों का पता पृथ्वी के वायुमण्डल से ऊपर-गुब्बारों के इस्तेमाल से लगाया गया है। कणों की ऊर्जा को प्रकाश में बदल कर उनका संसूचन करने के लिये रासायनिक साधन भी अपनाये गये हैं। वैज्ञानिक इन विकिरणों की ऊर्जा का उपयोग मानव के दैनिक जीवन में करने के उपाय खोजना चाहते हैं।

'ब्रिटिश साइंटिफिक एंड इकोनोमिक रिव्यू' में प्रकाशित एक रिपोर्ट के अनुसार ब्रिटेन ने दक्षिणी इंग्लैंड में साउथैम्पस विश्वविद्यालय की उपग्रह और गुब्बारा वेधशालाओं तथा देश के उत्तरी भाग में डरहम विश्वविद्यालय में अति उच्च गामा विकिरण ऊर्जाओं में किये गये दिलचस्प काम के द्वारा महत्वपूर्ण योगदान किया है। अनुसंधानकर्त्ताओं ने 1300 घंटे प्रेक्षण किये। उन्होंने वायुमण्डल में गामा किरणों के प्रवेश करने पर दिखाई पड़ने वाले प्रकाश की चमक मापने के लिये जो यंत्र इस्तेमाल किये उनको 'सर्चलाइट शीशे' नाम दिया गया। किसी परमाणु रिएक्टर

प्रकाशन एवं सूचना निदेशालय, सी० एस० आई० आर०, पूसा गेट, नई दिल्ली—12

से निकाली गई ईंधन की छड़ें जिन गहरे तालाबों में रखी जाती हैं, उनमें हल्की नीली चमक देती हैं, इसे 'सेरेंकोव प्रभाव' कहते हैं, जिसका पता 1939 में 'नोबेल पुरस्कार' विजेता सोवियत वैज्ञानिक **सेरेंकोव** ने लगाया था। यही प्रभाव ब्रिटिश वैज्ञानिकों ने गामा किरणों के वायुमण्डल में प्रवेश करने पर भी देखा। लगभग 100 मीटर की यह चमक गामा विकिरण स्रोतों की पहचान करती है। हमारा वायुमण्डल ब्रह्माण्डीय विकिरण, पराबैंगनी प्रकाश तथा गामा किरणों की काफी मात्रायें अवशोषित करने की अद्भुत क्षमता रखता है, जिसके कारण ये विकिरण कम मात्रा में हम तक पहुँचते हैं। वैज्ञानिकों ने 'एक्स किरण सिगनल एक्स–3' नामक तारे से भी गामा किरणों के आगमन का पता लगाया है। यह भी ज्ञात हुआ है कि हमारी मन्दाकिनी में कर्क नामक नीहारिका है, जो विस्फोट के फलस्वरूप बनी थी। यही रेडियो तरंगों तथा अंतरिक्ष कणों का प्रमुख स्रोत है।

यह अनुमान किया जा सकता है कि नक्षत्र के विस्फोट के फलस्वरूप बनने वाला विद्युत्-चुम्बकीय क्षेत्र किसी कण को सर्पिलाकार दिशा में गति करने को प्रेरित करता है, जिससे हज़ारों प्रकाश वर्षों की यात्रा करता हुआ कण काफी मात्रा में गतिज ऊर्जा एकत्र कर लेता है। परिकल्पनों से पता चला है कि ये अंतरिक्ष में हमारी मंदाकिनी की चौड़ाई को पार करके लगभग उतनी ही ऊर्जा प्राप्त कर सकता है, जितनी कि वैज्ञानिकों ने अंतरिक्ष से आने वाले गामा कणों की मापी है।

अंतरिक्ष की गामा किरणों के और अधिक अध्ययनों के लिये ब्रिटिश विज्ञान तथा इंजीनियरी अनुसंधान परिषद् द्वारा ढाई लाख पौण्ड के अनुदान से एक 'मिरर अरै' बनाई गई है। इसमें मधुमक्खी के छत्ते की तरह के दो समानान्तर शीशे हैं, जो विशेष प्रकार के एल्युमिनियम-पत्र से बनाये गये हैं। इसका कुल व्यास 4-2 मीटर है। इस उपकरण को चारों ओर घुमाया जा सकता है। हर शीशे के फोकस पर प्रकाश काउण्टर लगे हैं। इसको बनाने वाले वैज्ञानिक दल के नायक डरहम विश्वविद्यालय में भौतिकी के रीडर **एडवर्ड टरबर** हैं। इस नए उपकरण से अंतरिक्ष के एक विशाल क्षेत्र में गामा किरण स्रोतों की पहचान हो सकेगी, लेकिन **डॉ० टरबर का** उद्देश्य, उन विशिष्ट स्रोतों की खोज करना है, जिनसे आकाश के एक छोटे कोण पर सेरेंकोव चमक की टोह ली जा सके। वे प्रेक्षण तथा सांख्यिकीय विधियों का इस्तेमाल करके इन स्रोतों की अलग पहचान करना चाहते हैं। दरअसल होता यह है कि ब्रह्माण्ड से वायु, मण्डल पर हर दिशा से गामा किरणों के प्रहार होते रहते हैं और इस बौछार से विशिष्ट स्रोतों की अलग पहचान करनी बहुत ज़रूरी होती है।

अंतरिक्ष से आने वाले इन विकिरणों की शक्ति पृथ्वी कणिका एक्सिलरेटर में पैदा किये गये विकिरण से बहुत अधिक होती है। अतः वैज्ञानिक इन कुदरती अनवरत शक्ति स्रोतों का उपयोग जनहित में ऊर्जा उत्पादन में कर सकते हैं। इनके अध्ययनों से द्रव्य के निर्माण के रहस्यों का भी पता चल सकेगा। □□

लेसर से फसल में वृद्धि

अल्मा-अता के कज़ाख़ विश्वविद्यालय के वैज्ञानिकों ने बीजों और फसल के परिष्कार के लिए एक लेसर यंत्र तैयार किया है जो बहुत कारगर सिद्ध हुआ है। इससे पौधों की शक्ति बढ़ जाती है और फसल अच्छी होती है।

इस उपकरण से निकलने वाली लेसर किरण का सीधा प्रभाव पौधे की कोशिकाओं पर पड़ता है। इसमें परिशोधित बीज अधिक मात्रा में पोषण प्राप्त करते हैं और बेहतर फसल देते हैं। इस विधि से प्रति हेक्टेयर 200-300 किग्रा० फसल प्राप्त की गई है।

द्रव क्रिस्टल

डॉ० अशोक कुमार शर्मा

द्रव क्रिस्टल (Liquid Crystal) शायद अब ऐसा शब्द बन गया है, जिससे समाज के हर वर्ग के लोग प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से परिचित हैं। शायद ही कोई ऐसा मनुष्य होगा जिसने अंकीय घड़ियाँ न देखी हों, जो द्रव क्रिस्टल या द्रव मणिभ पर आधारित होती हैं। जब 1888 में द्रव मणिभ का जन्म हुआ, तब यह केवल प्रयोगशालाओं तक ही सीमित था। यद्यपि पदार्थ की इस अवस्था पर लगातार अनुसन्धान होता रहा, लेकिन इसके वास्तविक उपयोगों के बारे में लगभग 1950 के बाद ही कार्य हुआ और बहुत ही कम समय में अनेक क्षेत्रों में इसका उपयोग होने लगा है।

पदार्थ की तीन अवस्थाओं—ठोस, द्रव व गैस के बारे में तो सभी जानते हैं परन्तु सन् 1888 में पदार्थ की चौथी अवस्था के बारे में वैज्ञानिकों ने पता लगाया और इसे 'द्रव मणिभ' का नाम दिया। लगभग 5 प्रतिशत कार्बनिक रसायनिक पदार्थ इस अवस्था में भी पाये जाते हैं। यह तो सर्वविदित है कि जब हम किसी ठोस पदार्थ को गर्म करते हैं तो एक निश्चित ताप पर वह पिघलना शुरू हो जाता है और एक द्रव में बदल जाता है। लेकिन कुछ कार्बनिक रसायनिक पदार्थों में इससे भिन्न क्रिया होती है। 3000 से भी अधिक ऐसे कार्बनिक रसायन हैं, जो सीधे द्रव में परिवर्तित नहीं होते, बल्कि इनमें एक बीच की स्थिति होती है, जिसे 'मध्य प्रावस्था' (mesophase) कहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि ये कार्बनिक रसायन गर्म करने पर ठोस से द्रव में बदलने के लिये एक 'मध्य प्रावस्था' से गुजरते हैं। यह मध्य प्रावस्था एक गाढ़े द्रव के रूप में होती है और ठोस के इसमें परिवर्तन की क्रिया को आँखों से देखा जा सकता है। इस मध्य प्रावस्था को ही द्रव मणिभ का नाम दिया गया है। अतः द्रव मणिभ पदार्थ की वह अवस्था है जिसमें द्रव व ठोस दोनों के गुण पाये जाते हैं। अभी तक तीन प्रकार के द्रव मणिभ ज्ञात हैं। ये हैं :
निमैटिक, **कॉलैस्ट्रिक तथा स्मैक्टिक**।

निमैटिक द्रव मणिभ का नाम एक ग्रीक शब्द पर आधारित है, जिसका अर्थ होता है—**धागा**। इस प्रकार के द्रव मणिभ, द्रव को अचानक ठंडा करने पर बनते हैं और धागे की तरह की संरचना वाले होते हैं। **कॉलैस्ट्रिक द्रव मणिभ** अणुओं के कुंडलिनी क्रम में होने पर बनते हैं। **स्मैक्टिक प्रावस्था** में अणु दो दिशाओं में चल सकते हैं तथा एक दिशा के चारों तरफ घूम भी सकते हैं। ये दूसरे द्रव मणिभों की तुलना में अधिक गाढ़े द्रव के रूप में होते हैं और कम ताप पर बनाये जा सकते हैं। कुछ वैज्ञानिकों का यह भी मत है कि **कॉलैस्ट्रिक** एक विशेष प्रकार के **निमैटिक** द्रव मणिभ ही हैं और इसलिये सभी द्रव मणिभों को दो श्रेणियों में रखा जा सकता है।

द्रव मणिभ का उपयोग ताप के छोटे-छोटे परिवर्तन को नापने में होता है और इसके लिये इनका एक विशेष गुण उत्तरदायी होता है। ताप के बदलने पर द्रव मणिभ का रंग बहुत शीघ्रता से बदलता है। उदाहरण के लिये 39.5° से० पर लाल रंग होता है, जो 39.7° से० पर सन्तरी, 40° से० पर पीले

भौतिक विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक (हरियाणा)

तथा 40.2° से० पर हरे रंग का हो जाता है। इस तरह ताप के छोटे से परिवर्तन को भी बिलकुल सही नापा जा सकता है और इसीलिये इस तकनीक का उपयोग चिकित्सा विज्ञान में भी किया जाता है। उदाहरणार्थ, छाती के अर्बुद (Tumour) का पता लगाने में द्रव मणिभ काफी उपयोगी सिद्ध हुये हैं क्योंकि अर्बुद का ताप आसपास के ताप से अधिक होता है और आसानी से फौरन पहचाना जा सकता है।

द्रव मणिभ के उपयोग का दूसरा अत्यन्त महत्वपूर्ण क्षेत्र है इलैक्ट्रॉनिक उद्योग। यह उपयोग एक अत्यन्त सरल सिद्धान्त पर आधारित है। समानान्तर प्लेट संधारित्र की प्लेटों के बीच में द्रव मणिभ को भर दिया जाता है जो बैटरी लगाने पर सफ़ेद रंग का हो जाता है और बैटरी हटाने पर अपने पुराने रंग में वापस आ जाता है। 1973 में इस तथ्य पर आधारित द्रव मणिभ घड़ियाँ बनीं और उसके बाद तो इनकी बाढ़ सी आ गयी। इसी प्रकार परिकलित्रों में भी द्रव मणिभ का उपयोग होने लगा है।

इनके अतिरिक्त अनुसंधान कार्यशालाओं में भी द्रव मणिभ विभिन्न प्रयोगों में लाये जाने लगे हैं जैसे कि विषमदैशिक विलायक (Anisotropic liquid solvents) जिनका प्रयोग न्यूक्लीय चुम्बकीय अनुनाद (एन० एम० आर०) तथा इलेक्ट्रॉन स्पिन अनुनाद (ई० एस० आर०), के कार्यों में होता है। बच्चों के खिलौने तथा ड्राइंग रूम को सजाने के सामानों में भी द्रव मणिभ प्रयुक्त हो रहे हैं।

विज्ञान के इस अद्भुत क्षेत्र में हमें भविष्य में कई प्रकार के नये वैज्ञानिक तथा तकनीकी उपयोग देखने को मिलेंगे। हम आशा रख सकते हैं कि भविष्य में स्वचालित वाहन, नाव, वायुयान, रसोईघर अनुप्रयुक्ति, संगणक तथा बहीखाते रखने में भी द्रव मणिभ खुलकर प्रयुक्त होने लगेंगे। जापान की 'हिटाची कम्पनी' की नज़र अब टेलिविज़न पिक्चर ट्यूब की ओर गयी है और निकट भविष्य में ही द्रव मणिभ पर आधारित टेलिविज़न बनने लगेंगे। इससे टेलिविज़न यंत्र की मोटाई तथा वज़न बहुत कम हो जायेंगे और उन्हें एक दीवार-घड़ी की तरह कमरे में लटकाया जा सकेगा।

भारतवर्ष में 'इंडियन इन्स्टीट्यूट ऑव साइंसेज़' (बंगलोर) में द्रव मणिभों पर विशेष रूप से अनुसंधान किया जा रहा। □□

कृत्रिम "बुद्धि" की खोज

सोवियत विज्ञान अकादमी के लेनिनग्राद स्थित वैज्ञानिक और तकनीकी संस्थान में एक प्रायोगिक संयत्र निर्मित कर लिया गया है जो धातु परमाणुओं को अत्यन्त शुद्धता के साथ लक्षित बिन्दु पर प्रक्षेपित कर सकता है। इस प्रक्रिया में अगर 10 करोड़ परमाणुओं में से एक भी लक्ष्य से च्युत हो जाता है तो सारा खेल खराब हो जाता है, इसीलिए इस संयंत्र का ठीक-ठीक काम करना अनिवार्य है। इस प्रक्रिया से बाह्य अंतरिक्ष से भी अधिक निर्वात के एक चैम्बर में परमाणु संरचना की फिल्म तैयार की जा सकती है। इन फिल्मों की पाँचवीं पीढ़ी के कंप्यूटरों के निर्माण के लिए ज़रूरत होती है। इसमें प्रति वर्ग सेंटीमीटर में एक करोड़ यूनिट के सर्किट भरे जा सकते हैं।

इनकी सहायता से जो कंप्यूटर तैयार होंगे उनकी गति प्रति केकंड 10 अरब कार्य होगी। इस समय प्रति सेकंड केवल 10 करोड़ कार्य ही सम्पन्न होते हैं। इस प्रक्रिया के आधार पर वैज्ञानिकों को आशा है कि "कृत्रिम बुद्धि" तैयार की जा सकेगी जो ध्वनि और छवि के संकेतों में अंतर कर सकेगी, और प्रोग्रामरों की ज़रूरत नहीं रह जाएगी। तब कंप्यूटर केवल गणना ही नहीं करेंगे बल्कि तार्किक निष्कर्ष निकाल सकेंगे तथा परिकल्पना भी प्रस्तुत कर सकेंगे।

विज्ञान के बढ़ते चरण : लेसर की शरण

डॉ० विनोद कुमार गोयल

लेसर किरणों की सहायता से आज चिकित्सा विज्ञान, मुद्रण प्रणाली, अपराध विज्ञान, त्रियामी टेलिविज़न प्रणाली, विभिन्न उद्योग, सम्प्रेषण तथा देश की रक्षा-व्यवस्था में महत्वपूर्ण परिवर्तन आ रहा है ! 'कंप्यूटर क्रांति' के साथ-साथ आज विश्व 'लेसर क्रांति' की ओर अग्रसर है । लेसर का आविष्कार आज से मात्र 27 वर्ष पूर्व हुआ था लेकिन उसका विकास तथा उपयोग जितनी तीव्र गति से हुआ वह इसके महत्व पर प्रकाश डालने के लिये पर्याप्त है ।

लेसर एक युक्ति है जिसकी सहायता से बहुत तीव्र, घनी, समान कलावाली एकवर्णी प्रकाश की किरणें उत्पन्न की जाती हैं । लेसर—लाइट एम्पलीफिकेशन बाई स्टीमुलेटेड इमीशन ऑव रेडियेशन के प्रथमाक्षरों से बना शब्द है । साधारण प्रकाश की किरणों में सात रंग होते हैं जिन्हें प्रिज़्म की सहायता से अलग-अलग देखा जा सकता है । ये विभिन्न आवृत्तियों की विद्युत्-चुम्बकीय तरंगें स्रोत से निकलकर सब दिशाओं में फैल जाती हैं । इसके विपरीत लेसर किरणें पूर्णतया एकवर्णी होती हैं अतः समस्त प्रकाश किरणों की आवृति तथा दिशा समान रहती है । अमेरिकी वैज्ञानिक **चार्ल्स एच० टॉउन्स** ने सबसे पहले अपने प्रारंभिक प्रयोग सूक्ष्म तरंगों (माइक्रो वेव्ज़) के साथ किये तथा अपनी युक्ति को 'मेसर' (माइक्रो वेव एम्पलीफिकेशन बाई स्टीमुलेटेड इमीशन ऑव रेडियेशन) कहा । इसके साथ ही वैज्ञानिक **टॉउन्स** ने यह सुझाव भी दिया कि इस युक्ति का प्रयोग प्रकाश किरणों के साथ करके लेसर किरणें उत्पन्न की जा सकती हैं । अंततः सन् 1960 में वैज्ञानिक **मेमैन** तथा **टॉउन्स** ने मिलकर लेसर किरणें उत्पन्न करने के लिये सफलतापूर्वक प्रयोग किये । लेसर किरणों के निर्माण को समझने से पहले उन मूलभूत सिद्धान्तों को समझना आवश्यक है जिनके आधार पर उनका निर्माण संभव हुआ ।

लेसर के मूलभूत सिद्धान्तों को समझने के लिये आइये जरा परमाणु रचना की याद ताज़ा कर ली जाये । संसार का प्रत्येक पदार्थ अणुओं से तथा प्रत्येक अणु परमाणुओं से मिलकर बना है । परमाणु का समस्त द्रव्यमान तथा धनावेश उसके केन्द्र पर एक बहुत ही छोटे भाग में संकेन्द्रित रहता है । इसे नाभिक कहते हैं तथा इसमें प्रोटॉन तथा न्यूट्रॉन स्थित होते हैं । इलेक्ट्रॉन नाभिक के चारों ओर विभिन्न कक्षाओं में घूमते रहते हैं ! नाभिक के चारों ओर ये इलेक्ट्रॉन कुछ निश्चित कक्षाओं में ही बिना ऊर्जा उत्सर्जित किये घूम सकते हैं । इन कक्षाओं को ऊर्जा स्तर कहते हैं तथा इनका निर्धारण 'क्वान्टम शर्तों' के आधार पर किया जाता है । परमाणु की ये ऊर्जा अवस्थायें सुनिश्चित एवं विविक्त होती हैं ! साधारणतया सभी परमाणु निम्नतम ऊर्जा अवस्था में पाये जाते हैं । इस अवस्था को मूल या निम्नतम अवस्था कहते हैं जब कि ऊर्जा स्तर को उत्तेजित अवस्था कहा जाता है । जब इलेक्ट्रॉन इन स्थायी कक्षाओं में घूमते हैं तो वे ऊर्जा का अवशोषण या उत्सर्जन नहीं करते लेकिन जब इलेक्ट्रॉन एक स्थायी कक्षा से दूसरी स्थायी कक्षा

भौतिक विज्ञान विभाग, भवन्स मेहता महाविद्यालय, भरवारी, इलाहाबाद ।

में कूदता है तो निश्चित आवृति के विकिरण का अवशोषण या उत्सर्जन होता है। इलेक्ट्रॉन के एक कक्षा से दूसरी कक्षा में जाने को ऊर्जा संक्रमण कहते हैं। जब परमाणु को बाहर से ऊर्जा दी जाती है तो उसका कोई इलेक्ट्रॉन अपनी निम्न कक्षा को छोड़कर उच्च कक्षा में चला जाता है। इस उत्तेजित अवस्था में वह केवल 10^{-10} से० तक ठहर कर फिर किसी नीची कक्षा में लौट आता है तथा इस दौरान परमाणु वैद्युत्-चुम्बकीय तरंगों के रूप में ऊर्जा का उत्सर्जन करता हैं। अतः स्पष्ट है कि किसी परमाणु से ऊर्जा का उत्सर्जन तभी संभव है जब उसका कोई इलेक्ट्रॉन ऊँची ऊर्जा कक्षा से नीची ऊर्जा कक्षा में लौटता है।

साधारणतया किसी निम्न ऊर्जा स्तर में उच्च ऊर्जा स्तर की अपेक्षा परमाणुओं की संख्या अधिक रहती है। लेसर निर्माण के लिये यह मूलभूत आवश्यकता है कि हम ऐसी स्थिति स्थापित कर दें जिससे उच्च ऊर्जा स्तर में निम्न ऊर्जा स्तर की अपेक्षा परमाणुओं की संख्या अधिक हो जाये। ऐसी स्थिति की स्थापना को 'परमाणु संख्या उत्क्रमण' कहते हैं। इस प्रकार कम ऊर्जा वाले परमाणुओं को उन्हीं परमाणुओं से युक्त पदार्थ को गर्म करके उच्च ऊर्जा अवस्था में उत्तेजित किया जा सकता है। यह 'परमाणु संख्या उत्क्रमण' पम्पन विधि से पैदा की जाती है। यह क्रिया काफी कुछ विद्युत् पम्प की सहायता से किसी ऊँचाई पर रखी पानी की टंकी में पानी चढ़ाकर संचयित करने के समान है, अतः पम्पन कहलाती है।

उत्तेजित अवस्था में परमाणु अस्थायी होते हैं तथा शीघ्र ही वे निम्न ऊर्जा अवस्था में लौट आते हैं। ऊर्जा संक्रमण के कारण वे अभिलक्षणिक उत्सर्जन करते हैं। अधिकतर यह ऊर्जा दृश्य प्रकाश के रूप में उत्सर्जित होती है। यही कारण है कि जब हम धातुओं को गर्म करते हैं तो वे चमकने लगते हैं! उदाहरण के लिये, जब किसी लोहे की गेंद को गर्म किया जाता है तो शुरू में कम आवृति अर्थात् अधिक तरंग दैर्ध्य का लाल प्रकाश उत्सर्जित होता है; जैसे-जैसे ताप बढ़ाया जाता है वैसे-वैसे अधिक आवृति अर्थात कम तरंग दैर्ध्य का क्रमशः नारंगी, पीला तथा अन्त में सफ़ेद प्रकाश (दृश्य प्रकाश) उत्सर्जित होता है। यदि हम किसी पदार्थ के उत्तेजित परमाणुओं में किसी निश्चित आवृत्ति के **फोटॉन** को प्रविष्ट करायें तो यह फोटॉन उत्तेजित परमाणु से एक अन्य फोटॉन का उद्दीपन द्वारा उत्सर्जन कर देता है तथा उत्तेजित परमाणु स्वयं किसी निचली कक्षा में कूद आता है। इस प्रकार के उत्सर्जन को उद्दीपित उत्सर्जन (स्टीमुलेटेड इमीशन) कहते हैं। इस प्रकार हमें दो फोटॉन प्राप्त होते हैं जिनकी तरंग दैर्ध्य, आवृत्ति तथा दिशा एक समान होती हैं। इसी प्रकार ये दो फोटॉन उपरोक्त उद्दीपित उत्सर्जन से चार एक समान फोटॉन उत्सर्जित करते हैं। यही क्रिया जब स्थूल पदार्थ में संपन्न होती है तो लाखों की संख्या में फोटॉन मुक्त होते हैं जो प्रकाश की एक तीव्र बीम के रूप में बाहर निकलते हैं। इसी को हम **लेसर बीम** कहते हैं। यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि उद्दीपित उत्सर्जन के साथ-साथ कुछ विकिरण का अवशोषण भी लगातार चलता रहता है जिससे परमाणु निम्न कक्षा से उच्च कक्षा में उत्तेजित होते रहते हैं जिसके फलस्वरूप **फोटॉन बीम** की तीव्रता कुछ कम हो जाती है। अतः तीव्र लेसर बीम उत्पन्न करने के लिये यह आवश्यक है कि उद्दीपित उत्सर्जन की क्रिया लगातार बढ़ती रहे।

टॉउन्स तथा **मेमैन** ने रुबी क्रिस्टल के परमाणुओं को 'प्रकाशित पम्पन' (ऑप्टिकल पम्पिग) विधि से उत्तेजित किया जिसमें 'परमाणु संख्या उत्क्रमण' तीन चरणों में पूरा होता है। रुबी, एल्युमिनियम ऑक्साइड की एक बेलनाकार छड़ होती है जिसमें कुछ क्रोमियम ऑक्साइड की अशुद्धि हो। छड़ के एक सिरे पर पूर्णतया तथा दूसरे सिरे पर आंशिक रूप से चाँदी का लेप कर दिया जाता है। रुबी छड़ के चारों ओर एक कुंडली के आकार की ज़ेनान दमक नलिका से एक निश्चित तीव्रता का प्रकाश पैदा किया जाता है जो **रुबी क्रिस्टल** के परमाणु को उच्च उत्तेजित अवस्था में ले

आता है। उत्तेजित परमाणु स्वयं निचली कक्षा में कूद जाता है तथा अन्य समान फोटॉन उत्सर्जित कर देता है। यह क्रिया लगातार बढ़ती जाती है और फोटॉन बीम के रूप में सोपानी ऊर्जा प्राप्त होती है। यह बीम रूबी छड़ के परावर्ती किनारों से बार-बार आगे-पीछे परावर्तित होकर अर्ध पारदर्शी किनारे से एक तीव्र चमक के रूप में बाहर निकलता है। उपरोक्त क्रिया के दौरान उपकरण का तापक्रम बहुत अधिक बढ़ जाता है अतः ठन्डा बनाये रखने के लिये छड़ के चारों ओर द्रव नाइट्रोजन का प्रवाह निरन्तर बनाये रहते हैं।

आजकल ठोस लेसर का स्थान द्रव तथा गैस लेसर ने ले लिया है। 'गैस लेसर' के प्रारम्भिक प्रयोगों में निऑन तथा हीलियम गैसों का मिश्रण लिया गया तथा गैस के परमाणुओं को उच्च आवृति की विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों (माइक्रो वेव्ज़) द्वारा उत्तेजित किया गया और अधिक तीव्र लेसर बीम उत्पन्न करने के लिये आजकल एमोनिया गैस या कार्बन डाइऑक्साइड गैस का उपयोग किया जाता है। अब तो अर्ध चालक (सेमी कंडक्टर) पदार्थ पर आधारित अधिक सक्षम तथा शक्तिशाली लेसर युक्तियाँ खोजी जा चुकी हैं तथा अधिक से अधिक शक्तिशाली लेसर किरणें उत्पन्न करने के लिये अनुसंधान जारी है।

लेसर वर्तमान सदी की महान वैज्ञानिक उपलब्धि तथा आने वाले समय का कारगर औद्योगिक तथा सामरिक हथियार है। चिकित्सा विज्ञान के कई क्षेत्रों में तो लेसर ने क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया है। आँखों के रेटिना के पृथक या क्षतिग्रस्त हो जाने पर लेसर की सहायता से रेटिना को उसके निश्चित स्थान पर बैठाकर ऐसे वेल्डिंग कर दी जाती है जैसे किसी लोहे के उपकरण में धातु की वेल्डिंग की जाय। बहुत तीव्र लेसर बीम की सहायता से **आँखों की रसौली** को भी नष्ट किया जाता है। लेसर बीम द्वारा उत्पन्न ऊष्मा स्थानीय होती है अतः इसके प्रयोग से रोगी को तकलीफ भी नहीं होती। दाँतों में छेद करना, दाँत के सतह पर की दरारों को जोड़ना, दाँतों के क्षत भाग को नष्ट करना, चिकित्सा विज्ञान में लेसर के उपयोग के कुछ उदाहरण हैं। विशेष प्रकार के **त्वचा कैंसर** के उपचार में लेसर का उपयोग किया जाता है तथा शरीर के आंतरिक अंगों के कैंसर के उपचार की संभावना से भी इंकार नहीं किया जा सकता। चिकित्सा विज्ञान में लेसर के प्रयोग की संभावनायें अनंत हैं तथा लगातार नये अनुसंधान हो रहे हैं। कुछ ही समय पहले आस्ट्रेलिया के वैज्ञानिकों ने एक ऐसी सचल लेसर इकाई का विकास किया है जो खेल के दौरान खिलाड़ियों को लगी चोट (मांसपेशियों में खिंचाव, जोड़ों में जकड़न, चमड़ी पर घाव) को बहुत कम समय में ठीक कर देता है।

आज लेसर का उपयोग अनेक औद्योगिक क्षेत्रों में किया जा रहा है। लेन्सों की सहायता से जब लेसर बीम को फोकस किया जाता है तो बहुत उच्च ताप पैदा होता है अतः धातुओं को पिघलाने, उन्हें वाष्पीकृत करने, हीरे जैसे कठोर पदार्थ में छेद करने के लिये इनका प्रयोग किया जाता है। अमेरिकी वैज्ञानिकों ने तो हीरे को पिघलाने के प्रयोग भी पूरे कर लिये हैं। विकसित देशों में लेसर का उपयोग इलेक्ट्रॉनिक्स, रोबोटिक्स, ऑटोमोबाइल उद्योग, इस्पात तथा टेक्सटाइल उद्योगों में सफलतापूर्वक किया जा रहा है। **कार्बन डाइऑक्साइड लेसर मोटी इस्पात की चादर को मूली-गाजर की भाँति काट देने में समक्ष है**। लेसर की सहायता से उच्च कोटि के रेज़र ब्लेड का उत्पादन हो रहा है। यूरेनियम अयस्क से यूरेनियन को अलग करना, अंतरिक्ष अनुसंधान, रेडियो तथा टेलिविज़न प्रसारण में भी लेसर का विशेष महत्व है। लेसर किरण की दिशा इतनी संयमित तथा संयोजित होती है कि पृथ्वी से चन्द्रमा तक (373630 कि० मी०) जाने में भी केवल एक-डेढ़ कि०मी० क्षेत्र में ही फैलती है। सम्प्रेषण के क्षेत्र में **ऐसी आशा है कि लेसर की सहायता से 'इन्सायक्लोपीडिया ब्रिटेनिक' जैसी मोटी पुस्तक दो-तीन मिनट में सम्प्रेषित की जा सकेगी।**

विश्व की दो महाशक्तियों के लिये किसी वैज्ञानिक

खोज का तब तक महत्व अधूरा है जब तक उसका सामरिक योगदान न हो। अमेरिका की महत्वाकांक्षी 'स्टारवार्स योजना' में शक्तिशाली लेसर, एक्सरे लेसर की निर्णायक भूमिका है। इस योजना का एक उद्देश्य सोवियत उपग्रहों को नष्ट करना तथा दूसरा किसी भी अंतरमहाद्वीपीय परमाणु प्रक्षेपास्त्र को उसकी यात्रा के प्रारम्भ में ही समाप्त कर देना है। 'स्टार-वार्स' योजना' में चाहे लेसरजनक उपकरण को पृथ्वी की किसी निश्चित कक्षा में स्थापित किया जाये या लेसर उपकरण को पृथ्वी पर रख भूस्थिर कक्षा में रखे विशिष्ट दर्पण से परावर्तित किया जाय, काम वही होगा—सोवियत उपग्रह या प्रक्षेपास्त्र को जलाकर खाक कर देना। बहाना तो रक्षात्मक उपाय खोजने का ही है लेकिन चौधराहट में नियत बदलते देर नहीं लगती। शायद सोवियत संघ भी कक्षा में स्थापित उपग्रहों को नष्ट करने के कारगर साधन जुटा चुका है और इनमें भी शक्तिशाली लेसर बीम की भूमिका अवश्य ही होगी। स्पष्ट है कि दोनों महाशक्तियों द्वारा अंतरिक्ष में अस्त्रों की होड़, परीक्षण तथा अंत में अंतरिक्ष युद्ध इस धरती से मानव का अस्तित्व सदा-सदा के लिये मिटाने में समर्थ है। हमें इससे सावधान रहना है।

□□

(1) टिशू कल्चर द्वारा चंदन की नयी जातियों का विकास

एक ताजे समाचार के अनुसार टिशू कल्चर द्वारा चन्दन की नयी जातियों का विकास किया गया है। इस विधि से उत्पन्न पौधे 15-20 वर्षों में ही काटने लायक हो जाते है जबकि सामान्यत: चन्दन का वृक्ष 30-40 वर्षों में तैयार होता है। वैज्ञानिकों के अनुसार यदि बड़े पैमाने पर प्रयोग सफल रहे तो **चन्दन वृक्षों** का प्रयोग वानिकी कार्यक्रम के अन्तर्गत हो सकता है। चन्दन की ये जातियाँ विभिन्न स्थानों पर लगायी जा सकती हैं जबकि अभी भारत में चंदन मुख्यत: कर्नाटक और तमिलनाडु में उगाये जाते हैं।

वृक्षों के जल्दी तैयार होने से चन्दन उद्योग को भी प्रोत्साहन मिल सकेगा।

टिशू कल्चर विधि से उत्पन्न पौधे पाँच वर्ष की अवस्था में ही पंद्रह वर्ष के वृक्ष जैसे दिखते हैं।

(2) अंतरिक्ष में सूक्ष्मजीव

सोवियत संघ में अकादमिशियन **अलेक्सांदर इम्शेनेत्स्की** के नेतृत्व में वायुमंडल की ऊपरी परतों के बारे में जो अनुसंधान कार्य जारी था उसके आधार पर सिद्ध हुआ है कि सूक्ष्मजीवरचनाएँ 84 किलो मीटर की ऊँचाई पर भी जीवित रह सकती है।

ये अति सूक्ष्मजीव 200 डिग्री तक की ठंडक सहन कर सकते हैं तथा इन पर पूर्ण निर्जलीकरण का भी कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता है।

(3) रेशम के कीड़ों के लिए कृत्रिम चारा

सोवियत उज्बेकिस्तान की राजधानी ताशकंद के रेशम अनुसंधान संस्थान के वैज्ञानिकों ने शहतूत की पत्तियों पर पलने वाले रेशम के कीड़ों के लिए एक कृत्रिम चारे का विकास किया है। रूई उत्पादन के कचरे से तैयार किया जाने वाला यह रवेदार चारा काफी सस्ता पड़ता है और इस पर पलने वाले कीड़ों के विकास पर किसी प्रकार का विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता है।

इससे रेशम के कीड़ों को पालने पर होने वाले खर्च में लगभग 33 प्रतिशत की कमी हुई है। अब शहतूत की पत्तियों की कमी होने पर भी रेशम के कीड़ों को पालने और उनसे रेशम प्राप्त करने में किसी प्रकार की दिक्कत नहीं होगी।

लोक विज्ञान के प्रसार में माध्यम और टेक्नोलॉजी की भूमिका

त्रिभुवन नाथ उपाध्याय

हमारे देश में विज्ञान का विकास तो बहुत हुआ है लेकिन उसके समानान्तर वांछित एक विशेष वैज्ञानिक संस्कृति का निर्माण अभी तक नहीं हो पाया है। यही कारण है कि अब भी हम में से अधिकांश को वैज्ञानिक तथ्यों की जानकारी रखते हुए भी अपने दिन प्रतिदिन की समस्याओं के समाधान के लिए अवैज्ञानिक तरीकों का सहारा लेना पड़ता है। गाँवों में स्थिति और भी निराशाजनक है। अज्ञानता और साधनों की कमी के कारण कमर में दर्द होने पर अभी भी ग्रामीण ऐसे लोगों को ढूँढ़ते हैं जो 'उल्टे' पैदा हुए हों। उनका विश्वास है कि ऐसे लोगों के पैर से मालिश करवाने से कर्मर का दर्द ठीक हो जाता है। इसीकारण विज्ञान को जन-जन तक पहुँचाने के लिए यह नितांत आवश्यक है कि एक "वैज्ञानिक संस्कृति" का विकास सुचारु रूप से हो। यह लोक विज्ञान के प्रचार-प्रसार से ही संभव हो सकता है और इसके लिए उपलब्ध माध्यम और टेक्नोलॉजी का व्यापक स्तर पर प्रयोग एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। लेकिन कैसे? इसे जानने से पहले हमें यह जानना आवश्यक है कि लोक विज्ञान है क्या? मोटे तौर पर लोक विज्ञान से हमारा तात्पर्य उस विज्ञान से होता है जिसकी जानकारी बच्चों से लेकर बूढ़ों तक सबके लिए सामान्य रूप से आवश्यक हो। दूसरे शब्दों में विज्ञान के लोक कल्याणकारी भाग को 'लोक विज्ञान' की सीमा के अर्न्तगत रखा जा सकता है।

हमारे देश के हज़ारों लोग प्रतिवर्ष शरीर में पानी की कमी हो जाने से मरते हैं। रोगाणु संक्रमण के कारण बार-बार पतले दस्त का आना व गर्मी के मौसम में धूप में, बिना पानी पीये, काफी देर तक काम करते रहने से यह स्थिति आती है। स्थिति बिगड़ जाने पर रोगी के शरीर में इंजेक्शन द्वारा अंगूर की शर्करा (ग्लूकोस) तथा कुछ लवणों के घोल को पहुँचाना पड़ता है। यह कार्य आवश्यक रूप में चिकित्सक की उपस्थिति से ही होता है, लेकिन रोग की प्रारम्भिक स्थिति में ही यदि रोगी को थोड़ी-थोड़ी देर पर कुछ नमक और चीनी या अंगूर की चीनी को पानी में घोलकर पिलाते रहें तो शरीर में पानी की कमी न हो। यदि लोगों को यह जानकारी हो तो वे इसे अपनाकर अपने शरीर में पानी की कमी न होने दें।

आहार में पोषक तत्वों की कमी से हमें अनेक विकारों का सामना करना पड़ता है। खाद्य पदार्थों में लौह तत्व की कमी से हमारे देश की आधी आबादी शरीर में खून की कमी (एनीमिया) से प्रभावित हैं। आहार में आयोडीन की कमी के कारण हमारी कवटु ग्रन्थि (थायरॉयड) प्रभावित होती है और हम 'गलगण्ड' (ग्वायटर) नामक बीमारी के शिकार बन जाते हैं। इन दोनों पोषणिक विकारों से बचने के लिए सामान्य नमक के स्थान पर हैदराबाद की प्रयोगशाला 'नेशनल इंस्टीट्यूट ऑव न्युट्रिशन' द्वारा विकसित 'महा नमक' (फोर्टीफॉयड साल्ट) का उपयोग किया जा सकता है। लेकिन व्यापक प्रचार-प्रसार की कमी के कारण बहुत कम लोगों को ही इसके बारे में जानकारी है।

रक्षा शरीरक्रिया एवम् संबद्ध विज्ञान संस्थान, दिल्ली छावनी-110010

परमाणु बम बनाने की तकनीकी के बजाए परमाणु विस्फोट के घातक परिणामों से बचने का उपाय लोक विज्ञान का एक अच्छा उदाहरण है। आहार और स्वास्थ्य, सफाई और स्वास्थ्य, प्रदूषण और स्वास्थ्य इत्यादि लोक विज्ञान के विषय हो सकते हैं।

लोक विज्ञान के प्रचार-प्रसार में दैनिक समाचार पत्र तथा लोकप्रिय पत्रिकाएँ महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती हैं। वैसे तो आजकल इनमें कुछ वैज्ञानिक लेख देखने को मिलने लगे हैं लेकिन कुछ वर्षों पहले यह स्थिति नहीं थी। समाचार पत्रों की रुझान चटपटे समाचारों की ओर अधिक तथा वैज्ञानिक समाचारों की ओर कम रहती है। यदि उनको मिलने वाले कोटे तथा मूल्य के निर्धारण को उनके द्वारा किए गए विज्ञान के प्रचार-प्रसार के साथ जोड़ दिया जाए तो इससे इन समाचार-पत्रों में वैज्ञानिक लेखों की संख्या बढ़ेगी और एक नई संस्कृति का विकास होगा। लोक विज्ञान लेखन की भाषा-शैली चकाचौंध तथा आश्चर्य-चकित और स्तंभित करने वाली नहीं होनी चाहिए और न ही ऐसी ही कि उनको पढ़ने के बाद जीवन ही नीरस लगने लगे। लोगों को डराने तथा चौंकाने के लिए लिखा गया विज्ञान कोई विशेष लाभदायक नहीं हो सकता।

हिन्दी, अंग्रेजी तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं में प्रकाशित होने वाली अधिकांश लोकप्रिय विज्ञान पत्रिकाएँ सरकार के संरक्षण में हैं जो कि न तो समय से प्रकाशित होती हैं और न ही समय पर अपने पाठकों तक पहुँच पाती हैं। व्यक्तिगत प्रकाशन घरानों की रुझान विज्ञान की तरफ नहीं के बराबर है। इस क्षेत्र में उन्हें आगे आना चाहिए और अच्छी, आकर्षक तथा समय से प्रकाशित होने वाली लोकप्रिय विज्ञान पत्रिकाओं का प्रचलन प्रारम्भ करना चाहिए। **लोकप्रिय विज्ञान पत्रिकाओं के प्रकाशन से जुड़े या जुड़ने का प्रयत्न करने वाले औद्योगिक प्रतिष्ठानों को आयकर में छूट जैसी सुविधाओं और प्रोत्साहन को प्रदान करने के प्रश्न पर भी सरकार को विचार करना चाहिए।**

बच्चे देश के भावी कर्णधार हैं और जैसा उनका विकास आज हम करेंगे, कल वे वैसी ही सभ्यता को विकसित करेंगे। इसलिए आवश्यक है कि शुरू से ही उनके मन में विज्ञान के प्रति रुचि जगाई जाय। **आजकल बच्चे कॉमिक्स पढ़ना पसंद करते हैं। यदि विज्ञान को इस रूप में प्रस्तुत करके बच्चों को दिया जाए तो वे उसे अधिक चाव से पढ़ेंगे और जीवन के प्रति एक स्वस्थ दृष्टिकोण लेकर विकसित होंगे।**

देश में वैज्ञानिक संस्कृति के निर्माण में रेडियो और दूरदर्शन एक प्रभावशाली भूमिका निभा सकते हैं। दूरदर्शन तो अब गाँवों में भी पहुँच चुका है और अधिक से अधिक लोग इसके कार्यक्रम देखते हैं। अब आवश्यकता इसकी है कि एक नीति बना ली जाए कि दूरदर्शन तथा रेडियो पर प्रतिदिन कम से कम एक कार्यक्रम लोक विज्ञान का हो। ख्यातिप्राप्त वैज्ञानिकों से देश की मौजूदा समस्याओं के वैज्ञानिक समाधान सम्बन्धित वार्तालाप, सीरियल तथा विज्ञान की अन्य गतिविधियों का समावेश दूरदर्शन के कार्यक्रमों में होना चाहिए। **पिछले दिनों दूरदर्शन पर एक बहुत ही उपयोगी कार्यक्रम आ रहा था 'द कॉस्मॉस'। लेकिन अंग्रेज़ी माध्यम में होने के कारण इसका लाभ एक सीमित वर्ग के लोग ही उठा पाए थे।** यहाँ तक कि इस के सम्बन्ध में जब एक सर्वेक्षण कराया गया तो यह चौंकाने वाला निष्कर्ष सामने आया कि **तथाकथित उच्च वर्ग के सम्पन्न घरों के अंग्रेज़ी स्कूलों में शिक्षा प्राप्त करने वाले बच्चे भी इस कार्यक्रम को नहीं समझ पाए थे।** नवीन जानकारियों से भरपूर एक अन्य कार्यक्रम "The Secrets of The Sea" आपने देखा होगा। **दूरदर्शन पर प्रसारित होने वाले विज्ञान के कार्यक्रमों का माध्यम यदि हिन्दी या क्षेत्रीय भाषाएं हों तो उनका लाभ समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग उठा सकता है।**

गाँवों के अधिकांश लोग कम पढ़े तथा अनपढ़ हैं। विज्ञान को उन तक पहुँचाने के लिए दृश्य-श्रव्य तकनीकों का उपयोग आवश्यक है ताकि जो भी हम कहें उसे वे देख सकें, सुन सकें और समझ सकें।

[शेष पृष्ठ 16 पर]

सर्प और सर्प विष

सीताराम सिंह 'पंकज'

सदियों से सर्प हमारी संस्कृति से अभिन्न रूप से जुड़े रहे हैं। हर वर्ष नागपूजा का आयोजन इस बात का प्रमाण है। भगवान विष्णु शेषशायी हैं, तो भगवान शंकर ने सर्प का कंठहार ही पहन रखा है। ग़रज़ यह कि सर्प विषैले होते हुए भी पूजनीय हैं; मानव के शत्रु नहीं, मित्र हैं।

जंतु वैज्ञानिक सर्प को **सरीसृप (रेप्टीलिया)** वर्ग में रखते हैं। इनका शरीर लंबा, बेलनाकार तथा शल्कों से ढका होता है। समय-समय पर साँप अपने केंचुल को उतारता रहता है। इनकी आँखें विकसित होती हैं जो एक पारदर्शी झिल्ली से ढकी रहती है। यही कारण है, इनकी आँखें सदैव खुली रहती हैं। सर्पों में बाह्यकर्ण नहीं होता है अतः ये हवा से आती ध्वनि-तरंगों को ग्रहण नहीं कर सकते हैं। कहते हैं, संपेरे के बीन की आवाज़ सुनकर साँप नाचने लगता हैं, किन्तु यह वैज्ञानिक सत्य नहीं है। दरअसल होता यह है कि सँपेरे द्वारा बजाये जाने वाले बीन के हिलने-डुलने के साथ साँप भी हिलता-डुलता है। दर्शकों को ऐसा लगता है कि वह बीन की आवाज़ सुनकर भावविभोर है और नाच रहा है। सर्प धरती में उत्पन्न होने वाली ध्वनि-तरंगों को ग्रहण कर सकता है। यह सच है कि सर्पों में विलक्षण घ्राण-शक्ति (सूँघने की क्षमता) होती है। साँप की द्विविभाजित लपलपाती जिह्वा स्वाद ग्रहण करने का नहीं, वरन् गंधवाही कणों को एकत्रित करने का कार्य करती है। जीभ द्वारा ये कण तालु स्थित विशेष घ्राणेन्द्रियों में पहुँचाये जाते हैं जो गंध को ग्रहण करते हैं।

सर्पों में चलने-फिरने के लिए पाँव नहीं होते हैं। सच पूछिए तो सर्पों में प्रचलन उदर भाग पर लगी शल्क प्लेटों, पसलियों तथा मज़बूत पेशियों की सहायता से होता है। सर्प अपने शरीर को दाएँ-बाएँ मोड़ते हुए रेंगकर चलते हैं। सर्प खुरदरी सतह पर तेज़ी से किंतु चिकने सतह पर धीरे-धीरे चलते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि खुरदरे सतह पर शल्क आसानी से ज़मीन को पकड़ कर आगे बढ़ सकते हैं।

सर्पों की एक विशेषता यह है कि ये अपने शिकार को चबाते नहीं, बल्कि समूचा निगल जाते हैं। ये मांसाहारी होते हैं तथा मेंढक, चूहा, गिलहरी, कीड़े-मकोड़े इनके प्रिय आहार हैं। सर्प अपने आकार से बड़े शिकार को आसानी से निगल सकते हैं क्योंकि इनके जबड़े ढीले जुड़े रहते हैं। इनके मुख में उपस्थित छोटे-छोटे दाँत शिकार को बाहर नहीं निकलने देते हैं। विष के दाँत केवल विषैले सर्पों में पाए जाते हैं। विष-दंत का संबंध विष-ग्रंथि से होता है।

न्यूज़ीलैण्ड को छोड़कर सर्प सारे संसार में पाए जाते हैं। किंतु उष्णकटिबंधीय प्रदेशों में ये अधिक संख्या में पाए जाते हैं। ये मुख्यतः स्थलीय होते हैं किंतु कुछ सर्प जलीय भी होते हैं। साँप ज़मीन में बिल बनाकर रहते हैं। जाड़े के दिनों में ये शीत-निद्रा (hibernation) की स्थिति में ज़मीन के अंदर पड़े रहते हैं, अतः नज़र नहीं आते। गर्मी के दिनों में ये बाहर निकल आते हैं और आहार की तलाश में यत्र-तत्र भटकते रहते हैं।

केदार संत रामाश्रय महाविद्यालय अर्चनालय, सरायरंजन, समस्तीपुर, बिहार

सर्प की किस्में या प्रजातियाँ

संसार में साँपों की लगभग 2500 प्रजातियाँ पायी जाती हैं। इनमें केवल 400 प्रजातियों के सर्प ही विषैले होते हैं। **भारत में सर्पों की कोई 216 प्रजातियाँ हैं जिनमें 52 ही विषैले हैं।** विष ग्रंथि की उपस्थिति के आधार पर सर्प दो प्रकार के होते हैं—विषैले और विषहीन। ज़हरीले सर्पों में प्रमुख हैं—**नाग** (Cobra), **करैत** (Karait), **रसेल्स वाइपर** (Russel's Viper), **फुरसा** या **इकिस केरीनेटा** इत्यादि। इसी प्रकार विषहीन सर्पों में **रैट स्नेक** (Rat snake), **अजगर, बोआ कन्सट्रिक्टर** इत्यादि सर्प आते हैं। प्रायः सभी समुद्री सर्प विषैले होते हैं। विषैले और विषहीन सर्पों को कुछ बाह्य लक्षणों के आधार पर पहचाना जा सकता है। समुद्री सर्पों की पूँछ चिपटी होती है जैसे **हाइड्रोफिस**। स्थलीय सर्पों की पूँछ बेलनाकार होती है। ये विषैले और विषहीन दोनों हो सकते हैं। सर्प के सिर पर स्थित गड्ढे और शल्कों की स्थिति के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अमुक सर्प विषैला है या विषहीन।

सर्प विष

साँप का विष अम्लीय होता है, जो सूखने पर पतली सुई नुमा क्रिस्टल बन जाता है। सर्प विष में अनेक प्रकार के कार्बनिक पदार्थ होते हैं। इसके रासायनिक विश्लेषण से यह ज्ञात हुआ है कि इसमें कार्बन, हाइड्रोजन, ऑक्सीजन, फॉस्फोरस, गंधक, नाइट्रोजन जैसे तत्व तथा कुछ धातुओं के आयन पाए जाते हैं। सर्प का सर्वप्रथम वैज्ञानिक विश्लेषण करने का श्रेय वैज्ञानिक **डॉ० सिलास बियर माइकेल** एवं **डॉ० ई० टी० रिशर्ट** को है। रक्त पर सर्प विष के प्रभाव जानने का श्रेय वैज्ञानिक **एल० बोनापार्ट** को है, उनके शोध के अनुसार सर्प विष में अनेक प्रकार के एंज़ाइम्स होते हैं, यथा प्रोटीयोकाइटिक एंज़ाइम, फॉस्फेटीडेसेस, न्यूरोटॉक्सिन, प्रोटिएसेस, इरेप्सिन, राइबोन्यूक्लिएस, हायलोरुनिडेस, इत्यादि। सर्प विष के कुछ एंज़ाइम शरीर के प्रोटीनों को नष्ट करते हैं तो कुछ रक्त को जमा देते हैं। विष के हानिकारक घटक निम्नलिखित होते हैं—

(i) हीमोलाइसिन—यह लाल रक्त कणिकाओं (R.B.C) को नष्ट करता है।

(ii) ल्यूकोलाइसिन—यह सफ़ेद रक्त कणिकाओं (W.B.C.) को नष्ट करता है।

(iii) न्यूरोटॉक्सिन—यह तंत्रिका तंत्र के **पक्षाघात** के लिए उत्तरदायी है।

(iv) साइटोटॉक्सिन—यह ऊतकों को नष्ट करता है।

(v) कार्डियोटॉक्सिन—यह हृदय पर बुरा प्रभाव डालता है।

(vi) मायोटॉक्सिन—यह मांसपेशियों को हानि पहुँचाता है।

(vii) कॉग्यसिन—यह रक्त को थक्का बनाता है। विभिन्न सर्पों के विष की रासायनिक संरचना में थोड़ा-बहुत अंतर होता है उदाहरणार्थ नाग का विष मज्जा तंतुओं पर सीधा प्रभाव डालता है। कटे हुए स्थान पर तीव्र पीड़ा होती है और रोगी 5-12 घंटों में मर जाता है। करैत के काटने पर उदर में भयंकर पीड़ा होती है तथा जोड़ों में दर्द होता है। वाइपर के काटने पर कटे स्थान तथा आस-पास सूजन आ जाती है। देखने तथा सांस लेने में परेशानी होना, मूत्र में रक्त आना, मुँह से झाग निकलना इसके प्रमुख लक्षण हैं।

सर्प विष रक्त-प्रवाह के माध्यम से शरीर के समस्त अंगों में पहुँच जाता है और इसके घातक लक्षण प्रगट होने लगते हैं। सर्प विष के संबंध में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि विष की समान मात्रा सभी प्राणियों के लिए समान रूप से घातक नहीं होती है। नाग का 15 मि० ग्रा० विष मनुष्य की मौत ला सकता है, जबकि इसकी 0.005 मि० ग्रा० मात्रा ही एक गिनीपिग की मृत्यु के लिए काफी है। **रोंगर्स** नामक वैज्ञानिक के अनुसार समुद्री सर्प (**हाइड्रोफिस**) का विष नाग के विष से 50 गुना अधिक घातक है। **कोबरा सर्प** के विष की 12.00 मि० ग्रा०, **करैत** की

6.00 मि0 ग्रा०, **वाइपर** की 15.00 मि० ग्रा० मात्रा मनुष्य के लिए घातक होती है।

र्प विष के उपयोग

सर्प का विष अगर एक तरफ मौत के मुँह में पहुँचाने का रहता है तो दूसरी ओर मौत से मुक्ति दिलाने वाला भी है। सदियों से सर्प विष का उपयोग आयुर्वेदिक चिकित्सा में **क्षय रोग** के इलाज के लिए किया जाता रहा है। दन्त चिकित्सा में रक्त-स्राव रोकने के लिए **वाइपर** का विष तथा क्षय रोग के लिए **नाग** के विष का उपयोग किया जाता है।

भारत में बम्बई स्थित 'हॉफ़किन संस्थान' में सर्पों के विष से 'प्रति-सर्प विष' (Antitoxin) तैयार किया जाता है। साँप के काटने पर इस विष के इंजेक्शन से रोगी मरने से बच जाता है। कसौली, मद्रास, तथा अन्य स्थानों में भी साँपों से 'प्रति-सर्प विष' तैयार किए जाते हैं। अब **बहुसंयोजी (Polyvalent)** प्रति-सर्प विष भी बनाया जाने लगा है। अगर काटे गए साँप की जाति का पता न चले तो इस प्रकार की सूई देने से रोगी बच सकता है। वैसे अलग-अलग सर्प के अलग-अलग प्रति-सर्प विष तैयार किए जाते हैं।

यही नहीं सर्प विष से अनेक प्रकार की उपयोगी दवाइयाँ भी बनाई जाती हैं। यथा **कोबरोक्सीन** (Cobroxsine), **एर्वटिन, नाइलोक्सीन** आदि। **कैंसर** तथा **हृदय रोगों** की चिकित्सा में सर्प के उपयोग की पूरी संभावना है। 'हॉफ़किन संस्थान' में सर्प विष के विविध उपयोगी पहलुओं पर शोधकार्य चल रहा है। □□

[पृष्ठ 13 का शेषांश]

इससे हमारी बातों का उनके मस्तिष्क पर सीधा असर पड़ेगा। ये कार्यक्रम क्षेत्रीय भाषाओं में हों तभी उनका प्रभाव अधिक दिनों तक रहेगा अन्यथा वह तभी तक रहेगा जब तक कि कार्यक्रम चलता रहेगा और उसके बंद होते ही वे पुन: अपने पुराने ढर्रे पर चलने लगेंगे।

लोक विज्ञान का प्रचार-प्रसार भाषणों, गोष्ठियों तथा कार्यशालाओं के माध्यम से अधिक सुगमता से किया जा सकता है। विभिन्न वैज्ञानिक विषयों पर सुगम भाषणमालाओं का आयोजन तथा आकाशवाणी और दूरदर्शन के सभी केन्द्रों से राष्ट्रीय कार्यक्रम के अन्तर्गत उनका प्रसारण होना आवश्यक है। इससे एक नई संस्कृति का निर्माण तो होगा ही, हमारे समाज में वैज्ञानिकों के प्रति एक स्वस्थ दृष्टिकोण भी बनेगा।

विज्ञान तथा उसके लाभ को जन-जन तक पहुँचाने का जन-संपर्क एक सशक्त माध्यम है। देश के वैज्ञानिकों चिकित्सकों, इंजीनियरों तथा लोकप्रिय विज्ञान लेखकों, को एक मंच पर लाकर विज्ञान को लोगों तक पहुँचाने के मार्ग में आने वाली बाधाओं को बहस का विषय बनाकर उनकी राय जानना तथा उनकी कठिनाइयों को दूर करने का प्रयास करना एक अत्यन्त आवश्यक कदम है. विज्ञान के प्रचार-प्रसार को एक नया आयाम देने के लिए। इस कार्य से सम्बद्ध लोगों को अनेक रुकावटों का सामना करना पड़ता है। जब इस कार्य को कोई सरकारी कर्मचारी या वैज्ञानिक करना चाहता है तो इसकी जटिलताएं और बढ़ जाती हैं। नियम ऐसे हैं कि मनुष्य उनसे प्रोत्साहित होने के स्थान पर हतोत्साहित होता है। आवश्यकता इस बात की है कि एक स्थान पर बैठकर इन पर विचार किया जाए। यदि लोक विज्ञान के प्रचार प्रसार के कार्य को भी वैज्ञानिकों का एक उत्तरदायित्व मान लिया जाए तो इससे समस्या काफी हद तक सुलझ सकती है।

आजकल व्यावसायिक प्रतिष्ठानों द्वारा विकास के लिए 'गाँवों को गोद लेने' की एक अच्छी परम्परा चल पड़ी है। वैज्ञानिक संस्थान भी इस कार्य को आगे बढ़ा सकते हैं। प्रत्येक संस्थान अपने पास के एक गाँव को चुन ले तथा चार-छ: महीनों में दो-चार बार वहाँ जाकर उनके लिए आवश्यक वैज्ञानिक जानकारियाँ देने का कार्यक्रम बना ले तो इससे वैज्ञानिक-ग्रामीण सम्पर्क सूत्र मजबूत होगा जो कि देश में वैज्ञानिक संस्कृति के विकास के लिए आवश्यक है। वैज्ञानिकों के लिए प्रयोगशालाओं में काम करने जैसा ही आवश्यक है उस कार्य को उन लोगों तक पहुँचाना जिनके लिए वह कार्य किया गया है। □□

विघटनकारी फफूँदें

प्रद्युम्न कुमार यादव

नन्हें-नन्हें फफूँद (कवक) जो कि अपना जीवन परजीवी, मृतोपजीवी तथा सहजीवी के रूप में व्यतीत करते हैं तथा पूर्णतया परपोषियों पर आधारित होते हैं, हर जगह, हर तंत्र में विद्यमान होते हैं तथा परपोषियों को घेरकर पूरे पादप समुदाय को नष्ट करने में सक्षम होते हैं। इसका एक अच्छा उदाहरण है—घास मैदान पारिस्थितिक तन्त्र (ग्रास लैण्ड इको-सिस्टम), जिसमें उपरिभूमिक पौधों के भागों को अपघटित करने में इन फफूंदों का विशेष हाथ होता है। वैज्ञानिकों की नवीनतम शोधों के अनुसार ये घासें निम्न हैं, जिसमें कि कवकों द्वारा अपघटन की प्रक्रिया पायी गयी है।

साधूर घास (**ब्रोथिओक्लाआ वटूंसा**), मार्वेल घास (**डाइकैन्थियम एनुलेटम**), दूब घास (**साइनोडॉन डैक्टाइलान**), जवार (**एन्ड्रोपोगन सार्घम**), गेहूँ (**ट्रिटिकम वल्गेयर**), कंगनीघास (**सिटारिया ग्लाका**) एवं मूंज (**संकरम मूंजा**)।

वैज्ञानिकों के द्वारा विभिन्न घासों के क्षय की प्रावस्थाओं को लेकर उनकी परिपक्वता की शुरुआत के अध्यअन से यह ज्ञात हुआ कि फफूँदियों का एक विस्तृत समूह क्षय की विभिन्न अवस्थाओं में विद्यमान है और ये अपघटन के साथ-साथ परिवर्तनशील भी हैं।

पौधों की पत्तियों में फफूँद समूह के परीक्षणोपरान्त देखा गया है कि फफूँद पुरानी पत्तियों में सबसे पहले उत्पन्न होती है। फलस्वरूप अपघटन की प्रावस्थायें, पौधे की परिपक्वावस्था के पहले ही शुरू हो जाती है और जैसे ही पौधा परिपक्व होता है, वह मृतोपजीवी कवकों द्वारा घेर लिया जाता है और संघों का निर्माण हो जाता है। प्रारंभिक संघों का "प्राथमिक समूह कर्ता" कहलाता हैं। इनमें से प्रमुख हैं **आल्टरनेरिया टिनुइस, आ० ह्यूमीकोला, नाइग्रोस्पोरा स्फेरिका, कर्वुलेरिया लुनेटा, इपीकाकम नाइग्रम** और **स्टेम्फिलियम वेरुकुलोसम।**

हडसन (1964) ने बताया कि **कर्वुलेरिया** एवं **नाइग्रोस्पोरा** उष्ण कटिबंधीय देशों में बहुतायत से मिलते हैं। प्रथम चरण की विघटन कारी फफूँदें जो कि शुरूआत में किसी विशेष घास तक सन्निहित होती हैं जैसे कि **पेरिकोनियला इकाइनोक्लोई** और **टेट्राप्लोआ इलीसाई** जो कि साधूर घास, मार्वेल घास एवं दूब घास पर पाये जाते हैं। **आल्टरनेरिया टिन्विसिया** एवं **पीसिलोमाइसेज पसिनस** नामक फफूँदें ज्वार पर, **फ्यूजेरियम मोनिलीफार्मी** नामक फफूँदें गेहूँ पर और **फोमा सिरियेल्स** एवं **पाइरेनोकीटा विनोसा** नामक फफूँद कंगनी घास **सिटारिया ग्लाका** पर पाई जाती हैं।

एस० पी० लाल एवं **ए० एस० यादव** ने 1964 में **आल्टरनेरिया टिन्विसिया, कर्वुलेरिया हरबेरम, क० लुनेटा, इपीकाक्कम नाइग्रम, फ्यूजेरियम सेमीटेक्टम हेल्मिन्थोस्पोरियम ह्वाइयेन्स, पीसिलोमाइसेज पसिनस** नामक कवकों की निर्बल पराश्रयी प्रवृत्ति का परीक्षण किया और बताया कि ये फफूँद केवल हरे तने के टुकड़ों पर रोग फैलाने में सक्षम होते हैं। "प्राथमिक समूह कर्ता" शीघ्रताशीघ्र समूह बनाने में सफल होते हैं, क्योंकि इनमें बीजाणु का अंकुरण बहुत ही शीघ्र

वनस्पति विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद—211002

होता है तथा कवक जाल कम आर्द्रता पर अत्यधिक मात्रा में फैल जाते हैं। बहुत से प्राथमिक कवक संघ के सदस्य जिसमें कि उच्च सेलुलिटिक योग्यता होती है तथा प्राथमिक संघ के बाद की सभी प्रावस्थायें पायी जाती हैं "द्वितीयक समूहकर्ता" कहलाते हैं। इस प्रकार यह माना गया है कि प्राथमिक कवक संघ, के कवकों द्वारा सफलतापूर्वक संघीकरण आरंभ में सेलुलिटिक गुणों से पूर्णतया संबंधित हैं। प्राथमिक कवक संघ के सदस्य, द्वितीय कवक संघ की अपेक्षा अधिक समय तक विद्यमान रहते हैं। प्राथमिक समूह कर्ता" के अनेक फफूंद वृद्धि करते हैं और वे द्वितीयक कवक संघ में पहुँच जाते हैं जिनका कि पौधों के सड़ाने व गलाने में विशेष हाथ होता है। इस प्रकार के प्रमुख कवक हैं **पुलुलेरिया पुलुलेन्स, सिफैलोस्पोरियम, हेलिको-स्पोरियम, बोट्रियोडिप्लोडिया थियोब्रोमी, रोडोटोरुला, ट्राइकोडर्मा लिग्नोरम** इत्यादि।

इन कवकों की परिपक्वावस्था में आने की अवधि उसके गुण तथा अपघटन के पारिस्थितिक कारकों पर निर्भर करती है। कुछ वार्षिक घासों जैसे—साधूर घास, मार्वेल घास, दूब घास और कंगनी घास में परिपक्वावस्था की दर एवं विघटन की दर, बहुवर्षीय घास मूँज (**सैकरम मूँजा**) की अपेक्षा अधिक होती है। कुछ सामान्य एवं प्रभावी कवक जो द्वितीय कवक संघ के अन्तर्गत आते हैं तथा विभिन्न घासों पर पाये जाते हैं निम्न हैं: **आर्थ्रिनम सैकरीकोला, बोट्रियोडिप्लोडिया थियोब्रोमी, कोलिटोट्राइकम, डिक्टियोआर्थ्रिनियम, डिप्लोडिया पिनेरम, इपीकाकम नाइग्रम, हेलमिन्थोस्पोरियम, माइरोथिसियम, फोमा, पेपुलेरिया स्फ़ेरोस्पर्मा** एवं **टोरूला** इत्यादि।

कुछ फफूंदें जैसे—**बहुसंधिका इण्डिका, हेन्डर-सोनिया पेरीकोनिया** और **पिथोमाइसेज** आदि प्रजातियां **सिटारिया ग्लाका, एन्ड्रोपोगन सार्घम, ट्रिटिकम वल्गेयर** और **सैकरम मूंज** आदि घासों पर पाये जाते हैं। जबकि **विकुलम इंडिकम, स्पिगोजिनिया सुन्द्रा** और **ह्यूमीकोला** कवकों की प्रजातियाँ **सि० ग्लाका, बो० पर्टूसा, डॉ० एनुलेटम,** और **सा० डेक्टाइलान** नामक घासों पर पाई जाती हैं। कुछ प्रभावी कवक घासों पर पोषी विशिष्टता रखते हैं वे हैं **थिवेलिया टेरीकोला** और **लेप्टोस्फिरिया** की प्रजातियाँ, जो कि **बो० पर्टूसा, डॉ० एनुलेटम,** और **सा० डेक्टाइलान** नामक घासों पर पायी जाती हैं।

मृतोपजीवी कवकों की प्रजातियों की संख्या पौधे की वृद्धि के साथ-साथ बढ़ती जाती है। ये शरद ऋतु में धीरे-धीरे घटती हैं तथा मार्च व मई के महीने में बिलकुल ही कम हो जाती हैं। इसका कारण यह है कि पौधों को नमी कम मात्रा में प्राप्त होती है। इस अवधि में कम आपेक्षिक आर्द्रता एवं उच्च ताप की अधिकता होती है।

वैज्ञानिकों के परीक्षणों से ज्ञात हुआ है कि कम नमी के कारण अंकुरण, वृद्धि एवं कवकों के बीजाणु-निर्माण की प्रक्रिया सीमित हो जाती है। उच्च ताप कवकों के समूहों पर दो तरह से प्रभाव डालता है। परोक्ष रूप से, कवकों के बीजाणु के अंकुरण एवं कवक जाल की वृद्धि को प्रभावित करके तथा अपरोक्ष रूप से परपोषी में नमी की मात्रा एवं वातावरण की आपेक्षिक आर्द्रता को कम करके। ग्रीष्म ऋतु के पश्चात् वर्षा ऋतु आने पर कवक प्रजातियों की संख्या में या तो वृद्धि होती है, या तो कमी होती है। यह परपोषी के क्षय की प्रावस्थाओं पर निर्भर करता है। कवक प्रजातियों की संख्या वर्षा ऋतु में आंशिक विघटित अवयवों पर वृद्धि करती हैं तथा अधिक विघटित अवयवों पर इनकी कमी हो जाती है। अधिक उपयुक्त वातावरणीय दशाओं के बावजूद वर्षा ऋतु में कवक प्रजातियों का क्षय अत्यधिक अपघटित पदार्थ पर आरोपित हो जाते हैं, क्योंकि कार्बनिक पोषकों में कमी एवं सूक्ष्म जीवाणुओं के बीच प्रतिस्पर्धा के कारण वे अंतिम रूप से अपना संघ बनाने में सफल होते हैं।

ये निरीह दिखने वाले कवक बड़े से बड़े पौधे यहाँ तक कि पादप समुदाय एवं पारिस्थितिक तंत्र का सफाया करने में पूर्ण रूप से सक्षम हैं।

□□

साँपों का रोचक संसार

मंजुलिका लक्ष्मी

आज से करोड़ों वर्ष पूर्व पृथ्वी पर जिन सरीसृपों का आधिपत्य था उन्हीं के वंशज हैं वे सर्प जो आज की धरती पर दिखाई पड़ते हैं। सामान्य जन के बीच सर्पों के विषय में साधारणतया एक भय या जुगुप्सा का भाव ही दिखाई पड़ता है। किंतु इनकी जीवन-यात्रा के विषय में जानना भी कम रोचक नहीं।

सर्पों के विषय में सबसे रोचक तथ्य तो यह है कि उनमें वे सभी संवेदी अंग पाये जाते हैं जो मानवों में होते हैं। इसके साथ ही साथ उनके पास कुछ अन्य ऐसी भी संवेदी क्षमतायें हैं जो मानव में अप्राप्य हैं। अन्तर केवल यह है कि उनकी संरचना भिन्न है। उदाहरणतः उनके कान नही होते और ध्वनि को संप्रेषित करने वाली अस्थि उनके निचले जबड़े के निकट स्थित होती है। इस विशेषता के कारण सर्प वायु द्वारा संप्रेषित ध्वनि तरंगों को सुनने में तो असमर्थ होते हैं किंतु धरती द्वारा संप्रेष्य ध्वनि तरंगों के प्रति विशेष रूप से संवेदनशील हैं—जैसे कदमों की आहट। इसी तरह उनमें घ्राण शक्ति भी पाई जाती है जो 'जैकबसन अंग' नामक एक अति विचित्र संरचना द्वारा नियंत्रित होती है। यह विशिष्ट अंग सर्पों के मुख गह्वर के ऊपरी भाग अथवा तालु में स्थित होता है। सर्प अपनी विभाजित जीभ द्वारा लपककर वायुमंडल में स्थित सूक्ष्म कणों को मुख में लाता है ओर 'जैकबसन अंग' तक पहुँचा देता है। फिर यह 'जैकबसन अंग' उसे 'सूंघ कर' उसकी पूरी जानकारी देता है। इसी की सहायता से सर्प अपने इर्द-गिर्द के वातावरण या अपनी मादा के विषय में पता लगाता है। इससे भी विचित्र तथ्य यह है कि सर्प की जीभ पर स्वाद कलिकायें नहीं होतीं किन्तु उसे अक्सर अपनी जीभ लपलपाते-घुमाते देखा जा सकता है। सर्प की आँखें
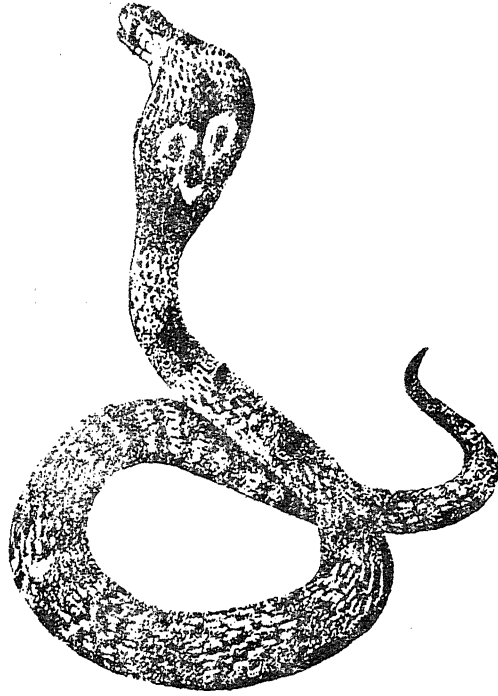
चित्र 1—भारतीय नाग

दृश्य वस्तु का सम्पूर्ण चित्र उपस्थित कराने के स्थान पर केवल गति का आभास मात्र कराती हैं और चूँकि उसकी आँखों में केवल निकट दृष्टि ही होती है अतः संभव है कि गतिहीन स्थिर शिकार को वह बिल्कुल निकट रहने पर भी न देख पाये, यदि वह उसकी घ्राण क्षमता की सीमा के बाहर है। उनकी

5 ई/4 स्टाफ क्वार्टर्स, लिडिल रोड, जार्जटाउन, इलाहाबाद-211002

आँखों पर पलकें भी नहीं होतीं और यह संदिग्ध है कि वे दूरी का सही अंदाज़ लगा सकते हैं। सर्प के सिर में स्थित इन संवेदी अंगों के अलावा उसकी पूरी त्वचा पर संवेदन क्षमता होती है इसी कारण शल्कों के बावजूद भी सर्प, तापमान और स्पर्श के प्रति संवेदनशील होते हैं। अन्य स्तनपायी जीवों के विपरीत सर्पों में शरीर के तापमान को अन्दर से नियंत्रित करने की क्षमता नहीं पायी जाती। इस कार्य के लिए वे 'सौर ऊर्जा' पर निर्भर करते हैं। इस व्यवस्था का एक विशेष लाभ सर्पों को यह मिलता है कि जहाँ अन्य जीवों द्वारा खाये गये भोजन का अस्सी प्रतिशत शरीर के तापमान को नियंत्रित करने में व्यय हो जाता है वहाँ सर्प इस भार से मुक्त हैं और वे एक दिन भोजन करके कई-कई दिन बिना भोजन के आसानी से रह सकते हैं। इसी के साथ उन्हें जलरोधी त्वचा का भी वरदान प्राप्त है जिससे उनके शरीर की नमी का क्षय नहीं होता। इन उपरोक्त दो विशेषताओं का लाभ यह है कि सर्प हर प्रकार के वातावरण में सरलता से जीवित रह सकता है, चाहे वह हरा मैदान हो या रेगिस्तान।

सर्पों के सम्पूर्ण शरीर की संरचना इस प्रकार की होती है कि चलने या आगे बढ़ने के लिए उन्हें खुरदरी सतह की आवश्यकता होती है। यह अपने रीढ़ की हड्डी के दोनों ओर स्थित मांसपेशियों को एकान्तरित (alternate) पट्टियों में इस प्रकार लचकाता है कि उसका समूचा शरीर 'S' आकारों की एक श्रृंखला बन जाता है। संकोचन की यह प्रक्रिया उसके शरीर में ऊपर से नीचे तक तरंगों की भाँति 'स्थानान्तरित' होती रहती है। इन तरंगों के बाहरी और भीतरी 'कोने' जब धरती की खुरदरी सतह के अवरोधों के सम्पर्क में आते हैं तो उन्हीं का सहारा लेकर सर्प अपने समूचे शरीर को आगे ढकेलता है। इसी कारण लंबे पतले साँप अधिक तीव्र गति से आगे बढ़ते हैं क्योंकि उनके शरीर में अधिक वक्रतायें और तरंगें बन सकती हैं। इस सामान्य गति के अतिरिक्त स्थान और स्थिति तथा अपनी अलग-अलग शारीरिक गठन की आवश्यकतानुरूप सर्प चाल के अन्य तरीकों को भी अपना सकते हैं।

सर्प की त्वचा में चिकनापन और खुरदरापन दोनों ही पाये जाते हैं। उसके बाह्यचर्म की परतें विशेष प्रकार की तहों में जुड़ी रहती हैं जो उन्हें एक अलग रूप प्रदान करती हैं। यह व्यवस्था उसके उदर तल वाले भाग पर तो साधारण होती है पर पृष्ठतल पर यह जटिल होती है और जब सर्प किसी शिकार को निगलता है तो उसके शरीर को लचीलापन प्रदान कर यह शिकार पकड़ने में सहायक होती है। केराटिन नामक तत्व से बनी त्वचा की यह ऊपरी पर्त जब ख़राब हो जाती है तो सर्प इन्हें उतार फेंकते हैं। यही प्रक्रिया सर्पों में 'केंचुल बदलना' कहलाती। इस दौरान उनमें नया बाह्यचर्म बनता रहता है और नये और पुराने दोनों सतहों से एक सफेद तरल पदार्थ निःसृत होता रहता है। यह उसकी आँखों पर भी छा जाता है और एक सप्ताह की इस कालावधि में सर्प लगभग अंधा और असहाय रहता है। अधिकतर ऐसी दशा में सर्प अपनी बाँबियों में छुपे ही रहते हैं। वैसे तो सर्पों में अपने पूरे जीवन भर शारीरिक वृद्धि होती रहती है पर केंचुल बदलने की इस प्रक्रिया का सम्बन्ध शरीर से नहीं वरन् वातावरणजनित आवश्यकताओं से होता है।

अपनी भोजन संबंधी आदतों में सर्प अधिकांश जीवों की तरह मांसाहारी ही होते हैं किन्तु इनकी विशेषता यह है कि ये अपने शिकार को समूचा निगलने में विश्वास रखते हैं। कभी-कभी तो अपने से दो-तीन गुने मोटे जानवरों को निगलने में भी ये नहीं हिचकते। उनके अन्दर की तरफ़ मुड़े हुए दाँत चबाने के लिए नहीं बल्कि शिकार यदि एक बार पकड़ में आ जाये तो उसे जकड़े रहने के लिए बने होते हैं। इन दाँतों की पक्की जड़ें नहीं होती और सर्प के जीवनकाल में यह कई बार गिरते-निकलते हैं। बड़े शिकार को निगलते समय उसका दम न घुट जाये इसके लिए मांसपेशियाँ उसकी वायुनली को खिसका कर जबड़े के सामने की तरफ़ ले आती हैं। सर्प के

मुख में स्थिर लार भी शिकार को निगलने में सहायक होती है और चाहे जितना ही विषहीन जाति का सर्प हो, उसके मुख की लार हल्की विषैली हो सकती है। एक तरह से सर्प विष को भी एक विशेष प्रकार की लार की संज्ञा दी जा सकती है क्योंकि यह शिकार को पूर्णतया निगले जाने से पूर्व ही उसपर अपनी पाचक अभिक्रियाएँ शुरू कर देती है। सर्प के शरीर के अत्यंत प्रभावशाली पाचक रस शिकार के मांसल भागों और अस्थियों को अतिशीघ्रता से पचा लेते हैं पर आश्चर्यजनक रूप से शिकार के शल्क, पंख या बालों पर इनका कोई असर नहीं होता!

सर्पों की दुनिया में प्रजनन की प्रक्रिया भी कम रोचक नहीं है। जब मादा सर्पिणी जोड़ा बनाने को तैयार होती है तो वह अपने पीछे गंध की एक लीक छोड़ आती है जिसका पीछा करते हुए नर सर्प उस तक पहुँचता है। अधिकांश जातियों में नर सर्प मादा की पीठ व गले पर अपनी ठुड्डी के स्पर्श से उसे आकर्षित करता है और उसे दूर जाने से रोकता है। अधिकांशतः मादा इस संपूर्ण क्रिया में उदासीन रहती है किन्तु इंडियन कोबरा (भारतीय नाग) जाति के नर-मादा का जोड़ा समागम के पूर्व एक लम्बे समय तक एक प्रकार का 'नृत्य' करते हैं। यदि इस समय नर सर्प का सामना कभी अपने प्रतिद्वन्द्वी सर्प से हो जाता है तो बिना हिंसात्मक हुए एक दूसरे को भगाने की कोशिश तब तक जारी रहती है जब तक उनमें से एक भाग नहीं जाता। गर्भधारण के पश्चात् कुछ समय बाद मादा कई गुच्छों में अंडे देती है। इसके अंडों की त्वचा मोटी और चमड़े जैसी होती है तथा अन्दर जर्दी काफ़ी होती है जिससे नन्हें शिशु का पोषण भलीभाँति हो सके। अंडे देने के लिए मादा बिल या दरारों की तलाश करती है। कभी-कभी सूखी पत्तियों के ढेर के नीचे भी अंडे देती है। उसकी यह सतर्कता जहाँ उसकी सुरक्षा की दृष्ट से है वहीं अंडों को गर्म रखने के लिए भी। सर्पों के बीच संकर प्रजनन नहीं देखा जाता। सभी जातियाँ अपनी ही जातियों में यह क्रिया संपन्न करती हैं। सर्प के अंडों में भी उनकी त्वचा की ही भाँति जलरोधी क्षमता पाई जाती है किन्तु अंडों के बाह्यखोल में यह विशेषता है कि वह ऑक्सीजन को अन्दर जाने दें और कॉर्बन डाइऑक्साइड को बाहर निकलने दें जिससे भ्रूणों को साँस लेना संभव हो सके।
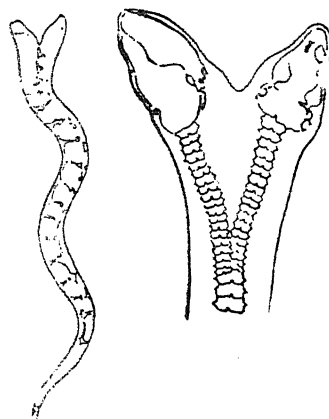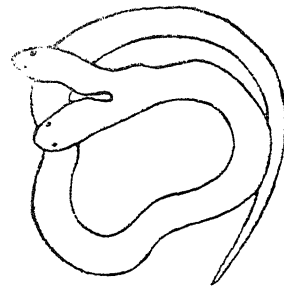
चित्र 2—दो मुँह वाला साँप : ऊपर कुंडलित; नीचे बाह्य और आंतरिक स्वरूप

सर्प के संपूर्ण शरीर का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग उसका मुख है जिसका उपयोग वह भोजन के लिए तो करता ही है साथ ही आक्रमण और सुरक्षा के लिए भी करता है। मुख की सहायता से वह मेंढक, चूहे, छिपकली और चिड़ियों का शिकार करता है। इस कार्य में धीरे-धीरे चोरी से आक्रमण करना उसके युद्ध कौशल का प्रमुख हथियार है। कभी-कभी वह आक्रमण के पूर्व आस-पास के वातावरण में स्वयं को छिपा भी लेता है। कुछ जातियों के सर्प अपने को शिकार के चतुर्दिक कुंडली की भाँति लपेट लेते हैं

और अपने शरीर को इतना संकुचित करते हैं कि शिकार का दम घुट जाय। कुछ अधिक विकसित जातियों के सर्प अपने शिकार को मारने के लिए और किफ़ायती तरीका अपनाते हैं और अपने मारक विष द्वारा शिकार को मारते हैं। इनके जबड़े के पृष्ठ भाग में एक अलग दाँत होता हैं जो सर्प के विष दाँतों से विष के गिरने तक शिकार को फँसाये रखता है। कोबरा, मंबा और समुद्री सर्पों में ये हथियार अधिक विकसित होते हैं। उनके विषदंत जबड़े के आगे के हिस्से में स्थित रहते हैं और अपनी खोखली नली जैसी आंतरिक संरचना के कारण इंजेक्शन की तरह विष की बूंद शिकार के शरीर में पहुँचा देते हैं। वाइपर सर्पों में तो ये विषदन्त इसी कार्य को अधिक सुचारु रूप से करने की दृष्टि से इतने ज्यादा लम्बे होते हैं कि उसे उन्हें मोड़कर मुख में रखना पड़ता है और केवल आक्रमण के समय ही सीधे होते हैं।

वस्तुतः सभी सर्प ज्यादातर तो अपने से बड़े पशुओं या मानवों सभी से बचकर ही रहते हैं और

चित्र 3 —तीन मुँह वाले साँप की प्रस्तर प्रतिमा

चित्र 4—पाँच मुँह वाले कालिय नाग के फन पर नृत्य करते भगवान बाल श्रीकृष्ण

अपने विषदंत का उपयोग वे अपनी सुरक्षा की दृष्टि से ही करते हैं। यदि सर्पों को पहले से ऐसे किसी जानवर का आभास मिल जाये तो वह स्वयं ही रास्ते से अलग हट जायेगा बशर्ते कि वह हर तरफ से घिर न गया हो। इस दृष्टि से तो सर्प मनुष्य का सहायक ही है कि वह चूहों का शिकार कर अन्न का नाश करने वाली एक भारी मुसीबत से छुटकारा दिलवाता है। सर्पों की लगभग सभी जातियाँ सामान्य रूप से मानव के प्रति हिंसक नहीं हैं।

फिर भी यह एक अजीब संयोग है कि मानवजाति सर्पों से भय भी खाती है, उससे घृणा भी करती है और उसकी पूजा भी करती है। मिस्र सभ्यता, वैदिक साहित्य, हड़प्पा और मोहनजोदड़ों की खुदाई सभी किसी न किसी रूप में प्राचीन काल से सर्प पूजा के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। इसी भयजनित श्रद्धा के कारण ही संभवतः मणिधारी सर्प या दो मुँहे सर्प आदि की धारणायें भी जनमानस में घर कर गई हैं।

[शेष पृष्ठ 24 पर]

विज्ञान समाचार

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग शब्दावली कार्यशालाओं का समापन

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग (मानव संसाधन विकास मंत्रालय) द्वारा इलाहाबाद विश्वविद्यालय में 9 से 17 फरवरी, 1987 तक आयोजित गणित, रसायन, प्राणिविज्ञान तथा वनस्पतिविज्ञान की शब्दावली कार्यशालाओं का समापन समारोह स्थानीय विज्ञान परिषद् सभागार में सम्पन्न हुआ।

कार्यशालाओं के प्रबंधक **श्री प्रेमानन्द चन्दोला** ने प्रारंभिक वक्तव्य में बताया कि शब्दावली आयोग 1961 से शब्दावली निर्माण, ग्रन्थ-निर्माण, परिभाषा-कोशों तथा संपूरक साहित्य के प्रणयन वाले राष्ट्रीय महत्व के कार्य में लगा हुआ है। उन्होंने भाषाओं के प्रकृति-वैशिष्ट्य के अनुसार शब्दावली के कुछ उदाहरण भी दिए आयोग के अधिकारी **डॉ० हरिमोहन कृष्ण सक्सेना** ने अपने परिचयात्मक भाषण में शब्दावली के विविध पहलुओं पर प्रकाश डाला।

ज्ञातव्य है कि इन कार्यशालाओं में पहले भूमिका स्वरूप पारिभाषिक शब्दावली पर श्री दयानन्द पन्त, डॉ० एच० एम० के० सक्सेना, श्री एन० एन० नम्बूदिरी तथा श्री सतीशचन्द्र सक्सेना ने विशेष व्याख्यान दिए। फिर विभिन्न विषयों पर इलाहाबाद विश्वविद्यालय के विद्वानों द्वारा विषय सम्बन्धी मॉडल व्याख्यान हिंदी में प्रस्तुत किए गए। गणित में प्रो० एच० सी० खरे, प्रो० प्रमिला श्रीवास्तव, प्रो० चन्द्रिका प्रसाद, प्रो० एस० के० भट्टाचार्य, डॉ० बनवारी लाल शर्मा ने, वनस्पतिविज्ञान में प्रो० डी० सी० पांडेय, प्रो० बी० एस० मेहरोत्रा, डॉ० सुधीर चन्द्र, डॉ० गोपाल कृष्ण श्रीवास्तव, डॉ० वीरेन्द्र कुमार वर्मा, डॉ० जे० पी० श्रीवास्तव ने, प्राणिविज्ञान में प्रो० ए० एन० चट्टोराज, डॉ० सी० बी० एल० श्रीवास्तव, डॉ० दीपिका कौल, डॉ० पी० के० मंडल, डॉ० एस० एल० मिश्रा, डॉ० वी० एस० भटनागर ने तथा रसायन में प्रो० रामदास तिवारी, प्रो० एच० पी० तिवारी, प्रो० कृष्ण बहादुर, डॉ० शिवगोपाल मिश्र, डॉ० शिव प्रकाश, डॉ० कृष्णा मिश्रा, डॉ० एस० सी० चट्टोपाध्याय, डॉ० अशोक महान, डॉ० आर० के० श्रीवास्तव, डॉ० डी० के० कुलश्रेष्ठ आदि विद्वानों ने विषय सम्बन्धी विशेष व्याख्यान दिए। व्याख्यानों के पश्चात् शंका समाधान के लिए प्रश्नोत्तर तथा शब्दावली परिचर्चा का दौर भी चलता रहा, जिससे कार्यशालाओं में रोचकता बनी रही। चारों कार्यशालाओं के संचालकों **प्रो० पी० सी० गुप्ता, प्रो० ए० एन० चट्टोराज, प्रो० देवेश चन्द्र पांडेय** तथा **प्रो० प्रमिला श्रीवास्तव** ने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि इस तरह की कार्यशालायें भविष्य में भी नियमित रूप से आयोजित की जाती रहनी चाहिए।

समापन समारोह के अध्यक्ष, इलाहाबाद विश्वविद्यालय तथा राजस्थान विद्यालय, जयपुर के भूतपूर्व कुलपति **प्रो० ए० बी० लाल** ने कार्यशालाओं में भाग लेने वाले विश्वविद्यालय तथा महाविद्यालयों के प्राध्यापकों को प्रमाण-पत्र वितरित किए। उन्होंने शब्दावली आयोग के कार्यों की सराहना की और इस दिशा में आगे निरन्तर प्रवृत्त रहने के लिए उद्बोधन किया। श्री प्रेमानन्द चन्दोला ने धन्यवाद ज्ञापित किया। □□

पुस्तक समीक्षा

डॉ० अशोक कुमार गुप्ता*

पुस्तक : प्रायोगिक कृषि रसायन एवं मृदा विज्ञान (सिद्धान्तों सहित)

लेखक : डॉ० लाल सिंह
सहायक प्रोफेसर, मृदा रसायन एवं पादप पोषण
के. ए. पोस्ट ग्रेजुएट कॉलेज, इलाहाबाद (उ.प्र.)

प्रकाशक : भार्गव एण्ड कम्पनी, 4 बाई का बाग, इलाहाबाद

मुद्रक : भार्गव प्रेस, 1-ए बाई का बाग, इलाहाबाद

पृष्ठ संख्या : 333+xvi; प्रथम संस्करण 1987
मूल्य 22 रुपये

डॉ० लाल सिंह द्वारा लिखी पुस्तक "**प्रायोगिक कृषि रसायन एवं मृदा विज्ञान**" देखने को मिली। यह पुस्तक हिन्दी माध्यम से पढ़ रहे कृषि स्नातकों के लिये अत्यन्त उपयोगी है, जो उत्तर भारत के विश्वविद्यालयों में कृषि स्नातक के पाठ्यक्रमों को ध्यान में रखकर लिखी गई है। पुस्तक में सिद्धान्तों एवं प्रयोगों को सरलतम भाषा में स्पष्ट रूप में व्यक्त किया गया है जिससे विद्यार्थियों को प्रयोगात्मक विश्लेषणों को आसानी से समझने में तो मदद मिलेगी ही साथ में मौखिक परीक्षा में भी वे अच्छा उत्तर देने में समर्थन होंगे। अध्याय 1 में दी गई सूची से रसायनों, अभिकारकों को तैयार करने की विधि तथा उनकी सान्द्रता का ज्ञान हो जाता है। मानक विलयन बनाना, आयतनमिती, भारात्मक विश्लेषण विधियाँ क्रमानुसार विस्तार से उल्लिखित हैं, जिन्हें विद्यार्थियों को समझने में आसानी होगी साथ ही खाद, पादप, तेल, कीटनाशी आदि का विश्लेषण एवं सूक्ष्मजैविकी का विस्तृत ज्ञान हो पायेगा और उनका उपयोग स्नातकोत्तर स्तर के विद्यार्थी एवं शोधकर्त्ता भी कर सकेंगे। हिन्दी भाषा में इतनी सामग्री सहित उत्तर भारत की महत्त्वपूर्ण पुस्तकों में से यह एक है। इस पुस्तक के लिये मैं लेखक एवं प्रकाशक को बधाई देता हूँ। □□

*कृषि रसायन विभाग, इलाहाबाद एग्रीकल्चरल इन्स्टीट्यूट, नैनी, इलाहाबाद (उ० प्र०)–211007

[पृष्ठ 22 का शेषांश]

लोक कथाओं और पौराणिक गाथाओं में तो दो मुँह, तीन मुँह वाले साँपों से लेकर हजार मुख वाले शेषनाग तक की चर्चा आती है। प्रकृति के वैचित्र्य और अपवाद रूप में दो मुँह वाले सर्पों के होने के प्रमाण समय-समय पर मिलते रहे हैं। आधुनिक प्राणि-वैज्ञानिक यह निश्चित रूप से मानता है कि दो से अधिक सिर वाले सर्प नहीं होते। सर्पों के साथ अनेक अंधविश्वास भी जुड़े हैं। हमारे देश में तो नागपंचमी का त्योहार ही सर्पों से सुरक्षा की भावना से उनकी पूजा के लिए मनाया जाता है। न केवल भारत वरन् उत्तरी अमेरिका, अफ्रीका, ऑस्ट्रेलिया और एशिया के देशों में भी सर्प की पूजा वर्षा कराने के लिए की जाती है। वस्तुतः सर्प तापमान के अतिसूक्ष्म अन्तर को भी अनुभव कर लेते हैं। इसी कारण उन्हें मौसम में होने वाले परिवर्तन का पता मानव से पहले ही मिल जाता है। इस दृष्टि से भी वे मानव के लिए उपयोगी हैं। आज के जीव वैज्ञानिक यह मानते हैं कि सर्प जहाँ जैव विकास का एक चमत्कार हैं वहीं मानव के मित्र भी। □□

नामीब मरुस्थल ! प्रकृति की 'जीवित प्रयोगशाला'

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव
एवं
मंजुलिका लक्ष्मी

अफ्रीका महाद्वीप अपनी विचित्रताओं, जीव-जन्तुओं और वनस्पतियों तथा रहस्यपूर्ण जीवन के कारण बहुत समय पूर्व से ही सारे विश्व के आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है। आज भी वहाँ ऐसे स्थलों की कमी नहीं जिनमें छिपे प्राकृतिक आश्चर्यों को देखकर दाँतों तले अँगुली दबानी पड़ती है। ऐसे आकर्षण विचित्रताओं से भरा स्थल है नामीबिया का नामीब मरुस्थल।

लाखों-करोड़ों वर्षों से सूर्य ने बेदर्दी से नामीब रेगिस्तान की रंगहीन बालुका और सूखे तथा कंकरीले मैदानों को झुलसाया है। फिर भी रात्रि का तापमान वहाँ बर्फीली ठंढ तक पहुँच जाता है।

ऐसे बदलते तापमान और अत्यधिक सर्दी और गर्मी वाले यहाँ के मौसमों में युगों से सरीसृप, कीट, स्तनपायी और पादपों ने जीवित रहने के लिए अपने को अनुकूलित कर लिया है। ऐसा करने में इनमें जो विशेषता आ गई है उसके कारण यदि इन्हें किसी अन्य प्रकार के वातावरण में बसना पड़े तो जीवन ही दूभर हो जाये।

यह पतला, अयताकार और गतिशील रेगिस्तान जिसकी किसी-किसी स्थान पर चौड़ाई 200 किलोमीटर है, अफ्रीका के पश्चिमी तट पर अंगोला के गरुंजम्बा नदी से लेकर दक्षिण अफ्रीका के नामाकुआलैण्ड की ऑलीफैण्टस नदी के मुँह तक 2000 किलोमीटर की लम्बाई में फैला हुआ है। इस विस्तृत क्षेत्र में रेत के टीलों की सतह पर ग्रीष्मकालीन तापमान 60°सेन्टीग्रेड तक मापा गया है। शीतकालीन तापमान लगभग इतना नीचे आ जाता है कि बर्फ़ जम जाये। यहाँ औसत वार्षिक वर्षा केवल 20 मिलीमीटर है और मैदानों में लगातार पूर्वी तेज़ हवाओं के थपेड़ों की आवाज़ें सुनने को मिलती हैं। विचलनशील रेत टीलों में, जो विश्व के सबसे ऊंचे रेत टीले कहे जाते हैं, कुछेक नीले आसमान में 300 मीटर की ऊँचाई तक पहुँच जाते हैं। इन टीलों में भयानक खामोशी और निर्जनता व्याप्त रहती है। फिर भी यदि आप बालू के टीलों को ध्यान से देखें तो आपको ज्ञात हो जायेगा कि निर्जन सा लगने वाला यह रेगिस्तान कैसे जीवन्त हो उठता है। ऐसे स्थान पर तो वातावरण में अपने आपको अनुकूलित करने अथवा मृत्यु को वरण करने का प्रश्न है—जीवन-मरण का प्रश्न। सरीसृप अपने आपको सर्दी-गर्मी से बचाने के लिए बालुका के नीचे प्रवेश कर जाते हैं। यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है कि वे मात्र उसी समय पुनः बाहर आते हैं जब शिकार पकड़ना होता है। रत्रि में छिपकलियाँ (Geckos) बालू पर अपने पालदार पंजों की सहायता से घूमती-टहलती हैं। दुर्लभ सुनहरे छछूंदर तो बालू में लगभग 'तैरते से' लगते हैं और कुछ गिरगिट अपनी विशेष प्रकार की फानाकार या बेलचेदार थूथनों की बनावट के कारण बालू में 'गोता' लगा जाते हैं। यदि आपको घास की पत्ती जैसी कोई चीज़ अचानक हिलती दिखे तो समझ लें कि यह बालू में छिपा सींगदार विषैला सर्प (गेहुअन) है, जिसकी केवल पूँछ ही बालू के ऊपर, शिकार को आकर्षित करने के लिए, दिखती है।

पूर्वी तेज़ हवाओं द्वारा अन्दर से उड़ाया गया जानवरों और पौधों का मलबा, जो टीलों की ढाल के निचले भाग में एकत्र हो जाता है, मरुभूमि में निवास

5 ई/4, स्टाफ क्वार्टर्स, लिडिल रोड, जार्ज टाउन, इलाहाबाद–211002

करने वाले जीव-जन्तुओं के भोजन का स्रोत है। मत्स्यशलभ (Fishmoth) पादप-मलबे का भोजन करते हैं, झींगुर इन मत्स्यशलभों को खाते हैं, गिरगिट इन झींगुरों को निगल जाते हैं, शिकारी पक्षी सर्पों पर आक्रमण करते हैं और गीदड़ और लकड़बग्घे तो लगभग वह सभी कुछ खा जाते हैं जो इनके सामने पड़ जाता है। इस प्रकार की पूरी भोजन–श्रृंखला यहाँ देखने को मिलती है।

भोजन तो फिर भी मिल जाता है, पर पीने का पानी ? अंजुली भर वर्षा जल कैसे पौधों और जीव-जन्तुओं की प्यास बुझाता है ? गोबाबेब नामक स्थान पर तो कुछ जीव-जन्तु और वनस्पतियों के समूह कुहरे (Fog) के उसी जल का अधिकतम उपयोग करने के आदी हो जाते हैं जो वर्ष में मात्र 40 दिन ही उपलब्ध होता है। अधिकतर रेगिस्तानी जीव दिनचर होते है पर उन्होंने पुनः उषाकाल या भोर में निकलना सीख लिया है ताकि वे उस कुहरा-जल का उपयोग कर सकें जो रात में अथवा सुबह के प्रथम प्रहर में बनता है।

नामीब के पश्चिमी तट से लगे अटलांटिक सागर के ऊपर की नम हवा को बेंगुयेला की सर्द-धारायें ठंढी कर देती हैं। समुद्री कुहरा बनकर यही हवा रात में तेज़ पश्चिमी हवा के झोकों के साथ तट से 100 किलोमीटर अन्दर की ओर आ जाती है। 'टोक-टोकी' (डार्कलिंग बीटल) नामक कीट, जिधर से यह कुहरा आता है उसी ओर, सिर नीचे की ओर करके 'शीर्षासन' की मुद्रा में खड़ा हो जाता है। इस प्रकार कुहरा उसके शरीर पर संघनित होने के पश्चात् जल के रूप में बूंद-बूंद करके उसके मुख में प्रवेश कर जाता है। सर्प अपने शरीर को चिपटा कर लेते हैं ताकि इस कुहरा-जल को अधिक मात्रा में प्राप्त करने के लिए शरीर के क्षेत्र का विस्तार कर सकें और इस जल को पी सकें। पौधों की जड़ें सतह के पास काफी फैली रहती हैं ताकि वे इस जल का अधिक से अधिक शोषण कर सकें, जबकि **वेल्विस्चिया मिरैबिलिस** (*Welwitschia mirabilis*) नामक एक नग्नबीजी पादप अपनी चपटी लम्बी पत्तियों के माध्यम से सीधे संघनित जल ग्रहण करने की क्षमता रखता है। इस प्रकार नामीब के विचित्र जीव-जन्तु और पादप समूह आश्चर्यजनक रूप से अपने को इस स्थान विशेष की जलवायु में जीवित रहने के लिए ढाल लेते हैं। यह एक ऐसा चमत्कार है जिसकी बराबरी इस नामीब रेगिस्तान से 30 गुना बड़ा विशाल सहारा रेगिस्तान भी नहीं कर सकता। सहारा में तो देशज भृंगों के मात्र दो वंश (जेनेरा) अपनी दो जातियों (स्पीशीज़) के साथ खिसकते रेत में पाये जाते हैं। इनकी तुलना में नामीब रेगिस्तान में इन भृंगों की बाइस से अधिक जातियाँ पाई जाती हैं।
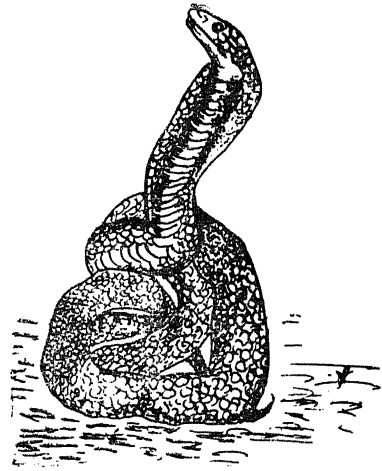
चित्र—1. कुइसेब नदी के तट की रेत में घूमने वाला जहरीला नाग (कोबरा)

यहाँ पाई जाने वाली बहुत सी जीव जातियाँ दिनचर होती हैं, जो रात में रेत में छिपी रहती हैं किन्तु जब कुहरा छा जाता है तब अपनी प्यास बुझाने एक बार बाहर अवश्य निकलती हैं।

एक सर्प के विषय में पहले ही बताया जा चुका है कि वह अपने शरीर को चिपटा कर लेता है ताकि उसके शरीर के क्षेत्र का विस्तार हो सके। इससे उसके शरीर पर संघनित जल की मात्रा बढ़ जाती
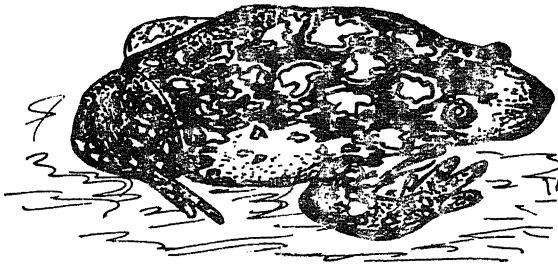
चित्र—2. चित्तीदार रबर मेंढक
(*Phrynomerus annectens*)

है । यह विषैला गेहुअन सर्प (*Bitis peringueyi*) केवल 300 मिलीमीटर लम्बा होता है और विचलनशील बालुका टीलों पर पाया जाता है । इसने संभवतः किसी और प्रकार के विषैले सर्प की अपेक्षा अपने को टीलों पर रहने के लिए अधिक अच्छे ढंग से ढाल लिया है । यह अपने शरीर को किनारे की ओर कुंडली बनाते हुए ढीली रेत पर तेज़ी से सरकाता है । इसकी आँखें सिर के ऊपर स्थित होने से इसे शिकार को देखने में आसानी होती है । सींगदार विषैले सर्प की ही भाँति इसकी भी केवल पूँछ घास की पत्ती की तरह बालू के ऊपर निकली रहती है और इस प्रकार समीप आने वाले असावधान शिकार को यह सरलता से धर दबोचता है ।

पूर्व चर्चित सिर नीचा करके कुहरा जल पीने वाला भृंग (*Onymacris unquicularis*) भी दिनचर होता है । इसने भी भोर के कुहरा जल का लाभ उठाने के लिए अपने को अनुकूलित कर लिया है । यह बालू के टीले की चोटी पर चढ़ जाता है और अपने सिर पर लगभग उल्टा खड़ा होकर शरीर को पश्चिमी वायु की ओर मोड़ लेता है ताकि शरीर आते हुये कुहरे से ढक जाये । संघनित कुहरे से निकल कर जल की बूँदें लुढ़कती हुई इसके मुँह तक पहुँच जाती हैं । एक अन्य कीट (*Lepidochora discoidalis*) वायु के झोंकों की दिशा में बालू में गड्ढे बना देता है । जब इसमें कुहरा जल भर जाता है तो जल पीने के लिए वह पुनः आ जाता है । इसके अतिरिक्त कुहरा जल पौधों की सतह से भी पिया जा सकता है ।

बेलचेदार थूथन वाला गिरगिट (*Aporosaura anchietae*) अपने शरीर के भार का बारह प्रतिशत जल पी जाता है । केवल खिसकते टीलों पर पाये जाने वाले इस गिरगिट की थूथन विशेष प्रकार की बनावट वाली होती है जिसकी सहायता से यह रेत में 'डुबकी' मार जाता है । इसके शरीर में एक थैलीनुमा रचना (ब्लैडर) होती हैं जिसमें यह जल का संग्रह कर लेता है । यह गिरगिट बीज और कीड़े-मकोड़ों दोनों का भोजन करता है । इस प्रकार यह शाकाहारी और मांसाहारी दोनों है । बेलचेदार थूथन वाला एक अन्य गिरगिट (*Meroles cuneirostris*) भी अपने मरुस्थलीय आवास के लिए भली-भाँति अनुकूलित है । लम्बी पादांगुलियों के किनारों से लगे बढ़े हुये शल्कों की झालर इसके पैरों की सतह के क्षेत्र को बड़ा करती है और इस प्रकार नर्म रेत पर चलने में इसे सुगमता प्रदान करती है । इसके सम्बन्ध में एक रोचक तथ्य यह है कि यह अपने अग्र और पश्चपादों को बारी-बारी से उठाता-रखता है जिससे लगता है जैसे यह धीमा 'नृत्य' कर रहा हो । अपने शरीर के भार को दुम के मोटे आधार और दो पैरों पर टिकाकर यह बचे दो पैरों को उठा लेता है । इससे बारी-बारी इसके अग्र और पाचापादों को गर्मी से राहत मिलती है
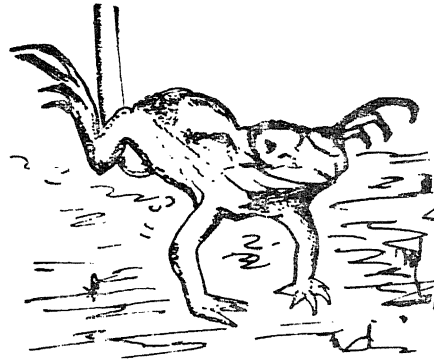
चित्र—3. बेलचेदार थूथन वाला गिरगिट
(*Meroles cuneirostris*)

रात्रिचर छिपकली की एक अन्य जाति (*Palmato gecko rangei*) जो केवल नामीब में ही पायी जाती है, यहाँ के बालुका टीलों में निवास करती है। इसकी आँखें बड़ी और पंजे पतवार जैसे झिल्लीयुक्त होते हैं। इन्हीं पंजों की सहायता से उषाकाल में अपने को गीली रेत में छिपा लेती है और रात्रि में पुनः शिकार के लिए निकलती है। यहीं पाई जाने वाली एक दूसरी छिपकली (*Kaokogecko vanzyli*) रेत के टीलों से दूर कंकरीले मैदानों में पायी जाती है। इसके पैर पूरी तरह झिल्लीयुक्त नहीं होते। पश्चपाद की चार अंगुलियाँ तो जुड़ी होती हैं किन्तु पाँचवीं स्वतंत्र होती है। अग्रपाद भी पूर्णतः झिल्ली से जुड़ा नहीं होता। केवल अंगुलियों के बीच-बीच में छोटी झिल्लियाँ मिलती हैं। इसकी सभी पदांगुलियों में गद्दियाँ और नख लगे होते हैं।

कंकरीले मैदानों की दिनचर छिपकलियाँ (*Rhotropus spp.*) इस अर्थ में विचित्र होती हैं कि इनमें दिनचर जीवों की भाँति आँखों की गोल-पुतलियाँ नही होतीं वरन् रात्रिचरों की भाँति विशिष्ट ऊर्ध्वाधर पुतलियाँ होती हैं। इनकी आँखों की एक और विशेषता है अचल पलक या नेत्रच्छद। ये न तो अपनी आँखे मिचका सकती हैं और न ही अपनी जिह्वा से अपनी आँखों की सफाई ही कर सकती हैं। मोटी पलक सूरज की तेज़ चमक से इसकी रक्षा करती है।

नामीब में कुइसेब नदी के क्षेत्र में छिपकलियों की तीन जातियाँ अपनी अलग-अलग आवाज़ों से पहचानी जाती हैं। ग्रीष्मकालीन शामों को इन छिपकलियों (*Ptenopus spp.*) के 'भूँकने' की विचित्र आवाज़ से दिशायें गूँज उठती हैं। इस प्रकार की सभी छिपकलियाँ दिन में 300 मिलीमीटर लम्बी सुरंगें खोदकर उनमें छिप जाती हैं और सूर्यास्त होते ही सुरंग के द्वारपर आ जाती हैं। नर निरंतर शृंखलाबद्ध क्लिक-क्लिक की ध्वनि करके अपने 'साम्राज्य' की सूचना देने और मादा को आकर्षित करने के लिए 'भूँकता' है। सुरंग का बड़ा प्रवेश द्वार ध्वनि की तीव्रता को और बढ़ा देता है और खामोश शामों को ये आवाज़ें 300 मीटर की दूरी तक सुनाई देती हैं।

यहाँ पाये जाने वाले नामाक्वा गिरगिट (*Chamaeleo namaquensis*) अपना रंग लगभग खो चुके हैं और अब वृक्षों और झाड़ियों के अभाव में धरती पर ही रहने लगे हैं। इनका रंग कंकड़-पत्थर के अनुरूप हो गया है और ये अपने रंग का उपयोग छद्मावरण के रूप में परभक्षी के विरुद्ध करते हैं। सभी सरीसृपों की भाँति इसमें भी ताप को सहने की सीमित क्षमता होती है और बहुत कम या बहुत अधिक तापमान यह सहन नहीं कर सकता। इसीलिए बाहर खुले में टहलते हुये यह सावधान रहता है।

नामीब के रेतीले टीलों वाला सुनहरा छछूंदर यहाँ पाये जाने वाले स्तनपायियों में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। रात में बालू की सतह के नीचे 'तैरते' हुये यह काफी लम्बी दूरी तय कर लेता है। जहाँ यह निवास करता है उन स्थानों पर बालू में सुरंग बनाना असंभव है। यह बालुका कणों के बीच में विद्यमान वायु से ही साँस लेता है। दक्षिण अफ्रीका का देशज यह नन्हा शर्मीला स्तनपायी अत्यन्त ही विलक्षण है। इसके बाह्य कान और आँखें नहीं होतीं, सिर पर केवल मुख और नासिका रंध्र होता है। यह कीटभक्षी जीव है।

अनेक कष्ट झेलकर बालू में साफ-सुथरे 'घोंसले' (जाला) बनाने में सफेद मरुटीला मकड़ी (*Leucorchestris kochi*) दक्ष होती है। गर्मी से बचाव के के लिए इस 'घोंसले' के ऊपर एक ढक्कन भी होता है। यह मकड़ी अपने अगले चार पैरों की सहायता से बालू में गड्ढ़ा खोदती है और पिछले चार पैरों से प्रहार करके बालू को स्थिर करती है। गड्ढे पर जाला बुनती जाती है, जब तक कि 'ढक्कन' सहित 'घोंसला' तैयार नहीं हो जाता।

हिरण सबसे बड़ा मरुस्थलीय प्राणी है जिसकी आंतरिक रचना नामीब के पर्यावरण के पूर्णतः अनूकूल होती है क्योंकि इसके शरीर का तापमान 45° सेन्टीग्रेड तक बढ़ सकता है। इस हिरण में रक्त-नलिकायें
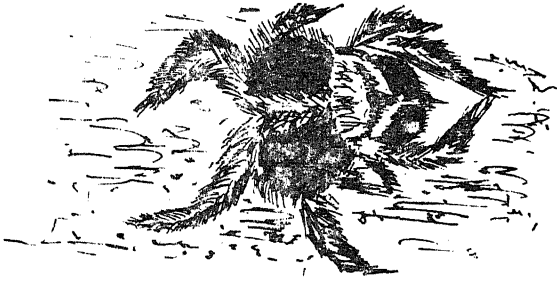
चित्र—4. गड्ढा खोदने वाली मकड़ी (*Leucorr   ris kochi*)
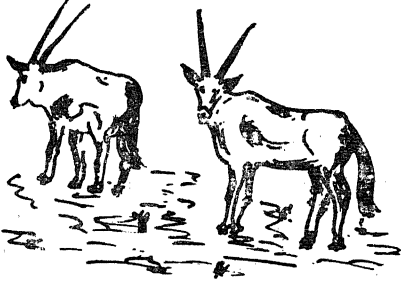
चित्र—5. मरुस्थलीय हिरण

नासिका-विवर से निकलकर मस्तिष्क तक चली जाती हैं। इससे मास्तिष्क ठंढा रहता है और तापमान कम रहता है। इसे अधिक जल की आवश्यकता नहीं होती।

यहाँ प्राप्त होने वाली एक विशेष प्रकार की गिलहरी (*Xerus inauris*) के कान नहीं होते किन्तु पूँछ इतनी बड़ी झब्बेदार होती है कि वह तेज़ धूप से रक्षा के लिए छाते की तरह इसका उपयोग करती है। चितकबरे रबर मेंढक (*Phrynomerus annectens*) का छद्मावरण इस प्रकार का होता है कि वह आस-पास के कंकरीले-पथरीले वातावरण से मेल खा जाये और इस प्रकार अपने को शिकार होने से बचा सके। नामीब के उत्तरी क्षेत्र में पाये जाने वाले मरुस्थलीय हाथी की पीठ पर ऊँट के कूबड़ जैसी संरचना होती है। हाथियों ने भी अपने को यहाँ रहने के लिए अनुकूलित कर लिया है।

नामीब मरुस्थल में पायी जाने वाली वनस्पतियों ने भी स्वयं को इस पर्यावरण के उपयुक्त बना लेने में कुशलता प्राप्त कर ली है। ये कुहरा जल का अधिक से अधिक उपयोग कर लेती हैं। बालू के टीलों पर उगने वाली एक प्रकार की घास (*Stipagrostes*

चित्र—6. बिनाकान वाली गिलहरी (*Xerus inauris*)

चित्र—7. उत्तरी नामीब का मरुस्थलीय हाथी

sabulicola) की जड़े सतही और दूर तक फैली होती हैं। ये जड़ें उस जल का शोषण करती हैं जो इसकी पत्तियों से बहकर नीचे आता है। इस प्रकार इस घास को जीवित रहने के लिए बहुत कम पानी की आवश्यकता होती है। एक अन्य गूदेदार पौधा (*Trianthema hereroensis*) भी बालू के टीलों पर उगता है। यह सीधे अपनी पत्तियों से ही जल का शोषण कर लेता है और उन्हीं स्थानों में सीमित होता है जहाँ कुहरा विद्यमान हो। कुछ दूसरी अल्पजीवी घासें इस प्रकार अनुकूलित होती हैं कि उनका जीवन-चक्र जल दुर्लभ होने के पूर्व ही पूरा हो जाता है।

इस क्षेत्र विशेष का सर्वाधिक विलक्षण पौधा

वेल्विस्चिया मिरैबिलिस (*Welwitschia mirabilis*) जो उत्तरी और मध्य नामीब से लेकर अंगोला तक पाया जाता है, सर्वप्रथम 1859 में खोजा गया था। इस विशाल पौधे में मात्र दो पत्तियाँ ही होती हैं जो अग्र भाग की ओर कट-फट जाती हैं, किन्तु फिर भी वृद्धि करती रहती हैं। कभी-कभी तो ये 2000 वर्षों तक जीवित रहती हैं। ये पत्तियाँ पौधे के लिए अत्यावश्यक होती हैं क्योंकि इन्हीं पत्तियों पर कुहरा संघनित होकर जल बनाता है जिसे पौधा अपने रोम-मूलों द्वारा शोषित कर लेता है। इसकी चीमड़ पत्तियाँ निर्जलीकरण रोकती हैं जबकि पत्तियों के रन्ध्र सीधे भी कुहरा जल सोख लेते हैं। इस प्रकार यह मरुस्थालीय पौधा जल का अधिकतम उपभोग करता है। पौधा अन्य छोटे जीवों को आश्रय भी प्रदान करता है।

यह आश्चर्यजनक ही है कि इस मरुस्थल में अनेक पक्षी भी पाये जाते हैं। 1984 तक यहाँ पक्षियों की 73 जातियाँ खोज ली गई थीं। यहाँ का रेतीला तीतर एक विचित्र जीव है। इसका मुख्य भोजन बीज है। पानी की इसे प्रतिदिन आवश्यकता नहीं पड़ती। यदि आवश्यक हो तो नर तीतर अपने छाती के पंखों में एकत्र करके कभी-कभी 40 किलोमीटर दूर जल-स्रोत से पानी ले आता है। नामीब के देशज पक्षियों में ग्रेज़लार्क (*Ammomanes grayi*) और मरुटीला लार्क (*Mirafra erythrochlamys*) भी उल्लेखनीय हैं।

नामीब के मरुस्थल में और भी अनेक प्रकार के अनोखे जीव-जन्तु और वनस्पतियाँ पायी जाती हैं जिनकी अपनी-अपनी विशेषतायें हैं। नामीब को देखने से ऊपरी तौर पर ऐसा लगता है जैसे जीवन संभव ही नहीं है फिर भी यहाँ रहने वाले जीव-जन्तु और वनस्पतियों के लिए यह स्वर्ग है।

प्रकृति की इन वैविध्यपूर्ण विशिष्टताओं ने मानव जाति को बहुत आकर्षित किया है। इसी दृष्टि से नामीब रेगिस्तान के मध्य में स्थित गोबाबेब नामक स्थान पर नामीब की पारिस्थितिकी के विभिन्न पहलुओं और यहाँ के जीव-जन्तुओं की जीवित रहने की बेजोड़ कला के अध्ययन के लिए एक अनुसंधानशाला की स्थापना भी की गई है। गोबाबेब **नामा** के 'गूलर वृक्ष का स्थान' नामक शब्द से व्युत्पन्न है किन्तु कुछ लोगों का विश्वास है कि इसका अर्थ है—'स्थान जहाँ कुछ भी नहीं है।'

यह अकेली दूरवर्ती 'चौकी' अपनी प्रयोगशालाओं के साथ नामीब-नैक्लुफ्ट पार्क में कुइसेब नदी के किनारे वाल्विस बे से दक्षिण-पश्चिम दिशा में लगभग 110 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। यहाँ पर **डॉ० मेरी सीली** दक्षिण अफ्रीका और विदेशी वैज्ञानिकों के अनुसंधानों को विशेषज्ञ की निगाह से जाँचती-परखती रहती हैं। **डॉ० सीली** सी० एस० आई० आर० (C. S. I. R.) के 'डेज़र्ट इकॉलोजिकल रिसर्च यूनिट' (D. E. R. U.) की निदेशक हैं।

'गोबाबेब अनुसंधान केन्द्र' औपचारिक रूप से 1963 में खोला गया। यह ऑस्ट्रेलिया के कीट-विज्ञानी **डॉ० चार्ल्स कॉख** के उर्वर मस्तिष्क की उपज है। **डॉ० कॉख** 'टेनेबिन्वाइड बीटल' के क्षेत्र में संसार के चोटी के वैज्ञानिक माने जाते थे। नामीब में पाई जाने वाली कीटों की विभिन्न किस्मों की विचित्रताओं ने उन्हें इस प्रकार प्रभावित कर रखा था कि योरोप छोड़कर वे प्रीटोरिया के ट्रांसवाल म्यूज़ियम में अनुसंधान करने आ गये और बाद में जब गोबाबेब में अनुसंधानशाला स्थापित हो गई तो यहाँ चले आये। **डॉ० कॉख** इस अनुसंधान केन्द्र के 1963 से लेकर अपनी मृत्युपर्यन्त 1970 तक निदेशक रहे। इस अनुसंधान केन्द्र के स्थान का चुनाव विशेष ध्यानपूर्वक किया गया था। यह स्थल तीन तरह के प्राकृतिक वासों का संगम है। एक तो कुइसेब नदी से दक्षिण के रेत टीले, दूसरा उत्तर का सपाट कंकरीला मैदान और तीसरा स्वयं कुइसेब नदी, जहाँ भूमिगत जल नदी तल की सूखी भूमि की वनस्पतियों को इस प्रकार पोषित करता है कि रेगिस्तान में नखलिस्तान बन जाता है। ये पौधे वन्य जीवों को भोजन और आश्रय प्रदान करते हैं। भौगोलिक रूप से यह वह स्थान है जहाँ

शरद और ग्रीष्म के वर्षावाले क्षेत्र एक दूसरे से मिलते हैं और जहाँ पहुँचकर अटलांटिक सागर के कुहरे की मेखला समाप्त हो जाती है।

डॉ० सीली के साथ कम से कम दो सहायक अनुसंधानकर्त्ता अवश्य रहते हैं। कुछ भ्रमणकारी वैज्ञानिक थोड़े दिनों या कुछ वर्षों के लिए आते हैं। ये वैज्ञानिक नामीब रेगिस्तान की पारिस्थितिकी के किसी न किसी पक्ष पर अनुसंधान करते हैं—उदाहरणस्वरूप प्राणि-विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, भूआकारिकी, पुरातत्व विज्ञान या मौसम विज्ञान। उन सभी प्रकार के अध्ययनों को यहाँ प्रोत्साहित किया जाता है जो यहाँ के पर्यावरण में जीवों के अनुकूलन और मरुस्थलीय जीवन के विकास से संबंधित होते हैं। अध्ययन का विषय सूक्ष्मजीवों से लेकर सबसे बड़े जीव हिरण तक कुछ भी हो सकता है।

गोबाबेब के शोधकर्त्ताओं द्वारा लिखे गये शोध-पत्र और लेख सारे विश्व के शोध और तकनीकी जर्नलों में प्रकाशित होते हैं। इससे मरु केन्द्र के कार्यों में भी सहायता मिलती है। दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका (नामीबिया) की प्रकृति विज्ञान की पत्रिका 'मैडॉकुआ' (*Madoqua*) में प्रकाशन के लिए लेख भेजना गोबाबेब के अनुसंधानकर्त्ताओं के लिए एक आवश्यक शर्त होती है।

गोबाबेब के निकट पहुँचते ही पर्यटकों को सर्वप्रथम संस्थान की भव्य ऊँची जल-टंकी दिखाई देती है। इसमें पीने का पानी भरा जाता है। इस जल को कुइसेब से जमीन के नीचे से पम्प करके लाते हैं और यह स्वाद में खारा होता है। रेगिस्तान में शरीर का निर्जलीकरण आम बात है इसलिए यह आवश्यक है कि यहाँ रहने वाले लोग जल का उपयोग अधिक मात्रा में करें। तीन ऐसी प्रयोगशालायें हैं जो विद्युत् स्केल, कंप्यूटर और आधुनिक उपकरणों से लैस हैं। केन्द्र का अपना जेनेरेटर भी है, जो आमतौर से प्रतिदिन सोलह घंटे अथवा आवश्यकतानुसार इससे भी अधिक समय तक कार्य करता है। शोधसंबंधी सुविधाओं के साथ ही यहाँ वैज्ञानिकों, तकनीशियनों, अतिथियों और काफ़िलों के रहने-ठहरने के लिए आरामदेह आवास हैं और मनोरंजन के लिए टेनिस-कोर्ट और तरणताल भी है। टेलीफोन नहीं है, किन्तु वाल्विस बे में स्थित डाकघर (पोस्ट ऑफिस) से रेडियो सम्पर्क बना रहता है। निकटतम दूकानें भी वाल्विस बे में ही हैं और हर दो सप्ताह बाद 110 किलोमीटर की यात्रा करके भोजन और पेट्रोल की आपूर्ति की जाती है।

गोबाबेब में वन्य-उद्यान से मिलता-जुलता एक 'वाइवैरियम' (जीवशाला) बनाया गया है जहाँ रेगिस्तान के जीव-जन्तुओं को शोध की दृष्टि से जीवित ही रखा जाता है। इस तरह गोबाबेब को वास्तविक अर्थों में "जीवित प्रयोगशाला" कहा जा सकता है। अनुसंधानकर्त्ता एक स्वर से इस बात की पुष्टि करते हैं कि यहाँ कोई भी ऊबा हुआ या निष्क्रिय नहीं बैठ सकता।

गोबाबेब में मौसम संबंधी आँकड़े 'दक्षिण अफ्रीकी मौसम ब्यूरो' के लिए नोट किये जाते हैं। हवा की गति और दिशा, तापमान, आर्द्रता और विकिरण की माप की जाती है और आँकड़ों को रेडियो टेलीफोन द्वारा विंडहीक के 'मौसम ब्यूरो कार्यालय' को भेज दिया जाता है। केन्द्र से दूर अनुसंधान-यात्राओं के लिए केवल चार पहिये वाली गाड़ियों और तीन पहिये वाली मोटर साइकिलों की ही अनुमति है। सुरक्षा की दृष्टि से रेत टीलों की खोज-यात्राओं पर जाने के लिए कड़े नियमों का पालन आवश्यक होता है इसलिए खोजस्थल, यात्रा प्रारंभ करने का समय और यात्रा सम्पादित करके लौटने का अनुमानित समय ध्यानपूर्वक नोट किया जाता है। जब अनुसंधान शाला और आस-पास के रेत टीलों पर कुहरा छा जाता है तो प्रातः शोधकर्त्ता इस बात का पता लगाने निकल पड़ते हैं कि मरुस्थल के जीव किस प्रकार इस जल का उपयोग करते हैं और तब रेगिस्तान किस प्रकार पुनः जीवन्त हो उठता है। जब भी गोबाबेब में कोई विलक्षण जीव मिलता है तो वह अपने आप में एक आश्चर्य भी होता है और इस केन्द्र की एक उपलब्धि भी।□□

तत्वों की खोज : कुछ रोचक तथ्य*

डॉ० शिवगोपाल मिश्र**

तत्वों की दुनियाँ भी कितनी अजीब है। ये रंग-मंच में विभिन्न अभिनेताओं जैसी भूमिका निभाते हैं। हर तत्व की अपनी-अपनी भूमिका है—कभी गौण तो कभी प्रधान। किन्तु खोज की दृष्टि से न तो कोई तत्व प्रधान है न गौण। सारे के सारे तत्व ध्यान देने योग्य हैं। अब तक 107 तत्वों की खोज की जा चुकी है। चाहें तो इन तत्वों को परमाणु संख्या के अनुसार व्यवस्थित कर सकते हैं या कि नाम या खोज के अनुसार।

आज के तत्व की अवधारणा पहले के तत्व से भिन्न है। आज का तत्व दिये हुए नाभिकीय आवेश से युक्त परमाणुओं के समूह का द्योतक है। सर्वप्रथम **अरस्तू** ने बतलाया था कि तत्व वे सरल पदार्थ हैं, जिनसे विश्व का निर्माण हुआ है। उनका मत था कि एक मूल द्रव्य है जिसमें चार मूलभूत गुण रहते हैं—उष्णता, शीतलता, शुष्कता तथा आर्द्रता। इनके ही संयोग से अग्नि, जल, वायु तथा पृथ्वी—इन चार तत्वों का निर्माण हुआ। अन्य सारे पदार्थ इन्हीं चार तत्वों से बने हैं। हमारे साहित्य में 'पंच तत्वों' को प्रधानता दी गई—**क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरा**। गगन अर्थात आकाशतत्व अधिक था—शेष चार तत्व **अरस्तू** के ही कहे समान थे। कीमियागरी के उद्भव के साथ अन्य तत्वों की खोज चालू हुई।

सोलहवीं सदी में **पैरासेल्सस** ने प्रस्ताव रखा कि सारी वस्तुओं के तीन स्रोत हैं—पारद, लवण तथा गंधक और इन तीनों के गुण हैं वाष्पशीलता, सघनता, तथा दहनशीलता। किन्तु तत्वों की प्रकृति की सही जानकारी का श्रेय **रॉबर्ट बॉयल** को है। उसके अनुसार सारी वस्तुएँ तत्वों से बनी होती हैं और इन तत्वों की संख्या सीमित है। इससे नये-नये तत्वों की खोज के द्वार तो खुल गये किन्तु नया तत्व मिल जाने पर उसकी व्याख्या कर पाना टेढ़ी खीर थी। **लैवोशिए** ने कहा कि जो वस्तुएँ किसी तरह भी विघटित नहीं होतीं वे **तत्व** हैं। ये तत्व चार वर्गों के हैं—

(1) **प्रथम वर्ग**—ऑक्सीजन, नाइट्रोजन, हाइड्रोजन, प्रकाश तथा थर्मोचेन—ये वास्तविक तत्व हैं।

(2) **द्वितीय वर्ग**—गंधक, फॉस्फोरस, कोयला, क्लोरीन, फ्लोरीन, बोरान—ये अधात्विक पदार्थ हैं और ऑक्सीकृत होकर अम्ल बनाने में समर्थ हैं।

(3) **धातुएं**—ऐंटीमनी, रजत, आर्सेनिक, बिस्मथ, कोबाल्ट, ताम्र, टिन, लौह, मैंगनीज, पारद, मालिब्डनम, निकेल, स्वर्ण, प्लैटिनम, लेड, टंगस्टन तथा जिंक। इन्हें भी ऑक्सीकृत करके अम्लों में परिणित किया जा सकता है।

(4) **लवणनिर्मायक** (अर्थ) चूना, मैग्नीशिया, बैराइटा, ऐलुमिना, सिलिका (ये वास्तव में ऑक्साइड हैं)।

स्पष्ट है कि 1800 ई० तक **तत्व** तथा **सरल पदार्थ** में अन्तर नहीं हो पाया था। केवल 19वीं सदी में परमाणु सिद्धान्त के विकास तथा **मेण्डलीव** के कार्य से तत्वों की सही-सही व्याख्या सम्भव हो सकी।

तत्वों की खोज का क्रम

सहज प्रश्न उठता है कि क्या तत्वों की खोज में

*त्रिफोनोव द्वय की पुस्तक 'केमिकल एलीमेंट्स' के आधार पर

**रीडर, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

कोई क्रम पाया जाता है—अर्थात् सबसे पहले कौन से तत्व खोजे गये ?

प्राचीन काल से दस तत्व ज्ञात थे । ये हैं Fe, C, Au, Ag, Hg, Sn, Cu, Pb तथा S । ये पृथ्वी में प्रचुर मात्रा में पाये जाने वाले तत्व हैं । लेकिन O, Si, Al भी तो प्रचुर मात्रा में हैं तो फिर उनका ज्ञान लोगों को क्यों नहीं हो पाया ? यह आश्चर्यजनक तथ्य है कि यद्यपि हम ऑक्सीजन को साँस लेने में काम में लाते रहे हैं फिर भी उसकी खोज 18वीं सदी में हो पाई । इसी तरह मिट्टी में सिलिकॉन की प्रचुरता होते हुए भी उसकी खोज उन्नीसवीं सदी में सम्भव हुई । इसी तरह चीनी मिट्टियों में Al रहने पर भी इसकी खोज बाद में हुई । स्पष्ट है कि प्रचुरता ही खोज का कारण नहीं बनी । बात यह है कि उपर्युक्त दसों तत्व सरल पदार्थ के रूप में उपलब्ध थे—आज भी सोना ढोकों के रूप में मिलता है । कार्बन तो ईंधन के रूप में था ही । लोहा तो लौह युग का प्रवर्तक है । इसी तरह टिन तथा लेड का निष्कर्षण सरल था । तब तक रासायनिक विधियाँ अज्ञात थीं ।

तत्त्वों की खोज का असली युग अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध से प्रारम्भ होता है । कीमियागरों के पारस पत्थर की खोज के सिलसिले में इसके पहले ही As, Sb, Bi, P तथा Zn इन पाँच तत्त्वों की खोज कर ली थी । रासायनिक विधियों के सूत्रपात के साथ प्रकृति में खनिजों में तत्त्वों की खोज प्रारम्भ हुई ।

MENDELEEV'S PERIODIC TABLE OF THE ELEMENTS

Periods	A I B	A II B	A III B	A IV B	A V B	A VI B	A VII B	A VIII		B
1	H						1 H 1.0079 $1s^1$ Hydrogen	2 He 4.00260 $1s^2$ Helium		
2	3 Li 6.94 $2s^1$ Lithium	4 Be 9.01218 $2s^2$ Beryllium	5 B 10.81 $2s^2 2p^1$ Boron	6 C 12.011 $2s^2 2p^2$ Carbon	7 N 14.0067 $2s^2 2p^3$ Nitrogen	8 O 15.999_4 $2s^2 2p^4$ Oxygen	9 F 18.99840 $2s^2 2p^5$ Fluorine	10 Ne 20.17_9 $2s^2 2p^6$ Neon		
3	11 Na 22.98977 $3s^1$ Sodium	12 Mg 24.305 $3s^2$ Magnesium	13 Al 26.98154 $3s^2 3p^1$ Aluminium	14 Si 28.08_6 $3s^2 3p^2$ Silicon	15 P 30.9737 $3s^2 3p^3$ Phosphorus	16 S 32.06 $3s^2 3p^4$ Sulphur	17 Cl 35.453 $3s^2 3p^5$ Chlorine	18 Ar 39.94_8 $3s^2 3p^6$ Argon		
4	19 K 39.09_8 $4s^1$ Potassium	20 Ca 40.08 $4s^2$ Calcium	21 Sc $3d^1 4s^2$ 44.9559 Scandium	22 Ti $3d^2 4s^2$ 47.90 Titanium	23 V $3d^3 4s^2$ 50.941 Vanadium	24 Cr $3d^5 4s^1$ 51.996 Chromium	25 Mn $3d^5 4s^2$ 54.9380 Manganese	26 Fe $3d^6 4s^2$ 55.84_7 Iron	27 Co $3d^7 4s^2$ 58.9332 Cobalt	28 Ni $3d^8 4s^2$ 58.70 Nickel
	29 Cu $3d^{10} 4s^1$ 63.54_6 Copper	30 Zn $3d^{10} 4s^2$ 65.38 Zinc	31 Ga 69.72 $4s^2 4p^1$ Gallium	32 Ge 72.5_9 $4s^2 4p^2$ Germanium	33 As 74.9216 $4s^2 4p^3$ Arsenic	34 Se 78.9_6 $4s^2 4p^4$ Selenium	35 Br 79.904 $4s^2 4p^5$ Bromine	36 Kr 83.80 $4s^2 4p^6$ Krypton		
5	37 Rb 85.467_8 $5s^1$ Rubidium	38 Sr 87.62 $5s^2$ Strontium	39 Y $4d^1 5s^2$ 88.9059 Yttrium	40 Zr $4d^2 5s^2$ 91.22 Zirconium	41 Nb $4d^4 5s^1$ 92.9064 Niobium	42 Mo $4d^5 5s^1$ 95.94 Molybdenum	43 Tc $4d^5 5s^2$ 98.9062 Technetium	44 Ru $4d^7 5s^1$ 101.0_7 Ruthenium	45 Rh $4d^8 5s^1$ 102.9055 Rhodium	46 Pd $4d^{10} 5s^0$ 106.4 Palladium
	47 Ag $4d^{10} 5s^1$ 107.868 Silver	48 Cd $4d^{10} 5s^2$ 112.40 Cadmium	49 In 114.82 $5s^2 5p^1$ Indium	50 Sn 118.6_9 $5s^2 5p^2$ Tin	51 Sb 121.7_5 $5s^2 5p^3$ Antimony	52 Te 127.6_0 $5s^2 5p^4$ Tellurium	53 I 126.9045 $5s^2 5p^5$ Iodine	54 Xe 131.30 $5s^2 5p^6$ Xenon		
6	55 Cs 132.9054 $6s^1$ Cesium	56 Ba 137.3_4 $6s^2$ Barium	57 La* $5d^1 6s^2$ 138.905_5 Lanthanum	72 Hf $5d^2 6s^2$ 178.4_9 Hafnium	73 Ta $5d^3 6s^2$ 180.947_9 Tantalum	74 W $5d^4 6s^2$ 183.8_5 Tungsten	75 Re $5d^5 6s^2$ 186.207 Rhenium	76 Os $5d^6 6s^2$ 190.2 Osmium	77 Ir $5d^7 6s^2$ 192.2_2 Iridium	78 Pt $5d^9 6s^1$ 195.0_9 Platinum
	79 Au $5d^{10} 6s^1$ 196.9665 Gold	80 Hg $5d^{10} 6s^2$ 200.5_9 Mercury	81 Tl 204.3_7 $6s^2 6p^1$ Thallium	82 Pb 207.2 $6s^2 6p^2$ Lead	83 Bi 208.9804 $6s^2 6p^3$ Bismuth	84 Po [209] $6s^2 6p^4$ Polonium	85 At [210] $6s^2 6p^5$ Astatine	86 Rn [222] $6s^2 6p^6$ Radon		
7	87 Fr [223] $7s^1$ Francium	88 Ra 226.0254 $7s^2$ Radium	89 Ac** $6d^1 7s^2$ [227] Actinium	104 Ku $6d^2 7s^2$ [261] Kurchatorium	105 Ns $6d^3 7s^2$ [260] (Nilsbonium)	106	107			

Atomic number — 92 U; Atomic mass — 238.02; Uranium; $7s^2$ $6d^1$ $5f^3$ — Distribution of electrons by unfilled and following completed sublevels

* LANTHANIDES

58 Ce	59 Pr	60 Nd	61 Pm	62 Sm	63 Eu	64 Gd	65 Tb	66 Dy	67 Ho	68 Er	69 Tm	70 Yb	71 Lu
140.12 $6s^2$ $5d^1$ $4f^1$ Cerium	140.907 $4f^3 6s^2$ Praseodymium	144.2_4 $4f^4 6s^2$ Neodymium	[145] $4f^5 6s^2$ Promethium	150.4 $4f^6 6s^2$ Samarium	151.96 $4f^7 6s^2$ Europium	157.2_5 $6s^2$ $5d^1$ $4f^7$ Gadolinium	158.9254 $4f^9 6s^2$ Terbium	162.5_0 $4f^{10} 6s^2$ Dysprosium	164.9304 $4f^{11} 6s^2$ Holmium	167.2_6 $4f^{12} 6s^2$ Erbium	168.9342 $4f^{13} 6s^2$ Thulium	173.0_4 $4f^{14} 6s^2$ Ytterbium	174.97 $6s^2$ $5d^1$ $4f^{14}$ Lutetium

** ACTINIDES

90 Th	91 Pa	92 U	93 Np	94 Pu	95 Am	96 Cm	97 Bk	98 Cf	99 Es	100 Fm	101 Md	102 —	103 (Lr)
232.0381 $6d^2 7s^2$ Thorium	231.0359 $7s^2$ $6d^1$ $5f^2$ Protactinium	238.02 $7s^2$ $6d^1$ $5f^3$ Uranium	237.0482 $7s^2$ $6d^1$ $5f^4$ Neptunium	[244] $5f^6 7s^2$ Plutonium	[243] $5f^7 7s^2$ Americium	[247] $7s^2$ $6d^1$ $5f^7$ Curium	[247] $7s^2$ $6d^1$ $5f^8$ Berkelium	[251] $5f^{10} 7s^2$ Californium	[254] $5f^{11} 7s^2$ Einsteinium	[257] $5f^{12} 7s^2$ Fermium	[illegible] $5f^{13} 7s^2$ Mendelevium	[255] $5f^{14} 7s^2$ —	[256] $5f^{14} 6d^1 7s^2$ [illegible]

मेण्डलीव की तत्त्वों की आवर्त्त सारणी

किन्तु हाइड्रोजन, ऑक्सीजन तथा नाइट्रोजन — इन तीन गैसों की खोज अत्यन्त रोचक है और इनकी खोज के बाद ही आधुनिक रसायन की पृष्ठभूमि मज़बूत हुई। ज्यों-ज्यों विश्लेषण की विधियाँ परिष्कृत होती गईं, त्यों-त्यों तत्त्वों की खोजें होती रहीं; अन्त में नये तत्त्वों की बारी आई। ये नये तत्त्व हैं Cs, Rb, In, Th, तथा Ga। इन्हें रसायनशास्त्र की मदद से नहीं अपितु नितान्त भौतिकशास्त्र की **स्पेक्ट्रम विधि** से खोजा गया। ऐसे तत्त्वों की घोषणा वैज्ञानिक के साहस को सूचित करती है क्योंकि इन तत्त्वों के न तो गुण ज्ञात थे, न वैज्ञानिकों के हाथ में इन तत्त्वों का एक कण भी था। इसी विधि से विरल गैसों या उत्कृष्ट गैसों (He, Ne, Ar, Kr, Xe) की खोज हुई। इन निष्क्रिय तत्त्वों को रसायनविज्ञान की सहायता लिए बिना ही पृथक कर लिया गया किन्तु तब जब गैसों को द्रवीभूत करने की विधियाँ विकसित कर ली गईं।

जो तत्त्व जितनी ही कम मात्रा में था, उसकी खोज उतने ही बाद में हुई। उदाहरणार्थ प्राकृतिक **रेडियोऐक्टिव तत्त्व**। इनकी खोज बीसवीं सदी के प्रारम्भ में सम्भव हुई। यूरेनियम तथा थोरियम तत्त्व इसके प्रमाण हैं। कुछ रेडियोऐक्टिव तत्त्व इन दोनों से भी अधिक तीव्र लगे अतः प्रस्ताव रखा गया कि अन्य रेडियोऐक्टिव तत्त्व हो सकते हैं। इस तरह पोलोनियम तथा रेडियम की खोज हुई।

बीसवीं सदी में तो उन तत्त्वों की खोज हुई जिनका अस्तित्त्व ही नहीं है—इन्हें **कृत्रिम तत्त्व** कहा गया। ये अत्यन्त अस्थायी हैं। आवर्त सारणी में 1 से लेकर 83 संख्या तक के तत्त्व — हाइड्रोजन से बिस्मथ तक **स्थायी** हैं। इनमें से केवल दो तत्त्व 43 तथा 61 (टेक्नीशियम तथा प्रोमेथियम) विलुप्त हो चुके हैं। 84 से लेकर 92 संख्या तक के तत्त्व रेडियोऐक्टिव हैं—जिनमें से थोरियम तथा यूरेनियम के अर्ध-जीवनकाल दीर्घ हैं। अतएव ये दोनों पृथ्वी की सृष्टि से लेकर आज तक चले आ रहे हैं। यही कारण है कि इन दोनों तत्त्वों की खोज रेडियोऐक्टिवता ज्ञात होने के पूर्व हो चुकी थी। यूरेनियम 92वाँ तत्त्व हैं। उसके बाद के 15 तत्त्व (93 से 107 तक) **परायूरेनियम तत्त्व** कहलाते हैं। इनकी खोज विगत 40 वर्षों में हुई है। यद्यपि **मेण्डलीव** ने 1870 ई० में ही इन तत्त्वों की कल्पना कर ली थी किन्तु **न्यूट्रॉन** की खोज ने तत्त्वों के संश्लेषण को जन्म दिया और इटली के वैज्ञानिक **फर्मी**, फिर जर्मनी के **ओटोहान**, एवं अन्य वैज्ञानिकों ने इस दिशा में कार्य किया। फलस्वरूप 1940-45 के बीच 4 तत्त्व (93, 94, 95, 96), 1940-52 के बीच 4 तत्त्व (97-100), 1955 में एक (101) और उसके बाद, अन्य 6 तत्त्व ज्ञात किये जा चुके हैं। तत्त्व 106 तथा 107 की जीवन अवधि सेकण्ड के भी हजारवें भाग से कम है। अनुमान है कि 108 से 110 संख्या वाले तत्त्व अत्यन्त अस्थिर होंगे। यह भी कहा जाता है कि तत्त्वों की कुल संख्या 114, 126, 164 या 184 तक बढ़ सकती है।

इन 107 तत्त्वों में से 90 तत्त्वों के खोजकर्ताओं के नाम गिनाये जा सकते हैं। तत्त्व 106 की खोज में 11 वैज्ञानिकों के हस्ताक्षर हैं। इस तरह इन सारे तत्त्वों की खोज के सिलसिले में 100 वैज्ञानिकों के नाम लिए जा सकते हैं। ज्ञात हो कि **रैमजे** ने सबसे अधिक तत्त्वों (पाँच तत्त्वों) की खोज की। **बर्जीलियस** तथा **डेवी** में से प्रत्येक ने चार तत्त्वों की खोज की। **सीबोर्ग** ने आठ परायूरेनियम तत्त्वों की खोज की है।

यह भी उल्लेखीय है कि तत्त्वों की खोज में विभिन्न देशों का हाथ रहा है। स्वीडेन में 23 तत्त्व, ब्रिटेन में 20 तत्त्व, फ्रांस में 15 तत्त्व, जर्मनी में 10 तत्त्व, आस्ट्रिया में 3 तत्त्व, डेनमार्क में 2 तत्त्व और रूस में एक तत्त्व की खोजें हुईं। इधर 102-107 तक के तत्त्वों का संश्लेषण रूस में हुआ है।

यदि हम तत्त्वों की खोज का विवरण अवधियों के अनुसार प्रस्तुत करना चाहें तो निम्नलिखित क्रम बनेगा। 1750 के पूर्व 16 तत्त्व, 1751-75 में 8 तत्त्व, 1776-1800 में 10 तत्त्व, 1801-1825 में

18 तत्त्व, 1826-1850 में 7, 1851-1875 में 5 तथा 1876-1900 में 19 और 1901-1925 तक 5 तत्त्वों की खोजें हुईं। स्पष्ट है कि 1801 से 1825 की अवधि में और फिर 1876-1900 की अवधि में सर्वाधिक तत्त्वों की खोजें हुई।

बीसवीं शती अपनी चतुर्दिक प्रगति के लिए विख्यात है किन्तु इसमें केवल 5 तत्त्व ही खोजे जा सके हैं। इसका अर्थ यह नहीं हैं कि विज्ञान की क्षमता में ह्रास हुआ है अपितु यह कि प्रकृति के सारे तत्त्व खोजे जा चुके हैं।

उपर्युक्त विवरण के अतिरिक्त अनेक झूठे दावे भी होते रहे हैं, अनेक कल्पित तत्त्वों की घोषणाएँ होती रही हैं, किन्तु तत्त्वों की खोज में इनका कोई महत्त्व नहीं है।□□

डॉ० शिवगोपाल मिश्र सम्मानित

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के रसायन विज्ञान विभाग के रीडर डॉ० शिवगोपाल मिश्र को उनकी पुस्तक '**जैव रसायन**' पर हिन्दी संस्थान, उत्तर प्रदेश द्वारा वर्ष 1981-82 के लिए तीन हज़ार रुपये का पुरस्कार प्रदान किया गया है। डॉ० मिश्र रसायन विज्ञान पर अनेक पुस्तकों की रचना कर चुके हैं और इसके पूर्व भी आपकी पुस्तकें पुरस्कृत हो चुकी हैं। आपकी हिन्दी साहित्य में भी गहरी रुचि है और आपने हिन्दी की भी कई पुस्तकों का प्रणयन और सम्पादन किया है। आपने पिछले 10 वर्षों से 'विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद' के प्रधान मंत्री के रूप में कार्यरत रहकर हिन्दी विज्ञान लेखन की न केवल श्रीवृद्धि की है वरन् उसे नई दिशा भी दी है। कई सौ लेखों के साथ ही आपकी कई दर्जन उच्चस्तरीय शोध रचनायें भी हिन्दी-अंग्रेज़ी में प्रकाशित हो चुकी हैं। आप 'विज्ञान' के सम्पादक रह चुके हैं और 'विज्ञान परिषद् अनुसंधान पत्रिका' के प्रबंध सम्पादक हैं।

श्री शुकदेव प्रसाद पुरस्कृत

युवा विज्ञान लेखक और सम्पादक श्री शुकदेव प्रसाद को उनकी पुस्तक 'अनजाने हुये आविष्कार' को वर्ष 1982-83 के लिए हिन्दी संस्थान, उत्तर प्रदेश द्वारा तीन हज़ार रुपये का पुरस्कार प्रदान किया गया है। इसके पूर्व भी अपको अनेक पुरस्कार मिल चुके हैं। आप विज्ञान भारती', 'विज्ञान वैचारिकी' 'समता क्रांति' और 'पर्यावरण दर्शन' के सम्पादक रह चुके हैं और 'विज्ञान वैचारिकी अकादमी' के निदेशक हैं। आप विज्ञान की अनेक पुस्तकों और कई सौ लेखों के रचाकार हैं।

डॉ० प्रिय कुमार चौबे की पुस्तक को पुरस्कार

वाराणसी के जाने-माने चिकित्सक और विज्ञान लेखक डॉ० प्रिय कुमार चौबे को उनकी चिकित्सा विज्ञान की पुस्तक '**इलेक्ट्रोकार्डियोग्राम द्वारा हृदय रोग चिकित्सा**' को वर्ष 1984-85 के लिए हिन्दी संस्थान उत्तर प्रदेश का तीन हज़ार रुपये का पुरस्कार मिला है। पिछले दशक में डॉ० चौबे की आठ अन्य पुस्तकें भी पुरस्कृत हो चुकी हैं। **कैंसर** रोग पर लिखी गई आपकी पुस्तक का विमोचन पिछले दिनों प्रसिद्ध फ़िल्म अभिनेता और सांसद श्री सुनील दत्त ने किया है।

डिमिट्री इवानोविच मेण्डलीव

पूनम वार्ष्णेय

आधुनिक भौतिक व रसायनशास्त्रों के अध्ययन में तत्वों की आवर्त सारणी का एक प्रमुख स्थान है। वर्ष 1984 में आवर्त सारणी के प्रवर्तक रूसी वैज्ञानिक **मेण्डलीव** की 150 वीं जन्म जयन्ती सारे विश्व में बड़े धूम-धाम से मनाई गई। **डिमिट्री इवानोविच मेण्डलीव** का जन्म 7 फरवरी 1834 को टोबल्स्क, साइबेरिया (रूस) में हुआ था। वह अपने माता-पिता की 14 वीं व अन्तिम सन्तान थे। उनके पिता एक हाईस्कूल के प्रिन्सिपल थे। उनके बाबा ने 47 वर्ष पूर्व साइबेरिया का प्रथम समाचार-पत्र निकाला था। अभाग्यवश 1834 में ही मेण्डलीव के पिता अन्धे हो गये और परिवार के निर्वाह के लिये उनकी माता एक ग्लास फैक्ट्री की प्रबन्धक बन गईं।

स्कूल में डिमिट्री ने गणित, भौतिकी व भूगोल में तो अच्छी योग्यता दिखाई पर प्राचीन भाषाओं के अध्ययन में उनकी रुचि नहीं थी। 1847 में डिमिट्री के पिता की क्षय रोग से मृत्यु हो गई और उसके अगले वर्ष इनकी माता की ग्लास फैक्ट्री में आग लग जाने से फैक्ट्री नष्ट हो गई। डिमिट्री के अतिरिक्त उनके लगभग सभी भाई-बहन इस समय तक व्यवस्थित हो गये थे। उनकी माता ने निश्चय किया कि डिमिट्री की शिक्षा के लिये मास्को जाना होगा। अतएव डिमिट्री की माँ ने टोबल्स्क छोड़ दिया और अपने पुत्र डिमिट्री व एक पुत्री के साथ मास्को चली गईं। वहाँ उन्होंने डिमिट्री का प्रवेश विश्वविद्यालय में करवाना चाहा पर इसमें वह असफल रहीं। डिमिट्री की माँ ने हिम्मत नहीं हारी और वे अपने दोनों बच्चों के साथ सेन्ट पीटर्सबर्ग पहुँची। वहाँ भी विश्वविद्यालय में डिमिट्री का दाखिला नहीं हो सका। फिर मेडिकल स्कूल में चेष्टा की, वहाँ भी नहीं हुआ। पर अन्त में माँ के प्रयत्नों का फल निकला और डिमिट्री का दाखिला पेडागॉजिकल इन्सटीट्यूट (जहाँ अध्यापनशास्त्र की शिक्षा दी जाती है) में हो गया। इस के दस सप्ताह बाद ही उनकी माँ ने इस संसार से विदा ले ली।

मेण्डलीव ने 1855 में अध्यापक की डिग्री प्राप्त की। वे कक्षा में प्रथम आये और उन्हें 'स्वर्ण पदक' प्रदान किया गया। कुछ महीने उन्होंने क्रिमिया में सरकारी नौकरी में बिताये पर फिर वे सेन्ट पीटर्सबर्ग आ गये। सेन्ट पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय में उन्होंने शोध कार्य किया व सितम्बर 1856 में एम० एस-सी० की डिग्री प्राप्त की। 1857 में इसी विश्व-विद्यालय में उन्हें नौकरी मिल गई।

1859 में मेण्डलीव एक सरकारी छात्रवृत्ति पर जर्मनी के हाईडेलबर्ग विश्वविद्यालय गये। वहाँ

द्वारा प्रो० वाई० पी० वार्ष्णेय, भौतिक विज्ञान विभाग, ओटावा विश्वविद्यालय, कनाडा।

उन्होंने प्रसिद्ध वैज्ञानिक **बुनसन** के साथ शोध कार्य किया। उन्होंने इस दौरान क्रांतिक तापमान (Critical temperature) की खोज भी की। अगले वर्ष उन्होने कार्ल्सरुहे में प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय रसायनिक कांग्रेस में भाग भी लिया। फरवरी 1861 में वे सेन्ट पीटर्सबर्ग लौट आये। नौकरी के अभाव में कुछ समय तक वैज्ञानिक लेख लिखकर वे जीविका चलाते रहे। 1862 में उनका विवाह हो गया। इस विवाह से वे एक पुत्र व एक पुत्री के पिता बने। जनवरी 1864 में उन्हें वहाँ के टेक्नोलॉजिकल इन्सटीट्यूट में प्रोफेसर का पद प्राप्त हो गया और उस पद पर वह दिसम्बर 1866 तक रहे। इसी बीच 1865 में उन्होंने रसायनशास्त्र में डॉक्टरेट की डिग्री भी प्राप्त की। अक्टूबर 1867 में उन्हें सेन्ट पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय में प्रोफेसर का पद मिल गया। यह उनके जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना थी। उन्होंने पाया कि उस समय कोई ऐसी उपयुक्त पुस्तक नहीं थी जिसका नाम वे अपने विद्यार्थियों को सुझा सकें। उन्होंने निश्चय किया वह स्वयं ही ऐसी पुस्तक लिखेंगे। पुस्तक लिखने के दौरान उन्होंने इस विषय पर काफी खोज व मनन किया कि गुणधर्मों (Properties) के अनुसार तत्वों को किस प्रकार श्रेणीबद्ध किया जाय। उस समय 63 तत्व ज्ञात थे। उन्होंने हर तत्व का परमाणु भार तथा अन्य गुणधर्म एक-एक कार्ड पर लिख लिये थे और वे उन कार्डों को भिन्न-भिन्न तरीकों से व्यवस्थित किया करते थे। इस प्रकार उन्होंने खोज की कि यदि तत्वों को उनके परमाणु भार के अनुसार क्रम में रखा जाय तो उनके गुणधर्मों में एक आवर्तिता होती है। इस नियम की घोषणा उन्होंने 1869 में इन शब्दों में की—"**तत्वों के गुण उनके परमाणु भार के साथ आवर्तित होते हैं**।" उनका इस विषय पर शोध पत्र 'जर्नल ऑव द रशन केमिकल सोसायटी' में प्रकाशित हुआ। उस शोधपत्र में उन्होंने जो आवर्त सारणी प्रकाशित की थी वह चित्र--1 में दिखाई गई है। उन्होंने बाद में इसमें सुधार किये और 7 जनवरी 1871 के 'जर्नल ऑव द रशन केमिकल सोसायटी' के अंक में एक नई आवर्त सारणी प्रकाशित करायी। **मेण्डलीव की आवर्त सारणी** में कई स्थान रिक्त थे। मेण्डलीव ने कहा कि इन रिक्त स्थानों में ऐसे तत्व हैं जो अभी तक खोजे नहीं जा सके हैं और

			Ti = 50	Zr = 90	? = 180
			V = 51	Nb = 94	Ta = 182
			Cr = 52	Mo = 96	W = 186
			Mn = 55	Rh = 104.4	Pt = 197.4
			Fe = 56	Ru = 104.4	Ir = 198
			Ni = Co = 59	Pd = 106.6	Os = 199
H = 1			Cu = 63.4	Ag = 108	Hg = 200
	Be = 9.4	Mg = 24	Zn = 65.2	Cd = 112	
	B = 11	Al = 27.4	? = 68	Ur = 116	Au = 197?
	C = 12	Si = 28	? = 70	Sn = 118	
	N = 14	P = 31	As = 75	Sb = 122	Bi = 210
	O = 16	S = 32	Se = 79.4	Te = 128?	
	F = 19	Cl = 35.5	Br = 80	J = 127	
Li = 7	Na = 23	K = 39	Rb = 85.4	Cs = 133	Tl = 204
		Ca = 40	Sr = 87.6	Ba = 137	Pb = 207
		? = 45	Ce = 92		
		?Er = 56	La = 94		
		?Yt = 60	Di = 95		
		?In = 75.6	Th = 118?		

मेण्डलीव की 1871 की आवर्त्त सारणी

उन्होंने इन तत्वों के गुणधर्मों की भविष्यवाणी (Prediction) की। अधिकतर वैज्ञानिकों ने या तो उनके शोधकार्य पर ध्यान नहीं दिया या उसका विरोध किया।

1875 में **लेको दे बोआबोद्राँ** नामक एक फ्रान्सीसी वैज्ञानिक ने एक नये तत्व की खोज की जिसके गुणधर्म मेण्डलीव द्वारा भविष्यवाचित तत्वों में से एक से बिल्कुल मिलते थे। इस तत्व को **गैलियम**' का नाम दिया गया। चार वर्ष बाद 1879 में **निलसन** नामक वैज्ञानिक ने एक और ऐसा तत्व खोजा, जिसका नाम **'स्कौन्डियम'** दिया गया। 1885 में **निकलर** ने एक तीसरा इसी तरह का तत्व खोजा—**'जरमेनियम'**। मेण्डलीव की भविष्यवाणी हर तत्व के लिये बिल्कुल ठीक थी। अब तो मेण्डलीव के विरोधियों को भी मानना पड़ गया कि मेण्डलीव की आवर्त सारणी में वैज्ञानिक सत्य है। यहाँ पर यह उल्लेख करना उचित होगा कि 1870 में **जूलियस मेयर** ने भी तत्वों के गुणधर्मों में आवर्तिता पाई थी, पर उनका शोधकार्य इतना पूर्ण नहीं था जितना मेण्डलीव का।

असफल वैवाहिक जीवन के कारण 1876 में मेण्डलीव ने अपनी पत्नी को तलाक दे दिया। कुछ वर्ष बाद 1882 में मेण्डलीव ने दूसरा विवाह **अन्ना पोपोवा** नाम की एक युवा कलाकार (आर्टिस्ट) से किया। दूसरे विवाह से उनके 2 पुत्र व 2 पुत्रियाँ हुए।

मेण्डलीव की पुस्तक "रसायनशास्त्र के सिद्धान्त" के बहुत से संस्करण हुये तथा 1905 में उसका अंग्रेज़ी में भी अनुवाद हुआ। मेण्डलीव न केवल एक उच्चकोटि के वैज्ञानिक थे, वरन् रूस की सामाजिक व राजनैतिक दशा सुधारने में भी उन्हें गहरी रुचि थी। तत्कालीन ज़ार के शासन की बुराइयों के विरुद्ध अपनी आवाज़ वे सदैव निर्भय होकर उठाते रहे। किन्तु 1890 में उन्हें विश्वविद्यालय छोड़ना पड़ा जहाँ तीस वर्षों से भी अधिक उन्होंने अध्यापन-कार्य किया था।

1891 में उन्हें भारी रसायनिकों पर आयात कर लगाने के नये तरीकों को ज्ञात करने के लिये एक पद पर नियुक्त किया गया और 1893 में वे 'ब्यूरो ऑव बेट्स एण्ड मैज़र्स' के प्रमुख हो गये और मृत्यु-पर्यन्त इसी पद पर कुशलतापूर्वक कार्य किया।

मेण्डलीव द्वारा लिखित 400 से अधिक पुस्तकें, शोधपत्र व अन्य रचनायें हैं और लगभग इतनी ही संख्या अप्रकाशित लेखों की है जोकि 'लेनिनग्राड स्टेट युनिवर्सिटी' के 'डी० आई० मेण्डलीव म्यूज़ियम' में सुरक्षित रखी हुई हैं। मेण्डलीव को अपने जीवनकाल में अन्य देशों द्वारा भी अनेक सम्मान प्राप्त हुये। 'रॉयल सोसायटी ऑव लन्दन' ने उन्हें अपने 'डेवी मेडल' (**लोथर मॉयर** के साथ) से 1882 में सम्मानित किया। वे 1890 में इसके विदेशी सदस्य भी निर्वाचित किये गये। पर रूस की 'इम्पीरियल एकेडमी ऑव साइन्सेज' ने उनकी योग्यता को कभी नहीं पहचाना और इसका कारण मात्र राजनैतिक था।

1894 में मेण्डलीव को ऑक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयों द्वारा डॉक्टरेट की उपाधि से सम्मानित किया गया। 1904 में उनकी सत्तरवीं वर्षगाँठ अनेकानेक स्थानों में मनायी गयी। 1905 में लंदन की 'रॉयल सोसायटी' ने उन्हें 'कोपले मेडल' से सम्मानित किया। इसके अतिरिक्त वे कई रूसी और विदेशी वैज्ञानिक संस्थाओं के सदस्य भी थे। पर 'नोबेल पुरस्कार' से वे वंचित ही रहे। 1906 में एक वोट से 'नोबेल पुरस्कार' देने वाली कमेटी ने **मायसाँ** नामक वैज्ञानिक को मेण्डलीव के ऊपर चुना।

उनके अन्तिम दिन अच्छे न बीते। उनका स्वास्थ्य विगड़ता जा रहा था और देश की बिगड़ती राजनैतिक दशा से भी चिंतित और दुःखी थे।

2 फरवरी 1907 को मस्तिष्क के रक्त-स्राव से मेण्डलीव का निधन हो गया किन्तु अपनी खोजों के लिए वे सदा के लिए अमर हो गये। इसका सहज अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि मृत्यु के 48 वर्ष बाद 1955 में एक नये निर्मित तत्व को **'मेण्डलीवियम'** नाम देकर उन्हें सम्मानित किया गया। □□

वाक्य-गठन और शब्दक्रम

अनिल कुमार शुक्ल

'विज्ञान' के मार्च 1987 अंक में हिन्दी में वैज्ञानिक रचनाओं के अनुवाद संबंधी कठिनाइयों की चर्चा की गई थी। उसी क्रम में इस बार वाक्यों के गठन तथा वाक्यों में विभिन्न व्याकरणिक प्रवर्गों के शब्दों के क्रम से संबंधित कतिपय महत्वपूर्ण नियम दिये जा रहे हैं। इन नियमों का ज्ञान, हिन्दी-भाषा की प्रकृति को समझने के लिए तो ज़रूरी है ही, साथ ही मौलिक लेखन या अनुवाद करते समय इन नियमों को ध्यान में रखने से रचना में स्वाभाविकता एवं प्रवाह के गुण मौजूद रहेंगे और कृत्रिम बोझिलता कम होगी।

रचना या गठन की दृष्टि से वाक्य **तीन** प्रकार के होते हैं—सरल वाक्य, मिश्र वाक्य तथा संयुक्त वाक्य। किसी भी वाक्य के **दो** मुख्य अंग होते हैं—उद्देश्य और विधेय। हिन्दी में उद्देश्य का दायित्व संज्ञा या संज्ञा के रूप में प्रयुक्त होने वाले अन्य शब्दभेद निभाते हैं जबकि विधेय के अन्तर्गत क्रिया (तथा आवश्यकतानुसार) उसके कर्म या पूरक शब्द होते हैं। **उद्देश्य** किसी भी वाक्य का प्रधान अंग होता है और **विधेय** उसके द्वारा व्यक्त वस्तु या व्यक्ति का विधान या व्याख्या करता है। जिस वाक्य में 'एक उद्देश्य व एक विधेय' हो, उसे **साधारण या सरल वाक्य** कहते हैं। जैसे—बिजली चमकती है; मैंने पुस्तक पढ़ी। जिस वाक्य में 'मुख्य उद्देश्य और मुख्य विधेय' यानी प्रमुख उपवाक्य के अतिरिक्त एक या अधिक आश्रित उपवाक्य हों, उसे **मिश्र वाक्य** कहते हैं। यथा—जो लड़के अच्छे होते हैं, वे परिश्रमी होते हैं। जिस वाक्य में दो या दो से अधिक साधारण या मिश्रवाक्यों का मेल संयोजक अव्ययों के द्वारा होता है, उसे **संयुक्त वाक्य** कहते हैं। वाक्य-विन्यास की दृष्टि से संयुक्त वाक्य के ये अवयव (या घटक) वाक्य स्वयं में पूर्ण और परस्पर स्वतंत्र होते हैं। जैसे-सूर्योदय हुआ और कुहासा जाता रहा; रामानुजन आस्तिक थे और अपना निरामिष भोजन स्वयं बनाते थे।

वाक्यों के गठन संबंधी नियमों की चर्चा शुरू करने से पूर्व वाक्य में सजातीय अंगों की अवधारणा व उनके महत्व पर विचार कर लेना उपयोगी होगा। **सजातीय अंग** वाक्य के ऐसे अंग होते हैं जो एक समान वाक्यगत प्रकार्य करते हैं तथा उनके बीच समानाधिकरण बंधन होता है। वाक्य के सजातीय अंगों के बीच इस समानाधिकरण बंधन को **संयोजक या वियोजक** समुच्चयबोधक अव्ययों अथवा केवल **अल्पविराम** के द्वारा प्रकट करते हैं। जैसे—अफ्रीका, मेडागास्कर और भारत का दक्षिणी त्रिकोण कभी आपस में जुड़े हुए थे। हाइड्रोजन ऑक्सीजन, लोहा, क्लोरटीन, फॉस्फोरस आदि सामान्य तत्व हैं।

वह अच्छे स्वभाव की दृढ़ निश्चय वाली औरत थी।

वह बरतन मलता, पानी भरता, झाड़ू देता और दूसरे बीसों काम करता।

चीज अच्छी परन्तु महँगी है।

पहले व चौथे उदाहरण में **अल्पविराम व 'और'** से अलग किये शब्द, दूसरे व तीसरे में **अल्पविराम** से

17 म्योर कॉलेज कॉलोनी, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

अलग किये गये शब्द एवं पाँचवें में **परन्तु** से अलग किये गये शब्द एक सा वाक्यगत प्रकार्य करते है—क्रमश: संज्ञा, विशेषण, विधेय और विशेषण का, अत: सजातीय अंग हैं। वाक्य रचना की दृष्टि से इन सजातीय अंगों से संबंधित कुछ महत्वपूर्ण बातें ध्यातव्य हैं—

(1) विभक्तियों (या परसर्गों) का प्रयोग हर सजातीय अंग के बाद भी किया जा सकता है या केवल एक बार—अंतिम सजातीय अंग के बाद। जैसे—

मैंने और मेरे भाई **ने** यह देखा।

प्रोटॉन तथा न्यूट्रॉन **का** भार प्राय: समान होता है।

हार्डी और लिटिलवुड **ने** रामानुजन के प्रमेयों का अध्ययन किया।

(2) सजातीय विधेयों में शामिल कृदंतों के साथ सहायक क्रिया अंतिम कृदंत के बाद केवल एक बार आती है। जैसे—

सारा भारत उन्हें जानता और मानता **है**।

(3) यदि सजातीय विधेय कर्मवाच्य क्रियाओं द्वारा (यानी Passive voice में) व्यक्त हों तो सहायक क्रिया 'जाना' के विभिन्न रूप (भेद) केवल अंतिम कृदंत के बाद आते हैं। जैसे—

वैज्ञानिकों के नाम चाहे जिस रूप में लिखे व बोले **जायें**, वह एक निश्चित मानक रूप होना चाहिए।

हिन्दी रूस के विभिन्न विद्यालयों में बड़े चाव से सीखी व सिखाई **जाती** है।

(4) **'सकना'**, **'चुकना'** आदि का अर्थ को सीमित करने वाली क्रियायें यदि सजातीय विधेय के शब्द-बन्धों में हों तो इस प्रकार की क्रिया अंतिम मुख्य क्रिया के बाद केवल एक बार आती है। जैसे—

क्या वे शुद्ध अंग्रेजी लिख व बोल **सकते** हैं ?

वह चिट्ठी लिखकर भेज **चुका** है।

परमाणु बम में प्रयुक्त प्रत्यावर्तक न्यूट्रॉनों को मंदित या अवशोषित नहीं कर **सकते**।

हिन्दी की वाक्य प्रणाली को समझने के लिए वाक्य में उद्देश्य व प्रधानकर्म से विधेय के अन्वय को समझना अत्यन्त जरूरी है क्योंकि हिन्दी में उद्देश्य और विधेय अपितु का सम्बन्ध, केवल वाक्य के प्रधान अंगों के अन्वय से ही व्यक्त नहीं होता अपितु कभी-कभी विधेय का कर्म से भी अन्वय हो सकता है। सजातीय अंगों वाले वाक्यों में विभिन्न व्याकरणिक प्रवर्गों में अन्वय के सन्दर्भ में कुछ प्रमुख नियम नीचे दिए जा रहे हैं—

(1) सजातीय उद्देश्य यदि समान लिंग के और एकवचन **मनुष्यबोधक** शब्द दों तो विधेय उसी लिंग के बहुवचन में आता है, पर **अप्राणिवाचक या जन्तु-बोधक** होने पर एकवचन रूप में आता है। जैसे —

राम और श्याम आये।

उसके पास एक गाय, एक भैंस, एक बकरी थी।

दही, मक्खन और पनीर दूध से बनता है।

(2) सजातीय उद्देश्य यदि एक ही **लिंग** की संज्ञाओं के बहुवचन रूप हों, तो विधेय भी उसी लिंग के बहुवचन रूप में आता है। जैसे—

कीप और परखनलियाँ रैक पर रखे हैं।

उस दुकान में विभिन्न प्रकार के रासायनिक लवण वैधानिक यन्त्र, उपकरण व अन्य साज-सामान मिलते हैं।

(3) सजातीय उद्देश्य यदि समान लिंग पर **वचनों** की संज्ञायें हों तो विधेय उस लिंग के **बहुवचन** रूप में होता हैं—

छनित में दो लवण तथा एक अमल छन कर नीचे आये।

दो युवक व एक पुरुष अन्दर आये।

(4) सजातीय उद्देश्य यदि असमान लिंगों वाले **एकवचन मनुष्यबोधक** हों तो विधेय बहुवचन में आता है, पर **एकवचन अप्राणिवाचक** होने पर विधेय अंतिम उद्देश्य के लिंग के अनुरूप एकवचन में आता है। जैसे—

पियरे क्यूरी तथा मेरी क्यूरी **ने** बेक्वेरल किरणों पर अनुसंधान किये।

पके टमाटर में स्टार्च कम तथा शर्करा ज्यादा हो जाती है।

पके टमाटर में शर्करा ज्यादा व स्टार्च कम हो जाता है।

काग़ज़ और पेंसिल मेरे पास थी। पेंसिल व काग़ज़ मेरे पास था।

(5) सजातीय उद्देश्य यदि असमान लिंग की संज्ञाओं के बहुवचन रूप हो तो विधेय या तो पुल्लिग बहुवचन में आता है या अन्तिम उद्देश्य के लिए बहुवचन रूप में। जैसे—

भोजन में अनेक लवण तथा शर्करायें पाये **जाते हैं**।

भोजन में अनेक लवण तथा शर्करायें पायी **जाती हैं**।

नदी के किनारे ग्रामीण लड़के व लड़कियाँ खेलती थीं।

(6) सजातीय उद्देश्य यदि भिन्न लिंग और भिन्न वचनों की संज्ञाएँ हों तब विधेय या तो पुल्लिग बहुवचन रूप में आता है या अन्तिम उद्देश्य से लिंगऔर वचन में अन्वित होता है। जैसे –

डोली के पीछे एक लड़की, कुछ औरतें और आदमी रोते हुए जा **रहे थे**।

दो पुरुष और वह **औरत** कार में **गई**।

(7) सजातीय उद्देश्य यदि विभिन्न पुरुषवाचक सर्वनाम हों तो उद्देश्य से विधेय का अन्वय करते समय क्रमशः उत्तमपुरुष, मध्यमपुरुष व अन्यपुरुष के वचन व लिंग को वरीयता दी जाती है तथा वाक्य में उनके क्रम को कोई महत्व नहीं दिया जाता। जैसे—

मैं, वह और तुम जाता हूँ अथवा

तू, वह और मैं जाता हूँ

(8) कर्मणि रचना (Passive voice) के वाक्यों में विधेय का सजातीय प्रधान कर्मों से अन्वय ठीक वैसे ही होता है जैसे वाक्य की कर्तरि रचना (Active voice) में सजातीय संज्ञा-उद्देश्यों से। यानी ऊपर के नियम संख्या 1 से 6 में 'उद्देश्य' के स्थान पर 'प्रधान कर्म' शब्द रखकर इसके नियम प्राप्त किए जा सकते हैं। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

उसने एक लिफाफा और एक टिकट ख़रीदे।

मोहन ने एक कीप एक परखनली साफ किये।

मैंने ये किताबें और कापियाँ शीला से लीं।

राम ने तीन बत्तख और दो खरगोश पकड़े।

(9) कर्मणि रचना वाले वाक्यों में प्रत्येक सजातीय विधेय का **अपने** प्रधान कर्म से अन्वय होता है। जैसे—

छात्र ने अपने लवण लिये और उनका परीक्षण शुरू किया।

(10) कर्त्तरि रचना के वाक्यों में एक ही उद्देश्य होने पर सभी सजातीय विधेयों का उसी से अन्वय होना ज़रूरी है। यथा –

प्रो० हार्डी ने रामानुजन की जन्मजात प्रतिभा को **पहचाना और सँवारा**।

कुछ देर बाद वह **उठा** और शहर की तरफ **चल पड़ा**।

वह गाँव में ही **पैदा हुई, पली और परवान चढ़ी थी**।

(11) यदि एक विशेष्य के साथ दो या दो से अधिक सजातीय विकारी विशेषक हों तो सबका उस विशेष्य से एक समान अन्वय होता है। यथा—

पूस की **तीखी, ठंडी, सूखी हवा**

(12) यदि किसी विकारी विशेषक का सम्बन्ध समान लिंग व वचन वाले दो या दो से अधिक सजातीज विशेष्यों से हो तो विशेषक उसी लिंग व वचन का होता है। जैसे—

ऐसे पेड़ व पौधे भी हैं जो छाँटने पर और बढ़ते हैं। (देखें नियम 2 भी)

मेरी बहन और भाभी अभी नहीं आई हैं। (देखें नियम 1 भी)

(13) यदि किसी विकारी विशेषक का सम्बन्ध असमान लिंग और बचन वाले दो या दो से अधिक विशेष्यों से हो तो विशेषक का अन्वय अपने निकटतम विशेष्य से होता है। जैसे--

तुम्हारी चिट्ठियाँ और तार मुझे मिले हैं।

उसका भाई और बहन प्रदर्शनी देख रहे हैं।

जहाँ तक वाक्यों में शब्दक्रम की बात है, हिन्दी में वाक्य के सभी अंगों का स्थान सामान्यतः नियत

है। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से हिन्दी एक **वियोगात्मक** भाषा है—संस्कृत की तरह संयोगात्मक नहीं—अतः हिन्दी वाक्यों में शब्दक्रम का विशेष महत्त्व है। वियोगात्मक भाषा में शब्दों का क्रम वाक्य गठन को तो प्रभावित करता ही है, उस वाक्य के अर्थ एवं शब्द के व्याकरणिक प्रभेद को भी बदल देता है। यही कारण है कि हिन्दी और अन्य वियोगात्मक प्रकृति वाली भाषाओं की वाक्य रचना में शब्दक्रम के बारे में विशेष सावधानी बरतनी पड़ती है। कभी-कभी वाक्य के किसी अंश विशेष पर ज़ोर डालकर, शैलीगत अभिव्यंजना के लिए, सिद्धहस्त (कुशल) रचनाकार इस नियतक्रम में उलटफेर करते हैं। अभिव्यंजना के लिए शब्दक्रम में यह परिवर्तन वाक्य को प्रभावशाली बना देता है। पर अनुभवहीन नये रचनाकारों को इस प्रवृत्ति से परहेज रखना चाहिए अन्यथा थोड़ी सी भी अनवधानता या अज्ञान से अर्थ का अनर्थ हो सकता है। शब्दक्रम में परिवर्तन के द्वारा अभिव्यक्ति में चमत्कार के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

दुमदार सितारों का बादशाह है 'हेली'।

कैसे शुरू हुई धरती पर जीवन की कहानी।

'पर्यावरण' शब्द स्वयं जितना छोटा है, उससे कहीं अधिक व्यापक है उसका अर्थ! हिन्दी के वाक्यों में शब्दक्रम के इसी महत्त्व को ध्यान में रखते हुए कतिपय महत्त्वपूर्ण नियम दिए जा रहे हैं। शब्दबन्धों (Phrases) व वाक्यों में शब्दक्रम सम्बन्धी इन नियमों की जानकारी हर लेखक, अनुवादक एवं पाठक के लिए अपेक्षित है।

(1) शब्दबन्ध में मुख्य शब्द यदि **संज्ञा या विशेषण** हो तो आश्रित शब्द, मुख्य शब्द से पूर्व आता है। जैसे—

ज्वलनशील पदार्थ, गन्धहीन गैस अथवा बहुत खूबसूरत।

(2) शब्दबन्ध में मुख्य शब्द यदि **सर्वनाम** हो तो उसका **विस्तारक सर्वनाम** 'आप' तो प्रायः व्याख्येय शब्द (यानी मुख्य सर्वनाम शब्द) के बाद आता है किन्तु अन्य विस्तारक सर्वनाम—खुद, स्वयं आदि—विशेष्य या व्याख्येय शब्द से पहले भी आ सकते हैं और बाद में भी। जैसे—

पूरा प्रयोग **मैंने खुद** दुहराया है। पूरा प्रयोग **खुद मैंने** दुहराया है।

वह (केवेंडिश) **स्वयं** फ्लोजिस्टन के वियोजन में लगे थे। **स्वयं वह** फ्लोजिस्टन के वियोजन में लगे थे।

सारा परीक्षण **मैंने आप** ही पूरा किया।

(3) शब्द बन्ध में मुख्य शब्द यदि **क्रिया** हो तो संज्ञा, विशेषण या क्रिया विशेषण शब्द उस क्रिया से पूर्व आते हैं। जैसे—

प्रयोग करना, परीक्षण करना, गंधहीन होना, रंगहीन होना।

(4) शब्दबंध में मुख्यशब्द यदि **क्रिया विशेषण** हो तो उसकी व्याख्या करने वाला क्रिया विशेषण, मुख्यशब्द से पूर्व आता है। जैसे—

बहुत धीमे, यहाँ से बहुत नज़दीक

(5) **उद्देश्य** का स्थान यों तो वाक्य के आरंभ में है पर यह कभी-कभी **समय व स्थान** बताने वाले विशेषता बोधक शब्दों के बाद भी आता है। जैसे—

एक बार सर सी० वी० रमण ने कार्बन की संयोजकता का जिक्र करते हुए बताया......

प्रयोगशाला में वह देर रात तक काम करते।

(6) **विधेय** सदा वाक्य के अन्त में आता है। यथा—

रमण ने **कभी विदेशी मदद नहीं ली।**

प्रो० हार्डी ने **लिफाफा खोला।**

बाघ हमारा **राष्ट्रीय पशु है।**

(7) **प्रधानकर्म** सकर्मक क्रिया द्वारा नियंत्रित होता है और प्रायः उसके ठीक पहले आता है। जैसे—

मैं तुम्हारे लिए मिठाई ला रहा हूँ।

(8) यदि वाक्य में कई **विशेषक** हों तो विशेषक, विशेष्य से ठीक पहले आता है। जैसे—

काँच के छोटे-छोटे टुकड़ों से बना कैलीडोस्कोप कितना सुन्दर है।

क्लोरीन अत्यन्त तीक्ष्ण गन्धवाली गैस है।

(9) यदि वाक्य के विशेषकों में **एक से अधिक विशेषण** हों तो सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषण, विशेष्य से ठीक पूर्व आता है। जैसे--

शेर एक खूँख्वार मांसाहारी पशु है।

(10) **स्थान विशेषता बोधक शब्द** प्राय: विधेय के पूर्व आता है, पर कभी-कभी वाक्य के आरम्भ में उद्देश्य के पूर्व या बाद भी आ सकता है। जैसे--

लार्ड रदरफोर्ड व सहयोगियों ने **केवेंडिश प्रयोगशाला में** पहली नाभिकीय क्रिया संपादित की।

सी० वी० रमण का जन्म **त्रिचिरापल्ली** में हुआ था।

ईरोड (तमिलनाडु) के एक गरीब परिवार में रामानुजन पैदा हुए थे।

(11) **समय विशेषता बोधक शब्द** प्राय: उद्देश्य के पूर्व या उसके ठीक बाद आते हैं, पर कभी-कभी विधेय से पहले भी आ सकते हैं। जैसे--

1935 में मेघनाद साहा ने 'साइंस एण्ड कल्चर' पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ किया। साहा का प्रथम शोधपत्र 1917 में 'फिलॉसोफिकल मैगज़ीन में प्रकाशित हुआ। साहा 1938 में योजना आयोग के सदस्य बनाए गये।

(12) वाक्य में यदि समय-व स्थान-विशेषता-बोधक दोनों हों तो **समय विलेषता बोधक शब्द पहले** आता है। जैसे--

रमण **सन् 1921 में** यूरोप गये थ।

18 अप्रैल 1955 को प्रिंसटन में आइंस्टीन का देहान्त हो गया।

(13) **कारण-विशेषता बोधक शब्द** वाक्य के आरंभ में उद्देश्य से पूर्व या पश्चात् अथवा विधेय से पहले आता है। जैसे--

वह डर के मारे कुछ नहीं कर सकता

बुढ़ापे के कारण वह चल नहीं सकता

(14) विशेषण से सम्बद्ध परिमाण एवं कोटि-विशेषता बोधक शब्द प्राय: उस विशेषण से पूर्व आते हैं। जैसे--

बहुत मीठे अंगूर

नितान्त अज्वलनशील गैस

शब्दक्रम एवं वाक्य गठन सम्बंधी उपर्युक्त विशिष्ट नियमों की जानकारी के साथ ही एक बात और महत्वपूर्ण है। इस लेख के प्रारंभ में यह कहा गया है कि किसी भी वाक्य के दो अंग होते हैं--उद्देश्य और विधेय! पर हिन्दी में एकांगी वाक्यों की भी कमी नहीं है। **एकांगी वाक्य** वे हैं जिनमें वाक्य का केवल एक ही अंग--उद्देश्य या विधेय--उपस्थित होता है। ऐसे एकांगी वाक्य या तो बोलचाल की भाषा में प्रयोग किये जाते हैं या फिर लेखों व पुस्तकों आदि के शीर्षक के रूप में। शीर्षक के रूप में आये एकांगी वाक्य प्राय: उद्देश्य प्रधान होते हैं और उनमें विधेय पक्ष का अभाव होता है। शीर्षकों के बारे में एक सावधानी यह भी बरती जाती है कि शीर्षक छोटे, प्रभावपूर्ण एवं लेख/पुस्तक के मूल कथ्य को प्रकट करने वाले हों। चूँकि पाठक का ध्यान सबसे पहले शीर्षकों पर ही जाता है, अत: शीर्षकों के चयन में विशेष सावधानी की ज़रूरत है।

हिन्दी विज्ञान लेखन के मानक रूप के निर्धारण एवं उसकी कठिनाइयों से संबंधित इस लेखमाला की अगली कड़ी में विराम चिह्नों के प्रयोग संबंधी पक्षों पर विस्तार से विचार किया जायेगा।□□

मोम : पौधों का सुरक्षा कवच

डॉ० सुशीला राय

बाज़ार में बिकने वाले तरबूज, सेब, अंगूर, खजूर, नाशपाती और चेरी आदि फलों की चमक उनकी ताज़गी प्रकट करती है और स्वतः हमें आकर्षित करती है। उद्यान में घूमते समय केले के पत्तों, गुलाब और कमल के फूलों पर पड़ने वाली पानी की बूँदे मोती का सा आभास देती हैं। कठोर गन्ने का वृक्ष हो या लम्बी तीखी घास हो या ताड़ के पत्ते हों सभी में प्रकृति ने एक मुलायम और चिकना आवरण प्रदान किया है। आइये इस आवरण के अन्दर झाँककर देखें कि अपने अंदर यह क्या-क्या रहस्य छिपाये हुए है।

पौधों के लगभग सभी ऊपरी अंगों पर मोम, सतही मोम या इपीक्यूटिकुलर वैक्स के रूप में विद्यमान रहती है। चाहे पत्तियाँ हों, फल-फूल हों, तना हो या विभिन्न प्रकार की जड़ें, इस मोम की मात्रा किसी विशेष जाति के वृक्षों की उपजातियों, उनके पाये जाने वाले स्थान और पौधों के अंगों पर आश्चर्यजनक रूप से निर्भर करती हैं। जैसे कि जहाँ पत्ती के एक ओर यह मोम दूसरी ओर से 10 गुनी अधिक जमी हो सकती है, वहीं किसी वृक्ष के तने के निचले भाग में ऊपर वाले भाग की तुलना में अधिक मात्रा में पाई गई है। प्रमुखतया यह उच्चकुलीय पौधों की पत्तियों, और फलों की क्यूटिकिल में पाई जाती है और इन पर ही शोध केन्द्रित रहा है क्योंकि फसलों पर कीट-पंतगों आदि से बचाव और फलों का भण्डारण ही आर्थिक दृष्टिकोण से अधिक सार्थक है।

क्यूटिकिल (Cuticle) के ऊपर उपलब्ध दृढ़ रक्षा कवच प्रकृति ने प्रदान किया है। यह झिल्ली क्यूटिन (Cutin) कहलाती है और वसीय पॉलीमरों से बनी होती है। ये पॉलीमर हाइड्रॉक्सीवसा अम्लों के एस्टर होते हैं। इस क्यूटिकुलर झिल्ली की सतह की मोटाई 0.5 से 20 माइक्रोमीटर (10^{-6} मीटर) होती है। इस सतह में मोम के अतिरिक्त पेक्टिन पदार्थ भी गुँथे रहते हैं। परन्तु ठीक बाह्यत्वचीय कोशिकाओं (एपीडर्मल सेल्स) से ऊपर शुद्ध पेक्टिन की सतह विद्यमान रहती हैं। सतही या इपीक्यूटिकुलर मोम इस क्यूटिकिल झिल्ली के ऊपर ही जमी होती है। इलेक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शी और एक्सरे मणिभीय अध्ययनों से भी यह निष्कर्ष निकाला गया है कि सतही मोम की झिल्लियों का जमाव निम्न चार प्रकार से हो सकता है :

(1) मोम की पतली सुइयों के रूप में गुंथा हुआ जमाव,

(2) इकहरी दानेदार 1 माइक्रोमीटर तक व्यास की तह,

(3) बहुस्तरीय शालाकाओं के रूप में 1 से 4 माइक्रोमीटर व्यास और 50 माइक्रोमीटर लम्बाई तक, और

(4) झिल्लीनुमा सतहें।

सहती मोम की उपस्थिति एक रक्षा कवच के रूप में कार्य करती है, जो कि पौधों में जल-संतुलन के अतिरिक्त यांत्रिक हानि, द्रवदाह, फफूँदी और कीड़ों आदि के आक्रमण से बचाव करती है। सामान्यतः सतही मोम 0.02 से 0.05 मि० ग्रा० प्रति से० मी०^2 मोटाई तक पाई जाती है, परन्तु इसकी मात्रा बहुस्तरीय झिल्ली के रूप में—विशेषकर उन वृक्षों की

रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर—342001

पत्तियों में अधिक पाई जाती है जो कि उच्च तापमान या तीखी सूर्य की रोशनी में उगते हैं। ये उच्चतापमान सतही मोम के विभिन्न अवयवों की मात्राओं को प्रभावित करते हैं।

सतही मोम की संरचना

रासायनिक और जैव-संश्लेषण अध्ययनों से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि सतही मोमों में सामान्यतया लम्बी श्रृंखला वाले हाइड्रोकार्बन, एल्कोहॉल, वसा अम्ल और उनके एस्टर होते हैं। इन हाइड्रोकार्बनों की मात्रा 10 से 50% तक वृक्षों की मोम में पाई गई हैं। ये पैराफीनिक यौगिक C_{21} से C_{35} कार्बन श्रृंखला वाले होते हैं, जिनमें विषम कार्बन परमाणु की संख्याओं की बहुलता होती है। अधिकतर मोमों में किसी विशेष पैराफीन की मात्रा दूसरों की तुलना में अधिक हो सकती हैं जैसे कि बन्दगोभी (*Brassica oleraceae*) की सतही मोम में नानाकोजेन (C_{29}) की मात्रा लगभग 90% है, जबकि **सिनेसियो ओडोरिस** (*Senecio odorice*) से प्राप्त मोम में हेनट्राइएकान्टेन (C_{31}) हाइड्रोकार्बन अधिक होती है। यह लम्बी श्रृंखला वाले एवं अधिक अणुभार वाले यौगिक जल में अघुलनशील होते हैं तथा विषम जलवायु में इनका विघटन संभव नहीं होता। इन गुणों के कारण ही ये वृक्षों को अभेद्य कवच के रूप में अत्यधिक जल के वाष्पीकरण से, कीट-पतंगों, फफूंद और यांत्रिक नुकसानों से रक्षा करने में उपयोगी होते हैं।

औद्योगिक महत्व के अनुसार कुछ सतही मोमों का प्राप्ति स्थान, रासायनिक अवयव, उपयोग और अन्य विशेषतायें इस प्रकार हैं—

(1) **कारनॉबा मोम** (Carnauba wax)—वनस्पतियों से प्राप्त मोमों में कारनॉवा सबसे प्रसिद्ध मोम है, जो कि अमेरिका उपजाति के ताड़ वृक्ष (*Copernicia cerifera Martius*) की पत्तियों से प्राप्त की जाती है। यद्यपि इस ताड़ वृक्ष का आवास ब्राजील में है जहाँ कि दक्षिण और उत्तरी-पूर्वीय अर्ध-शुष्क क्षेत्रों में यह चहुँओर फैला हुआ है। यहाँ इसकी बहुत सी किस्में पाई जाती हैं। पूर्ण वयस्क वृक्ष 8-10 मीटर की ऊँचाई का होता है, जिसके सिर पर पत्तियों का मुकुट-सा छाया रहता है। एक मीटर लम्बी नई पत्तियों की ऊपरी व निचली दोनों सतहों पर मोम की तहें जमा होती हैं। पत्तियों की ऊपरी सतह पर यह अधिक मात्रा में शल्कों (Scales) के रूप में तथा निचली सतहों में अधिक चिपकी हुई स्थिति में होती है। आठ वयस्क पत्तियाँ एक समय में काटी जाती हैं और वर्षा काल को छोड़ कर लगभग छः से आठ महीनों तक लगातार मोम प्राप्त करने का सिलसिला चलता रहता है। इन पुरानी पत्तियों से लगभग 70% मोम मिलती है, जिसका गलनांक 78 से 84° सेंटीग्रेड होता है। रासायनिक विश्लेषणों के अध्ययनों से इस मोम में प्रमुखतया 84 से 85% तक बसा अम्लों के एस्टर पाये गये हैं, जिनमें वसा एल्कोहॉल C_{27} और C_{30} तथा वसा अम्ल C_{24}, C_{26} और C_{28} कार्बन श्रृंखला वाले संयुक्त रूप में सम्मिलित हैं। मुक्त वसा एल्कोहॉलों की मात्रा 9 से 10% है, जिसमें C_{26}, C_{27}, C_{28} C_{30} और C_{32} कार्बन श्रृंखला एल्कोहॉल प्रमुख हैं। मुक्त वसा अम्लों में C_{28} से C_{32} तक के कार्बन वाले श्रृंखला वाले प्राप्त अम्लों की 1 से 1.5% पाई गई हैं। अन्य रासायनिक अवयवों में **हेप्टाकोजेन** (C_{27}), **लैक्टोन, पालोएल्कोहॉल्स** और **रेजिन्स** आदि सम्मिलि हैं। इस मोम की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें जितने विभिन्न प्रकार के एल्कोहॉल्स और अम्ल मिलते हैं उतने अन्य मोमों में नहीं पाये जाते। इस मोम का प्रमुख उपयोग जूतों, फर्श और फर्नीचर की पालिशों, ग्रामोफोन रिकार्ड्स, बिजली के सामान, जलसह यौगिक, ध्वनि फिल्में, कार्बन पेपर, कृत्रिम फल, रंग-रोगन, शुष्क बैटरियों, माचिसों और साबुन आदि के निर्माण में किया जाता है।

(2) **कैन्डिलिला मोम** (Candelilla wax)—यह मोम उत्तरी मैक्सिको के अर्धशुष्क क्षेत्रों में उगने वाली जंगली झाड़ी (*Pedilanthus pavonis*) के

तनों से प्राप्त की जाती हैं। इस बहुवर्षीय, लगभग पत्तियों रहित झाड़ी की जड़ों को छोड़कर अन्य सभी अंगों में यह सतही मोम पाई जाती है। मैक्सिको के अतिरिक्त दक्षिणी टैक्सॉस, एरिज़ोना और दक्षिणी कैलिफोर्निया में पाये जाने वाले इस पौधे में पतले आयताकार, लगभग O.75 से 1.25 मीटर की ऊँचाई तक के हरे तनों का विकास होता है। मोम के निष्कासन के समय पूरे पौधे को उखाड़ कर पानी में डूबो कर उबाला जाता है। मोम पिघलकर अलग होती है और ठण्डा होने पर जल की सतह पर जम जाती है। कठोर और हलके भूरे रंग की इस मोम का गलनांक 64 से 71° सेन्टीग्रेड तक होता है। इस मोम में 77% तक वे पदार्थ होते हैं जो साबुनीकरण के बाद प्राप्त होते हैं। इन पदार्थों में प्रमुख हाइड्रोकार्बन्स (48.6%), सीटोस्टीरॉल्स का मायरिसिल एल्कोहॉल के साथ एस्टर, मायरिसिक एसिड के साथ दूसरा एस्टर, व वसा अम्ल और लेक्टोन आदि हैं। हाइड्रोकार्बन्स में हेनट्राएकान्टेन (C_{31}, 40%) और ट्राइट्राएकान्टेन (C_{33}) विशेषकर उल्लेखनीय हैं। कारनॉबा मोम की भाँति यह मोम भी अधिक गलनांक होने के कारण कठोर और भुरभुरी है जिसका उपयोग दूसरी मोमों में मिश्रित कर उन्हें कठोर बनाने में होता है। जिन उद्योगों में कारनॉबा मोम उपयोगी है उन सभी जगहों में कैन्डिलिला मोम का प्रयोग किया जाता है। परन्तु इसमें हाइड्रोकार्बन और रेज़िन की मात्रा अधिक होने के कारण इसकी गुणवत्ता कुछ उपयोगों में कारनॉबा मोम की तुलना में कम आँकी जाती है और निम्नस्तर की समझी गई है। कैन्डिलिला मोम सभी वनस्पतियों से प्राप्त मोमों की तुलना में च्युंगगम के उपयोग में सर्वश्रेष्ठ पाई गई है।

(3) **ऑरीकुरी मोम** (Ouircury wax)—यह मोम ब्राज़ील में पाये जाने वाले ताड़ (*Cocos coronata*) की पत्तियों से प्राप्त की जाती है। अन्य ब्राज़ील मूल के ताड़ वृक्ष भी इस पदार्थ के स्रोत हैं। यह कारनॉबा मोम की भाँति शल्कों के रूप में पत्तियों से अलग होकर नहीं निकल आती बल्कि इसे चाकू या काँच की प्लेटों से खुरच कर निकाला जाता है। अशुद्ध मोम में पौधों के वर्णक और रेज़िन भी काफी मात्रा में होते हैं। पीले भूरे रंग से गहरी रंग वाली इस मोम का गलनांक 84-87° सेन्टीग्रेड तक होता है। रासायनिक अवयवों में C_{14} से C_{26} कार्बन शृंखला वाले अम्लों के एस्टर (9%), मुक्त वसा अम्ल (10%), साबुनीकरणीय रेज़िन (12%), पैराफीन हाइड्रोकार्बन (17%) और खनिज अवयव (2%) पाये गये हैं। इस मोम को कारनॉबा मोम के स्थान पर सभी उद्योग में प्रयोग किया जाता है। परन्तु इसके गाढे रंग और अशुद्धियों के कारण इसका उपयोग सीमित हैं।

(4) **ईख मोम** (Sugarcane wax)—यह एक अन्य महत्वपूर्ण ईख से प्राप्त मोम है। इसका उत्पादन कारनॉबा, ऑरीकुरी और कैन्डिलिला मोमों के कुल उत्पादन से कहीं अधिक है। क्यूवा की शर्करा मिलों में ही इस मोम का वार्षिक उत्पादन छह करोड़ पौंड से अधिक है। शर्करा के उत्पादन में एक उपोत्पाद के रूप में प्राप्त होने के कारण इसके उपयोग की संभावनायें दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही हैं। इस मटमैली-पीली और कठोर गुण वाली शुद्ध मोम का गलनांक 80° सेंटीग्रेड है। एक भारतीय शर्करा मिल से प्राप्त मोम का गलनांक 68–70° सेंटीग्रेट पाया गया है। इसमें पाये जाने वाले वसा अम्लों की मात्रा लगभग 4.5% है जिनमें केप्रोइक, पामिटिक, स्टियरिक, आर्केडिक और ओलिइक प्रमुख हैं। अतः यह मोम बहुत सी अन्य मोमों से सर्वथा भिन्न है, जिनमें अधिक कार्बन शृंखला वाले (C_{24} से C_{34}) अम्ल पाये जाते हैं। साबुनीकरण के पश्चात् प्राप्त पदार्थों में 80% भाग प्रायमरी एल्कोहॉल का है, जिसमें सामान्य ट्राइएकान्टेनॉल (C_{30}) लगभग शतप्रतिशत विद्यमान है। सेकेन्डरी एल्कोहॉल की मात्रा लगभग 10% और पैराफीन हाइड्रोकार्बन (5%) पाया गया है। इस मोम का उपयोग भी कारनॉबा मोम की भाँति विभिन्न उपयोगों में किया जाता है। इनमें से प्रमुखतया इसका उपयोग

जलइमल्शन द्वारा निर्मित पालिशों, पेस्ट पालिशों, कार्बन, पेपर, वर्णक-परीक्षेपण (Pigment dispersal) और साँचे बनाने के काम में होता है।

(5) **जापान मोम** (Japan wax)—यह मोम जापान और चाइना में उगने वाले **सुमेक** (*Sumac*) की तरह के पौधों (*Rhus succidanea*) के बेर के समान फलों से प्राप्त की जाती है। यह इस पौधे और इसकी उपजातियों के फलों की गुठली के ऊपर जमी हरी पर्त से निकाली गई है। वृक्ष लगभग सौ वर्षों तक मोम का स्रोत बना रहता है और प्रत्येक वर्ष 15 से 22 किलो तक फल देता है जिनमें लगलग 15% अशुद्ध मोम पाई जाती है। प्रमुखतया यह मोमीयग्लीसराइड के रूप में मिलती है जिसमें ट्राइपामिटीन ग्लिसराइड (71%) प्रमुख है। अन्य ग्लिसराइड बनाने वाले अम्ल आर्केडिक, स्टियरिक, ओलिइक और लिनोलिइक हैं।

अन्य डाइबेसिक अम्लों में C_{19} से C_{89} कार्बन श्रृंखला वाले अम्ल हैं। इसके अतिरिक्त मुक्त वसा अम्ल, एल्कोहॉल व फाइटोस्टीराल्स भी पाये गये हैं। इस मोम का उपयोग मोमबती बनाने में किया जाता है। इसके अतिरिक्त चमड़ा उद्योग, पॉलिशों और वस्त्रों में चमक प्रदान करने के लिए भी उपयोग किया जाता है। ट्राइग्लिसराइड की अधिक मात्रा होने के कारण साबुन के निर्माण में इसका विशेष योगदान है।

अन्य महत्वपूर्ण मोमें—प्रकृति ने सभी फलों, पत्तियों और बहुत से तनों पर मोमीय आवरण प्रदान किया है, जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है। इन सभी मोमों का यहाँ उल्लेख करना संभव नहीं है किन्तु कुछ महत्वपूर्ण मोमों में **एस्पार्टो घास** (Esparto Grass) से प्राप्त मोम बेबेरी (Bay Berry) मोम, अंरडी के बीजों से प्राप्त मोम, रिटामो (Retamo) मोम और जोजोबा (Jojoba) मोम महत्वपूर्ण है।

सहती मोम के दृष्टिकोण से यदि हम नित्यप्रति खाने वाले फलों का अवलोकन करें तो हमारी दृष्टि सेब पर ठहर जाती है। सेब के छिलकों में 0.5 से 1% तक मोम पाई जाती है। सेब के अतिरिक्त नासपाती, लाल व काली चेरी और अंगूर में सतही मोमों की उपस्थिति पायी गयी है।

मरुस्थलों में उपलब्ध वृक्षों में सतही मोम की मात्रा अधिक पाई गई है। जैसा कि ऊपर बताया गया है कि उच्चतापमान, जल के वाष्पीकरण को कम करने के लिये और न्यूनतम वर्षा के कारण क्यूटिकिल मोम का इन वृक्षों पर अधिक उत्पादन होता है। लेखिका ने थार मरुस्थल में सर्वत्र उपलब्ध **केर के** फल-फूलों का विस्तृत रासायनिक परीक्षण किया है (देखिये 'विज्ञान' फरवरी 1984 अंक)। **केर के** नियोजित उत्पादन में आर्थिक संभावनाएँ हैं और ये वृक्ष एल्कोलायड, ग्लायकोसाइड आदि यौगिकों की उपस्थिति के कारण ओषधीय गुणों से परिपूर्ण हैं।□□

विज्ञान को लोकप्रिय बनाने के लिए
इंदिरा गाँधी पुरस्कार 1988

अंग्रेज़ी सहित किसी भी भारतीय भाषा में विज्ञान को लोकप्रिय बनाने के लिए किसी व्यक्ति के उच्च-स्तरीय कार्य के लिए पुरस्कार प्रदान किया जायेगा। पुरस्कार में 10,000 रुपये की राशि और कांस्य पदक शामिल है। पुरस्कार के नियम और नामांकन पत्र प्रबंध मंत्री, भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी, बहादुरशाह ज़फर मार्ग, नई दिल्ली—110002 से मंगाया जा सकता है। अकादमी में नामांकन के पहुँचने की अंतिम तिथि 15 जुलाई 1987 है।

—बी० सी० बोरा
प्रबंध संपादक
भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी, नई दिल्ली

विज्ञान समाचार

संकलन : प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

(1) बहुधंधी कम्प्यूटर "जिन"

'सोवियत विज्ञान अकादमी' के मास्को कंप्यूटर इंजीनियरी संस्थान द्वारा तैयार किये गये कंप्यूटर **"जिन"** का नाम ठीक ही रखा गया है, क्योंकि यह **'अलादीन के चिराग'** के **जिन** की तरह ही उपयोगकर्ता के सभी आदेशों का बड़ी मुस्तैदी से पालन करता है। यह उपयोगकर्ता के साथ "बात" करने से लेकर उसका मनोवैज्ञानिक खाका तक तैयार कर सकता है। यह जन्मदिन पर बधाई देने से लेकर हर प्रकार की सूचनाओं को "याद" रखता है और समय पर प्रस्तुत कर देता है। यह रूसी भाषा जानता है।

(2) समुद्री प्रदूषण का प्रभाव

'सोवियत विज्ञान अकादमी' के कंप्यूटर केन्द्र ने एक प्रयोग शुरू किया है जिसका उश्द्देय यह पता लगाना है कि विश्व के समुद्री क्षेत्र के प्रदूषण का वायुमंडल पर क्या प्रभाव पड़ता है। इस केन्द्र के उपनिदेशक **निकिता मोइसेयेव** ने बताया है कि समुद्री पानी पर तेल की बहुत महीन तह के जमने से भी समुद्र और वायुमंडल के बीच ऊर्जा के आदान-प्रदान में गड़बड़ी पैदा हो जाती है। इसका वाष्पीभवन पर प्रभाव पड़ता है और जलवायु में बदलाव आ जाता है। वैज्ञानिकों ने इस दिशा में अनुसंधान को आगे बढ़ाने के लिए एक कंप्यूटर-आधारित गणितीय मॉडल भी तैयार किया है।

(3) भूरे कोयले पर पलने वाले बैक्टीरिया

कज़ाखस्तान के सोवियत वैज्ञानिकों ने इस जनतंत्र के कोयला क्षेत्र में भूरे कोयले पर पलने वाले **बैक्टीरिया** (जीवाणुओं) का विकास किया है, जो रद्दी कोयले के ढरे को कुछ ही समय में उपजाऊ मिट्टी में बदल देते हैं। इस समय लगभग 70 करोड़ टन ऐसा ही रद्दी कोयला यहाँ जमा है। अब बड़े पैमाने पर इस **बैक्टीरिया** की सहायता से रद्दी कोयले को नष्ट करने और उससे उपजाऊ मिट्टी प्राप्त करने की योजना कार्यान्वित की जा रही है।

(4) रक्त-प्रवाह को रोकने वाली दवा

ताशकन्द विश्वविद्यालय के वैज्ञानिकों ने शोधकार्य के बाद ऐसी दवा का विकास किया है, जो शरीर से बहने वाले रक्त को रोकने में बड़ी कारगर सिद्ध हुई है। जड़ी-बूटियों से तैयार की गई यह दवा इंजेक्शन दिये जाने के 5 या 10 मिनट के भीतर ही अपना काम शुरू कर देती है और किसी भी प्रकार के रक्त-प्रवाह को रोक देती है। इसका नाम **'लेगोदेन'** रखा गया है।

(5) शक्तिशाली टेलिस्कोप

सोवियत वैज्ञानिकों ने एक नया शक्तिशाली टेलिस्कोप बनाया है, जो आकाश के धुँधले तारागुच्छों में से किसी एक तारे को साफ-साफ देख सकता है और उसके फोटो खींच सकता है। खगोल-अध्ययन के क्षेत्र में इससे बड़ी मदद मिलेगी। इस टेलिस्कोप के निर्माता हैं ओदेस्सा विश्वविद्यालय की वेधशाला के एक प्रमुख कर्मी **एन० फाश्चेवस्की**, जिन्होंने टेलिस्कोप की परम्परागत प्रणाली में आधारभूत परिवर्तन करके इस नये टेलिस्कोप का विकास किया है। यह टेलिस्कोप केवल प्रकाश को ही नहीं देखता है; बल्कि पराबैंगनी, अवरक्त आदि प्रकाश-बिन्दुओं को भी आसानी से खोज निकालता है।□□

घेघा या गलगंड रोग

डॉ० शिवगोपाल मिश्र

घेघा वह रोग है जो गले के सामने सूजन के रूप में प्रकट होता है और इसका सूचक होता है कि **थायराइड** ठीक से काम नहीं कर रहा। थायराइड वाहिनी-विहीन ग्रन्थि है जो श्वासनली के दोनों ओर टेंटुआ के नीचे स्थित रहता है। मनुष्य के थायराइड में दो पालियाँ होती हैं जो इस्थुमस नामक ऊतक के बैंड से जुड़ी रहती हैं। प्रौढ़ व्यक्ति के सामान्य थायराइड का भार लगभग 25-40 ग्राम होता है किन्तु इसका आकार, आयु, निवास, भोजन आदि पर निर्भर करता है। इस ग्रन्थि की सबसे अनोखी विशेषता यह है कि इसमें प्रचुर मात्रा में आयोडीन संचित रहता है। यह मात्रा रक्त में पाई जाने वाली आयोडीन की मात्रा से 50 से 100 गुनी तक अधिक रहती है। इस ग्रन्थि में एक सक्रिय पदार्थ या हार्मोन भरा रहता है जिसे **थायरोक्सीन** कहते हैं जो शरीर के सामान्य उपापचय के साथ ही उसकी वृद्धि तथा यौन (लैंगिक) विकास को भी नियमित करता है।

चूँकि आयोडीन पायरोक्सीन का अनिवार्य घटक है (65%) अतएव थायराइड इस हार्मोन को तब तक संश्लेषित नहीं कर सकता जब तक रक्त में आयोडीन की प्रचुर मात्रा विद्यमान रहे। मनुष्य में जल तथा भोजन से आयोडीन की मात्रा की पूर्ति होती है और जल तथा भोजन में आयोडीन की मात्रा मिट्टी निहित आयोडीन पर निर्भर करती है। यदि नित्य-प्रति 75 मि० ग्राम से कम आयोडीन ग्रहण किया जाय तो थायरोक्सीन की न्यूनता होने लगती है। इससे पीयूषिका ग्रन्थि उत्तेजित होती है जिससे थायराइड उत्तेजक हार्मोन (TSH) का स्राव बढ़ जाता है। किन्तु यदि पर्याप्त अयोडीन न रहे तो थायरोक्सीन नहीं बन पाता और अन्ततोगत्वा थायराइड बढ़कर घेघा बन जाता है। यदि यह न्यूनता कहीं बचपन में उत्पन्न हो जाती है तो **क्रेटिनता** (Cretinism) या **अवटुवामनता** नामक रोग हो जाता है जिससे कद छोटा रहा आता है, चमड़ी मोटी-फुलफुली, मुँह में खुरदुरापन तथा मानसिक एवं लैंगिक विकास में ह्रास आता है। प्रौढ़ों में **मिक्सेडेमा** (Myxedema) हो जाता है जिसमें मोटी-फुलफुली चमड़ी, उपापचय में कमी, लैंगिक कार्य-कलाप में व्यवधान तथा मानसिक कुन्दता आती है। घेघा से पीड़ित स्त्रियों के नवजात शिशु बौने हो सकते हैं और उनका मानसिक विकास रुक जाता है। घेघा अधिक बढ़ जाने पर आवाज़ भारी हो सकती है।

भौगोलिक वितरण

भारत में समूचे उपहिमालय क्षेत्र के सारे राज्यों में स्थानिक घेघा पट्टी पाई जाती है। ये राज्य हैं—जम्मू-कश्मीर (8 ज़िले), हिमाचल प्रदेश (12 ज़िले), पंजाब (3 ज़िले), हरियाणा (2 ज़िले), बिहार (10 ज़िले), उत्तर प्रदेश (16 ज़िले), पश्चिमी बंगाल (5 ज़िले), सिक्किम असम (9 ज़िले), मिजोरम, मेघाजय (2 ज़िले), त्रिपुरा, मनीपुर, नागालैंड (3 ज़िले) तथा अरुणाचल प्रदेश तराई क्षेत्र के दस ज़िले जिनमें बहराइच, गोंडा, बस्ती, देवरिया तथा गोरखपुर (उत्तर प्रदेश के), दरभंगा, चम्पारन, सीतामढ़ी (बिहार के) सम्मिलित हैं। उनकी 30 लाख आबादी में से लगभग आधी आबादी प्रत्यक्ष या

रीडर, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद—211002

अप्रत्यक्ष रूप से इस रोग का शिकार हैं। महाराष्ट्र के औरंगाबाद, गुजरात के भडौंच तथा मध्य प्रदेश के सीधी एवं शहडोल जिले में भी पाया जाता है। अब तो उत्तर प्रदेश के मेरठ जिले में भी घेघा रोग पाया गया है। कुल मिलाकर लगभग 17 करोड़ व्यक्ति इस रोग से पीड़ित हैं। अनुमान है कि 2000 ई० तक देश के 20 करोड़ लोगों को इस रोग से बचाने का उपाय सोचना होगा।

हाल ही में 'अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान' के कोचुपिल्लाई ने उत्तरी भारत के तराई क्षेत्र में स्थानीय घेघा के आतंक का विवरण प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार प्रत्येक घेघा से प्रभावित जिले के लगभग 5000 बालकों का मानसिक विकास रुक जावेगा और इससे भी अधिक बच्चों का ठीक से मानसिक विकास नहीं हो सकेगा। उत्तर प्रदेश तथा बिहार के तराई क्षेत्र में हर दो घंटे में थायराइड से प्रभावित बालक उत्पन्न होता है। इस तरह बालकों की संख्या एवं उनके स्वास्थ्य की दृष्टि से इस समस्या पर तुरन्त ध्यान देने की आवश्यकता है। असलियत तो यह है कि इस क्षेत्र के लोगों को पता ही नहीं है कि उनके बच्चे इस प्रकार से कुप्रभावित होंगे। उन्हें न तो घेघा तथा आयोडीनयुक्त नमक का सम्बन्ध ज्ञात है, न ही माताओं के गर्भकाल में घेघा होने तथा शिशुओं की वामनता एवं कुन्द बुद्धि होने का पता है। पिछड़े वर्ग के बच्चों में यह रोग होते हुए भी उन्हें इसका ज्ञान नहीं है।

सामान्य मानव पोषण में समुद्री अहार आयोडीन का सर्वोत्तम स्रोत है। समुद्र में रहने वाली मछलियों में ताजे पानी में पाई जाने वाली मछलियों की अपेक्षा 11 गुना अधिक आयोडीन रहता है (300 मिग्रा/किग्रा)। अतएव यदि रोजाना भोजन में मछली को सम्मिलित कर लिया जाय तो प्रचुर आयोडीन प्राप्त हो सकता है। समुद्री किनारे के लोगों में अधिक आयोडीन प्राप्त होने का यही कारण है।

अनुमान है कि तरकारियों में सबसे कम आयोडीन मिलता है, फिर अनाजों से, फिर मांस-दूध, से और तब अण्डों से। सर्वाधिक आयोडीन समुद्री मछलियों से मिलता है।

बहुत पहले ज्ञात हो चुका था कि आयोडीन की कमी से घेघा रोग उत्पन्न होता है अतएव इसकी रोक-थाम एवं उपचार के लिए आयोडीनयुक्त लवण का उपयोग करना चाहिए। जिन क्षेत्रों की मिट्टियों में तथा जल में आयोडीन का अभाव है वहाँ पर आयोडीन लवण के उपयोग से आयोडीन की न्यूनता दूर की जा सकी है। इस समय हमारे देश में 13 ऐसे संयंत्र हैं जिनसे प्रतिवर्ष 1·6 लाख टन ऐसा लवण तैयार किया जाता है किन्तु हमारी वार्षिक आवश्यकता 7 लाख टन आयोडीनयुक्त लवण की है। यही नहीं अभी तक ऐसे लवणों में 25 P P M आयोडाइड रहता था किन्तु मौसम, आर्द्रता के कारण होने वाली आयोडीन क्षति को ध्यान में रखते हुए यह मात्रा 50 P P M करने का प्रस्ताव है। अनुमान है कि ऐसे लवण के प्रयोग से हिमाचल प्रदेश तथा पंजाब के अनेक जिलों में इस रोग में 8-10% की कमी हुई है।

ऐसा विश्वास है कि आयोडीनयुक्त लवण का कम प्रयोग होने का प्रधान कारण इस लवण का रूप-रंग

[शेष पृष्ठ 5 पर]

फरवरी के एक समाचार के अनुसार 'नेशनल इंस्टीट्यूट ऑव न्यूट्रीशन' (N I N), हैदराबाद के वैज्ञानिकों ने "आयोडाइज्ड सूर्यमुखी का तैल" तैयार कर लिया है। इस सूर्यमुखी तैल से ही "एथिआयडोसोला" भी बनाया गया है जो फ्रांस से प्राप्त होने वाले "लिपिडॉल" की तरह का है। इस तरह आयोडीन-युक्त लवण तथा तेल दोनों के द्वारा आयोडीन न्यूनता पर विजय प्राप्त की जा सकेगी।

— शि० गो० मि०

मोम : प्राणियों और कीटों का सुरक्षा कवच

डॉ० सुशीला राय

पत्तियों और फलों के ऊपरी सतह पर पाई जाने वाली मोम की भाँति मनुष्यों, जानवरों, सरीसृपों, जलचरों और विशेषकर कीट-पतंगों में भी क्यूटिकिल मोम बहुस्तरीय संरचना के रूप में पाई गई है। पौधों, कीड़ों और मनुष्यों की ऊपरी सतहों पर व्याप्त इन मोमों की संरचना का यदि हम तुलनात्मक अध्ययन करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि इन तीनों वर्गों में सतही मोमों की बहुस्तरीय पर्तें जमा होती हैं परन्तु कीड़ों और मनुष्यों की त्वचा पर जमी मोम की क्षैतिज सतहें स्पष्टतया एक के बाद एक दृष्टिगोचर होती हैं। इसके अतिरिक्त प्राणियों की क्यूटिकिल में पतली नालियों (Capillary) का जटिल जाल बना होता है जो कि इस मोम को नीचे से ऊपरी सतह तक ले जाता है। इस प्रकार की संरचना पौधों की क्यूटिन में नहीं होती। शरीर पर पाई जाने वाली सतही मोम त्वचा को आकर्षक बनाने के साथ विभिन्न प्रकार से रक्षा करती है। विभिन्न प्रसाधन सामग्रियाँ, स्किन फूड और कोल्ड क्रीम आदि एक पूरक के रूप में उन लोगों द्वारा अधिक प्रयोग में लाई जाती हैं, जिनकी त्वचा में यह सतही मोम उपयुक्त मात्रा में उपलब्ध नहीं होती। सर्प, बिच्छू, मछलियाँ, तिलचट्टे और गुबरैले आदि कीड़ों में दिखाई देने वाली चमक, मछलियों में पाया जाने वाला तेल और हमारे कान से निकलने वाला मैल आदि सभी प्राणियों में पाई जाने वाली प्रकृतिप्रदत्त सतही मोम के ही उदाहरण हैं।

बीज वैक्स—इस वर्ग में बीज वैक्स (Bees wax) का सबसे पहला विवरण मिलता है जो मिस्र के निवासियों की मक्खियों द्वारा छत्ते के कोष्टकों में संग्रहित की जाती हैं, जिनमें घरेलू मक्खी—**एपिस मैलीफिका** (*Apis mellifica*), भारतीय और अफ्रीकी मूल की **गेड्डा** (*Gedha*) और दक्षिणी अमेरिका की मैलीपोना (*Melipona*) प्रमुख हैं। इस मोम का स्राव मज़दूर मक्खी के पेट में स्थित आठ मोम-स्रावी ग्रंथियों द्वारा होता है जो कि उनके आमाशय में शहद और फूलों के पराग के पाचन से प्राप्त होता है। यह मोम एक सहायक मज़दूर मक्की द्वारा चूस लिया जाता है और फिर शहद के छत्ते के कोष्ठ में बड़े ही सुनियोगित ढंग से रख दिया जाता है। यह पाया गया है कि मक्खियाँ एक पौंड मोम प्रत्येक आठ पौंड शहद से स्रावित करती हैं। इस अशुद्ध मोम का रंग और गुण मक्खी की जाति और उसके भोजन तथा मोम के परिशोधन पर निर्भर करता है।

स्पर्मएसिटाई वैक्स—दूसरी महत्वपूर्ण मोम इस वर्ग की स्पर्मएसिटाई वैक्स (Spermaceti) है, जो कि **स्पर्मह्वेल मछली फाईसेटर मेक्रोसिफेलस** (*Physeter macrocephelus*) से प्राप्त की जाती है। इस मछली की जातियाँ प्रमुखतया उष्णकटिबंधीय जलों में पाई जाती हैं परन्तु कुछ खोजी ह्वेल मछलियाँ दोनों ध्रुवीय समुद्रों तक पहुँच जाती हैं। यह स्पर्मएसिटाई मोम प्रमुखतया मछली के सिरगुहा में पाई जाती है है परन्तु स्पर्म आयल के साथ यह चर्बी के रूप में सभी अंगों में व्याप्त रहती है। एक वयस्क ह्वेल से स्पर्म आयल और स्पर्मएसिटाई मोम की मात्रा 500 गैलन तक प्राप्त की गई है। आयल में ज्यादातर वसा अम्लों के एस्टर और मोनोहाइड्रॉक्सी वसीय एल्कोहॉल

रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर, राजस्थान–342001

होते हैं, जिनमें असंतृप्त यौगिकों का अनुपात अधिक होता है। स्पर्मआयल साबुनीकरण करने पर ओलाइल एल्कोहॉल और अधिक अणुभार वाले संतृप्त मोनो-हाइड्रिक एल्कोहॉल देता है अतः इसे द्रव वैक्स के नाम से भी जाना जाता है। इसका प्रमुख उपयोग स्नेहक (Lubricant) के रूप में मशीन और गाड़ियों में होता है। स्पर्मएसिटाई मोम ह्वेल के सिर से प्राप्त स्पर्म आयल को ठण्डा करके प्राप्त किया जाता है। कैण्डल शक्ति (Candle Power) मापने के लिए जो मानक (Standard) कैण्डल प्रयोग में लाई जाती है, वह इसी मोम की बनी होती है। यह मोम जलाने पर तेज़ चमक वाली लौ देती है। यह मोम सिटाइल एल्कोहॉल (Cetyl alcohol) प्राप्त करने का प्रमुख स्रोत है।

कीड़ों से प्राप्त मोमें—कीड़ों से प्राप्त मोमों में **चाइनीज़ इन्सैक्ट वैक्स** महत्त्वपूर्ण है। यह मोम चीन में पाये जाने वाले **एश** और **प्रीवैट वृक्षों** (*Ash* and *privet tree*) के तनों पर **कोकस सेरीफेरस** (*Coccus ceriferus*) नामक कीड़ों द्वारा जमा की जाती है! यह कीड़ा एक ही स्थान पर पुनः अंडे न देकर लगभग 200 मीज़ दूर पहुँचकर नये वृक्षों पर डेरा जमाकर संतति-वृद्धि करता है और मोम जमाता है। एक से दो ग्राम मोम का उत्पादन लगभग 1500 कीड़े कर पाते हैं। इसी प्रकार शैलैक (Shallac) मोम लाख से उपोत्पाद (By product) के रूप में प्राप्त होती है। भेड़ के ऊन से प्राप्त **ऊल वैक्स** (Wool wax) या **लेनोलीन वैक्स** भी एक महत्वपूर्ण मोम है। मुक्त एल्कोहॉलों में विशेषकर कोलेस्ट्रॉल और हाइड्रॉक्सी अम्ल के एस्टर की अधिक मात्रा में उपस्थिति इस मोम को एक विलक्षण गुण प्रदान करते हैं और ये जलप्रतिकर्षी होकर भी इसमें असामान्य रूप से जल-रागी गुण (Hydrophillic character) पैदा हो गये हैं! अतः यह 80% पानी के साथ स्थाई इमलशन बनाती है। इस नमीधारक गुण के कारण लेनोलीन औषधियों और प्रसाधन सामग्रियों में बहुतायत से उपयोग में लाया जाता है। इन सामग्रियों में यह मोम जल की मात्रा में अपने नमीधारक गुण के कारण कमी नहीं आने देती। अतः ये पदार्थ सूखते नहीं और उपयोगी बने रहते हैं। लगभग 15 से 20 लाख पौंड तक ऊल वैक्स की खपत प्रतिवर्ष इन सामग्रियों के उत्पादन में हो जाती है।

सूक्ष्म जैवीय मोमें—डिप्थीरिया, कुष्ठ और **क्षय** रोगों के जीवाणुओं (रोगाणुओं) के कोषों से विभिन्न प्रकार की मोमें प्राप्त की गई हैं, जिनमें मायकोलिक (Mycolic), थियोइक (Phthioic) और ट्यूबरकुलो-स्टीयरिक (Tuberculostearic) अम्ल प्राप्त किये गये हैं। टी० बी० के जीवाणुओं से प्राप्त मोम का अध्ययन लगभग एक शताब्दी पूर्व सन् 1901 में किया गया था। इसमें वसीय तत्व लगभग 46% प्राप्त किये हैं, जिनमें 13 से 23% तक मोम निकाली गई है। अध्ययनों से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि कीटाणुओं से प्राप्त मोमों का रोगों के निदान से सीधा सम्बन्ध है।

अन्य विवरण—प्रकृति ने पक्षियों के पंखों पर भी इस सतही मोम का सुरक्षा कवच अत्यन्त सुनियोजित ढंग से प्रदान किया है जो कि जल के वाष्पीकरण को रोकने के अतिरिक्त कवकों और जीवाणुओं के आक्रमणों से भी रक्षा करती है।

दक्षिण अमेरिका में एक विचित्र प्रकार का मेंढक **फाइलोमेडूसा सोवेगी** (Phyllomedusa sauvagei) पाया जाता है जिसकी कूपिका ग्रंथि (Alveolar glands) एक प्रकार के लिपिड का निर्माण करती हैं। इसी लिपिड मोम को यह मेंढक अपने अगले हाथों में लेकर अपनी पूरी त्वचा पर फैला लेता है जो सूखकर सूर्य की तेज़ किरणों से रक्षा करती है साथ ही शरीर से जल-वाष्पीकरण को रोकती है। हाल ही (1978) के एक अध्ययन से इस लिपिड में 68% एस्टर पाये गये हैं, जिसकी कार्बन शृंखला C_{46} कार्बन परमाणु वाली थी और औसत द्विबंध O.8 प्रति अणु हिसाब से मौजूद थे।

सूक्ष्म मात्रा में ये सतही मोमें बालों और जानवरों के विभिन्न अंगों से भी प्राप्त की गई हैं। विस्तृत

अध्ययनों के आधार पर ज्ञात हुआ है कि हाइड्रोकार्बन प्राणियों के सतही मोमों में उतने अधिक नहीं मिलते हैं जितने की वनस्पति जगत् की सतही मोमों में उपस्थित होते हैं। पौधों में पाये जाने वाले फाइटो-स्टीरॉल की जगह प्राणियों की सतही मोमों में कोले-स्टरॉल और उससे संबंधित एल्कोहॉल और उनके यौगिक अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। इन मोमों में भी लम्बी शृंखला वाले वसीय एल्कोहॉलों के एस्टर भी मिलते हैं परन्तु इनमें वनस्पति मोमों की अपेक्षा कम कार्बन शृंखला वाले एल्कोहॉल होते हैं। परन्तु वसा अम्ल समान रूप से C_{16}, C_{18}, और C_{20} शृंखला के ही मिलते हैं। जहाँ तक संरचना का प्रश्न है, पौधों और प्राणियों की सतह पर जमने वाली मोमों में काफी समानता पाई जाती है।

देखा आपने कि इतनी विलक्षणतायें लिए हुए यह सतही मोमें प्राणियों के लिए कितनी आवश्यक हैं। परन्तु अधिक क्षरीय साबुनों का अनावश्यक उपयोग हमारे लिए हानिकारक है। पौधों व प्राणियों से प्राप्त खाद्य सामग्री में रची बसी सतही मोमों का हम नित्यप्रति भक्षण करते रहते हैं। कोलेस्टरॉल, वसा अम्ल व उनके एस्टर और संतृप्त हाइड्रोकार्बन के अतिरिक्त अन्य वसीय यौगिकों से युक्त ये खाद्य हमारे स्वास्थ्य को कितना प्रभावित कर रहे हैं, वैज्ञानिकों के लिए यह खोज का विषय है। □□

[पृष्ठ 2 का शेषांश]

है। यह आवश्यक है कि ऐसे नमक में 96% शुद्ध सोडियम क्लोराइड रहे। इससे देखने में अच्छा लगेगा और संग्रह करने पर आयोडीन की क्षति भी कम होगी।

जिन क्षेत्रों में अवागमन के साधन नहीं हैं वहाँ ठोस नमक का प्रयोग करके आयोडीनमय तेल के इंजेक्शन देने की सलाह दी जाती है। विशेषतया जम्मू-कश्मीर के लेह तथा कारगिल क्षेत्र और मध्य प्रदेश एवं गुजरात के आदिवासी क्षेत्रों के लिए यह विधि सुगम सिद्ध हो सकती है। ये इंजेक्शन गर्भिणी स्त्रियों को तथा बच्चों को 5 वर्ष के अन्तर पर लगाये जा सकते हैं। लेकिन इस विधि में कई दोष भी हैं। एक तो यह तेल अत्यन्त महँगा है और विदेश (फ्रांस) से मँगाया जाता है दूसरे, इसके इंजेक्शन लगाने के लिए सिरिंज तथा डॉक्टर चाहिए।

हमारे देश में सारे साधन हैं जिससे घेघा रोग को समूल नष्ट किया जा सकता है किन्तु मलेरिया नियन्त्रण की भाँति सतत प्रयत्न एवं सावधानी की आवश्यकता है। यदि राष्ट्रीय घेघा नियन्त्रण कार्यक्रम सफल नहीं हो रहा तो उसके कारण हैं—यथा जनता का अज्ञान, राज्यों द्वारा इस ओर उपेक्षा भाव। इसके लिए आवश्यकता है कि सारे प्रचार साधन का उपयोग किया जाय, पाठ्यक्रमों में इस रोग की जानकारी सम्मिलित की जाय और जनता को प्रोत्सा-हित किया जाय कि आयोडीनयुक्त नमक खावें। यही नहीं, बाज़ार में जारी किये गये आयोडीनयुक्त नमक के नमूनों की जाँच होती रहे जिससे ठगी एवं मिलावट से बचा जा सके। □□

('एग्रीमैन्स साइंस' के फरवरी-मार्च 1986 अंक से अनूदित)

होमी जहाँगीर भाभा

पूनम वार्ष्णेय

"मानव की उन्नति हमेशा कुछ थोड़े से योग्य और सृजनकर्त्ता व्यक्तियों के सफल प्रयत्नों पर निर्भर करती है। होमी भाभा उनमें से एक थे।" भाभा हमारे बीच नहीं हैं किन्तु आज जब हम परमाणु ऊर्जा के क्षेत्र में भारत की प्रगति पर दृष्टिपात करते हैं तो **सर जॉन कॉकक्रोफ्ट** का उपरयुक्त कथन सत्य लगता है।

भाभा का जन्म 30 अक्टूबर 1909 को बम्बई में एक पारसी कुटुम्ब में हुआ था। इनके पिता, **जहाँगीर एच० भाभा**, बैरिस्टर थे और माँ, **मेहरबाई फरमजी पेन्डे** धार्मिक प्रवृत्ति की महिला थीं। भाभा का कुटुम्ब धर्म और शिक्षा – दोनों में सम्पन्न था। इनके पितामह, **डॉ० हरमुखजी भाभा**, सी० आई० ई०, मैसूर राज्य में इंस्पेक्टर जनरल ऑन एजूकेशन के रूप में बहुत प्रसिद्ध थे। भाभा की प्रारम्भिक शिक्षा कैथेड्रल और जॉन कोनोन विद्यालयों में हुई। वे बम्बई के एलफिस्टन कॉलेज से 1926 में एफ० वाई० की परीक्षा में प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण हुए। इनके पितामह का एक विशाल, समृद्ध पुस्तकालय था जिसमें भाभा के पिता द्वारा एकत्रित की गई पेंटिंग व कला की पुस्तकें भी थीं। इसके अतिरिक्त इनके पिता और बुआ द्वारा **बीथोवन**, **मोत्जार्ट**, **वेगनर** और **वर्डी** के रेकार्ड भी संग्रहीत थे। पढ़ने-लिखने में रुचि उन्हें अपने पिता से ही मिली।

भाभा का कुटुम्ब–पिता का घर व ननिहाल–दोनों ही राष्ट्रप्रेमी थे। वह जब अपनी मौसी के घर जाते थे तो **महात्मा गाँधी** की घर के लोगों के साथ वार्तालाप सुना करते थे। इनकी बुआ का विवाह **सर डोराब टाटा** के साथ हुआ था। **नेहरू परिवार** के सम्बन्ध टाटा और भाभा दोनों परिवारों से थे।

1927 में भाभा केयस कॉलेज, कैम्ब्रिज में अध्ययन के लिये गये और 1929-30 तक कॉलेज के स्कॉलर रहे। इनके पिता जहाँगीर एच० भाभा और फूफा, सर डोराब टाटा, की इच्छा यह थी कि भाभा इंजीनियरिंग की डिग्री लेने के बाद टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी, जमशेदपुर में आ जायें। अपनी शिक्षा के दौरन भाभा इंजीनियरिंग छोड़कर गणित की डिग्री के लिये अध्ययन करना चाहते थे। इनके पिता ने वादा किया कि यदि भाभा प्रथम आये तो आगे की शिक्षा वे गणित में जारी रख सकते हैं। 1930 में भाभा ने मेकैनिकल साइन्सेज की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की और फिर शोध विद्यार्थी के रूप में सैद्धान्तिक भौतिकशास्त्र का अध्ययन करने लगे।

भाभा का शोधकार्य का पहला वर्ष **कैवेन्डिश लेबोरेटरी** में बीता। कैवेन्डिश में दो वर्ष कार्य करते हुए उन्हें 1931-32 में इंजीनियरिंग में 'सेलोमोन्स छात्रवृत्ति' मिली और 1932-33 में गणित विषय में 'राउज़ बॉल ट्रैवलिंग स्कालरशिप' मिली। उन्होंने यूरोप की यात्रा की और ज्यूरिख में **पाओली**, रोम में **फर्मी** और यूट्रेक्ट में **क्रेमरस** के साथ शोधकार्य किया। भाभा का पहला शोधपत्र "इलेक्टॉन शॉवर्स इन द एब्जार्पशन ऑव गामा रेडिएशन" 1933 में प्रकाशित हुआ और 1934 में इसी पेपर पर उन्हें **'सर** आइज़क न्यूटन छात्रवृत्ति' मिली। यह छात्रवृत्ति इनके पास तीन वर्षों तक रही। इन वर्षों में उनका अधिकतर समय कैम्ब्रिज में कार्य करते हुए बीता

द्वारा प्रो० वाई० पी० वार्ष्णेय, भौतिक विज्ञान विभाग, ओटावा विश्वविद्यालय, कनाडा

लेकिन कुछ समय **बोहर** के साथ कोपेनहेगेन में भी कार्य किया। 1935 में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से उन्होंने पी-एच० डी० की डिग्री ली। 1937 में भाभा को '1851 एगजिबिशन' की सीनियर छात्रवृत्ति से सम्मानित किया गया और 1939 में द्वितीय विश्व युद्ध के आरम्भ होने तक उन्होंने कैम्ब्रिज में शोध कार्य करना जारी रखा। भाभा यूरोप में 13 वर्ष रहे और ये वर्ष उन्होंने गहन शोधकार्य में बिताये। इन वर्षों में उनके कुछ महत्वपूर्ण शोधकार्य यह थे—

(1) उन्होंने पहली बार इलेक्ट्रॉन-पोजीट्रॉन प्रकीर्णन (Electron-Positron Scattering) का अनुप्रस्थ काट निकाला। इस प्रकीर्णन को अब 'भाभा प्रकीर्णन' कहते हैं।

(2) **हाइटलर** के साथ उन्होंने अन्तरिक्ष किरण-वर्षण (Cosmic ray showers) के सिद्धान्त की खोज की।

(3) उन्होंने नाभिकीय बल के लिये **वेक्टर मेसॉन थ्योरी** दी।

(4) उन्होंने यह प्रदर्शित किया कि **आइन्सटाइन** के **'सापेक्षता के सिद्धान्त'** का यह परिणाम है कि मेसॉन (meson) के वेग का उसकी आयु पर प्रभाव पड़ेगा। ऐसा प्रभाव वास्तव में पाया गया है और इससे सापेक्षता के सिद्धान्त की पुष्टि होती है।

1939 में जब दूसरा महायुद्ध आरम्भ हुआ तो भाभा भारत आ गये। 1940 में भाभा 'बंगलौर इन्स्टीट्यूट ऑव साइन्स' में रीडर के पद पर कार्य करने लगे और 1942 में वहीं पर प्रोफेसर हो गये।

भाभा बंगलौर में 5 वर्ष रहे और इस काल में उनका शोधकार्य मुख्य रूप से 'थियरी ऑव एलिमेन्टरी पार्टिकल्स ऑव हाई स्पिन' पर रहा। 1945 में भाभा के प्रयत्नों से बम्बई में 'टाटा इंस्टीट्यूट ऑव फण्डामेंटल रिसर्च' की स्थापना हुई। 'टायर इन्स्टीट्यूट' की वर्तमान इमारत की आधारशिला 1954 में भारत के प्रथम प्रधान मंत्री नेहरू द्वारा रखी गयी और 1962 में लेबोरेटरी का उद्घाटन भी श्री नेहरू के द्वारा ही सम्पन्न हुआ। 1947 में भारत के स्वतन्त्र हो जाने के बाद, 'परमाणु ऊर्जा अधिनियम, 1948' के अन्तर्गत 10 अगस्त 1948 को 'परमाणु ऊर्जा आयोग' की स्थापना की गयी जिसके प्रथम अध्यक्ष डॉ० होमी जहाँगीर भाभा बने। परमाणु ऊर्जा कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य रखा गया—केवल शान्तिपूर्ण उपयोगों, जैसे विद्युत्-उत्पादन तथा अनुसंधान, कृषि, उद्योग, चिकित्सा व अन्य क्षेत्रों में परमाण्विक उपयोगों के विकास के लिए परमाणु ऊर्जा का विकास, नियंत्रण व उपयोग।

यद्यपि प्रशासन में आ जाने के कारण 1954 के बाद भाभा ने कोई शोध पेपर नहीं लिखा लेकिन वे इन्स्टीट्यूट में शोधकार्यों को बराबर बढ़ावा देते रहे। 'परमाणु ऊर्जा आयोग' का प्रारम्भिक कार्य टाटा इंस्टीट्यूट में ही हुआ। 3 जनवरी 1954 को आयोग ने निश्चय किया कि ट्राम्बे में 'एटॉमिक एनर्जी इसटैबलिशमेन्ट' की स्थापना की जाय। आरम्भ में भाभा ने एटॉमिक एनर्जी इसटैबलिशमेन्ट में कार्य करने वालों को काम सीखने के लिये विदेश भेजा। पहला रिऐक्टर जो बनाया गया उसका नाम 'अप्सरा' था— 4 अगस्त 1956 को यह क्रिटिकल हुआ। रिऐक्टर की डिज़ाइन भारतीय वैज्ञानिकों व इंजीनियरों द्वारा की गई थी; फ्यूल एलीमेंट ब्रिटेन से प्राप्त किया गया था। वह 1 मेगावाट का छोटा रिऐक्टर था। दूसरा रिऐक्टर बनाने में कनाडा ने सहयोग दिया। आधा व्यय तो कनाडा ने 'कोलम्बो प्लान' के अन्तर्गत दिया, शेष आधा भारत द्वारा किया गया। कनाडा-इंडिया रिऐक्टर जुलाई 1960 में क्रिटिकल हुआ। यह 40 मेगावाट का था।

अमेरिकन सहायता से तारापुर में एक रिऐक्टर बनानने की भी योजना बनाई गई। इसके अतिरिक्त और भी कई रिऐक्टर्स का प्लान किया गया जोकि C A N D U प्रकार के होते हैं। इन रिऐक्टरों के लिये **हैवी वाटर** की आवश्यकता होती है इसलिये नंगल में एक **हैवी वाटर प्लान्ट** की स्थापना की गई,

जिसमें 2 अगस्त 1962 से उत्पादन आरम्भ हो गया।

24 जनवरी 1966 को भाभा 'इन्टरनेशनल एटॉमिक एनर्जी एजेन्सी' की 'वैज्ञानिक सलाहकार समिति' की मीटिंग में भाग लेने वियना जा रहे थे, मार्ग में वायुयान के मॉन्ट बाल्क पहाड़ की चोटियों से टकरा जाने के कारण डॉ० भाभा का निधन हो गया। संसार ने एक प्रमुख वैज्ञानिकों को असमय ही खो दिया। भाषा ने जो महत्वपूर्ण शोध कार्य किये हैं उनके कारण उनका नाम सदा वैज्ञानिकों के बीच स्मरण किया जायेगा।

भाभा को अपने जीवन में बहुत से सम्मान मिले। 1941 में भाभा 'रॉयल सोसाइटी ऑव लन्दन' के फेलो चुने गये। 1942 में इनके शोध-निबन्ध 'द थियरी ऑव द एलीमेन्टरी पार्टिकल्स एण्ड देयर इन्टरएक्शन' पर इन्हें 'एडम्स पुरस्कार' से सम्मानित किया गया। 1948 में इन्हें कैम्ब्रिज फिलॉसफिकल सोसाइटी ने 'हॉपकिन्स पुरस्कार' प्रदान किया। इसके अतिरिक्त लन्दन की 'फ्यूल इन्स्टीट्यूट ने 'मेलचैट एवार्ड' देकर भाभा को गौरव प्रदान किया। भारत सरकार ने 1954 में भाभा की योग्यता देखकर उन्हें 'पद्म भूषण' से विभूषित किया। 1957 में भाभा गॉनविले और केयस कॉलेज के सम्मानित फेलो चुने गये तथा एडिनबरा की रॉयल सोसाइटी का सम्मानीय फेलोशिप भी प्राप्त किया। 1959 में वे 'अमेरिकन एकेडमी ऑव आर्टस् एण्ड साइन्सेज' के फेलो चुने गये। इसके अतिरिक्त 'वर्ल्ड एकेडमी ऑव आर्टस् एण्ड साइन्सेज' के सदस्य भी हो गये। 1963 में वे अमेरिका की नेशनल एकेडमी ऑफ साइन्सेज़ के फॉरेन एसोशिएट चुने गये। भाभा को ऑनरेरी डॉक्टरेट की डिग्री से पटना (1944), लखनऊ (1949), बनारस (1950), आगरा (1952), पर्थ (1954), इलाहाबाद (1958), कैम्ब्रिज (1959), लन्दन (1960), पैडोवा (1961) में सम्मानित किया गया। 1955 में संयुक्त राष्ट्र के अन्तर्गत जेनेवा में परमाणु ऊर्जा पर एक अन्तर्राष्ट्रीय कान्फ्रेन्स हुई, भाभा इसके अध्यक्ष थे। अपनी मृत्यु के समय भाभा 'टाटा इन्स्टीट्यूट ऑव फन्डामेन्टल रिसर्च' के निदेशक और प्रोफेसर, भारत सरकार के 'परमाणु ऊर्जा विभाग' के सचिव और 'भारतीय परमाणु ऊर्जा आयोग' के एक्स ऑफशिओ चेयरमैन तथा 'परमाणु ऊर्जा, ट्राम्बे' के निदेशक थे।

भाभा एक अच्छे चित्रकार भी थे। 1949 में उन्होंने प्रसिद्ध वैज्ञानिक **सी० वी० रमण** का पेन्सिल स्केच बनाया था जिसका पुनरुत्पादन 1982 में लन्दन में साइन्स म्यूज़ियम की 'साइन्स इन इण्डिया' की प्रदर्शनी में रखा गया था।

4 अगस्त 1966 को भारत ने डॉ० भाभा पर एक पन्द्रह पैसे का टिकट निकाला। 1967 में 'टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ फन्डामेन्टल रिसर्च' का नाम इसके संस्थापक की स्मृति में 'भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र' रखा गया। 'भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र' आज देश की विज्ञान व प्रौद्योगिकी की प्रमुख व प्रख्यात संस्था है। □□

नई किस्म का रेल-डिब्बा

सोवियत विशेषज्ञों ने 'पोइस्क' नामक एक नया रेल-डिब्बा तैयार किया है। यह डिब्बा पटरियों की स्थिति की जाँच-पड़ताल करता है और उनका एक रेखाचित्र तैयार करता चलता है जो 'कार्डियोग्राम' जैसा होता है। 90 किलोमीटर प्रति घन्टे की रफ्तार से चलने वाला यह डिब्बा सोवियत मोल्दाविया के 'वोल्ना' नामक कारखाने ने तैयार किया है।

बुढ़ापा अभिशाप क्यों ?

विनीता अग्रवाल

मानव जीवन को मुख्यतः चार भागों में बाँटा गया है, ये हैं : बाल्यावस्था, किशोरावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था। हर एक अवस्था में मानसिक और शारीरिक क्षमताओं में परिवर्तन आता है। मानसिक अवस्था का प्रत्यक्ष अवलोकन नहीं हो पाता किन्तु शारीरिक परिवर्तन स्पष्ट परिलक्षित हो जाता है। आयु बढ़ने के साथ-साथ न केवल शरीर की बाहरी आकृति बदलती है बल्कि शारीरिक क्षमता भी बदलती जाती है। क्या आप जानते हैं कि ऐसा क्यों होता है ?

मानव शरीर बहुत से अंगों का समूह है। इसमें 206 हड्डियाँ, 636 मांशपेशियाँ, त्वचा और उसके उपांग सम्मिलित हैं। उनका कार्य मुख्यतः दो प्रकार की प्रोटीन पर निर्भर करता है जिन्हें **कोलीजन** और **इलेस्टिन** कहते हैं। यह कोशिकाओं के केन्द्रक में निहित होती हैं। कोलीजन और इलेस्टिन की मात्रा शरीर में पायी जाने वाली कुल प्रोटीन की मात्रा के आधे से भी अधिक होती है। ये बहुत सी संरचनाओं को आपस में जोड़ने के लिए उत्तरदायी होती हैं। आयु बढ़ने के साथ-साथ उनकी प्रत्यास्थता कम होती जाती है और यह दृढ़ होती जाती है जिसके परिणाम-स्वरूप शरीर में पुनर्निर्माण की क्षमता कम होती जाती है।

मांशपेशियों में होने वाले परिवर्तन

पेशी तन्तुओं का आकार और संख्या दोनों ही बढ़ती हुई आयु से प्रभावित होते हैं। तन्तुओं में केन्द्रकों की संख्या भी कम होती जाती है जिससे मांस-पेशियों की स्थूलता कम हो जाती है। इसका सीधा प्रभाव मनुष्य की शारीरिक क्षमता में कमी के रूप में होती है। मांसपेशियाँ शरीर के कुल भार का करीब 40 प्रतिशत होती हैं। मांसपेशियों के क्षीण होने से शरीर के भार में कमी आ जाती है। देखा गया है कि 60 वर्ष से 80 वर्ष की आयु के बीच औसतन दो कि० ग्रा० भार कम हो जाता है।

मनुष्य की शारीरिक क्षमता 20 वर्ष की आयु में या इसके आसापास सबसे अधिक होती है। वृद्धावस्था में जैवरसायनों और हारमोन्स की कमी के कारण मांसपेशियाँ शिथिल हो जाती हैं और पेशियों के दृढ़ हो जाने के कारण उनकी संचालन-गति भी कम हो जाती है।

अस्थियों में होने वाले परिवर्तन

वृद्धावस्था में अस्थि-रज्जुओं की कमी और क्षीणता के कारण हड्डियाँ कमज़ोर हो जाती हैं। हड्डियों की मोटाई देखकर ही इसे जाँचा जा सकता है। कमज़ोर हो जाने के कारण ही इस अवस्था में हड्डियाँ हल्के से झटके से भी टूट जाती हैं। बड़ी उम्र के लोगों में जंघा की हड्डियों के अधिकतर टूटने का यही कारण है। यह अस्थि-क्षय पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक होता है। 70 वर्ष की आयु में स्त्रियों की अस्थियों का विकास पहले की अपेक्षा आधा रह जाता है।

कशेरुक दंड शरीर का मुख्य आधार होता है। बहुत ही कम लोग ऐसे होते हैं जिनका कशेरुक दंड

सी-4 जी/103 ए, जनकपुरी, नई दिल्ली—110058

बढ़ती उम्र के प्रभाव से अछूता रह जाता है। कशेरुकायें शरीर के भार से दब कर संकुचित होती जाती हैं और **स्पाइन** सिर के भार के कारण आगे को झुक जाता है जिसे **कायफोसिस** कहते हैं। कंकाल-पेशी और कुछ अन्य मांसपेशियों में कमी आ जाने के कारण शारीरिक संतुलन भी पहले के समान नहीं रहता जिस वजह से वृद्ध मनुष्य कुछ झुक कर चलने लगते हैं। औसतन 60 वर्ष की आयु में स्पाइन 38.8 डिग्री तक झुकता है और 90 वर्ष की अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते यह झुकाव 57.8 डिग्री तक हो जाता है और इस दौरान शरीर की लम्बाई भी 167.9 से० मी० से 163.8 से० मी० तक कम हो जाती है।

कशेरुकाओं में 60-70 वर्ष की उम्र में होने वाले इस विकार के कारण कशेरुकाएँ कहीं-कहीं उभर भी जाती हैं जिसके कारण मेरुदंड पर दबाव पड़ता है और पीड़ा उत्पन्न होती है। बड़ी उम्र में कुछ लोगों के कमर में दर्द रहने का यह एक मुख्य कारण है। यह स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक होता है और उम्र बढ़ने के साथ-साथ बढ़ता जाता है।

त्वचा और उसके उपांगों में होने वाले परिवर्तन

आयु बढ़ने के साथ-साथ त्वचा सूखी और बदरंग हो जाती है क्योंकि स्वेद ग्रंथियाँ और रोम-पूरक भी पहले के समान सक्षम नहीं रहते। अवत्वकीय वसा में कमी और कोलाजिन और पेशियों में पहले के समान लचीलापन न रहने के कारण त्वचा ढीली पड़ जाती है, नाखून कमज़ोर हो जाते हैं और जल्दी ही टूटते हैं। बाल सफेद होने शुरू हो जाते हैं और साथ ही गिरने भी लगते हैं। वैसे तो बाल झड़ने का आयु के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है फिर भी उम्र बढ़ने का कुछ असर बालों पर भी होता है।

इस प्रकार प्रौढ़ आयु (65 से 75 वर्ष) से ले कर मध्य (75 से 85 वर्ष) आयु और बुढ़ापे (85 से ऊपर) तक शरीर में अनेक उल्लेखनीय परिवर्तन आते हैं। पेशियों की कमज़ोरी, जोड़ों के कड़े हो जाने के कारण और समन्वयकारी क्रिया-विधि में क्षति होने के कारण वृद्धावस्था में चलने में कठिनाई होने लगती है और शारीरिक क्षमताएँ भी कम होती चली जाती हैं। शायद यही कारण है कि कुछ लोग बुढ़ापे को अभिशाप से कम नहीं समझते। ☐☐

साइबेरियाई जीवभौतिकीविदों की सफलता

सोवियत विज्ञान अकादमी की साइबेरियाई शाखा के जीवभौतिकीविदों ने 'होमियोस्तात' नामक एक संयंत्र का विकास किया है जो रक्त-परिक्रमण की पूरी प्रक्रिया का नमूना पेश करने के साथ ही काफी लम्बे समय तक जीवधारियों के अंगों को शरीर से अलग कर दिये जाने पर भी 'जीवित' बनाये रख सकता है और उनमें रक्त के संचार की व्यवस्था करता है। यह यंत्र रक्त के प्रवाह, तापमान, दाब और चयापचय-उत्पादों की उपस्थिति को नियंत्रित कर सकता है। **इस यंत्र के विकास से प्रत्यारोपण के लिए शरीर के विभिन्न अंगों को काफी लम्बे समय तक जीवित और स्वस्थ रखा जा सकता है।** इसकी सहायता से आधारभूत और प्रायोगिक अनुसंधान के कार्य में सुविधा हो गई है।

सूर्यमुखी, पहाड़ी पीपल और धान वायु-शुद्धिकरण में उत्तम

तसुकुबा, जापान में पर्यावरण अध्ययन के लिए राष्ट्रीय अनुसंधान संस्थान में वैज्ञानिकों के एक दल ने कई वर्षों तक दूषित वायु-शुद्धिकरण में पौधों की क्षमता को जानने के लिए अनुसंधान कार्य किया है। इसके लिए उन्होंने 80 पौधों का परीक्षण किया और पता चला कि पहाड़ी पीपल, सूर्यमुखी और धान वायु की शुद्धि सबसे उत्तम करते हैं। राजमार्गों में जहाँ पहाड़ी पीपल और सूर्यमुखी लगाये गए हों, वहाँ वातावरण सदैव शुद्ध रहता है। सोवियत संघ द्वारा जापानी अनुसंधान कर्त्ताओं को भेजे गए सूर्यमुखी की किस्में शुद्धिकरण में सबसे प्रभावकारी सिद्ध हुई हैं।

विरामचिह्न और उनका प्रयोग

अनिल कुमार शुक्ल

हिन्दी में विज्ञान लेखन के मानक स्वरूप के निर्धारण से संबंधित इस लेखमाला के अन्तर्गत 'विज्ञान' के पिछले अंक (मई 1987) में **वाक्य गठन और शब्दक्रम** की कठिनाइयों एवं सम्बन्धित नियमों की चर्चा की गई थी। उसी क्रम में इस बार उन विरामचिह्नों पर विचार किया जा रहा है, जिनका प्राय: प्रयोग होता है।

विराम : 'विराम' शब्द का अर्थ है ठहराव। तात्पर्य यह कि लेखक या वक्ता, लिखते वा बोलते समय, स्पष्ट भावबोध की दृष्टि से जिन स्थलों पर ठहरता हैं, विराम लेता है, वहाँ किसी न किसी विरामचिह्न का प्रयोग होता है। वस्तुत: इन विराम-चिह्नों की आवश्यकता और उपयोगिता, वाक्य के सुन्दर गठन एवं स्पष्ट भावाभिव्यक्ति के लिए ही है। विराम चिह्न को परिभाषित करते हुए **श्री कामता प्रसाद गुरु** ने 'हिन्दी व्याकरण' में पृष्ठ 552 पर लिखा है—**"शब्दों और वाक्यों का परस्पर संबंध बताने तथा किसी विषय को भिन्न-भिन्न भागों में बाँटने और पढ़ने में ठहरने के लिये, लेखों में जिन चिह्नों का उपयोग किया जाता है, उन्हें विराम चिह्न कहते हैं।"**

हिंदी भाषा में विरामचिह्नों के प्रयोग के संदर्भ में काफी अनियमितता पाई जाती है। इसका मुख्य कारण कदाचित यह है कि, हिंदी जिस स्रोत (संस्कृत) से विकसित हुई है उसमें विरामचिह्नों की आवश्यकता न होने के कारण, परम्परा से इस सम्बन्ध में कुछ नियम निश्चित नहीं प्राप्त हो सके। संस्कृत में विराम चिह्नों की आवश्यकता भले न रही हो, पर हिन्दी में उनकी उपयोगिता निर्विवाद है।

मूलत: यह (विरामचिह्नों का) विषय भाषा विज्ञान का हैं न कि व्याकरण का, क्योंकि लेखक या वक्ता अपने विचार की स्पष्टता के लिए अभ्यास व अध्ययन के द्वारा, जिस प्रकार शब्दों के विविध अर्थ, विचारों का आपसी सम्बन्ध, विषय-विभाग, आशय की स्पष्टता तथा लाघव व विस्तार आदि बातें जान लेता है [जिन्हें व्याकरण के नियमों से नहीं जाना जा सकता], ठीक उसी प्रकार भाषा के निरंतर व्यवहार से और वाक्यों के अर्थ को ध्यान में रखने से ही इन विरामचिह्नों का सही प्रयोग जाना जा सकता है।

फिर भी, अब समय आ गया है कि, हिन्दी में विरामचिह्नों के प्रयोग को नियमबद्ध करने की कोशिश की जाय, ताकि हिन्दी का मानक स्वरूप स्थिर हो सके। समय-समय पर विभिन्न वैयाकरणों ने इस सन्दर्भ में जो नियम बनाये, उन्हें आवश्यकतानुसार परिवर्तित या परिवर्धित कर हिंदी भाषा की वर्तमान प्रकृति एवं आवश्यकताओं के अनुरूप बनाने का प्रयास किया गया है।

हिंदी में प्रयुक्त होने वाले मुख्य विरामचिह्न निम्न हैं—

(1) स्वल्प या अल्प विराम [,] Comma

(2) अर्द्ध विराम [;] Semi-Colon

17 म्योर कॉलेज कॉलोनी, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद—211002

(3) पूर्ण विराम [।] अथवा [.] Full stop

(4) योजक चिह्न [-] Hyphen

(5) प्रश्न (वाचक) चिह्न [?] Sign of interrogation or Question mark

(6) विस्मयादिबोधक या आश्चर्य चिह्न [!] Sign of exclamation

(7) उद्धरण या अवतरण चिह्न [" "] Inverted comma or Quotation mark

(8) निर्देशक चिह्न या डैश [—] Dash

(9) द्विबिन्दु सूत्र या अपूर्ण विराम [:—] Sign of following

अर्द्ध विराम—जब किसी संयुक्त वाक्य के अंगीभूत प्रधान वाक्यों में (अर्थ की दृष्टि से) परस्पर विशेष सम्बन्ध न हो **अथवा** जब कारणवाचक क्रिया-विशेषण—क्योंकि—का निकट सम्बन्ध मुख्य वाक्य से नहीं रहता, तो ऐसी स्थिति में अर्द्धविराम का प्रयोग करते हैं। जैसे—

(i) नन्दगाँव का पहाड़ कटवाकर उन्होने विरक्त साधुओं को क्षुब्ध कर दिया था; पर लोगों की प्रार्थना पर सरकार ने......... ।

(ii) यही बात यूरोप, योरोप, युरोप, योरप; अंग्रेज, अँगरेज; पार्लमेन्ट, पार्लियामेंट, पार्लमिंट आदि के बारे में भी सही है।

(iii) हवा के दबाव से साबुन का एक बुलबुला भी यहीं दब सकता, क्योंकि बाहरी हवा का दबाव भीतरी हवा के दबाव से कट जाता है।

पूर्ण विराम—इस विरामचिह्न का प्रयोग प्रत्येक पूर्ण वाक्य के अन्त में होता है। सामान्यतः ऐसी प्रत्येक स्थिति में जहाँ व्यक्त किये जा रहे विचार पूर्ण हो जाँय, वहाँ पूर्ण विराम का चिह्न लगाना चाहिए। वस्तुतः पूर्ण विराम की आवश्यकता किसी स्थिति विशेष में है या नहीं, इसकी कसौटी वाक्य का 'अर्थ' है, तात्पर्य यह कि पूर्ण विराम वहीं लगाना चाहिए जहाँ वाक्य का अर्थ पूर्ण (स्पष्ट) हो जाय। जैसे—

(i) जब कोई धूमकेतु मंगलग्रह के निकट पहुँचता है तब उसकी पूँछ का निर्माण प्रारंभ होता है। सूर्य के निकट पहुँचने पर पूँछ और भी लंबी होती जाती है।

(ii) अंग्रेज़ी स्कूल के अध्यापक **जॉन डाल्टन** ने वर्तमान परमाणु सिद्धांत की नींव डाली।

(iii) जीवन की सारी क्रियायें कोशिका के अन्दर ही होती हैं।

विशेष—पूर्ण विराम की ही तरह का एक और तिर्यक चिह्न [/] भी है जो 'पाँच पैसे प्रति इकाई' या 'मीटर प्रति सेकेंड^2' आदि पाँच पैसे/इकाई' व 'मीटर/सेकेंड^2' आदि रूपों लिखने के लिए **तथा** गद्य की एक पंक्ति व कविता की कई पंक्तियों को लिखते समय उनके बीच में लगाया जाता है।

पूर्ण के लिए आजकल **दो चिह्नों**—बिन्दु व खड़ी पाई—का प्रयोग होता है। 'टाइम्स ऑव इण्डिया' प्रकाशन समूह की हिन्दी पत्रिकाओं—**धर्मयुग, सारिका, दिनमान, पराग** आदि—में बिन्दु (.) का प्रयोग होता है। परन्तु 'हिन्दुस्तान टाइम्स' समूह की हिन्दी पत्रिकाओं—**साप्ताहिक हिन्दुस्तान, कादम्बिनी** आदि—में खड़ी पाई का। इसी प्रकार हिन्दी लोकप्रिय विज्ञान की पत्रिकाओं—**विज्ञान, विज्ञान प्रगति, विज्ञान वीथिका, विज्ञान परिचय, स्वास्थ्य और पर्यावरण** आदि—में खड़ी पाई का ही प्रयोग होता है; पर **आविष्कार, ग्रामशिल्प** व **वैज्ञानिक** पत्रिकाओं में बिन्दु प्रयोग होता है। हिन्दी के प्रायः सभी अखबार—**आज, जन सत्ता, दैनिक जागरण, अमृत प्रभात, नवभारत टाइम्स** आदि—पूर्ण विराम के लिए खड़ी पाई का ही प्रयोग करते हैं। यहाँ उल्लेखनीय है कि 'टाइम्स ऑव इण्डिया' समूह का प्रकाशन होते हुए भी **नवभारत टाइम्स** में खड़ी पाईका प्रयोग किया जाता है।

पूर्ण विराम के लिए 'बिन्दु लगाने वाले मुद्रण की सुविधा एवं जगह की बचत का तर्क देते हैं। जगह की बचत का उनका तर्क सही है, पर वे भूल जाते हैं कि हिन्दी (व संस्कृत) में पूर्ण विराम का अपना मौलिक चिह्न **'खड़ी पाई'** ही हैं। और सच कहा जाय तो हिन्दी में इस समय प्रयुक्त सारे विरामचिह्नों में से यह 'खड़ी पाई' ही हिन्दी (व संस्कृत) का अपना एकमात्र विरामचिह्न है, शेष तो अंग्रेज़ी के प्रभाववश प्रयुक्त होने लगे हैं। पुन: डी० डी० टी० आदि संक्षिप्त रूपों को भी कुछ लोग डी० डी० टी० की तरह बिन्दु लगाकर लिखते हैं और ऐसी स्थिति में पूर्णविराम के लिए बिन्दु का प्रयोग भ्रामक हो सकता है। साथ ही यह ध्यातव्य है कि, लिखते समय हिंदी में पूर्णविराम के लिए यदि बिन्दु का प्रयोग होने लगा तो बहुत सम्भव है कि देवनागरी अक्षरों के आकार के कारण कम्पोजिटर या पाठक की थोड़ी भी अनवधानता 'पूर्ण विराम' को गायव कर दे।

वैसे भी हिंदी की प्रवृत्ति बिन्दु (.) के पक्ष में नहीं जान पड़ती। इसी प्रवृत्ति से मेल न खाने के कारण हमने अरवी-फारसी से आए शब्दों के नीचे लगने वाले बिन्दु (निचबिन्दी) को अस्वीकार कर दिया था।

यद्यपि कि हिंदी में पूर्णविराम के इन दोनों ही रूपों का प्रचलन है; तथापि मेरे विचार में **'खड़ी पाई' के ही प्रयोग को वरीयता देनी चाहिए। खड़ी पाई दोवाल का काम करती है। दो स्वतंत्र वाक्यों को पृथक करती है और यही इसका उद्देश्य है, अतएव पूर्णविराम के लिए खड़ी पाई का प्रयोग पूर्ण वैज्ञानिक है।** हाँ, मुद्रण में 'स्थान की बचत' की दृष्टि से 'बिन्दु' का प्रयोग करने की छूट दी जा सकती है, पर अन्यत्र (जैसे लिखते समय) खड़ी पाई का ही प्रयोग करना चाहिए।

प्रश्नचिह्न—प्रश्नवाचक वाक्यों के अंत में आने वाले **इस** विरामचिह्न का प्रयोग उन स्थितियों में होता है, जहाँ प्रश्न पूछे जाने का बोध हो, अनिश्चय की स्थिति हो या व्यंग्य किया जा रहा हो। जैसे—

क्या **मार्कोनी** को उच्चकोटि के वैज्ञानिकों की श्रेणी में रखा जा सकता है?

आप **सोहन** के भाई हैं?

भ्रष्टाचार तो इस युग का सबसे बड़ा शिष्टाचार है?

परन्तु ऐसे वाक्यों में जहाँ प्रश्न आज्ञा के रूप में अथवा ऐसे वाक्य, जिनमें प्रश्नवाचक शब्दों का प्रयोग **संबंध वाचक शब्दों की तरह** किया गया हो, वहाँ प्रश्न चिह्न नहीं लगाते। जैसे—

किसी रेडियोएक्टिव तत्व का नाम बताओ।

वह नहीं जानता कि मैं **क्या** चाहता हूँ।

आश्चर्य चिह्न—आश्चर्य चिह्न का प्रयोग **विस्मयादिबोधक** अव्ययों और **मनोविकार सूचक** शब्दों, वाक्यांशों तथा वाक्यों के अन्त में किया जाता है। जैसे—

वाह! उसने तो तुम्हें अच्छा धोखा दिया!

भगवान तुम्हरा भला करे!

क्यों री! क्या तू आँखों से अंधी है!

कितने प्रासंगिक हैं आइंस्टाइन के ये विचार!

और अंततः वे अपने जंगल को बचा पाने के संघर्ष में सफल रहीं!!

उद्धरण या अवतरण चिह्न—किसी महत्वपूर्ण कथन, कहावत, मुहावरा आदि को ज्यों का त्यों उदधृत करने के लिए **अथवा** किसी व्यक्ति, अखबार आदि का नाम **या** लेख, कविता आदि के शीर्षक उद्धृत करने के लिए इस चिह्न की ज़रूरत पड़ती है।

अवतरण चिह्न के दो रूप प्रयोग में आते हैं—इकहरा [' '] और दुहरा [" "]। **इकहरे अवतरण चिह्न** का प्रयोग, किसी व्यक्ति या वस्तु के नाम, शीर्षक आदि को उद्धृत करने के लिए **अथवा** किसी विशेष शब्द, वाक्यखण्ड इत्यादि को उद्धृत करते समय किया जाता है जैसे—

'कैलाश साह' हिन्दी के उत्कृष्ट विज्ञान कथाकार थे। क्वार्ककणों के तीन 'रंग' हैं और हर रंग के छ: 'स्वाद'। 'त्रिकोणमिति की उपक्रमणिका' नामक

पुस्तक 'श्री लक्ष्मीशंकर मिश्र' ने 1873 ई० में लिखी और छपाई।

दुहरे अवतरण चिह्न का प्रयोग किसी महत्वपूर्ण कथन, कहावत, सन्धि आदि को उद्धृत करने के लिए होता है। जैसे—

भारतेन्दु ने कहा था- "परदेशी वस्तु और परदेशी भाषा का भरोसा मत करो, अपने देश में अपनी भाषा में उन्नति करो।" "जीवन विश्व की संपत्ति है"—जयशंकर प्रसाद।

इकहरे और दूहरे अवतरण चिह्नों के इस विभेद के संदर्भ में उल्लेखनीय है कि **श्री कामता प्रसाद गुरु** ने केवल एक ही अवतरण चिह्न—इकहरा—माना है, लेकिन इन दिनों इन दोनों–इकहरे व दुहरे—अवतरण चिह्नों का प्रयोग व्यापक रूप से होता है। यद्यपि मुद्रित सामग्री [जैसे पुस्तकों व पत्रिकाओं] में **मोटे टइाप का प्रयोग करके या काला करके** इकहरे उद्धरण चिह्नों के लिए ऊपर बताए गये नियम की आवश्यकता कम की जासकती है। और इसी प्रकार केवल एक ही [दुहरे] अवतरण चिह्न से भी काम चल सकता है। तथापि हस्तलिखित सामग्री में नाम, शीर्षकआदि उद्धृत करने के लिए किसी विशेष चिह्न की रहेगी ही—चाहे हम इकहरे उद्धरणचिह्न का प्रयोग करें या उन्हें रेखांकित करें।

निर्देशक चिह्न—इस चिह्न का प्रयोग **समानधकरण** शब्दों, वाक्यों अथवा वाक्यांशों के बीच में **एवं** ऐसे विवरण के पूर्व जो यथास्थान न लिखा गया हो, होता है। जैसे —

पाँच करोड़ वर्ष पुरानी इस अमूल्य प्राकृतिक निधि—शांतिघाटी—को सुरक्षित रखने का असली दायित्व तो हम भारतवासियों का ही है। इस पुस्तकालय में कुछ पुस्तकें—हतलिखित—ऐसी भी हैं जो अन्यत्र नहीं हैं।

इस चिह्न का प्रयोग किसी उद्धरण या लेख के **नीचे (या बगल में सम्मुख)** संबंधित पुस्तक वा लेखक का नाम लिखते समय भी किया जाता है। जैसे—

"मातृभाषा के माध्यम से ही वास्तविक लाभ संभव है"—डॉ० आत्माराम। "हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है, जो भारत में बोली और समझी जाती है।"
—डॉ० ग्रियर्सन

"परहित सरसि धरम नहिं भाई"—रामचरितमानस। निर्देशक चिह्न के संदर्भ में ही कुछ अन्य महत्वपूर्ण बातों की तरफ भी पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना जरूरी लगता है। (i) श्रीरामचन्द्र वर्मा ने डैश (dash) को हिन्दी में 'अवतरणचिन्ह' कहा है पर किसी पुस्तक, लेख, कविता आदि के कुछ महत्वपूर्ण अंशों को जब उद्धृत किया जाता है तो उन अंशों को 'उद्धरण' या 'अवतरण' या 'अवतरित' अंश कहा जाता है। अतः 'अवतरणचिह्नों' शब्द का प्रयोग Quotation mark के लिए ही उपयुक्त जान पड़ता है। इसी प्रकार dash के लिए 'निर्देशक-चिह्न' से सही भाव प्रकट हो जाता है। (ii) श्री कामता प्रसाद गुरु ने उदाहरण देते समय 'जैसे', 'यथा' आदि शब्दों के बाद अ**ल्पविराम** का प्रयोग किया है। यद्यपि अब भी कुछ लेखक इन शब्दों के पश्चात् अल्प विराम का ही प्रयोग करते हैं, तथापि अधिकांश लेखक निर्देशक चिह्न का प्रयोग करते है, जो मेरी समझ से उचित ही है। डॉ० **बासुदेवनन्दन** प्रसाद ने भी अपनी पुस्तक 'आधुनिक हिन्दीकरण और रचना' में निर्देशक चिह्न के प्रयोग को ही उचित माना है। (iii) श्री रंजन सूरिदेव महोदय ('परिषद् पत्रिका' अक्टूबर 1985) का विचार है कि **अवतारक चिह्न** (Colon dash) और **निर्देशक चिह्न** (क्षेपकचिह्न dash) की जगह मुद्रण की दृष्टि से **कोलन** का प्रयोग वांछनीय है। परन्तु हम सूरिदेव जी का ध्यान, कोलन के प्रयोग की स्थित में, विसर्ग के संभावित भ्रम की ओर आकृष्ट करते हुए, हिन्दी में **कोलन** नामक विरामचिह्न का प्रयोग मान्य न करने का सुझाव देंगे। हिन्दी शब्दों का मूल स्रोत संस्कृत है और संस्कृत में विसर्ग के महत्व को ध्यान में रखते हुए निश्चयपूर्वक यह कहा जा सकता है कि हम हिन्दी में विसर्गयुक्त शब्दों का (विशेषकर संस्कृत भाषा से

दिये जाने वाले उद्धरणों में) बहिष्कार नहीं कर सकते। पुनः वैज्ञानिक विषयों से संबंधित लेखों में, विशेषकर गणित में कोलन [:] की ही तरह का चिह्न अनुपात के संबंधों को प्रकट करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है । जैसे—अः ब :: 1 : 5 । अतः निर्देशक चिह्न या अवतारक चिह्न के बदले कोलन के प्रयोग की बात उचित नहीं जँचती । (iv) शब्दों या वाक्यांशों के समानाधिकरण संबंधों के लिए निर्देशक चिह्नों के बदले कभी-कभी, अल्पविराम का भी प्रयोग होता है ।

द्विबिन्दु सूत्र या अवतारक चिह्न—इसका प्रयोग अब बहुत कम होता है और वस्तुतः इसके बदले निर्देशकचिह्न से ही काम चल जाता है। इसे अपूर्ण विराम भी कहते हैं। लेख के भीतर उपशीर्षक के बाद या उदाहरण देते समय 'यथा', 'जैसे' आदि शब्दों के बाद इसका प्रयोग होता था ।

लेखन में प्रयुक्त कुछ अन्य संकेत चिह्न

(1) **चन्द्रबिन्दु** (ँ)—इस चिह्न का प्रयोग **अनुनासिक** उच्चारण वाले शब्दों में होता। जैसे—ऊँट, पाँच, आँख, जहाँ, तहाँ, काँपना, हँसना, माँ, बाँध आदि ।

यद्यपि हिन्दी में इस ध्वनिचिह्न की आवश्यकता से इंकार नहीं किया जा सकता, तथापि इन दिनों इसका प्रयोग कम होता जा रहा है। 'दिल्ली प्रेस' की पत्रिकाओं—**सरिता, मुक्ता, चंपक** आदि—में चन्द्र बिन्दु का प्रयोग नहीं किया जाता, जिससे काफी भ्रम हो जाता है। बचपन में 'चंपक' के एक स्थायी स्तंभ का शीर्षक 'देखो हंस न देना' मुझे वर्षों तक परेशान करता रहा। स्तंभ के चुटकुलों को पढ़कर 'हंसने' की अपनी क्रिया से में स्तंभ के नाम का सामंजस्य स्थापित न कर पाता था। यह परेशानी वर्षों बाद तब दूर हुई, जब पाठक के एक प्रश्न के उत्तर में संपादक ने पत्रिका में सूचना छपाई कि वे लोग चन्द्र-बिन्दु का प्रयोग नहीं करते ।

फिर भी कुछ शब्द ऐसे हैं जहाँ चन्द्रबिन्दु के बजाय केवल बिन्दु लगाकर (थोड़े परिवर्तन के साथ) काम चल सकता हैं। जैसे—

धुएँ (धुयें), विशेषताएँ (विशेषतायें), जलधाराएँ (जलधारायें), मालाएँ (मालायें), क्रियाएँ (क्रियायें) आदि ।

कुछ शब्द ऐसे भी हैं, जिनमें पहले चन्द्रबिन्दु का प्रयोग होता था, पर अब नहीं किया जाता। जैसे—

दुनियाँ (दुनिया), अँग्रेज़ी (अंग्रेज़ी), पुँल्लिंग (पुंल्लिग) आदि अतः स्पष्ट है कि इन दिनों प्रवृत्ति, चन्द्रबिन्दु के न्यूनतम प्रयोग की है, यथापि मेरी समझ से हिन्दी **ध्वन्यात्मक** (Phonetic) भाषा है, अतः हमें लिखते समय उच्चारण से दूर नहीं जाना चाहिए। वैसेभी चन्द्रबिन्दु का प्रयोग न होने पर अनेक शब्द भ्रामक हो सकते हैं। अतः **अनुस्वार** व **अनुनासिक** का भेद जानना ज़रूरी है ।

अनुस्वार (ं) व अनुनासिक (ँ) का भेद बताते हुए डॉ० वासुदेवनंदन प्रसाद स्पष्ट करते हैं कि **अनुनासिक** के उच्चारण में मुँह की अपेक्षा नाक से बहुत कम साँस निकलती है। जैसे साँस, आँसू, गाँव, आँत आदि। पर **अनुस्वार** के उच्चारण में नाक से अधिक साँस निकलती है और मुँह से कम । जैसे-अंत, अंश, अंग आदि ।

पुनः अनुनासिक, स्वर की विशेषता है जबकि अनुस्वर एक व्यंजन ध्वनि है। यही कारण है कि अनुनासिक यानी चन्द्रबिन्दु मात्राओं (स्वरों) के ऊपर लगाते है, व्यंजन पर नहीं। जैसे—

(i) आँख, साँस, अशुद्धियाँ, चाँद, उँगली, कँगना, मुँह, सूँड़, हूँ, ताँत, पहुँच, साँकल, आँधी इत्यादि ।

(ii) लंबाई, गंगा, आरंभ, बंबई, लिंग, संवाद अंगूर आदि। साथ ही अनुस्वार एवं अनुनासिक के प्रयोग में एक विशिष्टता यह भी दीख पड़ती है कि जिन **तत्सम** शब्दों में अनुस्वार लगता उनके **तद्भव** शब्दों में प्रायः अनुनासिक (चन्द्रबिन्दु) का प्रयोग होता है जैसे--दन्त (दाँत), कंगन (कँगना), आंत्र (आँत), अंगुल (अँगूठा) ।

अंत में विशेष उल्लेखनीय तथ्य यह है कि कुछ शब्दों—नहीं, मैं, हैं आदि—में मूलत: अनुनासिक का ही प्रयोग होता था, पर अब अनुस्वर का प्रयोग होता है, जो उचित और मान्य है। यह परिवर्तन संभवत: मुद्रण (व लेखन) संबंधी कठिनाइयों के कारण आ गया।

अर्द्धचन्द्र (ॅ)—यह हिन्दी का चिह्न नहीं है, पर कुछ अंग्रेज़ी शब्दों के देवनागरी रूपों के उच्चारण को मूल उच्चारण के अनुरूप रखने की प्रवृत्ति के कारण हिन्दी में इस ध्वनिचिह्न को स्वीकार कर लेने से हमारी भाषा समृद्ध ही होगी तथापि मेरा सुझाव है कि इसका प्रयोग अत्यन्त सावधानी से सीमित तौर पर किया जाय। यदि अंग्रेज़ी शब्दों के मूल उच्चारण दिखाने की आवश्यकता न हो—जैसी शब्दकोशों में होती है—तो उन अंग्रेज़ी शब्दों को भी देवनागरी में इस चिह्न के बिना भी लिखा जा सकता है। यदि हम अरबी-फ़ारसी के शब्दों में निचबिन्दी हटाकर काम चला सकते हैं तो फिर अंग्रेज़ी के शब्दों में बिना अर्द्ध-चन्द्र के भी काम चल सकता है। वैसे संदर्भ के तौर पर उदाहरणस्वरूप, यहाँ अर्द्धचन्द्रयुक्त कुछ विदेशी शब्द दिए जा रहे हैं—डॉग, कॉलेज, हॉस्पिटल आदि।

डॉ० वासुदेवनंदन प्रसाद का भी मत है (पृष्ठ 38) कि **अर्द्ध 'ओ'** ध्वनि वाले अंग्रेज़ी के शब्दों का शुद्ध रूप हिंदी में अभीष्ट होने पर उस शब्द के देव-नागरी रूप में 'आ' की मात्रा पर अर्द्धचन्द्र लगाया जा सकता है। श्री रामचन्द्र वर्मा भी इस चिह्न का प्रयोग (यदि शुद्ध उच्चारण पर ज़ोर न हो) न करने के ही पक्ष में जान पड़ते हैं। वस्तुत: अधिकाधिक (अना-वश्यक) चिह्न लेखन व मुद्रण को कठिन एवं व्यय-साध्य ही बनायेंगे।

कोष्ठक—कुछ वैयाकरण (जैसे श्री कामता प्रसाद गुरु) कोष्ठक को भी एक प्रकार का विरामचिह्न ही मानते हैं। यहाँ केवल यह संकेत कर देना ही पर्याप्त प्रतीत होता है कि कोष्ठक का प्रयोग मूलत: किसी ऐसे शब्द या वाक्यांश के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए होता है, जहाँ भ्रम या अनर्थ की सम्भावना हो। जैसे—

अफ्रीका के नीग्रो लोग (हब्शी) अधिकतर उन्हीं की संतान हैं। यदि इन दो विमाओं के (जैसे क्रिकेट मैदान) क्षेत्रफल के साथ एक विमा ऊँचाई की भी मिला दें तो तीन विमा वाला आकाश बन जाता है। डी० डी० टी० की अर्धआयु (वह अवधि जिसमें कीट-नाशी की आधी मात्रा नष्ट हो जाती है) 1—5 वर्ष है।

हिन्दी में मुख्यत: तीन प्रकार के कोष्ठक हैं—छोटा, मँझोला व बड़ा कोष्ठक। कभी-कभी मँझोले व बड़े कोष्ठक को क्रमश: **सर्पाकार** { } एवं **वर्गाकार** [ ] कोष्ठक भी कहते हैं तथा केवल 'कोष्ठक' कहने से **छोटे कोष्ठक** का बोध हुआ मान लेते हैं।

यदि इन तीन कोष्ठकों को एक साथ प्रयोग करना पड़े (जैसे गणित के सवालों में) तो सबसे पहले बड़ा कोष्ठक, फिर मँझोला व तब छोटा कोष्ठक लगाते हैं। जैसे—$[14 \times \{8 \div (13-6)\}]$।

यदि केवल दो कोष्ठकों का प्रयोग करना हो तो बड़े छोटे कोष्ठक लगाते हैं। जैसे—नियम [4(क)]।

परंतु यदि नियम [4 (क)] के तीसरे उपविभाग (उपनियम) का संकेत करना हो, तो इसे—नियम [4{क(iii)}]—न लिखकर मेरी समझ से नियम [4 क (iii)] लिखना चाहिये।

वैसे तो **कोष्ठकों की उपयोगिता व आवश्यकता** मूलत: गणितीय सवालों में ही है, तथापि गद्य लेखन में कभी-कभी इनकी आवश्यकता पड़ती है। ऐसी स्थिति में, किस कोष्ठक का प्रयोग कहाँ हो, इसका कोई तर्क सम्मत नियम नहीं है। तथापि अब तक इनका प्रयोग विभिन्न लेखक जिस प्रकार करते आ रहे आ रहे हैं और श्री कामता प्रसाद गुरु ने जो प्रयोग बताये हैं, उनके आधार पर यहाँ कुछ नियम दिए जा रहे हैं—

(1) **बड़े कोष्ठक** का प्रयोग भूल सुधारने व त्रुटि की पूर्ति के लिए किया जाता है—

अनुवादित [अनूदित], कुटी [र]

(2) एक ही वर्ग या एक ही वाक्य के शब्द यदि किसी कारणवश दो पंक्तियों में लिख गये हों तो उनकी 'संलग्नता' प्रदर्शित करने के लिए **मँझोले कोष्ठक** का प्रयोग करते हैं—आर्द्रपन } =नमी
गीलापन }

(3) **छोटे कोष्ठक** का प्रयोग किसी शब्द के हिंदी या अंग्रेजी पर्याय (समानार्थी शब्द) को लिखने के लिए **अथवा** किसी विषय के विभिन्न विभागों को एक साथ लिखते समय **क्रमसूचक** शब्दों या अंकों के साथ करते हैं–नाभिक (Nucleus); अलंकार के तीन भेद हैं—(i) शब्दालंकार (ii) अर्थालंकार (iii) उभयालंकार, किसी आयताकार ठोस का आयतन जानने के लिए तीन चीजों का ज्ञान ज़रूरी है—(क) लंबाई, (ख) चौड़ाई, (ग) ऊँचाई ।

हंसपद (‸)—प्रायः लिखते समय असावधानी से कोई न कोई शब्द या शब्दसमूह छूट जाता है। ऐसी स्थिति में त्रुटि सुधार के निमित्त छूटा हुआ शब्द, उपयुक्त स्थल के ही पास पंक्ति के ऊपर लिख देते हैं और उपयुक्त स्थान के थोड़ा नीचे **'हंसपद'** (‸) लगा देते हैं । जैसे—

ओर

परमाणु-नाभिक के चारों‸ इलेक्ट्रॉन चक्कर लगाते हैं ।

कभी-कभी उपयुक्त स्थल पर दोनों पंक्तियों के बीच इतनी जगह नहीं होती कि छूटा हुआ शब्द वहाँ लिखा जा सके **अथवा** उस स्थित में जबकि कई शब्द छूट गये हों, छूटे हुए शब्द या शब्दों को **हाशिये पर** लिख लेते हैं और उपयुक्त स्थल पर **'हंसपद'** लगा कर एक सीधी रेखा द्वारा हाशिये पर लिखे शब्दों की ओर संकेत बना देते हैं ।

प्रूफ की भूलें सुधारते समय भी हाशिये पर सुधरा रूप लिखकर उपयुक्त स्थल से रेखा द्वारा 'जोड़' देते हैं ।

टीका या टिप्पणीसूचक चिह्न—कभी-कभी कुछ ऐसी बातें व्यक्त करनी (लिखनी) होती हैं जिनका मूल विषय से प्रत्यक्ष सम्बन्ध तो नहीं होता, पर वे विषय की स्पष्टता या पृष्ठभूमि के बोध के लिए जरूरी होती हैं। ऐसी बातों को **संबन्धित अध्याय या लेख के अंत में या उसी पृष्ठ पर नीचे** लिख दिया जाता है ।

ऐसी टीका या टिप्पणी जिस शब्द, वाक्यांश या या वाक्य से संबद्ध हो उसी शब्द, वाक्यांश या वाक्य समाप्ति पर ★, †, ★★, †† जैसे संकेत या अंक (1, 2, 3, आदि) लिख देते हैं और उसी संकेत या अंक से संकेतितटिप्पणी में सम्बन्धित बातें लिख देते हैं ।

यहाँ एक सुझाव यह है कि यदि किसी लेख में या किसी पृष्ठ पर पादटिप्पणियाँ ज्यादे हों तो उन्हें ★ या † जैसे संकेत चिह्नों के बजाय 1, 2, 3 आदि अंकों से संकेतित किया जाय। विशेषकर उस स्थिति में, जबकि पूरे लेख या अध्याय की समस्त टिप्पणियों को लेख वा अध्याय के अंत में एक साथ लिखना हो, तब तो केवल अंकों का ही प्रयोग उचित एवं सुविधाजनक होगा ।

हिन्दी लेखन में प्रायः प्रयुक्त इन चिह्नों के अतिरिक्त विभिन्न वैज्ञानिक विषयों विशेषकर गणित, भौतिकी आदि के विशिष्ट चिह्न भी हिन्दी में विज्ञान लेखन करते समय प्रयुक्त किए जाते हैं। पर वे चिह्न हर विषम के अपने और विशिष्ट हैं तथा लोकप्रिय विज्ञान लेखन के लिए प्रायः उनकी आवश्यकता नहीं होती, अतः यहाँ उन पर विचार नहीं किया गया है। प्रस्तुत लेख में दो विरामचिह्नों—अल्पविराम व योजक चिह्नों—पर भी विचार नहीं किया गया है। आगामी अंक में इन्हीं दो विरामचिह्नों पर विस्तार से विचार किया जाएगा ।

□□

पृथ्वी और जीवन : प्रादुर्भाव

श्रीमती दीपा श्रीवास्तव

सृष्टि के प्रारम्भ से ही मानव अपने चारों ओर की वस्तुओं और प्रकृति को कौतूहल की दृष्टि से देखता आया है। उसकी उत्कंठा सदैव से इस धरती के जन्म के विषय में जानने की रही है, जिस पर वह रहता आया है और सबसे अधिक तो स्वयं के जन्म बारे में।

जीवन के विषय में जानने के लिये अनेकानेक वैज्ञानिक वर्षों से कार्यरत हैं, परन्तु जीवन की उत्पत्ति के साथ-साथ ही यह जानना भी अति आवश्यक हैकि पृथ्वी की उत्पत्ति कैसे हुयी ?

पृथ्वी एक ग्रह है। हमारे मस्तिष्क में यह प्रश्न उठता है कि इसकी उत्पत्ति प्राथमिक नीहारिका या सूर्य से तो नहीं हुयी ? परन्तु वैज्ञानिक विचारों के मंथन से ज्ञात होता है कि यदि पृथ्वी या अन्य ग्रहों की उत्पत्ति नीहारिका से हुयी होती तो ये ग्रह तथा पृथ्वी बहुत बड़े वस्तुतः तारे जैसे होते। परन्तु ऐसा नहीं है। इसी प्रकार यदि पृथ्वी सूर्य के खंडित होने से उत्पन्न हुई होती तो पृथ्वी बहुत छोटी न होती। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पृथ्वी का प्रादुर्भाव न तो सूर्य से हुआ है और न ही प्राथमिक नीहारिका से अतः पृथ्वी की उत्पत्ति आवश्य ही किसी अन्य रीति से हुयी होगी।

पृथ्वी के अत्यन्त निकट होने के कारण चन्द्रमा पृथ्वी पर ज्वार-भाटा उत्पन्न करता है, इस तथ्य से हम पूर्णतया परिचित हैं। सूर्य व अन्य तारे अरबों वर्षों से अन्तरिक्ष में घूम रहे हैं। अतः सम्भव है कि अत्यन्त प्राचीनकाल में, जिस समय पृथ्वी बनी नहीं थी, सूर्य के निकट से कोई तारा निकला हो जिसने सूर्य में ज्वार-भाटा उत्पन्न किया हो। यदि तारा सूर्य की त्रिज्या की तिगुनी से अधिक दूरी से होकर गुजरता तो ज्वार-भाटा से उठा पदार्थ फिर बैठ जाता परन्तु वह सूर्य के अत्यधिक निकट से गुजरा होगा। इससे ज्वार-भाटा के कारण उठा पदार्थ छिटक कर सूर्य से अलग हो गया होगा। इसी प्रकार छिटके पदार्थ से अन्य ग्रहों के साथ पृथ्वी की भी उत्पत्ति हुयी होगी। गणित की गणनाओं के अनुसार ये छिटके पदार्थ सिमट कर उतने ही बड़े पिण्ड बनायेंगे जितने बड़े विभिन्न ग्रह हैं। अतः सूर्य से पृथ्वी की उत्पत्ति इस प्रकार अपरोक्षरूप से सम्भव है। ग्रहों के उपग्रह की उत्पत्ति भी इसी प्रकार सूर्य के कारण ग्रहों में उठे ज्वार-भाटों के कारण हुयी होगी। परन्तु इन उपग्रहों के द्रव्य कम होने के कारण ये शीघ्र ठंडे हो गये होंगे, और इस कारण उपग्रह के उपग्रह नही बने होंगे।

ग्रहों की उत्पत्ति के समय ज्वार-भाटा के कारण सूर्य से छिटके पदार्थ में से कुछ अत्यन्त चूर्ण द्रव्य बिखरा रह गया होगा, जो धीरे-धीरे किसी न किसी ग्रह में या सूर्य में गिर गया होगा, जिसके कारण अन्तरिक्ष स्वच्छ हो गया। इन पदार्थों के ग्रहों में गिरने के कारण ग्रहों के मार्ग दीर्घवृत्ताकार न रह कर वृत्ताकार हो गये जिसकी पुष्टि गणित के द्वारा सम्भव है। हम पाते हैं कि वर्तमान में लगभग सभी ग्रह वृत्ताकार मार्ग में चलते हैं। सूर्य के प्रकाश में उसके चारों ओर दिखने वाला राशिचक्रीय प्रकाश (Zodiacal light) सम्भव है उसी छिटके पदार्थ का अवशेष हो जिस से ग्रह उत्पन्न हुये। चन्द्रमा का जन्म

1 तुलारामबाग, इलाहाबाद

भी पृथ्वी पर सूर्य के कारण उठे ज्वार-भाटा के कारण ही सम्भव हुआ होगा।

पृथ्वी अपने जन्म के शैशवकाल में, जब इस की पपड़ी की रचना नहीं हुयी थी, बहुत गर्म थी। विकिरण के कारण यह ठंडी होती गयी और साथ ही साथ छोटी भी होती गयी। छोटी होने के कारण यह अधिक वेग से नाचने लगी क्योंकि गति के सिद्धान्त के अनुसार कोणीय संवेग का नाश नहीं हो सकता। गणितज्ञों का ऐसा मानना है कि गोल पिण्ड निरन्तर नाचते रहने पर गोलाभ आकार का हो जाता है। यही कारण है कि पृथ्वी भी निरन्तर नाचते रहने के कारण गोलाभ (नारंगी की आकृति की) हो गयी। समुद्र का जल जो इस समय गोलाभ रूप में है, गोल रूप धारण कर लेगा यदि पृथ्वी अपने अक्ष पर नाचना बन्द कर दे। समुद्र के जल के गोलाभ रूप होने की पुष्टि इस बात से होती है कि पृथ्वी के केन्द्र से जल के सतह की दूरी भूमध्य रेखा पर तो अधिक पर ध्रुवों पर कम है।

हमारे सौर-परिवार की उत्पत्ति के समय पृथ्वी अत्यधिक गर्म थी तथा उसका वायुमण्डल भी बहुत गर्म था फलस्वरूप हल्की गैसें जैसे **हीलियम, हाइड्रोजन** प्रचुर मात्रा में निकल-निकल कर आकाश में उड़ गयीं। इसके अतिरिक्त पृथ्वी की रासायनिक रचना में आज पाये जाने वाले परमाणु उस समय भी थे, परन्तु पृथ्वी पर उपस्थित पत्थर (चट्टान) समुद्र तथा वायु की उष्मा धीरे-धीरे अपेक्षाकृत ठंडे आकाश में विकीर्ण होती गयी। इससे आणविक यौगिकों का विकास हुआ।

धीरे-धीरे पृथ्वी इतनी ठंडी हो गयी कि जल-वाष्प द्रव रूप में परिणत हो गया। प्रथम उष्ण जल में, जिसने पृथ्वी को आच्छादित किया, **कार्बन, हाइड्रोजन, ऑक्सीजन व नाइट्रोजन** के संयोजन से बने अनेक कार्बनिक पदार्थ उपस्थित थे। ये कार्बनिक पदार्थ अत्यन्त क्रियाशील होते हैं। इन की रासायनिक अभिक्रियायें परस्पर जीव-जन्तुओं के शरीर में पाये जाने वाले विभिन्न कार्बनिक यौगिकों के सदृश ही अन्य यौगिकों का निर्माण हुआ होगा जिस में सम्भव है **प्रोटीन जैसा जैविक दृष्टि से महत्वपूर्ण यौगिक भी बना होगा।** पृथ्वी के और जीवन के उद्भव की यह अवधारणा सत्य के अधिक निकट प्रतीत होती है।

□□

प्रयोगशाला में चट्टान-निर्माण की प्रक्रिया

सोवियत वैज्ञानिकों ने प्रयोगशाला में उन प्रक्रियाओं को संभव बना दिया है जिनके माध्यम से पृथ्वी-गर्भ में चट्टानों का निर्माण होता है। इसके लिए वैज्ञानिकों ने एक विशेष प्रकार का यंत्र-समुच्चय तैयार किया है जो उतना ही दाब और ताप उत्पन्न कर सकता है जितना पृथ्वी-गर्भ में 100 किलोमीटर की गहराई पर मौजूद होता है। अब विभिन्न तत्वों में होने वाले उन परिवर्तनों और प्रक्रियाओं का अध्ययन आसानी से किया जा सकता है जिन्हें जानने के लिए पहले ज़मीन की विभिन्न परतों की खुदाई करनी पड़ती थी।

कृषि के लिए वायुमण्डलीय सूचना

सोवियत संघ के कृषि-औद्योगिक समुच्चय 'एग्रोप्रोम' को वैज्ञानिक और तकनीकी कार्यक्रम 'कॉस्मॉस' के अंतर्गत वायुमण्डलीय सूचना प्राप्त करने की सुविधा मिल गई है। सूचना प्रसार की यह प्रणाली स्वचालित है। इससे फसलों की स्थिति, जलाशयों के बारे में नवीनतम सूचनाएँ तथा वनों की स्थिति के बारे में आवश्यक सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। वायुमंडलीय अनुसंधान विषयक इन ताज़ा सूचनाओं से यह पता लगाने में भी सुविधा होती हैं कि किस क्षेत्र में फसलों के लिए हानिप्रद कीटों की रोकथाम ज़रूरी है। इस कृषि-सूचना प्रणाली के संचालन के लिए उत्तरी काकेशस के क्रास्नादोर में, मध्येशिया के ताशकंद में, वोल्गा क्षेत्र के सरान्स्क में, कज़ाखस्तान के त्सेलिनोग्राद में और उक्राइन के कियेव में विशेष नियंत्रण केन्द्र स्थापित किये गये हैं।

अब अंतरिक्ष भी प्रदूषण की चपेट में

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

अभी हम हवा, पानी, मिट्टी के प्रदूषण, अम्ल वर्षा, शोर प्रदूषण, रेडियो सक्रियता और नाभिकीय युद्ध के संभावित प्रदूषण के खतरों की बात-चीत और बहस-मुबाहिसे में लगे हुये ही थे कि बाह्य अंतरिक्ष में बढ़ते प्रदूषण की समस्या—प्रदूपण का एक और आयाम—इसमें आ जुड़ा। अंतरिक्ष प्रदूषण का संकट किसी एक देश का न होकर पूरे विश्व का है।

कहते हैं आकाश अनन्त है, निस्सीम है। जब हम इस अपार अंतरिक्ष के विस्तार के विषय में सोचते हैं तो अंतरिक्ष में प्रदूषण की समस्या अकल्पनीय लगती है। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि निरंतर प्रदूषित हो रहे बाह्य अंतरिक्ष में प्रदूषण की समस्या बढ़ती ही जा रही है, और इसे बढ़ा रहा है मानव। पृथ्वी की कक्षा के निकट अंतरिक्ष के कचरे से अंतरिक्षयानों और अंतरिक्षयात्रियों के जीवन को तो खतरा बना ही हुआ है, साथ ही वैज्ञानिक प्रयोगों की सत्यता भी संदिग्ध जान पड़ने लगी है। मृत उपग्रहों के पृथ्वी की कक्षा में पुनः प्रवेश से धरती के जीवों के जीवन एवं छीजती सम्पदा को भी खतरा पैदा हो गया है।

1957 में रूसी वैज्ञानिकों द्वारा अंतरिक्ष में 'स्पुतनिक' के छोड़ने के पूर्व पृथ्वी की कक्षा के निकट अंतरिक्ष में (मानव द्वारा उत्पन्न की गई) प्रदूषण की समस्या का नामोनिशान नहीं था। अमेरिकी वैज्ञानिक **डी० डुडेनी** (1982) का कहना है कि पिछले 30 वर्षों में ही मानवयुक्त अंतरिक्षयानों के उपकरणों, कचरे, मृत उपग्रहों, राकेट बूस्टरों और ईंधन टंकियों सहित 10,000—15,000 बेकार बड़े पिण्ड अंतरिक्ष में परिक्रमा कर रहे हैं। अमेरिका को ही 'नेशनल पब्लिक रेडियो' की एक सूचना (28 अप्रैल, 1986) के अनुसार 2.5 सेन्टीमीटर साइज वाले लगभग 40,000 छोटे पिण्ड और पेन्ट के कई बिलियन अत्यन्त छोटे जमे हुये टुकड़े भी अंतरिक्ष में तैर रहे हैं। 1972 में प्रकाशित 'नासा' (NASA) की एक गणना के अनुसार पृथ्वी की कक्षा के निकट यह अंतरिक्ष-कचरा विशेष रूप से जोखिमभरा है क्यों कि ये कचरे लगभग 17,500 मील अथवा 29,572 किलोमीटर प्रति घंटे की रफ्तार से घूम रहे हैं। **आई० आसिमोव** (1986) का तो निश्चित मत है कि इतनी तीव्र गति से घूमने वाले एक इंच के पचासवें अंश या 0.51 मिलीमीटर के बराबर का पेन्ट का एक नन्हा टुकड़ा (पच्चर) अंतरिक्ष-यात्री की अंतरिक्ष पोशाक (स्पेस सूट) में छिद्र कर सकता है और पेन्ट का वह टुकड़ा जिसका आकार एक इंच के दसवें अंश या 2.54 मिलीमीटर के समकक्ष हो वह अंतरिक्षयान में छेद कर सकने में भली-भाँति सक्षम है। अंतरिक्ष प्रदूषण से संबंधित अनेक दुर्घटनायें तो घटित भी हो चुकी हैं। 1978 में नाभिकीय ऊर्जा से संचालित दुर्घटनाग्रस्त अंतरिक्ष-यान 'कॉस्मॉस 954' कनाडा के बीहड़ में जा गिरा और ध्वस्त हो गया। इससे चारों ओर रेडियो सक्रिय मलबा बिखर गया। इसी प्रकार 1979 में

वनस्पति विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद-211002

अमेरिकी 'स्काईलैब' सौर आँधियों से दुर्घटनाग्रस्त हो गया और इसका मलबा हिन्द महासागर (इण्डियन ओशन) और आस्ट्रेलिया के निर्जन में जा गिरा। 1983 में अंतरिक्ष शटल 'चैलेन्जर' के विंडशील्ड (वायुरोधक) से एक नन्हा पेन्ट का टुकड़ा जा टकराया और विंडशील्ड में सूराख कर गया। इसके अतिरिक्त अनेक उपग्रहों की विफलतायें सम्भव है अन्तरिक्ष के कचरे के कारण ही हुई हों। यहाँ एक उदाहरण देना समीचीन होगा। 11 अप्रैल 1984 को 'सोलर मैक्सिमम मिशन सैटैलाइट' के एक भाग के क्षतिग्रस्त हो जाने के बाद, 'चैलेन्जर' से निकाली गई एक 'बाँह' के द्वारा पकड़ कर पृथ्वी की कक्षा में उसकी मरम्मत की गई और पृथ्वी पर वापस लाने के बाद वैज्ञानिक परीक्षणों से ज्ञात हुआ कि उसके क्षतिग्रस्त पाँच वर्ग फुट क्षेत्र में 150 नन्हें छिद्र हो गये थे। लगभग आधे छिद्र सूक्ष्म उल्कापिण्डों और शेष आधे मानव-निर्मित अंतरिक्ष के कचरे से हुये थे। उल्कापिण्ड अंतरिक्ष में प्राकृतिक रूप से पाये जाने वाले भ्रमणशील पिण्ड हैं। बाद में रासायनिक परीक्षणों से ज्ञात हुआ कि मानवनिर्मित कचरे में मुख्य रूप से पेन्ट के नन्हें टुकड़े ही थे। **बी० ए० चोबोटोव** ने पहले ही (1980 में) अन्तरिक्षयानों के कचरों से टकराने की संभावना से सारे विश्व को सचेत किया था (देखें सारणी)।

सारणी—पृथ्वी की निचली कक्षा में 1,000 दिनों के मिशनवाले अंतरिक्षयान के कचरों से टकरानेकी संभावना

	1980 (4,100 पिण्ड)	1985 (10,000 पिण्ड)	1995 (30,000 पिण्ड)
10 मीटर अर्धव्यास वाला अंतरिक्षयान	·0015—·003	·0038—·008	·0011—·002
50 मीटर अर्धव्यास वाला अंतरिक्षयान	·04—·08	·1—·2	·29—·58

नोट : निम्न ऊँचाई मिशन का तात्पर्य 500—1,500 किलोमीटर के परिक्रमा-पथ से है।

जब एक देश अंतरिक्ष को प्रदूषित करने वाली गतिविधियों में सक्रिय हो जाता है तो उससे उत्पन्न ख़तरे से दूसरे देश भी अप्रभावित नहीं रह सकते। अन्तर्राष्ट्रीय समाज कल्याण के हित में यही अच्छा होगा कि प्रदूषण उत्पन्न करने वाला देश अपने हित को अन्तर्राष्ट्रीय हित से नीचे रखे। यहाँ एक प्रश्न उठता है कि बाह्य अंतरिक्ष को कोई भी देश किस सीमा तक प्रदूषित करे? उत्तर सहज-सा है—कम से कम। पर उत्तर जितना आसान लगता है उतना ही मुश्किल है क्योंकि प्रगति की अंधी दौड़ ने विश्व के तमाम मुल्कों की, विशेष रूप से साधनसम्पन्न विकसित राष्ट्रों की, सोचने-समझने और विवेक की क्षमता छीन ली है। वे प्रतिपल अपने से साधनहीन और छोटे देशों को पीछे—बहुत पीछे—छोड़ देना चाहते हैं। और यही कारण है कि बाह्य अन्तरिक्ष में प्रदूषण की समस्या बद से बदतर होती जा रही है। अमेरिका और रूस जैसी बड़ी शक्तियों के अतिरिक्त फ्रांस, चीन, जापान, ब्राजील और भारत सहित कुछ अन्य देश भी अब इस दौड़ में शामिल हो गये हैं। अन्तरिक्ष पर चूँकि किसी एक देश का आधिपत्य नहीं है, अन्तरिक्ष तो सम्पूर्ण मानवता का कार्यक्षेत्र है, अतः कोई भी देश अन्तरिक्ष में प्रदूषण कम करने के लिए विवेक से काम नहीं ले रहा है। आज बाह्य अन्तरिक्ष में जिस प्रकार प्रदूषण की समस्या बढ़ती जा रही है, और

समय रहते यदि इसका समाधान न ढूँढ लिया गया, तो अब वह दिन दूर नहीं जब अन्तरिक्ष मानव उपयोग के सर्वथा अनुपयुक्त हो जायेगो।

'एम्बायो' (AMBIO) नामक द्विमासिक पत्रिका के नवम्बर 1986 अंक में प्रकाशित एक लेख में अमेरिका के रुटरोर्स यूनिवर्सिटी के **जे० डो० शेरागा** ने बाह्य अन्तरिक्ष के प्रदूषण पर नियंत्रण के लिए अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। एक तो अन्तरिक्ष में स्वामित्व अधिकार की सृष्टि, दूसरे कराधान (टैक्सेशन), तीसरे अभ्यांश या कोटे का निर्धारण और चौथे संयुक्त अन्तर्राष्ट्रीय अंतरिक्ष यात्रा। किन्तु इनमें से किसी भी सुझाव को कार्यरूप में परिणित करने के पूर्व आने वाली कठिनाइयों पर भली भाँति विचार कर लेना युक्तिसंगत होगा।

उपर्युक्त विकल्पों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग सर्वोत्तम है। अन्तरिक्ष प्रदूषण की समस्या ने आज मानवता के समक्ष अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का एक अनोखा सुअवसर प्रस्तुत किया है ताकि हम आपसी सूझ-बूझ और संयुक्त अन्तरिक्ष अभियानों के माध्यम से बाह्य अन्तरिक्ष की खोज और मानव कल्याण के लिए उसका समुचित उपयोग कर सकें।□□

अखिल भारतीय वानिकी साहित्य पुरस्कार 1986 घोषित

सुख्यात हिंदी वानिकी साहित्यकार **श्री लक्ष्मणसिंह खन्ना द्वारा लिखित ग्रन्थ "वन्य जीव संरक्षण एवं प्रबन्ध" को 1986 का पांच हजार रुपये का श्रेष्ठ लेखन पुरस्कार विजेता ग्रन्थ घोषित किया गया है**। यह पुरस्कार श्री खन्ना को वन अनुसंधान संस्थान द्वारा संचालित अखिल भारतीय वानिकी साहित्य पुरस्कार योजना के अंतर्गत प्रदान किया जाएगा। इसके पूर्व श्री खन्ना के चार अन्य ग्रन्थ भी उक्त पुरस्कार योजना के अंतर्गत अब तक के वर्षों में विभिन्न पुरस्कार जीत चुके हैं। भारतीय वन सेवा के सेवानिवृत्त अधिकारी श्री खन्ना के एक दर्जन से अधिक ग्रन्थ हिंदी और अंग्रेजी में विभिन्न वानिकी विषयों पर प्रकाशित हैं।

तीन हजार रुपये के उत्तम लेखन पुरस्कार का विजेता ग्रन्थ नई दिल्ली के सुपरिचित लेखक श्री प्रेमानन्द चन्दोला द्वारा रचित "वन-उपवन और परिस्थिति विज्ञान" घोषित किया गया है।

लेख पुरस्कारों के अंतर्गत साढ़े ग्यारह सौ रुपये के विभिन्न चार पुरस्कारों में 500/–रुपये का प्रथम पुरस्कार **श्रीमती लक्ष्मी रावत** एवं **श्री विजयराज सिंह रावत**, देहरादून के लेख "भारतीय परिवेश में यूकेलिप्टस और पर्यावरण-–कुछ वैज्ञानिक तथ्य" को दिया गया है। अन्य पुरस्कार विजेता लेख और उनके लेखक इस प्रकार हैं—350/–रुपये का उत्तम लेखन पुरस्कार लेख **"तेल एवं वसा में आत्मनिर्भरता प्राप्ति में वनों का योगदान"** ने प्राप्त किया है जिसके लेखक **श्री बिजराज सिंह रावत** एवं **डॉ० राकेश कृष्ण सूरी**, देहरादून हैं।

200/–रुपये के सराहनीय लेखन पुरस्कार का विजेता लेख है, **"वानिकी में जैव प्रौद्योगिकी का महत्व"**। इसके लेखक धनबाद [बिहार] के **श्री प्रशान्तकुमार मिश्र एवं श्रीमती चन्दना मिश्र** हैं। 100/––रुपये का **प्रोत्साहन पुरस्कार श्री शिव प्रसाद**, देहरादून के लेख **"भारत के विलुप्तशील पक्षी"** को दिया गया है। पुरस्कृत रचनाओं के लेखकों को उनके पुरस्कार प्रशस्ति-पत्र सहित नकद प्रदान किये जायेंगे। वर्तमान पुरस्कारों को मिलाकर वन संस्थान ने अब तक 11 विभिन्न वानिकी ग्रन्थों और 32 लेखों को पुरस्कृत किया है।□□

परिषद् का पृष्ठ

वार्षिक रिपोर्ट (1986-1987)

विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद ने आलोच्य वर्ष के अन्तर्गत कुछ नवीन उपलब्धियाँ प्राप्त कीं जिनमें से सितम्बर 1986 में आयोजित गोष्ठी 'पर्यावरण 2001,' श्रीमती सीतादेवी द्वारा परिषद् को डॉ० आत्माराम स्मृति भाषण माला के लिए 20 हजार रुपये का दान तथा स्वामी सत्यप्रकाश जी द्वारा अतिथि भवन एवं पुस्तकालय के निर्माण हेतु लगभग 40 हज़ार रुपयों की राशि का संग्रह उल्लेखनीय हैं। यही नहीं, डॉ० तोशनीवाल ने विज्ञान परिषद् के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री स्वर्गीय सालिगराम भार्गव की स्मृति में व्याख्यान माला चालू करने के लिए अपेक्षित धन देने का आश्वासन दिया है। इस तरह आशा की जाती है कि विज्ञान परिषद् उच्चस्तरीय व्याख्यानों की व्यवस्था करके अपने कार्य क्षेत्र का विस्तार कर सकेगी।

आलोच्य वर्ष में विज्ञान परिषद् की व्याख्यानशाला के लिए कोई विशेष दान प्राप्त नहीं हो पाया। व्याख्यानशाला में शौचालय निर्माण की दिशा में केवल सिवर-लाइन तक पाइप-लाइन बिछाने की व्यवस्था की जा सकी है। शीघ्र ही शौचालय को पूरा करने के लिए प्रयास किया जावेगा। किन्तु अभी भी हाल की ध्वनि की गड़बड़ी को ठीक कराने की दिशा में कोई कदम नहीं उठाया जा सका। डॉ० तोशनीवाल ने इस दिशा में कार्य अग्रसर करने के लिए सलाह दी है।

आलोच्य वर्ष में पुस्तकालय की व्यवस्था ठीक रही किन्तु अर्थाभाव से जर्नलों की बाइंडिंग नहीं की जा सकी।

आलोच्य वर्ष में 'विज्ञान' का प्रकाशन नियमित रूप से हुआ, 'विज्ञान' की बिक्री में भी कुछ सुधार हुआ। किन्तु 'अनुसन्धान पत्रिका' के फण्ड में धन न होने से तीन अंक छप कर रखे हैं। शीघ्र ही उनको भेजने की व्यवस्था की जानी है।

इस वर्ष अभी तक सी० एस० आई० आर०, नई दिल्ली तथा सी० एस० टी, लखनऊ से 'विज्ञान' तथा 'अनुसन्धान पत्रिका' को मिलने वाली आर्थिक सहायता अभी तक प्राप्त नहीं हो पाई जिससे कार्यालय के कर्मचारियों के वेतन-भुगतान तथा कार्यालय के अन्य कार्यों में काफी कठिनाई का सामना करना पड़ा। परिषद् के कर्मचारी वेतन वृद्धि न होने से असंतोष व्यक्त करते रहे हैं किन्तु परिषद् के पास कोई चारा ही नहीं रहा।

परिषद् 'आविष्कार' के सम्पादक श्री डी० एन० भटनागर तथा एन० आर० डी० सी० के अधिकारियों का विशेष रूप से आभारी है जिन्होंने हमारी गोष्ठी 'पर्यावरण 2001' के समस्त लेखों को विशेषांक के रूप में प्रकाशित कर न केवल हमें सहयोग पहुँचाया है वरन् हमारे उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हुए हैं।

आलोच्य वर्ष में परिषद् की अन्तरंग सभा के सभी पदाधिकारी अपने कार्यों का सुचारु सम्पादन करते रहे हैं। आशा है कि आगे भी उनका सहयोग इसी तरह मिलता रहेगा।

परिषद् के लिए स्वामी सत्यप्रकाश जी ने कुछ पुस्तकें दानस्वरूप दी हैं जिन्हें कृतज्ञता पूर्वक स्वीकार किया गया। स्वामी जी जिस तरह परिषद् के कल्याण का चतुर्दिक प्रयास करते रहे हैं उसके लिए परिषद् उनके प्रति आभार व्यक्त करती है। डॉ० तोशनीवाल जी ने भी जो सहयोग प्रदान किया है उसके लिए उन्हें साधुवाद दिया जाता है। परिषद् श्रीमती सीतादेवी जी की भी आभारी है जिन्होंने भाषण माला के लिए समुचित राशि प्रदान की है। धन्यवाद।

—डॉ० शिवगोपाल मिश्र
प्रधानमंत्री, विज्ञान परिषद्
(23-5-87)

विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद

नए वर्ष 1987-88 के पदाधिकारियों एवं अंतरंग सभा के नवनिर्वाचित सदस्यों की सूची

सभापति

प्रो० यशपाल

पदेन उपसभापति

डॉ० बाबूराम सक्सेना, स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती, डॉ० रामधर मिश्र, श्री रामसहाय, प्रो० कृष्ण जी, डॉ० रामचरण मेहरोत्रा, डॉ० गोविन्दराम तोशनीवाल, डॉ० रामदास तिवारी।

उपसभापति

डॉ० रमेशचन्द्र कपूर, डॉ० चन्द्रिका प्रसाद।

डॉ० पूर्णचन्द्र गुप्ता (प्रधान मंत्री)

डॉ० राम सुरंजन धर दूबे (मंत्री, भवन)।

संयुक्त मंत्री

डॉ० अशोक कुमार गुप्ता, श्री अनिल शुक्ल।

डॉ० जगदीश सिंह चौहान (कोषाध्यक्ष)।

श्री प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव (संपादक, विज्ञान)।

डॉ० अशोक महान (पुस्तकालयाध्यक्ष)।

श्री श्रीकृष्ण श्रीवास्तव (आय-व्यय निरीक्षक)।

स्थानीय अंतरङ्गी

प्रो० हनुमान प्रसाद तिवारी, श्री लोकमणिलाल, डॉ० शिवगोपाल मिश्र, श्री बी० एन० सिन्हा।

बाह्य अंतरङ्गी

डॉ० रमेशचन्द्र तिवारी (वाराणसी), श्री एस० पी० अम्बष्ट (दिल्ली), डॉ ओम प्रभात अग्रवाल (रोहतक), डॉ० एस० के० जोशी (दिल्ली), श्री गजानन आर्य (कलकत्ता), डॉ० राजकुमार बंसल (जयपुर), डॉ० आनन्दस्वरूप आर्य (रुड़की), डॉ० बी० के० गौड़ (हैदराबाद), प्रो० बेणीमाधव शुक्ल (वाराणसी), श्री अरविन्द मिश्र (झांसी)।

जनप्रिय विज्ञान लेखन

प्रिय पाठकगण !

इस अंक में मैं आप सभी के साथ 'आम जनता के लिए विज्ञान लेखन' पर कुछ बात-चीत करना चाहता हूँ, विशेष रूप से किसी पत्रिका के लिए लेख लिखने के सम्बन्ध में।

मैं अपनी बात एक आधारभूत बिन्दु से ही प्रारंभ कर रहा हूँ। वैसे यह इतना स्पष्ट है कि इसकी चर्चा की कोई आवश्यकता नहीं है, फिर भी बहुत से लेखक, विशेष रूप से नये लेखक, इस पर ध्यान नहीं देते हैं अथवा अनदेखा रह जाता है। और वह यह कि पत्रिकायें अपने विषय-विस्तार और विशेष वर्ग के पाठकों के लिए होने के कारण एक दूसरे से भिन्न होती हैं। एन० आर० डी० सी० द्वारा प्रकाशित 'आविष्कार' और 'ग्रामशिल्प' सी० एस० आई० आर० द्वारा प्रकाशित विज्ञान प्रगति', 'दि इंस्टीट्यूशन आफ़ इंजीनियर्स (इण्डिया) का जरनल', विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित 'विज्ञान' आदि एक ही तरह की पत्रिकायें नहीं हैं। 'खेती' और 'आपका स्वास्थ्य' में किसी प्रकार की समानता नहीं है। इससे यह बात स्पष्ट है कि **लेखक पत्रिका विशेष की आवश्यकता और कलेवर को ध्यान में रखकर लिखें**। ऐसा बहुत ही कम होता है कि लेखक बैठे, अपने विचारों को लेखनीबद्ध करे और बिना यह सोचे-समझे कि लेख किस पत्रिका में प्रकाशन के योग्य है अथवा पत्रिका किस प्रकार के लेखों की खोज में है, किसी भी पत्रिका को भेज दे। इसलिए पहली बात इस सम्बन्ध में विज्ञान के नये लेखकों से यह कहना चाहूँगा कि वे लेख तैयार करते समय इस बात का अवश्य ध्यान रखें कि पत्रिका विशेष, जिसके लिए वे लेख भेजना चाहते हैं, किस प्रकार के लेख प्रकाशित करती है और कहीं ऐसा तो नहीं कि उस विषय पर उसी पत्रिका में पहले काफी कुछ प्रकाशित हो चुका है।

एक दूसरी आधारभूत बात यह है कि लेखक के पास कहने के लिए 'विषय वस्तु' या 'थीम' अवश्य होनी चाहिए। उसे यह अवश्य ही ज्ञात होना चाहिए कि वह क्या कहना चाहता है ताकि पाठक भी यह ठीक से समझ सकें कि लेखक कहना क्या चाहता है। इसे स्पष्ट करने के लिए किसी भी सफल पत्रिका की विषय-सूची से लेखों के शीर्षक लिए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए 'विज्ञान' के जनवरी-मार्च 1986 अंक से यहाँ कुछ शीर्षक दिए जा रहे हैं—'भारतीय पर्यावरण की वर्तमान स्थिति', 'नाभिकीय युद्ध की विभीषिका', 'जल प्रदूषण और जल-वाहित रोग', 'गंगा की व्यथा कथा और पुनरुद्धार', 'क्या पर्यावरण आन्दोलन ग़ैर वैज्ञानिक हो चला है ?' इसमें से प्रत्येक की विषयवस्तु के सम्बन्ध में क्या कोई सन्देह है ?

अर्थात् ये दोनों आधारभूत बाते हैं—'वर्ग विशेष के लिए लिखना' और कहने के लिए अपने पास 'कथ्य' का होना। इसके बाद हम लिखने के 'तरीक़े' और 'शैली' पर आते हैं।

यह बुद्धिमानी होगी कि आप जो कुछ लिखना चाहते हैं उस पर भली-भाँति चिंतन-मनन कर लें ताकि लिखने के पहले आप विषय को अच्छी तरह से समझ लें। आप जो कुछ लिखने जा रहे हैं, यदि उसे

आपने समझ लिया है तो अपने विचारों को पाठकों तक संप्रेषित करने में आपको कठिनाई नहीं होगी।

समान महत्व की एक और बात है 'परिशुद्धता'। इस परिशुद्धता से मेरा तात्पर्य 'तथ्य' और भाषा की 'सुस्पष्टता' से है। हो सकता है आप में से बहुतों ने अमेरिकी लेखक **कॉर्नेलियस रिआन** (Cornelius Ryan) की पुस्तक 'द लांगेस्ट डे' और द्वितीय विश्व युद्ध से संबंधित अन्य पुस्तकें पढ़ी हों। **रिआन** का 'तरीक़ा' परिशुद्धता पर आधारित था। एक पुस्तक को लिखने के लिए उन्होंने अमेरिका, ब्रिटेन, कनाडा और जर्मनी के समाचार पत्रों में प्रसिद्ध योद्धाओं से साक्षात्कार के लिए विज्ञापन दिए। 6,300 व्यक्तियों के उत्तर उन्हें प्राप्त हुये, जिसमें से 1000 लोगों से साक्षात्कार किया और 400 के साक्षात्कार पुस्तक में सम्मिलित किए। यह जानते हुये कि **रिआन** किस प्रकार के लेखक थे और उनके शोध सहायक कितने दक्ष थे, हमें यह मानना ही होगा कि उन्होंने तथ्यों की बारीक़ी से जाँच की होगी।

किन्तु क्या सुस्पष्टता और परिशुद्धता ही पर्याप्त हैं? ऐसे बहुत से स्थापित ख्यातिप्राप्त लेखक हैं जिनका यह निश्चित मत है कि अच्छे लेखन के लिए मात्र ये बातें ही पर्याप्त नहीं। इन सब के बावजूद या यों कहें कि इन सब के ऊपर किसी भी अच्छे लेखन का जो सर्वाधिक आवश्यक तत्त्व है, वह है 'रोचकता'। लेखन में आदि से अन्त तक रोचकता बनी रहनी चाहिए। उबाऊ लेखन भला किसे पसंद आयेगा? पर प्रश्न यह है कि लेखक पाठक में रुचि कैसे उत्पन्न करे? आरामकुर्सी में आराम कर रहे व्यक्ति को लेखक इस बात के लिए कैसे राज़ी करे कि उसके सामने जो मुद्रित सामग्री पड़ी है उसे वह पढ़ने को विवश हो?

यहाँ यह बता देना समीचीन होगा कि विषय-वस्तु से निश्चय ही अन्तर पड़ता है। उदाहरण के लिए 'आम' या 'हाथी' में बहुतों की रुचि हो सकती है, किन्तु 'जैवतकनीक' की बारीकियों को जानने में कम लोग ही रुचि रखते हैं। पर लेखक के विषयवस्तु की बात छोड़कर यहाँ हम किसी भी लेख को रुचिकर बनाने संबंधी कला के विषय में बात करेंगे, जो किसी भी लेखक को उपलब्ध हो सकती है।

एक है, 'गल्प कला' या 'फ़िक्शन तकनीक', जिसमें ऐसा लगता है जैसे पहले ही पैराग्राफ से लेखक कोई कहानी कह रहा हो, यथा—'पिछले रविवार को एक सुहावने शाम के समय'…।

एक दूसरी कला है, किसी 'कथा, उपाख्यान या जीवन की झाँकी का इस्तेमाल'। एक गंभीर लेख में किसी रोचक घटना, कथा का उल्लेख किसी एक ख़ास बिन्दु को व्याख्यायित करने में सहायक होता है। हम अपने अतीत, अपनी प्राचीन संस्कृति और पूर्वजों को प्यार करते हैं; कथा—कहानी, चुटकुले, उपाख्यान हमें बाँधे रखते हैं और आनन्द देते हैं।

एक तीसरी शैली है बड़े-बड़े पैराग्राफों के स्थान पर 'छोटे-छोटे पैराग्राफों का उपयोग'। आपके अपने विचारों के बीच-बीच में महान लेखकों की रचनाओं से उद्धरण, गंभीर विषयवस्तु के बीच में हल्की-फुल्की सामग्री, प्रश्नों और उत्तरों का इस्तेमाल आदि विषय को रुचिकर और अधिक ग्राह्य बनाते हैं। लेख की गति (पेस) में परिवर्तन से नीरसता नहीं आने पाती।

चौथा तत्त्व है 'विस्तृत विवरण'। एक गल्प लेखक किसी दृश्य (सीन) या चरित्र (कैरेक्टर) के विस्तृत वर्णन से नाटकीयता लाता है। गंभीर विषयों के रचनाकार भी ऐसा प्रयोग कर सकते हैं।

और अन्त में 'रंगों का इस्तेमाल'। रंगों से यहाँ तात्पर्य है शब्दों का इस प्रकार का चयन कि उन शब्दों से बुने गए विवरण का चित्र पाठक के सामने उपस्थित हो जायें। ऐसे शब्दों का इस्तेमाल जिससे लेखक और पाठक में तारतम्य स्थापित हो जाये। पाठक लेखक की आँखों से देखे और उसी रोमांच का अनुभव करे जिसे लेखक ने किया है।

वैसे सच पूछा जाये तो लेखन का ऐसा कोई रहस्य नहीं, गुर नहीं जो बताया जा सके। लिखना लिखते-लिखते, निरंतर लिखने से, आता है। आप छप रहे हैं और लिखना आ गया अथवा आप नहीं छप रहे हैं इसलिए लिखना नहीं जानते, ऐसा नहीं है। प्रत्येक सफल लेखक को अपने लेखन के प्रारंभिक काल में असफलता का सामना करना पड़ता है। कई बार अच्छे लेख किसी विशेष कारणवश वापस लौटा दिए जाते हैं।

हाँ, अच्छा हो यदि अपने लेख के आप स्वयं सम्पादक बन जायें। लिखने के लिए उसी विषय को चुने जिसे आप समझते हों। लिखने के बाद उसे कुछ दिनों के लिए रख दें। फिर जब आप उसे पुनः पढ़ेंगे तब उसमें आपको अनेक त्रुटियाँ नज़र आयेंगी, कमियाँ उभर कर सामने आ जायेंगी। आपको स्वयं ही लगेगा कि यदि आपने उसी समय किसी पत्रिका में प्रकाशन के लिए भेज दिया होता तो निश्चय ही रचना वापस लौट आती। इसलिए अपने लेखों के सम्पादक आप स्वयं बनें। रचनाधर्मिता कठिन है, सम्पादन अपेक्षाकृत सरल। यदि आपकी सुन्दर रचना किसी छोटी पत्रिका में छपे तो भी उसे निश्चय ही साधुवाद मिलेगा, किन्तु सम्पादन के क्षेत्र में तभी यश मिलेगा जब पत्रिका यशस्वी हो। अतएव नये लेखकों को मेरा सुझाव है कि वे किसी सम्पादक का अनुसरण न करके किसी अच्छे सफल लेखक का अनुसरण करें और यशस्वी लेखक बनें। सम्पादक का अनुसरण न करने की सलाह मैं इस कारण दे रहा हूँ क्योंकि प्रायः पत्रिका के पृष्ठों को पूरा करने के लिए और पत्रिका समय से निकल जाये, इस बात को ध्यान में रखकर सम्पादक को बहुत कुछ जल्दी में लिखना पड़ता है। वैसे लेखन में मौलिकता बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि आप नकल किसी की भी न करें।

हाँ, यदि आप लेखन के क्षेत्र में प्रवेश के इच्छुक हैं, भाषा पर अधिकार नहीं है, अथवा हिन्दी भाषी नहीं हैं तो भी राष्ट्रभाषा हिन्दी की पूजा-अर्चना और विज्ञान की सेवा से दूर न रहें, लिखें अवश्य। **जे० बी० एस० हाल्डेन** का तो यहाँ तक कहना था कि जो लोग लिख सकते हैं, पर लिखते नहीं, वे अपराध कर रहे हैं। इसलिए आप अवश्य लिखें। 'विज्ञान' में आपका स्वागत है।

अपनी बात को मैं अब और आगे न बढ़ाकर एक घटना का ज़िक्र करते हुये समाप्त कर रहा हूँ। घटना इस प्रकार है—

एकबार एक युवा लेखक ने प्रसिद्ध नाटककार **बरनार्ड शॉ** से पूछा था—"क्या कोई व्यक्ति अपने आपको प्रशिक्षण देकर लेखक बना सकता है?" **शॉ** ने उसे सलाह दी थी—"किसी अच्छे विश्वकोष के पन्ने पलटते जाओ, जब कोई दिलचस्प चीज़ मिले तो उसे पढ़ डालो।" शॉ का कहना था कि लिखना जानना व्यर्थ है, अगर आपके पास कहने को कुछ न हो। और आप में साहित्यिक क्षमता है तो शब्द अपने आप आ जायेंगे। "यदि ये आपके पास नहीं हैं तो आपको अभिव्यक्ति का कोई और उपाय खोजना चाहिए।" इस घटना का उल्लेख शॉ की सेक्रेटरी (सचिव) **ब्लांश पैच** ने अपने संस्मरणों में किया है।

शुभ कामनाओं सहित।

आपका

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

मधुरम् मधुरम्

डॉ० शिवगोपाल मिश्र

अनुमान है कि एक हफ्ते में हर व्यक्ति 750 ग्राम चीनी खाता है। यह मात्रा इससे कम या अधिक हो सकती है। यदि आप मधुमेह के रोगी हैं तो यह मात्रा कम हो जावेगी और यदि आप अधिक मीठा प्रिय हैं तो यह मात्रा बढ़ जावेगी। लेकिन यह तथ्य है कि चीनी हर एक को प्रिय है और हमारे भोजन का अविभाज्य अंग है। दाँत के डाक्टर लाख उलाहना देते रहें कि चीनी से दाँतों का क्षय होता है लेकिन चीनी का उपयोग कौन छोड़ पाया है। चाहे चाय या काफी की तिताई को दूर करने के लिए हो, चाहे फलों की खटास को दूर करने के लिए, या कि भोजन के स्वाद को सुधारने के जिए—सर्वत्र चीनी ही काम आती है।

प्राचीनकाल में शहद ही मधुरता का एकमात्र स्रोत थी—नाम भी मधु था। बाद में जब खेती प्रारम्भ हुई तो गन्ना उपजाया जाने लगा। भारत में 3000 ई० पू० गन्ने की खेती होती थी किन्तु यूरोप में तो 800 ई० के आसपास इसनी खेती की जाने लगी। गन्ने से प्राप्त मधुर पदार्थ गुड़, शक्कर या चीनी थे। रासायनिक भाषा में चीनी को सुक्रोस कहते हैं। शहद में तथा सुक्रोस में रासायनिक भिन्नता होती है। सुक्रोस मूलतः उतना मीठा नहीं होता जितना फ्रुक्टोस है। वैज्ञानिकों ने मिठास की खोज करते हुए चीनी के अनेक विकल्प खोज निकाले हैं किन्तु क्या इनमें से कोई भी यौगिक चीनी का स्थान ग्रहण कर सकेगा? आज तक चीनी का अनुकरण नहीं हो पाया। उसके जैसे स्वाद ढूंढ पाना कठिन है। यही नहीं, चीनी बिना बिगड़े दीर्घकाल तक ठीक बनी रहती है। गन्ना चीनी का सबसे सस्ता स्रोत है। गरीब किसानों के लिए गन्ने की छोई ईंधन का काम देती है। पाश्चात्य जगत् के लोग भले ही अन्य स्रोतों से मधुरता की पूर्ति करने का स्वप्न देखते रहें किन्तु भारत तथा तृतीय विश्व के लोगों के लिए चीनी मधुरता का प्रधान स्रोत बनी रहेगी। कितनी सस्ती, पाचन में कितनी सुगम और कितनी सुस्वादु है यह चीनी !

कृत्रिम मधुरक पदार्थ (Sweeteners)

कहा जाता है कि पहला कृत्रिम मधुरक पदार्थ रोमवासियों ने 'सापा' (Sapa) नाम से तैयार किया। वे अंगूर के रस को सीसा की बनी कड़ाहियों में उबालते थे जिससे अन्त में मीठी चाशनी प्राप्त होती थी। इसका कारण यह था कि अंगूर के रस में विद्यमान अम्ल सीसा के यौगिकों से संयोग करके 'सुगर आॅव लेड' (सीसे की चीनी) बनाते हैं। रोमवासी अंगूरी शराब की गुणता सुधारने के लिए सीसे का प्रयोग करते थे। यह 'सापा' वेश्याओं के लिए वरदान था। इससे उनके मुखमण्डल में पीत रंग उभरता था (वास्तव में सीसा से अनीमिया रोग हो जाता है जिससे पीतता या पाण्डुता उत्पन्न होती है।

रसायनशास्त्रियों ने मधुरता की खोज करनी प्रारम्भ की तो उन्हें ज्ञात हुआ कि आणविक संरचना ही इसका कारण है। अणु के भीतर परमाणुओं में थोड़े हेर-फेर में कृत्रिम मधुरता उत्पन्न की जा सकती है। इस तरह से अनेक नये मधुरक पदार्थ बनाये जा सके हैं। ऐसे पदार्थों में सैकरिन, साइक्लामेट, एस्पार्टेम, सनेट तथा एमीनो अम्ल प्रमुख हैं।

आइये, जरा विचार करें कि क्या चीनी को और अधिक मधुर नहीं बनाया जा सकता? इस कम्प्यूटर युग में किसी भी अणु में सम्भाव्य परिवर्तनों की गणना सम्भव है तो फिर चीनी के अणु में पाये जाने वाले कार्बन या हाइड्राकिसलों में उलट फेर करके नये मधुरक पदार्थ क्यों नहीं बनाये जा रहे? 1970 के दशक में चीनी से सैकड़ों गुना मीठा पदार्थ तथा क्विनीन जैसा तिक्त पदार्थ तैयार किया गया। अनेकानेक प्रयासों के फलस्वरूप सुक्रालोस नामक एक पदार्थ

तयार हो सका है जो चीनी से 650 गुना मीठा है। खाने के बाद यह जीभ में तिक्त प्रभाव नहीं छोड़ता, न ही यह कैंसरजनक है। कहते हैं कि मिठास त्रिभुजाकार (ग्लुकोफोर) होती है और चीनी में अधिक मिठास चीनी की संरचना में परिवर्तन के फलस्वरूप है।

सैकरिन की खोज 1879 में अमेरिकी रसायनज्ञ **इरा रेमसेन** तथा रूस में जन्मे **कान्स्टैन्टिन फालबर्ग** द्वारा 'जान हापकिन्स विश्वविद्यालय' में की गई। शीघ्र ही यह अत्यन्त लोकप्रिय हो चला। जिन लोगों को चीनी वर्जित थी, उनके लिए यह वरदान सिद्ध हुआ। इसका कारण यह है कि यह चीनी से 550 गुना मीठा है और 15 मिग्राम की टिकिया से 8000 मिग्रा चीनी के बराबर प्रभाव होता हैं। फिर हमारे शरीर में सैकरिन का उपापचय नहीं होता और अपरिवर्तित रूप में यह निष्कासित हो जाता है। कम मात्रा में लगने और आवश्यकता से अधिक मीठा होने से यह मधुर पदार्थ अत्यन्त लोकप्रिय हुआ किन्तु शीघ्र ही इसके प्रति आक्षेप किये जाने लगे। हुआ यह कि जब चूहों को सैकरिक की प्रचुर मात्रा खिलाई गई तो उन्हें रक्त कैंसर होने लगा। किन्तु सैकरिन के समर्थकों का कहना था कि चूहों को दी गयी मात्रा उतनी ही है जितनी कि प्रतिवर्ष 3000 डिब्बे (बोतल) कोकाकोला पीने से प्राप्त होती। अब तो सैकरिन पर प्रतिबन्ध लग चुका है।

1937 ई० में **माइकेल स्वेडा** ने एक मधुर पदार्थ की खोज की। इसका नाम पड़ा **साइक्लामेट**। यह अन्य पदार्थों की अपेक्षा दशमांश ही मीठा होता है अतएव इसकी प्रचुर मात्रा लेनी पड़ती है। 1960 ई० के दशक में संयुक्त राज्य अमेरिका के बाज़ार इससे पट गये लेकिन जब पता लगा कि इससे मूत्राशय कैंसर हो सकता है तो 1970 ई० में ग्रेट ब्रिटेन तथा उत्तरी अमेरिका में इसके उपयोग पर प्रतिबन्ध लग गया। फिर भी आस्ट्रेलिया तथा कनाडा में इसका उपयोग जारी है और प्रतिवर्ष 2000 टन **साइक्लामेट** बिकता है।

1965 ई० में **जेम्स स्कलेटर** ने संयोग वश एक नवीन मधुर पदार्थ **'ऐस्पार्टेम'** की खोज की। यद्यपि कुछ काल के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका में इस पदार्थ पर भी प्रतिबन्ध लगा था किन्तु अब धड़ल्ले से बिकता है और प्रतिवर्ष 1 मिलियन डालर की बिक्री होती है। इसमें दो ऐमीनो अम्ल होते हैं। वे परस्पर संयुक्त रहते हैं और दोनों का सरलता से उपापचयन हो जाता है। इनमें से एक एमीनो अम्ल **फेनिल एलानीन** है। इसके अधिक उपयोग से **फेनिल कीटोन यूरिया** नामक अवस्था उत्पन्न होती है, यही इसका दोष है। यह जल में अविलेय मधुर पदार्थ है। किन्तु गरम करने पर तुरन्त ही विघटित हो जाता है अतएव भोजन पकाते समय व्यर्थ हो जाता है।

1967 में एक और मधुरक पदार्थ **कार्ल क्लाम्स** को मिला। एक दिन उसने अपनी अंगुली चाटी तो उसे मीठी लगी। तब उसने इसे खोज निकाला। इसमें भी सैकरिन तथा साइक्लामेट की तरह गंधक तथा नाइट्रोजन रहता है लेकिन इसकी बुरा पार्श्व प्रभाव नहीं देखा गया। गरम करने पर यह विघटित नहीं होता और शरीर में सरलता से उपापचयित हो जाता है फलतः यह ऐस्पार्टेम की अपेक्षा उत्तम है। इसका नाम **सनेट** (Sunnett) रखा गया।

इस नवीन मधुरक पदार्थ की खोज के बाद अधिक स्थायी ऐमीनोअम्ल मधुर पदार्थों की खोज की ओर ध्यान गया फलस्वरूप **थोमैटिन** जैसे स्थायी उत्पाद की प्राप्ति की जा सकी। कहते हैं कि पश्चिमी अफ्रीका में ऐसा पौधा पाया जाता है जिसमें यह मधुरक विद्यमान होता है। यह चीनी की अपेक्षा 3000 गुना अधिक मीठा होता है। यहीं नहीं, यह पशुओं के भार को विशेषतया सुअरों के भार को बढ़ाने वाला है। इससे पशु अधिक चारा खाते हैं।

तात्पर्य यह है कि कृत्रिम मधुरता भी मधुरता है किन्तु कहाँ मधु की मधुरता अथवा ईख की मधुरता और कहाँ उन कृत्रिम पदार्थों की मधुरता। मधुरता के त्रिभुजाकार स्वरूप की परिकल्पना रसायनज्ञों को अधिकाधिक पदार्थों की खोज के लिए प्रेरित करती रहेगी।□□

सजावटी पौधों के लिए सूक्ष्मप्रवर्धन तकनीक

मनोज कुमार पटैरिया

सजावटी फसलों का प्रवर्धन प्रायः कुछ अधिक कठिन होता है, अपेक्षाकृत शाकीय फसलों और अनाज फसलों के, जो साधारणतया बीजों द्वारा आसानी से प्रवर्धित कर ली जाती हैं। सजावटी फसलों की अनेक चुनी हुई प्रजातियों का प्रवर्धन परंपरागत रूप से किया जाता है, जिसमें कलमों द्वारा प्रवर्धन, गूटी प्रवर्धन, प्रकंद-रोपण तथा ऐसी ही अन्य विधियाँ शामिल हैं, जो अत्यधिक श्रम और समय को खपाने वाली होती हैं। इस समस्या के समाधान के लिए अत्याधुनिक जैवप्रौद्योगिक पौध ऊतक संवर्धन द्वारा सूक्ष्मप्रवर्धन (माइक्रोप्रोपेगेशन) की तकनीक खोजी गई है, जो कि निश्चित रूप से निर्धारित परिस्थितियों में एक आकर्षक विकल्प प्रस्तुत करती है।

कार्नेल विश्वविद्यालय में पादप वैज्ञानिक, पौधशाला व्यवसाय में अनेक काष्ठिल पौधशालीय फसलों के सूक्ष्मप्रवर्धन हेतु सूक्ष्मप्रवर्धन के सुधरे हुए तरीकों के विकास के लिए कार्य कर रहे हैं। सूक्ष्मप्रवर्धन की इस विधि में पौधे के ऊतक के छोटे से हिस्से का (कलिका के आकार का या छोटा) संवर्धन सूक्ष्मजीव मुक्त परिस्थितियों में तथा कृत्रिम पोषण माध्यम से परखनली या उसी समान जार में किया जाता है। पारंपरिक प्रवर्धन की अपेक्षा इस तकनीक से लाभ यह है कि इससे रोगोत्पादक मुक्त पौधे प्राप्त होते हैं, इनकी वृद्धि दर अधिक होती है, तथा इनको उगाने के लिए सीमित स्थान ही पर्याप्त होता है। यद्यपि इस तकनीक में आरम्भिक पूंजी निवेश काफी होता है और प्रयोगशाला खर्च भी काफी आता है।

तथापि विश्वभर में ग्रीन हाउस फसलों-विशेषकर फर्न तथा आर्किडों के लिए सूक्ष्मप्रवर्धन तकनीक के अत्यधिक महत्व को स्वीकार कर लिया गया है, जब कि उद्यानीय काष्ठिल फसलों के उत्पादक इस तकनीक को अपनाने में धीमे रहे हैं। इसका कारण यह भी है कि सामान्य प्रवर्धन के सापेक्ष ही काष्ठ पौधों का सूक्ष्म प्रवर्धन भी कम कठिन नहीं है।

वाणिज्यिक अनुप्रयोग

न्यूयार्क की एक राजकीय पौधशाला ने इस क्षेत्र में एक सार्थक प्रतिबद्धता को पूरा किया है, नाम है—'कोंगडोन एंड वेलर होलसेल नर्सरी', जिसका मुख्यालय उत्तरी कॉलिस में स्थित है। इस पौधशाला ने 1,000 एकड़ भूमि पर पौधों, मुख्यतया सजावटी वृक्षों और झाड़ियों, को बड़ी संख्या में इस विधि से उगाया है। छोटे फलों, रसभरी, कालीबेरी, अंगूर और यहाँ तक कि कीवीफल की कठोर जातियों को भी पर्याप्त मात्राओं में उगाया है। वास्तव में इस पौधशाला ने सर्वप्रथम सूक्ष्मप्रवर्धन तकनीक से विषाणु अभिलिखित लाल रसभरी को उगाया और यह विषाणु अभिलिखित लाल रसभरी उत्पादन की सर्वप्रमुख फल है। यह लाल रसभरी अधिक कीमती होने के बावजूद भी उपभोक्ताओं द्वारा प्रमुखता से खरीदी जाती है। पारंपरिक तौर-तरीकों से इनका उत्पादन अधिक कठिन तथा ज्यादा खर्चीला होता है, क्योंकि विषाणु-वाहकों, कृमियों और कीटों से इनकी सुरक्षा के लिए मृदा-धूमन, नाशक कीटनाशी का छिड़काव, और भौतिक पृथक्करण करना पड़ता है।

इन महँगी संक्रियाओं द्वारा प्रवर्धन की अपेक्षा सूक्ष्मप्रवर्धन कहीं अधिक प्रभावशाली एवं उपयोगी है। इससे दो वर्ष में 30,000 पौधे तैयार किए जा सकते हैं, जबकि सामान्य तरीकों में इतने ही पौधे तैयार होने में तिगुना समय अर्थात 6 वर्ष लगते हैं। सूक्ष्मप्रवर्धित पौधों को जब खेतों में रोपा जाता है तो वे सामान्य तरीकों द्वारा प्रवर्धित पौधों की तुलना

प्रकाशन एवं सूचना निदेशालय, सी. एस. आई. आर., हिलसाइड रोड, नई दिल्ली—110012.

में अधिक तेज़ी से पनपते हैं तथा एक समान रूप से विकसित होते हैं।

सूक्ष्मप्रवर्धन तकनीक

किसी प्रास्पी फसल जैसे कि रसभरी का सूक्ष्मप्रवर्धन करने के लिए सर्वप्रथम पौधे के प्ररोह छद के वर्धी भाग को अलग कर के रोगाणुमुक्त किया जाता है तत्पश्चात् इसे परखनली में रोगाणुमुक्त पोषण माध्यम में रखा जाता है। इसे प्रथम चरण कहते हैं। एक बार वृद्धि आरंभ हो जाने पर प्ररोह को **फाइटोहार्मोन साइटोकिसेनयुक्त** माध्यम में स्थानांतरित कर दिया जाता है। इस हार्मोन के प्रभाव से प्ररोह में से तेज़ी से पार्श्व कलिकाएँ फूट आती हैं। इसे प्रविधि का द्वितीय चरण कहते हैं। इस बिंदु से पौधा प्ररोहों में विभक्त होने लगता है। ये लगभग एक इंच से कम होते हैं, किन्तु कोई जड़-तंत्र विकसित नहीं होता है। लगभग 5 सप्ताह बाद ये प्ररोह गुच्छ पुनर्विभक्त होने लगते हैं, जिससे **स्कैल्पेल** और **फोसेप्स** बनते हैं। इनमें से विभाजन से बने प्रत्येक प्ररोह को पृथक नये विभाजन माध्यम में स्थानांतरित कर दिया जाता है, जहाँ पर उपर्युक्त चक्र पुनः पूरा होता है और इसे बार-बार तब तक दोहराया जाता है, जब तक कि इच्छित संख्या में नवोद्भिद प्राप्त नहीं हो जाएँ। इन्हीं इनविट्रो (परखनली में) परिस्थितियों में ही कुछ सूक्ष्मप्रवर्धित फसलों में जड़ें भी उगाई जातीं हैं। इसे क्रिया का तीसरा चरण कहते हैं। फिर इन जड़रहित या जड़युक्त नवोद्भिदों को प्रयोगशाला परिस्थितियों से बाहर निकाला जाता है, और सूक्ष्मकलमों की भाँति ग्रीनहाउस में रोपित कर दिया जाता है, जो विशेष तौर पर इस कार्य हेतु परिवर्तित किये गये होते हैं। इनमें प्रकाश तथा अन्य मूल आवश्यकताओं का पर्याप्त प्रबंध किया जाता है, ताकि पौधे सुनिश्चित रूप से पनप सकें।

संभावनाएँ और समस्याएँ

कंटीली झाड़ियों के साथ ही कोंगडोन प्रयोगशाला अब कुछ अन्य फसलें भी सूक्ष्मप्रवर्धन द्वारा उगा रहा है। इनमें फ्रेंच संकर लाइलेक, जंगली सेब, अंगूर, स्ट्राबेरी और हार्डी फल सम्मिलित हैं।

यद्यपि सूक्ष्मप्रवर्धन के अपने अनेक फायदे हैं, जोकि काफी महत्वपूर्ण भी हैं, किन्तु यदि इसे पूरी तरह से परेशानीमुक्त कहा जाए, तो ऐसी बात भी नहीं है। कुछ जातियों को उगाने पर विशेषकर लाइलैक और अंगूरों के इस विधि से नवोद्भिद तैयार करके ग्रीनहाउस में रोपने पर अच्छे परिणाम नहीं मिले हैं। अन्य निरीक्षणों से कुछ और जटिलताओं का पता चला है, जिनमें से एक यह है कि सूक्ष्मप्रवधित पौधे खेत में खरपतवारनाशी या कीटनाशी से ज्यादा प्रभावित होते है, जबकि सामान्य प्रवधित पौधों पर इनका प्रभाव कम होता है। **कोंगडोन एवं वेलर** ने इन समस्याओ तथा सूक्ष्मप्रवर्धन सम्बन्धी अन्य समस्याओं के समाधान के लिए बहुत तेज़ कदम उठाए हैं। सूक्ष्मप्रवर्धित लाइलैक में अनियमितताओं का पता लगाने के लिए संयुक्त अनुसंधान किए जा रहे हैं। कुछ प्रजातियों को इस विधि से उगाने पर उनकी पत्तियाँ लिपट जाती हैं तथा वृद्धि दर धीमी रहती है। वैज्ञानिकों ने इसके समाधान के लिए पता लगाया है कि यदि पोषण माध्यम में थोड़ा सा सक्रियित चारकोल मिला दिया जाए तो बड़ी मात्रा में पत्ती के लिपटने को रोका जा सकता है।

जो-नील न्यूयार्क में फल एवं सजावटी उद्यान विज्ञान विभाग में एक खरपतवार वैज्ञानिक हैं। वे प्रयोगों द्वारा इस बात का पता लगा रहे हैं कि पारंपरिक विधियों द्वारा प्रवर्धित पौधों की अपेक्षा सूक्ष्मप्रवर्धित पौधों पर जैवनाशियों का कैसा प्रभाव पड़ता है। इस तरह से इस आशाप्रद एवं प्रबल संभावनापूर्ण जैवतकनीक को अधिक उपयोगी तथा परिष्कृत बनाने के लिए विभिन्न स्तरों पर अनुसंधान किए जा रहे हैं। भारत में भी इस तकनीक के बड़े स्तर पर इस्तेमाल की पर्याप्त संभावनाएँ दृष्टिगोचर होती हैं।☐☐

बूलीय गणित : कंप्यूटरों की संचालक शक्ति

आशुतोष मिश्र

कंप्यूटर जैसे "बुद्धिमान" यंत्र को देखकर एक प्रश्न मस्तिष्क में उठना स्वाभाविक है—"आखिर इसके पीछे वास्तविक संचालन शक्ति क्या होती है? मनुष्य तो इतने लम्बे गणितीय प्रश्नों को न जाने कितनी देर में हल कर पाता— फिर कंप्यूटर इतनी शीघ्रता से सब कुछ कैसे हल कर लेता है?" इस शताब्दी के सर्वाधिक उपयोगी आविष्कारों में कंप्यूटर अग्रणी है। जरा विचार तो कीजिए—एक छोटी सी सिलिकॉन चिप अपने में न जाने कितनी सामग्री (सूचनाएँ) एकत्रित रख सकती है? आगे आने वाले लेखों में कंप्यूटर को आपके समक्ष इस रूप में रखा जाएगा कि वह आश्चर्य की वस्तु न रहकर, गणित एवं इलेक्ट्रॉनिकी का अद्‌भुत संयोग प्रतीत होगा।

कंप्यूटर गणित

ऐसा नहीं है कि कंप्यूटर बिना किसी गणना (Calculation) से ही बड़ी-बड़ी संख्याओं को जोड़, घटा आदि सकता है। अन्तर इतना है कि उसमें प्रयुक्त होने वाली गणित, आम गणित से कुछ भिन्न होती है। क्योंकि —(1) सारी गणनाएँ अत्यन्त तीव्र गति से होनी चाहिए (2) कंप्यूटर को भिन्न-भिन्न अंकों तथा अक्षरों को पहचानने में दिक्कत नहीं होनी चाहिए, (3) विधि ऐसी होनी चाहिए कि वह छोटी से छोटी और सरल से सरल हो। आप खुद ही सोचिए, 0 से लेकर 9 तक संख्याएँ और A से लेकर Z तक अक्षर याद करने में ही बच्चों को वर्ष भर से ऊपर लग जाता है। क्योंकि हर अंक व प्रत्येक अक्षर की भिन्न ज्यामितीय आकृति होती है—उसे याद करना कठिन होता है। कंप्यूटर को यह प्रचलित प्रणाली स्वीकार्य नहीं—इसलिए आवश्यकता है एक ऐसी पद्धति की जो ऊपर दिए हुए सभी गुणों का समावेश रखती हो। इसी आवश्यकता को ध्यान में रखकर एक नवीन संख्या पद्धति—**द्विआधारी संख्याएँ** (Bniary Numerals) ईजाद किए गए। इसमें सभी संख्याओं को शून्य (0) तथा एक (1) द्वारा व्यक्त किया जाता है। कंप्यूटरो में द्विआधारी संख्याओं का प्रयोग एक विशेष प्रकार से किया जाता है। आइए देखें द्विआधारी संख्याएँ होती क्या हैं? बाइनरी (Binary) का अर्थ होता है—"दो के आधार (bese) पर।" किसी भी संख्या को द्विआधारी रूप में परिवर्तित करना अत्यन्त सरल है—दी गई संख्या को दो से भाग देते जाइए और शेष (Remainders) को उल्टे क्रम (Inverse order) में लिखते जाइए।

उदाहरण स्वरूप :

5 को यदि द्विआधारी रूप में बदलना हो—

		शेष
2	5	
2	2	—1
2	1	— 0
	0	—1

उत्तर : 101

14 को यदि द्विआधारी संख्या में बदलना हो—

		शेष
2	14	
2	7	—0
2	3	—1
2	1	—1
	0	—1

उत्तर : 1110

द्विआधारी संख्या पद्धति के कुछ सरल नियम हैं जिनकी चर्चा यहाँ नहीं की जा रही है क्योंकि इसके लिए लेख को बहुत विस्तृत करना पड़ेगा। ये नियम आम गणित के नियम की भाँति ही होते हैं। इतना अवश्य होता है कि सभी गणनाएँ जो उत्तर देती हैं, वह शून्य अथवा एक के ही रूप में होता है, अन्य किसी रूप में नहीं। इस कारण कंप्यूटर को कार्य करने में विशेष सुविधा होती है।

25 अशोक नगर, इलाहाबाद

कंप्यूटरों का प्रयोग तीन प्रकार की समस्याओं के हल के लिए होता है—

1. गणितीय (Mathematical)
2. तार्किक (Logical)
3. दोनों का मिश्रण

द्विआधारी संख्या पद्धति में अंकों को तो 0 तथा 1 से प्रदर्शित कर सकते हैं, परन्तु अक्षरों को कैसे व्यक्त किया जाए? कंप्यूटर में इसके लिए एक **द्विआधारी कोड** (Binary Code) जिसे "Extended Binary Coded Decimal Interchange Code" अथवा E B C D I C (**ईबसीडिक**) कहते हैं, प्रयोग में लाया जाता है। इस कोड के विशिष्ट गुण हैं—

(1) एक **संप्रतीक** (Character) को आठ **द्विआधारी अंकों** (Binary Digits) अथवा bits (बिट्स) द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। [संप्रतीक: वे सभी चिह्न जिनका प्रयोग कंप्यूटर प्रोग्रामन में किया जाता है, जैसे "blank", "+", "×", "=", "A", "B", "I", आदि एक सभी विशिष्ट संप्रतीक (character) हैं।]

EBCDIC कोड के कुछ संप्रतीकों का प्रदर्शन इस प्रकार होता है।

रिक्त (brank)	**01000000**
+ (जोड़)	**01001110**
A	11000001
Z	11101001
1	11110001
9	11111001

(2) आठ बिट्स के समूह को एक **बाइट** कहते हैं।

(3) प्रत्येक संप्रतीक को एक विशिष्ट बाइट द्वारा ही प्रदर्शित किया जाता है।

(4) चूंकि एक बाइट में आठ **बिट** होती हैं इसलिए कुल $2^8 = 256$ विशिष्ट संप्रतीक कंप्यूटर में एकत्रित किए जा सकते हैं।

आजकल कंप्यूटरों के विभिन्न विज्ञापनों में आप "Kb" शब्द का प्रयोग पाएँगे जैसे 640 Kb, 750 Kb; इसका अर्थ होता है कि अमुक कंप्यूटर की स्मृति (Memory) की क्षमता इतने **किलो बाइट** (I Kb = 1000 byte) है—जिस कंप्यूटर में जितनी अधिक यह क्षमता होगी, वह उतना ही अधिक मंहगा होगा।

बूलीय बीजगणित : कंप्यूटर का आधार

कंप्यूटर की वास्तविक उपयोगिता तार्किक समस्याओं को हल करने में होती है। यहाँ पर तार्किक समस्याओं का अर्थ स्पष्ट कर देना उचित होगा। इसके अन्तर्गत हम जिन समस्याओं को रखते हैं, वे कुछ इस प्रकार की होती हैं—

(i) दिए गए कथनों के आधार पर निष्कर्ष निकालना।
(ii) किसी कथन की प्रामाणिकता की जाँच करना।
(iii) आंकड़ों को ध्यान में रखकर अनुकूल परिस्थिति का निर्माण करना।

आमतौर पर समस्याएँ मात्र तार्किक अथवा गणितीय न होकर दोनों का सम्मिश्रण होती हैं। कंप्यूटर पर तैयार होने वाले परीक्षाफल को ही ले लीजिए—विषयों में प्राप्त अंकों को जोड़ना, व प्रतिशत निकालना तो गणितीय समस्या है, परन्तु प्राप्तांकों के आधार पर श्रेणी निर्धारित करना, विशिष्ट योग्यता वाले विषयों को चुनना या फिर "**पास**", अथवा "**फेल**" घोषित करना तार्किक समस्याएँ हैं।

कंप्यूटर साधारणतया हमारी बोल-चाल की भाषा नहीं समझ सकता—उसे संकेतों के आधार पर ही अकड़े दिए जा सकते हैं, और उनसे निष्कर्ष निकाला जा सकता है। सन् 1854 में अंग्रेज गणितज्ञ **जार्ज बूल** ने गणित की एक ऐसी शाखा को जन्म दिया जो आज हमारे लिए अत्यन्त लाभकारी सिद्ध हो रही है। अपनी पुस्तक "*An Investigation of the Laws of thought on which are founded the Mathematical theories of Logic and Probability*" में उन्होंने तर्कशास्त्र

में प्रयुक्त शब्दों के स्थान पर संकेतों (Symbols) के प्रयोग की युक्ति विश्व के सम्मुख रखी । **बूल** के समय में लोगों को इसका अधिक महत्व समझ में न आया, इसलिए उन्हें अधिक प्रसिद्धि न मिली। **बूलीय बीजगणित कथनों को वैध** (True) अथवा **अवैध** (False) **घोषित करती है,** इस कारण, कंप्यूटर बूलीय बीजगणित का समावेश आसानी से अपने में कर सकता है । कंप्यूटर वास्तव में **स्विचों** का एक 'जंजाल' सा होता है, जो निरन्तर "ऑन", "ऑफ" होते रहते हैं । इसे निम्न सारणी से दर्शाया जा सकता है—

कथन (Statement)	बूलीय गणित	स्विच की स्थिति
सत्य	1	ऑन
असत्य	0	ऑफ
p अथवा q	p + q	स्विच समान्तर में
p तथा q	p . q	स्विच श्रेणी में

इस सारणी से यह स्पष्ट हो जाता है कि कथनों, बूलीय गणित, तथा स्विचों की अवस्था में होने वाला साम्य ही कंप्यूटर को संचालित करता है।

कंप्यूटरों के बढ़ते उपयोग के साथ एक बात स्पष्ट रूप से देखने में आई है—वह यह कि आम आदमी जो आज कंप्यूटर-शिक्षा ग्रहण करने चलता है, वह इस बात की आवश्यकता ही नहीं समझता कि कंप्यूटर जैसी पेचीदा मशीन की वास्तविक संचालक शक्तियों को समझे। उसे तो इस बात की फिक्र रहती है कि कब वह जल्द से जल्द कंप्यूटर-भाषाएँ सीखे, कोर्स पूरा करे, और डिप्लोमा ग्रहण करे। इस पर रोक लगनी चाहिए । कंप्यूटर-शिक्षा में यंत्र प्रणाली (Hardware) को भी उतना ही स्थान मिलना आवश्यक है जितना बल प्रोग्रामन (Software) पर दिया जाता है है। तभी हमारे छात्र कंप्यूटर के प्रति इक्कसवीं सदी योग्य दृष्टिकोण बना सकने में सक्षम होंगे।□□

डॉ० रामालिंगास्वामी सम्मानित

हार्वर्ड विश्वविद्यालय ने 'आल इण्डिया इंस्टीट्यूट ऑव मेडिकल साइंसेज' के भूतपूर्व निदेशक **डॉ० रामालिंगास्वामी** के सम्मान में एक विशेष 'चेयर' और एक विशेष विभाग का सर्जन किया है।

जगदीश चन्द्र बोस पुरस्कार

जीव विज्ञान में उच्चस्तरीय शोध के लिए वर्ष 1983 के लिए बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी के **प्रो० डी० पी० बर्मा** और वर्ष 1984 के लिए कलकत्ता यूनिवर्सिटी के **प्रो० ए० एस० मुखर्जी** को 'जगदीश चन्द्र बोस पुरस्कार' प्रदान किया गया है ।

विज्ञान और समाज को आपस में मिलाने के लिए 'महाराष्ट्र एसोसिएशन फॉर कल्टिवेशन ऑव साइंस' (पुणे) के **प्रो० पी० वी० सुखात्मे** को वर्ष 1983 और 'स्पेस एप्लीकेशन्स सेन्टर' (अहमदाबाद) के परामर्शदाता **प्रो० ई० वी० चिटनिस** को वर्ष 1984 का पुरस्कार दिया गया है ।

भारतीय कृषिविज्ञानी को जापान का पुरस्कार

भारतीय कृषि विज्ञानी **श्री गुरदेव एस० कुश** उन दो वैज्ञानिकों में से एक हैं जिन्हें 'जापान साइंस एण्ड टेक्नालॉजी फाउन्डेशन' द्वारा 50 मिलियन येन (330,000 पाउण्ड) का पुरस्कार दिया गया है। श्री कुश को चावल की एक ऐसी प्रजाति विकसित करने का श्रेय है जिसके द्वारा एशिया में चावल की खेती में 'हरित क्रांति' का सूत्रपात हुआ ।

डॉ० सी० गोपालन सम्मानित

डॉ० सी० गोपालन को पोषण विज्ञान में सराहनीय योगदान के लिए लन्दन की '**रॉयल सोसायटी**' का फेलो (FRS) चुना गया है। डॉ० गोपालन 'न्यूट्रिशन फाउण्डेशन ऑव इंडिया' के वर्तमान अध्यक्ष हैं। आप हैदराबाद की 'नेशनल इंस्टीट्यूट ऑव न्यूट्रिशन' के 15 वर्षों तक निदेशक और 'इण्डियन कौंसिल ऑव मेडिकल रिसर्च' के महानिदेशक भी रह चुके हैं।

वनस्पति जगत् में रासायनिक सुरक्षा-व्यवस्था

डॉ० ओम प्रभात अग्रवाल

कल्पना कीजिये हरी-भरी वनस्पतियों से पूर्णतया विहीन इस पृथ्वी की, जहाँ रंग बिरंगे फूल न खिलते हों, जहाँ हवा चलने पर कोमल पत्तियों का मर-मर शब्द न होता हो और जहाँ सूर्य के चिलकते आक्रोश से त्राण पाने के लिये वृक्षों की ठंडी छाया न हो। कितना नीरस होगा वह जीवन और एकरस यह पृथ्वी। पर कभी सोचा है आपने कि पृथ्वी के चित्र-पटल पर विविध रंग भरने वाले ये पेड़-पौधे कैसे जीवित रह पाते हैं—कोटि-कोटि कीट-पतिंगों और पशु-पक्षियों की बुभुक्षा के आगे ? प्रकृति की ये मूक संतानें भाग नहीं सकतीं, चिल्ला नही सकतीं, अपनी सुरक्षा के लिये। इसीलिये इन्हें बरदान मिला है रासायनिक हथियारों का ताकि ये भी बची रह सकें--ठीक उसी प्रकार जैसे बत्तीस दाँतों के बीच जिह्वा।

वनस्पति जगत् में सुरक्षा के लिये रसायनों का प्रयोग कई प्रकार से किया जाता है। आक्रांता कीट-पतिंगों के लिये कुछ रसायन हलाहल या विष का कार्य करते हैं, कुछ उन्हें प्रतिकर्षित कर पास ही नहीं फटकने देते तथा कुछ उनके जीवन-चक्र की विभिन्न अवस्थाओं में अव्यवस्था उत्पन्न कर उनका विकास अवरुद्ध कर देते हैं। कई पेड़-पौधों में ऐसे रसायनों का उत्पादन बराबर होता रहता है जबकि कई अन्य में ऐसा आक्रमण की प्रतिक्रिया स्वरूप होता है। ये रसायन कितने विषैले हो सकते हैं, इसका अंदाज़ा इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि **नीकोटीन** तथा **रेटोनोन** ऐसे ही रसायन हैं जिनका कीटनाशी के रूप में उपयोग करना मनुष्य भी सीख गया है। अनेक कीड़ों में इन रसायनों की दूर से ही पहचान करने की क्षमता सिद्ध की जा चुकी है। ये कीड़े प्रकृति प्रदत्त अपनी इसी योग्यता के आधार पर सुरक्षित खाद्य का चुनाव करते हैं जब कि अन्य कम सौभाग्यशाली जीव अनजाने में मुँह मार कर अपने को संकट में डाल लेते हैं।

जीवन के लिये सबसे अधिक संघर्ष मरुभूमि की वनस्पतियों को करना पड़ता है। इसीलिये इनमें कई प्रकार की रासायनिक सुरक्षा-व्यवस्थायें देखी गई हैं। उदाहरणार्थ, **फैसीलिया** नामक पौधे की पत्तियों के रोमों में कई प्रकार के विषैले रसायन भंडारित रहते हैं। एक अन्य मरु-पौधे, **पार्थीनियम हिस्टेरोफोरस** (गाजर घास या काँग्रेस घास) की पत्तियों के रोमों में कीट-पतिंगों को प्रतिकर्षित करने वाले रसायनों का भण्डार पहचाना गया है। रेगिस्तान की कुछ वनस्पतियों में तो पृथ्वी में उपस्थित अपने हिस्से के दुर्लभ जल-भण्डार को सुरक्षित रखने की भी अद्वितीय व्यवस्था होती है। उनकी पत्तियों में ऐसे यौगिक होते हैं जो उनके भूमि पर झड़ कर गिरने के बाद विशेष अभिक्रियाओं द्वारा विषैले रसायनों में परिवर्तित हो जाते हैं। परिणामस्वरूप, निकट में कोई अन्य वनस्पति नहीं पनप पाती और इस प्रकार, आस-पास की भूमि के जल तथा पोषक तत्वों में हिस्सा-बाँट का प्रश्न ही नहीं उठता। **जुगलान्स** जाति के अखरोट वृक्षों में भी यह विशेषता पाई गई है। अमेरिका के कैलीफोर्निया राज्य की एक झाड़ी में भी इसी गुण वाले **टरपीन वर्ग के रसायन** पहिचाने गये हैं।

पैपीलियो पॉलिक्सीन नामक तितली **क्रूसीफेरी कुल** के पौधों (जैसे मूली, सरसों आदि) की ओर आँख उठा कर भी नहीं देखती जब कि **अम्बेलिफेरी** (तथा कुछ अन्य) **कुल** के पौधों की पत्तियों पर उसके लारवे बड़े आनन्द से पलते हैं। जब इसके कारणों की खोज की गई तो पता चला कि क्रूसीफेरी कुल के पौधों में एक विषाक्त रसायन **सिनग्रिन** की उपस्थिति के कारण

यू० एच०–8 मेडिकल एनक्लेव, रोहतक—124001

ऐसा होता है। वस्तुतः देखा गया है कि जब अम्बेलिफ़ेरी के पौधों में यह रसायन बाहर से प्रविष्ट करा दिया गया तो उन पर भी इस तितली के लारवे पल नहीं सके, शीघ्र ही उनकी मृत्यु हो गई। इसी प्रकार पाया गया कि सफ़ेद बनमेथी जैसे कुछ पौधों में बहुधा ऐसे रसायनों का उत्पादन होता है जिनमें **सायनाइड** नामक विषैला तत्व एक घटक के रूप में मौजूद रहता है। इस अवस्था में तो यह तत्व प्रभावहीन रहता है, परन्तु यदि पत्तियाँ क्षतिग्रस्त हो जाँय और उस पौधे में दो विशेष प्रकार के **एन्ज़ाइम** भी साथ-साथ उपस्थित हों तो यह रसायन टूट-फूट जाता है और सायनाइड तत्त्व को मुक्त कर देता है। अब पत्तियों को क्षतिग्रस्त करने वाले कीड़े का क्या हाल होता होगा—इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है।

प्रतिकर्षित करने वाले रसायनों की क्रियाविधि कई रोचक किस्मों की होती है। कुछ अत्यंत कड़वे होते हैं, कुछ पौधों को भिन्न किस्म का अरुचिकर स्वाद प्रदान करते हैं, कुछ आक्रमणकारियों का हाज़मा खराब कर देते हैं और कुछ उन्हें भ्रमित कर देते हैं। कुकरबिटेसी कुल के अनेक सदस्यों में अत्यंत कड़वे रसायन उपस्थित होते हैं। **कुकरबिटेसिन-बी** नामक यौगिक तो इतना कड़वा होता है कि यदि एक अरब अन्य अणुओं के मध्य इसका एक अणु भी हो तो भी अपनी उपस्थिति फौरन जाहिर कर देता है। खीरे, ककड़ी आदि की बेल के प्रति अनेक पशुओं का आकर्षण न होने का कारण यही है। अफ्रीका के एक ओषधीय गुण वाले पौधे की जड़ में **प्लमबैगिन** नामक पदार्थ होता है जो कड़वा तो नहीं परन्तु अत्यंत बकबके स्वाद वाला अवश्य होता है। अब आप ही बतायें भला ऐसा बेस्वाद भोजन कौन पसन्द करेगा ?

टमाटर के पौधों द्वारा पत्तियों को चूसने वाले कीड़ों को प्रतिकर्षित करने की क्रियाविधि तो अत्यंत ही रोचक है। हमला होते ही घाव के स्थान पर ही पत्तियों में ऐसा पदार्थ उत्पादित होता है जो पौधे के अंदर ही अंदर घूमते हुये दो (या अधिक भी) विशिष्ट प्रकार के **प्रोटीनेज़ रसायनों** के जन्म का कारण बन जाता है। इनमें आक्रांता के हाज़मे को इस प्रकार अव्यवस्थित कर देने की शक्ति होती है कि वह उदरस्थ किये गये भोजन के प्रोटीन अंश को अपाच्य बना देता है। निश्चय ही ऐसे अस्वास्थ्यकर खाद्य के प्रति कीड़ों में कोई आकर्षण नहीं रहता।

इससे भी रोचक कहानी तो आलू की एक जंगली किस्म (**सोलेनम बरथालथाई**) की है। माहू (एफिड) कीड़े अकसर आलू के पौधों की दावत उड़ाना पसंद करते हैं। इस कीड़े की कई जातियों में एक विशेषता यह होती है कि ख़तरा होने पर ये एक ऐसा रसायन निःसृत करते हैं जो वायुमंडल में शीघ्रता से घुल-मिल कर अपनी बिरादरी के सभी सदस्यों को मैदान छोड़ कर भाग जाने का संदेश दे देता है। आलू की उपरोक्त किस्म ने प्रकृति की सहायता से कीड़ों की यह चालाकी पूरी तरह से आत्मसात कर ली है। जैसे ही कोई माहू (**एफिड**) आक्रमण करता है, पौधे स्वयं ही यह रासायनिक संदेश फौरन प्रसारित कर देते हैं। वह बेचारा कीड़ा समझता है कि इसका ही कोई भाई-बंद उसे ख़तरे की चेतावनी दे रहा है और वह भाग खड़ा होता है।

वनस्पति जगत् में रासायनिक सुरक्षा-व्यवस्था की वह शैली तो अद्वितीय है जिसके अंतर्गत विशिष्ट यौगिकों की सहायता से आक्रांता के जीवन का विकास-चक्र अव्यवस्थित कर या तो उसे काल के गाल में भेज दिया जाता है अथवा सर्वथा पंगु बना दिया जाता है। साधारणतः कीड़ों के विकास की तीन अवस्थायें होती हैं—**लारवा, प्यूपा** और **वयस्क**। इन सभी अवस्थाओं में कभी-कभी कुछ उपअवस्थायें हो सकती हैं। कभी-कभी कीड़ा तीन प्रधान अवस्थाओं से गुज़र कर केवल कई बार केंचुली बदल-बदल कर ही वयस्क हो जाता है। ये सारी प्रक्रियाएँ दो प्रकार के रसायनों द्वारा नियंत्रित होती है। एक को **जुवेनाइल हारमोन** कहते हैं जब कि दूसरे (**एकडाइस्टीरॉयड्स**) केंचुली बदलने की प्रक्रिया का सूत्रपात करते हैं। कुछ समय पहले वैज्ञानिक उस समय चकित रह

गये जब उन्होंने पाया कि कुछ पौधे **(फर्न)** भी इन रसायनों का उत्पादन और भंडारण करते हैं। भला इनका क्या काम ? क्यों होता है इनका उत्पादन इन वनस्पतियों में ?

उत्तर मिला जब एक बार केन्या के एक प्रदेश पर टिड्डी दल का आक्रमण हुआ। सारी वनस्पतियाँ नष्ट हो गईं परन्तु एक प्रकार के तृण, **एजुगा रीमोटा** सीना तान कर खड़े रहे। परीक्षणोपरान्त वैज्ञानिकों ने उनमें ऐसे ही कई **एकाडाइस्टीरॉयड यौगिकों** को उपस्थित पाया। शंका उत्पन्न हुई कि कहीं ये इस तृण की सुरक्षा-व्यवस्था के तो अंग नहीं हैं ? कहीं ऐसा तो नहीं कि ये रसायन कीड़ों के विकास-चक्र में व्यतिक्रम उत्पन्न करने में समर्थ हों और इसे ही पहचान कर टिड्डी दल उन्हें दूर से सलाम कर चला गया है। वैज्ञानिकों ने इस तृण को पीस-पास कर धोखे से टिड्डियों को खिला दिया। परिणाम विस्मय-रहे। उनके विकास चक्र में ऐसी अव्यवस्था उत्पन्न हुई कि एक के बजाय तीन-तीन सिर वाले 'दानवीय प्यूपे' बन गये। इस अप्राकृतिक विकास ने अंततः कीड़ों का गला ही घोंट दिया। एक अन्य कीड़े में प्यूपा बनने ही नहीं पाया। केवल लारवे बार-बार केंचुली बदलते रहे और फिर इंतकाल फरमा गये। वैज्ञानिकों की आशंका सत्य सिद्ध हुई और वनस्पतियों की रासायनिक सुरक्षा-व्यवस्था का एक नया आयाम उद्घाटित हुआ।

कीड़ों के विकास-यौगिकों के उत्पादन की नकल करके ही वनस्पतियाँ अपना बचाव नहीं करतीं बल्कि कभी-कभी तो ऐसे रसायनों का उत्पादन भी करती हैं जो कीड़ों में इन यौगिकों के उत्पादन में ही व्यवधान उत्पन्न कर देते हैं। परिणाम वही रहता है अपूर्ण विकास के कारण आक्रांता कीड़े की संततियाँ शीघ्र ही दम तोड़ देती हैं और इस प्रकार कीड़ा परिवार का संवर्धन रुक जाता है। एक ऐसा ही उदाहरण **ऐगरेटम हाउस्टोनिसनम** का है। यह पौधा शीतोष्ण जलवायु वाले प्रदेशों में पनपता है। इसमें दो विशिष्ट यौगिकों, **प्रोकोसीन प्रथम** एवं **प्रोकोसीन द्वितीय** की उपस्थिति पहचानी गयी है। ये यौगिक कीड़ों के लारवों में विकास-यौगिकों का उत्पादन अवरुद्ध कर उन्हें मौत के मुँह में ढकेल देते हैं। प्रोकोसीन द्वितीय तो और भी कई शरारतें कर सकता है। इसे खाने वाले कई प्रकार के वयस्क कीड़ों में कामोद्दीपन समाप्त हो जाता है, कुछ के अण्डे बाँझ रहते हैं और एक विशेष प्रकार का भौंरा तो नशे की अवस्था में आकर पूर्णतया निश्चेष्ट हो जाता है अथवा 'शीत निद्रा' में आ जाता है।

वनस्पतियों और कीट-पतिंगों का यह लुका छिपी का खेल मानव के लिये नई आशा का संदेश लेकर उजागर हुआ। इस जमाने में जब मनुष्य द्वारा विरचित कीटनाशकों के प्रतिरोध की शक्ति कीड़े में बराबर बढ़ती जा रही है, वनस्पतियों द्वारा उत्पादित ये प्राकृतिक कीटनाशी समस्या का हल प्रस्तुत कर सकते हैं। किसी-किसी में तो इन रसायनों की मात्रा इतनी अधिक होती है कि वनस्पति से उनका सीधा निष्कर्षण किया जा सकता है। **डायोक्लिया मेगाकार्पा** के बीजों में तेरह प्रतिशत तक एक ऐसे ही रसायन, **एल-कैनावैनाइन अमीनो अम्ल** की उपस्थिति पायी गयी है। निश्चय ही प्रकृति ही हमारी समस्याओं का अंतिम हल प्रस्तुत कर सकती है।□□

श्री शुकदेव प्रसाद को एक और पुरस्कार

युवा विज्ञान लेखक और सम्पादक **'श्री शुकदेव प्रसाद** को उनकी पुस्तक **'यानों की कहानी'** को हिन्दी संस्थान, उत्तर प्रदेश द्वारा तीन हजार रुपये का पुरस्कार प्रदान किया गया है। यह पुस्तक 'मुदिता प्रकाशन' 148 हीवेट रोड, इलाहाबाद-3 द्वारा 1983 में प्रकाशित हुई थी। इसका मूल्य 35 रु० है।

भारतीय विज्ञान कांग्रेस के नये अध्यक्ष

प्रो० सी० एन० आर० राव, निदेशक, 'भारतीय विज्ञान संस्थान', बैंगलौर को वर्ष 1987-88 के लिए और 'कौंसिल ऑफ साइंटिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च', दिल्ली के महानिदेशक **प्रो० ए० पी० मित्र** को वर्ष 1988-89 के लिए 'भारतीय विज्ञान कांग्रेस' का अध्यक्ष चुना गया है।

पक्षिविज्ञानी सालिम अली

मंजुलिका लक्ष्मी

[जब भारतीय उपमहाद्वीप पर मानसूनी हवाओं और वर्षा की झड़ी लग जाती है तब एक जानी पहचानी और आनन्ददायक 'चिट-चिट' 'चोईं-चोईं' की मधुर ध्वनि हज़ारों वृक्षों से सुनी जा सकती है। वास्तव में ऐसा नर बया पक्षी अपना घोंसला बुनते समय, अपना नीड़ बनाते समय करते हैं। अत्यधिक सावधानी और कुशलतापूर्वक ये नर घास के तृण और पत्तियों तथा टहनियों की मदद से लम्बे लटकते हुए घोंसले तैयार करते हैं। बया के लिए ये घोंसले आवास से बढ़कर होते हैं क्योंकि इन्हीं घोंसलों में नर मादा प्रेमिका को आमंत्रित करता है ताकि आकर वह इन्हीं में बच्चों को जन्म देकर उनका पालन-पोषण करे। ऐसा भी देखने में आया है कि यदि घोंसला प्रेमिका को पसंद नहीं आता है तो नर उसे छोड़कर नया तथा और भी अच्छा घोंसला बनाने को विवश होता है। पसंद आ जाने पर मादा 'घर' के भीतर प्रवेश करती है और अंदर सजावट का कार्य प्रारंभ कर देती है। वही बिस्तर भी तैयार करती है और सुरक्षात्मक व्यवस्था को भी अंतिम रूप प्रदान करती है।

यह सुखद संयोग है कि इस नन्हीं चिड़िया की आदतों का सर्वप्रथम विधिवत वैज्ञानिक अध्ययन करने वाले पक्षिविज्ञानी डॉ० सालिम मोइज़ुद्दीन अब्दुल अली अपने भारत देश के ही थे। डॉ० अली द्वारा कृत पक्षियों के अध्ययन से भारत पक्षिविज्ञान के क्षेत्र में विश्व में अपना विशिष्ट स्थान बना चुका है। देश और विदेशों में बार-बार सराहे जाने वाले डॉ० सालिम अली का पिछले 20 जून को निधन हो गया। प्रस्तुत है मंजुलिका लक्ष्मी की कलम से डॉ० सालिम अली पर एक लेख, विज्ञान परिषद् परिवार की भावभीनी श्रद्धांजलि के साथ।

—सम्पादक]

विश्वविख्यात पक्षिविज्ञानी सालिम अली का जीवन सच्चे अर्थों में उन प्राचीन ऋषियों जैसा रहा है जो एकाग्र भाव से अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पूरी आयु समर्पित कर देते थे। पक्षि-जीवन के लिए सालिम अली का निष्ठापूर्ण अनुराग भी लगभग वैसा ही रहा है। कहते हैं कि 9 वर्ष की आयु में चिड़ियों के शिकार के दीवाने बालक सालिम अली ने पीतकंठ वाली एक ऐसी चिड़िया मार गिराई जिसे वे पहचान न सके। पूछताछ करने पर उनके चाचा ने उन्हें 'बम्बई नैचुरल हिस्ट्री सोसायटी' में जाकर स्वयं ही उस पक्षी के विषय में जानकारी हासिल करने की सलाह दी। भविष्य के प्रसिद्ध पक्षिविज्ञानी डॉ० सालिम अली के जीवन का यह एक नितांत महत्वपूर्ण और परिवर्तनकारी मोड़ था। 'बम्बई नैचुरल हिस्ट्री सोसायटी' के संग्रहालय में उन्होंने मृत चिड़ियों की सुरक्षित अनेक खालें देखीं। वहाँ के कार्यकर्त्ताओं ने सालिम अली का शौक देखकर उन्हें भी उसी तरह खालें एकत्र कर अपना एक छोटा निजी संग्रहालय बनाने को प्रोत्साहित किया। पर अनजाने ही सालिम अली को मृत पक्षियों की अपेक्षा जीवित चहचहाते पंखपसारे उड़ते पक्षियों के जीवन-रहस्यों को जानने-समझने की उत्सुकता ने बाँध लिया था। उसी समय से भारत के जंगलों, मैदानों और पहाड़ों में फैले अनगिनत पक्षियों के विषय में जानने-समझने का दीवानेपन की हद को छूता उनका शौक उनके जीवन का लक्ष्य बन गया।

5 ई/4 स्टाफ क्वार्टर्स, लिडिल रोड, जार्ज टाउन, इलाहाबाद-211005

शाहबाज, चूडालश्येनक-सुपर्ण या क्रेस्टेड हाक ईगल (*Spinaetus cirrhatus*)

सालिम अली का जन्म बम्बई के खेतवाड़ी इलाके के एक प्रतिष्ठित मुस्लिम परिवार में पिछली शताब्दी के अंत में 12 नवम्बर 1896 में हुआ था। वे बम्बई के संभ्रान्त नागरिक, हाईकोर्ट जज और हिन्दू-मुस्लिम एकता के पक्षधर **श्री बदरुद्दीन तैयब जी** के भतीजे थे। तत्कालीन शिक्षित घरानों के आम बच्चों की भाँति सालिम अली को भी बचपन में 'कुरान' की अरबी आयतें बिना अर्थ जाने रटाई गईं। इसके फलस्वरूप उनमें पारंपरिक धार्मिकता तो न पनप सकी पर ढोंग और दिखावेपूर्ण धर्माचार से सदा के लिए अरुचि हो गई। हाँ, यदि काम के प्रति निष्ठा को ही सच्ची पूजा या धर्म माना जाय तो यह उनमें कुट-कूट कर भरी थी। इससे उनमें वह एकाग्रता की जरूर आई जिसने उन्हें प्रख्यात पक्षिविज्ञानी, और प्रकृति विशेषज्ञ का दुर्लभ सम्मान दिलाया।

सालिम अली की जीवविज्ञान की प्रारंभिक शिक्षा सेन्ट जेवियर्स कॉलेज, बम्बई में सम्पन्न हुई। बाद में उन्हें शिक्षा अधूरी छोड़कर 1914 में बर्मा जाना पड़ा। 7 वर्षों तक वह पारिवारिक व्यापार के कार्य में हाथ बँटाने के उद्देश्य से बर्मा में ही रहे। पक्षियों के प्रति उनकी जिज्ञासा और उत्साह इस बीच कभी मंद न पड़ा। वहाँ से बम्बई लौटने पर उन्होंने पुनः अपने शौक का कार्य प्रारंभ कर दिया। उनकी लगन और प्रतिभा को पहचान कर 'बम्बई नैचुरल हिस्ट्री सोसायटी' ने उन्हें निर्देशक-व्याख्याता के पद पर अपने यहाँ नियुक्त कर लिया। उस समय के हिसाब से उन्हें मिलने वाली 350 रुपये मासिक की आय किसी राजकीय पर्स से कम न थी। पर आगे चलकर सालिम अली के जीवन में ऐसे भी मौके आये जब अधूरी शिक्षा और डिग्री के अभाव में उन्हें नौकरी के लिए भटकना पड़ा। यह बात अलग है कि उन्होंने अपनी आत्मकथा में उस समय की चर्चा करते हुये बड़ी प्रसन्नता से यह स्वीकार किया है कि नियमित नौकरी का न मिलना वह सबसे सौभाग्यपूर्ण बात थी जो उनके जीवन में घटी। इसी अभाव ने उन्हें अपनी इच्छानुसार पक्षियों का अध्ययन करने के लिए 'दर-दर भटकने' की पूरी छूट व अवसर दिये।

सन् 1929 में सालिम अली 'बम्बई नैचुरल हिस्ट्री सोसायटी' की तरफ से पक्षियों संबंधी विशेष अध्ययन के लिए यूरोप की 9 महीने की अल्पकालिक यात्रा पर गए। वहाँ बर्लिन में उन्हें प्रसिद्ध पक्षि-विज्ञानी **एरविन स्ट्रेसमैन** के निर्देशन में प्रशिक्षण मिला। किन्तु लौटने पर 1930 में विश्वव्यापी युद्धोत्तर आर्थिक मंदी के कारण उन्हें 'बम्बई नैचुरल हिस्ट्री सोसायटी' की बँधी-बँधाई नौकरी से हाथ धोना

होमराय, बनराय या हॉर्नबिल (*Dichoceros bicornis*)
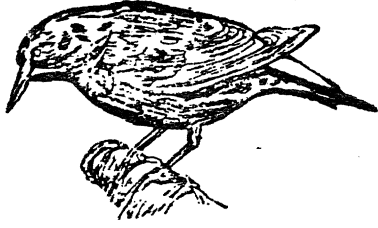
कस्तूरी, धूसर कस्तूरिका या टिकेल्स थ्रश
(*Turus unicolor*)

पड़ा। अपनी जीविका और शौक को जीवित रखने के लिए उन्होंने कोचीन, हैदराबाद, इन्दौर, भोपाल और ग्वालियर सदृश तत्कालीन राज्यों के लिए पक्षि-विशेषज्ञ के रूप में कार्य करना प्रारंभ किया। इस कार्यकाल में उनकी धर्मपत्नी **तहमीना** का पूरा सहयोग रहा। बड़े खुले दिल से सालिम अली ने यह स्वीकार किया है कि उनकी सफलता का पूरा श्रेय उनकी पत्नी तहमीना को है। उनके कठिनतम समय में भी तहमीना सदव उनके कदम से कदम मिलाकर चलीं। सालिम अली के सर्वेक्षण दौरों में, कैम्प और टेन्ट के जीवन में, दलदल और घने जंगलों से लेकर सूखे पहाड़ों तक हर स्थान पर वह उनकी सच्ची सहधर्मिणी बन उनके साथ रहीं। पर इस संबंध में वे अधिक सौभाग्य-शाली न थे। 1939 में तहमीना सदा के लिए उनका साथ छोड़ गईं। पत्नी के निधन के शोक से संतप्त सालिम अली अब पूर्णरूपेण पक्षियों के संसार में रम गए। इसी समय में उन्होंने अपनी 10 खण्डों में संपूर्ण विशालकाय, युगान्तरकारी रचना 'द बुक ऑव इण्डियन बर्ड्स' समाप्त की। यह पुस्तक सर्वप्रथम सन् 1941 में प्रकाशित होकर आई और प्रकाशन के साथ ही इसने पक्षिअध्येताओं के बीच 'बाइबिल' जैसी लाकप्रियता और महत्व हासिल कर ली। तब से अब तक सालिम अली ने अनेक शोधपूर्ण लेख और पुस्तकें प्रकाशित करवायीं। 70-80 वर्षों के अपने कार्यकाल में वे एकमात्र ऐसे पक्षिविज्ञानी रहे हैं जिन्होंने व्यक्तिगत रूप से पक्षियों के अध्ययन और संरक्षण के क्षेत्र में इतना उल्लेखनीय योगदान किया है।

सालिम अली द्वारा **बया पक्षी** पर रचित शोधपूर्ण लेख गुणवत्ता की दृष्टि से विश्व के श्रेष्ठतम शोध अध्ययनों में से एक है। वह शोधपत्र अकेले ही किसी पक्षिविज्ञानी को अमर बना देने के लिए उपयुक्त है। यह अध्ययन भारत के पश्चिमी तट पर और विशेषरूप से किहिम और कोलाबा क्षेत्रों में बया की उपस्थिति के संबंध में किया गया था। वस्तुतः उनदिनों सालिम अली आर्थिक कठिनाइयों के दबाव के कारण किसी सस्ती जगह की तलाश में समुद्रतट पर बने एक छोटे से घर में रहने चले आये थे। वहीं आधे मील की दूरी पर बया के घोंसलों ने उन्हें आकर्षित किया। स्वयं उनके दृटिकोण से भी बया पक्षी पर यह शोधात्मक अध्ययन उनके जीवन की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि रही है। केवल यही नहीं, उसकी रोचक भाषा-शैली के कारण बया पर प्रकाशित 'एशिया' नामक पत्रिका के लेख को 'ग्रेट मास्टर्स ऑव इंग्लिश' नामक संग्रह में भी सम्मिलित किया गया!

सालिम अली को अपने जीवन काल में ही इतने सम्मान व पुरस्कार मिले कि एकबार उन्होंने विनोद-पूर्ण अंदाज में कहा—"यदि मैं अपने सारे पदक व सम्मान कोट पर टांक लूं तो **मोर** जैसा नजर आऊँगा।" 1957 में उन्हें भारत सरकार की ओर से 'पद्म भूषण' से अलंकृत किया गया था। 1976 में सरकार ने उन्हें 'पद्म विभूषण' के और बड़े सम्मान से समादृत किया। **सालिम अली** वे प्रथम विदेशी
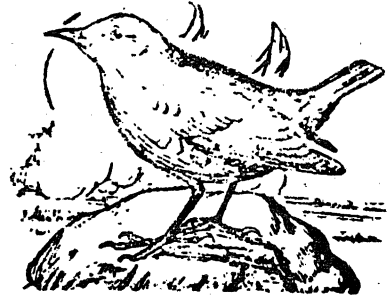
चुबिया, नक्का, मज्जी या ब्रॉउन डिपर
(*Cinclus pallasii*)

व्यक्ति हैं जिन्हें 'ब्रिटिश ऑरिथोलॉजिस्ट्स यूनियन गोल्ड मेडल' पाने का दुर्लभ सम्मान मिला है। इसके अतिरिक्त वे संरक्षण के लिए 'जॉन फिलिप्स मेमोरियल मेडल' (1969) और नीदरलैण्ड के राजकुमार की तरफ से 'ऑर्डर ऑव द गोल्डेन आर्क' (1973) नामक उच्चस्तरीय अलंकरण भी प्राप्त कर चुके हैं। 1976 का वर्ष सालिम अली के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण रहा। इसी वर्ष उन्हें भारत सरकार का 'पद्म-विभूषण' और संरक्षण के क्षेत्र में 'वर्ल्ड वाइल्ड लाइफ फण्ड' की ओर से प्रदत्त, 'नोबेल प्राइज़' की तरह सम्मानित, 50 हज़ार डॉलर का 'जे० पॉल गेटी पुरस्कार' भी प्राप्त हुआ। सम्मानों की इस लम्बी शृंखला से अप्रभावित वे निरंतर अपने मन पसंद कार्य में रत रहे। **सालिम अली** के कथनानुसार किसी को मिलने वाला सर्वप्रथम पुरस्कार तो उसे रोमांचित भी करता है और बेहतर कार्य के लिए प्रोत्साहित भी पर बाद में आने वाले बड़े से बड़े पुरस्कारों में भी वह रोमांच और खुशी नदारद होती है। सब कुछ एक उबाऊ क्रम मात्र बनकर रह जाता है। उन्होंने अपने **'जे० पॉल गेटी'** पुरस्कार' का अधिकांश 'बम्बई नैचुरल हिस्ट्री सोसायटी' द्वारा संचालित छात्रवृत्तियों के लिए दे दिया। ये छात्रवृत्तियाँ पीएच-डी० के लिए उन छात्रों को दी जाती हैं जो पक्षियों के व्यवहार-वैभिन्य और पारिस्थितिकी के विषय में 'जरा ज्यादा' ही उत्सुक होते हैं।

जीवन के अंतिम वर्षों में भी **सालिम अली** 'पक्षियों द्वारा परागण', 'बहुत छोटे दायरों में सीमित रहने वाले पक्षी', 'बया द्वारा फ़सलों को पहुँचाई जाने वाली हानि और उसके आर्थिक पहलू', 'गिर जंगलों के गिद्ध' और ऐसी ही अन्य अनेक पारिस्थितिक तंत्र पर दूरगामी प्रभाव डालने वाली समस्याओं से घिरे रहते थे। संरक्षण संबंधी अपने कार्यों के बारे में उनका विचार था कि उनके द्वारा एक धीमा पर निरंतर संघर्ष छेड़े जाने के कारण पारिस्थितिकी और संरक्षण विषयक जनता एवं सरकार की उदासीनता दूर करने में कुछ तो सफलता अवश्य मिली— और यही उनकी उपलब्धि रही है।

सालिम अली आजीवन 'बम्बई नैचुरल हिस्ट्री सोसायटी' से जुड़े रहे। 1927 में उन्होंने उसकी पत्रिका के सम्पादन का कार्य अपने हाथ में लिया था। आगे चलकर वे उसके सचिव बने और फिर अध्यक्ष। अंत तक उनका गहरा लगाव इससे बना रहा। उनके मतानुसार यह क्षोभ का विषय है कि इस गैर सरकारी संस्थान संरक्षण के क्षेत्र में जितना कार्य किया, उतनी मान्यता उसे नहीं मिल पायी।

सालिम अली के विचार प्रभावपूर्ण ढंग से उनकी पुस्तकों में प्रकाशित हुए हैं। सन् 1941 में उनकी सर्वप्रथम पुस्तक 'द हैण्डबुक ऑव इण्डियन बर्ड्स' प्रकाशित हुई थी जिसे पक्षिविज्ञान के क्षेत्र में एक-मात्र स्तरीय संदर्भ पुस्तक और निर्देशिका के रूप में आजतक सम्मानित किया जाता है। यह ग्रंथ पक्षिप्रेमी शौकीन पर्यटकों से लेकर गंभीर शोधार्थियों तक दोनों के ही लिए समान रूप से उपयोगी सिद्ध हुई है। 'बर्ड्स ऑव कच्छ', 'इण्डियन हिल बर्ड्स', 'बर्ड्स ऑव ट्रावनकोर एण्ड कोचीन', 'बर्ड्स ऑव ईस्टर्न हिमालयाज़' और 'फाल ऑव द स्पैरो' नामक उनकी रोचक आत्मकथा आदि उनकी अन्य विशिष्ट पुस्तकें हैं।

चरखी, दार्जिन, बेहनिन या कॉमन बैबलर
(*Argya caudata*)

पक्षियों के सुन्दर घोंसले। बायें से दायें-चिरटा या बंटिंग (*Emberiza sp.*), मध्य में अबाबील या स्वालो (*Hirundo rustica*) और दाहिने बया या बीवर बर्ड (*Ploceus philippinus*)

सालिम अली ने अकेले व्यक्तिगत स्तर पर पक्षिविज्ञान को भारत में लोकप्रिय बनाने के लिए, भारत को इस क्षेत्र में अंतरराष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठत करने के लिए और लोगों में प्रकृति संरक्षण के प्रति जागरूकता पैदा करने के लिए जितना कार्य किया है उतना शायद कई व्यक्ति या संस्थाएँ मिलकर भी न कर सकें। इस दृष्टि से वे अद्वितीय व अविस्मरणीय हैं। यह देश और विज्ञान जगत् के लिए दुर्भाग्य का विषय है कि पिछले एक वर्ष से अस्वस्थ चल रहे सालिम अली का गत 20 जून 1987 को 91 वर्ष की परिपक्व अवस्था में देहान्त हो गया। उनकी मृत्यु से न केवल भारत ने वरन् समूचे विश्व ने एक अनूठा प्रकृति-प्रेमी खो दिया है।□□

मोल्दाविया में कृत्रिम वर्षा की नयी विधि

सोवियत मोल्दाविया के मौसम-विज्ञानियों ने कहा कि यदि फसल को बारिश की जरूरत हो तो इसकी व्यवस्था की जा सकती है। उन्होंने बारिश की रासायनिक उत्प्रेरकों का एक कार्यक्रम शुरू किया है। विमानों, राकेटों तथा बैलूनों से संबद्ध उत्प्रेरकों को बादल तक ले जाया जाता है।

आकाश की स्थिति की देखरेख के लिए विशेष स्टेशन स्थापित किये गये हैं। राडार बादल का सर्वेक्षण करता है और वह इस बात का पता लगाने के लिए कंप्यूटर का इस्तेमाल करता है कि कौन बादल आवश्यक बारिश पैदा करने में सक्षम है। उसके बाद बैलूनों को आकाश में छोड़ा जाता है, जिनमें द्रव नाइट्रोजन से युक्त कंटेनर रहते हैं। ज्यों ही बैलून उड़ता है, नाइट्रोजन भाप बन कर उड़ने लगता है और फिर तापमान गिर कर—200 डिग्री सेंटीग्रेड हो जाता है। सभी बैलून बादलों पर आघात करते हैं, फिर वाष्पित नाइट्रोजन से बर्फ का छोटा-छोटा टुकड़ा बन जाता है, जिससे बारिश होने लगती है।

पिछले वर्ष कृत्रिम बारिश से 20 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इस वर्ष उन क्षेत्रों में और अधिक स्टेशन बनाये जायेंगे, जहाँ सिंचाई की व्यवस्था का अभाव है।

सर्जरी के लिए लेसर

'सोवियत विज्ञान अकादमी' के अन्तर्गत 'सामान्य भौतिक विज्ञान संस्थान' के अनुसंधानकर्ताओं ने शल्य-चिकित्सा के लिए **गार्नेट-क्रिस्टलीय लेसर** का निर्माण किया है। इसका नाम "**एर्बियम**" रखा गया है; क्योंकि क्रिस्टल में जो नये उपकरण का मुख्य हिस्सा है, में दुर्लभ रासायनिक तत्व एर्बियम पाया जाता है।

नये लेसर का रक्तहीन आपरेशन के लिए निर्जीव धुरी के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। आसानी से जीवित ऊतक उसकी किरण को सोख लेता है और उससे गहरे परत वाले ऊतकों का स्पर्श किये बिना आपरेशन की कुशलता बढ़ाने में मदद मिलती है।

समीक्षा

(1) पर्यावरण 2001 : 'आविष्कार' का संग्रहणीय विशेषांक

नेशनल रिसर्च डिवेलपमेंट कारपोरेशन, दिल्ली की लोकप्रिय मासिक विज्ञान पत्रिका 'आविष्कार' का नवम्बर-दिसम्बर 1986 संयुक्तांक (मूल्य दो रुपये) हाल ही में प्रकाशित हुआ है। यद्यपि इस पत्रिका का प्रकाशन कुछ विलंब से हो रहा है तथापि अपनी उत्कृष्ट छपाई एवं कुशल संपादकीय संयोजन के चलते इस पत्रिका ने लोकप्रियता के नये शिखर बनाये हैं। प्रस्तुत अंक भी ऐसा ही संग्रहणीय व अविस्मरणीय आयोजन है।

'विज्ञान' के पाठकों को याद होगा कि 'विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद' ने पिछले वर्ष 13 सितंबर को **'पर्यावरण 2001'** विषय पर एक राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया था। इस संगोष्ठी के अवसर पर 'विज्ञान' के अगस्त-सितंबर 1986 अंक के रूप में एक स्मारिका भी प्रकाशित की गई थी। उस स्मारिका में देश के विभन्न भागों के सक्रिय विज्ञान लेखकों, पर्यावरण विशेषज्ञों एवं अधिकारी विद्वानों से प्राप्त लेखों के सारांश संकलित किये गये थे।

इस गोष्ठी के माध्यम से परिषद् ने यह जानने की चेष्टा की थी कि देश के हिन्दी विज्ञान लेखकों का सोच किस दिशा में है। इस विषय पर जो कुछ लिखा जा रहा है, वह सतही या पिष्टपेषण मात्र तो नहीं है? पर इस गोष्ठी का मुख्य उद्देश्य पर्यावरण के विभिन्न पक्षों पर पर्यावरण के विघटन से उत्पन्न आसन्न संकट के प्रति जनसामान्य को सचेष्ट करना ही रहा है। परिषद् इस सत्य से वाकिफ है कि किसी एक गोष्ठी के आयोजन मात्र से ही इक्कीसवीं सदी के पर्यावरण की न तो रूपरेखा बनायी जा सकती है और न ही उसे संरक्षित करने के लिए ज़रूरी जन-चेतना ही जाग्रत की जा सकती है। फिर भी शुभारंभ तो करना ही था।

इस राष्ट्रीय संगोष्ठी के सफल आयोजन के द्वारा विज्ञान परिषद् ने जो प्रयत्न शुरू किया था, उसे आगे बढ़कर जन-जन तक पहुँचाने का दायित्व 'आविष्कार' ने लिया है। एतदर्थ परिषद् 'आविष्कार' के संपादक **श्री डी० एन० भटनागर** एवं एन० आर० डी० सी० के अधिकारियों के प्रति आभारी है। हिन्दी भाषा के जरिए विज्ञान एवं वैज्ञानिक मनोवृत्ति के प्रचार प्रसार को समर्पित दो संस्थाओं का यह सहयोग भी उल्लेखनीय है, अनुकरणीय है।

'आविष्कार' के इस अंक में, गोष्ठी में प्रस्तुत किये गये निबंधों से चयनित 16 लेख संकलित किये गये हैं। इन लेखों में से कुछ उल्लेखनीय शीर्षक हैं—हिन्दी लेखक और पर्यावरण, भारतीय संस्कृति में पर्यावरण दर्शन, न्यूक्लिय युद्ध और पर्यावरण, पर्यावरण शिक्षा एवं चेतना, हमारी राष्ट्रीय वन नीतिः एक समीक्षा, पर्यावरण शुद्ध रखने में वृक्षों की भूमिका, स्वास्थ्य और पर्यावरण प्रदूषण, पर्यावरण से कैंसर तक, गाँवों में पर्यावरण की बढ़ती समस्यायें, पर्यावरण का मृदा प्रदूषण, अंटार्कटिका में पर्यावरणीय प्रदूषण, भूकम्प और हमारा पर्यावरण, सन् 2001 में पर्यावरण के लिए क्या करें? इत्यादि।

इन शीर्षकों से ही गोष्ठी में पढ़े गये निबन्धों एवं 'आविष्कार' के इस अंक में प्रकाशित लेखों की विविधतापूर्ण विषयवस्तु का पता चलता है। ये सभी निबन्ध अपने विषय में पूर्ण एवं रोचक हैं। 'विज्ञान' के सभी पाठकों एवं पर्यावरण प्रेमी लोगों को 'आविष्कार' का यह अंक अवश्य पढ़ना चाहिए। आकर्षक रंगीन मुखपृष्ठ वाले इस अंक के प्रकाशन के लिए एक बार फिर पूरे 'आविष्कार परिवार' को बधाई।

—अनिल कुमार शुक्ल

(2) द्वि इंस्टिट्यूशन आफ़ इंजीनियर्स इंडिया का जरनल : ग्रामीण विशेषांक

दि इंस्टिट्यूशन आफ़ इंजीनियर्स (इंडिया), 8 गोखले रोड, कलकत्ता के चतुर्मासिक हिन्दी जरनल का अप्रैल 1987 अंक (जिल्द 67 खंड हिन्दी 3) **ग्रामीण विशेषांक** भाग एक के रूप में प्रकाशित हुआ है। यह अंक विषय सामग्री के अनुसार तीन खंडों में विभाजित है। प्रथम खंड में ग्रामीणों में कृषि के महत्व को उजागर करने वाले 6 लेख हैं। यों तो सभी लेख पठनीय एवं विचारणीय हैं पर श्री गोविन्द प्रसाद शर्मा का लेख 'ग्रामीण मार्ग प्रस्ताव में प्राथमिकता का निश्चयन' अत्यंत उपयोगी है और अपने विषय की गूढ़ बातों को जनसुलभ भाषा में प्रस्तुत किये जाने के कारण और भी पठनीय बन पड़ा है। डॉ० शिवगोपाल मिश्र के लेख 'भारतीय कृषि में सुधार की आवस्यकता' में देशी किस्मों, पुरानी कृषि पद्धतियों आदि की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि के महत्व की ओर ध्यान दिलाते हुए किसानों को नयी उन्नत खेती के हानिकारक पक्षों के प्रति सचेष्ट किया गया है। इस खंड के चार अन्य लेख हैं—'ग्रामीण विकास में कृषि का योगदान, 'भारत की हरित क्रांति सितासित पक्ष'—'ग्रामीणों के लिए पादप सुरक्षा' और 'कृषकोपयोगी ग्रामीण प्रौद्योगिकी'।

द्वितीय खंड में गाँवों में बिजली व पानी से संबंधित कठिनाइयों का विवेचन है और उनके समाधान के लिए सुझाव दिये गये हैं। इस खंड में सात लेख हैं—गाँवों में विजली पानी की सुविधा का प्रसार एवं सुधार, वायो गैस से बिजली उत्पादन, जल प्रदाय की नवीन सुविधाएँ : एक तकनीकी दृष्टिकोण, भारत में ग्रामीण जल संपूर्ति—एक पुनरावलोकन, ग्रामीण अंचलों में जलपूर्ति की समस्या—कुछ समाधान। इन छः लेखों में से दूसरे व तीसरे लेख से अनेक नई व उपयोगी जानकारियाँ मिलती हैं तथा छठाँ लेख ग्रामीण क्षेत्रों में जलपूर्ति की समस्या को ऐतिहासिक-पौराणिक परिप्रेक्ष्य में देखते हुए उनमें उपलब्ध साक्ष्यों के वैज्ञानिक महत्व को जाँचने का सुझाव देता है। इसी खंड में एक लेख है—'ग्रामीण विकास में खनन उद्योग का योगदान'। इस अत्यंत उपयोगी और सूचनाप्रद लेख में एक ही बात खटकती है—वह यह कि पूरे लेख में विभिन्न खनिजों के नाम (संभवत:) डॉ० रघुवीर की शब्दावली के आधार पर 'शुद्ध' हिन्दी में दिये गये हैं। यद्यपि लेख के अंत में इन शब्दों के अंग्रेज़ी पर्यायों की सूची दी गई है, फिर भी लेख पढ़ते समय अर्थ ग्रहण करने में कठिनाई तो होती है। बेहतर होता कि खनिजों के अंग्रेजी नाम ही देवनागरी लिपि में दिये जाते।

विशेषांक का तीसरा खंड ग्रामीण पर्यावरण को समर्पित है। इस खंड में 9 लेख हैं जिनमें से श्री कृष्ण मोहन अग्रहरि का लेख 'प्रदूषित परिवेश से बचने के लिए ग्राम स्वराज्य' अत्यंत विचारोत्तेजक है। 'ग्रामीणमल निस्तारण एक तकनीकी दृष्टिकोण', 'गोबर गैस और ग्रामीण विकास' तथा 'गोबर एवं कृषि अवशेष का ग्रामीण क्षेत्रों में ऊर्जा के लिए उपयोग' लेख काफी जानकारी भरे हैं। 'सुलभ शौचालय' एवं 'सामाजिक वानिकी' विषयों पर लिखे गये दो लेख भी ग्रामीण पर्यावरण के सोच को स्वस्थ दिशा प्रदान करते है। इस खंड के तीन अन्य लेख—'ग्रामीण पर्याणरण और स्वच्छता', 'ग्रामीण पर्यावरण', ग्रामीण विकास की समस्यायें और ग्रामों का पर्यावरणीय स्वरूप' भी पठनीय सामग्री संजोये हुए हैं।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि प्रस्तुत विशेषांक ग्रामीण क्षेत्रों की समस्याओं को सही परिप्रेक्ष्य में देखने का एक सराहनीय प्रयास है और इसी कारण संग्रहणीय इन पड़ा है। इस विशेषांक का दूसरा भाग अगस्त 1987 अंक के रूप में प्रकाशित होगा। उम्मीद की जानी चाहिए कि उक्त अंक भी इस अंक की ही तरह पठनीय बन पड़ेगा।

—अनिल कुमार शुक्ल
संयुक्त मंत्री, विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद

(3) भारत की सम्पदा

प्राकृतिक पदार्थ, अष्टम खण्ड । वायसी-यासेमम : प्रकाशन एवं सूचना निदेशालय (वै० औ० अ० प०) नई दिल्ली, 1987, पृष्ठ संख्या 392

'भारत की सम्पदा' एक वैज्ञानिक विश्वकोश है जिसे 10 खण्डों में प्रकाशित होना है। यह आठवाँ खण्ड है जिसके अन्तर्गत वायसिया से लेकर सीसेमम के अन्तर्गत 415 प्रविष्टियाँ हैं । इन प्रविष्टियों में 166 वनस्पति वंशों और 238 वनस्पति जातियों के के साथ ही 7 प्राणि जातियों एवं 4 खनिजों का वर्णन हुआ है । यह विवरण विभिन्न लेखों के रूप में है । इस खण्ड की सामग्री की व्यवस्था पूर्व प्रकाशित खण्डों के ही अनुरूप है । वनस्पतियों की सही पहचान के लिए वैज्ञानिक तथा भारतीय नामों का उल्लेख है । फसलों के बारे में पूरी जानकारी दी गई है। प्राकृतिक पदार्थों के उत्पादों के रासायनिक संघटन और उपयोग भी दिये गये हैं । उत्पादों के आयात-निर्यात के अद्यतन आँकड़े प्रस्तुत किये गये हैं । निस्सन्देह यह सारी जानकारी शोधार्थियों तथा जिज्ञासुओं के लिए हिन्दी में पहली बार उपलब्ध कराई जा रही है, इसलिए इसका विशेष महत्व है ।

अक्षर क्रमानुसार इस खण्ड में साइसर, सिट्रस, सिनकोना तथा सीसेमम के साथ ही सड़क पत्थर जैसे विषयों पर सामग्री दी गई है । रंगीन तथा सादे चित्रों की बहुलता, सारणियों का समावेश, स्थान-स्थान पर सन्दर्भों का उल्लेख—ये सारी बातें बड़ी योजना एवं साफ़ई के साथ दी गई हैं । इस खण्ड की सामग्री के वैज्ञानिक विवरण की प्रामाणिकता के विषय में मुझे कुछ नहीं कहना क्योंकि यह अंग्रेज़ी विश्वकोश (Wealth of India) का अनुवाद है जिसका प्रणयन बहुत ही सतर्कता एवं परिश्रम से किया गया है । मैं केवल छापे की कुछ भूलों एवं वाक्य योजना, अनुवाद की शिथिलता आदि को इंगित मात्र करूँगा । मेरा विश्वास है कि सम्पादकगण अगले खण्डों में इससे लाभ उठावेंगे । मुझे ऐसी आशा है कि मेरी इस समीक्षा से पाठकगण भी लाभ उठावेंगे । वे सामग्री पढ़ते समय जो भी त्रुटियाँ मिलेंगी, उनको लिखकर सम्पादकों को सूचित करेंगे । इससे शुद्धिपत्र के रूप में इन्हें अन्तिम खण्ड में दिया जा सकेगा । चूँकि यह विश्वकोश है अतएव इसमें किसी प्रकार की भी त्रुटि का होना वांछनीय नहीं । किन्तु कोई कितना भी श्रम क्यों न करे, त्रुटियाँ रह जाती हैं और इतने विशाल ग्रंथ में तो त्रुटियों का रह जाना कोई बड़ी बात नहीं ।

मैं ग्रंथ के प्रथम 8 पृष्ठों, फिर 147-154 तक साँप शीर्षक लेख के पृष्ठों, फिर 169-181 तक साइसर शीर्षक लेख के पृष्ठों और इन्हीं पृष्ठों के बीच सड़क पत्थर शीर्षक (पृ० 135) से कुछ त्रुटियों की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा । ये त्रुटियाँ वर्तनी के कारण परिभाषिक शब्द के गलत प्रयोग के कारण या वाक्य-दोष के कारण हुई हैं ।

पृष्ठ 3 पर **एमीनो** अम्ल तथा **ऐमीनो** अम्ल दोनों का प्रयोग बतलाता है कि इनमें से एक वर्तनी गलत है । इसी प्रकार **ऊष्मा** का प्रयोग त्रुटिपूर्ण है—इसे उष्मा होना चाहिए । पृष्ठ 5 पर **निनहाइड्रीन** की वर्तनी अशुद्ध है—इसे निनहाइड्रिन होना चाहिए । इसी तरह पृष्ठ 7 पर **उद्दर्व** को **ऊर्ध्व** होना चाहिए था ।

कई स्थानों पर शब्द को मिलाने के बजाय पृथक लिखा गया है । यहाँ पृष्ठ 6 पर **प्रति भालाकार** को प्रतिभालाकार, पृष्ठ 10 पर **रोग जनक** को रोगजनक तथा अन्यत्र **तमिल नाडु** को तमिलनाडु के रूप में मुद्रित करना चाहिए था । पृष्ठि 152 पर शरीर क्रिया तक तथा जल अपघटनी का अलग-अलग लिखा जाना चिन्त्य है ।

अब कुछ पारिभाषिक शब्दों के लिंग की चर्चा हो ले । पृष्ठ 3 पर बाकला **की** प्रोटीन, पृष्ठ 9 पर मसूर **की** सामान्य खरपतवार तथा अपरिष्कृत प्रोटीन **होती** है—जैसे प्रयोग प्रोटीन या खरपतवार को स्त्री-लिंग बतलाते हैं जब कि इन्हें पुल्लिंग में प्रयुक्त किया जाना चाहिए ।

कुछ पारिभाषिक शब्द क्लिष्ट कर दिये गये हैं—**पृष्ठ 6 तथा अन्यत्र कृष्ट फसल, वपनीय** खेत, **आंशिक**

निष्पत्रण विवर्णन (पृष्ठ 2)। पृष्ठ 4 पर तुषहृत परिपक्वन नमूने।

पृष्ठ 2 पर –अंडो से "माता तना एफिस" निकलती है—यह अनुवाद ठीक नहीं हुआ। पृष्ठ 137 में **संघठन** दो बार आया है, वह भी संघटन के लिए होना चाहिए।

पृष्ठ 5 पर अवक्षयण, पृष्ठ 7 पर आघटन जैसे शब्द भी सरलता से अर्थ को नहीं खोल पाते। इसी पृष्ठ पर 'दबा देने वाली फसल' का भी आशय स्पष्ट नहीं हो पाता।

पृष्ठ 135 पर एक वाक्य का अंश है—**सामग्री प्राप्त करने हेतु दोर्घवर गुटिकाओं को दलित्र में प्रसाधित किया जाता है**—इस अंश को सरल किया जा सकता था।

पृष्ठ 139 पर **बडप्पा** और कुर्नूल शैल समूह में बडप्पा शब्द के स्थान पर **कडप्पा** होना चाहिए। इसी तरह पृष्ठ 141 पर **बाँकुडार** जिला के स्थान पर बाँकुडा जिला होना चाहिए।

पृष्ठ 148 पर—साँपों की केंचुल का दवाई **आदि** में भी प्रयोग किया जाता है—इस वाक्यांश में आदि का प्रवेश उपयुक्त नहीं है। कम से कम एक और उपयोग बना कर आदि या इत्यादि लिखना था।

पृ॰ 173 पर 'सु-अपवाहित मिट्टी' का भी अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता। पृ॰ 174 पर–**ये वृद्धि** त्वरित विकास के कारण हुई थी–में **यह** वृद्धि होना चाहिए था। पृष्ठ 175 के दो शब्दों की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा—**कृषिजीवजातियों** और **भूजनक रोग**। पहले में जो सन्धि कर दी गई है वह उच्चारण में बाधक है और भूजनक शब्द की रोग के साथ संगति नहीं बैठती।

स्पष्ट है कि अनुवाद कार्य में एकरूपता बनाये रखने के लिए पारिभाषिक शब्दों, सामान्य वर्तनी के साथ ही व्याकरणिक नियमों का पालन आवश्यक है।

—डॉ॰ शिवगोपाल मिश्र

रीडर, रसायन विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

जैव-टेक्नोलॉजी : टिम्बर के अपशिष्टों से पोषक चारे

लेनिनग्राद में 'उत्तर-पश्चिमी कृषि अनुसंधान संस्थान' के वैज्ञानिकों ने टिम्बर के अपशिष्टों से पोषक चारे का उत्पादन करने के लिए एक कारगर जैविक विधि विकसित की है। साइबेरिया और उत्तरी रूस की अनेक लट्ठे बनाने वाली कंपनियों ने घटिया क्वालिटी के टिम्बर से मवेशियों के लिए उच्च कैलोरी के चारे का निर्माण करने के लिए प्रतिष्ठिान स्थापित किये हैं। यह अच्छी किस्म की घास से कतई घटिया नहीं होता और उसमें प्रति किलो 200 ग्राम ग्लुकोज रहता है।

इससे चर्बी बढ़ती है और गोमांस के प्रोटीन में सुधार होता है। फ्रेंच जीव-वैज्ञानिकों ने सोवियत जैव-प्राविधिक विधि में दिलचस्पी दिखायी है।

जानवरों के मस्तिष्क में स्नायविक ऊतकों का प्रत्यारोपण

'सोवियत विज्ञान अकादमी' के सामान्य आनुवंशिकी संस्थान के वैज्ञानिकों ने एक चूहे के भ्रूण के स्नायविक ऊतकों को एक अन्य चूहे के मस्तिष्क में प्रत्यारोपित करने में सफलता प्राप्त कर ली है। जिस चूहे पर प्रत्यारोपण किया गया है वह 18 मास से सामान्य रूप में जीवित है। प्रत्यारोपण के पूर्व इस चूहे के मस्तिष्क के ऊतकों को प्रयोग की दृष्टि से नष्ठ कर दिया गया था ताकि इसका पता लगाया जा सके कि प्रत्यारोपित ऊतक ठीक से काम कर सकते हैं या नहीं।

इस कार्य में भ्रूण के ऊतकों का प्रयोग इसलिए किया गया क्योंकि उनका प्रत्यारोपण अधिक सुगमता और शीघ्रता से हो सकता है।

इस प्रयोग से मनोरोगों की चिकित्सा के क्षेत्र में नये मार्ग उद्घाटित हो सकेंगे।

विज्ञान समाचार

यू० जी० सी० का पर्यावरण पुरस्कार

मदुराई कामराज विश्वविद्यालय, तमिलनाडु के कुलपति **डॉ० एस० कृष्णास्वामी** और प्रो० **रामदेव मिश्र**, भूतपूर्व अध्यक्ष वनस्पति विभाग, काशी विश्वविद्यालय, वाराणसी को जो इस समय अमेरिका में हैं, 'यूनिवर्सिटी ग्रांट्स कमीशन' (यू० जी० सी०) द्वारा पर्यावरण विज्ञान और पारिस्थितिकी में दो पुरस्कारों के लिए चुना गया है।

भारतीय रेशम-उत्पादन विज्ञानी सम्मानित

डॉ० **एच० नरसिम्हन**, निदेशक, 'नेशनल सिल्कवर्म सीड प्रोजेक्ट', सेन्ट्रल सिल्क बोर्ड (CSB) को लियोन (फ्रांस) की 'इंटरनेशनल सेरिकल्चरल कमीशन' द्वारा वर्ष 1986 का **'लुई पाश्चर अवार्ड'** प्रदान किया गया है। डॉ० नरसिम्हन प्रथम भारतीय रेशम कीटविज्ञानी हैं जिन्हें यह पुरस्कार मिला है।

डॉ० के० एच० संचेती को नाहर पुरस्कार

पुणे के अस्थि-चीर-फाड़ विशेषज्ञ (आर्थोपीडिक सर्जन) **डॉ० के० एच० संचेती** को वर्ष 1987 का 'नाहर पुरस्कार' प्रदान किया गया है। इस पुरस्कार में 11,000 रुपये, एक ट्राफी और एक शाल सम्मिलित हैं।

कैंसर के लिए भारतीय ओषधि

कटक के प्राप्त एक ताजे समाचार के अनुसार 'डिस्ट्रिक्ट रिसर्च सेन्टर, पुर्निया' के निदेशक **प्रो० शिवशंकर त्रिवेदी** और **डॉ० उमा शंकर तिवारी** ने इस बात का दावा किया है कि उनके द्वारा तैयार की गई ओषधि **'एम्ब्रोसिया सर्वपिष्ति'** जिसमें 1,500 पोषक तत्त्व मिलाये गये हैं, को संतुलित आहार के साथ लेने से असाध्य रोग भी दूर हो सकते हैं क्योंकि इस ओषधि में शरीर के सफेद रक्त कोषाओं (व्हाइट ब्लड सेलस) की संख्या को बढ़ाने की क्षमता विद्यमान है।

इन दोनों चिकित्सकों ने आगे बताया कि 5 महीनों तक लगातार **'सर्वपिस्ति'** के नियमित सेवन से कैंसर का उपचार हो सकता है। पूरी चिकित्सा के दौरान खर्च मात्र 1200 रुपये आते हैं, इस दृष्टि से यह चिकित्सा काफी सस्ती है। और तो और इसमें शल्यक्रिया, रेडियोथेरापी अथवा कीमोथेरापी की भी आवश्यकता नहीं पड़ती।

अविवाहित माहिलाओं में स्तन कैंसर की संभावना अधिक

'गुजरात कैंसर एण्ड रिसर्च इंस्टीट्यूट' के निदेशक **डॉ० टी० बी० पटेल** के अनुसार ऐसी महिलायें जो देर से विवाह करती हैं अथवा अविवाहित रह जाती है, उनमें समय से विवाहित महिलाओं की अपेक्षा स्तन कैंसर की सम्भावना अधिक पायी गई है। **डॉ० पटेल** का कहना है कि स्तन कैंसर का पता आसानी से लगाया जा सकता है और समय से उपचार हो जाने पर स्तन कैंसर ठीक भी हो जाता है। एक रिपोर्ट के अनुसार 91 प्रतिशत रोगी महिलाओं के जीवन को स्तन कैंसर से कोई खतरा नहीं होता।

मलेरिया के लिए नयी ओषधि

'सेन्ट्रल ड्रग रिसर्च इंस्टीट, लखनऊ' के निदेशक **डॉ० एम० एन० धर** ने बताया है कि 'मलेरिया' रोग, जो भारत में पुनः तेजी से फैल रहा है, के लिए इस इंस्टीट्यूट ने एक नई ओषधि **'आर्टेमिसिनीन'** आविष्कृत कर ली है। यह नई ओषधि **'प्राइमाकुइन'** की अपेक्षा अधिक निरापद है क्योंकि 'प्राइमाकुइन' थोड़ी विषैली होने के कारण गर्भवती महिलाओं और शिशुओं के लिए निरापद नहीं है। नई ओषधि 'आर्टेमिसिनीन' पर परीक्षण चल रहे हैं और ऐसी आशा है कि शीघ्र इसका इस्तेमाल प्रारम्भ हो जायेगा।

परखनली में बाँस

बाँस के पादप जो अपने जीवन काल में मात्र एक बार ही पुष्पित होते हैं, उन्हें अब ऊतक संबर्धन विधि (टिशू कल्चर मेथड) द्वारा सफलतापूर्वक परखनली के अंदर उगाया गया है। और यह सफलता मिली है दिल्ली विश्वविद्यालय के वनस्पति विभाग के एक शोधदल को जिसका नेतृत्व किया है प्रोफेसर **एच० वाई० मोहनराम ने**। परखनली में बाँस उगाने की देश में यह सर्वप्रथम सफलता है और शायद और कहीं अभी तक ऐसा संभव नहीं हो पाया है। इस प्रकार उगाये गये पौधों में जड़, तना, भूमिगत तना पत्तियाँ आदि हैं और इन्हें परखनअी के बाहर गमलों में भी उगाया गया है।

'जैव तकनीकी विभाग' (डिपार्टमेंट ऑव बायो-टेक्नोलॉजी) द्वारा प्रदान आर्थिक सहायता से किये गये इस शोध के फलस्वरूप कम स्थान और थोड़े ही पादप सामग्री से लाखों पौधे तैयार किए जा सकते हैं। **प्रो० मोहनराम** के साथ इस शोध दल में **डॉ० आई० वी० आर० राव** और (श्रीमती) **डॉ० आई० उषा राव** का भी योगदान रहा है। **प्रो० मोहनराम** का कहना है कि इस विधि से तैयार किए गये बाँस के पौधों को बाँस उगने वाले क्षेत्रों में खेती के लिए भेजा जा सकता है।

डॉ० स्वामीनाथन प्रथम 'विश्व खाद्य पुरस्कार' से सम्मानित

प्रसिद्ध भारतीय कृषि विज्ञानी **डॉ० एम० एस० स्वामीनाथन** को 2 लाख अमेरिकी डॉलर (25 लाख रुपये) के प्रथम 'विश्व खाद्य पुरस्कार' से सम्मानित किया गया है। **डॉ० स्वामीनाथन** को यह पुरस्कार उनकी विश्व की भुखमरी दूर करने के क्षेत्र में किए गए सराहनीय कार्य के लिए प्रदान किया गया है। डॉ० स्वामीनाथन ने चावल की अनेक अधिक उपज देने वाली किस्मे तैयार की हैं और इस समय वे फिलीपीन्स के 'राइस रिसर्च इंस्टीट्यूट' के निदेशक पद पर कार्यरत हैं। इसके पूर्व डॉ० स्वामीनाथन को कृषि के क्षेत्र में विशिष्ट शोध के लिए अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान और पुरस्कार मिल चुके हैं। आप 'भारतीय कृषि अनुसन्धान संस्थान' (इण्डियन एग्रीकल्चरल रिसर्च इंस्टीट्यूट, नई दिल्ली) के निदेशक रह चुके और आपको एशिया का महानतम पुरस्कार 'मैगसेसे पुरस्कार' भी प्राप्त हो चुका है। 'विश्व खाद्य पुरस्कार' इसी वर्ष 1987 से प्रारम्भ किया गया है।

गठिया का इलाज संभव

गठिया (अरथ्राइटिस) का लाइलाज रोग भविष्य में लाइलाज नहीं रहेगा क्योंकि, इसके कारण का पता चल गया है। गठिया रोग पर अनुसंधान कर रहे विशेषज्ञों को पता चल गया है कि रक्त की श्वेत कोशिकाओं में **इंटरल्यूकिन**—1 नामक तत्त्व पाया जाता है। इसी तत्त्व की वजह से सूजन और दाह (इंफ्लेमेशन) बढ़ता है और यह गठिया रोग का कारण बनता है।

अब डॉक्टरों को ऐसी दवा की तलाश है, जो **इंटरल्यूकिन-1** की क्रियाशीलता को बदल दे और उस निष्क्रय कर डाले। इसके लिए उन्हें **'नावेल'** नामक पदार्थ मिला है, जिसमें **इंटरल्यूकिन-1** के विरोधी लक्षण पाये गए हैं। इस पदार्थ का विकास प्रारंभिक अवस्था में है। उम्मीद है, जल्दी ही **'नावेल'** का विकास कर इस रोग पर काबू पाया जा सकेगा।

ध्वनि तरंगों से गुरदे की पथरी का इलाज

सोवियत वैज्ञानिकों ने अभी हाल ही में गुरदे में पायी जाने वाली पथरी के इलाज हेतु नयी उपचार पद्धति का विकास किया है। यह पद्धति है **ध्वनि चिकित्सा**। "**इंद्राफोन**" नामक यंत्र से गुरदे पर ध्वनि तरंगों का आघात किया जाता है। प्रयोगों के दौरान यह देखा गया है कि जब 2.50 किलो हर्ट्ज ध्वनि संकेतों को गुरदे से गुजारा गया तो मूत्र-नलिकाओं में बनी 'पथरी' धीरे-धीरे आगे की ओर बढ़ने लगी। 'पथरी' के आगे बढ़ने की गति इतनी होती है कि वह दो या तीन मास में 15 सेंटीमीटर आगे चली आती है। कभी-कभी यह भी देखा गया है कि प्रयोगों के पहले ही दिन पथरी बाहर आ गई। ध्वनि चिकित्सा का संपूर्ण कोर्स मात्र पाँच से दस दिन का होता है और इसी दौरान पथरी जैसे रोग से बिना चीर-फाड़ के रोगी को मुक्ति मिल जाती है। □□

वैज्ञानिक चेतना

वर्तमान युग में वैज्ञानिक सत्यों और उपलब्धियों से प्रभावित एक बदली हुई विचार-पद्धति का ही नाम है वैज्ञानिक मानसिकता, वैज्ञानिक अभिरुचि या वैज्ञानिक चेतना। पूर्व संस्कारों या मताग्रहों से मुक्त होकर सूक्ष्म निरीक्षण और तार्किक विश्लेषण के सहारे किसी निष्कर्ष तक पहुँचने और सत्य को खोजने की लालसा को ही वैज्ञानिक मनोवृत्ति समझा जा सकता है। वैज्ञानिक मनोवृत्ति की अपेक्षा न केवल वैज्ञानिकों, विज्ञान-शिक्षकों, अनुसंधानकर्त्ताओं या विज्ञान के विद्यार्थियों के लिए है बल्कि यह सम्पूर्ण मानवसमाज की विवेकपूर्ण प्रगति के लिए आवश्यक शर्त है। यही चेतना प्रत्येक मानव को अपने चारों ओर के रहस्यों और चुनौतियों की गुत्थी को सुलझाने की प्रेरणा देती है। इस संदर्भ में यह भी जान लेना आवश्यक है कि वैज्ञानिक उपलब्धियों के प्रति आकर्षण और स्वस्थ वैज्ञानिक अभिरुचि में बड़ा भेद है। वैज्ञानिक उपलब्धियों को स्वीकार कर लेना मानव की भौतिक आवश्यकता या दूसरे शब्दों में उसकी नियति है जबकि वैज्ञानिक चेतना उसके जीवन-दर्शन का मूल आधार या जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण है।

हमारा वर्तमान् सामाजिक वातावरण और हमारी त्रुटिपूर्ण शिक्षा-व्यवस्था दोनों ही वैज्ञानिक चेतना को आत्मसात करने के मार्ग में बाधक हैं क्योंकि इन दोनों में प्रारम्भ से ही बालक की जिज्ञासु प्रवृत्ति का गला घोंट दिया जाता है और प्राप्त ज्ञान को अधिक से अधिक रट कर भली प्रकार दोहरा सकना उसकी उपलब्धि मानी जाती है। वैज्ञानिक मनोवृत्ति के लिए मौलिकता, स्वयं विचार-क्षमता, सूक्ष्म निरीक्षण, तर्कसम्मत दृष्टिकोण की नितांत आवश्यकता है।

साधारणतः हम सभी दोहरे मापदण्डों में जीते हैं—एक विचारों के स्तर पर और दूसरा व्यवहार के स्तर पर। यहाँ तक कि वैज्ञानिक स्वयं भी इस दोहरेपन से ग्रस्त हैं। यह भी वैज्ञानिक अभिरुचि के मार्ग में बड़ी बाधा है। इसके अतिरिक्त यह समझना भी आवश्यक है कि क्या धर्म उस लक्ष्य में अवरोधक है जैसा कि सामान्यतया माना जाता है या धर्म का सही स्वस्थ स्वरूप मनुष्य का विवेकशील व्यक्तित्व गढ़ने में सहायक है ?

वैज्ञानिक मनोवृत्ति का प्रसार एक जन-आन्दोलन बन सके इसके लिए दोषपूर्ण शिक्षा-प्रणाली, जड़रूढ़ियों के प्रति दुराग्रह और व्यवस्था के दानव से कड़ा संघर्ष करना होगा। इस आन्दोलन में संचार माध्यमों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होगी। देश की स्वस्थ और सम्पूर्ण प्रगति का रहस्य समस्याओं के प्रति वैज्ञानिक मनोवृत्ति अपनाने में ही छिपा है। 'विज्ञान' में उन सभी विचारों, उन सभी लेखों का स्वागत है जो देश में वैज्ञानिक चेतना के प्रचार-प्रसार में थोड़ा भी योगदान दे सकते हैं।□□

इर्विन श्रोडिंगर

डॉ० एम० एस० वर्मा

महापुरुष किसी भी क्षेत्र के हों, वे अपनी छाप समूची मानवता पर अवश्य ही छोड़ते हैं। **श्रोडिंगर** ऐसी ही एक महान् आत्मा थे जिन्होंने भौतिकी का विद्वान होते हुए भी सारी मानवजाति से सम्मान पाया।

श्रोडिंगर का जन्म आज से सौ वर्ष पूर्व 12 अगस्त 1887 को हुआ था। आज उनका यश चारों ओर फैला हुआ है। सबसे अधिक नाम उन्होंने अपने समीकरण के कारण कमाया, जिसे हम आज **तरंग समीकरण** अथवा **श्रोडिंगर समीकरण** के नाम से जानते हैं। यह समीकरण कोई खास जटिल समीकरण नहीं है, सिर्फ द्वितीय कोटि का आंशिक अवकल समीकरण है जो कणों की संहतियों तथा कणों के बीच लगे विभवों पर आधारित है। यह समीकरण क्वाण्टम यांत्रिकी की बहुत सारी समस्याओं को हल करने में काम आता है। इसी के आधार पर हम आज जानते हैं कि किसी भी परमाणु के s कक्षक का आकार गोलाकार तथा p का डम्बेल के आकार का होता है।

यह बहुत ही सरल समीकरण है। इसकी सरलता का अन्दाज़ा **प्रोफेसर डब्ल्यू० बी० भागवत्** की इस टिप्पणी से लगाया जा सकता कि **"श्रोडिंगर को सिर्फ इस बात के लिए 'नोबेल पुरस्कार' दे दिया गया कि उसने द्विविम अवकल समीकरण को त्रिविम निकायों में लगा दिया।"**

श्रोडिंगर का प्रारम्भिक जीवन आस्ट्रिया में बीता। उनकी प्रथम नियुक्ति ज़ूरिख़ में हुई। यहाँ वे 1927 तक रहे अर्थात् अपने समीकरण का सारा महत्त्वपूर्ण कार्य उन्होंने ज़ूरिख़ में किया। फिर उसी वर्ष **प्लांक** के उत्तराधिकारी के रूप में वे बर्लिन चले गए। 1933 में उन्होंने **डिरैक** के साथ 'नोबेल पुरस्कार' को सहभाजित किया। देखिए विधि की बिडम्बना कि 'नोबेल पुरस्कार' प्राप्त करने वाले वर्ष में ही **हिटलर** के सत्ता में आ जाने से उन्हें देश छोड़ना पड़ा। उसके बाद के तीन वर्षों को श्रोडिंगर की ज़िंदगी के दुर्दिन कह सकते हैं। ये तीन वर्ष उन्होंने ऑक्सफोर्ड में गुज़ारे और फिर 1936 में ग्रेज को लौट गए। यह निर्णय भी बुद्धिमत्तापूर्ण साबित नहीं हुआ, क्योंकि ग्रेज से रोम और फिर 1940 में आयर जाना पड़ा, जहाँ पर **डी० बेलरा** ने उनका स्वागत किया। वहाँ पर उन्होंने नवनिर्मित 'डबलिन इंस्टीट्यूट फॉर एडवांस्ड स्टडीज़' में कार्य आरम्भ किया। वहाँ 15 वर्ष तक 'स्कूल ऑव थिअरेटीकल फ़िज़िक्स' के निदेशक रहे। अन्त में वे आस्ट्रिया को लौट आए और 1961 में स्वर्ग सिधार गए।

यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि समीकरण की खोज के समय श्रोडिंगर की आयु 30 वर्ष थी, जबकि उनके अन्य समकालीनों की महत्वपूर्ण खोज के समय 24 से 26 वर्ष के बीच थी अर्थात् **हाइज़नबर्ग** की 24, **डिरैक** की 24, **पॉली** की 25 तथा **आइंस्टाइन** की 26 वर्ष थी। इस आयु में उन्हें भौतिकी के मूल आधारों में होते हुए परिवर्तनों को

रसायन अध्ययनशाला, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

स्वीकार करने में भी आपत्ति होती थी। वास्तव में, वे चिर सम्मत या पुराने विचारों से चिपक गए थे। इसीलिए उन्होंने अपना 'तरंग समीकरण' **मैक्सवेल** की 'इलेक्ट्रोमैग्नेटिक तरंग थिअरी' के आधार पर ही दिया।

'क्वाण्टम कूदों' के वे पक्षधर नहीं थे। उनका विचार था कि उनका समीकरण तरंगफलनों को एक सतत रूप में समझाने में कामयाब होगा। यह जानकर वे व्यथित थे कि 'क्वाण्टम कूदें' आन्तरिक रूप से उनके समीकरण में में समाई हुई हैं। उनका विचार था—"यदि हमें इन घृणित क्वाण्टम कूदों को मानकर ही चलना पड़ेगा, तो मुझे खेद है कि मैं कभी इनमें शामिल था"। वे **गिरार्डी, रीमिनो तथा वोबर** के सुझाव, "हाँ वास्तव में, तरंग फलन का विकास **श्रोडींगर** के समीकरण के अनुसार ही होता है, किन्तु कभी-कभी यह 'फलन कूद' भी लगाता हैं", को जानकर संभवतः और अधिक व्यथित हुए होते।

पते की बात यह है कि पैबन्द लगाकर बनाई गई ये परिकल्पनायें प्रारम्भ में कभी भी सटीक व सुन्दर नहीं होती हैं, किन्तु फिर भी उनको आने वाली सुन्दर वस्तुओं का संकेत माना जा सकता है।

यंग का कथन कि "श्रोडिंगर का सबसे महत्त्वपूर्ण तथा बहुत अरसे तक चलने वाला योगदान यह एहसास करा देता है कि संमिश्र संख्याएँ प्रकृति की आन्तरिक विशेषताओं का वर्णन करने का सर्वाधिक सशक्त माध्यम हैं"। **यंग** ने यह बात **डिरैक** की टिप्पणी कि "**हाइजनबर्ग** तथा **श्रोडिंगर** की असली प्रतिभा प्रावस्था आयाम खोजने में थी" के आधार पर की थी। **यंग** का मानना है कि इस खोज का महत्त्व 1970 तक लोगों को समझ में नहीं आया, किन्तु अब यह धारणा है कि सभी मूलभूत बल प्रावस्था क्षेत्र ही होते हैं। भौतिकी में **आयोटा** $(i=\sqrt{-1})$ का प्रवेश, **श्रोडिंगर** का बहुत बड़ा योगदान है।

पी० डब्ल्यू० एटकिन के अनुसार **श्रोडींगर** पर उनके दादा **बोल्ट्समान** का बहुत प्रभाव था। हालाँकि वे दोनों कभी मिले नहीं। **श्रोडिंगर** की विज्ञान में रुचि भी **बोल्ट्समान** की प्रेरणा से हुई। **श्रोडिन्गर** का कथन कि "उनके (**बोल्ट्समान** के) सोचने की विधि को विज्ञान में मेरा पहला प्यार माना जा सकता है। किसी दूसरे ने मुझे इतना सम्मोहित कभी नहीं किया और न कभी करेगा", इसकी पुष्टि करता है। इस तरह **श्रोडिंगर** की मनोवृत्ति की जड़ उनके दादा के कार्य में थी, किन्तु दोनों का कार्य-क्षेत्र अलग-अलग था। दोनों ही **डारविन** के प्रशंसक थे, संभवतः उसी से **श्रोडिंगर** को जीवविज्ञान में घुसपैठ का प्रोत्साहन मिला। **श्रोडिंगर** उसमें से जीवन का भौतिक आधार प्राप्त करना चाहते थे।

साधारणतः सम्पूर्ण विश्व और विशेषतः विज्ञान-विश्व उनका चिर ऋणी रहेगा। ऐसी बात नहीं है कि उनकी खोज इतनी महान थी कि दूसरों के द्वारा नहीं हो सकती थी। महत्त्वपूर्ण यह है कि उनमें वह शक्ति और आत्मविश्वास था कि उसे खोजने वाले वे प्रथम व्यक्ति थे और उन्होंने उसके बहुत सारे उपयोग भी बतलाए।

किलमिस्टर द्वारा सम्पादित पुस्तक (1987) 'श्रोडिंगर : सेण्टेनरी सैलीब्रेशन ऑव ए पॉलीमैथ' पर टिप्पणी करते हुए **एटकिन** ने कहा है कि **श्रोडिंगर** ने अपने पीछे 'परिकलनीय शक्ति और जटिल समस्याओं' के रूप में जो रिक्थ छोड़ा है, वह इतना सुन्दर और सरस है कि यदि **श्रोडिंगर** आज जीवित होते तो उसका खूब रसास्वादन करते।

आज भौतिक रूप में श्रोडिंगर हमारे बीच नहीं हैं, किन्तु विज्ञान को दिया गया उनका योगदान विशेषतः उनका समीकरण कभी नहीं मरेगा। अपने कार्यों में वे सदैव जीवित रहेंगे। □□

भारतीय विज्ञान किधर ?

डॉ० शिवगोपाल मिश्र

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के 40 वर्षों बाद जब हम भारत में विज्ञान की स्थिति—उसकी प्रगति, उसकी दिशा का जायजा लेने बैठते हैं तो अजीब मन:स्थिति हो जाती है। एक ओर जहाँ हमें यह कहते गर्व का अनुभव होता है कि हमारे देश में तीस लाख का वैज्ञानिक जनबल है और कुछ क्षेत्रों में हम अग्रणी हैं—यथा गणित, ताराभौतिकी या अणुजैविकी क्षेत्र में, प्रौद्योगिकी में भी हम पिछड़े नहीं, नाभिक शक्ति, अन्तरिक्ष कार्यक्रम तथा समुद्र विज्ञान में भी हम काफी आगे हैं। किन्तु दूसरी ओर जब हम देखते हैं कि हमारे देश में बिजली की आपूर्ति असन्तोषजनक है, हमारे देश की टेलीफोन प्रणाली प्राय: ठप्प हो जाती है और हमारी सड़कें जीर्ण-शीर्ण अवस्था को प्राप्त हैं तो रोना आ जाता है। तो क्या यही हमारी वैज्ञानिक प्रगति है ?

वैसे अब विज्ञान हर क्षेत्र में प्रविष्ट हो चुका है। चाहे आप राजनीतिक भाषणों को लें, या समाचार पत्रों को, चाहे आप देहातों की बात करें या शहरों की, सर्वत्र विज्ञान की विजय दुन्दुभी बजाने वाले समाचार सुनने को या शोध संस्थान, वैज्ञानिक प्रतिष्ठान देखने को मिलेंगे एवं जनता के जीवन-स्तर में सुधार भी दिखेगा। बड़े-बड़े शहरों में तो नित ही वैज्ञानिक गोष्ठियों, सम्मेलनों, प्रदर्शनियों या मेलों की धूम मची रहती है। यह सचमुच देश में विज्ञान की उन्नति का परिणाम है किन्तु इसके साथ ही जन-मानस में इस उन्नति के प्रति असन्तोष व्याप्त है। ऐसा क्यों है ?

आज से 100 वर्ष पूर्व 'आर्यसमाज' के प्रवर्तक **स्वामी दयानन्द** ने "सत्यार्थ प्रकाश" नामक ग्रंथ लिखकर धार्मिक ढोंगों की भर्त्सना करते हुए देश में वैज्ञानिक परिवेश उत्पन्न किये जाने की आवश्यकता पर बल दिया था। वे विज्ञानवेत्ता न थे किन्तु भविष्य-द्रष्टा अवश्य थे। वे जानते थे कि देश में वैज्ञानिक वातावरण ही वह मुक्त आकाश हो सकता है जिसमें भावी आर्यजन अपने योगदान द्वारा देश को समृद्ध कर सकते हैं। सचमुच जब देश स्वतन्त्र हुआ तो **पं० जवाहर लाल नेहरू** ने विज्ञान एवं प्राकृतिक संसाधन का मन्त्रालय बनाकर कुछ मूलभूत नीतियाँ निर्धारित कीं जिनका उद्देश्य देश में **वैज्ञानिक मनोवृत्ति** (Scientific temper) को बढ़ावा देना था। 1958 में उसी के तहत वैज्ञानिकों का एक सम्मेलन बुलाया गया जिसमें विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी की नीति का निर्धारण हुआ। और पूरे पच्चीस वर्षों तक देश में इसी के आधार पर वैज्ञानिक विकास हुआ।

लेकिन 1980 के बाद यह अनुभव किया जाने लगा कि विज्ञान का लाभ देश की अधिकांश जनता को नहीं पहुँच पा रहा है अतएव ग्रामीण विकास के लिए विज्ञान को सम्प्रयुक्त करमें के प्रयास प्रारम्भ हुए। फिर तो पर्यावरण की सुरक्षा, अन्तरिक्ष विज्ञान की नई चुनौतियों का सामना करने के लिए नये-नये कार्यक्रम बनने लगे और अंटार्कटिका अभियान जैसे कार्यक्रम में भी तेज़ी लाई गई। स्पष्ट है कि देश को इक्कीसवीं सदी में ले जाने के लिए यह सब अनिवार्य था। इसी प्रसंग में विज्ञान की प्रगति से जुड़े वैज्ञानिकों की कार्यशैली और जीवनशैली की भी समीक्षा की गई। राजनीतिज्ञ सदा से वैज्ञानिकों की पीठ पर सवारी करते रहे हैं और कुछ वैज्ञानिक भी ऐसे होते रहे हैं जो ख्याति के लोभ में आकर अपने मार्ग को भूलकर उनके साथ चलते रहे हैं। हमारे देश में भी ऐसा हुआ है। किन्तु जरा हम अपने वैज्ञानिकों तथा अपनी सरकार के सम्मिलित प्रयासों का विहंगाव-लोकन कर लें तब और कुछ कहेंगे।

निदेशक, शीलाधर मृदा अनुसंधान संस्थान, इलाहाबाद

देश को अग्रणी राष्ट्र बनाने की चेष्टा में सरकार तथा वैज्ञानिकों ने एकजुट होकर कृषि तथा स्वास्थ्य की समस्याओं पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। इसका परिणाम यह हुआ कि कृषि-क्षेत्र में आत्म-निर्भरता प्राप्त हो सकी। स्वास्थ्य के क्षेत्र में कोढ, मलेरिया, हैजा जैसे रोगों के उन्मूलन पर बल दिया गया, नये-नये टीके और नई-नई आयुर्वेदिक दवाइयाँ बनाई गईं। लखनऊ, बम्बई, हैदराबाद में ओषधि, कैंसर तथा जैविकी के केन्द्र स्थापित किये गये और सरकार ने अपनी योजना घोषित की—"2000 तक सबके लिए स्वास्थ्य।" देश भर में स्थित 500 शोध संस्थानों में उत्तमोत्तम कार्य सम्पन्न हुआ। यह तो वैज्ञानिक प्रगति का उजला पहलू (शुक्ल पक्ष) है। इस प्रगति का एक श्याम पक्ष भी साथ-साथ चलता रहा है और शायद देश की ठीक से प्रगति न होने का मूल कारण भी वही है।

किसी समय विश्वविद्यालय शिक्षा के सर्वोच्च एवं सर्वश्रेष्ठ केन्द्र माने जाते थे किन्तु आज देश में विश्वविद्यालयों की जितनी बड़ी संख्या है (इस समय 120 विश्वविद्यालय हैं), उसके अनुपात में वैज्ञानिक प्रगति में उनका योगदान नगण्य कहा जावेगा। विश्वविद्यालयों की अधोगति का कारण उनकी उपेक्षा है—आज अच्छा अध्यापक, अच्छा शोधकर्त्ता और अच्छा विद्यार्थी ढूँढ़ पाना मुश्किल हो गया है। कहने के लिए ही विश्वविद्यालय ज्ञान के उत्स या भावी वैज्ञानिकों की जन्मभूमि रह गये हैं। उनमें सभी प्रकार से गुणात्मक ह्रास हुआ है। कहा जाता है कि यह विश्वविद्यालयों के साथ सौतेले व्यवहार के कारण हुआ है। देश के आई० आई० टी० में ही सारा वैभव सिमट जाने से सारी प्रतिभाएँ उन्हीं की ओर आकृष्ट होने लगी हैं। और इनसे प्रशिक्षित होकर निकलने वाले वैज्ञानिकों का सादगी, राष्ट्रीयता या मितव्ययता जैसे नारों में रंच भी विश्वास नहीं है। उनके लिए देश में 'गाँधीवाद' अनावश्यक है। ऐसे ही वैज्ञानिकों का अपना सम्प्रदाय बन चुका है जो राजनीतिज्ञों की ही तरह अपना वर्चस्व बनाये रखना चाहते हैं। इसी कारण परम्परागत विश्वविद्यालय पुराने पड़ चुके हैं—वे समय की माँग को पूरा करने में असमर्थ हैं।

इन आई-आई टी० से निकले वैज्ञानिक इंजीनियरी तथा भौतिक संस्थानों से सम्बद्ध हैं, और सुविधा भोगी विशिष्ट वर्ग के वैज्ञानिक हैं। ये संस्थान प्रायः बड़े-बड़े शहरों के एक छोर पर बनाये गये हैं—जिनके विस्तार-क्षेत्र काफी हैं और जिनके कैम्पस में ही सारी सुविधाएँ उपलब्ध कराई जाती हैं। इन संस्थानों के वैज्ञानिक प्रायः विदेशी डिग्रीधारी हैं। ये अध्यापन एवं शोधकार्य के अतिरिक्त प्रायः वैज्ञानिक सम्मेलनों में भाग लेने के लिए विदेश जाते रहते हैं। इनमें से कुछ वैज्ञानिक अपनी शोधों का प्रकाशन देशी शोध-पत्रिकाओं में न कराकर प्रायः सम्मेलनों में ही अपना शोध-विमोचन करते हैं। अधिकांश वैज्ञानिक अपने शोध-पत्रों को विदेशी पत्रिकाओं में छपाने में गर्वित अनुभव करते हैं। वे भूल जाते हैं कि देश में 800 से अधिक शोध पत्रिकाएँ हैं। हाँ, कभी-कभी विदेशी पत्रिकाओं से लौट कर आये हुए शोधपत्रों को वे देशी पत्रिकाओं में अवश्य भेजते रहते हैं। इन शोधपत्रों के निम्न स्तर का प्रमाण यही है कि इनमें दिये गये सन्दर्भ बासी होते हैं।

ये राजसी वैज्ञानिक जिन राजसी संस्थानों एवं पीठों में कार्य करते हैं उनमें अच्छे से अच्छे आधुनिकतम उपकरणों की बहुतायत रहती है। नित्य ही विदेशों से महँगे से महँगे उपकरण आते रहते हैं किन्तु अधिकांश उपकरण बिना प्रयोग के पड़े रहते हैं, उनमें कोई कार्य नहीं होता। वे संस्थान की प्रतिष्ठा के सूचक बने रहते हैं। दूसरी ओर बेचारे विश्वविद्यालय, अपने सीमित अनुदान से नये-नये उपकरण न खरीद पाने के कारण जीर्ण-शीर्ण प्राचीन उपकरणों से काम चलाते हैं। कितनी विषमता है!!

कुछ वैज्ञानिक ऐसे हैं जो अपने शोध कार्यों को लोकप्रिय बनाने में जुटे रहते हैं। उदाहरणार्थ, वन संस्थान, देहरादून या लखनऊ का ओषध संस्थान जहाँ के वैज्ञानिक शोधकार्य के साथ-साथ अपनी खोजों से

अधिकाधिक वैज्ञानिकों को लाभान्वित कराने के उद्देश्य से कुछ विशिष्ट कार्यक्रम चालू करते हैं।

इन दोनों प्रकार के वैज्ञानिकों से भिन्न एक तीसरा वर्ग है उन वैज्ञानिकों का जो स्वेच्छा से विज्ञान के प्रचार-प्रसार में दत्तचित्त है। आप इन्हें वैज्ञानिक न भी कहें तो भी विज्ञान के प्रसार द्वारा देश में वैज्ञानिक परिवेश बनाने के लिए उत्तरदायी हैं। अपने-अपने काम में श्री **जे० सी० बोस**, **पी० सी० राय**, **रामन**, **भाभा**, **धर**—सभी ने विज्ञान को लोकप्रिय बनाने का सराहनीय कार्य किया। आज भी देश में **मेनन**, **यशपाल**, **स्वामीनाथन**, **मेहरोत्रा**, **राव** जैसे उच्चकोटि के वैज्ञानिक इस दिशा में कार्यशील हैं।

देश भर में विभिन्न भारतीय भाषाओं के माध्यम से विज्ञान सामग्री प्रकाशन या सृजन में संलग्न अनेकानेक संस्थाएँ, परिषदें भी कम सराहनीय कार्य नहीं कर रहीं। इसी तरह 'चिपको आन्दोलन' या 'एपिको आन्दोलन' की अपनी-अपनी भूमिका है।

इतने पर भी यदि देश में विज्ञान को सही दिशा या सही प्रतिष्ठा नहीं मिल पाई तो उसके अनेकानेक कारण हैं। "द वर्ल्ड साइंटिस्ट" मासिक पत्रिका के मार्च 1987 अंक में फ्रांसीसी महिला **मार्टिन बैरैर** का एक विस्तृत लेख प्रकाशित हो चुका है। उसी के आधार पर इन कारणों का यहाँ अंकन किया जा रहा है।

प्रथम कुछ धार्मिक विचारधाराएँ वैज्ञानिक उत्थान की विरोधी हैं क्योंकि इससे किसी धर्म विशेष के अनुयायियों का वर्चस्व घटता है। दूसरा अवरोध है भाषा का। विज्ञान की भाषा अंग्रेज़ी है जिसे केवल तीन प्रतिशत लोग ही बोलते हैं जबकि देश में पन्द्रह अन्य भाषाएँ हैं जो माध्यमिक स्तर तक शिक्षा की माध्यम हैं। केवल कुछ निजी संस्थाएँ अंग्रेज़ी माध्यम से पूरी शिक्षा देती हैं और खेद का (हर्ष ?) विषय है कि राष्ट्र का पूरा नेतृत्व इन्हीं संस्थाओं से पढ़कर निकले नवयुवकों के हाथों में है। सरकारी विद्यालयों की पढ़ाई दयनीय है। स्पर्धा-परीक्षाएँ ऐसी बनी हुई है कि देशी भाषा जानने वाले सामान्य विद्यालयों के विद्यार्थी अपने को निरुपाय पाते हैं। चोटी के वैज्ञानिकों को इसकी तनिक भी परवाह नहीं है। परिणाम यह हुआ है कि विज्ञान की पहुँच कुछ ही लोगों तक हो पाई है। यहाँ विज्ञान का सृजन दैनिक जीवन की भाषा में नहीं होता। यहाँ वह अनूदित होकर लोगों तक पहुँचता है।

फिर आता है **प्रतिभा पलायन** का प्रश्न। देश का बढ़िया-बढ़िया मस्तिष्क तो विदेश चला जाता है। आँकड़े बताते हैं कि अमेरिका में 50 हज़ार, ग्रेट ब्रिटेन में तथा कनाडा में दस हज़ार, जर्मनी के भी कुछ हज़ार और फ्रांस में सैकड़ों भारतीय वैज्ञानिक प्रवासी के रूप में हैं। अनुमान है कि प्रतिवर्ष दस हज़ार विद्यार्थी विदेशों में अध्ययन करने के लिए जाते हैं और लगभग 2000 वैज्ञानिक प्रतिवर्ष भारत वापस भी आते हैं जिनमें से आधे वैज्ञामिक काम पा जाने के कारण यहीं रुक जाते हैं, किन्तु शेष आधे काम न मिलने से वापस चले जाते हैं। सी० एस० आई० आर० पूल इसका साक्षी है। इधर देश में बहुत शोर-गुल मचा कि वैज्ञानिक प्रतिभा का पलायन हो रहा है तो सी० एस० आई० आर० ने **250** वैज्ञानिकों की एक सूची बनाई है जो समय आने पर देश आकर सलाह दे सकते हैं। वैसे देश में आने वाले अनेक वैज्ञानिक अपने परिजनों से मिलने के अतिरिक्त देश के विभिन्न संस्थानों तथा विश्वविद्यालयों में भाषण भी देते हैं और वैज्ञानिक बन्धुओं से विचार-विमर्श करते हैं।

किन्तु प्रतिभा पलायन का एक ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत होता है उद्योग (Industry) की ओर दौड़। ज्योंही किसी छात्र को किसी उद्योग में नौकरी का आमन्त्रण मिलता है कि वह विश्वविद्यालय या संस्थान को लात मारकर पी-एच० डी० का शोधकार्य अधूरा ही छोड़कर उद्योग में चला जाता है। फलतः भारतीय विज्ञान को अनेकानेक प्रतिभाशाली छात्रों के योगदान से वंचित रह जाना पड़ता है। **यह अत्यन्त शोचनीय स्थिति है**। आज के प्रतिभाशाली युवा वैज्ञानिक शोध तथा अध्ययन कार्य को छोड़कर धन, यश तथा स्वत्व वाले पदों पर बैठ जाना श्रेयस्कर समझते हैं। इसी-

लिए न जाने प्रतिवर्ष कितने युवा इंजीनियर अथवा डॉक्टर अपना-अपना कार्य छोड़कर प्रशानिक सेवा में जाते रहते हैं। इसके कई कारण बतलाये जा सकते हैं। एक तो शोध संस्थानों तथा विश्वविद्यालयों का वातावरण ठीक नहीं रहता। वहाँ के निदेशकों या विभागाध्यक्षों से दबकर रहना पड़ता है। ये लोग नियुक्तियों के समय योग्यता को ताक पर रखकर अपने पक्षधरों की नियुक्ति करते हैं। इससे प्रतिभाशाली वैज्ञानिकों को निराशा होती है। दूसरे यह कि शोधकार्य का महत्व अध्यापन या शोध संस्थान में प्रवेश पाने के समय तक ही रहता है। शोध-अनुभव का अन्यत्र किसी अन्य क्षेत्र में कोई उपयोग नहीं हो पाता, उल्टे कभी-कभी अयोग्यता का कारण बनता है। तीसरा यह कि उद्योगों में मिलने वाला वेतन शोध या अध्यापन पदों की तुलना में काफी ऊँचा (5 गुना तक अधिक) होता हैं। इसी त्रुटि को दूर करने के लिए हाल ही में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने शिक्षकों के वेतन मान में आमूल परिवर्तन करके उसे अत्यन्त आकर्षक बना दिया है। इसके पूर्व भी कुछेक वैज्ञानिकों को यथा भौतिकीविदों, गणितज्ञों आदि को विशेष सुविधाएँ प्रदान की जाती रही हैं।

विज्ञान के विकास के लिए राष्ट्रीय वजट में अनुदिन वृद्धि की जाती रही है। अगले पाँच वर्षों में 1980-85 की तुलना में विज्ञान के विकास में ढाई गुनी अधिक राशि खर्चने का प्राविधान किया गया है। इस राशि का व्यय कृषि, खाद्य, मौसम, सिचाई, ऊर्जा, उर्वरक, स्वास्थ्य, परिवार नियोजन जैसे मदों पर किया जावेगा। इसके अतिरिक्त नाभिकीय ऊर्जा, अन्तरिक्ष विज्ञान तथा समुद्र विज्ञान पर पूर्ववत् व्यय होता रहेगा। आधुनिकतम उपकरणों को लगाने की दिशा में भी कदम उठाये जावेंगे और कम्प्यूटरों पर विशेष बल दिया जावेगा। इससे भारतीय विज्ञान का भविष्य अत्यन्त रंगीन एवं सुखद प्रतीत होता है। किन्तु, फिर भी अजीब द्वन्द्व की स्थिति बनी हुई है, क्योंकि वैज्ञानिक ज्ञान काफी विस्तृत एवं अगाध है साथ ही देश में उद्योग का समुचित विकास न हो पाने से देश की सारी आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो पा रहीं, ग्रामों को विज्ञान का पूरा-पूरा लाभ नहीं मिल पा रहा है।

यह द्वन्द्वात्मक स्थिति किसी भी राष्ट्र के लिए चेतावनी का कार्य करती है। विकासशील राष्ट्र भारत को अमेरिका तथा रूस की पंक्ति में स्थान पाने के लिए अत्यन्त संयम, अनुशासन, परिश्रम एवं सतर्कता बरतनी होगी। हर वैज्ञानिक का पुनीत कर्तव्य होगा कि वह राष्ट्र को सर्वोपरि महत्व प्रदान करे। उसकी श्रेष्ठता से ही व्यक्ति को सम्मान मिलेगा। सारी वैज्ञानिक संस्थाएँ राष्ट्र के उत्थान को अपना लक्ष्य बनावें, यही अभीप्स है। □□

अंधविश्वासी वैज्ञानिक

जहाँ **कॉपरनिकस** जैसे वैज्ञानिकों के उदाहरण हमारे सामने हैं जो अंधविश्वास के अंधेरे में विज्ञान के सत्य के दीप जलाते रहे, वहीं ऐसे भी अनेक वैज्ञानिकों के उदाहरणों की कमी नहीं है, जो वैज्ञानिक होने के बावजूद अपने पूर्वाग्रहों के कारण नये आविष्कार का विरोध ही करते रहे। आज से दो सौ वर्ष पूर्व प्रथम रेल का उद्भव पश्चिमी समाज में हुआ, तब इसका सबसे अधिक विरोध भी पश्चिम के ही वैज्ञानिक **डॉ० सोलमनली** ने किया। उनकी यह धारणा थी कि ट्रेन की तेज़ गति होने के कारण उसमें बैठने वाले यात्रियों के आँख, नाक और मुँह से खून निकलने लगेगा। आज जबकि ध्वनि से भी तेज़ गति के अंतरिक्षयान से मनुष्य चाँद तक होकर लौट आये है, **डॉ० सोलमनली** का तर्क कितना हास्यास्पद सा लगता है।

तेज़ी से विलुप्त होती भारतीय वन्यप्राणी संपदा

सतीश कुमार शर्मा

वन एवं वन्यप्राणियों की विविधता के लिये भारत विश्व भर में जाना जाता है। देशी रियासतों के ज़माने को वन एवं वन्य प्राणियों का स्वर्णयुग कहा जा सकता है। हालांकि उस समय शिकार राजा-महाराजाओं का शौक एवं दुर्व्यसन ज़रूर था फिर भी आम शिकारियों से वन्य प्राणियों की रक्षा की गारन्टी थी। राजा-महाराजाओं द्वारा खूब शिकार किये जाने के बावजूद भारत के जंगल, जंगली जीवों से भरे रहते थे। परन्तु अंग्रेज़ों का आगमन भारतीय वन एवं वन्य संपदा के लिये वज्रपात सिद्ध हुआ। अंग्रेज़ों ने वनों का आर्थिक मुनाफे के लिये बहुत भारी पैमाने पर दोहन किया। उनके हाथों वन्य प्राणियों का कितना विनाश हुआ यह इसी उदाहरण से समझा जा सकता है कि 12 नवम्बर 1938 को वॉयस रॉय **लिनलिथिगो** के 'घना पक्षी बिहार, भरतपुर' पधारने पर उनके सम्मान में 39 बन्दूकों से 4273 पक्षियों को मात्र एक ही दिन में मौत के घाट उतार दिया गया था।

देश की आज़ादी के बाद भी वन्य प्राणियों का नाश रुका नहीं। आज कई वन्य प्राणी बहुत ही दयनीय स्थिती में जी रहे हैं और अनेकानेक किस्में भी इसी स्थित की ओर ढकेली जा रही हैं। आज कितनी ही वन्य प्राणी प्रजातियाँ विलुप्तीकरण की तरफ बढ़ चली हैं। भारत में स्तनधारियों की कोई 350 प्रजातियाँ पाई जाती हैं, जिनमें से 81 प्रजातियाँ विलुप्तीकरण के ख़तरे का सामना कर रही हैं। भारतीय स्तनधारी वन्य प्राणियों में प्राइमेटों (Primates) की 19 प्रजातियाँ पाई जाती हैं जिनमें 12 प्रजातियाँ ख़तरे में जी रही हैं। 36 किस्मों की मांसाहारी प्रजातियों में से 28 प्रजातियों के जीवन को ख़तरा उत्पन्न हो गया है। खुर वाले प्राणियों की 32 किस्मों में से 20 किस्में ख़तरे में घिरी हुई हैं। कुतरने वाले 95 किस्म के प्राणियों में से 13 किस्मों के प्राणी विलुप्तीकरण के घेरे में खड़े हैं। जलीय स्तनधारियों की सभी 25 किस्में भी विलुप्तीकरण की तरफ जा रही हैं।

पक्षियों की कोई 2100 प्रजातियाँ भारत में पाई जाती हैं जिनमें अधिकांश ख़तरे में जी रही हैं। लालसिर की बतख़, सफेद पंखों वाली बतख़, कई तरह की क्रेनें, तीतर कुल के अधिकांश सदस्य, गोडावण, कई तरह के हॉर्नबिल आदि अनेकानेक पक्षी आज विलुप्तीकरण के कगार पर खड़े हैं।

सरीसृपों की हालत भी गंभीर है। कितनी ही किस्मों के मीठे एवं समुद्री जल के कछुये, क्रोकोडाइलों (घड़ियाल, मगर) की सभी तीन किस्में, गोह की सभी पाँच किस्में एवं साँपों की अनेकानेक किस्में आज विनाश की ओर अग्रसर हैं, जिनमें अजगर तथा अण्डे खाने वाले सर्पों की हालत दयनीय है।

कुछ सेलामेन्डर, टोड एवं मेंढक भी ख़तरे में हैं। विदेशी मुद्रा कमाने के लालच में कुछ किस्म के मेंढकों की टाँगें भी बड़े पैमाने पर विदेशों को भेजी जाती रही हैं। यदि हमने मेंढकों के संरक्षण में देर की तो मेंढकों के संरक्षण की समस्या भी विकराल रूप धारण कर लेगी।

हमारे जंगलों से बड़े जानवरों का ही नहीं, तुच्छ समझे जाने वाले कितने ही छोटे-छोटे अपृष्ठवंशी प्राणियों का सफाया भी बड़े पैमाने पर हुआ है। नारियल केकड़ा जैसे बड़े आकार के अपृष्ठवंशी प्राणी

वन प्रसार अधिकारी, वन चेतना केन्द्र, गुलाब बाग़, उदयपुर—313001

से लेकर रंग-विरंगी नन्हीं-नन्हीं तितलियाँ तक मनुष्य की मार से बच नहीं पाईं ।

यहाँ हम तितलियों की चर्चा थोड़ा विस्तार से करेंगे । हमारे देश में कोई 30,000 किस्मों के कीट-पतिंगे पाये जाते हैं जिनमें तितलियों की अनेकानेक किस्में पाई जाती हैं । परन्तु विगत कुछ वर्षों से तितलियों की न केवल संख्या कम हुई है अपितु अनेकानेक किस्में दुर्लभ भी हो चली हैं ।

इस देश में **एमैन्थेसिडी** कुल की 26 प्रजातियों की कोई 55 किस्मों की तितलियाँ ज्ञात हैं जिनमें 14 किस्में दुर्लभ हो गई हैं जैसे **डिस्कोफोरा देव देव** (*Discophora deo deo*), **डि० सोनडेका म्यूसीना** (*D. Sondaica muscina*), **फौनिस फौन्यूला फौन्यूलोइडोज** (*Faunis faunula faunuloides*) आदि । **डेनोइडी** कुल की 38 प्रजातियों की 77 किस्मों में से 7 किस्में दुर्लभ हो गई हैं जैसे **डैनौस गौतम गौतमोइडोज** (*Danaus gautama gautamoides*) आदि । इसी तरह लाइसिनिडी कुल की 650 किस्मों में से कोई 130 किस्में दुर्लभ हो गई हैं । यही नहीं, तितलियों के नज़दीकी भाई-बन्धु गुब्रैलों की भी कोई 13 जातियाँ दुर्लभ हो चुकी हैं ।

आम आदमी भले ही तितलियों को नाचीज़ समझें लेकिन जैव पारिस्थिकीय दृष्टिकोण रखने वाले लोग जानते हैं कि तितलियों का परागण में अमूल्य योगदान होता है । तितलियाँ, शलभ, भौरें, मधुमक्खियाँ आदि छोटे-छोटे कीट-पतिंगे अपने स्वार्थवश मकरंद और पराग की तलाश में फूलों तक आते हैं तथा अनजाने में ही परागण कर मानवजाति की अमूल्य सेवा कर जाते हैं । इसी परागण क्रिया से अन्न, दाल, फल, सब्ज़ी हमें प्राप्त होते हैं ।

परागण-क्रिया को सम्पन्न करने वाले ये मुफ्त की श्रमिक आज धीरे-धीरे समाप्त हो रही हैं । इनकी समाप्ति के लिये स्वयं मनुष्य ही ज़िम्मेदार है । वनों के विनाश से इन नन्हें प्राणियों के आवास या तो पूरी तरह समाप्त हो चुके हैं या वे इतने परिवर्तित हो गये हैं जिनमें बहुत सी प्रजातियाँ अपने आपको ठीक से ढाल नहीं पाई हैं एवं धीरे-धीरे नष्ट हो रही हैं । वन एवं कृषि फसलों को उगाने की बढ़ती मोनोकल्चर (Monoculture) प्रवृत्ति से न केवल आवास विविधता ही घटती जा रही है बल्कि भोजन विविधता एवं मकरंद तथा पराग की निरन्तर साल भर आपूर्ति भी छिन्न-भिन्न होती जा रही है । मोनोकल्चर फसलें साल के एक खास समय में ही पुष्प पैदा करती हैं तथा साल के शेष समय पुष्पविहीन रहती हैं । यही ऐसा समय होता है जब इन प्राणियों को भोजन की समस्या से जूझना पड़ता है ।

आधुनिक कृषि में कीटनाशकों का अन्धाधुन्ध उपयोग हो रहा है । विषैले कीटनाशकों के प्रभाव से अनगिनत किस्मों के कीट-पतिंगे मारे जाते हैं जिनमें उपयोगी कीट भी शामिल हैं । कीटनाशकों के उपयोग से न केवल प्रौढ़ तितलियाँ बल्कि इनके लारवे भी मौत के शिकार हो जाते हैं ।

मनुष्य का स्वार्थ भी तितलियों के अस्तित्व के लिये चुनौती बना हुआ है । तितलियों का बड़े पैमाने पर संग्रह, तस्करी आदि ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जिनके कारण तितलियों का, खास कर सुन्दर तितलियों का, चोरी-छुपे अवैध रूप से जंगलों से निकास होता रहता है । हमारे देश के जंगलों से चोरी की गई तितलियाँ विदेशी बाज़ारों में बेची जाती हैं ।

हमें जान लेना चाहिये कि ये नन्हें-नन्हें प्राणी मनुष्य जाति को ज़िन्दा रखने के लिये फल, दाल, अन्न आदि पैदा करने में बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं । इन्हें बचा कर ही हम अपने प्राकृतिक भोजन के उत्पादन को बरकरार रख सकते हैं । यदि हमने इन जीवों का सफाया किया तो कृषि-पारिस्थितिकी तन्त्र में गम्भीर गड़बड़ियाँ उत्पन्न हो जायेंगी । न केवल तितलियाँ वरन् विलुप्तीकरण की ओर तेज़ी से बढ़ते अन्य जीवों को यदि हमने बचाया नहीं तो इससे मानव के अस्तित्व को ही ख़तरा उत्पन्न हो जायेगा ।□□

शून्य का आविष्कार

कमलाकान्त पाठक

संख्या पद्धतियों में सर्वप्रथम् **प्राकृत संख्याओं** का स्थान है। इनमें 1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8, एवं 9 तक की संख्याएँ आती हैं। प्राकृत संख्याओं की कुल संख्या नौ है। इन संख्याओं के पश्चात् पूर्ण संख्याओं का स्थान आता है। इनमें उपरोक्त संख्याओं के अलावा एक 0 (शून्य) भी सम्मिलित है। इस प्रकार इनकी संख्या दस हो गई। अत: इस अंकन प्रणाली का नाम 'दाशमिक अंकन-पद्धति' है। शून्य के आविष्कार के बाद ही बड़ी से बड़ी संख्याओं को लिखना अधिक सरल हो गया। क्या आप जानते हैं कि इस शून्य का जन्म कहाँ हुआ था ?

शून्य के आविर्भाव के विषय में जानकारी के लिए हमें संसार के प्राचीन गणितीय ग्रन्थों का अवलोकन करना होगा। शून्य के महत्व के विषय में **प्रोफेसर जी० बी० हैल्सटेड** ने 'ऑन द फॉउण्डेशन एण्ड टेकॅनीक ऑव अरिथमेटिक में लिखा है—"शून्य के आविष्कार के महत्व की जितनी ही प्रशंसा की जाये कम है। निरर्थक से लगने वाले शून्य को केवल स्थान, संज्ञा, आकृति एवं संकेत ही नहीं बल्कि एक उपयोगी शक्ति प्रदान करना हिन्दू जाति, जो इसके जनक हैं, की एक विशेषता है। यह 'निर्वाण' (भुक्तशेष) को विद्युत्-शक्ति में परिवर्तित करने के सदृश है। गणित-सम्बन्धी कोई भी एक आविष्कार ज्ञान एवं शक्ति को आगे बढ़ाने में इतना प्रबल नहीं सिद्ध हुआ है।"

आविष्कार का समय

यह पूर्ण रूप से ज्ञात नहीं है कि शून्य का आविष्कार कब हुआ था। पुरालेख सम्बन्धी प्रमाणों से पता चलता है कि भारत में आठवीं शताब्दी में सामान्यत: **दाशमिक पद्धति** का प्रयोग किया जाता था। दसवीं शताब्दी के मध्य तक उत्तरी भारत से **प्राचीन पद्धति** का लोप हो चुका था। **इससे स्पष्ट है कि नई पद्धति का आविष्कार ई० पू० प्रथम और तीसरी शताब्दी के बीच हुआ था।** इन्हीं प्रमाणों के आधार पर हम शून्य के आविष्कार को ईसवी सन् के आरंभ में रख सकते हैं। सम्भवत: उस काल को प्रथम शताब्दी ई० पू० रखा जा सकता है।

'अग्नि-पुराण' को सभी पुराणों से प्राचीन माना जाता है। इसका रचना-काल चौथी शताब्दी के लगभग माना जा सकता है। इस पुराण में अंकों का प्रयोग शब्दों के रूप में मिलता है। 'सूर्य-सिद्धान्त' में **शब्दांकों** का विस्तृत प्रयोग किया गया है। इससे यह विदित होता है कि चौथी शताब्दी में **शब्दांक पद्धति** का पूर्ण विकास हो चुका था। अतएव इसके आविष्कार का समय 100 ई० 200 ई० तक माना जा सकता है। प्राचीन गणित एवं साहित्य के विस्तृत विवेचन से पता चलता है कि दाशमिक-पद्धति एवं शब्दांक-पद्धति का आविष्कार एक साथ नहीं हुआ। शब्दांक-पद्धति के बहुत पहले ही दाशमिक-पद्धति का अस्तित्व था।

संकेत

प्राचीन गणितीय ग्रंथों एवं पुराणों में शून्य के शब्द-संकेतों का प्रयोग है। वे सभी ग्रन्थ संस्कृत के श्लोकों के रूप में लिखे गए हैं। आकाश के पर्यायवाची जितने भी शब्द हैं, उन सबका शून्य के लिए प्रयोग किया गया है। जैसे—**रव, अभ्र, गगन, अम्बर, अन्तरिक्ष, व्योम, नभ, विष्णुपद** इत्यादि। यही कारण है कि **स्वामी विवेकानन्द** ने 'शून्य' पर भाषण करते समय आरम्भ में कहा था, "यह ब्रह्माण्ड शून्य है" (दिस यूनिवर्स इज़ ज़ीरो)। शून्य के लिए 'पूर्ण' शब्द

ग्राम व पोस्ट रामपुर चाय, वाया उसरी, ज़िला जहाँनाबाद (बिहार)—804428

का भी उल्लेख है। इससे विदित होता है कि शून्य के आविष्कार के पूर्व संख्या-पद्धति पूर्ण नहीं थी।

'रव' शब्द का शून्य के लिए सबसे अधिक व्यवहार किया जाता था। **सूर्यदेव** लिखते हैं, 'रवानि शून्यो पलक्षितानि संख्या विन्यास स्थानानि।' अर्थात् 'रव' से अभिप्राय संख्या लिखने के उन स्थानों से है जो शून्य के चिह्नों प्रारा प्रदर्शित किए जाते हैं।

भास्कर प्रथम ने लिखा है, "रवद्विनवके स्वरा नव वर्गे।" इसकी व्याख्या है—9 स्वरों को 18 शून्यों द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। इनमें 9 वर्ग स्थान एवं 9 अवर्ग स्थान हैं। **आर्यभट्ट प्रथम** ने अपनी पुस्तक 'आर्यभटीयम्' में अंक स्थान को इस प्रकार सूचित किया है :

औ ऐ ओ ए लृ ऋ उ

अ व अ व अ व अ व अ व अ व अ व

० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ० ०

इ अ

अ व अ व

० ० ० ०

व = वर्ग स्थान अ = अवर्ग स्थान

'सद्रत्नमाला' में लिखा है, 'नजावचश्य शून्यानि' अर्थात् भ्, न् और स्वर शून्य को सूचित करते हैं।

सर्व प्रथम **पिंगल** ने अपनी छंद शास्त्र की पुस्तक 'छंदः सूत्र' में शून्य के सांकेतिक चिह्न का प्रयोग किया था। इसकी रचना लगभग 200 ई० पू० मानी जाती है। अतः शून्य का अंकात्मक प्रयोग भी उतना ही पुराना है जितना शून्य का आविष्कार। **आचार्य वाराहमिहिर** ने 'पंच सिद्धांतिका' में कई स्थानों पर शून्य का उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है कि 'मिथुन राशि के आठ ज्या खंडों में क्रमशः 3, 3, 2, 2, 1, 1, 0, 0 कलाएँ होती हैं। उनके समकालीन लेखक **जिनभद्र गणि** की रचनाओं में भी शून्य-गर्भित बड़ी-बड़ी संख्याओं का वर्णन है।

आकार

शून्य के सांकेतिक चिह्न का आकार संदेहास्पद है। 'बंगाली हस्तलिपि' में शून्य के लिए बिन्दु का प्रयोग किया गया है। **सुबन्धु** द्वारा लिखित 'वासवदत्ता' नामक काव्य में एक स्थान पर तारों की उपमा शून्य बिन्दुओं से दी गई है। 'बिहारी सतसई' के 41वें दोहे में शून्य को बिन्दु के रूप में बताया गया है—

कहत सबै बेंदी दिये, आँक दस गुनो होत।
तिय लिलार बेंदी दिये, अगनित बढ़त उदोत॥

इससे स्पष्ट है कि शून्य सूचक बिन्दु का त्याग कर दिए जाने के बाद भी साहित्य में बिन्दु का प्रयोग होता था। यह अधिक सम्भव है कि शून्य का सबसे प्राचीन सांकेतिक चिह्न बिन्दु था।

भोजदेव के शासनकाल में लिखे गए ग्वालियर के अन्तर्लेखों में शून्य का आकार लघुवृत्त है। इससे सिद्ध होता है कि आठवीं शताब्दी या इससे कुछ समय पूर्व से ही यह आकार सामान्य रूप से प्रचलित है।

उपयोगिता

संकलन, व्यवकलन, गुणा एवं भाग इत्यादि की क्रियाओं में शून्य का उपयोग होने लगा था। **ब्रह्मगुप्त** के 'ब्रह्म-स्फुट सिद्धांत' में शून्य को इस प्रकार परिभाषित किया गया है :

$$अ - अ = ०$$

बाद की सभी पुस्तकों में इसी को दुहराया गया है। **भास्कर द्वितीय** ने अपनी पुस्तक 'लीलावती' में शून्य-परिकर्म सम्बन्धी निष्कर्षों को लिखा है :

योगे रवं क्षेपसमं, वर्गादौ रवं, रवमाजितो राशिः।
रवहरः स्यात्, रवगुणः रवं, रवगुणश्चिन्त्यश्च शेषविधौ॥
शून्ये गुणके जाने रवं, हारश्चेत् पुनस्तदा राशिः।
अविकृत एव ज्ञेयस्तथैव रवेनोनितश्च युतः॥

अर्थात्,

'शून्य में किसी संख्या को जोड़ने पर योगफल उसी संख्या के तुल्य ही होता है। शून्य का वर्ग आदि (वर्ग, वर्गमूल, घन, घनमूल) करने पर भी परिणाम शून्य ही मिलता है। किसी राशि को शून्य से भाग देने पर उस राशि की संज्ञा रवहर होती है। किसी

राशि को शून्य से गुणा करने पर गुणनफल शून्य होता है, परन्तु बाद में यदि और परिकर्म करने हैं तो (गुणनफल को शून्य न लेकर) शून्य को गुणक की तरह लिखना चाहिए। यदि किसी संख्या का गुणक शून्य हो और हर भी शून्य हो तो वह ज्यों की त्यों रहती है। इस प्रकार शून्य को जोड़ने या घटाने पर भी संख्या में कोई परिवर्तन नहीं होता।'

बीजगणित में भी यही निष्कर्ष हैं। उनमें यह बताया गया है कि शून्य में से जब कोई भी राशि घटाई जाती है तो उसका चिह्न बदल जाता है, परन्तु जोड़ने में चिह्न वही रहता है।

उन्होंने कहा है कि **ग्रह गणित** (ज्योतिष की गणना) में यह शून्य परिकर्म बहुत ही उपयोगी है।

भास्कर द्वितीय के बीजगणित के अनुसार, "खहर राशि में बहुत बड़ी संख्या के जोड़ने या घटाने पर कोई परिवर्तन नहीं होता।"

खहर राशि स्वयं बहुत बड़ी है—

$$\frac{अ}{०} = \infty \text{ एवं } \infty + क = \infty$$

$\frac{०}{०}$—को अनिर्णीत स्वरूप (इनडिटरमिनेट फार्म) कहते हैं। भास्कर द्वितीय के अनुसार,

$$\lim_{त \to ०} \frac{अ \times त}{त} = अ$$

इसका प्रयोग चलन कलन (डिफरेंशियल कैलक्युलस) गणित में होता है।

इससे यह प्रमाणित होता है कि भारतीय गणितज्ञ अत्यन्त प्राचीन काल में भी शून्य का कितना सूक्ष्म उपयोग करते थे। दूसरे देशों में आज से दो शताब्दी पूर्व तक ऐसी गणनाओं में अशुद्धियाँ देखी गई हैं। आज भी भारतीय ज्योतिष का स्थान संसार में सर्वोपरि है।

आज कम्प्यूटरों का युग है। उसकी गणना में द्विआधारी अंकन-पद्धति का उपयोग है। इसके लिए ० एवं 1 को आधार माना गया है। यह वही शून्य है जिसका जन्म भारत में हुआ था। □□

उच्च रक्तचाप और दिल का दौरा

सोवियत डॉक्टरों ने एक अध्ययन में पाया है कि मौसम का मानव शरीर के रक्तचाप से सीधा संबंध है, क्योंकि प्रायः ठंडे मौसम में रक्तचाप बढ़ जाता है। बढ़ा हुआ रक्तचाप अकसर दिल के दौरे का कारण बनता है। पचास प्रतिशत दिल के दौरे में बढ़ा हुआ रक्तचाप ही दिल के दौरे का कारण पाया गया है। डॉक्टरों ने यह भी पाया है कि रक्त में श्वेत कोशिकाओं की संख्या में कमी आने से रक्तचाप बढ़ जाता है।

नींद का समय

आमतौर पर यह समझा जाता है कि प्रकृति ने यह व्यवस्था की है कि मनुष्य रात को ही सोये और दिन में काम करे। परन्तु हाल ही में 'मैक्स प्लांक गैसल शाफ्ट इंस्टीट्यूट', म्यूनिख, पश्चिम जर्मनी में किये गये अध्ययनों से पता चला है कि वास्तव में प्रकृति ने मनुष्य को एक 'निद्रा जागरण चक्र' प्रदान किया है। वह चक्र दिन और रात के चक्र से कहीं अलग है। इस चक्र के अनुसार यदि हम दफ्तर जाते समय बस में सो जाते हैं या भोजन के समय सोते पाये जाते हैं अथवा शाम को घर लौटते समय फिर सो जाते हैं तो कोई अजीब बात नहीं है। ऐसा प्राकृतिक चक्र के कारण होता है। इसके अनुसार मनुष्य को 24 घंटे में 3 बार सोना चाहिये और यह ज़रूरी नहीं कि रात में ही सोये।

उक्त प्रयोग उन स्वयंसेवियों पर किये गये जिन्हें लगातार 3 दिन और 3 रात ऐसे अंधेरे कमरे में रखा गया जहाँ दिन-रात का पता नहीं चलता था और जहाँ घड़ी या और कोई अन्य समय सूचक-यंत्र नहीं था।

अल्पविराम और योजक चिह्न

अनिल कुमार शुक्ल

विज्ञान के जून अंक में विराम चिह्न और 'उनका प्रयोग' विषय पर चर्चा करते समय 'अल्पविराम' तथा 'योजक चिह्न' पर विचार नहीं किया जा सका था। आइए इस अंक में इन्हीं दो की चर्चा करें।

अल्पविराम

हिन्दी में अल्पविराम का प्रयोग बहुत होता है, किन्तु इसके प्रयोग में मनमानापन ही अधिक दिखता है। प्रत्येक लेखक अपनी इच्छानुसार, चाहे जहाँ, अल्पविराम का प्रयोग कर लेता है। हिन्दी भाषा के लिए यह अत्यंत खेदजनक स्थिति है। फिर, ऐसा भी नहीं है कि हिन्दी में अल्पविराम के प्रयोग को नियमित करने का प्रयास नहीं हुआ। वैयाकरणों ने प्रयास तो किये, पर लेखकों के कान पर जूँ नहीं रेंगी। लेखकों की इस स्वच्छंदता से हिन्दी का मानक स्वरूप स्थिर नहीं हो पाता; उल्टे हिन्दी विकृत होती है। अतः हमें इस तरफ विशेष ध्यान देना चाहिए।

हिन्दी में अल्पविराम का प्रयोग प्रायः निम्न-स्थितियों में होता है—

(1) जब एक ही शब्दभेद (जैसे-संज्ञा, सर्वनाम या विशेषण आदि) के दो या दो से अधिक शब्द आएँ और उनके बीच किसी संयोजक/वियोजक समुच्चय-बोधक अव्यय का प्रयोग न हुआ हो, तब ऐसे शब्दों के बीच **अल्पविराम** का प्रयोग करते हैं—

ठोस, द्रव और गैस पदार्थ की तीन अवस्थाएँ हैं।

पदार्थ इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन और न्यूट्रॉन से बना होता है।

वहाँ पीले, हरे खेत दिखाई देते थे [पीले और हरे]

(2) जब वाक्य में जोड़े में आने वाले (युग्मशब्द) आते हैं तो प्रत्येक जोड़े (युग्म) के पश्चात **अल्पविराम** लगता है—

ब्रह्मा ने दुःख और सुख, पाप और पुण्य, दिन और रात ये सब बनाये हैं।

(3) वाक्य के बीच यदि **पर, किन्तु, इसलिए, अतः क्योंकि, तथापि** आदि अव्ययों का प्रयोग हो तो इनके पहले **अल्पविराम** का प्रयोग होता है—

(पूरे देश में) लिपियाँ अलग रह सकती हैं, पर भाषा हिन्दी ही रहे।

समस्थानिकों में प्रोटॉन की संख्या समान रहती है, परन्तु न्यूट्रॉन की संख्या विभिन्न होती है।

(4) जब संज्ञा उपवाक्य मुख्य वाक्य से किसी समुच्चयबोधक द्वारा न जुड़ा हो तो संज्ञा उपवाक्य के बाद **अल्पविराम** लगाते हैं—

लड़के ने कहा, मैं अभी आता हूँ।

लड़के ने कहा, "मैं अभी आता हूँ।"

ऊपर के पहले उदाहरण में स्पष्टतः किसी समुच्चयबोधक अव्यय का अभाव खटकता है। उस समुच्चयबोधक अव्यय की अनुपस्थिति को स्पष्ट करने के लिए वहाँ अल्पविराम का प्रयोग किया गया है। अतः यदि संज्ञा उपवाक्य मुख्य वाक्य से किसी समुच्चय बोधक—जैसे 'कि'—द्वारा जुड़ा होता है तो अल्पविराम नहीं लगाते—

लड़के ने कहा **कि** मैं अभी आता हूँ।

(5) संख्याओं को लिखते समय सैकड़े से ऊपर के अंकों के साथ भी **अल्पविराम** लगाने की प्रथा है—

33,54,252 एवं 1,234

17 म्योर कॉलेज कालोनी, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

यद्यपि अंग्रेज़ी में यह पद्धति प्रचलित है, पर हिंदी में इसका अंधानुकरण न हो तभी अच्छा है। बेहतर हो यदि बड़ी संख्याओं को अल्पविराम लगाकर लिखने के बजाय '33 लाख 54 हज़ार 252' लिखा जाय।

(6) संबोधन कारक की संज्ञा एवं संबोधन शब्दों के पश्चात् **श्री कामता प्रसाद गुरु एवं डॉ० वासुदेव नन्दन प्रसाद ने अल्पविराम** का प्रयोग किया है—

प्रिय महाशय, में आपका आभारी हूँ।

लो, मैं यह चला।

परन्तु संस्कृत व हिन्दी में संबोधन के लिए एक विशेष चिह्न (!) है ही तो अल्पविराम का प्रयोग क्यों ?

विशेष—

(i) कुछ लोग, अंग्रेज़ी के अनुकरण पर, हिन्दी में भी 'और' के पहले अल्पविराम लगाते हैं, पर यह ठीक नहीं।

(ii) इसी प्रकार, निम्न स्थलों पर भी अंग्रेज़ी की छाया स्पष्ट है, जिससे हमें बचना चाहिए। सच कहा जाय तो इन स्थलों पर अल्पविराम की आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती—

निश्चय ही, यह सत्य है।

किन्तु, मैं ऐसा नहीं मानता।

उदाहरण के लिए, ऐसा कहा जा सकता है।

अतः, तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए।

वस्तुतः, उनका कथन निराधार नहीं है।

(देखें परिषद् पत्रिका, अक्टूबर 1985 में श्री रंजन सूरिदेव का लेख)

(iii) अंग्रेज़ी में **दो समान वैकल्पिक** वस्तुओं/स्थानों को **अथवा, या** आदि से संबंधित करने (जोड़ने) पर उस अव्यय के पूर्व अल्पविराम लगता है—

पाटलिपुत्र, या कुसुमपुर भारत की पुरानी राजधानी था। [या—अर्थात्] किन्तु दो भिन्न वैकाल्पिक वस्तुओं/स्थानों को संबंधित करने की स्थिति में अंग्रेज़ी में, अल्पविराम का प्रयोग नहीं होता—

कल मोहन अथवा हरि कलकत्ता जाएगा।

मेरी समझ से हिन्दी में भी अल्पविराम के इस प्रयोग को स्वीकार कर लेना चाहिए।

(iv) **श्री कामता प्रसाद गुरु** के अनुसार, किसी नियम के पश्चात् आने वाले उदाहरण सूचक—**जैसे, यथा** आदि—शब्दों के बाद अल्पविराम का प्रयोग होता है, किन्तु मेरी समझ से ऐसी स्थिति में निर्देशक चिह्न का ही प्रयोग करना चाहिए। [देखिए **'विज्ञान'** का जून 1986 अंक, पृष्ठ 14 पर]

इसी प्रकार **श्री गुरु** ने इन उदाहरण सूचक शब्दों—जैसे, यथा आदि—के पहले अर्द्धविराम की आवश्यकता बताई है, पर आजकल ऐसी स्थिति में अर्द्धविराम के बजाय पूर्णविराम का प्रयोग होता है। **जैसे**—[न कि; **जैसे**—या; **जैसे,**]

(v) **समानाधिकरण शब्दों के बीच में, श्री कामता प्रसाद गुरु** के अनुसार, अल्पविराम का प्रयोग होता है। जैसे—

ईरान के बादशाह, नादिरशाह ने दिल्ली पर चढ़ाई की। पर मेरी समझ से यहाँ अल्पविराम की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि लेखक अल्पविराम लगाना ही चाहे तो संभवतः दो अल्पविरामों की ज़रूरत पड़ेगी—

ईरान के बादशाह, नादिरशाह, ने दिल्ली पर चढ़ाई की। या, ईरान के बादशाह—नादिरशाह—ने दिल्ली पर चढ़ाई की।

ध्यातव्य है कि श्री गुरु ने समानाधिकरण शब्दों के बीच **निर्देशक चिह्न** लगाने की परंपरा भी स्वीकारी है—

दुनिया में नयापन—नूतनत्व—ऐसी चीज नहीं···

अतः अल्पविराम व निर्देशक चिह्न के बीच चयन की इस स्थिति में मुझे निर्देशक चिह्न का उपयोग ही उचित जान पड़ता है।

(vi) इसी प्रकार, **बस, हाँ, नहीं, सचमुच, अच्छा,** जैसे शब्दों से प्रारंभ वाक्यों में, **डॉ० वासुदेवनंदन प्रसाद** ने, अल्पविराम की आवश्यकता बताई है। जैसे—

हाँ, तुम ऐसा कह सकते हो।
नहीं, ऐसा नहीं हो सकता।
अच्छा, तो लीजिए, चलिए।
बस, हो गया, रहने दीजिए।

अल्पविराम के प्रयोग संबंधी जो नियम ऊपर दिये गये हैं, उनके बारे में भी विचार-विमर्श की पर्याप्त गुंजाइश है। किन्तु, इन स्थलों के अलावा भी हिन्दी में अल्पविराम का काफी प्रयोग होता है। ऐसे स्थलों को खोजकर उनके लिए अत्यन्त सोच-समझकर नियम बनाने की महती आवश्यकता है। साथ ही यह निश्चय करने की भी जरूरत है कि वहाँ अल्पविराम की आवश्यकता है भी या नहीं !

योजक चिह्न

हिन्दी में योजक चिह्न का प्रयोग काफी अनियमित है। संस्कृत की संश्लेषणात्मक प्रवृत्ति के कारण, संस्कृत के शब्दों में योजक चिह्न की आवश्यकता (उपादेयता) काफी कम है। परन्तु हिन्दी की विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति इस संदर्भ में विशेष महत्वपूर्ण हो जाती है। तात्पर्य यह कि हिन्दी में दो या अधिक शब्दों को मिलाकर एक शब्द बना लेने की प्रवृत्ति, संस्कृत की तरह तीव्र नहीं है। पुनः, हिन्दी में विभक्तियाँ अलग लिखी जाती हैं, संस्कृत की तरह मूल शब्द में मिली नहीं होतीं। अतः, **योजक चिह्न** के बिना, मिलाकर लिखे जाने वाले अनेक शब्द भ्रामक अर्थ दे सकते हैं। परन्तु दुःख का विषय है कि हिन्दी व्याकरण की अधिकांश पुस्तकों में योजक चिह्नों की चर्चा तक नहीं है। यहाँ तक कि हिन्दी के सर्वाधिक पूर्ण माने जाने वाले 'हिंदी व्याकरण' [लेखक – **श्री कामता प्रसाद गुरु**] में अलग से बिल्कुल ही चर्चा तक नहीं है। हाँ, **समासों के सामान्य नियम** शीर्षक के अंतर्गत पृष्ठ 411–12 पर श्री गुरु ने स्वीकार किया है—"हिंदी में सामासिक शब्दों के लिखने की रीति में बड़ी गड़बड़ी है। जिन शब्दों को सटाकर लिखना चाहिए वे योजक चिह्न से मिलाए जाते हैं और जिन्हें केवल योजक से मिलाना उचित है वे सटाकर लिख दिये जाते हैं। फिर, जिस सामाजिक शब्दों को किसी न किसी प्रकार मिलाकर लिखने की आवश्यकता है, वह अलग अलग लिखा जाता है।"

लेकिन, इसके बावजूद, श्री गुरु ने न तो ऐसे त्रुटिपूर्ण प्रयोगों का कोई उदाहरण दिया और न ही उन्होंने स्वयं किसी सामासिक शब्द में योजक चिह्न का प्रयोग किया। परन्तु हिन्दी में योजक चिह्न की आवश्यकता से इंकार नहीं किया जा सकता। हिन्दी में अनेक ऐसे शब्द हैं जिनमें योजक चिह्न का प्रयोग न करने से, अभीप्सित अर्थ नहीं निकलता। जैसे—'भू-तत्व' शब्द में यदि योजक चिह्न न हो तो इससे 'भूमि से सम्बद्ध तत्व' के बजाय 'भूत' शब्द के भाववाचक संज्ञा-रूप का बोध हो सकता है। इसी प्रकार, 'कुशासन' शब्द का अर्थ 'कुश से बना हुआ आसन' होगा न कि 'बुराशासन'। 'बुराशासन' अर्थ तो तभी निकलेगा जब इसे 'कु-शासन' लिखा जाय। पुनः 'ज़िला-अधिकारी' शब्द ज़िला स्तर के किसी भी विभाग के अधिकारी के लिए प्रयुक्त हो सकता है किन्तु 'ज़िलाअधिकारी' (या ज़िलाधिकारी) तो पूरे ज़िले में एक ही होता है।

योजक चिह्न का प्रयोग कहाँ अपेक्षित है और कहाँ ग़ैर जरूरी, इस प्रश्न पर **डॉ० वासुदेव नन्दन प्रसाद** की पुस्तक 'आधुनिक हिन्दी व्याकरण और रचना' में अपेक्षाकृत विस्तार से चर्चा की गई है। **बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्** की त्रैमासिक 'परिषद् पत्रिका' के अक्टूबर 1985 अंक में सम्पादक **श्रीरंजन सूरिदेव जी** ने भी कुछ सुझाव रखे हैं। इन दोनों स्रोतों के परिपेक्ष्य में ही, यहाँ योजक चिह्नों के प्रयोग के बारे में कुछ नियम दिये जा रहे हैं। किन्तु अंतिम रूप से नियम बनाने के पूर्व इस विषय पर विद्वतजनों का गम्भीर विचार-विमर्श अपेक्षित है।

डॉ० वासुदेव नन्दन प्रसाद के अनुसार, **योजक चिन्ह सामान्यत: दो शब्दों को जोड़कर एक समस्त सामासिक पद बनाता है, लेकिन (फिर भी) दोनों (शब्दों) का स्वतन्त्र अस्तित्व बना रहता है।** यहाँ एक बार फिर, हम **श्री कामता प्रसाद गुरु** का विचार

उद्धृत करना चाहेंगे—हिन्दी व्याकरण पृष्ठ 390—"छोटे-छोटे और साधारण सामासिक शब्द बहुधा एक दूसरे से मिलाकर लिखे जाते हैं, पर बड़े-बड़े और असाधारण सामासिक शब्द योजक चिह्न के द्वारा, जो अंग्रेजी के 'हाईफन' का अनुकरण है, मिलाए जाते हैं; जैसे, (1) रामपुर, धूपघड़ी, स्त्रीशिक्षा, आसपास, रसोईघर, कैदखाना, (2) चित्र-रचना, नाटक-शाला, पथ-प्रदर्शक, सास-ससुर, भला-चंगा।"

पर लगता है, श्री गुरु अंग्रेजी के 'अनुकरण'—हाईफन के अनुकरण—के पक्ष में नहीं थे। शायद इसीलिए, विभिन्न समासों के उदाहरण देते समय, उन्होंने बड़े-बड़े सामासिक शब्द भी योजक चिह्न से नहीं मिलाए। जैसे—

सेनानायक, राजदरबार (सम्बन्ध तत्पुरुष, पृष्ठ 394); विन्ध्यपर्वत, घनश्याम (कर्मधारय, पृष्ठ 398-399); साधुसमाज प्रयाग, तनमनधन, हुक्का-पानी, चाल-चलन, आचार-विचार, जंगल-झाड़ी, लंगड़ा-लूला, भूखा-प्यासा, (द्वन्द्व समास, पृष्ठ 400-402); राजीव लोचन, पाषाणहृदय, अभिज्ञान शाकुन्तल, मुद्राराक्षस (बहुव्रीहि समास)।

तात्पर्य यह कि **बड़े-बड़े शब्दों में हाईफन के प्रयोग** की सूचना देकर भी श्री गुरु उसके प्रयोग से सहमत नहीं लगते। पर श्री रंजन सूरिदेव महाशय, इस पुरानी धारणा (प्रयोग के ठीक विपरीत यानी **छोटे पद तो योजक चिह्न के साथ पर बड़े पद बिना योजक चिह्न के लिखे**, जान पड़ते हैं। उनके मतानुसार, द्वन्द्व समास में पदों के बीच योजक चिह्न रखा जाय, किन्तु द्वन्द्व समास के 'समस्तपदों' में **पाँच से सात-आठ** अक्षरों वाला शब्द एक साथ बिना योजक चिह्न के भी रखा जा सकता है। यथा—

(1) माता-पिता, पूजा-पाठ, शिव-पार्वती, अगल-बगल, रोटी-कपड़ा-मकान।

(2) गुण कीर्तन, मानव जीवन, हरिभजन, समाचारपत्र, आलोचनापरक, अनुकरणमूलक।

इन विवादों से योजक चिह्न के प्रयोग का कोई नियम स्पष्ट हुआ हो या नहीं, पर एक बात निर्विवाद तौर पर स्पष्ट हो गई है कि 'द्वन्द्व समास' के सामासिक पदों के बीच योजक चिह्न लगाने की प्रवृत्ति हिन्दी के लेखकों में है। द्वन्द्व समास की निम्न स्थितियों में योजक चिह्न का प्रयोग **हो सकता है**—

(i) ऐसा द्वन्द्व समास जिसमें 'और' लुप्त हो [इतरेतर द्वन्द्व]
घर-द्वार, दाल-रोटी, सीता-राम, फल-फूल

(ii) बोलचाल में प्रयुक्त ऐसे द्वन्द्व सामासिक पदों में, जिनके दोनों खण्ड प्रायः समान अर्थ वाले होते हैं—
जीव-जन्तु, चाल-चलन, भूल-चूक, मान-मर्यादा। पर श्री सूरिदेव महोदय **युग्मवाची शब्दों** में योजक चिह्न नहीं चाहते आस-पास, सूझ-बूझ, रूपरेखा, टाल-मटोल।

(iii) समान अर्थों वाले शब्दों की ही तरह विपरीत अर्थ वाले शब्दों से बने पदों के बीच भी योजक चिह्न लगता है—
लघु-गुरु, आकाश-पाताल, माता-पिता, भाई-बहन, जड़-चेतन।

(iv) जब एक ही संज्ञा दो बार प्रयुक्त हो यानी द्विरुक्ति या पुनरुक्ति की स्थिति में—
कण-कण, रोम-रोम, बूँद-बूँद, गली-गली। पर ऐसे शब्दों को **प्रति कण, प्रत्येक** आदि भी लिखा जा सकता है।

(v) अनिश्चित संख्या वाचक विशेषण में 'सा' 'से' आदि जोड़कर बने शब्दों में—
बहुत-सी बातें, कम-से-सम, थोड़ा-सा काम पर मेरी समझ से यहाँ योजक चिह्न की आवश्यकता नहीं है।

(vi) ऐसे सामासिक पद, जिनका विशेषण नहीं बनता, वहाँ 'सम्बन्धी' शब्द जोड़कर बने विशेषण में योजक चिह्न लगाते हैं—
विद्यालय-सम्बन्धी बातें, सीता-सम्बन्धी बातें।
किन्तु ध्यान रहे कि आसानी से जिनका विशेषण बनाया जा सके, वहाँ ऐसा नहीं

करना चाहिए। हमें 'भाषा-सम्बन्धी चर्चा' या 'पृथ्वी-सम्बन्धी तत्व' के बदले 'भाषागत' या 'भाषाई' चर्चा व 'पार्थिव' तत्व लिखना चाहिए।

(vii) जब दो शब्दों के बीच **सम्बन्धकारक के चिह्न**—का, के, की—लुप्त हों तो **षष्ठी तत्पुरुष समास** की स्थिति में योजक चिह्न अवश्य लगना चाहिए—
शब्द-सागर, लेखन-कला, शब्द-भेद, मानव-शरीर, प्रकाश-स्तम्भ।

अब तक हम लोग ऐसे स्थलों की चर्चा करते रहे जहाँ योजक चिह्नों का प्रयोग होता है या हो सकता है। अब आइये उन स्थलों पर भी विचार कर लें जहाँ योजक-चिह्न के बिना भी काम चलाया जा सकता है। इस सन्दर्भ में कुछ विशिष्ट नियम नीचे दिए जा रहे हैं—

(i) किसी संस्था, अखबार, पत्रिका, कम्पनी आदि के नामों में। जैसे—
विज्ञान परिषद्, संगीत नाटक अकादमी, नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, नवभारत टाइम्स, विज्ञान गरिमा सिन्धु, विज्ञान परिषद् अनुसन्धान पत्रिका, टाटा आयरन कम्पनी आदि।

(ii) शब्दों के प्रारम्भ में आनेवाले उपसर्गों में। जैसे—
उपकुलपति, उपसभापति, भूतपूर्व सैनिक, असहयोग।

(iii) नञ समास से बने विदेशज या देशज शब्द बिना योजक चिह्न के लिखे जायें, यदि 'मौलिक शुद्धता' पर ज़ोर देने का प्रसंग न हो—
अनपढ़, बेबुनियाद, अनचाहा, बेमजा, अनगिनत।

(iv) **तत्पुरुष समास** में (षष्ठी तत्पुरुष को छोड़कर) योजक चिह्न का प्रयोग सामान्यतः नहीं होता। पर यदि कहीं भ्रम की सम्भावना हो तो इसका प्रयोग किया जा सकता है—
भू-तत्व, आत्मविवेक, राजपुरुष, गंगाजल, राष्ट्रभाषा, कामचोर, गुरुभाई, आपबीती

(v) **द्विगुसमास** में भी योजक चिह्न का प्रयोग नहीं होता। जैसे—
नवग्रह, सप्तलोक, त्रिभुवन, सप्तवर्षीय योजना।

(vi) इसी प्रकार, द्वन्द्व समास के अलावा, अन्य समासों में भी योजक चिह्न की जरूरत नहीं जान पड़ती।

(vii) जिन शब्दों के अन्त में **पूर्वक, पूर्ण, मय, युक्त, व्यापी, रूपी, गण, भर, मात्र, स्वरूप आदि** जुड़े हों, वहाँ भी योजक चिह्न जरूरी नहीं। जैसे—
श्रद्धापूर्वक, विनोदपूर्ण, मंगलमय, तारागण, परिषद् द्वारा, भारतव्यापी, मानवमात्र, परिणामस्वरूप।

योजक चिह्न : कुछ और बातें—योजक चिह्न सामासिक पदों के बीच या पुनरुक्त शब्दों के बीच ही लगाया जाता है; यह बात अब तक के विवेचन से स्पष्ट हो चुकी है। जहाँ तक **सामासिक पदों** की बात है, प्रयोग की दृष्टि से समास के तीन भेद किये जा सकते हैं—(1) संयोग मूलक (2) आश्रय मूलक (3) वर्णन मूलक।

संयोगमूलक समास में दो संज्ञाओं का संयोग होता है अतः, इसे 'संज्ञा समास' भी कहते हैं। इस समास में दोनों पद—पूर्वपद व उत्तरपद—प्रधान होते हैं अतः मूलतः यह **द्वन्द्व समास** ही है। इस समास में दोनों पदों के बीच [यदि वे संधि के नियमों से जुड़कर एक शब्द न बन गये हों] योजक चिह्न लगाते हैं। **जैसे**—माँ-बाप, दिन-रात, दही-बड़ा, सूर्य-चन्द्र। योजक चिह्न लगाकर संभवतः यह प्रदर्शित किया जाता है कि इसमें योजक चिह्न से जुड़े दोनों (या सभी) पद प्रधान हैं। किन्तु ऐसे संयोगमूलक समास जिनमें योजक चिह्न नहीं लगा होता, वहाँ **तत्पुरुष**

समास समझना चाहिये, द्वन्द्व नहीं। **जैसे**—गंगाजल, राजपुत्र, पर्णकुटीर, पाठशाला।

आश्रयमूलक समास में कम से कम एक पद विशेष होता है। दूसरा (पूर्व या उत्तर) पद विशेष्य भी हो सकता है और विशेषण भी। यह प्राय: **कर्मधारय समास** होता है। किन्तु ऐसा आश्रयमूलक (विशेषण) समास, जिसके दोनों पद विशेषण हों, (जैसे), लाल-पीला, दो-चार आदि—वह अर्थ के अनुसार कर्मधारय या द्वन्द्व समास हो सकता है, परन्तु हर हालत में पदों के बीच योजक चिह्न अवश्य लगता है। यथा—

तुम मुझ पर नाहक **लाल-पीले** हो रहे हो।
(कर्मधारय) [नाराज़ होना]

इस वृक्ष पर बहुत से **लाल-पीले** फल हैं।
(द्वन्द्व) [लाल और पीले]

वर्णनमूलक (अव्यय) **समास** के पुनरुक्तिवाले शब्दों में योजक चिह्न लगाते हैं। यथा—घड़ी-घड़ी।

योजकचिह्न के इस विवेचन के साथ ही यह लेख समाप्त करने से पूर्व इसी से जुड़े शब्द निर्माण संबंधी एक पक्ष की तरफ भी संकेत करना चाहूँगा। सूर्य की ऊर्जा लिखने के लिए 'सूर्य' (संज्ञा) से 'सौर' (विशेषण) बनाते हैं और 'सौर ऊर्जा' लिखते हैं। लेकिन परमाणु की ऊर्जा को व्यक्त करने के लिए 'परमाणु ऊर्जा' लिखा जाता है। क्या ऐसी स्थिति में 'परमाणु-ऊर्जा' नहीं लिखा जाना चाहिए ? अथवा 'सौर' की ही तरह से 'परमाणुवीय' (या अन्य कोई व्याकरण सम्मत उपयुक्त) शब्द बनाया जाय और इसे 'परमाणुवीय ऊर्जा' लिया जाय। यही नहीं, हिन्दी विज्ञान लेखन में प्रयुक्त ऐसे अनेक शब्द हैं जिनमें योजक चिह्न के प्रयोग के पक्ष-विपक्ष में विशेष विचार जरूरी है। पुन: '**हिन्दी विज्ञान लेखन**' क्या सही प्रयोग है ? या इसे 'हिन्दी-विज्ञान-लेखन', 'हिन्दी विज्ञान-लेखन' अथवा 'हिन्दी-विज्ञान लेखन' लिखना चाहिए।

अन्त में हिन्दी विज्ञान लेखन से सक्रिय रूप से जुड़े रचनाकारों तथा भाषा प्रेमी अन्य सुधी जनों से मैं यह निवेदन करने की अनुमति चाहूँगा कि 'विज्ञान' के 1987 के जनवरी, मार्च मई, जून व अगस्त अंक में प्रकाशित मेरे लेखों पर रचनात्मक प्रतिक्रिया एवं सुझाव भेजकर एक सार्थक विचार-विमर्श की शुरुआत करें। ☐☐

'एड्स' के विषाणु का मस्तिष्क पर प्रभाव

इस शती का सर्वाधिक भयावह रोग **एड्स** अर्थात् एक्वायर्ड इम्यूनोडिफिशिएंसी सिंड्रोम शरीर की रोग प्रतिरोधी क्षमता को नष्ट करता ही है, यह मस्तिष्क तथा मेरुदण्ड को भी प्रभावित करता है। यही कारण है कि एड्स के मरीज़ों में शारीरिक क्षमता के ह्रास के साथ ही मानसिक क्षमता में भी कमी आने लगती है। एड्स के विषाणु रक्त में पहुँचने के बाद मस्तिष्क, मेरुदण्ड और केन्द्रीय नाड़ी तंत्र के अन्य भागों में पहुँच जाता है। 'न्यू इंग्लैण्ड जर्नल ऑव मेडिसिन' में प्रकाशित इस नई खोज के अनुसार एड्स के विषाणुओं के विरुद्ध टीका बनाने के काम में बाधा आ सकती है क्योंकि ऐसी ओषधि बनाना कठिन है जो रक्त और मस्तिष्क के बीच अवरोध को पार कर सके। फ्रांस में हुये एक अध्ययन से पता चला है कि फ्रांस में 37 प्रतिशत एड्स के मरीज़ स्नायविक समस्या से ग्रस्त हैं। न्यूयार्क के 'स्लोन कटरिंग कैंसर सेन्टर' और 'जान हापकिंस यूनिवर्सिटी' के शोधकर्त्ताओं के अनुसार एड्स के घोषित मरीज़ों में 60 प्रतिशत में किसी न किसी तरह के मानसिक उन्माद पैदा होने की संभावना रहती है। इन नये तथ्यों के प्रकाश में अब एड्स से लड़ने के लिए नयी रणनीति तैयार करनी होगी।

भारतीय प्लैनेटेरियम

आशुतोष मिश्र

यदि नीले आसमान के नीचे रात में अकेले भागना पड़े तो कुछ देर बाद टिमटिमाते तारों एवं चाँद का प्रकाश ही एकमात्र मार्गदर्शक बनेगा। इसी तरह आप यदि चारपाई में लेटकर अपने ऊपर फैले आकाश के छोटे-बड़े असंख्य तारों के बीच पूरे खिले चाँद की शोभा देखते हुए खो जाएँ तो आपको प्रकृति की असीमता की आभास होगा। अलग-अलग स्थानों पर आकाश का दर्शन अलग-अलग सुख देने वाला एवं चित्र-विचित्रमय होगा। मैदानों से चलकर पहाड़ी स्थान पर आइए, वहाँ तारों का प्रकाश चटक होगा और आकाश अधिक स्वच्छ दिखेगा। स्थान भेद से तारों में भी अंतर आ जाएगा। **सप्तर्षिमण्डल** तथा **आकाशगंगा** का भी शायद दूसरा रूप दिखे। उत्तरी गोलार्ध का आकाश-मण्डल दक्षिणी गोलार्ध से भिन्न होगा। कारण यह कि हमारी दृष्टि क्षितिज तक ही पहुँच पाती है। पृथ्वी की गति के कारण दैनिक तथा वार्षिक परिवर्तन होते रहते हैं।

प्राचीनकाल से ही जिज्ञासु लोग आकाश-दर्शन को महत्व देते हुए वेधशालाओं का निर्माण करके ग्रहों, नक्षत्रों का अवलोकन करते रहे हैं। शायद वे रात्रि में सोते समय गगनमण्डल रूपी गुफा में अपने को बन्द करके निरीक्षण किए गए तारों का स्वप्न में दर्शन भी करते रहे हों। किन्तु वैज्ञानिकों ने कृत्रिम नभोमण्डल में कृत्रिम ग्रह-नक्षत्रों का दर्शन सम्भव बना दिया है। कृत्रिम नभोमण्डल में न केवल रात के समय अपितु दिन में भी ग्रह-नक्षत्रों का दर्शन किया जा सकता है। बेचारे नगरनिवासी, जिन्हें आसमान के दर्शन कभी-कभी होते हैं, और वह भी धुंध के कारण धुंधला दिखता है, उनसे यदि कृत्रिम नभोमण्डल में ग्रह-नक्षत्रों के दर्शन कराने की बात की जाए, तो वे भी उछल पड़ेंगे। सचमुच कितना आश्चर्यप्रद होगा! 'दिन में तारे गिनने" वाली कहावत चरितार्थ हो उठेगी।

प्लैनेटेरियम ही वह कृत्रिम नभोमण्डल है जिसके भीतर सैकड़ों व्यक्तियों को सुख से आकाश-दर्शन कराने की योजना रहती है। अर्धवृत्ताकार, मन्दिरों के गुम्बदों जैसी इमारत के भीतर मशीन पुर्जों की सहायता से कृत्रिम नभलोक का दर्शन कराया जाता है। मन के भीतर स्वप्न में नभोमण्डल की न जाने कैसी तस्वीर बनती रही हो, किन्तु अब एक साथ बहुत सारे लोग इस योजना के द्वारा इसी मन्दिर के भीतर बैठकर एक-सी तस्वीर, एक-सी नभोमण्डल की झाँकी देख सकेंगे।

मेरे लिए 'प्लैनेटेरियम' के लिए हिन्दी समानार्थी शब्द ढूंढ पाना जरा कठिन हो रहा है। पारिभाषिक शब्द संग्रह में "कृत्रिम नभोमण्डल" है। एक अन्य कोश में "नक्षत्र कक्ष", और एक तीसरे शब्द कोश में "ग्रह-तन्त्र सूचक यंत्र" है। मैं वेधशाला की तरह के एक शब्द की तलाश में हूँ—लगता है ग्रह नक्षत्र-शाला कहूँ तो नक्षत्रकक्ष जैसा ही शब्द होगा। यदि "ग्रह-नक्षत्र प्रदर्शिका" कहूँ तो भी शायद बात न बने। इसलिए "प्लैनेटेरियम" शब्द का ही प्रयोग करूँ और कहूँ कि आप भी अपना शब्द भण्डार बढ़ाइए—प्लैनेटेरियम को उसी रूप में ग्रहण करके (Planet+Arium), इसके विषय में और कुछ जानिए।

वैसे, अब 'प्लैनेटेरियम' शब्द सर्वथा अपरिचित नहीं रह गया। 1962 से ही कलकत्ता-वासी या कलकत्ता की सैर करने वाले 'बिड़ला प्लैनेटेरियम' का नाम सुनते और उसके भीतर जाकर मनोरंजन करते रहे हैं। तीन नदियों के पावन संगम स्थल

25, अशोक नगर, इलाहाबाद

तीर्थराज प्रयाग में 'जवाहर प्लैनेटेरियम' खुल जाने से प्रयाग आने वाले सारे तीर्थ यात्री इस छोटे तथा अनोखे प्लैनेटेरियम का दर्शन करते रहे हैं। अब सामान्य से सामान्य व्यक्ति इस नाम से परिचित है।

इतिहास

कहा जाता है कि आकाश का पहला मॉडल तैयार करने का प्रयास ग्रीसवासियों ने किया। इसमें एक गोला था जो तमाम धातु के छल्लों से घिरा होता था, जिससे उसे भिन्न अक्षों पर घुमाया जा सकता था। इसमें गोला तो ब्रह्माण्ड का सूचक था और छल्ले ग्रहों तथा उपग्रहों-यथा सूर्य, चन्द्र आदि के आकाश-मार्गों के सूचक होते थे। 1657 ई० में **ऐंड्रिएस बुश्च** नामक एक व्यक्ति ने इतना बड़ा ग्लोब बनाया जिस पर 12 व्यक्ति चढ़ सकते थे। तारों को इस ग्लोब के भीतर स्थिर किया गया था और ग्रहों के घूमने के लिए छल्ले बने हुए थे। बाद में इससे बड़े भी ग्लोब बनते रहे। यहाँ तक कि बीसवीं सदी में शिकागो एकेडमी ऑव साइन्स' के लिए **डॉ० वैलेस एटवुड** ने 4.5 मीटर व्यास का एक ग्लोब बनाया जो बिजली से घूमता है।

किन्तु 1700 ई० से सौरमण्डल के लिए भिन्न प्रकार का मॉडल बनने लगा था—इसमें पृथ्वी को भी एक ग्रह के रूप में दिखलाया जाता था। आधुनिक प्लैनेटेरियम की संकल्पना बीसवीं सदी में जाकर ही चरितार्थ हुई। इनके जनक थे **'हाइडेलबर्ग वेधशाला'** के **डॉ० मैक्स वुल्फ** और **'कार्ल ज़ाइस कम्पनी'** के **डॉ० वाल्टर बार्सफेल्ड**। यह उन्हीं की परिकल्पना थी कि समस्त आकाश को एक अर्द्धगोलाकार सतह पर प्रदर्शित किया जाय तथा सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी और अन्य ग्रहों की स्थितियों एवं खगोलीय घटनाओं को भी दर्शकों के सम्मुख रखा जा सके। फलस्वरूप सन् 1923 में 31 प्रोजेक्टरों वाला प्रथम 'जाइस प्लैनेटेरियम' बनकर तैयार हुआ।

आधुनिक प्लैनेटेरियम

आजकल स्थान और खर्च को ध्यान में रखते हुए **भिन्न-भिन्न** आकार के प्लैनेटेरियम बनने लगे हैं, परन्तु इन सबों में एक यन्त्र समान रूप से रहता है जिसे **प्लैनेटेरियम प्रोजेक्टर** कहते हैं। इस यन्त्र का कार्य है आकाश की वास्तविक छवि को प्लैनेटेरियम के गुम्बद (dome) पर प्रदर्शित करना। यह ठीक उतने ही तारे दिखलाता है जितने हमें नंगी आँखों से दिखलाई देते हैं (यह संख्या 5–10 हज़ार तक है)। इस प्रोजेक्टर का आकार डमरू (dumb-bell) जैसा होता है जिसमें दोनों सिरों पर उच्च शक्ति के बल्ब लगे रहते हैं। प्रत्येक बल्ब के चारों ओर 16 लेन्स यूनिट लगी रहती हैं जो आकाश के अलग-अलग भागों की स्लाइडों को गुम्बद पर प्रदर्शित करती हैं। हर स्लाइड में तारों की संख्या तथा कान्तिमान (magnitude) के अनुरूप छेद बने होते हैं जिनसे गुजरने वाला प्रकाश प्लैनेटेरियम के गुम्बद पर एक तारे की छवि बनाता है। चूँकि तारों का रंग उनके ताप पर निर्भर करता है इसलिए इस प्रोजेक्टर में रंगीन फिल्टरों का भी उपयोग होता है। इस मुख्य प्रोजेक्टर के अतिरिक्त प्लैनेटेरियम के गोलाकार भवन में अनेक प्रोजेक्टर होते हैं जिनसे विभिन्न स्लाइडों तथा खगोलीय घटनाओं का प्रदर्शन सम्भव होता है। इस बात का भी विशेष ध्यान रखा जाता है कि प्लैनेटेरियम की ध्वानिकी (accoustics) में कोई दोष न हो तथा साथ में चलने वाली कमेन्ट्री (Commentary) में आवाज़ को रहस्यमयता प्रदान करने के पूरे प्रयत्न किये जाते हैं।

प्लैनेटेरियम का गुम्बद 8 मीटर से 23 मीटर व्यास तक का (या इससे भी अधिक) हो सकता है। इसके मध्य में मुख्य प्लैनेटेरियम प्रोजेक्टर लगा रहता है जिसे अपनी अक्षि तथा अन्य दिशाओं में घूम सकने की पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है। इसके चारों ओर दर्शकों के बैठने का स्थान होता है (कवर चित्र)। एक कोने में संचालक कक्ष बनाया जाता है जहाँ से प्लैनेटेरियम के समस्त यंत्रों को नियंत्रित किया जा सकता है। प्लैनेटेरियम के सभी कार्यक्रम वस्तुतः स्वचालित (automatic) होते हैं तथा विभिन्न टाइमरों (Timers) के

उपयोग से अलग-अलग प्रोजेक्टर निश्चित समय पर ऑन-ऑफ होते रहते हैं। संचालक एक विशेष टार्च द्वारा आकाश के किसी विशेष भाग की ओर दर्शकों का ध्यान आकृष्ट कर सकता है।

मुख्य प्रोजेक्टर की उपयोगिता इस बात में है कि उसके द्वारा पृथ्वी के किसी भी भाग से किसी भी वर्ष के निश्चित दिन को दिखाई देने वाला आकाश गुम्बद पर प्रदर्शित किया जा सकता है। विशेष गियर पद्धतियों के उपयोग से यह कार्य स्वचालित व कुछ ही सेकेंडों में सम्पन्न हो जाता है। इससे चार मुख्य प्रकार की गतियाँ दिखाई जा सकती हैं—दैनिक (daily), वार्षिक (annual), पुरस्सरण (Precessional) तथा अक्षांश गति (latitude motion)। इस प्रकार आकाश की बदलती स्थिति, तारों तथा तारा-समूहों की स्थितियों को अत्यन्त बारीकी के साथ दर्शकों को दिखाया जा सकता है जो साधारणतया हमारे लिए असम्भव होता है।

आधुनिक प्लैनेटेरियम कंप्यूटरों तथा विशेष श्रव्य-दृष्य पद्धतियों का प्रयोग करके ऐसा वातावरण उत्पन्न करते हैं कि दर्शक का मनोरंजन तो होता ही है, साथ-साथ ज्ञानवर्धन व आकाश-ज्ञान भी हो जाता है। आम जनता में **खगोलशास्त्र** के विषय में जनचेतना जगाने में आज प्लैनेटेरियम महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। भारत ने भी इस क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान दिया है। 1962 में कलकत्ता में भारत का प्रथम विशाल 'बिड़ला प्लैनेटेरियम' स्थापित हुआ था, जो आज भी बेजोड़ है। बम्बई का 'नेहरू प्लैनेटेरियम' भी इसी श्रेणी में आता है। कुल मिलाकर इस समय भारत में दस से कुछ अधिक प्लैनेटेरियम हैं जिनके गुम्बद का व्यास 8 मीटर से 23 मीटर के बीच है, तथा इनमें 80 से 600 के बीच दर्शक बैठ सकते हैं। कलकत्ता व बम्बई के अतिरिक्त ये प्लैनेटेरियम हैं—बड़ौदा में 'सरदार वल्लभभाई पटेल प्लैनेटेरियम' पुट्टापर्ती (आंध्र प्रदेश) में 'सत्य साईं स्पेस थियेटर,' नई दिल्ली में 'नेहरू प्लैनेटेरियम,' इलाहाबाद में 'जवाहर प्लैनेटेरियम', हैदराबाद में 'बिड़ला प्लैनेटेरियम,' सालेम (तमिलनाडु), सूरत, पोरबन्दर विजयवाड़ा और बारंगल में भी प्लैनेटेरियम हैं। साथ ही बंगलौर, कालीकट, मद्रास, जयपुर, त्रिवेन्द्रम, तथा लखनऊ में प्लैनेटेरियम स्थापित करने की योजना है। अधिकतर प्लैनेटेरियम मॉडलों व प्रदर्शनियों की सहायता से दर्शकों का मनोरंजन करते हैं।

समय बीतने के साथ प्रयत्न इस बात के किये जी रहे हैं कि आधुनिकतम तकनीकों का प्रयोग करके प्लैनेटेरियम को एक अद्भुत स्थल बना दिया जाये जिसमें आकर दर्शक को यह प्रतीत ही न हो कि वह किसी छत के नीचे बैठा है, वरन् वह पूर्णतया अंतरिक्ष की गहराइयों में खो-सा जाए। आपको विश्वास न हो, तो स्वयं जाकर देख लीजिए।□□

शुकदेव प्रसाद को बाल साहित्य पुरस्कार

इलाहाबाद के सुपरिचित युवा विज्ञान लेखक **शुकदेव प्रसाद** को 'बाल साहित्य पुरस्कार' देने की घोषणा की गई है। उनकी पुस्तक 'वैज्ञानिकों के रोचक और प्रेरक प्रसंग' के लिए 'राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद्' (एन० सी० ई० आर० टी०, नई दिल्ली) द्वारा उक्त पुरस्कार प्रदान किया गया है। पुरस्कार में पाँच हज़ार रुपये की राशि और प्रशस्तिपत्र, दिल्ली में आयोजित एक समारोह में दिया जायेगा। इससे पूर्व शुकदेव प्रसाद को 'सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार' सहित केन्द्र एवं राज्य सरकारों, संस्थानों द्वारा सात बार पुरस्कृत, सम्मानित किया जा चुका है।

पुस्तक समीक्षा | अनिल कुमार शुक्ल

'कम्प्यूटर क्या है'; **लेखक**—गुणाकर मुले; **प्रकाशक**—वाणी प्रकाशन, 4697/5, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-२; **पृष्ठ संख्या**–58, **मूल्य**—पन्द्रह रुपये, **प्रकाशन वर्ष**–1986 ई० ।

समकालीन हिन्दी जगत् के उत्कृष्ट विज्ञान लेखकों की अग्रिम पंक्ति में महत्वपूर्ण स्थान रखने वाले अप्रतिम हिन्दी सेवी **श्री गुणाकर मुले** की यह नवीनतम पुस्तक भी हिन्दी विज्ञान प्रेमियों के लिए नई उपलब्धि है। विज्ञान के जटिलतम विषयों को सरल एवं रोचक हिन्दी में प्रस्तुत करने में सिद्धहस्त रचनाकर श्री मुले ने इस पुस्तक को लिखकर यह भ्रम तोड़ दिया है कि कम्प्यूटर की कार्य प्रणाली को केवल पश्चिमी भाषाओं में ही समझा जा सकता है। कम्प्यूटर को करिश्मा बताने वाले लोगों ने उस पर रहस्य का जो आवरण डाल दिया था, उस आवरण की तह में झाँककर इस पुस्तक को जिस रूप में उन्होंने लिखा है, उससे उनकी यह मान्यता पुष्ट हो जाती है कि कम्प्यूटर की कार्यप्रणाली का मातृभाषा में आसानी से समझा जा सकता है।

'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' पत्रिका के अंकों में कम्प्यूटर के विविध पक्षों पर धारावाहिक रूप में पूर्व प्रकाशित अपनी लेखमाला के 16 लेखों को उन्होंने इस पुस्तक में शामिल किया है। मानव के वैज्ञानिक इतिहास की झलकियों की बानगी के साथ-साथ कम्प्यूटर की कहानी कहते हुए लेखक ने भारतीय परिवेश एवं परिप्रेक्ष्य को भी विस्मृत नहीं किया है। पाठक को पूरी पुस्तक में यह कहीं नहीं लगता कि वह किसी अनजान अछूते विषय की गहराइयों में पहुँचता जा रहा है। यों तो हर लेख अपने आप में पूर्ण व स्वतन्त्र है, पर सरल भाषा में विषय की रोचक प्रस्तुति पाठक को पुस्तक बन्द ही नहीं करने देती। इस पुस्तक की रोचक भाषा के कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

"दर्शन की सान्ध्य भाषा में **लाइबनिट्ज** कहा करते थे कि ईश्वर एक' (1) है और 'शून्य' (0) कुछ नहीं। जिस प्रकार 'एक' और 'शून्य' के सहयोग से सारी संख्याएँ व्यक्त की जा सकती हैं, उसी प्रकार 'एक' विधाता ने 'कुछ नहीं' से समस्त सृष्टि का सृजन किया है।" (पृ० 17)

"कम्प्यूटर के लिए गणितीय तर्कशास्त्र एक बुनियादी चीज है। गणितीय तर्कशास्त्र इस धारणा पर आधारित है कि कोई भी कथन तार्किक दृष्टि से या तो 'सत्य' होता है या 'मिथ्या'। अन्य शब्दों में 'हाँ' या 'नहीं' (1 या 0) होता है। स्पष्ट है कि 'हाँ' या 'नहीं' का यह गणित कम्प्यूटर के लिए उपयुक्त है।" (पृ० 19)

"सिलिकन चिप्पड़ पर इलेक्ट्रॉनिक घटकों और परिपथों के रूप में स्थापित 'स्मृति' मुख्यतः दो प्रकार की होती है—स्थायी और अस्थायी। स्थायी स्मृति बिजली बन्द हो जाने पर भी टिकी रहती है, परन्तु अस्थायी स्मृति बिजली के बन्द होते ही लुप्त हो जाती है।" (पृ० 27)

"बहुतों के लिए यह एक दिलचस्प जानकारी होगी कि आज से करीब डेढ़ सौ साल पहले एक महिला ने ही पहली बार कम्प्यूटर-प्रोग्राम तैयार किया था। वह महिला थी **लेडी एडा अगस्टा**, कवि **बायरन** की बेटी ! और यूरोप की पहली बाला-टाइपिस्ट थीं काउण्ट **लियो तालस्ताय** की बेटी।" (पृ० 37)

इस अन्तिम उदाहरण में व्याकरण की दो भूलें खटकती हैं। अन्तिम वाक्य में **बाला** व **टाइपिस्ट** शब्दों के बीच योजक चिह्न नहीं होना चाहिए था। इसी

17 म्योर कॉलेज कालोनी, इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद–211002

वाक्य में 'थी' के पश्चात् योजक चिह्न लगाकर ही शेष वाक्यांश को लिखना व्याकरण सम्मत होता। ऐसी ही छोटी-छोटी भूलों को—जो प्रूफ संशोधन में असावधानी का फल हो सकती हैं—छोड़कर पूरी पुस्तक भाषा, शैली व कथ्य की दृष्टि से अत्यन्त सराहनीय प्रयास है।

मूलतः मराठी भाषी होते हुए भी श्री गुणाकर मुले ने, अपनी पूर्व रचनाओं की ही तरह, इस पुस्तक में भी हिन्दी भाषा पर अपनी असाधारण पकड़ को प्रमाणित किया है। कम्प्यूटर जैसे अल्पपरिचित विषय की गहराइयों को भी उन्होंने इतनी आसान हिन्दी में प्रस्तुत किया है कि, विज्ञान विषय से अपरिचित सामान्य पाठक भी लाभ उठा सकता है।□□

सुन्दर जंगली गधों का संरक्षण आवश्यक

काफी समय पहले जंगली गधे पश्चिमोत्तर भारत में घूमते-फिरते दिखलाई पड़ते रहते थे। उस समय उन्हीं के वंशज भारवाही गधे बोझ ढोया करते थे। जंगली गधे उन दिनों कच्छ के रण से लेकर पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त, ईरान और लद्दाख में पाये जाते थे। उनकी संख्या दसियों लाख थी। किन्तु आजकल जंगली गधे भारत में कच्छ के रण में ही मिलते हैं और इनकी संख्या घटकर कुछ सौ तक सीमित हो गई है। मनुष्य के अतिरिक्त हिंसक जंगली जानवरों और भेड़ियों ने इनका खूब शिकार किया।

वर्ष 1946 में जंगली गधों की संख्या प्रायः चार हज़ार थी, जो 1962 तक घटकर सिर्फ एक हज़ार रह गई। 1970 में केवल 362 जंगली गधे बचे थे। अब इसे एक संकटग्रस्त जाति घोषित कर दिया गया है। भारत सरकार और गुजरात राज्य के वन-विभाग ने इस संकटग्रस्त जाति के संरक्षण की जरूरत समझी और इसके लिए अनेक कदम उठाये। इनके शिकार पर प्रतिबन्ध लगाया गया। सहज रोगों के अलावा इनके लिए और जो भी ख़तरे थे, उनसे इन्हें संरक्षण दिया गया। अब विश्वास है कि इनकी संख्या बढ़कर फिर एक हज़ार से अधिक हो गई है।

अलग-अलग क्षेत्रों में पाये जाने वाले जंगली गधे एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न होते हैं। इसी तरह कश्मीर और कच्छ में पाये जाने वाले जंगली गधे एक दूसरे से भिन्न होते हैं। आजकल ये जंगली गधे कच्छ के रण में ही हैं। यहाँ से पाँच हज़ार किलोमीटर क्षेत्र में इनके लिए अभयारण्य बनाया गया है। यह क्षेत्र तीन भागों में बाँटा गया है, जिनके नाम हैं—भाचर, रापर और अदेसर।

जंगली गधा पालतू गधे से अधिक सुन्दर दीखता है, जबकि पालतू गधा बेवकूफ और सुस्त होता है। जंगली गधों की एक आश्चर्यजनक विशेषता उनकी तेज़ रफ़्तार है। यह दुनिया का सबसे तेज़ दौड़ने वाला जानवर है, जो 90 किलोमीटर प्रति घण्टे की रफ्तार से दौड़ सकता हैं और इस कारण इसका फोटो लेना कठिन हो जाता है। पालतू गधे की तुलना में यह कहीं अधिक चालाक और सावधान होता है।

इन जंगली गधों के सम्बन्ध में वैज्ञानिक अध्ययन और इनकी गणना का काम हो रहा है। यह आशा की जाती है कि तेज दौड़ने वाले इस सुन्दर जानवर की संख्या बढ़ाने के लिए समुचित कदम उठाये जायेंगे और वैज्ञानिक इनके उपयोग का भी उपाय सुझा सकेंगे कि ये मनुष्य के लिए किस प्रकार अधिक उपयोगी हो सकते हैं।

विज्ञान समाचार

संकलन : कु० किरन द्विवेदी एवं कु० अर्पिता

सौर मण्डल में दसवें ग्रह का भी अस्तित्व

अमेरिकी वैज्ञानिकों ने दसवें ग्रह का पता लगाया है जो पृथ्वी से पाँच गुना ज्यादा बड़ा है सौर सूर्य की परिक्रमा करने में उसे सात सौ वर्ष लगते हैं।

'नेशनल एरोनाटिक्स एण्ड स्पेस एडमिनिस्ट्रेशन' (नासा) के वैज्ञानिक **जॉन एण्डरसन** ने एक भेंट वार्ता में कहा है कि दसवें ग्रह के होने के संकेत सौर मण्डल के सातवें और आठवें ग्रह अरुण और वरुण और मंगल के परिक्रमा-पथ में हुये परिवर्त्तन से मिला है। इस परिवर्त्तन के कारण का पता अभी पूरी तरह नहीं लग पाया है। वैज्ञानिक एंडरसन ने बताया कि वरुण और मंगल के परिक्रमा-पथ में परिर्त्तन इस दसवें ग्रह के गुरुत्वाकर्षण बल के कारण सम्भव हो सकता है। विशेषज्ञ इसे 1910 से ही भाँप रहे हैं। बाह्य अंतरिक्ष में घूम रहे दो अमेरिकी यानों पर पड़ रहे गुरुत्वाकर्षण बल के प्रभाव का अध्ययन करने के आधार पर यह अनुमान लगाया जा रहा है कि दसवाँ ग्रह सुदूर अन्तरिक्ष में होगा और सूर्य तथा अन्य ज्ञात ग्रहों के करीब आने में इसे सात सौ से एक हजार वर्ष लगते हैं।

एंडरसन ने पाया कि इन अन्तरिक्षयानों, **पायनियर दस** और **ग्यारह** पर गुरुत्वाकर्षण बल के प्रभाव की व्याख्या ज्ञात नौ ग्रहों के आधार पर नहीं की जा सकती। एंडरसन के अनुसार दसवे ग्रह की रक्षा भी अस्वाभाविक है। यह सोलह से बत्तीस लाख किलोमीटर के बीच फैली है। वैज्ञानिकों के अनुसार यह ग्रह अस्तित्व में है तो यह सूर्य के निकट 1750 में पहुँचा होगा और फिर 2500 से 2800 के बीच पहुँचेगा।

कैंसर पर हमले का नया रास्ता

लन्दन से प्राप्त एक समाचार के अनुसार शरीर की भीतरी सतहों, नलिकाओं एवं ग्रन्थियों को ढंकने वाली एपिथेलियल कोशिकाएँ स्तन, फेफड़े, आँत एवं अण्डाशय के घावों पर एक नये आक्रमण का रास्ता हो सकती हैं। पश्चिमी देशों में स्तन, फेफड़े एवं आँत के घाव प्रमुख प्राणघातक कैंसर हैं।

इस सम्बन्ध में ब्रिटेन के 'इम्पीरियल कैंसर रिसर्च फण्ड' में वैज्ञानिकों ने एक नया गलत किस्म का 'कृत्रिम प्रोटीन मोनोक्लोबल एन्टीबाडी' (एम० ए० बी०) तैयार किया है। यह प्रोटीन शरीर में बाहरी पदार्थों और विशेष तौर पर एपिथेलियल कोशिकाओं पर हमला करेगा।

वैज्ञानिकों ने एपिथेलियल कोशिकाओं को चिकना करने एवं उन्हें संरक्षण देने वाले **'म्यूसिन'** नामक पदार्थ पर शोधकार्य करके 'एम० ए० बी० प्रोटीन' तैयार किया है।

म्यूसिन स्वस्थ एवं कैंसरग्रस्त दोनों तरह की कोशिकाओं में होता है। लेकिन वैज्ञानिकों ने एम० ए० बी० को कुछ इस तरह तैयार किया है कि वह कैंसरग्रस्त कोशिकाओं के म्यूसिन से एक रासायनिक तत्त्व को निकालेगा।

एम० ए० बी० से रेडियोएक्टिव कणों को सम्बद्ध करके मरीज के शरीर में प्रविष्ट किया जाता है। एम० ए० बी० शरीर में प्रविष्ट होने के बाद तब तक चारों तरफ घूमता है जब तक कि वह घावों का पता लगाकर उनसे चिपक नहीं जाता। शरीर के भीतर रेडियोसक्रियता (रेडियोएक्टिविटी) के जमाव को एक प्रकार की आधुनिक एक्स-रे मशीन के गामा कैमरे की मदद से देखा जा सकता है।

वैज्ञानिक विशेष तौर पर स्तन म्यूसिन पर शोध कार्य कर रहे हैं। उन्होंने इस सम्बन्ध में बताया कि एम० ए० बी० ने स्तन के ऊतकों एवं घावों में मौजूद कैंसरग्रस्त कोशिकाओं पर क्रिया करने में काफी स्पष्टता प्रदर्शित की।

फेफड़े एवं अण्डाशय के कैंसर को लक्षित करके अध्ययन करने पर भी एम० ए० बी० की क्रियाशीलता में स्तन के कैंसर के तरह ही स्पष्टता पाई गई। आँत के कैंसर भी एम० ए० बी० के आशाजनक परिणाम सामने आये हैं।□□

5 ई, लिडिल रोड, जार्जटाउन, इलाहाबाद–211002

भारतीय वनस्पतियों का संरक्षण आवश्यक

विजय जी

दक्षिण पूर्व एशिया के देश खासकर भारत प्राचीन काल से ही वन-सम्पदा की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध रहे हैं। भारत की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति का तो विकास ही वनों में हुआ था। भारतीय ऋषियों, मनीषियों ने एक-एक पौधे के गुण-दोष का गहराई से अध्ययन किया था और वे इस परिणाम तक पहुँचे थे कि कोई भी पौधा या वनस्पति व्यर्थ नहीं है। प्रत्येक का मानव व पर्यावरण के लिये महत्व है। भारत का आयुर्वेद दुनिया की प्राचीनतम चिकित्सा-पद्धति है और चरक और सुश्रुत के ग्रन्थ दुनिया के प्राचीनतम चिकित्सा-ग्रन्थ हैं। आयुर्वेद की अधिकांश दवाएँ, जड़ी-बूटियाँ पेड़-पौधों से प्राप्त की जाती हैं।

अनाज की किस्मों के मामले में भी हम दुनिया के समृद्धतम देशों में रहे हैं। वनस्पतिशास्त्रियों के अनुसार धरती के गिने जाने लायक करीब तीन लाख पौधों में अब तक लगभग 30,000 का ही अध्ययन हो पाया है। इनमें से कोई 3000 पौधे ही ऐसे हैं जिनपर कुछ अधिक विस्तार से कार्य हुआ है। हमारी थाली में जो कुछ परोसा जाता है उसका 90 प्रतिशत मात्र 30 पौधों से आता है। इनमें मात्र तीन पौधे **गेहूँ, चावल** और **मक्का** हमारे कुल भोजन का 75 प्रतिशत भाग जुटाते हैं। शेष भाग मोटे अनाजों से पूरा होता है। यह तो आज की स्थिति है। लेकिन आज से करीब एक शताब्दी पूर्व का आँकड़ा ही यदि हम लें तो उस समय भारतीयों के खाद्यान्न हज़ारों किस्मों की वनस्पतियों से प्राप्त किये जाते थे। बीजों के जानकार बताते हैं कि हमारे पूर्वज करीब 1500 से 2000 तरह के पौधों से अपनी भोजन सामग्री एकत्र करते थ। आज भी 'हरित क्रान्ति' से दूर के इलाकों का यदि अध्ययन किया जाय तो सैकड़ों मोटे अनाजों की किस्में मिल सकती हैं। और तो और आज से 80 वर्ष पूर्व केवल धान की ही हमारे देश में करीब 30,000 किस्में बोयी जाती थीं। लेकिन दुर्भाग्य तो यह है कि शताब्दी खत्म होते-होते शायद ही कोई देशी प्रजाति किसानों के पास सुरक्षित रह जाय।

बात चाहे जड़ी-बूटियों की हो, देशी बीजों की हो या अन्य वनस्पतियों की हो, सभी तेज़ी से लुप्त होती जा रही हैं। लुप्त होने की रफ़्तार इतनी तेज़ है कि अनेक का वैज्ञानिक अध्ययन भी नहीं हो पायेगा। इसके मूल में जायें तो अनेक कारण मिलेंगे। लेकिन सबसे बड़ा कारण तो सरकारी नीतियाँ हैं। अंग्रेज़ सरकार द्वारा किया गया वन-विनाश और भारतीय वनस्पतियों की उपेक्षा की बात तो समझ में आती है क्योंकि उनका उद्देश्य ही शोषण था, लेकिन हमारी अपनी सरकार ने इन सवालों की वर्षों तक अनदेखी क्यों की, यह बात समझ में नहीं आती।

पहले जड़ी-बूटियों की बात लें। यूँ तो यहाँ उगने वाले अधिकांश पेड़-पौधे उपयोगी रहे हैं लेकिन कुछ खास वनस्पतियों और जड़ी-बूटियों को भारतवासी प्राचीनकाल से ही महत्व देते आये हैं। अंग्रेज़ों के आगमन के पूर्व तक देश में आयुर्वेदिक चिकित्सा-पद्धति ही थी। गाँव-गाँव, घर-घर लोग इलाज के लिये इन्हीं ओषधियों पर निर्भर थे। चूँकि ये ओष-

---

जवाहर इण्टर कॉलेज, जारी, इलाहाबाद–212106

धियाँ आस-पास की वनस्पतियों से प्राप्त की जाती थीं अतः अधिकांश के विषय में गाँव वाले स्वयं परिचित थे और आवश्यकता होने पर वे स्वयं उनको एकत्र करके उपयोग कर लिया करते थे। वैसे गाँव-गाँव में जानकार वैद्य लोग भी हुआ करते थे। अंग्रेजों ने यहाँ जो शोषण के नये-नये तरीके ईजाद किये उसमें एक चिकित्सा-पद्धति भी थी। 'एलोपैथी' के द्वारा शोषण के लिये जनसामान्य के 'आयुर्वेद' के ज्ञान को नष्ट करना अनिवार्य था। दुर्भाग्य से स्वतन्त्र भारत में भी प्रारम्भ में यही नीति कायम रही।

लगातार जंगलों के विनाश से जड़ी बूटियाँ भी लुप्त होती गयीं। उनके जानकार तो लुप्त हो ही रहे थे। इन सब के बावजूद जड़ी-बूटियों का महत्त्व पूरी तरह समाप्त नहीं हो पाया। क्योंकि 'एलोपैथिक' की अच्छी से अच्छी दवा भी बाद में कुछ-कुछ बुराई प्रदर्शित करती ही है। 20-25 वर्ष पूर्व जब पश्चिमी जगत् को हमारे देश के पौधे **सर्पगंधा** और इसके रक्तचाप सम्बन्धी ओषधीय गुणों की जानकारी मिली तो सारी दुनिया में तहलका मच गया। **सोलेसोडीन** नामक पौधे ने भी खूब धूम मचायी है। इससे गर्भनिरोधक दवा बनाने की शुरुआत हुई है।

कई रोगों में 'एलोपैथी' की सीमा को देखते हुये पश्चिमी जगत् और खासकर बहुराष्ट्रीय निगमों की चोर निगाहें भारतीय जड़ी-बूटियों पर गयीं। ये कंपनियाँ मिट्टी के भाव यहाँ से जड़ी-बूटियाँ विदेश ले जाती रही हैं और वहाँ से दवाएँ बनाकर सोने के भाव हमें ही बेंचती रही हैं। उन्हीं विषम परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुये भारत सरकार ने **दमा, श्वांस, रक्तचाप, वात, कफ, संन्निपात, खाँसी, आँव, आँतों की पीड़ा, ज्वर, कुष्ठ रोग** आदि के उपचार के काम आने वाली नौ जड़ी-बूटियों को भारत सरकार के शासकीय पत्र संख्या यू० ओ० /379/14-1974 दिनाङ्क 30-5-1974 में लुप्तप्राय घोषित की जा चुकी हैं। ये ओषधीय पौधे हैं—

अतीस (**एकोनिटम हेट्रोफाइलम**), जटामासी (**नार्डोस्टाइकस जटामासी**), सालम मिश्री (**ओरेकिस लैटिफोलिया**); सोमलता (**इफेड्रा जिराडियाना**), डोलू या अरक (**रियम इमोरी**), मिरप (**पोलीगैला क्रोटा**), महामैदा (**पलीगेनेटम मल्टीफ्लोरम**), सलाम पंजा (**थूलोफिया कम्पेस्ट्रस**) और पत्थर लौंग (**डिडिनोकार्पस लैटिफोलिया**)।

लगातार वन-विनाश से हिमालय क्षेत्र, जो कभी जड़ी-बूटियों का खजाना रहा है, अब कंगाल होता जा रहा है। उत्तर प्रदेश सरकार ने क्षेत्र के ओषधीय पौधों का पुनः सर्वेक्षण करवाकर रिपोर्ट दी है कि यहाँ 50 जड़ी-बूटियों के लुप्त होने का ख़तरा उत्पन्न हो गया है। किल्मोड़ा (**बारबेरिस**) एक प्रसिद्ध जड़ी-बूटी है जिसकी छाल और जड़ों से 'बारबेरिन' नामक अल्केलायड निकाला जाता है। यह **दस्त** की बीमारी और अल्सर की रामबाण ओषधि है। हमारे देश से जापान, फिलीपीन्स और एशिया के अन्य देशों को 'बारबेरिन' का भारी मात्रा में निर्यात किया जाता है। सरकार ने यद्यपि किल्मोड़ा के दोहन पर पाबन्दी लगायी है लेकिन मुनाफाखोर इसके तने को तो काटते ही हैं, इसकी जड़ों को भी खोद लेते हैं क्योंकि इसकी जड़ों से तनों की अपेक्षा अधिक ओषधि प्राप्त होती है। जड़ों की खुदायी से एक ओर जहाँ यह जड़ी लुप्त होती जा रही है वहीं भू-क्षरण को बढ़ावा मिल रहा है।

किल्मोड़ा को जहाँ अपने देश के व्यापारियों से ख़तरा है वहीं दूसरे प्रसिद्ध ओषधीय पौधे **डायस्कोरिया** को सर्ले इंडिया लैबोरेटरीज, ग्लैक्सोज वायथ लेबोरेटरीज तथा सिपला जैसी बहुराष्ट्रीय कंपनियों से ख़तरा पैदा हो गया है। इस पौधे से 'डायोस्जेनिन' नामक अल्कलायड बनता है जो **ओरल कोंट्रासेप्टिव, सेक्स हारमोन** तथा **कार्टिको स्टेरॉन हार्मोनों** के निर्माण के काम आता है। ये कंपनियाँ इस पौधे के रसायन को निकालकर अमेरिका और योरप को भेजती हैं। वहाँ इनसे कीमती गर्भनिरोधक गोलियाँ बनती हैं जो पुनः हिन्दुस्तान आकर बेंची जाती हैं।

जड़ी-बूटियों का विनाश उसी रफ़्तार से हुआ जिस रफ़्तार से वनों का विनाश हुआ। वन-विनाश

के लिये शहरीकरण, बड़ी नदी घाटी परियोजनाएँ, बाँध आदि जिम्मेदार हैं। पहाड़ी क्षेत्र भी खनिज सम्पदा निकालने के लिये ढहाये गये। उड़ीसा का गंधमार्दन क्षेत्र भी जड़ी-बूटियों से समृद्ध क्षेत्र रहा है। लेकिन कुछ वर्ष पूर्व बालको (भारत एल्यूमिनिमय कम्पनी) द्वारा बाक्साइट के खनन से यहाँ के पर्यावरण को ख़तरा उत्पन्न हो गया है। भारतीय वनस्पति सर्वेक्षण की एक रिपोर्ट के अनुसार इस क्षेत्र में उत्खनन से 150 किस्म की ओषधियों वाले पौधे, 25 किस्म के वन्य जन्तु व अन्य वनस्पतियाँ लुप्त हो सकती हैं।

खाद्यान्न फसलों की किस्मों के मामले में दुनिया के अमीर देश बहुत ही गरीब हैं। जहाँ उनके यहाँ गेहूँ, चावल, मक्का जैसी ही इनी-गिनी फसलें हैं, वहीं तीसरी दुनिया के भारत जैसे निर्धन देशों के पास किस्मों की विविधता आज भी विद्यमान है। 'हरित क्रान्ति' के आगमन के पूर्व तक देश के प्रत्येक क्षेत्र में वहाँ की मिट्टी, जलवायु आदि के आधार पर असंख्य किस्में मौजूद रही हैं।

हरित क्रान्ति के लिये जिन संकर बीजों का प्रचार-प्रसार किया गया उनकी खमियाँ बड़ी जल्दी ही प्रकट होने लगीं। उनके लिये सिंचाई की भरपूर सुविधा, अधिक मात्रा में उर्वरक और कीटनाशक आवश्यक थे। इनमें से एक भी साधन की कमी से फसल का भरपूर लाभ संभव नहीं था। संकर बीजों की सबसे बड़ी कमी इसकी रोग-प्रतिरोधक क्षमता में कमी था। यही वजह रही है जो पश्चिम की निगाहें बार-बार तीसरी दुनिया के देशों के बीजों पर रही हैं। देशी बीज रोग-प्रतिरोधक क्षमता में सर्वथा उत्तम रहे।

अमेरिका द्वारा फिलीपींस में स्थापित 'इन्टरनेशनल राइस रिसर्च इन्स्टीट्यूट' (IRRI) के निदेशक **डॉ० एम० एस० स्वामीनाथन** स्वयं अपने एक लेख में स्वीकार करते हैं कि संस्थान द्वारा विकसित संकर किस्में देशी किस्मों जैसी रोगरोधी नहीं हो पायी हैं। संस्थान से आई० आर० 8, 1966 में विकसित किया गया। 1968-69 में यह भयंकर वायरस रोग से ग्रस्त हो गया। 1970-71 में फिलीपींस में यह किस्म करीब-करीब वायरस रोग से नष्ट ही हो गयी और किसानों को भारी नुकसान उठाना पड़ा। संस्थान से आई० आर० 20, 1969 में विकसित किया गया। यद्यपि यह आई० आर० 8 के वायरस रोगों से मुक्त था फिर भी 1971-72 में एक अन्य तरह के वायरस रोग ने इस किस्म को तबाह कर दिया। 1973 में संस्थान से आई० आर० 26 किस्म विकसित की गयी जो आई० आर० 20 के वायरस रोगों से मुक्त रही। यह किस्म भी 1974-75 में तो फिलीपींस में अच्छी रही लेकिन 1976 में एक तीसरी किस्म की वायरस बीमारी ने इस पर जबरदस्त हमला किया। अब यहाँ धान की नवीनतम् किस्म आई० आर० 36 अस्तित्व में आई है। लेकिन यह भी निरापद नहीं रह पायी है। इस पर भी कुछ नयी बीमारियों का आक्रमण हो चुका है।

इस तरह एक के बाद एक संकर बीज निकालने वाले **वैज्ञानिकों की स्पष्ट धारणा है कि रोगरोधी जीन की प्राप्ति के लिये देशी बीज महत्वपूर्ण हैं और उनका संग्रह होना चाहिये।** फलों का धंधा करने वाली 'यूनाइटेड फूड कम्पनी' ने केले की उपलब्ध किस्मों में दो तिहाई किस्मों की रज एकत्र कर ली है। इसी तरह रबर, टायर का धंधा करने वाली 'फायरस्टोन कम्पनी' ने एशिया, ब्राज़ील और श्रीलंका की लुप्त हो रही रबर की 700 किस्मों की रज एकत्र कर ली है। बीजों पर कम्पनियों के हक सम्बन्धी कानून 1980 में ही इंग्लैंड में पास हो चुका है। कानून का नाम है 'प्लांट ब्रीडर्स राइट' कानून।

धान विशेषज्ञ **डॉ० रिछारिया** ने दशकों पूर्व ही भाँप लिया था। इसीलिये उन्होंने विदेशों में बनी संकर किस्मों के आयात का विरोध किया था तथा देशी किस्मों के संग्रह पर बल दिया था। लेकिन उन्होंने धान की देशी किस्मों में विशेष रुचि ली है और अब तक वे करीब 19000 किस्मों को एकत्र कर चुके हैं।

लुप्त हो रही प्रजातियों एवं वनस्पतियों की किस्मों के संग्रह के लिये दिल्ली में 'राष्ट्रीय पादप आनुवंशिक संसाधन ब्यूरो' स्थापित है। ब्यूरो के पाँच क्षेत्रीय केन्द्र हैं : शिमला, शिलांग, जोधपुर, अकोला तथा त्रिचूर। विभिन्न जलवायु में स्थित इन केन्द्रों में स्थानीय पादप सामग्री के संरक्षण का कार्य किया जाता है। विभिन्न किस्मों के पौधों के 'जर्म प्लाज़्म' संग्रह के लिये ब्यूरो एक राष्ट्रीय भण्डार तैयार कर रहा है। ब्यूरो ने इसके लिये इंग्लैंड से एक पोर्टेबुल शीतगृह भी आयात किया है। इस शीतगृह का आयतन 7 घनमीटर है और इसमें 30,000 नमूनों को भण्डारित करने की व्यवस्था है।

देश में उपलब्ध वनस्पतियों के उचित संरक्षण और महत्वपूर्ण देशी प्रजातियों के जर्मप्लाज़्म के भण्डारण की तत्काल आवश्यकता है।□□

मधुमेह में मेथी के बीजों से लाभ

हैदराबाद की 'नेशनल इंस्ट्रीट्यूट ऑव न्यूट्रीशन' (राष्ट्रीय पोषण संस्थान) के वैज्ञानिकों ने मेथी के बीजों के प्रयोग से मधुमेह रोग पर काफी हद तक नियंत्रण पा लिया है। आज विश्व का प्रत्येक पाँचवाँ व्यक्ति मधुमेह का रोगी है। भारत में आबादी का 2-3 प्रतिशत इस रोग से ग्रस्त है। मधुमेह (*Diabetes mellitus*) पैनक्रियाज़ की कोशिकाओं द्वारा स्रावित इंसुलिन के स्राव में कमी हो जाने के कारण होता है।

राष्ट्रीय पोषण संस्थान के वैज्ञानिकों के अनुसार रोगी व्यक्ति को प्रतिदिन, रोग की गंभीरता के अनुसार, 25–100 ग्राम तक मेथी के बीजों का सेवन करना चाहिए। बीजों का चूर्ण बनाकर अथवा दूध या दही में मिलाकर पेय के रूप में लिया जा सकता है। दोपहर और रात के भोजन से 15 मिनट पूर्व आमतौर से 12.5 ग्राम बीजों का इस्तेमाल काफी लाभदायक सिद्ध हुआ है। मेथी के बीजों के साथ ओषधि का प्रयोग भी जारी रखना चाहिए। थोड़े दिनों के बाद ओषधि पर निर्भरता कम हो जाती है। वैज्ञानिकों का यह भी कहना है कि शक्कर को इस्तेमाल नहीं करना चाहिए और यह भी ध्यान रखना चाहिए कि शरीर का भार न बढ़ने पाये। मेथी के बीजों के उपचार से तभी अधिक लाभ होता है जब प्रतिदिन भोजन 1200-1400 किलो कैलोरी के बीच रखा जाय। मेथी के बीजों का इस्तेमाल चपाती, चावल अथवा सब्जी के साथ भी किया जा सकता है।

मेथी (*Trigonella foenum graceum*) मटर कुल (Leguminoeceae) का पौधा है। इसके बीजों में प्रोटीन और लाइसीन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होती है। किन्तु मधुमेह में जहाँ मेथी के बीज प्रभावी हैं वहीं पत्तियों का इस रोग पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

जेनेटिक इंजीनियरी का कमाल

सैनडियेगो, कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के आनुवंशिकीविज्ञानी **डोनैल्ड आर० हेलसिकी** ने जुगनू में प्रकाश उत्पन्न करने वाले **जीन** (Gene) को तम्बाकू के पौधे में सफलतापूर्वक प्रत्यारोपित कर दिया है। यह प्रकाशोत्पादक जीन, जो ल्यूसिफेरेज़' (luciferase) नामक एन्ज़ाइम बनाता है, तम्बाकू के पौधे को प्रकाशमान कर देता है, विशेष रूप से उस समय जब नई कोंपल निकलती है और यह जीन अपने को प्रदर्शित करता है।

पौधे में प्रकाशोत्पादक ल्यूसिफेरेज़ जीन को प्रत्यारोपित करने के पूर्व इसे पौधे के जीन से संयोजित किया गया और फिर जीवाणु प्लास्मिड (जीवाणु डी एन ए का लूप) में प्रवेश कराया गया। इस विशेष रूप से तैयार किये गये प्लास्मिड को जीवाणु में भेजकर तत्पश्चात डीएनए को पादप कोशिकाओं में सुई द्वारा प्रविष्ट कराया गया। पौधे के अन्दर जब प्रकाश उत्पन्न होगा तब इस जीन की क्रियाविधि का भली-भाँति अध्ययन किया जा सकता है।

विज्ञान तथा तकनीकी क्षेत्र में संक्षिप्तियों का महत्व

डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया

महिलाओं को शोषण से बचाने वाली 'सेवा' है और यही 'सेवा' की सबसे बड़ी सेवा है। (**हिंदुस्तान**, दिनांक 25-11-1983), 'आसू' के महासचिव गिरफ़्तार (**नवभारत**, दिनांक 25-11-1983), चोगम और चुइंगगम (**हिन्दुस्तान**, दिनांक 24-11-1983), एवार्ड द्वारा अपनी सम्पत्ति एफोर्ड को सौंपना गलत (**जनसत्ता**, दिनांक 26-11-1983), आदि प्रकाशित समाचारों के अंशों में क्या आपने कभी सोचा है कि 'सेवा' हिन्दी का लगता हुआ भी हिन्दी का शब्द नहीं है, वरन् 'सेल्फ एम्पलायड वीमेंस एसोसिएशन' के प्रत्येक पहले वर्ण (व्यंजन अथवा स्वर) को लेकर 'आत्मनिर्भर महिलाओं के संघ' के लिए व्यवहृत हुआ है। इस प्रकार क्रमशः 'आसाम स्टुडेण्ट्स यूनियन', 'कॉमनवेल्थ हेड्ज ऑव गवर्नमेंट मीट', 'एसोसियेशन ऑव वोलिएंटरी एजेंसीज फॉर रूरल डेवलपमेंट' के लिए क्रमशः 'आसू', 'चोगम' तथा 'एवार्ड' का प्रयोग किया गया है। एक ओर संस्थाओं और संगठनों के नाम लम्बे से लम्बे होते जा रहे हैं, तो दूसरी ओर व्यवहार में व्यक्ति उनका छोटे से छोटा नाम देते हैं, जैसे नार्थ एटलांटिक ट्रीटी आर्गनाइजेशन, इण्डियन पीपुल थियोट्रिकल एसोसियेशन, इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस, इण्डियन मूवी पिक्चर एसोसियेशन, यूनाइटेड नेशंस एजुकेशनल साइंटिफिक एण्ड कल्चरल आर्गेनाइजेशन, मिडिल ईस्ट डिफेन्स आर्गेनाइजेशन, साउथ ईस्ट एशियन ट्रीटी आर्गेनाइजेशन क्रमशः नाटो, इप्टा, इंटक, इम्पा, यूनेस्को, मोडी, सीटो आदि से समाज में और फलतः समाचार-पत्रों में प्रचलित हैं। आज के इस भाग-दौड़ के युग में मानव मात्र की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि कम से कम समय में तथा कम से कम शब्दों में अपने अधिकतम भावों एवं विचारों की अभिव्यक्त करें। अंग्रेज़ी में यही प्रवृत्ति **एक्रोनिम** (Acronym) कहलाती है, जो एक्रो + ग्रीक ओनुम [नाम] से बना है। ग्रीक **एक्रोस** का अर्थ है सबसे पहले का।

प्रत्येक काल में ऐसे शब्द बनते रहे हैं। कालान्तर में जब ये शब्द बहु-प्रयुक्त होकर कोश के अन्तर्गत अपना समुचित स्थान बना लेते हैं, तो हम प्रायः भूल जाते हैं कि अमुक शब्द का निर्माण इस विधि से हुआ होगा, जैसे अंग्रेज़ी 'न्यूज' [समाचार] वस्तुतः नार्थ, ईस्ट, वेस्ट तथा साउथ का द्योतक है क्योंकि प्रत्येक दिशा के समाचार इकट्ठे होते हैं। हिन्दी में प्रचलित 'बदी' और 'सूदी' भी इसी प्रक्रिया के फलस्वरूप हैं, 'सु' [सुदि] शु-शुक्लपक्ष तथा बहुल/कृष्ण पक्ष के द्योतक हैं।

आर्थिक संकट से निपटने के लिए आर्थशास्त्रियों ने मिलकर जिस सिद्धांत का प्रतिपादन किया, वह 'सेमीबमबोला' कहलाया। सिद्धांत के आते ही ऐसा लगा, महादेव शिव ने 'बंभोला' बोलते हुए आर्थिक संकट पर आघात किया हो। 'स्कीम' शब्द इकोनोमिस्ट्स फॉर मानेटरी इमोबाइलाइजेशन थ्रू द इश्यू ऑव बांड मेडलीज एण्ड बलोक्ड एसेट्ज' जैसा बड़ा नाम ऊँची दुकान फीका पकवान को चरितार्थ कर गया, क्योंकि आर्थिक स्थिति ठीक होने के बजाय बिगड़ती गई।

इस कोटि के शब्दों को विभाजित किया जा सकता है। पहली कोटि में उन शब्दों को लिया जा सकता है, जो संक्षिप्त होकर भी अपनी 'वर्तनी' में जाने-माने पूर्व प्रचलित शब्द के समान ही बन जाते हैं। ऐसे शब्द एक ओर जहाँ सहज ही प्रचलित हो जाते हैं, वहीं दूसरी ओर भ्रम पैदा करते हैं। अंग्रेज़ी (रोमन) में तो इस भ्रम को दूर करने के लिए ऐसे शब्दों को प्रायः कैपीटल में मुद्रित किया जाता है,

प्रोफेसर, हिन्दी तथा प्रादेशिक भाषाएँ, लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी, मसूरी–248179

पर नागरी में प्रायः इन्वर्टेड कौमा के मध्य रख देते हैं। मेरा सुझाव है कि नागरी में जब इन शब्दों को लिखा जाए, तो पूरा शब्द रेखांकित करना चाहिये। जैसे सामान्य प्रयोग में आने वाले 'प्रिन्स' से संक्षिप्त रूप **प्रिन्स** रूप में मुद्रित हो, जिससे यह स्पष्ट हो सके कि प्रथम 'प्रिन्स' राजा वाचक है, जबकि द्वितीय 'प्रोगाम इण्टरनेशनल कम्प्यूटर एनवाइरनमेंट' के लिए जिस पद्धति को संयुक्त राज्य अमेरिका की सिराक्यूज विश्वविद्यालय में विकसित किया गया है, जिसके माध्यम से मनुष्य एक मिनिट में वह कमाल हासिल कर सकता है, जो मानव द्वारा चार हजार वर्षों में सम्भव हो सके। इस कोटि में बहु-प्रचलित शब्द हैं— केवर, पैक्ट, स्कोप, पिन, रोप, साइट, साल्ट, सेड, कार्ड, एक्ट, होप, मैन, वेवज, एक्टर, एग्री, एड, बेसिक हरेजर, स्मार्ट, स्काट, पैट, पुश, टी, ईट्स, एलर्ट, स्टाप, स्टेप, एपल, इक्रोसेट, नाउ, क्राई, केप, कैप, अनराइज्ड, वाइस आदि। कभी-कभी ऐसा शब्द नागरी में लिखने पर हिन्दी का शब्द प्रतीत होता है, जैसे 'सीता' जो वस्तुत 1956 का वह कानून है, जो 'सप्रेसन ऑव इमोरल ट्रैफिक इन वीमेने एण्ड गलर्ज एक्ट' का संक्षिप्त रूप है। 'सेवा' का उदाहरण दिया जा चुका है।

प्रचलित अन्य संक्षिप्त शब्दों की संख्या तो बहुत अधिक है, जैसे रास यूनीतार, नटकमक, क्रोध, जिकतर, शार, फोडी, इण्डोपेक्स, इस्कान, पर्ट, कोमेकान, बर्त, सिकीम, सस्मीरा, जालीना, जालमा, इकाफे, टासी, नासा, कोस्पार, कोपुओस, राडा, नीरड, यूनीसेफ, एस्केप, तास, ओपेक, सोस्लीन, निह्‌ल, कास्मे, इकोसोक, इन्स्ट्रा, फारसी आदि।

इधर सरकार ने अनेक ऐसी स्वायत्त संस्थाओं का निर्माण किया है, जिनके संक्षिप्त नाम ही अधिक प्रचार में आ गये हैं। विमान बनाने वाली कम्पनी 'हाल' के रूप में प्रसिद्ध है। इसी कोटि में 'बेल', 'भेल' तथा 'सेल' आते हैं। भारतीय इस्पात प्राधिकरण ने इस संक्षिप्त नाम पर ही अपनी मुख-पत्रिका का नाम 'सेल-समाचार' रख दिया। निड, निहाए, इसरी, टर्ल्स, हीप, इम्की, इन्फा, मेकान, बाटू, सिट्रा, अटोरा, इंपेक, टा, फे, इक्की आदि इसी प्रकार की सरकारी अर्द्धसरकारी संस्थाएँ हैं। भारत सरकार का तो यह आदेश है ही कि नवीन कार्यालयों, संस्थाओं का मूल नामकरण राजभाषा हिन्दी में किया जाए, फिर हिन्दी भाषा-भाषी राज्यों को इससे छूट का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर भी सर्वविदित है कि नवीन ओखला औद्योगिक विकास प्राधिकरण का संक्षिप्त नाम 'नौएडा' अंग्रेजी रूप ही आधारित है। राजस्थान का निगम 'राकी' अंग्रेजी नाम पर आधारित है। बिहार की सुप्रसिद्ध 'बिस्कोमान' अंग्रेजी रूप पर ही आधारित है, जबकि महाराष्ट्र का 'माविम' महिला आर्थिक विकास महामण्डल पर आधारित है। क्या हिन्दी भाषा-भाषी राज्य इस दिशा में महाराष्ट्र राज्य द्वारा की गई पहल से शिक्षा लेंगे? 'पिरेप' स्कीम जैसी ग्रामीणों के लिए योजनाएँ राजभाषा में क्यों नहीं तैयार होती हैं?

अन्तरिक्ष उपग्रहों के कारण अनेक शब्द सहज ही प्रयोग में प्रचलित हो गये। साइट, इसरो, इंसैट आदि। कुछ उपग्रहों के नाम भी इस आधार पर रखे गये, जैसे टाइरोस, सिनकोम। पिछली अरब-इजरायल लड़ाई के फलस्वरूप सैम (सरफेस टू एअर मिजाइल) का अत्यधिक प्रचार हो गया। इसी प्रकार 'इन्सडाक' भारतीय राष्ट्रीय प्रलेख पोषण केन्द्र तथा 'फोला' फ्री स्टाटल इण्टर-नेशनल एथलीट्स के लिए है। भारत में हुए अन्तर्राष्ट्रीय अधिवेशनों के कारण 'अंकटाउ' तथा 'नेम' और अब 'योग्य' प्रेस में अत्यधिक प्रचार पा गये।

पिछली बार चीन के आक्रमण के समय 'नेफा' 'मिग' तथा 'रडार' शब्द काफी प्रचलित हो गये। 'नेफा' वस्तुतः नार्थ ईस्ट फ्रण्टियर एजेन्सी के प्रथम वर्णों को लेकर बनाया गया। इसके हिन्दी रूप 'उत्तर पूर्वी सीमा' के प्रथम अक्षरों को लेकर 'उपूसी' का व्यवहार किया गया। अब तो 'अरुणाचल प्रदेश' के प्रचलन के कारण ये शब्द प्रायः समाप्त हो गये। संभवतः अधिकांश लोग इस तथ्य को नहीं जानते हों

कि हवाई जहाजों में बहुचर्चित 'मिग', जिसका निर्माण तेजी से अब भारत में हो रहा है, वस्तुतः इसके प्रारंभिक निर्माणकर्त्ता मिकोयन (मि) तथा गुरेविच (ग) के प्रथम अक्षरों को मिलाकर हुआ। युद्ध में बहुप्रचलित 'रडार' रेडियो तरंगों की उपस्थिति का पता लगाने या उस स्थान की दूरी का पता लगाने के काम में आता है, जहाँ से तरंगें आ रही हैं– रेडियो डिटेक्शन एण्ड रेंजिग। इसी युग में विज्ञान ने ऐसी रोशनी का आविष्कार किया, जो अपने मार्ग में पड़ने वाली हर चीज को छेदती हुई चली जाती है। यह लाइट एम्प्लीकेशन बाई स्टिम्युलेटेड इमिशन रेंज ही 'लेसर' बनाया गया और इस शब्द को लेकर जो सेटेलाइट बनाया गया, वह 'लेगोस' बन गया। इसी प्रकार माइक्रोवेट एप्लीकेशन बाई स्टिमुलेटेड एमिशन ऑव रेडिएशन का संक्षिप्त रूप 'मेसर' बना है। यह यन्त्र तो अणु और परमाणु के मूलभूत सिद्धांतों के आधार पर विद्युत्-चुम्बकीय लहरें उत्पन्न करता है, तीव्रता बढ़ाता है। इस यंत्र का नक्षत्र-विद्या तथा उपग्रह-संचार में विशेष महत्व है। इसका प्रारम्भ सन् 1954 में **चार्ल्स एच. टॉउन्स** के निर्देशन में हुआ था। इसी प्रकार आल्प्स पर जल सम्बन्धी समस्याओं के समाधान के लिए जो 'सोग्रेह' की स्थापना की गई, वह अपने बहुत बड़े विदेशी नाम का संक्षिप्त रूप है।□□

['लोक शिक्षक' से साभार]

ग्लाइडरों की मदद से पक्षियों के स्वभाव का अध्ययन

इज़रायल के रैप्टोर सूचना केन्द्र (Israel Raptor Information Centre, IRIC) के निदेशक **योस्सी लेसहेम** ने चिड़ियों के विषय में कई रोचक बातों का पता लगाया है। बड़े पक्षी प्रातः जल्दी नहीं उठते। वे इस बात का इन्तज़ार करते हैं कि धरती गर्म हो जाये और ऊपर उठती गर्म वायु की लहरों पर उड़ते हैं। जब उन्हें वायु की गर्म लहरें मिल जाती हैं तो वे अपनी इच्छानुसार काफी ऊँचाई तक उड़ सकते हैं। कभी-कभी वे 2000 मीटर ऊँचे पहुँच जाते है और इस ऊँचाई पर पहुँचने के बाद वे सीधी रेखा में उड़ते हैं किन्तु जिग-जैग (Zig-Zag) तरोके से ऊपर उड़कर वे 8000 किलोमीटर या और ऊपर की यात्रा तय कर लेते हैं। ये अध्ययन शक्तिशाली ग्लाइडरों की मदद से किये गये हैं। संभवतः पक्षियों के और भी बहुतेरे रहस्य हैं जिनकी खोज होनी अभी भी बाकी है।

मस्तिष्क के दायें और बाय भागों में रासायनिक विषमता

रूसी वैज्ञानिकों ने इस बात का पहली बार पता लगाया है कि मस्तिष्क के दायें और बायें भागों में पाये जाने वाले रसायनों में विषमता होती है और इसी कारण मस्तिष्क के दायें और बायें भागों के स्वभाव में विभिन्नता पायी जाती है। इन रसायनों को पहचान भी लिया गया है। वैज्ञानिकों को ऐसी आशा है कि रसायनों को नियंत्रित करके भविष्य में अनेक प्रकार के मानसिक और मस्तिष्क सम्बन्धी रोगों पर विजय पायी जा सकेगी। यही नहीं, मस्तिष्क के दायें अथवा बायें भाग को रसायनों द्वारा उत्तेजित करके मस्तिष्क की रचनात्मक क्षमताओं में भी वृद्धि की जा सकेगी।

कोलेस्टेरॉल से शरीर की सुरक्षात्मक शक्तियों में वृद्धि

म्यूनिख मेडिकल सर्विस के 'इंस्ट्रीट्यूट ऑव क्लिनिकल बायो केमिस्ट्री एण्ड फार्मेकॉलोजी' के अनुसंधानकर्त्ता डॉ० **हैन्स ब्रायर** और उनके शोध दल के सदस्यों की खोज के अनुसार कोलेस्टेरॉल की कमी से शरीर के अन्दर रोग प्रतिरोधी सुरक्षा तंत्र के महत्वपूर्ण तत्त्व अप्रभावी हो जाते हैं। अनुसंधानकर्त्ताओं ने यह निष्कर्ष 760 स्वस्थ मनुष्यों के शरीर की जाँच के आधार पर निकाला है।

पीनियल ग्रन्थि की रोचक कार्य-प्रणाली

डॉ० ए० के० गुप्ता

बाह्य वातावरण से जन्तुओं के शरीर का व्यवहारिक एवं कार्यकीय संतुलन बनाये रखने के लिये मस्तिष्क के मध्य में स्थित 'पीनियल' ग्रन्थि की अनोखी भूमिका है। यह ग्रन्थि छोटे आकार की लगभग 8 मिलीमीटर लम्बी तथा 4 मिलीमीटर चौड़ी 'कोलीकुली' के पृष्ठ भाग में स्थित होती है। मनुष्यों में यह पिन-कोन की तरह दिखने वाला एक साधारण बटन के वज़न के बराबर की होती है। इस ग्रन्थि को ग्रीस के कार्यकीय विज्ञानियों (फिज़ियालोजिस्टों) ने 400 वर्ष ईसा पूर्व ही ज्ञात कर लिया था परन्तु उनका कार्य विवादास्पद रहा। इस शताब्दी के प्रारम्भ में इस ग्रन्थि पर व्यापक अध्ययन होने लगा और तंत्रिका-तंत्र पर इसके प्रभाव को देखा जाने लगा। आरम्भ में मछलियों, सरीसृपों, उभयचरों, पक्षियों में इस ग्रन्थि के कार्य एवं इसकी उपयोगिता पर अध्ययन हुआ। घड़ियाल, मगरमच्छ, आर्मेडिलोस आदि में इस ग्रन्थि के स्थान पर समान कार्य करने वाली कोशिकाओं की उपस्थिति का पता लगा। जन्तुओं पर इस ग्रन्थि के प्रभाव का अध्ययन करते समय वैज्ञानिकों ने इसकी अनुपस्थिति के कारण कई रोचक परिणाम देखे। उदाहरण के लिए बहुत से उन जन्तुओं की प्रजनन-क्रिया जो ऋतुओं पर निर्भर करती है इस ग्रन्थि को नष्ट करने पर उनमें जननीय असंतुलन होता है और वातावरण के परिवर्तन से वे प्रभावित हो जाते हैं। मत्स्य तथा उभयचर शिशुओं में पीताभता (Pallor) अनुक्रिया नहीं होती। उनमें आवश्यकतानुसार वातावरण के अनुरूप अपना रंग बदल लेने की क्षमता का ह्रास हो जाता है, जिससे अपने शत्रुओं से छिपकर वे अपनी रक्षा नहीं कर पाते। पक्षी वातावरण के परिवर्तन के कारण प्रवास करने में भ्रमित हो जाते हैं। हरिणों में मृगशृंग असमय ही बढ़ जाते हैं। अमेरिका के सेन-अन्टानियों में टेक्सास विश्वविद्यालय के जीवविज्ञानी **रसल रेटर** ने अनुमान लगाया कि यह पीनियल ग्रन्थि बाह्य वातावरण के अनुसार शरीरिक क्रियाओं में संतुलन बनाये रखता है। **रेटर** ने साइरिया के 'हेमस्टर' को अपने प्रयोग हेतु चुना जो ऋतु के अनुसार प्रजनन करता है। इसका प्रजनन काल बसन्त ऋतु अथवा गर्मी का मौसम है। जब इस 'हेम्स्टर' को प्रयोगशाला के विशिष्ट कक्ष में रखा गया तो तड़ित-क्रम में रहने के बावजूद यह सामान्य व्योहार करता दिखाई पड़ा। उनका सहवास बनावटी वातावरण के अनुसार परिवर्तित नहीं हुआ। 1960 में अंतःस्राव के विशेषज्ञ (Endocrinologist) **रिचर्ड बर्टमैन** ने इस ग्रन्थि के कार्य का सूक्ष्म अध्ययन किया। तंत्रिकीय अंतःस्रावी द्वारा संकेत प्राप्त करते ही पीनियल ग्रन्थि से हार्मोन 'मेलाटोनिन' का स्रवण आरम्भ हो जाता है। यह स्रवण शरीर के बाहर रात्रि तथा दिन की अवधि के अनुसार तय होता है। जब रात्रि हो जाती तब जीव के वंशानुसार शीघ्र ही अथवा विलम्ब से पीनियल ग्रन्थि से 'मेलाटोनिन' का स्रवण आरम्भ हो जाता है। मनुष्यों, सफेद पैर वाले चूहों, कपास-चूहों आदि में पूरी रात एक निश्चित गति से 'मेलाटोनिन' उत्पन्न होता रहता है, परन्तु साइरिया के हेम्स्टर में शाम के समय 'मेलाटोनिन' की अत्यल्पमात्रा तो बन जाती है किन्तु वास्तव में 8 घंटे के बाद ही 'मेलाटोनिन' ठीक से बनना प्रारम्भ होता है। सफ़ेद या एल्बिनो चूहों, गिलहरिओं तथा चिपमकों में मेलाटोनिन काली अँधियारी रात के मध्य ही बनता है। वैसे अभी इस बात का ठीक से पता नहीं चल पाया है कि पीनियल किस प्रकार अँधेरेपन से रासायनिक संकेत प्राप्त करता है।

कृषि जीवरसायन विभाग, इलाहाबाद एग्रीकल्चरल इन्स्टीट्यूट, इलाहाबाद

मेसाचुसेट्स के तकनीकी संस्थापन के **बर्टमैन** के अनुसार, अकशेरुकियों में स्वयं प्रकाश एवं अंधकार का आभास होता है, परन्तु कशेरुकी प्राणियों में प्रकाश की सूचना दृक-तंत्रिका (Optic nerves) द्वारा मेरुदण्ड में पहुँचती है। यहाँ से संकेत अनुकम्पी तंत्रिका द्वारा वापस मस्तिष्क में पीनियल तक पहुँचता है। दिन में प्रकाश के कारण 'मेलाटोनिन' का बनाना तो रुक जाता है, परन्तु ग्रन्थि असक्रिय नहीं रहती। यह प्रातः से सायं तक अमीनोअम्ल 'ट्रिप्टोफेन' को 'सिरॉटोनिन' में बदलता रहता है, जिसका संचय ग्रन्थि में असक्रिय अवस्था में होता रहता है। रात्रि में इस महत्वपूर्ण ग्रन्थि से सम्बन्धित तंत्रिका-संचारी-रसायन का स्राव होता है जो एन्ज़ाइम 'एन-एसिटाइल ट्रान्सफरेज़' और 'हाइड्रॉक्सी इन्डोल-ओ-मिथाइल ट्रान्सफरेज़' की मात्रा को बढ़ा देता है। ये एन्ज़ाइम असक्रिय 'सिरोटॉनिन' को 'मेलाटोनिन' में परिवर्तित करते हैं। मेलाटोनिन हार्मोन ग्रन्थि से स्रवित होकर रक्त में संचरित होता है। **बर्टमैन के** अनुसार रात्रि के समय तंत्रिका-प्रेषी, 'नॉरएपिनेफ्रिन', का पीनियल से सम्बद्ध तंत्रिका-कोशिका द्वारा स्राव होता है। यह नॉरएपिनेफ्रिन अन्य रसायनों के साथ एक विशेष प्रोटीन बनाता है जो सिरोटॉनिन को कोशिका में बांधता है। इसके मुक्त होते ही एन्ज़ाइम इस पर प्रभावी हो जाता है। पीनियल से दोनों एन्ज़ाइम 'एन-एसिटाइल ट्रान्सफरेज़' तथा हाइड्रॉक्सी-इन्डोल-ओ-मिथाइल ट्रान्सफरेज़' तथा सिरोटॉनिन को मेलाटोनिन में परिर्वतित करते हैं। जब रात्रि पहर बढ़ता है तब इस हार्मोन का पैटर्न बदल जाता है। रात्रि एवं दिन की अवधि के अनुसार ही यह हार्मोन शारीरिक क्रियाओं पर नियंत्रण रखता है। अमेरिका के 'राष्ट्रीय स्वास्थ्य संस्थान' के वैज्ञानिकों **लैरोटा-मॉकिन** तथा **ब्रूस गोल्डमैन** ने विशेष रूप से निर्मित कक्षों में प्रतिदिन प्रातःकाल 'मेलाटोनिन' की विभिन्न मात्रा को हेम्स्टर में अन्तःक्षेपित किया परन्तु हेम्स्टर में कोई परिर्वतन नहीं दिखा। जब ग्रीष्मकालीन रात्रि एवं दिन की अवधि (14 घंटे प्रकाश तथा 10 घंटे अंधकार) में हेम्स्टर को रखा गया तब उनमें प्रजनन करने की क्षमता आ गई, लेकिन आठ सप्ताह में उनके गोनॉड ग्रन्थि नष्ट हो गये। पर उन्होंने जैविक अंतःस्राव पद्धति पर ठीक से प्रकाश नहीं डाला। जब उन्होंने मेलाटोनिन को अपरान्ह में अंतःक्षेपित किया तो हेम्स्टर में अपना मेलाटोनिन का स्राव प्रारम्भ हो गया, जबकि पूर्वान्ह में मेलाटोनिन अंतःक्षेपित करने पर उपयुक्त समय न होने के कारण उनके गोनॉड नष्ट हो गये थे। **रेटर** ने इस प्रयोग का दूसरा उत्तर दिया। उनके अनुसार जन्तु का हार्मोन प्रतिग्राही (receptor) संतृप्त होता है या इसके स्वयं के रात्रि वाले मेलाटोनिन से विसुग्राहीकरण (desensitised) होता है। अपरान्ह में जीव में यह असंवेदनशील या हीनग्राही रहता है। अमेरिका के तंत्रिका-अंतः-स्राव विज्ञानी **डेविड क्लेन** के अनुसार पीनियल शरीर में एक 'मास्टर घड़ी' का कार्य करता है और नियंत्रित रहता है। यह विशेष तंत्रिकीय कोशिका, जो 'हाइपोथैलमस' में पाया जाता है, दृक-तंत्रिका के समीप स्थित 'सुप्राकाइएज़्मा न्यूक्लिआई' या एस० सी० एन० द्वारा नियंत्रित रहता है। पीनियल सिस्टम कैसे मौसम के अनुसार कार्य करता है, जिससे तापक्रम का समायोजन, शरीर में वसा का संचय, सुषुप्तावस्था, जननीय कार्य आदि नियंत्रित होता है, इस पर अभी और कार्य होना शेष है। बहुत से हार्मोन ग्राही के द्वारा कार्य करते हैं। अभी तक मेलाटोनिन के ग्राही का ठीक पता नहीं चल पाया है। मस्तिष्क में सामान्य मेलाटोनिन का उत्पादन एवं स्राव सामयिक संकेत में बदल जाता है, जो जन्तुओं में ऋतुओं की चेतना पैदा करता है। पक्षियों में पंख एवं फर का आना, अंडे का बनना, समागम-काल, शिशुओं का पालन-पोषण एवं सन्तति सभी इसी तंत्रिका-तंत्र तथा पीनियल ग्रन्थि द्वारा नियंत्रित होता है। भेंड़, हिरन तथा भालुओं में, जो छोटे दिनों में समागम करते हैं और शीतकाल में बच्चों को जन्म

देते हैं, उनके जनन-तंत्र को सुचारुरूप से चलाते रहना जटिल कार्य है। ग्रीष्म काल में बच्चे पैदा करने वाले जीव निश्चय ही छोटे कशेरुकी, पक्षी, सरीसृप और मत्स्य जैसे जीवों से भिन्न होते हैं। **रेटर** के अनुसार भूमध्य या विषुवत् रेखा के निकट रहने वाले जन्तुओं में पीनियल ग्रन्थि तुलनात्मक रूप से छोटे होते हैं और इनका आकार उत्तर एवं दक्षिण की ओर जाने के साथ-साथ बढ़ता जाता है। आर्कटिक में 'मस्कॉक्स', 'ल्यूमिग' तथा 'एलिफेन्ट सील' में पीनियल काफी बड़ा होता है। मनुष्यों में यह ग्रन्थि निद्रा की अवधि को भी नियंत्रित करता है। **हेरिस लीवरमैन** और **लुज वोलरथ** ने परीक्षणों के आधार पर बताया है कि मेलाटोनिन लोगों को निद्रालु बना देता है और असमय काम करने वाले व्यक्ति को असहज या परीशान कर देता है। ऋतु-प्रभावी असंतुलन (Seasonal Affective Disorder या SAD), मनोवैज्ञानिकों के लिये चिन्ता का विषय है। अमेरिका के 'राष्ट्रीय मानसिक स्वास्थ्य संस्थान, मेरीलैण्ड' के वैज्ञानिक **नारलोन रोजेन्थल** ने विषुवत् रेखा से दूरी तथा तेज प्रकाश का प्रभाव देखा। मेलाटोनिन के अंत:क्षेपण से जन्तुओं में निराशा का प्रादुर्भाव होता है, जिसके परिणामस्वरूप वे भ्रमित हो जाते हैं और अपने को प्रणय के योग्य नहीं पाते। अमेरिका में **टार्माकिन** ने मेलाटोनिन का प्रभाव समागम, लैंगिक हार्मोन और स्तन कैंसर पर देखा। उन्होंने देखा कि चूहों में कैंसर रासायनिक तौर पर उत्पन्न करने के बाद 'मेलाटोनिन' की प्रतिदिन शाम को निश्चित खूराक देने पर रोग में कमी आती है। उन्होंने यह भी देखा कि महिलाओं में इस प्रकार से कैंसर उत्पन्न होने पर मेलाटोनिन की मात्रा क्षीण होती है। मेलाटोनिन का उत्पादन आयु बढ़ने के साथ भी क्षीण होता जाता है। पिछले कुछ वर्षों से वैज्ञानिकों में उच्चस्तरीय बहस छिड़ी हुई है कि शिशुओं में मेलाटोनिन की अधिक मात्रा उन्हें अधिक निद्रा के लिये ज़िम्मेदार है और उनमें लैंगिक प्रौढ़ता को रोकता है। यह वैसे तो 'गोनॉड' के कार्य के कुछ हद तक विपरीत है, परन्तु यह किसी सीमा तक जनन-तंत्र को भी अवरुद्ध करता है। सम्भवत: इसी प्रकार जन्तुओं एवं पक्षियों में ऋतु के अनुसार लैंगिक कार्य एवं प्रजनन को नियंन्त्रित करता है। आस्ट्रिया के जीवविज्ञानी **फ्रैंज वाल्डहाउसर** ने देखा कि शरीर में मेलाटोनिन का उत्पादन नवजात शिशुओं की अपेक्षा युवाओं में 75% कम होता है और मेलाटोनिन की मात्रा से ही कार्यकीय परिवर्तन एवं लैंगिक प्रौढ़ता आती है। मेलाटोनिन, 'मेटानोसाइट स्टिमुलेटिंग हार्मोन' (MSH) को अवरुद्ध कर देता है जो मेंढकों के रंग के लिये आवश्यक है। पीनियल ग्रन्थि में पाये-जाने वाले एन्जाइम के परिवर्तन से बाह्य चर्म के रंग में परिवर्तन आता है और जन्तु वातावरण के अनुसार अपने रंग में परिवर्तन कर पाते हैं। मेंढक, मछली, सरीसृप में मेलाटोनिन पिट्यूटरी हार्मोन के विपरीत कार्य करता है। इस प्रकार अब यह लगभग ज्ञात हो चुका है कि मेलाटोनिन गोनॉड के कार्य में तो सहायक पाया ही गया है साथ ही कई अन्य ग्रन्थियों के कार्यों को भी नियंत्रित करता है।□□

इलेक्ट्रॉन माइक्रॉस्कोपी के अगुआ वैज्ञानिकों को 'नोबेल पुरस्कार'

वर्ष 1986 का भौतिकी विषय का 'नोबेल पुरस्कार' संयुक्त रूप से जर्मनी के **अर्नस्ट रुस्का** और **गेर्ड बाइनिंग** तथा स्वीडेन के **हेनिरख रोहरेर** को दिया गया है। 80 वर्षीय **रुस्का** बर्लिन की 'मैक्स प्लांक सोसाइटी' (फ्रिट्ज हैबर इंस्टीट्यूट) के सम्मानित सदस्य हैं। इन्हें इस पुरस्कार की आधी राशि **इलेक्ट्रॉन माइक्रॉस्कोप** के आविष्कार के लिए प्रदान की गयी है। **बाइनिंग** और **रोहरेर** दोनों ज्यूरिख के 'आई बी एम रिसर्च लैबोरेटरी' से संबंधित हैं और उन्हें यह सम्मान **स्कैन टनेस माइक्रॉस्कोप** की डिज़ाइन तैयार करने के लिए दिया गया। यहाँ यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि अब तक जर्मनी के 18 भौतिकीविदों को यह सर्वोच्च पुरस्कार दिया जा चुका है।

ऑर्किडेरियम : ऑर्किडों के शरण स्थल

सतीश कुमार शर्मा

यों तो वनस्पति जगत् में एक से एक सुन्दर, सुगन्धित और आश्चर्यजनक प्रकृति वाले फूलदार पौधे पाये जाते हैं, परन्तु कैक्टस एवं ऑर्किडों के फूलों का कोई जवाब नहीं। ऑर्किडों की सुन्दरता का तो इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि आज 'ऑर्किड अकाल' का सामना हमें विश्व स्तर पर करना पड़ रहा है।

ऑर्किड नम उष्णकटिबन्धीय वनों में प्रायः दूसरे वृक्षों के तनों और शाखाओं पर उपरिरोही (Epiphyte) के रूप में उगते हैं। ये कोमल प्रकृति के छोटे, शाकीय पौधे अपने सुकुमार फूलों के लिये विश्व विख्यात हैं। सुना जाता है अति सुन्दरता कभी-कभी मँहगी पड़ जाती है। यही हुआ इन सुकुमार ऑर्किडों के साथ।

एक ज़माना था जब जंगलों का फैलाव पर्याप्त था तथा उनमें अनेकानेक किस्मों के ऑर्किड खूब पाये जाते थे। परन्तु आज स्थिति एकदम बिगड़ चुकी है। जंगल तो कम हुये ही, परन्तु जिस गति से मनुष्य ने जंगलों को नष्ट किया उससे तेज़ उसने ऑर्किडों का सफाया किया है।

ऑर्किडों के विलुप्तीकरण के कई कारण हैं— एक तो मनुष्यजनित हस्तक्षेपों की वजह से ऑर्किडों के प्राकृतिक आवास इतने बदल चुके हैं कि उनमें प्राकृतिक रूप से ऑर्किड पनप नहीं सकते, दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार में इनकी इतनी माँग है कि इनकी विश्वव्यापी तस्करी की जा रही है।

हॉलाकि इन नाज़ुक पौधे से कोई बड़ा व्यापारिक उत्पाद नहीं मिलता परन्तु इनके खूबसूरत फूलों की वजह से सजावटी वस्तुओं की भाँति इनका बड़े पैमाने पर उपयोग होता है। धनी लोगों के निवासों से लेकर शौकिया बागवानी करने वालों एवं वनस्पतिज्ञों के पास 'ऑर्किड संग्रह' मिल जाते हैं। ऑर्किडों को जब से 'गृह बागवानी' में स्थान मिला है तभी से देश-विदेश के जंगल इनसे खाली होना शुरू हो गये। ऑर्किड पलायन का दौर एक बार शुरू क्या हुआ, यह उन स्थानों पर भी पहुँच गया जो अभी तक अछूते समझे जाते थे।

धन के लोभियों ने ऑर्किडों की विदेशी माँग को पूरा करने के लिये भारत के वनों को निशाना बनाना शुरू कर दिया और शुरू हो गया ऑर्किडों का अवैध निकास—ऑर्किड तस्करी !! समय के साथ ऑर्किड-दोहन बढ़ता ही चला गया। आज तो स्थिति बहुत दयनीय हो चली है। स्थिति का मूल्यांकन इसी से किया जा सकता है कि भारत से जिन 134 वनस्पति प्रजातियों को खतरे की सूचक पुस्तक 'रेड डेटा बुक' में शामिल किया गया है उनमें ऑर्किडों की ही 26 प्रजातियाँ हैं। यानि भारत के वनों से विलुप्तीकरण के घेरे में खड़ी कुल प्रजातियों का लगभग 20% सिर्फ ऑर्किड ही हैं। आम आदमी इस बात से ऑर्किडों की स्थिति समझ सकता है कि किसी ज़माने में अन्य ऑर्किडों की तरह **डेन्ड्रोबियम पैसीफ्लोरम** नामक ऑर्किड हमारे जंगलों में बहुतायत से उगता था लेकिन कालान्तर में यह समाप्त हो गया। बहुत प्रयास करने के बाद 1970 में इस प्रजाति के ऑर्किड का मात्र एक ही पौधा भारत के 'विशाल' जंगलों में मिल सका।

ऑर्किडों के अस्तित्व को बचाने की समस्या आज अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर महसूस की जा चुकी है। सन 1973 में असुरक्षित वन एवं वन्य प्रजातियों के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को रोकने के लिए एक संस्था 'Convention on International Trade in Endangered species of Fauna and Flora'-

वन प्रसार अधिकारी, वन चेतना केन्द्र, गुलाबबाग, उदयपुर—313001 (राजस्थान)

'कनवेशंन ऑन इण्टरनेशनल ट्रेड इन एनडेंजर्ड स्पीशीज़ ऑव फाना एण्ड फ्लोरा' (CITES, 1973) का गठन किया गया। भारत की इस संस्था का सदस्य देश है। यह संस्था अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ऑर्किडों को बचाने में योगदान दे रही है।

इधर हमारे देश में भी ऑर्किडों को बचाने के लिये क़दम उठाये गये हैं। कई वन-क्षेत्रों को **अभ्यारण्य, राष्ट्रीय उद्यान** तथा **नेचर रिजर्व** के रूप में संरक्षित कर दिया गया है ताकि न केवल ऑर्किड ही अपितु अनेक अन्य प्रजातियाँ भी मानवीय अवरोधों से दूर अपने प्राकृतिक आवास में जीवित रह सकें एवं प्रजनन द्वारा अपनी संख्या बढ़ा सकें या कम से कम स्थिर रख सकें। जम्मू-कश्मीर से असम तक कई हिमालय क्षेत्र, दक्षिण में नीलगिरि, साइलेन्ट वैली, मुदुमलाई, बाँदीपुर, पेरियार आदि-आदि अनेकानेक संरक्षित क्षेत्रों में ऑर्किडों को सुरक्षा प्रदान की गई है।

यह सब महत्वपूर्ण तो था परन्तु पर्याप्त नहीं था। अब ऑर्किडों को बचाने का काम और मुस्तैदी से किया जा रहा है। यह कार्य 'भारतीय वानस्पतिक सर्वेक्षण विभाग' को सौंपा गया है। इस विभाग ने दो बड़े 'राष्ट्रीय ऑर्किड उद्यान' यानी 'ऑर्किडेरियम' (Orchidarium) स्थापित किये हैं। इनमें एक 'ऑर्किड उद्यान' तमिलनाडु राज्य के सेलम जिले में यरकाड नामक स्थान पर शिवरॉय पहाड़ियों में तथा दूसरा असम में शिलांग में स्थापित किया गया है। 'यरकाड राष्ट्रीय ऑर्किड उद्यान' में ऑर्किडों की 206 से भी ज़्यादा जातियों का संग्रह किया जा चुका है। इधर शिलांग के 'राष्ट्रीय ऑर्किड उद्यान' में हिमालय क्षेत्र के वनों के दुर्लभ ऑर्किडों को शरण दी गई है।

प्रतिरोधक कानून ज़रूर बने हैं परन्तु लोगों की माँग में कोई परिवर्तन नहीं आया। इस माँग को देखते हुये दार्जिलिंग में 'आर्किड-खेती' को बढ़ावा दिया जा रहा है। वनों में सीधे हस्तक्षेप किये बग़ैर लोगों की माँग पूरा करने का यह सराहनीय तरीका है। इससे निसन्देह उत्तर तथा पूर्वोत्तर भारत की 'ऑर्किड सम्पदा' संकट से बच जायेगी।

ऑर्किडों की बर्बादी रोकने के लिये प्रत्येक भारतवासी को आगे आना चाहिये। आज हमारी स्वार्थपरक गलतियों की वजह से वनवासी ऑर्किड शरणार्थी बन कर ऑर्किड उद्यानों में शरण ले रहे हैं। हमें पुन: ऐसे प्रयास करने होंगे जिससे ये हमारी सुन्दर प्राकृतिक धरोहर अपने मूल आवास में फिर से, पहले की तरह, फलने-फूलने लगे ताकि हमारी आने वाली पीढ़ियों को इनसे वंचित न रहना पड़े।□□

रोगों का पता लगाने की नई प्रणाली : क्रोमेटिक थर्मोग्राफी

क्रोमेटिक थर्मोग्राफी आँत के रोगों का पता क्रिस्टलों (रवों) की मदद से लगाती है, जिनके रंग तापमान के आधार पर बदल जाते हैं। मानव शरीर का तापमान स्वस्थ रहने पर स्थिर-सा रहता है। लेकिन जब किसी अंग में सूजन हो तो तापमान बढ़ जाता है। तापमान सूजन के बड़ा या छोटा होने के आधार पर निर्भर करता है। क्रोमेटिक थर्मोग्राफी हमें यह पता लगाने में सहायता देती है कि कौन-सा विशेष अंग सूज गया है और किस हद तक। एक्स-रे स्क्रीनिंग आदि जाँच प्रणालियाँ रोग की बढ़ी हुई अवस्था में अच्छी तरह काम करती हैं, जबकि प्रारंभिक अवस्था में अथवा अनिश्चित मामलों में उनकी क्षमता सीमित होती है। ऐसी ही हालत में क्रोमेटिक थर्मोग्राफी हमारी सहायता करती है। द्रव रवों की परतें काली फिल्म पर लेप दी जाती हैं और वह फ़िल्म एक डिग्री के दसवें भाग तक तापमान के उतार चढ़ाव का परिणाम ग्रहण करती है, यदि रोग अभी प्रारंभिक अवस्था में है।

क्रोमेटिक थर्मोग्राफी प्रसूति विज्ञान, अर्बुद विज्ञान, नारी रोग, मुख रोग विज्ञान, हृदय रोग तथा कई अन्य क्षेत्रों में लाभप्रद साबित होगी। यह नई प्रणाली **डॉ० वासिली इवानोव** के परिश्रम का फल है।

पुस्तक समीक्षा

हिन्दी में विज्ञान-लेखन : कुछ समस्याएँ[1]

श्याम सुन्दर घोष

प्रस्तुत ग्रंथ सम्मेलन के अमृत महोत्सव प्रकाशन का छठा ग्रंथ है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने अपनी 75-वीं जयन्ती को अमृत महोत्सव घोषित कर प्रकाशनों की एक योजना बनाई थी जिसमें सम्मेलन के तत्वावधान में गठित अनेक परिषदों के सभापतियों के व्याख्यानों को पुस्तकाकार प्रकाशित करने की योजना बनी। इसी के परिणामस्वरूप विज्ञान परिषद् के सभापतियों के भाषणों को सम्पादित करके प्रकाशित कराने का भार विज्ञान परिषद्, प्रयाग के प्रधान मंत्री डॉ० शिव गोपाल मिश्र (रीडर, रसायन विभाग, प्रयाग विश्व-विद्यालय एवं निदेशक शीलाधर मृदा अनुसंधान संस्थान, इलाहाबाद) को दिया गया। उन्होंने ही भाषणों को इस रूप में सम्पादित किया है। इसमें सम्पादक की विस्तृत भूमिका के अतिरिक्त सोलह अभिभाषण मुद्रित हैं जो सन् 1931 से लेकर सन् 1950 की अवधि में अर्थात् झाँसी में सम्पन्न 21वें अधिवेशन से लेकर कोटा में सम्पन्न 38वें अधिवेशन तक दिये गये। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना यद्यपि सन् 1910 ई० में ही हो चुकी थी तथापि विज्ञान परिषद् का आयोजन झाँसी अधिवेशन अर्थात् 1931 से ही प्रारम्भ किया जा सका। सन् 1950 के बाद तो किन्हीं विशेष कारणों से परिषद् के आयोजन स्थगित ही रहे।

इन अभिभाषणों से हिन्दी भाषाभाषी विज्ञान चिन्तकों का जो स्वरूप उभरता है उसे देखते हुए मन में यह कसक होता है कि क्या ही अच्छा होता कि ये अभिभाषण जारी रहते। तब एक पूरा नक्शा उभर कर सामने आता। लेकिन उसके अभाव में इन भाषणों से स्वाधीनता पूर्व के वैज्ञानिक चिन्तन की जो कड़ी सामने आता है वह भी पर्याप्त रोचक, सूचनाप्रद और उत्साहवर्धक है। ये भाषण चौदह विद्वानों द्वारा दिये गये जिनके नाम इस प्रकार हैं—श्री हीरा लाल खन्ना, श्री रामदास गौड़, डॉ० गोरख प्रसाद, पं० राम नारायण मिश्र, प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा, डॉ० सत्य-प्रकाश, पं० जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल, श्री सूर्य नारायण व्यास, श्री महावीर प्रसाद श्रीवास्तव, पं० चन्द्रशेखर बाजपेयी, डॉ० ब्रजमोहन, श्री भास्कर गोविन्द आणे-कर, डॉ० श्री रंजन और कविराज प्रताप सिंह। इनमें से केवल दो विद्वानों—डॉ० गोरख प्रसाद और डॉ० सत्यप्रकाश को दो बार भाषण करने का गौरव प्राप्त हुआ।

इन भाषणों के सम्बन्ध में सम्पादक का यह कथन कि "देश में 20 वर्षों में (1931-1950) विज्ञान के विविध क्षेत्रों में जो प्रगति हुई, और हमने जो संकल्प किये, उनका लेखा-जोखा प्राप्त होता है। हिन्दी में वैज्ञानिक लेखन का इतिहास लिखते समय यह सामग्री महत्वपूर्ण सिद्ध होगी" बिलकुल सही है। सम्पादक ने सम्मेलन की विज्ञान परिषद् के बारे में तो बताया ही है, विज्ञान विषयक एक दूसरी संस्था विज्ञान परिषद्, प्रयाग, जिसकी स्थापना सन् 1913 में की गई थी, के बारे में भी बताया है। विज्ञान परिषद्, प्रयाग का महत्व इसी से समझा जा सकता है कि जब "हिन्दी के सृजन एवं प्रोत्साहन के लिये प्रयाग

1. सम्पादक—डॉ० शिव गोपाल मिश्र, प्रकाशक - हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 12 सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1986, मूल्य 35.00 रुपये, पृष्ठ संख्या 266 डिमाई सजिल्द।

ऋतंवरा, गोड्डा, बिहार—814133

से 'सरस्वती' मासिक पत्रिका निकाली तो विज्ञान-परिषद्, प्रयाग ने अप्रैल 1915 से 'विज्ञान' नामक पत्रिका निकालनी प्रारम्भ की।'' प्रस्तुत संकलन के सोलह भाषणों में से दस भाषण विज्ञान परिषद्, प्रयाग के अधिकारियों या लेखकों के ही हैं। इस प्रकार इन दोनों संस्थाओं का परिचय देकर सम्पादक ने बड़ा अच्छा काम किया है।

हिन्दी के विज्ञान लेखकों एवं सम्पादकों में हिन्दी के गण्यमान्य लेखकों—श्रीधर पाठक और लाला सीता राम का उल्लेख कर सम्पादक ने लिखा है—''यदि महावीर प्रसाद द्विवेदी को खड़ी बोली के सँवारने-समृद्ध करने का श्रेय प्राप्त है तो रामदास गौड़ को हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य के अवतरण का।'' इस प्रकार सम्पादक ने उचित मूल्यांकन कर अपनी सार्थक टिप्पणियाँ दी हैं। उन्होंने विज्ञान विषयक इन कार्यों के बारे में यह उचित ही लिखा है कि ''इससे यह लाभ हुआ कि देश में वैज्ञानिक जगत के अतिरिक्त साहित्यिक जगत में भी विज्ञान के प्रति चेतना जागृत हुई।'' सम्पादक मानते हैं कि विज्ञान साहित्य किसी जाति की कर्मठता का साहित्य होता है। इसे ध्यान में रखकर उन्होंने तत्कालीन वैज्ञानिक चिन्तन के उपक्रमों को उस समय की देश की दशा से भी जोड़ने की कोशिश की है। सम्पादक ने रामदास गौड़, फूलदेव सहाय वर्मा, डॉ० गोरखप्रसाद और डा० सत्यप्रकाश का विशेष उल्लेख करते हुए यह ठीक ही लिखा है कि इनकी तपस्या से आज वैज्ञानिक क्षेत्र में हिन्दी फूली-फली है। डॉ० सत्यप्रकाश के बारे में उनकी टिप्पणी है—''वे ही एकमात्र ऐसे विज्ञान लेखक हैं जिन्होंने प्राचीन भारत की वैज्ञानिक परम्परा को पूर्णतया आत्मसात करके लेखन कार्य किया है। इसीलिये वे विज्ञान के भारतीयकरण पर ज़ोर देते रहे हैं।'' सम्पादक इस बात को लेकर खेद प्रकट करते हैं कि हिन्दी साहित्य के किसी भी इतिहास में देश की वैज्ञानिक परम्परा का सही-सही अंकन नहीं हुआ, न ही विज्ञान लेखकों को साहित्यकार माना जाता है।

सम्पादक ने सन् 1950 के बाद के हुए विज्ञान विषयक कार्यों और लेखनों का ब्योरा देकर पुस्तक को अद्यतन एवं पूर्ण करने की चेष्टा की है। उन्होंने सन् 1947 के पश्चात के वैज्ञानिक साहित्य की कुछ उल्लेखनीय विशेषताओं का भी उल्लेख किया है। उन्होंने तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन के शुभावसर पर प्रकाशित भारत की सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक संस्था सी. एस. आई. आर. नयी दिल्ली की सन् 1966 से सन् 1980 की अवधि में प्रकाशित वैज्ञानिक पुस्तकों एवं वैज्ञानिक पत्रिकाओं की निदेशिका का हवाला देकर बताया है कि 3344 पुस्तकें लिखी गईं और 320 पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं। उक्त सूची में चिकित्सा विज्ञान की 453 तथा इंजिनियरी से सम्बन्धित 261 पुस्तकें हैं किन्तु सम्पादक लिखते है कि ''यह अत्यन्त लज्जा की बात है कि इन्हीं दो क्षेत्रों में हिन्दी का उपयोग कम से कम हो रहा है।'' पुस्तकों के बारे में सम्पादक का यह भी दावा है कि आज ऐसी अनेक पुस्तकें प्राप्त हैं जो विदेशी पुस्तकों से होड़ ले सकती हैं। साथ ही सम्पादक ने एक और मार्के की बात कही है। ''देश के बड़े-बड़े वैज्ञानिकों को अपने मन से इस झिझक को निकाल फेंकना है कि हिन्दी के माध्यम से वे विदेशों में ख्याति प्राप्त नहीं कर सकेंगे।'' उन्होंने, फ्रेंच, जर्मन, रूसी भाषा-भाषियों के उदाहरण से इसे सिद्ध किया है।

इन भाषणों में जगह-जगह बहुत सार्थक और प्रासंगिक बातें हैं जैसे हीरालाल खन्ना हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य निर्माण की आवश्यकता इसलिये भी मानते हैं कि ''साधारण जनसमुदाय में वैज्ञानिक विचारों का प्रचार भली-भाँति हो सके।'' रामनारायण मिश्र विज्ञान के लिये अंग्रेज़ी का ज्ञान आवश्यक नहीं मानते। ध्यान देने की बात है कि यह बात उन्होंने 1937 में कहीं थी। फूलदेव सहाय वर्मा का सन् 1938 में दावा था—''हिन्दी में जितना विज्ञान साहित्य विद्यमान है उतना उत्तर भारत की अन्य भाषाओं में नहीं है।'' वे मानते थे कि हिन्दी में विज्ञान साहित्य का होना, न होना हमारे राष्ट्र के जीवन मरण का प्रश्न है। डॉ० सत्यप्रकाश ने यह

[शेष पृष्ठ 16 पर]

आयुर्विज्ञान में रेडियोआइसोटोप

डॉ० बृजभूषण

जहाँ आज न्यूक्लीय क्षेत्र में हुये अनुसन्धान कार्यों ने पूर्ण विश्व को एक अज्ञात भय से आंतकित किया हुआ है वहीं मानव-कल्याण में भी इनका योगदान कम नहीं हैं। परमाणु ऊर्जा को ऊर्जा के अन्य स्रोतों के रूप में तो पहले ही मान्यता प्राप्त हो चुकी है। विद्युत्-उत्पादन के लिए परमाणु ऊर्जा की उपयोगिता से आज सभी भली-भाँति परिचित हैं। इसके अतिरिक्त भी न्यूक्लीय पदार्थों ने जीवन के दूसरे क्षेत्रों को भी अत्यधिक प्रभावित किया है जैसे आयुर्विज्ञान।

आज आयुर्विज्ञान में चयापचयी (metabolic) प्रक्रियाओं के अध्ययन तथा रोगों के निदान और उपचार में **रेडियोआइसोटोप** एक सशक्त औजार के रूप में अपना स्थान बना चुका है। कुछ असम्भव से लगने वाले कार्य भी इसके उपयोग से काफी सरल हो गए हैं। उदाहरण के तौर अगर आप से कोई किसी के शरीर में खून की मात्रा ज्ञात करने को कहे तो निश्चय ही एक बार तो आप सोच में पड़ जायेंगे। परन्तु रेडियोअइसोटोप की सहायता से आधे घंटे से भी कम समय में किसी के भी शरीर में विद्यमान खून की मात्रा ज्ञात की जा सकती हैं। करना क्या होता है कि सेडियम-24 युक्त सेलाइन का इंजेक्शन शरीर में प्रविष्ट करा दिया जाता है, जिसमें खून की मात्रा ज्ञात करनी हो। फिर लगभग 10 मिनट पश्चात् उसी शरीर से 1 मिलीलीटर खून निकाल कर उसकी रेडियोसक्रियता (रेडियोऐक्टिविटी) नाप ली जाती है। साधारण से परीक्षण के लिये भी कम से कम 5 मिलीलीटर खून लिया जाता है।

कुल इंजेक्शन द्वारा शरीर में प्रविष्ट कराई गई रेडियोसक्रियता तथा एक मिलीलीटर खून में पाई गई रेडियोसक्रियता से शरीर में खून की कुल मात्रा की गणना की जा सकती है। रेडियोआइसोटोप द्वारा आज हृदय, थाइरॉइड, यकृत, मस्तिष्क के रक्तस्राव से सम्बन्धित रोगों आदि का न केवल सही-सही निदान सम्भव हुआ है वरन् रोग की अवस्था का भी पता लगाया जा सकता है। हृदय की बाई-पास शल्यक्रिया (Bye-pass surgery) करने से पहले अवरुद्ध स्थान का पता एक रेडियोसक्रिय पदार्थ को हृदय में इंजेक्शन द्वारा प्रविष्ट करके ही किया जाता है। इसी प्रकार वृक्क में पथरी की उपस्थिति ज्ञात करने के लिये जो एक्स-रे लिया जाता है उसे प्रचलित भाषा में रंगीन एक्स-रे कहते हैं। यह वास्तव में एक रेडियोसक्रिय रंग के इंजेक्शन द्वारा खून में मिलाने के बाद लिये गये साधारण एक्स-रे ही होता है।

रेडियोआइसोटोप जितने रोगों के निदान में प्रभावी सिद्ध हुये हैं उतने उपचार में भी। **कैंसर** जैसी घातक बीमारी के लिए, अब तक की सबसे अधिक कारगार उपचार विकिरण चिकित्सा ही है। कोबाल्ट-60 से निकलने वाली गामा किरणों की सहायता से रोगयुक्त यानि कि क्षति ग्रस्त गले हुये ऊतकों को नष्ट किया जाता है। इसके अतिरिक्त इनको थायरॉइड (Thyroid) अतिक्रियता, बहुलोहित कोशिकारक्तता (polycythemia vera) नियंत्रक और नीओप्लास्टिक (Neoplastic) एवम् इसी प्रकार की दूसरी बीमारियों के प्रशामक उपचार के लिये भी प्रयोग किया जाता है। पशुओं को भी रोगों से मुक्त रखने के लिये विकिरण तनूकृत विकसित की गयी है। भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान (ICAR) ने इस वैक्सीन द्वारा दुधारु पशुओं और भेड़ों को फेफड़े के कृमि रोग से मुक्त रखने में अत्यधिक सफलता पाई है। आयोडीन-131, फॉस्फोरस-32, क्रोमियम-51,

रीडर, रसायन विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक, हरियाणा

गोल्ड-198, आयरन-59, सोडियम-24, पोटैशियम-42 तथा कोबल्ट-60 चिकित्सा क्षेत्र में उपयोग होने वाले कुछ प्रमुख आइसोटोप हैं।

इस सबके अतिरिक्त चिकित्सा-क्षेत्र की आधारभूत आवश्यकता अर्थात् चिकित्सा में प्रयुक्त होने वाले उपकरणों, जैसे सिरिंज, शल्य ब्लेड, दस्ताने, पट्टियाँ इत्यादि की विसंक्रमण प्रक्रिया में भी रेडियोआइसोटोप का महत्व कम नहीं है। प्रचलित भाप तथा रसायन विसंक्रमण विधियों से विकिरण विसंक्रमण (Radiation Sterilization) विधि कई प्रकार से उत्तम है, जिनमें निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

1. विकिरण विसंक्रमण विधि में वस्तुओं का विसंक्रमण पहले उन्हें अलग-अलग पोलिथीन की थैलियों में सील करके फिर इन थैलियों को डिब्बों में पैक करने के उपरान्त किया जाता है। इस प्रकार वस्तुएँ बहुत अधिक समय तक विसंक्रमणित रहती हैं। दूसरे शब्दों में वस्तुओं को प्रयोग में लाने तक वे जीवाणुरहित ही रहती हैं।

2. किसी भी आकृति और परिमाण वाली वस्तु का इस विधि द्वारा विसंक्रमण किया जा सकता है, क्योंकि गामा किरणों की भेदन-शक्ति बहुत अधिक होती है।

3. शीत-विधि होने के कारण इस विधि द्वारा ऊष्मा-प्रभावित पदार्थ जैसे प्लास्टिक से बनी वस्तुओं का भी विसंक्रमण बिना किसी हानि के किया जा सकता है। और निश्चय ही प्लास्टिक से बने चिकित्सा-उपकरण काँच से बने चिकित्सा-उपकरणों की अपेक्षा कहीं अधिक टिकाऊ तथा किफायती होंगे।

4. विकिरण विसंक्रमण स्वचलित विधि है।

भारत द्वारा इस दिशा में की गई उन्नति भी प्रशंसनीय है। दिन-प्रतिदिन भारत में रेडियोआइसोटोपों का उपयोग बढ़ता जा रहा है। आँकड़े इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। आज भारत में 300000 से भी अधिक अन्वेषणों में रेडियोआइसोटोप प्रयोग होते हैं और इस प्रकार प्रतिवर्ष एक लाख से अधिक रोगी इनसे लाभान्वित हो रहे हैं। 'भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र' (BARC), जो देश में एकमात्र इन आइसोटोपों का पूर्तक है, प्रतिवर्ष 100 से अधिक संस्थानों तथा हस्पतालों को 2900 रेडियोफार्मस्यूटिकल एवम् 50000 रेडियोआइसोटोप सप्लाई कर रहा है।

न्यूक्लीय क्षेत्र में हुआ विकास जहाँ एक अभिशाप है, वहीं एक वरदान भी है। और यह तो अब हम पर निर्भर करता है कि हम इसके कौन से रूप को बढ़ावा देते हैं।□□

[पृष्ठ 14 का शेषांश]

बहुत ठीक कहा था कि अहिन्दी भाषा भाषियों का विज्ञान विभागों पर प्रभुत्व होना हिन्दी को माध्यम बनाने में सदा बाधक रहा है। उन्होंने सुझाव दिया था कि हिन्दी भाषी प्रान्तों में विज्ञान प्राध्यापकों की नियुक्ति करते समय इस बात पर ध्मान रखना चाहिये कि वे हिन्दी भाषा-भाषी हों। महावीर प्रसाद श्रीवास्तव रोमन अंकों के प्रयोग के घोर विरोधी थे। चन्द्र शेखर बाजपेयी विज्ञान और साहित्य में तालमेल बिठाने के हिमायती थे। उनका यह कथन ध्यान देने योग्य है। सत्य रचना शास्त्र की शिक्षा से प्राय: सभी साहित्यकार अनभिज्ञ मालूम होते हैं—विशेषकर उर्दू के भूमि, दिल, हृदय, कलेजा, जिगर आदि एक ही अर्थ में प्रयुक्त किये जाते हैं।" ऐसी अनेक बातें इन भाषणों में हैं। बहुत अच्छा हुआ कि ये भाषाण हिन्दी पाठकों के लिये एक जिल्द में सुलभ हो गये।□□

रहस्यमय जैवीय घड़ियाँ

अरविन्द मिश्र

प्रायः सभी प्राकृतिक घटनाओं में एक नैरन्तर्य और समयान्तराल (रिदम्) दिखायी देता है। जैसे, रात-दिन, मौसमों का पुनरागमन, हर महीने चन्द्र-कलाओं (ल्यूनर रिदम्स्) से प्रभावित हो समुद्रों में उठने वाले ज्वार-भाटे। लगता है कि प्रकृति के पास एक विशाल घड़ी है, जिसके सहारे ये सभी प्रक्रियायें एक निश्चित समयान्तराल से संचालित होती रहती हैं।

सचमुच, समय का बड़ा महत्व है। स्वयं अपनी विकास-यात्रा में मानव ने समय की गति पर निगाह रखने के लिये तरह-तरह की घड़ियों—सूर्य घड़ी, चन्द्र-घड़ी, जलघड़ी, रेतघड़ी आदि का आविष्कार किया। आज उसकी खोज का सिलसिला 'इलेक्ट्रॉनिक घड़ियों' तक जा पहुँचा है। यदि आज विश्व की सभी घड़ियों को अचानक बन्द कर दिया जाय तो समय की अनिश्चितता से उत्पन्न हड़बड़ी और अव्यवस्था की स्थिति का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। आशय यह कि आज मानव जीवन का हर पल इन्ही घड़ियों की टिक्-टिक् से ही सुचारु रूप से संचालित हो पा रहा है।

यह तो हुई एक विशाल "प्राकृतिक घड़ी" और मानव-निर्मित घड़ियों की बात। घड़ियों की इस विकास यात्रा में एक नाम काफी पहले ही जुड़ गया था, जिसे वैज्ञानिकों ने "जैवीय घड़ी" (Biological Clock) की संज्ञा दी थी। उनका कहना रहा है कि पूरा जीव जगत् इन्ही क्रियाकलापों को सम्पन्न कर पा रहा है। कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

आपने ध्यान दिया होगा कि बहुत से पौधे सूर्य की पहली किरण पड़ते 'जाग' से उठते हैं, उनकी पत्तियाँ पूरी तरह से खुल जाती हैं, वे सक्रिय दीख पड़ते हैं। किन्तु सूर्यास्त के साथ ही उनकी पत्तियाँ मुरझा जाती हैं और गतिहीन हो 'सो' जाती हैं। इसके विपरीत बहुत से पौधे रात्रि के आगमन पर ही सक्रिय होते हैं, अपने पुष्पों के मनमोहक सुरभि से पूरे वातावरण को मादक बना देते हैं। रात्रिचर कीट-पतंगों के झुंड पराग-पान के लोभ में उन पर मँडराने लगते हैं। एक सजीव प्राकृतिक दृश्य साकार हो उठता है। किन्तु सुबह होते ही इस मनमोहक प्राकृतिक घटना-क्रम का पटाक्षेप हो जाता है। फूलों की सुरभि बिखेरती पंखुड़ियाँ स्वयमेव बन्द होने लगती हैं, पौधों की पत्तियाँ मुरझाने सी लगती हैं। रात-दिन के काल-क्रम से प्रभावित इस घटना को वैज्ञानिकों ने "सिरकाडियन एक्टिविटी" (*Circadian Activity*) का नाम दिया है।

"सिरकाडियन एक्टिविटी" केवल वनस्पतियों के संसार तक ही सीमित नहीं है। इसके उदाहरण जन्तुओं में भी मिलते हैं। बहुत से जीव-जन्तु दिन के समय ही सक्रिय रहते हैं और अपने सभी जैवीय क्रिया-कलापों के सम्पादन में लगे रहते हैं। इन्हे दिनचर प्राणी (Diurnal Animals) कहते हैं। जैसे कि बहुत से कीट-पतंगे, बिना रीढ़ वाले कई जन्तु और रीढ़धारियों में कई पक्षी (उल्लू, नाइटजार आदि) तथा स्तनपायी (चूहा, चमगादड़, छछूँदर तथा कुछ गिलहारियों की प्रजातियाँ आदि)। प्रकृति के रात-दिन के काल-क्रम के अनुसार अपने को समंजित कर पाने की प्राणियों की क्षमता वास्तव में किसी उपयुक्त 'समय-प्रक्रम' की व्यस्था से ही सम्भव है, जो कि स्वयं उनमें ही अन्तर्निहित होती है। यह विचार ही "जैवीय घड़ी" की अवधारणा को जन्म देता है, जिसे अब तक

मुख्य कार्यकारी अधिकारी, मत्स्य पालक विकास अभिकरण, 18 अधिकारी आवास गृह, निकट सर्किट हाउस, झाँसी—3

तमाम वैज्ञानिक प्रयोगों व निरीक्षणों द्वारा सत्यापित किया जा चुका है।

"जैवीय घड़ी" की क्रियाविधि बस "सिर्काडियन एक्टिविटी" तक ही सीमित नहीं है। प्राणी जगत् में बहुत सी जैवीय क्रियायें छह तथा बारह महीने (एक वर्ष) के समयान्तराल पर घटित होती हैं। अमेरिका में कैलिफोर्निया के दक्षिणी छोर पर स्थिति समुद्रतट पर प्रत्येक **पूर्णिमा** (*Full moon night*) को **ग्रुनियान** नामक मछलियों का झुंड ज्वार के साथ उमड़ आता है।

यहाँ उनमें प्रजनन-क्रिया सम्पन्न होती है। अगले पन्द्रह दिन पर आने वाली लहरों के साथ निषेचित अंडो से निकले बच्चे समुद्र में वापस चले जाते हैं। यह घटना "जैवीय घड़ी" के मासिक आवर्तन (Monthly Rhythm) का उदाहरण है। स्वयं मानव (स्त्रियों) में "मासिक धर्म" इसी प्रक्रिया को दर्शाता है। शरद ऋतु के आते ही कितने प्राणी विशेषत: उभयचर (मेढक आदि) भूमिगत हो जाते हैं। बसंत ऋतु के आगमन के साथ ही उनकी अपनी "जैवीय घड़ी" शीत ऋतु के अवसान का 'अलार्म' बजा देती है। वे 'जाग' जाते हैं। और नयी चेतना के साथ, ज़मीन के ऊपर आ वे पुन: अपने दैनिक क्रियाकलापों में संलग्न हो जाते हैं। बहुत से पशु-पक्षियों में प्रवास गमन की वार्षिक घटना "जैवीव घड़ी" से संचालित होती है। नहीं तो, फिर वह कौन सा अन्तर्बोध है जो उन्हे प्रतिवर्ष शरद ऋतु के आगमन के साथ ही उत्तर से सुदूर दक्षिण की ओर एक लम्बी यात्रा पर चल निकलने के लिये विवश करता है ? यह "जैवीय घड़ी" के वार्षिक आवर्तन (Annual Rhythm) का एक अच्छा उदाहरण है। इसी तरह गिलहरी की एक जाति (*Gitellus lateralis*) में भी वार्षिक आवर्तन के अनुरुप ही जैवीय गतिविधि नियमित होती है।

"जैवीय घड़ियों" पर अनुसन्धान का वैज्ञानिक इतिहास काफी समृद्ध हो चुका है।

लगभग दो हज़ार वर्ष पहले ही **सिकन्दर महान्** के अधीन एक सेनानायक **एन्ड्रोस्थेनीज़** ने वनस्पतियों द्वारा प्रदर्शित "रात-दिन" का आवर्तन भाँप लिया था। अठारहवीं शती के फ्रान्सीसी खगोलविद **डॉ० माइरॉन** ने इसे प्रायोगिक स्तर पर देखा-परखा और वनस्पतियों में 'समय बोध' के अन्तर्निहित अस्तित्व को स्वीकारा। 1906 में स्विटज़रलैण्ड के एक प्रसिद्ध प्रकृतिविद **आगस्ट कोरेल** ने मधुमक्खियों में "समय स्मृति" जैसे रोचक व्यवहार की बात प्रकाश में लायी। जर्मनी के वैज्ञानिक **डॉ० वान बट्टेल रीपन** ने भी मधुमक्खियों की "समय स्मृति" से सम्बन्धित व्यवहार प्रतिरूपों का अध्ययन किया है। सबसे पहले तीन वैज्ञानिकों—**इरविन बनिंग, गस्टेव क्रेमर** तथा **चार्ल्स डार्विन** ने जीव जगत् में "जैवीय घड़ियों" के अस्तित्व को स्वीकारा। महान् प्रकृतिविद् **डार्विन** ने वानस्पतिक जैवीय घड़ियों पर एक पुस्तक—"द पावर ऑव मूवमेन्टस् इन प्लान्टस्" लिखी थी।

पिछले दशकों में, "जैवीय घड़ियों" पर बड़े स्तर पर शोधकार्य हुआ है। बहुत से वैज्ञानिक प्राणियों में इसकी वास्तविक स्थिति व रहस्यमय क्रियाविधि को स्पष्ट करने में लगे हुये हैं। फिर भी अभी जैवीय घड़ियों से सम्बन्धित कई प्रश्नों का यथोचित उत्तर नहीं दिया जा सका है। कई दावे विवादास्पद भी हो चले हैं।

"जैवीय घड़ियो" में खराबी आ जाने से कई मानवीय रोग भी जन्म लेते हैं। कभी कभार मानव की अन्तर्निहित जैवीय घड़ी कुछ कारणोंवश (?) प्राकृतिक काल-क्रम से अपना सामंजस्य नहीं बिठा पाती। वह स्वतन्त्र हो चलती रहती है। नतीजा होता है, कई रोगों का जन्म। इस टूटे क्रम को ही पुनरुस्थापित करने के लिये हम दवायें खाते हैं। चिकित्सा की आयुर्वेद पद्धति में इसलिए ही, दवाओं को रात-दिन के विशेष पहरों में खाने का प्रावधान है, जिससे रोगी की शारीरिक क्रियाविधि का बिगड़ा लय-ताल, पूर्व अवस्था में पहुँचकर "प्राकृतिक कालचक्र" से अपना रिश्ता पुन: जोड़ ले।

"जैवीय घड़ी" की क्रिया विधि में उत्पन्न दोषों से होने वाले रोगों में ज्वर, घुटनों की संधिशोथ, लकवा, रक्ताल्पता, वमन, अनिद्रा, चिन्ता, पागलपन, कान-दर्द आदि प्रमुख हैं।

पूर्णिमा की रात मनोन्मादियों की गतिविधि बढ़ती देखी गयी है। **रमन राघव** जो बम्बई का खूँखार हत्यारा था, अक्सर पूर्णिमा की रात हत्यायें करता था। बिहार के पटना मेडिकल कॉलेज के डॉक्टरों ने पिछले वर्षों दावा किया था कि पूर्णिमा की रात, पागलपन की घटनाओं में वृद्धि हो जाती थी। वैज्ञानिक उधेड़बुन में हैं कि "जैवीय घड़ियों" के इस असमान्य क्रियाविधि के पीछे रहस्य क्या है? इस प्रश्न और ऐसे ही अनेक प्रश्नों का उत्तर मिलना अभी भी शेष है। □□

प्रोफेसर शम्भु वर्मा को हम्बोल्ड्ट पुरस्कार

यूनिवर्सिटी ऑव मैरीलैण्ड स्कूल ऑव मेडिसिन के नेत्र चिकित्सा विज्ञान के निदेशक **प्रो० शम्भु वर्मा** को 85,000 डच मार्क (8 लाख रुपये) के 'हम्बोल्ड्ट पुरस्कार' से सम्मानित किया गया है। जर्मन जनवादी गणतंत्र में यह पुरस्कार आयकर से मुक्त है। यह सूचना अंतर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त नेत्र चिकित्सा विज्ञानी **डॉ० डी० के० खन्ना** ने दिया जिनके साथ **प्रो० वर्मा** ने **मोतियाबिन्द** (**कैटैरैक्ट**) के कारण और निदान पर अनुसंधान किया है। प्रो० वर्मा उत्तर प्रदेश के ज़िला गाज़ीपुर के रहने वाले हैं और इलाहाबाद विश्वविद्यालय के भूतपूर्व छात्र रहे हैं।

वैज्ञानिकों द्वारा 'स्टार वार्स' कार्य का बहिष्कार

संयुक्त राज्य अमेरिका; जापान और ब्रिटेन के ग्यारह हज़ार वैज्ञानिकों ने एक घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर द्वारा अमेरिका के 'स्टार वार्स' योजना पर अनुसंधान न करने का फैसला किया है। यह सूचना 'जर्नल ऑव द अमेरिकन मेडिकल एसोसिएशन' में प्रकाशित हुई है। वैज्ञानिकों के इस निर्णय की निश्चित रूप से प्रशंसा की जानी चाहिए। विश्व को नाभिकीय युद्ध की विभीषिका से बचाने का यही एक मात्र और सही उपाय है।

प्रोटीन-भक्षक चतुर कीट

नार्थ कैरोलिना विश्वविद्यालय (अमेरिका) की **एलिजाबेथ मैक माहन** ने कोस्टारीक के वर्षावाले जंगलों में दीमकों के पास एक ऐसे कीट को खोज निकाला जो बड़ी ही चालाकी से दीमकों को धोखा देकर उनके शरीर के प्रोटीन का भक्षण करता है। दीमकों की बाँबी के समीप जाने के पूर्व **सेलियावाटा वेरोगाटा** नामक शिकारी कीट अपने शरीर पर बाँबी की मिट्टी पोत लेता है। इस मिट्टी के कारण बाँबी की सुरक्षा के लिए तैनात दीमकों को जो विष से लैस होते हैं, धोखा देने में सफल हो जाता है। होता यह है कि जैसे ही कोई श्रमिक दीमक इसके समीप पहुँचता है, यह कीट झपट कर उसे धर दबोचता है और ऐसे डंक मारता है कि श्रमिक दीमक निष्क्रिय हो जाता है। फिर अपने शरीर से स्रावित एक एंजाइम की सहायता से दीमक के शरीर के मांस को मुलायम कर लेता है और उसके शरीर के रस का पान उसी प्रकार करता है जैसे हम लोग स्ट्रा से कोल्ड ड्रिंक पीते हैं। शिकार कथा यहीं नहीं खत्म होती। शीघ्र ही शिकारी-कीट दीमक के पिचके हुए शरीर को (खोल मात्र) अन्य शिकार के लिए चारे की तरह इस्तेमाल करता है। इसे वह बाँबी के पास लटका देता है और जैसे ही कोई अन्य श्रमिक दीमक अपने साथी (लाश) को अन्दर घसीटने के लिए बाँबी के बाहर आता है, कीट उस पर आक्रमण कर देता है और उसे दबोच लेता है। मैक मोहन ने बाँबी के पास डटे रह कर एक हत्यारे कीट को एक-एक करके 31 दीमकों का भक्षण करते देखा है।

विज्ञान समाचार

संकलन : कु० किरन द्विवेदी एवं कु० अर्पिता

रोमन साम्राज्य का पतन : विज्ञान की दृष्टि में

कनाडा के वरलिंगटन, ओनटारियो स्थित जल अनुसंधान संस्थान के डॉ० **जेरोम नृआगू** के अनुसार सन् 30 और 220 के बीच के 20 ऐसे शासक थे जो सनकी थे। इसका कारण सीसा-विषाक्तता थी। प्राचीन रोमन निवासियों के खान-पान में आजकल की तुलना में 6 गुना अधिक सीसे की मात्रा थी। इसकी आधी मात्रा तो मात्र मदिरा के कारण रही होगी क्योंकि वे जिस मदिरा का सेवन करते थे उसे अंगूर के उस रस या शरबत से सुस्वादु बनाते थे, जिसे सीसे के बर्तन अथवा सीसा का लेप की हुई पीतल की केतली में खौलाते थे। डॉ० नृआगू का ऐसा अनुमान है कि प्राचीन रोम के एक तिहाई सम्राट मदिरा और आहार में सीसे की विषाक्तता के कारण मानसिक रूप से असंतुलित रहे होंगे और संभवतः रोमन सामाज्य के पतन का मूल कारण सीसा-विषाक्तता ही रही होगी।

विज्ञापन प्रदूषण

ऐसा हम सभी का अनुभव है कि बच्चे अपने पसंदीदा टेलिविज़न कार्यक्रम और सीरियल तो देखते ही हैं, वे बड़े चाव से विज्ञापन प्रसारण भी देखते सुनते हैं। विज्ञापनों में बोलने वालों के हाव-भाव और अंदाज़ की नकल भी खूब उतारते हैं। पर क्या आप जानते हैं कि अपनी तेज़ आवाज़ के कारण ये विज्ञापन काफी हानि पहुँचाते हैं? आपने भी यह नोट किया होगा कि टीवी स्क्रीन पर विज्ञापनों के आते ही आवाज़ सहसा काफी तेज़ हो जाती है। अमेरिका के संघीय संचार आयोग और प्रसारणकर्त्ताओं ने भी इस तथ्य को जान लिया है कि अन्य कार्यक्रमों की अपेक्षा विज्ञापनों में आवाज़ बहुत तेज़ रहती है। इसका कारण यह है कि विज्ञापन एजेंसियाँ इलेक्ट्रॉनिक विधि की सहायता से अपने विज्ञापनों का औसत ध्वनिस्तर उच्च से उच्च रखती हैं, पर विज्ञापन की आवाज़ तीव्र होते भी अमेरिकी कानून की परिधि में रहती हैं। पर अब एक ऐसा उपकरण तैयार कर लिया गया जिसके प्रयोग से कानों पर होने वाले शोर के प्रहार को कम किया जा सकता है। इसे 'कोलम्बिया ब्राडकास्टिंग सिस्टम टेक्नोलॉजी सेन्टर' ने विकसित किया है। हुआ यह कि भौतिक विज्ञानी **बेनविन जोस** के नेतृत्व में एक शोध दल ने लोगों के कानों पर विभिन्न ध्वनियों के प्रभावों का अध्ययन करके यह ज्ञात किया कि तेज़ व तीखी ध्वनियों का अवबोधन आदमी के कान किस प्रकार करते हैं। उन्होंने एक तीव्र स्वर नियंत्रक में यही गुण भर दिए। इस यन्त्र की सहायता से विज्ञापन की तेज़ व तीखी ध्वनि को आम कार्यक्रमों के सामान्य स्वर तक ला सकते हैं। इस प्रकार अब बात ले देकर प्रसारणकर्त्ताओं के विवेक पर आ गई है।

थाईलैण्ड के चिकित्सक को मैगसेसे पुरस्कार

8 अगस्त को मैनीला से प्राप्त एक ताज़े समाचार के अनुसार थाईलैण्ड के एक चिकित्सक **डॉ० अरी वाल्यासेवी** को वर्ष 1987 का 'रामोन मैगसेसे पुरस्कार' प्रदान करने की घोषणा की गई है। 61 वर्षीय प्रो० वाल्यासेवी को यह पुरस्कार सामुदायिक नेतृत्व के लिए दिया गया है। डॉ० वाल्यासेवी ने 1960 में अपनी निजी प्रैक्टिस छोड़कर थाईलैण्ड के देहाती बच्चों के स्वास्थ्य और पोषण सम्बन्धी अनुसंधान में लग गए। उन्होंने 1976 में माहिडोल

डिडिल रोड, जार्ज टाउन, इलाहाबाद—211002

विश्वविद्यालय में एक पोषण संस्थान की भी स्थापना की। 1981 में थाई सरकार ने डॉ० वाल्यासेवी की योजना को स्वीकृति प्रदान कर दी और उनके द्वारा बताये गए सुधरे पोषक भोजन को साढ़े बारह हज़ार गाँवों में बच्चों को खिलाया गया। परिणामस्वरूप वहाँ कुपोषण पर काफी हद तक नियंत्रण पा लिया गया है। डॉ० वाल्यासेवी द्वारा तैयार किए गये इसी 'प्रोटीनयुक्त बेबी फूड' के लिए यह सम्मान प्रदान किया गया है। इस पुरस्कार में बीस हज़ार डॉलर नकद और स्वर्ण पदक शामिल है।

दिल का इलाज

विश्व स्वास्थ्य संगठन ने शुभ समाचार दिया है कि कई देशों में हृदय रोगों से मरने वालों की दर में 1968 से लगातार गिरावट आ रही है। फिर भी हृदय रोग मृत्यु का सबसे बड़ा कारण बना हुआ है। पिछले कुछ वर्षों में हृदय रोगों के लिए जोखिम पैदा करने वाले कारणों को कम करने, रुग्ण हृदयों को पहचानने, स्पन्दन बन्द हो जाने की प्रक्रिया को उलटने एवं इसका इलाज करने, हृदय गति बन्द करने वाले अव्यवस्थित स्पन्दनों को नियंत्रित करने, हृदय रोग बार-बार होने से रोकने तथा उससे होने वाली क्षति को हटाने के नए तरीके खोज लिए गए हैं।

चिकित्सक आम तौर पर यह मानते हैं कि धूम्रपान बन्द करके नियमित व्यायाम तथा वसारहित आहार के जरिए हृदय रोगों से बचा जा सकता है। धूम्रपान के दुष्प्रभाव की जानकारी तो काफी अरसे रही है। यह पाया गया है कि धूम्रपान करने वाले लोगों के हृदय रोग से पीड़ित होने की दर धूम्रपान न करने वाले लोगों से दोगुनी है।

यद्यपि उच्च रक्तचाप का कारण अभी पूर्णत: ज्ञात नहीं हो पाया है, पर उसके प्रभावी इलाज सुलभ हो गए हैं। शारीरिक भार घटाना, नमक कम खाना, धूम्रपान बन्द करना और इसका इलाज करवाना तथा 140/90 "उच्च" रक्तचाप माना जाना चाहिए। सरकारें उच्च रक्तचाप के खतरों से लोगों को मुक्त कराने के लिए अभियान चला रही हैं।

लोग खेलकूद, व्यायाम तथा दौड़ को अधिकाधिक अपना रहे हैं। हृदय को रोगमुक्त रखने में ये बड़े सहायक होते हैं पर अभी तक यह तय नहीं हो पाया है कि उन्हें क्या खाना चाहिए और क्या नहीं। कोलेस्ट्रॉल शरीर की कई क्रियाओं के लिए आवश्यक होता है, पर जब वह कम घनत्व वाले लिपोप्रोटीन में पहुँच जाता है तो धमनियों की दीवारों पर पर्तें जमा कर देता है जिससे रक्त-प्रवाह बाधित होता है और फलत: हृदय को क्षति पहुँचती है।

कोलेस्ट्रॉल घटाने से धमनियों की दीवारों पर पर्तें नहीं जम पातीं और रक्त-प्रवाह बाधित नहीं होता, यह आम धारणा रही है। पर हाल में किए गए दो अनुसंधानों से इस धारणा की पुष्टि नहीं हुई। फिर भी कोलेस्ट्रॉल घटाने की उपयोगिता से इन्कार नहीं किया जा सकता है। 1985 के 'नोबेल पुरस्कार' पाने वाले डॉक्टरों ने कोलेस्ट्रॉल हृदय के लिए हानिकर माना है। उनकी यह राय है कि जब रक्त में कोलेस्ट्रॉल बढ़ जाता है तो कोलेस्ट्रॉल बनाने वाली यकृत कोशिकाएँ अपना कार्य स्वयं बन्द कर देती हैं। पर 'फैमीलियल हाइपर कोलेस्ट्रॉलेमिया' नामक आनुवंशिक रोग से पीड़ित लोगों में यह क्रिया नहीं होती अत: वे बाल्यकाल में भी हृदय रोग के शिकार होते हैं। इसका एकमात्र इलाज यकृत प्रत्यारोपण है।

इस समय हृदय रोगों को पहचानने के लिए कम्प्यूटरों का प्रयोग होने लगा है। कंप्यूटर फोटग्राफी में कम्प्यूटर से एक एक्सरे यन्त्र जुड़ा रहता है। रोगी की रक्तवाहिकाओं में एक 'कन्ट्रास्ट' द्रव्य डालकर एक्स-रे यन्त्र से रक्त में उसके संचार का चित्र ले लिया जाता है। इस चित्र में हृदय की दीवार की मोटाई तथा रक्त-संचार गति दिखाई देती है। अभी यह यन्त्र अमेरिका में ही प्रचलित हो पाया है।

हृदय में रक्त-प्रवाह के आकलन के लिए कई नई विधियाँ भी इस्तेमाल की जा रही हैं। रोगी को व्यायाम कराके या एक दवा देकर उससे एक रेडियो

धर्मी यौगिक का सेवन कराया जाता है। जब यह तरल यौगिक धमनियों में घुसता है तो बाहर से एक विशेष कैमरे द्वारा इसकी रेडियोधर्मिता का आकलन किया जाता है। इन जाँचों से चिकित्सकों को यह निर्धारित करने में मदद मिलती है कि धमनी के अवरोधों को हटाना काफी होगा या उनको दर गुजर करने के लिए "बाईपास" शल्यक्रिया की जाए।

इस विधि से कई अन्य रोग भी पहचाने जा सकते हैं जैसे हृदय के कपाटों की खराबी या हाल ही पड़ा दिल का दौरा।

लेकिन नयी दो-आयामी डापलर विधि इन विधियों से अधिक प्रभावी है क्योंकि यह सस्ती तथा सरल है और इसके अन्तर्गत केवल ध्वनि तरंगें ही शरीर में प्रविष्ट कराई जाती हैं। ये तरंगें हृदय के भीतर विविध घनत्वों से टकराकर विविध प्रतिध्वनियाँ निकालती हैं जिससे चिकित्सकों को हृदय की दशा तथा क्रियाओं की जानकारी मिलती है।

नवीनतम विधि है चुम्बकीय कम्पनों का चित्रण। इस विधि के अन्तर्गत शरीर के उदजन तथा अन्य अणुओं पर एक चुम्बकीय क्षेत्र में रेडियो आवृत्ति वाली ध्वनियों के प्रहार किये जाते हैं। इससे एक ऊर्जा निकलती है जिसे परख लिया जाता है। इस परख से हृदय की स्वास्थ्य दशा की पहचान हो जाती है।

उच्च रक्तचाप, धमनी हृदयरोग, हृदय कपाटों की खराबी या क्षयकारी अथवा संक्रामक रोगों से हृदय कमजोर हो जाते हैं, फूल जाते हैं तथा काम करना बन्द कर देते हैं। इस समय जो ओषधियाँ सुलभ हैं, वे या तो हृदय पेशियों की संकोचन शक्ति बढ़ाती हैं, शरीर में से अतिरिक्त द्रव्यों को निकाल बाहर करती हैं या रक्तवाहिकाओं को खोल देती हैं। जिन हृदय रोगों की ओषधि से चिकित्सा नहीं हो पाती, उनके लिए शल्यचिकित्सा है। कृत्रिम हृदय तैयार हो चुका है, पर वह अभी तक प्राकृतिक हृदय के समान प्रभावी सिद्ध नहीं हो पाया है। अतः कृत्रिम हृदय तभी तक लगाये रखा जाता है जब तक प्राकृतिक हृदय सुलभ नहीं हो पाता। सम्भावना है कि निकट भविष्य में विद्युत्-प्रेरित मांसपेशियाँ कमज़ोर पड़ते हृदयों में आरोपित की जाने लगेंगी।

बेतरतीब अथवा अनियमित स्पन्दन भी मृत्यु के कारण होते हैं।

दौरे या हृदयधमनियों के दौरे से छाती में होने वाली पीड़ा एन्जाइना रोग का लक्षण है। इसका इलाज अब नाइट्रेटों, कैल्शियम चेनल-अवरोधकों तथा बीटा अवरोधक पदर्थों से किया जा रहा है। इनमें हृदय को ऑक्सीजन की आपूर्ति से सुधार आता है तथा माँग-आपूर्ति-असन्तुलन दूर होता है। एस्पिरिन भी हृदय रोग में लाभकर पाई गई है क्योंकि यह प्लेटलेटों को परस्पर चिपकने से रोकती है।

जिन रोगियों पर ओषधियों का प्रभाव नहीं होता उन्हें शल्यक्रिया द्वारा अवरुद्ध धमनियों को दर-गुजर करके (बाईपास विधि) अथवा धमनी-एंजियोप्लास्टी विधि से हृदय रोगों से मुक्त किया जाता है। बाईपास विधि के अन्तर्गत पैर की शिरा या छाती की धमनी निकालकर छाती में आरोपित कर दी जाती है जहाँ वह हृदय धमनियों के छह अवरुद्ध अंशों को दर गुजर कर रक्त-संचार चालू रखती है पर धमनी एंजियोप्लास्टी में शल्यक्रिया की ज़रूरत नहीं होती। एक छोटे गुब्बारे से जुड़ी एक लम्बी ट्यूब अवरुद्ध धमनी के अवरोधस्थल तक डाल दी जाती है और फिर गुब्बारे को फुलाकर धमनी की दीवार से चिपके पदार्थों को चूर-चूर करके उखाड़ दिया जाता है। अब लेसर का भी इस कार्य में प्रयोग किया जाएगा।

दिल के दौरों में "हस्तक्षेप करके उनसे होने वाली क्षति घटाने के भी प्रयास किए जाते हैं। यदि दौरे पड़ने के बाद चार घण्टों के अन्दर शिरा में स्ट्रेप्टोकाइनेज़ या "तन्तु प्लाज्मा-जन सक्रियक" घुसा दिया जाए तो हृदय को खोला जा सकता है। इसके बाद बाईपास या एंजियोप्लास्टी विधि के रक्तावरोध को सहज ही निर्मूल किया जा सकता है।□□

अखिल भारतीय पर्यावरण संगोष्ठी

उत्तर प्रदेश सरकार के विज्ञान एवं तकनीकी परिषद् के सहयोग से एक अखिल भारतीय संगोष्ठी का संयोजन विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद में नवम्बर के प्रथम सप्ताह में होना निश्चित हुआ है। विज्ञान परिषद् ने पिछले वर्ष 1986 में 'पर्यावरण 2001' विषय पर एक गोष्ठी की थी। इस वर्ष की गोष्ठी का विषय है—'**विज्ञान, तकनीकी और पर्यावरण** 2001'। आशय यह है कि विज्ञान और तकनीकी के विकास की दिशा ऐसी हो जिससे हमारे पर्यावरण को क्षति न हो।

इस गोष्ठी में आकर भाग लेने और अपना आलेख प्रस्तुत करने के लिए विज्ञान परिषद् आपको सादर आमंत्रित करती है। प्रस्तुत आलेखों को चूँकि एक पुस्तक के रूप में प्रकाशित करना है अतएव लेख प्रासंगिक, सारगर्भित एवं नवीन जानकारियों से पूर्ण होने चाहिए। चित्र काली स्याही से बनवाकर भेजें तो अधिक उपयुक्त होगा। ऐसे तो लेखक विषय के चुनाव के लिए स्वतंत्र हैं पर सुविधा के लिए यहाँ कुछ विषय सुझाये जा रहे हैं—

1. कृषि तकनीक व ग्राम्य पर्यावरण, 2. जैव तकनीक, 3. उपग्रह एवं दूर संवेदन तकनीक, 4. स्वास्थ्य तथा कृषि में परमाणु तकनीक, 5. बंजर भूमि विकास, 6. ऊर्जा बचत तकनीक, 7. बायोमास तथा वानिकी, 8. पशु अभयारण्य तथा पक्षी विहार, 9. कम्प्यूटर क्रांति एवं पर्यावरण, 10. पर्यावरण एवं जीवन मूल्य आदि।

प्रत्येक लेख लगभग 2,000 शब्दों का हो और विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद में 15 **अक्टूबर** 1987 तक अवश्य आ जाना चाहिए। कृपया लेख की एक प्रति अपने पास अवश्य रख लें। स्वीकृत होने पर लेख को पुस्तक में प्रकाशन के लिए सम्मिलित कर लिया जायेगा। लेखकों से निवेदन है कि 'विज्ञान' का जनवरी-मार्च 1986 अंक और 'आविष्कार' (एन० आर० डी० सी०, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित) का नवम्बर दिसम्बर 1986 अंक अवश्य देख लें। इन अंकों में प्रकाशित सामग्री से अपना लेख भिन्न रखें एवं मौलिक और अप्रकाशित लेख ही भेजें। कृपया समय से लेख भेजकर और गोष्ठी में भाग लेकर आयोजन को सफल बनाने में सदैव की भाँति अपना अमूल्य योगदान दें।

□□

पर्यावरण और हमारा दायित्व

पर्यावरण के प्रति चेतना जगाने का कार्यक्रम आज विश्वव्यापी कार्यक्रम बन चुका है। सभी देशों में अपनी समस्याओं और सामर्थ्य के अनुरूप इससे जूझने की योजनाएँ और उनके क्रियान्वयन के प्रयास जारी हैं। पर बढ़ते प्राकृतिक असंतुलन, संकट और व्याधियों को देखते हुए अकसर ऐसी शंका जगती है कि यह सब केवल प्रबुद्ध वर्ग का वाग्विलास मात्र तो नहीं? क्या हमारी सारी 'चिन्तायें' केवल चिन्तन के स्तर पर ही दम नहीं तोड़ देतीं? क्या हम दरवाज़े पर कूड़ा न फेंकने, सड़क चलते न थूकने, खाते हुए सड़क पर छिलके न बिखेरने, नदी-तालाबों के जल को दैनिक क्रियाओं से दूषित न करने, हरे वृक्षों की रक्षा करने या नये पेड़ों के लगाने जैसी छोटी-छोटी दैनन्दिन समस्याओं पर भी गम्भीरतापूर्वक सोचते हैं? बल्कि यह पूछें कि सचेत भी हैं? गिने-चुने व्यक्ति ही अपने दैनिक जीवन के कार्य-कलापों में ऐसे आचरणगत दोषों के प्रति सावधान रहते हैं या अपेक्षित सुधार कर पाते हैं।

ठंडे यूरोपीय देशों में भी ग्रीष्म का अभूतपूर्व प्रकोप, अपने देश में मानसून की लम्बी अनुपस्थिति, सूखा और बाढ़ आदि प्रकृति का बदलता स्वरूप यही इंगित कर रहा है कि आज हमारे विज्ञान और तकनीकी के विकास की दिशा ऐसी होनी चाहिए जो पर्यावरण के संतुलन को बनाये रखने में सहायक हो। उदाहरण के लिए इस समय विश्व भर में चर्चित नई 'जैव तकनीक' जिससे कृषि और चिकित्सा के क्षेत्र में अनेकानेक नये लाभों की संभावनायें बताई जा रही हैं। इस नई तकनीक से विकसित सूक्ष्मजीव का हमारे पारिस्थितिक तंत्र पर क्या प्रभाव पड़ेगा यह अभी नहीं कहा जा सकता क्योंकि अभी भी हम लगभग 90 प्रतिशत सूक्ष्मजीवों के विषय में और उनके पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में विशेष ज्ञान नहीं रखते। ऐसी दशा में सूक्ष्मजीवों के संसार में, कृत्रिम रूप से विकसित एक नये जीव का प्रवेश दूरगामी परिणामों को जन्म देगा, जिनके घातक और हानिप्रद होने की भी पूरी-पूरी संभावना है। अभी तो हमने भोपाल गैस त्रासदी से ही कुछ नहीं सीखा क्योंकि उस भयंकर दुर्घटना के बाद से अब तक देश में गैस-रिसाव की 75 दुर्घटनाएँ प्रकाश में आ चुकी हैं। इनमें से कुछ प्राणलेवा भी सिद्ध हो चुकी हैं। भविष्य में मानव और उसके पारिस्थितिक तंत्र को इसके कितने दुष्परिणाम झेलने पड़ेंगे यह कौन कह सकता है?

पर्यावरण की यह समस्या आज हमारे लिए जीवन मूल्यों की समस्या बन गई है। आवश्यकता है हमारी सम्पूर्ण जीवन शैली और विचार शैली में आमूल चूल परिवर्तन की। हम 'स्व' से निकल कर दूर तक फैले एक बड़े दायरे की बात सोचेंगे तभी पारिस्थितिक तंत्र की सुरक्षा या नभिकीय युद्धों की भयावहता से मानव जाति को बचा पाने की सम्भावना भी बनेगी। आज तो अभी हमारा सारा ध्यान अपने-अपने पुत्र या पुत्रियों पर ही है किन्तु आने वाली पूरी पीढ़ी के विषय में सोचने और उनके हित में कार्य करने का उत्तरदायित्व भी तो हमारा ही है। तब..........

आइए 'विज्ञान, तकनीकी और पर्यावरण 2001' संगोष्ठी के माध्यम से हम इस पर्यावरण संरक्षण की समस्या पर न केवल कुछ विचार ही करें बल्कि उस दिशा में कुछ कार्य भी करने का संकल्प लें। यह संगोष्ठी भी केवल चिन्तन के स्तर पर समाप्त न हो वरन् इसमें भाग लेने वाले सहयोगियों में कुछ करने की इच्छा भी जगा सके, इस कामना के साथ। □□

मूक पशुओं को मानव-मित्रों की आवश्यकता

मानव जाति का इतिहास उसकी सभ्यता और प्रगति यात्रा का ही दूसरा नाम है, ऐसा माना जाता है। किन्तु आज भी निर्दोष मूक पशुओं के प्रति मानव के 'पाशविक' व्यवहार को देखकर उपरोक्त कथन की सत्यता पर शंका होने लगती है। पशुओं के हित संरक्षण के विषय में चिंतित **महात्मा गाँधी** ने एक कहा था कि किसी भी देश की महानता और उसकी नैतिक प्रगति का निर्णय केवल इतने से ही किया जा सकता है कि उसके निवासी वहाँ के पशुओं के साथ कैसा व्यवहार करते हैं!

यह एक शुभ संकेत है कि आज कुछ स्थानों पर इस दिशा में सोचने की पहल हो चुकी है। लॉस एंजेल्स के निकट **मूरपार्क**, कैलिफ़ोर्निया में खोला गया वन्य एवं आकर्षक प्राणियों के विषय में अध्यतन का एक संस्थान इस दृष्टि से अभिन्न और बेजोड़ है। यहाँ पशुओं के स्वभाव, शरीर-रचना, कार्यिकी, प्रजनन और उनकी देखभाल और प्रबन्ध संबन्धी एक द्विवर्षीय पाठ्यक्रम छात्र-छात्राओं को पशुओं से समुचित व्यवहार का 'तरीका' सिखाता है। एक विशेष बात और कि यहाँ छात्रों को कोई दिन छुट्टी का भी नहीं मिलता क्योंकि आखिर पशुओं की भावनायें भी तो कोई छुट्टी नहीं मानतीं।

समान्यतया कोई भी युवक या युवती हाईस्कूल के बाद इस संस्थान में प्रवेश ले सकते हैं। पर यदि वे पशु-प्रबन्ध को एक कैरियर के रूप में अपना कर किसी पशु अभयारण्य या राष्ट्रीय पार्क के निदेशक आदि बनने को इच्छुक हैं तो उनके लिए पहले प्राणिविज्ञान में बी० एस-सी० या एम० एस-सी० कर लेना उपयुक्त होगा। इस प्रशिक्षण के उपरान्त वे किसी भी पशुअभयारण्य, चिड़ियाघर अथवा राष्ट्रीय पार्क में कार्य करने की योग्यता रखते हैं। यह संस्थान उसे दो वर्षों तक पशुओं के सान्निध्य में रहकर उनके स्वभाव, आदतों और आवश्यकताओं को निकट से समझने-परखने का पूरा अवसर देता है और साथ ही उसे पशु प्रबन्ध में कुशल भी बनाता है।

मूरपार्क की ही भाँति संयुक्त राज्य अमेरिका के फ्लोरिडा नामक प्रांत में भी एक संस्थान स्थित है। अत्यधिक ख्याति वाला यह संस्थान 'सान्ता फ़े कॉलेज टीचिंग ज़ू' के नाम से जाना जाता है और कुछ समय पूर्व तक यहाँ के पाठ्यक्रम में वैज्ञानिक पक्ष पर अधिक महत्त्व दिया जाता था। आज मूरपार्क की ही भाँति यह पशुओं के प्रशिक्षण को भी आपेक्षित महत्त्व देने लगा है। मूरपार्क ने भी भोजन, चिकित्सा आदि से सम्बन्धित कुछ और पाठ्यक्रम जोड़ दिए हैं। इससे अतिरिक्त मूरपार्क में पाँच एकड़ के क्षेत्र में एक चिड़ियाघर भी बनाया गया है जिससे प्रशिक्षणार्थियों को निरन्तर अनेक विभिन्न प्रकार के जीवों के निकट रहने का अनुभव प्राप्त हो सके। मूरपार्क के द्विवर्षीय पाठ्यक्रम के प्रथम वर्ष में प्रशिक्षणार्थी को आकर्षक विदेशी जानवरों के स्वभाव, शरीर-रचना तथा कार्यिकी और वन्य प्राणियों के स्वास्थ्य, पोषण, भोजन और चारे के विषय में विस्तृत लेखा जोखा रखना होता है। दूसरे वर्ष व्यवहारिक कुशलता प्राप्त करने की दृष्टि से प्रत्येक प्रशिक्षणार्थी को 24 घण्टे तक जानवरों की देखभाल और चिड़ियाघर की व्यवस्था का उत्तरदायित्व संभालना होता है। इस प्रकार प्रशिक्षणार्थी यहाँ वास्तविक शिक्षा प्राप्त करते हैं। इसी के साथ-साथ उन्हें स्वतन्त्र रूप से किसी

चिड़ियाघर के व्यवस्थापन, पशुओं के प्रशिक्षण, चिड़ियाघर के समयानुकूल विस्तार और तदर्थ धन व्यवस्था करने के तरीके भी सिखाये जाते हैं।

मूरपार्क प्रशिक्षण संस्थान प्रशिक्षणार्थियों को चिड़ियाघर से सम्बंधित सभी प्रकार के अनुभव देने के अतिरिक्त अपने सीखे हुये को परखने के भी समुचित अवसर प्रदान करता है। इसके लिए समय-समय पर ऐसे कार्यक्रम आयोजित किए जाते हैं जिनमें किसी बाहरी व्यक्ति को चिड़ियाघर से अपने किसी प्रिय पशु को कुछ समय के लिए 'गोद लेने' का अधिकार दिया जाता है। इसके फलस्वरूप वह व्यक्ति कुछ समय तक उस पशु पर होने वाले व्यय का भार वहन करता है। प्रशिक्षणार्थियों को संस्थान के अध्यापकों और चिड़िया घर के अन्य मित्रों के सम्मुख बीच-बीच में ऐसे आयोजन भी करने होते हैं जिनसे यह पता चले कि पशु-प्रबंध की दिशा में उन्होंने कितनी प्रगति कर ली है। ये आयोजन 'सर्कस' की भाँति मनोरंजक होते हैं और इनके अंतर्गत पशु-जीवन के वैज्ञानिक पक्षों पर भाषण के कार्यक्रम भी सम्मिलित किए जाते हैं।

भारत में भी वन्य जीवन संस्थान अब पशुओं के प्रबन्ध से संबंधित एक पाठ्यक्रम चलाने का विचार कर रहा है। अभी तो वस्तुस्थिति यह है कि भारत का वन्य जीवन संस्थान केवल वन विभाग के अधिकारियों तक ही सीमित है। पशु-प्रबन्ध का प्रशिक्षण संस्थान बिना अधिक कठिनाई के किसी भी नगर में खोला जा सकता है। आवश्यकता बस छोटे से चिड़ियाघर और एक सामुदायिक कॉलेज की होगी। आवश्यकतानुसार एक पशु कल्याण केन्द्र को भी इससे सम्बद्ध किया जा सकता है। वहाँ पशुओं की देख-रेख के व्यवहारिक प्रशिक्षण से कॉलेज और चिड़ियाघर दोनों के विकास में सहायता मिलेगी। प्रारम्भ में दूसरे चिड़ियाघरों के निदेशक, प्रशिक्षित अनुभवी कर्मचारी और अवकाशप्राप्त अधिकारियों की सेवायें भी उस अवधि के लिए प्राप्त की जा सकती हैं जब तक उचित प्रबन्ध न हो जाये। संयुक्त राज्य अमेरिका, आस्ट्रेलिया और इंग्लैण्ड से भी, जो चिड़ियाघरों के प्रबन्ध के क्षेत्र में विशेषज्ञ देश माने जाते हैं, छोटी अवधि (तीन-तीन अथवा चार-चार महीनों) के विशेष प्रशिक्षण के लिए अनुभवी वैज्ञानिक बुलाये जा सकते हैं।

वर्तमान समय में भारत में पशुओं के कल्याण की दृष्टि से हर जिला मुख्यालय पर पशुओं के प्रति क्रूरता निरोधक समितियाँ (Societies for the Prevention of Cruelty to Animals) गठित की गई हैं। पर वे शायद ही कभी अपनी निष्क्रियता तोड़ कर जागती हों। **भारतीय संविधान के अनुच्छेद 51-ए (जी)** के अनुसार प्रत्येक जीवित प्राणी के प्रति सदय और करुणापूर्ण होना हमारा कर्त्तव्य है। फिर भी कुछ गिनी-चुनी संस्थायें ही पशुकल्याण की दिशा में वास्तविक कार्य कर रही हैं। जनसाधारण में पशुओं के प्रति क्रूरता की सीमा तक पहुँची उपेक्षा का तो कहना ही क्या ? बेहिसाब भार से लदी गाड़ियाँ खींचते पशुओं, गाड़ीवान के चाबुक से घायल होते पशुओं, हमारी स्वादेन्द्रिय को तुष्ट करने के लिए दिन-प्रतिदिन ज़िबह होते पशुओं और आर्थिक दृष्टि से बेकार हो गये सड़कों पर बेसहारा घूमते पशुओं के दृश्य रोज़ हमारी आँखों के सामने दिखते हैं और रोज़ हम उनके प्रति निरपेक्ष रह लेते हैं।

आज सरकारी तन्त्र और जनमानस की चेतना दोनों इस दिशा में सक्रिय हों तभी कुछ बात बन सकती है। जिनकी ऊपर चर्चा की गई है उस तरह के प्रशिक्षण संस्थान इस तरह के कार्यक्रम में बहुत सहयोग दे सकते हैं। वास्तव में पशुओं को भी आज सहृदय मानव-मित्रों की आवश्यकता है।

o o o o o

भारत जन-विज्ञान जत्था

यह एक विचित्र संयोग है कि हमारे देश में आज भी जहाँ एक 'सती' होने वाली महिला की चिता पर श्रद्धासुमन चढ़ाने के लिए लाखों की भीड़ एकत्र हो जाती है वहीं ग्राम्यांचलों में घूम-घूम कर वैज्ञानिक

चेतना जगाने के उद्देश्य से जन विज्ञान जत्थों के रूप में विशाल जुलूसों का भी संगठन होता है। अपनी तरह के अभूतपूर्व ये विशाल जुलूस पूरे देश की यात्रा करने के लिए राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के जन्म दिन 2 अक्टूबर से प्रारम्भ होंगे। वास्तव में यह एक बड़ी चल प्रदर्शनी होगी जिसके माध्यम से पूरे देश में, गाँव-गाँव में, बूढ़ों में, बच्चों में, साक्षरों में निरक्षरों में, जन-जन में वैज्ञानिक दृष्टिकोण पैदा करने का प्रयास किया जायेगा।

यह 'भारत जन विज्ञान जत्था' या 'अखिल भारतीय जन विज्ञान मेला–1987' देश के 26 लोकप्रिय विज्ञान संगठनों के मस्तिष्क की उपज है जिसकी सहायता 'नेशनल काउंसिल फॉर साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी कम्यूनिकेशन' (NCSTC) कर रहा है। पाँच क्षेत्रीय जत्थे श्रीनगर, एज़वल, कलकत्ता, शोलापुर और मद्रास से 2 अक्टूबर को अपनी यात्रा को प्रारम्भ करके देश के 32 राज्यों और केन्द्र शासित प्रदेशों के 500 प्रमुख ग्रामीण क्षेत्रों से होते हुए लगभग 25,000 किलोमीटर की दूरी तय करेंगे और इस दौरान जन-जन में विज्ञान के प्रति चेतना जगाने और वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने को प्रेरित करने का पुनीत कार्य करेंगे। ये पाँचों जत्थे प्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक **डॉ० सी० वी० रमण** के जन्म दिन 7 **नवम्बर** को भोपाल पहुँचेंगे। इसमें 1000 वैज्ञानिक और 5000 अध्यापक भाग लेंगे।

इस 'भारत जन विज्ञान जत्था' के आयोजकों का कहना है कि इस दौरान जत्थे के लोग पोस्टरों, मॉडलों, चित्रों, खिलौनों, स्लाइडों, फ़िल्मों, फोटोग्राफों, नाटकों, गीतों, लेख-प्रतियोगिताओं, भाषणों, वीडियो आदि के माध्यम से लोगों को शिक्षित करेंगे। इसमें प्राथमिक विज्ञान शिक्षा, विज्ञान की प्रगति, स्वास्थ्य एवं चिकित्सा, पर्यावरण, जल, आवास, उद्योग, जन विज्ञान आन्दोलन, नाभिकीय युद्ध की विभीषिका, और विश्व शान्ति आदि विषय प्रमुख होंगे।

ऐसे क्षेत्र जो सुखे या बाढ़ की चपेट में हैं, वहाँ स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप कार्य-क्षेत्र में विस्तार कर लिया जायेगा। ऐसा अनुमान है कि इस बीच प्रत्यक्ष रूप से 50 मिलियन और अप्रत्यक्ष रूप से 500 मिलियन या इससे भी अधिक लोगों से सम्पर्क किया जा सकेगा। इस पूरे आयोजन में लगभग 1.5 करोड़ का खर्च बैठ जायेगा जिसका एक तिहाई भार एन० सी० एस० टी० सी० वहन करेगा। प्रत्येक छोटे जत्थे में 30 व्यक्ति होंगे जिनमें लगभग आधे वैज्ञानिक और तकनीकी विशेषज्ञ होंगे और शेष सांस्कृतिक कार्यक्रमों और प्रदर्शनियों के आयोजक होंगे।

प्रत्येक जत्थे के साथ 'नेशनल कॉउंसिल ऑव साइंस म्यूजियम' की तीन-तीन बसें होंगी, जो हर तीन दिन की यात्रा के बाद रुकेंगी। चल नक्षत्रशालाओं को भी साथ ले चलने की योजना है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के चालीस वर्ष बाद भी अभी देश की लगभग तीन चौथाई से अधिक जनता गाँवों में रह रही है, और लगभग आधी आबादी गरीबी रेखा के नीचे जी रही है, ऐसे में यह आशा करना कि लोग धीरे-धीरे स्वयं समय के साथ वैजानिक दृष्टिकोण अपनायेंगे, कोरी कल्पना ही होगी। अतएव अब बिना और समय नष्ट किये हमें विज्ञान को जन-जन तक पहुँचाना होगा। यही काम प्रारम्भ कर रहे हैं देश के प्रबुद्ध 26 विज्ञान संगठन एक विशाल जत्थे के रूप में। आइए जन जागरण के इस महायज्ञ में हम भी अपनी हवि डालें।

इलाहाबाद के प्रबुद्ध एवं चिन्तनशील वर्ग ने 'इलाहाबाद विज्ञान मंच' (ALLAHABAD SCIENCE FORUM) नाम से विज्ञान के प्रचार-प्रसार के लिए एक संस्था बना ली है। यह संस्था 'भारत जन-विज्ञान जत्था' से जुड़ा हुआ है। इसके पास चार्ट, मॉडल, स्लाइड, फ़िल्म, खिलौने आदि भी हैं जिनका सफल प्रदर्शन इलाहाबाद पॉलीटेक्नीक के प्रोजेक्शन कक्ष में हो चुका है। इलाहाबाद नगर और आस-पास के ग्रामांचलों में इसके द्वारा विभिन्न सरकारी एवं गैर सरकारी विज्ञान संस्थानों, स्कूलों, कॉलेजों के विज्ञान अध्यापकों और विद्यार्थियों के सहयोग से इसे जन-आन्दोलन का रूप देना है। इस संबंध में डॉ० प्रभात कुमार मण्डल, 80 बलरामपुर हाउस, इलाहाबाद —211002 से सम्पर्क किया जा सकता है।□□

आधारभूत शोध

स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

[पिछले दिनों स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती जी इलाहाबाद में थे। विज्ञान परिषद् के विशेष आग्रह पर स्वामी जी ने परिषद् के सभा भवन में तीन व्याख्यान दिए। प्रस्तुत है उन्हीं व्याख्यानों का सार-संक्षेप।

(1. आधारभूत शोध, 2. सुरक्षा और शांति के लिए वैज्ञानिक शोध एवं 3. लोक विज्ञान)]

—सम्पादक

1905 में मेरा जन्म हुआ था। 1905 में ही **आईंस्टाइन** के तीन महत्वपूर्ण शोधपत्र प्रकाशित हुये थे। पहले का 'फोटो-इलेक्ट्रिक इफेक्ट' से दूसरे का 'ब्राउनिग मूवमेंट' से और तीसरे का 'रिलेटिविटी' से सम्बन्ध था। यूरोप में 16वीं शती से एक नये युग का प्रवर्तन हुआ। 16वीं शती में भारतवर्ष के अन्दर अकबर का शासन था। 1542 में **अकबर** का जन्म हुआ था। अकबर 1556 से शासन चला रहा था। यह वह समय था जब देश संगठित हो रहा था। पर हमारा सम्बन्ध पश्चिमी देशों से एकांगी रह गया। 1707 में **औरंगजेब** की मृत्यु के बाद के समय में पोर्तगीज, डच, फ्रेंच और अंग्रेज भी भारत में आये। रोगियों के इलाज के लिए अब अंग्रेज चिकित्सक बुलाये जाने लगे थे। पर सबसे विलक्षण बात यह थी कि देश में **न्यूटन का** नाम भी लोगों ने नहीं सुना था। विदेशियों के भारत में आने के बावजूद भी विज्ञान, उद्योग या ज्ञान-विज्ञान विदेशों से नहीं आ सका था। अच्छा विदेशी नाविक 'कुतुबनुमा' लेकर चलता था। एक पादरी और एक प्रकृतिविज्ञानी भी प्रायः उसके साथ होता था। उन्होंने ही दुनिया का पहला नक्शा तैयार किया। इस समय भारतीय पर्यटक भी अन्य देशों की यात्राओं पर गये किन्तु हो सकता है समुद्रों के किनारे-किनारे गए हों। भारतीय यात्रियों ने मानचित्र नहीं बनाया। मुसलमान अपने साथ 'किब्लेनुमा' लाए थे। इसकी सूई हमेशा मक्का की ओर होती थी। 'किब्लेनुमा' की सहायता से वे नए बने मुसलमानों को बताते थे कि किस तरफ मुँह करके नमाज पढ़ी जाय। हमने 'कुतुबनुमा' का प्रयोग भी नहीं किया था। विदेशियों के आने से नया युग आया। पर विज्ञान का नया युग नहीं आया। उत्तरी ध्रुव की खोज को निकले यात्रियों का जहाज़ आज भी सुरक्षित है।

कहते हैं **डार्विन** को अपना विचार न मिलता यदि उन्हें इन पर्यटकों का ज्ञान न होता। फॉसिल (जीवाश्म) संग्रह इन्हीं से प्रारम्भ हुआ। जीवों और वनस्पतियों के अवशेषों या जीवाश्मों को ये ही पर्यटक अपने साथ लाये। इन्हीं के माध्यम से जीवाश्मों का अध्ययन प्रारम्भ हुआ। फ्रांस, जर्मनी और इंग्लैण्ड के कुछ मस्त लोगों ने छोटे-छोटे प्रयोग प्रारम्भ किए। एक कहावत है "बूझा लाल बुझक्कड़ और न बूझा कोय, पाँव में चक्की बाँध के हरिना कूदल होय।" हाथी जिसने नहीं देखा उसने हिरन से ही हाथी के पैर के निशान का अन्दाजा लगाया। जैसे ही आदमी घूमकर घर वापस आता है उसी तरह धरती के पत्थर को ऊपर फेंकने से वह धरती पर वापस आता है क्योंकि धरती पत्थर का घर है। अग्नि की लपट इसी प्रकार ऊपर सूरज की ओर उठती है। यह भारतीय दर्शन था।

प्रत्येक युग के विचारक के सामने सदैव यह समस्या रही है—मुर्गी पहले हुई या अण्डा। अतएव छोटे लोगों ने एक संगठन बनाया, विश्व की बड़ी-बड़ी नहीं, छोटी-छोटी समस्याओं पर विचार करने

गया है। ज्ञान-विज्ञान की सीमायें टूट गयी हैं। आज कोई विज्ञान अकेला तरक्की नहीं कर सकता है। सूर्य का तापमान सर्वोच्च है। पर आज हम न्यूक्लियर रिएक्शन में ताप के संबंध में पता नहीं कितने ऊपर पहुँच जायेंगे। पर शून्य की ओर चलने में हम 0. 00 3 तक ही पहुँच पाये हैं। फिर भी हमें शून्य या ज़ीरो नहीं मिला। यदि हम प्रकाश की गति से डेढ़ गुनी गति से चल सकें तो आइंस्टाइन की नयी थियरी में पहुँच जायेंगे। इस कारण प्रकाश की गति से अधिक तेज़ गति से हम चल ही नहीं सकते। यह हमारी सीमा है। जैसे शून्य तक नहीं पहुँच सकते वैसे प्रकाश की गति से तेज नहीं चल सकते। **एवोगेड्रो संख्या** का उलंघन नहीं हो सकता। हम 'जगत् मिथ्या' नहीं मानते, बल्कि हम तो इसी को सच मानकर खोजें करते हैं। और इसी कारण ये तीनों सत्य हैं, हमें यह मानकर चलना है।

• ० ०

सुरक्षा और शान्ति के लिए वैज्ञानिक शोध

आईंस्टाइन ने लिखा है कि दो वर्गों; दो जातियों दो क्षेत्रों, दो देशों में युद्ध होते ही हैं। पर युद्ध क्यों होते हैं? इन युद्धों के अनेक कारण होते हैं। पहले जर, जमीन, धन के लिए युद्ध होते थे। आज जर युद्ध समाप्त हो गया है, पर धन और पृथ्वी के लिए आज भी युद्ध होते हैं। एक देश का सम्बन्ध दूसरे देश के साथ कैसा हो यह निर्भर करता था संगीतज्ञों, चित्रकारों, विद्वानों, दार्शनिकों आदि पर। सत्रहवीं सदी तक यह बात रही। अठारहवीं शती के यूरोप में एक नयी बात पैदा हुई। एक ऐसा वर्ग बना जो न तो कलाकार था, न बुद्धिजीवी या कवि। यानी यह नया वर्ग करता तो कुछ न था, पर शासन सब पर करता था। इस वर्ग के पास कोई कला तो न भी, पर सिर्फ राजनीतिक विचार थे। आइंस्टाइन का कहना था कि यही वर्ग अन्य सभी वर्गों पर हावी हो जायेगा और सभी पर कब्जा कर लेगा। यह वर्ग राजनीतिज्ञों का कहा जाता है। इसे 'वेलफेयर स्टेट' भी कहा जाता है।

प्राचीन काल में अपने देश में वैज्ञानिकों की एक परम्परा थी। यदि कोई पूछे कि **कणाद** के अणु सिद्धांत या विकासवाद का प्रभाव क्या युद्धों के होने या न होने पर पड़ता है? तो उत्तर शून्य है। आयुर्वेद का ज़रूर एक प्रभाव माना जा सकता है, विभिन्न रोगों व प्रहारों के अध्ययन से। पर आयुर्वेद का का प्रभाव भी सीमित है। यूनान में तो पढ़ा लिखा व्यक्ति वही माना जाता था जो ज्ञान-विज्ञान में पारंगत हो, पर युद्ध या शान्ति पर इनका भी कोई प्रभाव नहीं था। हाँ उस समय के राजाओं का प्रभाव अवश्य था। उस समय के राजाओं में एक लहर आती थी कि चलो युद्ध करें। भारत में 'राजसूय यज्ञ, के लिए एक घोड़ा छोड़ दिया जाता था। तुम्हारे अन्दर शक्ति हो तो पकड़ लो या आधिपत्य स्वीकार करो। पर इस आधिपत्य का कोई वास्तविक प्रभाव नहीं था। यह ठीक क्रिकेट या फुटबाल के खेल के जीत-हार की तरह थी। खेत लुट जाते थे, दूकानें लुटती थीं, सीमाओं का विस्तार भी होता था, फिर भी सामान्य जन-जीवन पर कोई खास असर नहीं था। उस समय हथिहारों के विकास सम्बन्धी खोजों व आविष्कारों पर भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। राज्य का विस्तार, युद्ध और युद्ध के बाद की स्थिति का नाम शान्ति है।

भारत क्यों हारता था? मेरे एक मित्र कहा करते थे कि भारत में हथियार सुरक्षित रख दिए जाते थे। पर जब शत्रु चढ़ बैठता था तब उसे निकाल कर चमकाया जाता था व सुधारने की कोशिश की जाती थी, जंग छुड़ाने के लिए।

1914 का युद्ध मेरे जीवन का प्रथम महायुद्ध था। इस महायुद्ध के बाद युद्ध का प्रभाव आविष्कारों के लिए प्रेरित करता था। फिर शान्ति के समय यही खोजें कल्याण के लिए होती थीं। जीपें युद्ध के समय ऊबड़-खाबड़ भूमि पर चलने के लिए बनीं, पर खेतों-खलिहानों में भी प्रयुक्त हुईं।

प्रथम और द्वितीय युद्ध के बाद युद्ध और शान्ति

पर विज्ञान के प्रभाव के विषय में विशेषरूप से सोचा जाने लगा। जब जर्मनी द्वारा और खाद्यपदार्थों की कमी हो गई तो खाद के रूप में नाइट्रोजन प्रयुक्त होने लगा। विज्ञान आगे आया। फैक्ट्रियाँ जो युद्ध-सामग्री बनाती थीं, खाद बनाने लगीं।

आज का युद्ध धर्म पर निर्भर नहीं है। आज के युद्ध में वीर रस, रौद्र रस या भयानक रस का कहीं काम नहीं है। पता नहीं गोली लगते समय योद्धा की भौंहें फड़क रही हैं या नहीं, आँखें लाल हैं या नहीं। आज का युद्ध तो कुछ छोटी-छोटी रसायनशालाओं में लड़ा जाता है। आज युद्ध के लिए नाभिकीय अस्त्र बनाये जा रहे हैं। ऐसे आयुध जो अमेरिका से रूस या रूस से चीन तक मार कर सकते हैं। पर यह भी हो सकता है कि युद्ध करने वाली दो महाशक्तियाँ बच जायें और रास्ते में पड़ने वाले दूसरे देश तबाह और बर्बाद हो जायें।

आज कम्प्यूटर की धूम है। पर कम्प्यूटर पर पहला लेख छापने को कोई तैयार नहीं था। आज जगह-जगह कम्प्यूटर प्रशिक्षण केन्द्र खुले हुये हैं। इसका आज व्यापक प्रयोग है। मित्रों से बात होती है, शत्रुओं के षडयंत्रों का पता चलता है। इसी पर आज युद्ध सम्भव है और इसी के द्वारा रक्षा भी होती है। कम्प्यूटर युद्ध और शान्ति दोनों के लिए बड़े उपयोगी हैं।

रूस ने जब उपग्रह छोड़े तो बड़े-बड़े लोगों ने कहा कि इससे क्या होता है। यह व्यर्थ है। सभी ने बधाइयाँ तो दीं पर इसे फिजूलखर्ची ही समझा। पर आज के 1987 के युग में कौन बिना इसके अपना काम चला सकता है? आज का युद्ध भी बिना उपग्रह के सहायता के नहीं हो सकता। साथ ही दूर संचार आदि शांति से जुड़े कार्य भी नहीं हो सकते। ऐसा लगता है जैसे युद्ध और शांति एक सिक्के के दो चेहरे हों।

इस प्रकार लगता है कि आज विज्ञान की उपलब्धियों का उपयोग युद्ध और शान्ति दोनों के लिए है। विज्ञान दोनों के बीच में फँसा है। विज्ञान रहेगा, युद्ध रहेगा और शान्ति भी रहेगी। विज्ञान ने जहाँ विनाशकारी शक्ति दी है वहीं शांति के लिए समझ भी देगा। यह सब निर्भर है मानव के विवेक पर।

० ० ०

लोक विज्ञान

जिसे आज विज्ञान कहा जाता है उसे पहले केवल ज्ञान कहते थे। इसे दर्शनशास्त्र या दर्शन भी कहते थे। विज्ञान उन क्रियाओं-प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है जो सृष्टि में परिवर्तन करते हैं। सृष्टि के भीतर कुछ ऐसे तत्त्व होते हैं जो परिवर्तन की क्रिया को नियंत्रित करते हैं।

प्राचीन मनीषी इस बात को नहीं सोचते थे कि उनकी खोजों का लोक पर क्या प्रभाव पड़ता है। उनकी श्रद्धा अपने से भी पहले के मनीषियों में थी, पर उन्हें यह ज्ञात था कि 'सत्य' इन सबसे अलग है और वह किसी पर आश्रित नहीं।

'कैलकुलस' की खोज के बारे में विवाद उठा कि किसने किया। जनता—विद्वान जनता—इस पक्ष में थी कि **लिबनित्ज** ने किया। यह देख-सुनकर **न्यूटन** का मस्तिष्क विकृत हो गया। वह यह नहीं सोच सका कि इस लोकमान्यता का 'सत्य' पर कोई असर नहीं पड़ता—लेकिन वह तो उस क्षेत्र में अपना यश चहता था।

उसी देश का एक और उदाहरण है। न्यूट्रॉन के कण जो एक दिशा की ओर जा रहे थे उसने उसे ऊर्जा ही माना था, पर **चैडविक** ने उसे कण कहा और उसकी भी प्रकृति बतायी। यद्यपि उसकी खोज **क्यूरी दम्पति** ने की थी, पर वे इस खोज के अपने हाथ से निकल जाने पर पागल नहीं हुए। उन्होंने प्रतीक्षा की और आगे चलकर यशस्वी हुये। आज के व्याख्यान का सम्बन्ध जनता से है। आज हम जिस युग में हैं उसमें हर स्पेनवासी यह मानता है कि आज का विश्व हमने बनाया है, पुर्तगाल ने बनाया है, हम दोनों ने साझे में बनाया है। विज्ञान के लिए कोई देश बड़ा नहीं होता। हो सकता है उनकी तुलना में इंग्लैण्ड बड़ा

हो, जर्मनी बड़ा हो, अमेरिका बड़ा हो, पर अन्वेषक या एक्सप्लोरर्स तो पुर्तगाली ही थे। हमारे देश में विज्ञान की एक लम्बी परम्परा है। नये विज्ञान की परम्परा भी कम से कम 100 साल की हो गई, हमारे यहाँ चार-पाँच प्रथम श्रेणी के वैज्ञानिक हुए 50—100 द्वितीय श्रेणी के और तृतीय तथा चतुर्थ श्रेणी के तो हज़ारों हज़ार हैं।

हम सुई से लेकर उपग्रह तक बनाते हैं। पर आज भी किसी भारतीय से पूछो कि शरीर किस चीज़ से बना है। तो कोई यह नहीं कहेगा कि हाइड्रोजन, ऑक्सीजन, कार्बन आदि से। इसी प्रकार रोगों के लिए भी हम वात, कफ़, पित्त की बात करते हैं। बिड़लामंदिर के एक शिलालेख—जो बीसवीं सदी का ही है—में लिखा है कि फला व्यक्ति ने पारे से सोना बनाया था। आज भी लोग उसको श्रद्धा से मानते हैं, पर जब मैं कहता हूँ कि यह छल है, धोखा है, तो लोग नहीं मानते। दुनिया में ऐसा कोई भी विश्वविद्यालय नहीं है जहाँ फलित ज्योतिष पढ़ाई जाती हो, पर भारत में जगह-जगह विद्यालय खुले हुए हैं—अविद्या के विद्यालय। इसी प्रकार जब मैं कहता हूँ कि 'होम्योपैथी' एक फ्रॉड है, बिल्कुल धोखा है, उन तथाकथित दवाओं में दवा होने की कोई भी संभावना नहीं, तो लोग उसे मानने को तैयार नहीं होते। कल एक सज्जन कह रहे थे कि आप अपना रसायनशास्त्र बदल लो, क्योंकि हमे तो इस उपचार से फायदा होता है।

योरोप के अन्दर बहुत समय तक यही मानते रहे कि पृथ्वी चटाई की तरह चौकोर है। पर भारत में यह माना जाता रहा कि पृथ्वी गोल है। ईसाई पादरियों ने यह कहना शुरू किया कि तुम्हारे आब्ज़रवेशन (निरीक्षण) गलत हो सकते हैं, हमारी 'बाइबिल' नहीं।

इससे भी बड़ी लड़ाई तब हुई जब पूछा गया कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है या सूर्य पृथ्वी के चारों ओर? चूंकि सूर्य नवों ग्रहों को प्रभावित करता है अतः यदि उसे सभी को प्रभावित करना है तो उसे सभी ग्रहों के चारों ओर घूमना पड़ेगा, तभी तो उन्हें प्रभावित कर पायेगा। पर यह असम्भव है कि सूर्य पृथ्वी के चारों ओर घूमे और उसी के साथ मंगल व शुक्र आदि के भी चारों ओर। अत: वैज्ञानिकों ने यही दलील दी कि पृथ्वी ही सूर्य के चारों ओर घूम सकती है, सूर्य नहीं।

यह लड़ाई बहुत दिनों तक चलती रही। **गैलीलियो, कॉपरनिकस** आदि को बहुत कष्ट उठाने पड़े। पोपों ने कहना शुरू किया कि ये सभी नास्तिक हैं। कोई ईश्वर को नहीं मानते, बाइबिल को नहीं मानते। इस कष्टपूर्ण वैचारिक यातना को सहते हुए अंततः वैज्ञानिकों ने घोषित किया कि हम वैज्ञानिक लोग अपने को नास्तिक कहलाना तो स्वीकार कर सकते हैं, इसमें हमें शर्म नहीं। पर तुम्हारे जैसे आस्तिक कहलाने में हमें शर्म आती है।

भारत में भी एक बार बुद्ध ने गायों का झुण्ड यज्ञ बलि के लिए ले जाते हुए देखा तो पूछा कि ये कहाँ जा रही हैं। उत्तर मिला – यज्ञशाला में। वहाँ बलि के बाद में गायें और बलि देने वाले सभी स्वर्ग चले जायेंगे। बुद्ध ने भी घोषित किया कि यदि तुम्हारा स्वर्ग ऐसा है, ऐसा ही भगवान है, तो मैं उनमें विश्वास नहीं करता।

जब प्रसव-पीड़ा को कम करने के लिए ईथर (एनेस्थीसिया) का प्रयोग 1963-64 के करीब किया जाने लगा तो पूरे ईसाई जगत् ने विद्रोह कर दिया कि बाइबिल में तो लिखा है कि भगवान ने औरत को प्रसव-पीड़ा का अभिशाप दिया है। उसे प्रसव-पीड़ा होनी चाहिए। इसी प्रकार जब हृदय-प्रत्यारोपण की बात शुरू हुई तो न केवल कवियों को 'दिल बदलने' से चिन्ता हुई बल्कि फिर ईसाई जगत् ने विरोध किया।

इस प्रकार 19 वीं और 20 वीं सदी तक भी विज्ञान और धर्म के बीच जो सम्पर्क हुआ, विरोध हुए, झगड़ा हुआ उसका काफी असर पड़ा। भारत में तो रूढ़ियाँ नये सिरे से पैदा होती जा रही हैं। आजादी के पहले भारत में शायद ही ऐसा कोई अखबार हो जिसमें राशिफल छपता रहा हो, पर आज

शायद ही कोई ऐसा समाचार-पत्र हो जिसमें राशिफल न छपता हो।

हिन्दुस्तान में हर आदमी के दो पहलू हैं, जो विज्ञान को भी सच मानता है और फलित ज्योतिष को भी। भारत में तो अब यह कहा जाने लगा है कि 'सत्य' तो कहीं है ही नहीं। भ्रष्टाचार और अनैतिकता ही सब जगह व्याप्त है। पर मैं तो यह कहता हूँ कि चाहे हर जगह अनैतिकता व झूठ हो, वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में असत्य और अनैतिकता नहीं टिक सकती। हम विज्ञान की प्रयोगशालाओं में ग़लती कर सकते हैं पर झूठ नहीं बना सकते, असत्य नहीं कह सकते। भारत में तो वैज्ञानिकों के भी दो पहलू हैं। एक ओर तो वे प्रयोगशालाओं में तर्क व सत्य की आराधना करते हैं पर घर आते ही वही फलित ज्योतिष, स्वर्ग, परलोक आदि के चक्कर में पड़ जाते हैं। बहुत पहले 'स्पिरिट फोटोग्राफी' के जरिए धोखाधड़ी करके असत्य चीजों को सही ठहराने की कोशिश हुई थी, तब विज्ञान परिषद् में **डॉ० गोरख प्रसाद जी** ने एक व्याख्यान देकर इस धोखाधड़ी को उजागर किया था।

आज पुनः विज्ञान परिषद् में लोक विज्ञान के सम्बन्ध में बोलते हुए मेरा आशय यही है कि हम विज्ञान को अपने रोज़मर्रा के आचार-व्यवहार से और विचार से जोड़ें, उसे केवल प्रयोगशालाओं तक ही न सीमित रक्खें। □□

नशीली दवा के परीक्षण के लिए नया किट

ब्रिटेन के अनुसंधानकर्त्ता वैज्ञानिकों ने नशीली दवाओं के परीक्षण के लिए एक विशेष 'किट' तैयार किया है, जिससे मात्र एक घंटे में परीक्षण किया जा सकता है। विशेष रूप से संवेदना को शून्य कर देने वाले पदार्थों जैसे 'हेरोइन' की मूत्र में जाँच शीघ्रता से की जा सकती हैं। संडरलैण्ड पॉलीटेक्नीक के ओषधिविज्ञानी **डॉ० फ्रेड रावेल** के अनुसार इसका उपयोग काफी आसान है और 'किट' को कार की बैटरी के सहारे मैदान में भी इस्तेमाल किया जा सकता है। इस 'किट' का नाम इंज़ाइमलिंक्ड इम्यूनोसोर्वेण्ट एस० ए० है और इसे उत्तर पूर्व इंग्लैण्ड स्थित 'संडरलैण्ड पॉलीटेक्नीक' और 'कैम्ब्रिज लाइफ साइंसेज' ने संयुक्त रूप से तैयार किया है और अगले वर्ष 1988 में यह 'किट' बाज़ार में भी बिकने लगेगा।

प्रो० नन्दलाल सिंह सम्मानित

वयोवृद्ध हिन्दी विज्ञान लेखक, सम्पादक और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में भौतिकी विभाग के सेवा-निवृत्त विभागाध्यक्ष, **प्रो० नन्द लाल सिंह** को बिहार सरकार के राजभाषा विभाग द्वारा विशिष्ट हिन्दी सेवी सम्मान योजना 1986-87 के अन्तर्गत विज्ञान के क्षेत्र में हिन्दी भाषा के विकास और उन्नयन में महत्त्वपूर्ण योगदान के लिए पन्द्रह हज़ार रुपयों की राशि प्रदान कर सम्मानित किया है। प्रो० सिंह को उनकी हिन्दी विज्ञान की विशिष्ट सेवाओं के लिए विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद द्वारा भी प्रशस्तिपत्र प्रदान कर सम्मानित किया जा चुका है। प्रो० सिंह को विज्ञान परिषद् की बधाई।

मछली से गर्भनिरोधक गोली

'न्यू हैम्पशायर यूनिवर्सिटी' के वैज्ञानिक **चार्ल्स वाकर** ने पुरुषों के लिए तारा मछली (स्टारफिश) से गर्भ निरोधक गोली तैयार करने की दिशा में एक सफल कदम बढ़ा दिया है। अनुसन्धान के दौरान वाकर महोदय को यह पता चला कि नर तारा मछली वर्ष में केवल एक बार ही शुक्राणु बना पाता है जबकि मनुष्यों में यह क्रिया पूरे वर्ष चलती रहती है। हाँ, नर तारा मछली वर्ष भर उन कोशिकाओं के निर्माण में ही रत रहता है जिनमे शुक्राणुओं का निर्माण होता है। वाकर साहब उस रसायन को ढूँढ़ निकालने में लगे हुए हैं जिससे इस बात का निर्देश मिलता है कि शुक्राणु कब बनाये जायें। वाकर महोदय का ऐसा विश्वास है कि इसी प्रकार के निर्देश मनुष्यों में भी शुक्राणुओं को बनाने के लिए मिलते हैं। ऐसा लगता है वह दिन दूर नहीं जब शुक्राणुओं के बनने या न बनने को रसायन द्वारा नियन्त्रित करके जनसंख्या विस्फोट से लड़ने का कारगर हथियार ढूँढ़ निकाला जायेगा।

सावधान ! पाँचवीं अनुसूची सिकुड़ रही है

सतीश कुमार शर्मा

भारतीय भूभाग में पाये जाने वाले वन्य प्राणियों तथा उनके आवास स्थलों को सुरक्षा प्रदान करने के लिये 'वन्य प्राणी (सुरक्षा) अधिनियम 1972' बनाया गया था। इस अधिनियम से नष्ट होते वन्य प्राणियों, विशेष कर गर्भवती एवं बच्चों वाली मादाओं, सींगदार मृगों, शिशुओं, अण्डों, घोंसलों आदि की सुरक्षा की विशेष व्यवस्था की गई है। वन्य प्राणियों को विलुप्तीकरण से बचाने के लिये 'विलुप्तीकरण तीव्रता' के आधार पर वन्य प्राणियों को पाँच भागों में बाँटा गया है जिन्हें 'अनुसूचियाँ' कहते हैं।

जो वन्य प्राणी प्रजातियाँ सर्वाधिक संकटग्रस्त थीं उन्हें 'प्रथम अनुसूची' में वर्गीकृत किया गया। अपेक्षाकृत कम संकटग्रस्त प्रजातियों को दूसरी, तीसरी तथा चौथी अनुसूची में शामिल किया गया। इन चारों अनुसूचियों के वन्य प्राणियों को सताना, अवैध रूप में पकड़ना, उनका व्यापार करना, शिकार करना, घायल करना, अंग-भंग करना आदि को अपराध घोषित किया गया है। साथ ही इन चारों अनुसूचियों के प्राणियों का वन क्षेत्र एवं वन क्षेत्रों के बाहर अवैध शिकार भी कानूनन जुर्म घोषित कर दिया गया है।

पर कुछ अभागे प्राणियों को कानून ने **वर्मिन** (Vermin) का नाम देकर 'पाँचवीं अनुसूची' में शामिल किया है। वन क्षेत्रों के बाहर इस सूची के सदस्यों का शिकार होने पर कानून सौतेला व्यवहार करता है यानी इन्हें सुरक्षा प्रदान नहीं करता।

'वन्य प्राणी (सुरक्षा) अधिनियम 1972' के बनने के समय सात प्रकार के अभागे प्राणियों को पाँचवीं अनुसूची का निम्नकोटि का टिकिट दिया गया था। ये निम्नलिखित हैं—

(1) कौवा, (2) गीदड़, (3) उड़न लोमड़ी या उड़न लोकरी या फल खाने वाली चमगादड़ें, (4) लोमड़ी, (5) मूषक, (6) चूहे, और (7) वोल्स।

वास्तव में अधिनियम बनते समय इन सातों किस्मों के प्राणियों की विपुल संख्या देश में उपस्थित थी तथा ऐसा महसूस किया गया कि इनमें से अधिकांश हमारी फसलों को भारी नुकसान पहुँचाते हैं। अत: इनसे छुटकारा पाने के लिये इन्हें पाँचवीं अनुसूची में पटक दिया गया। इनकी विशाल संख्या का अनुमान इस तथ्य से ही लगाया जा सकता है कि आज देश में कोई चार सौ करोड़ चूहे होने का अनुमान है। कितने ही 'चूहामार आन्दोलन' सरकार द्वारा चलाये जाने के बावजूद भी चूहों की समस्या ज्यों की त्यों बनी हुई है।

सुनते हैं कभी किसी के दिन एक जैसे नहीं रहते हैं। कुछ ही वर्ष बीते थे कि पाँचवीं अनुसूची के पुनर्निर्धारण की आवश्यकता महसूस की गई। सर्वेक्षण से पाया गया कि देश में गीदड़ और लोमड़ियों की संख्या आश्चर्यजनक रूप से कम हो चुकी है। चंद वर्षों पहले 'वर्मिन' समझी जाने वाली इन दोनों प्रजातियों का निर्दयतापूर्वक सफाया किया गया। किसी ने सपने में भी नहीं सोचा था कि जिन्हें वर्मिन का नाम लेकर मारने की छूट दी गई थी उन्हें भी एक दिन बचाने की समस्या देश के सामने खड़ी हो जायेगी।

अंतत: पाँचवीं अनुसूची का पुनर्मूल्यांकन एवं पुनर्निर्धारण करना ही पड़ा। देखते ही देखते पाँचवीं

वन प्रसार अधिकारी, वन चेतना केन्द्र, गुलाब बाग, उदयपुर-313001 (राजस्थान)

अनुसूची सिकुड़ कर रह गई। वर्तमान में पाँचवीं अनुसूची का स्वरूप निम्नवत है—

(1) कौवा, (2) उड़न लोमड़ी, (3) मूषक, (4) चूहे, और (5) वोल्स

यों तो अनुसूचियाँ स्थिर नहीं हैं। एक अनुसूची के जीव आवश्यकतानुसार दूसरी अनुसूचियों में स्थानान्तरित किये जाते रहे हैं। परन्तु गीदड़ एवं लोमड़ी का 'अनुसूची स्थानान्तरण' तो और भी अजीब है। संकटग्रस्त प्राणियों को पर्याप्त सुरक्षा देने के लिए द्वितीय अनुसूची से 11 किस्मों को प्रथम अनुसूची में ले जाना पड़ा है। इसी तरह तृतीय अनुसूची से 6 किस्मों को प्रथम तथा एक किस्म को द्वितीय अनुसूची में स्थानान्तरित किया गया है। चतुर्थ अनुसूची का एक सदस्य तृतीय अनुसूची में भी लेना पड़ा। उक्त वर्णित उदाहरणों में निम्न अनुसूची के प्राणियों को नज़दीकी ऊँची अनुसूची में स्थानान्तरित किया गया है। परन्तु गीदड़ तथा लोमड़ी को अंततः सबसे निम्न पाँचवीं अनुसूची से स्थानान्तरित कर सर्वोच्च, प्रथम अनुसूची में शामिल करना पड़ा। इतनी ऊँची अनुसूची में सीधे ही स्थानान्तरण स्पष्ट करता है कि इन दोनों 'वर्मिनों' के साथ इस देश के लोगों ने कैसा सलूक किया है, जबकि गीदड़ों ने सड़े-गले मृत जानवरों को खाकर सफाई अभियान द्वारा तथा लोमड़ियों ने चूहों व अन्य कृन्तकों का नाश कर फसल-रक्षण द्वारा हमारी अमूल्य सेवा की थी। भलाई का बदला हमने किस रूप में चुकाया उसका साक्ष्य सिकुड़ती पाँचवीं अनुसूची है।

क्या पाँचवीं अनुसूची स्थिर अवस्था में पहुँच चुकी है? शायद नहीं। हाल ही के कुछ वर्षों में उड़न लोमड़ियों (Flying foxes or Fruit bats) को हमने निशाना बनाना आरम्भ कर दिया है। भारत में उड़न लोमड़ियों की तीन प्रजातियाँ **टेरोपस जाइगेन्टियस** (*Pteropus giganteus*), **रौसेटास लेशनोल्टई** (*Rousettus leschenaulti*) तथा **सायनोप्टेरस स्फिक्स** (*Cynopterus sphinx*) पाई जाती हैं। अंतिम दोनों प्रजातियाँ कीटाहारी चमगादड़ों की तरह दिन में प्रायः गुफावासी जीवन बिताती हैं परन्तु **टेरोपस जाइगेन्टियस** बाग-बगीचों में फलों के वृक्षों, विशेष कर गूलर, बरगद आदि पर उल्टी लटक कर दिन व्यतीत करती हैं। दिन में जब ये वृक्षों पर लटकी रात्रि का इन्तज़ार कर रही होती हैं, इनका बड़े पैमाने पर शिकार किया जाता है। इनका माँस न केवल खाने के लिये उपयोग में लाया जाता है बल्कि रक्त तक लोक दवाओं में प्रयुक्त होता है। बागों के रखवाले इन्हें फलों का दुश्मन मानकर इनकी एक बड़ी संख्या का सफाया कर डालते हैं।

हम इन्हें अपना दुश्मन समझकर एक ग़लती कर रहे हैं। वास्तव में प्रकृति में परागण तथा प्रकीर्णन में इनकी सराहनीय भूमिका होती है। अब तक 130 वंशों के ऐसे पौधे पहचाने जा चुके हैं जो परागण हेतु किसी हद तक उड़न लोमड़ियों पर निर्भर करते हैं। स्मरण रहे, परागण से ये फल उत्पादन बढ़ा कर अपने द्वारा किये नुकसान की भरपाई कर देती हैं।

यदि हमने उड़न लोमड़ियों के साथ भी गीदड़ और लोमड़ी जैसा व्यवहार जारी रखा तो वह दिन दूर नहीं जब इन्हें भी पाँचवीं अनुसूची से हटाना पड़ेगा और यह अनुसूची और भी सिकुड़ जायेगी। तब गीदड़ एवं लोमड़ी की तरह उड़न लोमड़ियों के संरक्षण की तरफ भी हमें अतिरिक्त ध्यान देना पड़ेगा।

आइये अनुसूचियों के महत्व को समझें एवं अपनी अमूल्य वन्य प्राणी संपदा को सम्मान एवं सुरक्षा प्रदान करें।□□

विज्ञान अनिवार्य क्यों ? क्या ? और कैसे ?

सुप्रभात मुकर्जी

मानव सभ्यता जैसे-जैसे विकसित होती गई, मनुष्य की आवश्यकताएँ उत्तरोत्तर उतनी ही बढ़ती गईं। मानव की अतृप्त कामनाओं ने, उसके कौतूहल और जिज्ञासा-वृत्ति ने उसे नवीन आविष्कारों के लिए प्रेरित किया। विज्ञान के आविष्कारों ने संसार में आज हज़ारों आश्चर्यजनक परिवर्तन उपस्थित कर दिये हैं। आज से दो-तीन सौ वर्ष पूर्व का मानव प्राचीन स्मृतियों और धारणाओं के साथ यदि इस संसार में आ जाय तो यह परिवर्तित संसार उसे विस्मृत और स्तम्भित किये बिना नहीं रह सकता। विज्ञान ने मानव जीवन के सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया है। विज्ञान की ये उपलब्धियाँ हमारे जीवन में इतनी घुलमिल गई हैं कि अब उनके अभाव में जीवन-यात्रा की कल्पना ही कठिन है। जब जनसाधारण इन वैज्ञानिक उपलब्धियों का दैनिक जीवन में उपयोग करता है तो उसके मन में इन उपलब्धियों के पीछे छिपे हुए रहस्यों, सिद्धान्तों को जानने का कौतूहल होना स्वाभाविक ही है। इस कौतूहल को शान्त कैसे किया जाय! शिक्षा के लिए यह एक चुनौती है जिसका सामना करने के लिए विज्ञान अनिवार्य रूप से बढ़ाया जाना ही एक विकल्प है। विज्ञान की शिक्षा केवल कौतूहल की शान्ति ही नहीं वरन् वैज्ञानिक संसाधनों के समुचित उपयोग और रख-रखाव के लिए भी आवश्यक है, जिसका अनुभव आज सभी करते हैं। उदाहरण के लिए जिस व्यक्ति को किसी भी स्तर के विज्ञान का ज्ञान नहीं होता है उसे छोटे-छोटे कार्यों के लिए जैसे फ्यूज़ बल्ब के बदलने, टूटे हुए प्लग को ठीक करने तथा फ्यूज़ वायर जोड़ने के लिए दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है। उपरोक्त व्यावहारिक पक्ष के अतिरिक्त विज्ञान निम्नलिखित पहलुओं में सुधार लाने में भी सहायक होता है, जिसके कारण विज्ञान शिक्षा की अनिवार्यता हेतु हम बाध्य होते हैं।

भावी नागरिकों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित करने में सहायक

आज के समाज में सफल जीवन व्यतीत करने हेतु प्रत्येक मानव के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने वातावरण के प्रति जाग्रत रहे और वातावरण के प्रति जाग्रत रहने हेतु यह आवश्यक है कि उसका दृष्टिकोण वैज्ञानिक हो। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह तात्पर्य है कि छात्र में सही-सही प्रेक्षण लेने, उन प्रेक्षणों का विश्लेषण करने, तथ्यों के आधार पर निष्कर्ष निकालने तथा सामान्यीकरण करने की क्षमता हो, उदाहरण के लिए हम **न्यूटन** के "गुरुत्वाकर्षण" की खोज सम्बन्धी प्रकरण को ले सकते हैं। **न्यूटन** अपने वातावरण के प्रति जाग्रत था या हम कह सकते हैं कि उसका दृष्टिकोण वैज्ञानिक था। जब न्यूटन ने सेब गिरते देखा, उसने इसके अन्तर्निहित कारणों का विश्लेषण किया, फिर तथ्यों के आधार पर निष्कर्ष निकाले और अन्त में यह सामान्यीकरण किया कि पृथ्वी प्रत्येक वस्तु को अपनी ओर आकर्षित करती है। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति प्रतिदिन छोटे से लेकर अत्यन्त महत्वपूर्ण निर्णय लिया करता है। यदि दृष्टिकोण वैज्ञानिक है तो उसके निर्णय सही होंगे और वह व्यक्ति जीवन में सफल होगा अन्यथा असफल। हमारे भावी नागरिक जीवन में सफल हो सकें इसके लिए यह आवश्यक है कि उनमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास हो। यह विकास विज्ञान की शिक्षा द्वारा ही सम्भव है। वैज्ञानिक प्रयोगों को करते समय वह सही प्रेक्षण लेने, उनका विश्लेषण करने, निष्कर्ष निकालने

पाठ्यक्रम शोध एवं मूल्यांकन अनुभाग, 3/16 सी० वाई० चिन्तामणि मार्ग, जार्जटाउन, इलाहाबाद

तथा सामान्यीकरण करने के लिए प्रशिक्षित हो जाता है, छात्रों द्वारा प्रयोगों को कराने के पीछे यही मुख्य उद्देश्य होना चाहिए।

सांस्कृतिक विषमताओं को दूर करने हेतु

वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में कुछ छात्रों को विज्ञान की शिक्षा दी जाती है तथा कुछ को नहीं इसके फलस्वरूप छात्रों में दो प्रकार की विचारधारा का विकास हो रहा है। एक वर्ग जिसे विज्ञान का पर्याप्त ज्ञान होता है किसी सत्य को स्वीकार करने के लिए स्थापित मान्यताओं के पुनर्मूल्यांकन और उसके अप्रासंगिक तथ्यों या अवधारणाओं को त्यागने के लिए तत्पर रहता है, परन्तु दूसरा वर्ग जिसे विज्ञान का ज्ञान नहीं प्राप्त होता, इसमें कठिनाई का अनुभव करता है। वह प्रचलित मान्यताओं पर अधिक विश्वास करता है और विज्ञान पर आधारित सत्य और वैज्ञानिक व्याख्या को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं रहता।

विचारधाराओं की इस विषमता के कारण समाज में इन दो वर्गों के लोगों को आपस में सामंजस्य स्थापित करने में कठिनाई होती है तथा संघर्ष एवं तनाव की स्थिति उत्पन्न होने की पर्याप्त सम्भावना रहती है।

इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता है कि विज्ञान 'सत्य' के संधान की प्रक्रिया है। ज्ञानप्राप्ति का प्रमुख साधन विज्ञान है, बौद्धिक विकास और सांस्कृतिक प्रगति में विज्ञान अत्यधिक सहायक रहा है, यह विज्ञान ही है जिसने हमें रुढ़ियों के गर्त से निकाला है, अन्धविश्वासी मान्यताओं को तोड़ा है और फलस्वरूप वास्तविकता से हमारा साक्षात्कार हुआ है। अतः विज्ञान को अनिवार्य रूप से बढ़ाये जाने पर सभी को उसके आधारभूत सिद्धान्तों का ज्ञान होगा और भावी नागरिकों में सांस्कृतिक एकरूपता का विकास होगा, उनके सत्य संधान और वास्तविकता को स्वीकार करने की क्षमता में वृद्धि होगी। साथ ही साथ कला वर्ग के छात्र जो एक भावना से ग्रसित रहते हैं कि उन्हें विज्ञान का पर्याप्त ज्ञान नहीं है, उसका भी अन्त होगा।

समाजवादी समाज-व्यवस्था में सहायक

देश की स्वतन्त्रता के समय हमने देश में समाजवादी समाज-व्यवस्था का संकल्प लिया है, जिसके लिए भावी नागरिकों में श्रम की महत्ता का आभास तथा उसके प्रति रुचि उत्पन्न करना अत्यन्त आवश्यक है। इस उद्देश्य की पूर्ति भी विज्ञान के प्रायोगिक शिक्षा द्वारा ही सम्भव है।

शिक्षा के व्यावसायीकरण में सहायक

10+2 शिक्षा-व्यवस्था के अन्तर्गत +2 स्तर पर छात्रों को व्यावसायिक शिक्षा प्रदान करना प्रस्तावित है। कक्षा 9 तथा 10 में दी जाने वाली विज्ञान की शिक्षा जिसमें विज्ञान के आधारभूत सिद्धान्तों का ज्ञान छात्रों को दिया जाना है, वह व्यावसायिक शिक्षा हेतु पृष्ठभूमि का कार्य करेगी।

अतः आशा की जाती है कि विज्ञान शिक्षा से स्वयं ही कुछ महत्वपूर्ण मूल्यों जैसे शारीरिक श्रम के प्रति आस्था, कठोर परिश्रम करने की क्षमता, सौंदर्य-बोध, अभिनव परिवर्तन, प्रयोगीकरण तथा चुनौतियों का अधिक आत्मविश्वास के साथ सामना करने की क्षमता का विकास होगा। इन मूल्यों का छात्रों में समुचित विकास होने पर वे उसके जीवन की अमूल्य थाती सिद्ध होंगी जो हमारे समाज के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक है।

क्या

प्रारम्भ में शिक्षा कतिपय लोगों (विशिष्ट वर्ग) तक ही सीमित थी। अतः उस समय की वह शिक्षा-व्यवस्था उनकी आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर बनाई गई थी। परन्तु आज के युग में जब शिक्षा को सार्वजनीन (यूनिवर्सल) बनाने की बात कही जा रही है, उस प्राचीन व्यवस्था को जारी रखना असंगत प्रतीत होता है। शिक्षा में सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों के परिप्रेक्ष्य में नागरिकों की आवश्यकता के अनुरूप परिवर्तन होना वांछनीय है। शिक्षा अर्थपूर्ण, लाभदायक, उद्देश्यपूर्ण तथा जीवनसंगत होनी चाहिए।

इसके लिए समय-समय पर पाठ्यक्रम या कोर्स के लिए निर्धारित अंश तथा शिक्षा-पद्धति में आवश्यक परिवतन करना आवश्यक है। यह बात विज्ञान विषय के लिए और भी अधिक सत्य है क्योंकि एक अन्तराल से ऐसा अनुभव किया जा रहा है कि हमारे देश में विज्ञान की शिक्षा अधिकाधिक सैद्धान्तिक और जीवन के व्यावहारिक पक्ष से दूर होती जा रही है, जिससे विज्ञान के निहित उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो पा रही है और उसकी लोकप्रियता में कमी आ रही है।

कैसे

शिक्षा के उद्देश्यों के आधार पर पाठ्यक्रम का निर्माण होता है या दूसरे शब्दों में पाठ्यक्रम शिक्षा के उद्देश्यों को प्रतिबिम्बित करता है और इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए समुचित शिक्षण-पद्धति की आवश्यकता होती है।

उचित शिक्षण-पद्धति के अभाव में पाठ्यक्रम निरर्थक हो जाता है। अतः विज्ञान के लिए एक ऐसी शिक्षण-पद्धति की आवश्यकता है जो नैत्यिक (रोज़-मर्रा के) शिक्षण से दूर छात्र को अधिक रुचिकर लगे, वे विषयवस्तु को आसानी से पूर्णरूप से आत्मसात कर सकें और आवश्यकतानुसार अपने ज्ञान का स्वतंत्र रूप से अनुप्रयोग कर सकें। विज्ञान की शिक्षा का उद्देश्य कदापि यह नहीं है कि प्रत्येक छात्र को आगे चलकर वैज्ञानिक ही बनाना है वरन् इसका वास्तविक उद्देश्य छात्रों को प्रेक्षण लेने, विश्लेषण करने, अर्थ-ग्रहण करने तथा सामान्यीकरण करने के लिए प्रशिक्षित करना है और उस उद्देश्य की पूर्ति शायद हमारी विज्ञान शिक्षण की प्रचलित पद्धति द्वारा नहीं हो पा रही है। अतः इसका अनुभव करते हुए शिक्षाविदों ने इसके विकल्प के रूप में प्रायोजना विधि (प्रोजेक्ट मेथोडॉलॉजी) प्रस्तावित की है। इस विधि में शिक्षण के प्रायोगिक पक्ष पर विशेष बल देते हुए प्रत्येक स्तर पर विज्ञान शिक्षण की दैनिक जीवन के विभिन्न पहलुओं के साथ प्रासंगिकता, और किस प्रकार यह विभिन्न समस्याओं के समाधान में सहायक हो सकती है, दर्शायी जाती है जिससे छात्रों में अभिनव चिन्तन शक्ति उद्दीप्त होगी और उनके मन में वैज्ञानिक मनोस्थिति, चेतना या 'साइंटिफिक टेम्पर', मौलिकता, सृजनात्मकता तथा सुधारात्मक क्षमता आदि गुण बैठ जाएँगे, जिससे हम यह आशा कर सकते हैं कि कुछ छात्र अपनी स्वतन्त्र खोज-यात्राओं में निकल पड़ेंगे।□□

आम और काजू की नई किस्में

'कोंकण कृषि विद्यापीठ' ने आम और काजू की अधिक उपज देने वाली नई किस्में विकसित करके कृषि अनुसन्धान के क्षेत्र में नई उपलब्धि अर्जित की है। इससे पश्चिमी महाराष्ट्र के कोंकण क्षेत्र में आम और काजू की अधिक पैदावार की सम्भावनाएँ बढ़ गई हैं।

इस विद्यापीठ द्वारा विकसित **'रत्ना'** नामक आम की नई किस्म 'अलफ़ान्सो' और 'नीलम' किस्मों के संकरण से तैयार की गई है। विद्यापीठ के निदेशक **डॉ० आर० टी० गुंजाटे** का कहना है कि 'रत्ना' हर वर्ष फलती है और 'अलफ़ान्सो' की अपेक्षा तीन-चार गुना अधिक फल देती है जबकि आम की दूसरी किस्में दो या तीन वर्षों में मात्र एक बार ही फलती हैं। गुंजाटे महोदय ने आगे बताया कि इसी प्रकार काजू की अधिक उपज देने वाली 'वेंगुरला' किस्मों ने भी काजू के उत्पादन के क्षेत्र में धूम मचा दी है। सिन्धुदुर्ग जिले के वेंगुरल नामक स्थान में स्थिति 'काजू अनुसन्धान केन्द्र' में काजू की पाँच ऐसी किस्में विकसित हुई हैं जो प्रत्येक वृक्ष से 20-25 किलोग्राम उपज देती हैं। **डॉ० गुंजाटे के** अनुसार कोंकण क्षेत्र जून-सितम्बर में अत्यधिक वर्षा, आर्द्र मौसम और लाल लैटेराइट मिट्टी, (लौह ऑक्साइड और अल्यूमिनियम के हाइड्रॉक्साइड से युक्त) की उपस्थिति के कारण बागवानी के लिए अधिक उपयुक्त है, विशेष रूप से आम, काजू, कोकुम, कटहल और डाइसेनिया के लिए।

राकेट कैसे उड़ता है ?

भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव

आज से हज़ारों वर्ष पूर्व मनुष्य ने पक्षियों को आकाश में स्वच्छन्दतापूर्वक उड़ते हुए देखकर अवश्य सोचा होगा कि काश वह भी खुले आसमान में उड़ सकता। उसकी अभिलाषा आंशिक रूप से 18वीं शताब्दी में पूरी हुई जबकि गुब्बारे की ईजाद हुई। गुब्बारे को इच्छित दिशा में ले जाने योग्य बनाने के लिये इसमें पेट्रोल के इंजिन लगाये गये। तथापि गुब्बारे का वेग कुछ अधिक बढ़ा पाना सम्भव नहीं होता, और ये आकाश के सभी भाग में उड़ सकते हैं, जहाँ हवा की घनता पर्याप्त हो। इसी कारण गुब्बारे अधिक से अधिक 20 या 25 किलोमीटर की ऊँचाई पर ही उड़ सकते हैं। इससे आगे की ऊँचाई पर हवा इतनी विरल हो जाती है कि उस प्रदेश में गुब्बारे हवा में टिक नहीं पाते हैं।

आकाश मार्ग की यात्रा का वेग बढ़ाने की समस्या पंख और प्रोपेलरयुक्त वायुयान की ईजाद द्वारा अवश्य हल की जा सकी। किन्तु ये वायुयान भी आकाश के उसी प्रदेश में उड़ सकते हैं जहाँ हवा पर्याप्त मात्रा में मौजूद हो। धरती के गिर्द वायुमण्डल का घेरा लगभग 350 किलोमीटर की दूरी तक ही फैला हुआ है—इसके आगे तो वायु नगण्य मात्र रह जाती है। फलस्वरूप इस प्रदेश में प्रोपेलर के ब्लेड की पकड़ झूठी पड़ जाती है, तथा पंख भी वायुयान का भार सँभालने में असमर्थ हो जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि ऊर्ध्वाकाश के वायुविहीन प्रदेश में न तो गुब्बारे उड़ सकते हैं और न ही प्रोपेलर वाले वायुयान। अतः यह आवश्यक समझा गया कि ऐसे यान बनाये जायँ जो वायुविहीन प्रदेश में भी उड़ सकें—इसी कोशिश में राकेट यानों का विकास हुआ।

राकेट का सिद्धान्त

पानी पर पड़ी किश्ती से जब कोई व्यक्ति कूदकर किनारे पर जाता है तो किश्ती भी प्रतिक्रिया के कारण उल्टी दिशा में गति करती है। बन्दूक दागते समय आपने अनुभव किया होगा कि जिस क्षण गोली बन्दूक की नली से बाहर निकलती है, उसी क्षण बन्दूक पर उल्टी दिशा में धक्का लगता है। आतिशबाजी के बाण भी आपने अवश्य दागे होंगे। बाण के पिछले भाग में बारूद भरी होती है, तथा पूँछ के सिरे पर सूराख बना होता है। बारूद के दागे जाने पर यह विस्फोट करती है तो ढेर सी गैसें तीव्र वेग से पीछे की ओर भागती हैं और प्रतिक्रिया से बाण सामने की ओर भागता है। राकेट की गति का यही मूलभूत सिद्धान्त है।

राकेट के बारे में कुछ लोगों ने यह गलत धारणा बना रखी है कि पूँछ से बाहर निकलने वाली गैसें पीछे की हवा को धक्का देती हैं जिसके कारण राकेट आगे बढ़ता है। किन्तु ऐसी बात है नहीं। असलियत तो यह है कि शून्य (वैकुअम) में राकेट और भी अधिक वेग प्राप्त कर लेगा।

राकेट का वेग केवल दो बातों पर निर्भर होता है—(1) पीछे भागने वाली गैस का वेग, तथा (2) प्रति सेकण्ड बाहर निकलने वाली गैस की मात्रा। अतः प्रति सेकण्ड बाहर निकलने वाली गैस की मात्रा तथा उसका वेग बढ़ा-घटाकर राकेट के वेग को बढ़ाया-घटाया जा सकता है।

सामान्यतः राकेट को हम दो किस्मों में बाँट सकते हैं, ठोस ईंधन वाले राकेट तथा द्रव ईंधन वाले ठोस ईंधन वाले राकेट की धड़ में ऐसे विस्फोट के पदार्थ भरे रहते हैं जो प्रज्वलन के लिये आवश्यक

46 पाण्डेय बाज़ार, आजमगढ़, उत्तर प्रदेश

ऑक्सीजन भी स्वयं ही उत्पन्न कर लेते हैं। उदाहरण के लिये ऐसे ईंधन में 'परक्लोरेट' मिला सकते हैं जो ऑक्सीजन मुहैय्या करता है। ऐसे राकेट में ईंधन को एक बार प्रज्वलित करा देने पर उसे बीच में न तो रोका जा सकता है, और न ही प्रज्वलन की तेज़ी को घटा-बढ़ा सकते हैं। प्रायः युद्ध-स्थल पर ऐसे ही राकेट प्रक्षेपणास्त्र के रूप में काम में लाये जाते हैं।

द्रव ईंधन वाले राकेट के धड़ के अन्दर द्रव रूप में ईंधन (जैसे पेट्रोल) एक अलग पीपे में रखा जाता है तथा द्रव-ऑक्सीजन या अन्य कोई द्रव ऑक्सीकारक एक दूसरे पीपे में। प्रज्वलन कक्ष इन दोनों से अलग रहता है। द्रव ईंधन एवं द्रव-ऑक्सीजन की नपी-तुली मात्राएँ प्रज्वलन कक्ष में प्रविष्ट करायी जाती हैं जहाँ विस्फोट के फलस्वरूप गैसें उत्पन्न होती हैं। प्रज्वलन कक्ष की शक्ल एक विशेष नमूने पर बनी होती है ताकि गैसें तीव्रतम वेग से बाहर निकलें। द्रव ईंधन वाले राकेट में यह सुविधा रहती है कि पम्प द्वारा ईंधन की कम या अधिक मात्रा को प्रज्वलन कक्ष पर पहुँचा कर राकेट के वेग पर पूर्ण नियंत्रण हासिल कर सकते हैं।

राकेट के बारे में निम्नलिखित तथ्य उल्लेखनीय है :

(1) यदि प्रतिक्रिया का बल समान रूप से मिलता है; तो ज्यों-ज्यों ईंधन समाप्त होता रहेगा त्यों-त्यों राकेट की वेगवृद्धि दर बढ़ती जायेगी।

(2) राकेट का अन्तिम वेग का समानुपाती होगा, अर्थात् बाहर निकलने वाली गैस का वेग यदि दो गुना कर दें तो राकेट का अन्तिम वेग भी दो गुना हो जायेगा।

(3) ईंधन का वज़न यदि खाली राकेट के भार का पौने दो गुना हो, तो कुल ईंधन की खपत हो जाने पर राकेट का अन्तिम वेग गैस के बाहर निकलने के बराबर होगा। इसी प्रकार यदि ईंधन का कुल वज़न खाली राकेट के भार का साढ़े छः गुना हो, तो उसका अन्तिम वेग गैस के निष्कासन वेग का दो गुना हो जायगा।

आधुनिक राकेट से निकलने वाली गैस का वेग लगभग 8000 (आठ हज़ार) किलोमीटर प्रति घन्टा होता है। अतः खाली राकेट का वज़न यदि एक टन हो तो ईंधन सहित इसका भार पौने तीन टन करने पर ही इसका अन्तिम वेग 8000 किलोमीटर प्रति घन्टा हो पाएगा। यदि अन्तिम वेग 16000 किलोमीटर प्रति घन्टा करना होगा तो उस दशा में ईंधन सहित राकेट का भार $7\frac{1}{2}$ टन करना होगा।

यही कारण है कि आधुनिक राकेट वज़न में भारी भरकम होते हैं। राकेट के अन्तिम वेग को और अधिक बढ़ाने के लिये राकेट का कुल भार बहुत अधिक बढ़ाना पड़ेगा और तब पृथ्वी के आकर्षण बल के कारण राकेट भूमि छोड़कर ऊपर उठ भी नहीं पाएगा। इस कठिनाई को हल करने के प्रयास में बहुखण्डी राकेटों का निर्माण किया गया है।

बहुखण्डी राकेट

बात इस प्रकार है; मान लीजिए कि भूमि पर खड़े होकर आप सामने की दिशा में गेंद 40 किलोमीटर प्रति घन्टे की चाल से फेंकते हैं। फिर इसके बाद आप किसी मोटरकार पर सवार हो जायें जो सामने की दिशा में 40 किलोमीटर प्रति घन्टे की चाल से गति कर रही हो तो सामने उतने ही जोर लगाकर उस गेंद को फेंके तो भूमि के लिहाज से अब गेंद का वेग 80 किलोमीटर प्रति घन्टा हो जायेगा।

द्विखण्डी तथा त्रिखण्डी राकेट इसी सिद्धान्त पर बनाए गए हैं। द्विखण्डी संयोजन में दो राकेट एक दूसरे के ऊपर लगाए जाते हैं—नीचे वाली प्रथम खंड का राकेट होता है, और इसके ऊपर लगा राकेट द्वितीय खण्ड कहलाता है। प्रथम खण्ड का राकेट पहले दागा जाता है, तो यह समूचे ढाँचे सहित तेज़ी से ऊपर चढ़ता है। जब इसका ईंधन पूरा जल चुकता है, तो उस वक्त यह अपना अधिकतम वेग प्राप्त कर लेता है। ठीक इसी क्षण ऊपर का द्वितीय खण्ड का राकेट दगता है तो यह प्रथम खण्ड की गोद छोड़कर ऊपर उठ जाता है, और भूमि के लिहाज से इस द्वितीय खण्ड के

राकेट का वेग दो गुना हो जाता है—इसी क्षण प्रथम खण्ड का राकेट अलग होकर कुछ समय उपरान्त नीचे गिर जाता है।

त्रिखण्डी राकेट में भी इसी प्रकार प्रथम और द्वितीय तथा तृतीय खण्ड के राकेट बारी-बारी से दगते हैं, जिसके परिणामस्वरूप तृतीय खण्ड के राकेट का वेग अत्यधिक बढ़ जाता है।
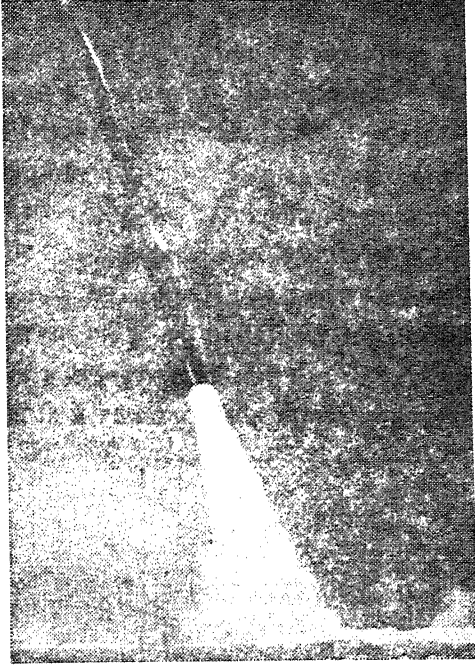
भारत में बना द्विखण्डी राकेट

ये बहुखण्डी राकेट भाँति-भाँति के इलेक्ट्रॉनिक यन्त्रों से लैस रहते हैं, जिनकी सहायता से स्वयं चालित युक्तियों द्वारा सही वक्त पर विभिन्न खण्ड के राकेट अपने आप दगते चले जाते हैं। इसी किस्म के एक बहुखण्डी राकेट ल्यूनिक द्वितीय का निर्माण करके रूस ने सितम्बर 1959 में उसे चन्द्रमा को लक्ष्य करके छोड़ा था। यह राकेट अपनी 34 घन्टे की उड़ान के उपरान्त लगभग 4 लाख किलोमीटर के वक्र मार्ग का अनुसरण करके चन्द्रतल के पूर्वनिश्चित स्थल पर गिरा। स्मरण रहे कि चन्द्रमा पृथ्वी से लगभग 3 लाख 85 हजार किलोमीटर की दूरी पर उसकी परिक्रमा करता है। अतः चन्द्रमा तक पहुँचने के लिये राकेट का दागना इंजीनियरी की एक अत्यधिक जटिल समस्या थी—मानों आकाश में उड़ती हुई चिड़िया पर निशाना हो। इस अभियान के लिये आवश्यक था कि राकेट के दागने की दिशा, उसका अधिकतम वेग तथा उसे छोड़े जाने का समय आदि निर्धारित करने के पूर्व सूर्य के लिहाज़ से चन्द्रमा की स्थिति आदि की एकदम सही गणना कर ली जाय। राकेट की गति की दिशा में या इसके वेग में थोड़ी भी गलती हुई तो राकेट चन्द्रमा के भ्रमण पथ पर ठीक उस क्षण न पहुँच पाएगा जबकि चन्द्रमा वहाँ उपस्थित हो।

रूस के इस सफल अभियान के उपरान्त तो इस क्षेत्र में तेजी के साथ प्रगति हुई—1959 में अमेरिकी राकेट कक्ष में बैठकर तीन अन्तरिक्ष यात्री, **नील आर्मस्ट्रांग, एल्ड्रिन,** तथा **कालिंस** चन्द्रमा के आकाश में पहुँचे और वहाँ **नील आर्मस्ट्रांग** तथा **एल्ड्रिन** अपने यान से चन्द्रतल पर उतरे भी। ये लोग सकुशल धरती पर वापस भी लौट आए। मानव इतिहास में यह पहला अवसर था जब मानव के कदम चन्द्रतल पर पड़े। चन्दामामा अब दूर के न रहे।

अन्तरिक्ष वैज्ञानिकों ने तो अब इतने शक्तिशाली राकेट भी बना लिये हैं जो सौरमण्डल के छोर के ग्रहों तक की टोह लेने में समक्ष हैं। आश्चर्य नहीं कि नये प्रकार के ईंधन की खोज करके या विद्युत् आयनों से चालित राकेटों का आविष्कार करके हम अत्यधिक तेज रफ्तार से उड़ने वाले राकेट तैय्यार करके 21 वीं शताब्दी में ही शुक्र, मंगल या वृहस्पति आदि ग्रहों पर 'मानव बस्तियाँ' स्थापित कर लें। □□

सर पीटर मेडावर का निधन

'नोबेल पुरस्कार' विजेता **सर पीटर मेडावर** का 3 अक्टूबर 1987 को लंदन के 'रॉयल फ्री हॉस्पिटल' में सम्मूर्च्छा की स्थिति में स्वर्गवास हो गया। त्वचा के आरोपण (Graft) पर किये गये शोधकार्य पर आपको 1960 में 'नोबेल पुरस्कार' प्रदान किया गया था।

रेडीय कृषि विज्ञान

अम्बरीष तिवारी

रेडियोधर्मिता का प्रयोग भौतिकी, अन्तरिक्ष विज्ञान एवं शस्त्र उद्योग में नया नहीं है। चिकित्सा एवं ओषधि के क्षेत्रों को भी, विकिरणों के प्रयोग ने नयी दिशायें दी हैं। यही नहीं, कई अन्य क्षेत्रों में भी इनका सफल प्रयोग करके मनोवांछित परिणाम प्राप्त किये गये हैं। खाद्य विज्ञान एवं कृषि के क्षेत्र में भी रेडियोधर्मिता एवं विकिरणों के सफल प्रयोग किये जा रहे हैं। नयी वैज्ञानिक शब्दावली में 'नाभिकीय अभिक्रियाओं के कृषि पर प्रभाव' सम्बन्धी अध्ययन को 'रेडीय कृषि विज्ञान' की संज्ञा दी गई है।

'भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद', दिल्ली ने रेडियोधर्मिता एवं विकिरणों के प्रयोग से फसलों की उपज में वृद्धि करने के उद्देश्य से, कई अनुसंधान परियोजनायें प्रारम्भ की हैं। इन अनुसंधानों से उत्साहवर्धक परिणाम प्राप्त हुए और यह ज्ञात हुआ कि कृषि के क्षेत्र में, संकर एवं नवीन बीजों को विकसित करने में विकिरण का प्रयोग महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। ऐसे परिणामों से प्रोत्साहित होकर नाभिकीय अभिक्रियाओं का भी कृषि पर प्रभाव देखने के लिये कुछ अनुसंधान केन्द्र स्थापित किये गये हैं। इन केन्द्रों में, नाभिकीय विज्ञान के प्रयोग से फसलों के उत्पादन में हुई वृद्धि एवं फसलों पर हुए अस्थायी एवं स्थायी आनुवांशिक कुप्रभावों का भी अध्ययन किया जाता है।

नाभिकीय अभिक्रियाओं के प्रयोग से बीजों में जीन सम्बन्धी परिवर्तन करके एक ओर तो बीजों की फसल एवं उपज उत्पादन-क्षमता में वृद्धि की जा रही है वहीं दूसरी इनमें कीट तथा व्याधियों के प्रति प्रतिरोधक क्षमता उत्पन्न करके, फसलों को सर्वाधिक हानि पहुँचाने वाले कीट तथा व्याधियों पर नियन्त्रण करने के प्रयास चल रहे हैं। इस प्रकार फसल संरक्षण के क्षेत्र में नाभिकीय अभिक्रियाओं एवं विकिरणों का योगदान अत्यन्त प्रभावशाली रूप में सामने आया है।

सोवियत संघ तथा संयुक्त राज्य अमेरिका ने भी नाभिकीय अभिक्रियाओं का कृषि के क्षेत्र में उपयोग बड़े पैमाने पर प्रारम्भ कर दिया है। इन देशों में विकिरणों तथा रेडियोधर्मिता का प्रयोग न सिर्फ अधिक उपज देने वाले तथा कीट एवं व्याधियों के प्रति प्रतिरोधकता रखने वाले बीजों के उत्पादन में हो रहा है बल्कि विकिरणों का प्रयोग सीधा कीटों पर किया जा रहा है तथा रेडियोधर्मी पदार्थों को कवकनाशी के रूप में भी प्रयुक्त किया जा रहा है।

विकिरणों द्वारा कीटों का नियन्त्रण करने के लिये सम्बन्धी कीट के नरों को एकत्र करके उनपर विकिरणों का प्रयोग कर देते हैं। फलस्वरूप विकिरण उपचारित कीटों में नपुंसकता उत्पन्न हो जाती है। इन नपुंसक कीटों को खेतों में छोड़ दिया जाता है। ये

> पश्चिम जर्मनी के ज्यूलिक नगर में लगे परमाणु संयंत्र का उपयोग ऊर्जा उत्पादन के साथ-साथ नयी कृषि प्रणालियाँ विकसित करने में भी हो रहा है। ज्यूलिक नगर के समीपस्थ क्षेत्रों में फलों के बाग हैं जो कि पूरे योरप में विख्यात हैं। इन बागों की उपस्थिति ने परमाण्विक अनुसंधान कार्यों में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

शोध छात्र, शीलाधर इन्सटीट्यूट ऑव स्वायल साइंस, इलाहाबाद

कीट अपने निश्चित जीवन-चक्र में अंडे या बच्चों के उत्पादन में मादा कीट का सहयोग नहीं कर पाते, परिणामस्वरूप प्रजनन द्वारा इनकी संख्या में वृद्धि नहीं हो पाती। अगले एक या दो जीवन-चक्रों में इन कीटों की संख्या या तो नगण्य होती है अथवा इनका पूरा वंश ही समाप्त हो जाता है।

व्याधियों के नियन्त्रण के लिये कवकनाशियों अथवा अन्य व्याधिनाशियों में रेडियोधर्मी पदार्थों या धातुओं का सम्मिश्रण किया जाता है। यह सम्मिश्रण व्याधियों के नियन्त्रण में साधारण कवकनाशियों की अपेक्षा अधिक लाभप्रद सिद्ध हो रहा है। किन्तु ये मिश्रित कवकनाशी पौधों तथा मृदा में अन्य कवकनाशियों की तुलना में अधिक समय तक स्थायी रहते हैं। इस प्रकार पर्यावरण प्रदूषण (मुख्य रूप से मृदा प्रदूषण) की दृष्टि से हानिकारक सिद्ध हुए हैं। इन मिश्रित कवकनाशियों का प्रयोग हमारे देश में भी प्रायोगिक रूप से किया गया है। नाभिकीय अनुसंधान केन्द्र, बम्बई में हुए प्रयोगों ने यह सिद्ध कर दिया है कि रेडियोधर्मी पदार्थों या धातुओं की उपस्थिति व्याधियों के नियन्त्रण में कवकनाशी को अपेक्षाकृत अधिक कारगर बनाती है। स्थायित्व संबंधी प्रयोगों से यह ज्ञात हुआ कि भारतीय जलवायु तथा मृदाओं में ये कवकनाशी अधिक समय तक स्थायी नहीं रह पाते तथा मृदा में पाये जाने वाले जीवाणु एवं अन्य सूक्ष्म-जीव इनको शीघ्र ही विघटित कर देते हैं।

इस प्रकार नाभिकीय अभिक्रियाओं के प्रयोग से कृषि के क्षेत्र में नयी क्रान्ति आ जाने की आशा है। भारतीय परिवेश में, इनका प्रयोग उत्तम किस्म के तथा अधिक उपज क्षमता वाले बीजों के उत्पादन में तो लाभकर सिद्ध हो रहा है, किन्तु कीट-नियन्त्रण के लिये विकिरणों का प्रयोग अधिक लाभकर नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि भारत जैसे विकासशील देश के लिये यह आर्थिक दृष्टि से बहुत खर्चीला है। व्याधि-नियंत्रण के क्षेत्र में रेडियोधर्मी पदार्थों का उपयोग व्याधि-नियन्त्रण तथा पर्यावरणीय दोनों ही दृष्टिकोणों से लाभप्रद सिद्ध हो रहा है। रेडियोधर्मी पदार्थों से विकसित **^{35}S लेबेल्ड थिरैम** तथा **जिरैम** आदि कवकनाशी अत्यधिक लोकप्रिय हो रहे हैं। किन्तु अभी देखना है कि भविष्य में यह विज्ञान कृषि को कितना लाभान्वित करता है।□□

प्रदूषण रोकने के लिए गोमती एक्शन प्लान

लखनऊ के बहुचर्चित गोमती प्रदूषण कांड की जाँच रिपोर्ट में गोमती को प्रदूषण रहित करने के लिए 'गोमती एक्शन कमेटी' की संस्तुति की गई है। इस प्लान के तहत मुख्यतः लखनऊ में गोमती में मिलने वाले नालों की सफाई करने का सुझाव दिया गया है। राजधानी में ऐसे 33 नाले हैं। 'गोमती एक्शन प्लान' की वृहद योजना बनाने पर राज्य सरकार विचार कर रही है।

ज्ञातव्य है कि 30 सितम्बर 1986 को गोमती में अचानक प्रदूषण के कारण हजारों मछलियाँ मरी पायी गई थीं। आदलत ने इसके लिए दो उद्योगों—मोहन मीकिन्स (लखनऊ) तथा अवध शुगर मिल (हरगाँव) को जिम्मेवार ठहराया था और उनके द्वारा औद्योगिक 'कचरा' नदी में बहाने पर रोक लगा दी थी।

नदी में मिलने वाले 33 में से कुछ नाले अधिक प्रदूषण फैलाने वाले बताये गए हैं। लखनऊ से दूर होने के कारण अवध शुगर मिल को बाद में दोषी नहीं पाया गया हालांकि अदालत द्वारा दोनों उद्योगों में शुद्धिकरण संयंत्र न लगाने की प्रक्रिया के निरीक्षण के लिए 'उत्तर प्रदेश प्रदूषण नियन्त्रण बोर्ड' को सलाह दी गयी है।

रिपोर्ट में 'लखनऊ जल संस्थान' व 'उत्तर प्रदेश जल प्रदूषण नियन्त्रण बोर्ड' द्वारा आपूर्ति किए जाने वाले पेयजल की उचित जाँच के सुझाव दिए गये हैं। इसके अलावा अचनाक होने वाले प्रदूषण से निबटने के लिए आकस्मिक योजना तैयार करने का भी सुझाव दिया गया है तथा पानी के नमूने की जाँच दिन में दो बार करने की भी संस्तुति की गयी है।

रिपोर्ट में कहा गया है कि दोनों उद्योगों में शुद्धिकरण संयन्त्र लगाने के लिए और समय न दिया जाये। ज्ञातव्य है कि उच्च न्यायालय ने इसके लिए 31 दिसम्बर 1987 तक का समय दिया है।

लुई द ब्रॉगली

डॉ० महेन्द्र सिंह वर्मा

क्वाण्टम यांत्रिकी के क्षेत्र में चमकने वाले सितारों में से अन्तिम सितारा अर्थात् राजकुमार **लुई-विक्टर द ब्रॉगली** 19 मार्च 1987 को अस्त हो गया। 1923 में उनके द्वारा दिए गए पदार्थ-तरंग के सह-अस्तित्व के सिद्धान्त के आधार पर **श्रोडिंगर** तथा **डिरैक** आदि ने तरंग यांत्रिकी को विकसित किया। इस प्रकार आज तक व्याप्त सारी नयी यांत्रिकी के जन्मदाता **द ब्रॉगली** के विचार थे। साधारणतः आज हम उसे **क्वाण्टम यांत्रिकी** के नाम से जानते हैं। इसी कार्य के पारितोषिक स्वरूप 1929 में द **ब्रॉगली** को **'नोबेल पुरस्कार'** से सम्मानित किया गया।

वे परिस्थितियाँ जो उन्हें इन मूलभूत विचारों तक ले गईं, अत्यन्त रोचक हैं। राजकुमार **लुई-विक्टर द ब्रॉगली** का जन्म 15 अगस्त 1892 में दिएप्प, फ्रांस में हुआ था। उनकी स्कूली पढ़ाई पेरिस में हुई। पहले कुछ समय के लिए लुई ने इतिहास पढ़ा, लेकिन 1911 में जब उनके बड़े भाई **मौरिस द ब्रॉगली** ने उनको प्रथम 'सोल्वे गोष्ठी' की पुस्तक दिखाई तो उन्होंने विज्ञान, विशेषतः **सैद्धांतिक भौतिकी**, पढ़ना प्रारम्भ कर दिया। वास्तव में उनके बड़े भाई स्वयं एक भौतिकीविद् थे। उनकी अपनी प्रयोगशाला थी, जिसमें वे 'एक्स-किरणों' पर विशिष्ट प्रयोग किया करते थे। 'सोल्वे गोष्ठी' के वे स्वयं वैज्ञानिक सचिव थे।

1913 में लुई ने विज्ञान में डिग्री भी प्राप्त की, किन्तु 1914 में प्रथम विश्व युद्ध के छिड़ जाने के कारण उनको सेना में जाना पड़ा और युद्ध के दौरान अपना अध्ययन स्थगित रखना पड़ा। प्रथम विश्व युद्ध के बाद उन्होंने अपना अध्ययन फिर से प्रारम्भ कर दिया। 1923 में उन्होंने तीन शोधपत्र 'कोंत रांदू द लकादमी दे सियांस' (*Comptes Rendus de l'Academy des Science*) में प्रकाशित किए।

ये तीनों ही शोधपत्र आधारभूत हैं। इनमें प्रथम शोधपत्र सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इसमें द ब्रॉगली ने स्वतन्त्र कण का तरंग के साथ सम्बन्ध दिखाया है और अपेक्षिकीय तर्कों के आधार पर इलेक्ट्रॉन के तरंग दैर्ध्य का मान निकाला है। द ब्रॉगली का प्रसिद्ध सूत्र $\lambda = h/p$ (जहाँ λ तरंग दैर्ध्य, h **प्लांक का स्थिरांक** तथा p संवेग है) इसी शोधपत्र में प्रतिपादित किया गया है।

इस प्रकार 1923 के अन्त तक लुई भौतिकी के सभी प्रमुख विचारों और अवधारणाओं पर अधिकार कर चुके थे। उन्होंने 1924 में अपनी पी-एच० डी० (*Ph. D.*) थीसिस में इन विचारों को विक-किया। यह थीसिस **पॉल लांगेविन** द्वारा **आइंस्टाइन** को भेजी गई थी, जिन्होंने इसकी मूलभूत महत्ता को तुरन्त समझ लिया। आइंस्टाइन ने वैज्ञानिक समुदाय का ध्यान इसकी ओर खींचा तथा इसके विचारों का उपयोग कर 'बोस-आइंस्टाइन सांख्यिकी' का विकास किया।

1923 में प्रारम्भ की गई खोज द ब्रॉगली को जीवन भर परेशा करती रही। यद्यपि क्वाण्टम यांत्रिकी बहुत अच्छी प्रकार कार्य करती है, फिर भी वे कहीं गहरे में विचारमग्न रहे और महसूस करते रहे कि न तो वे स्वयं और न कोई अन्य ही समझ पाया कि प्रकृति के क्वाण्टम यांत्रिकी के रूप में वर्णन का क्या अर्थ है। एक वस्तु को एक बार हम कण मानें और दूसरी बार उसी को तरंग मानें, इसका क्या अर्थ है? इस समस्या को समझने और समझाने के उन्होंने अनेक प्रकार से अनेक प्रयास किए, किन्तु इसकी व्याख्याओं से वे स्वयं कभी भी सन्तुष्ट नहीं हुए।

रसायन अध्ययशाला, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

लुई द ब्रॉगली के कार्य की झलक उनके उस व्याख्यान में मिलती है जिसे उन्होंने 12 दिसम्बर 1929 को स्टाकहोम में 'नोवेल पुरस्कार' प्राप्त करने के अवसर पर दिया था। व्याख्यान का शीर्षक था—**'इलेक्ट्रॉन का तरंगी रूप'**। ब्रॉगली ने यह व्याख्यान फ्रांसीसी भाषा में दिया था। प्रस्तुत है उसी व्याख्यान का एक अंश —

"1920 में, जब मैंने फिर से अपना अध्ययन प्रारम्भ किया, तब भौतिकीविदों के सामने अनेक समस्याएँ थीं। बहुत समय तक भौतिकीविद् इस बात से चकित थे कि क्या वाकई तेज़ी से चलने वाले प्रकाश में कण होते हैं जो इतनी अधिक तेज़ी से चलते हैं। 18वीं सदी में **न्यूटन** ने इसी विचार को पुनर्जीवित किया। **यंग** द्वारा व्यतिकरण की घटना की खोज और **फ्रेनल** के आश्चर्यजनक कार्य के बाद प्रकाश की कणीय थिअरी त्याग दी गई और तरंग थिअरी को संसार भर में अपना लिया गया, परन्तु परमाण्विक थिअरियों ने, जिन्हें प्रकाशिकी से बाहर कर दिया गया था, रसायनशास्त्र में ही नहीं, वरन् द्रव्य की भौतिकी में भी जड़ जमाना प्रारम्भ कर दिया था। इन थिअरियों से ठोस, द्रव और गैसों के अनेक गुणधर्मों की व्याख्या सम्भव थी। विशेषतः उनका उपयोग गैसों की गतिक थिअरियों में हुआ। विद्युत् की परमाण्विक संरचना के पक्ष में भी निश्चयात्मक प्रमाण मिले। **सर जे० जे० थॉमसन** ने विद्युत् के कण अर्थात् इलेक्ट्रॉन की खोज की जिसका **लॉरेंज** ने अपनी इलेक्ट्रॉन थिअरी में अत्यधिक उपयोग किया।

30 वर्ष पूर्व भौतिकी दो भागों में बँटी थी—(1) **द्रव्य की भौतिकी,** जो कण और परमाणु की धारणा पर टिकी थी। वे कण चिरसम्मत न्यूटोनियन नियमों का पालन करते थे। (2) **विकिरण की भौतिकी** जो एक परिकल्पनात्मक सतत् माध्यम में तरंगों के संचरण के विचार पर टिकी थी। यह माध्यम था प्रदीप्त तथा वैद्युत्-चुम्बकीय ईथर। किन्तु भौतिकी के ये दोनों निकाय एक दूसरे से निर्लिप्त न रह सके। द्रव्य और विकिरण के बीच ऊर्जा के विनिमय की थिअरी के सूत्रीकरण के रूप में उनको मिलना पड़ा, किन्तु इस मिलन से उलझनों के सिवा कुछ भी हाथ न लगा। बाद में सतत् विकिरण की बजाय **प्लांक** ने असतत् विकिरणों की वकालत की और सिद्ध कर दिखाया कि v आवृत्ति वाले क्वाण्टम की ऊर्जा hv होगी, जहाँ पर h एक सर्वमान्य नियतांक है, जिसे **प्लांक** का नियतांक कहते हैं।

प्लांक की सफलता के बड़े भयंकर परिणाम हुए। यदि प्रकाश का उत्सर्जन क्वाण्टमों के रूप में होता है तो उत्सर्जन के बाद भी उनकी संरचना कणीय होनी चाहिए। इससे हम वापिस प्रकाश की कणीय थिअरी पर पहुँच जाते हैं। दूसरी तरफ यह समझना बहुत आसान है कि यदि प्रकाश के कण चिरसम्मत सिद्धान्त के नियमों को मानते हैं तो कृष्णिका विकिरण के नियम सही नहीं रहेंगे। अतएव यह मानना चाहिए कि पुरातन गतिकी, **आइंस्टाइन** के 'सापेक्षता सिद्धान्त' द्वारा संशोधित किये जाने पर भी अति लघु पैमाने की गति पर लागू नहीं हो सकती।

प्रकाश-विद्युत् प्रभाव की खोज द्वारा यह पुष्टि हो जाती है कि विकिरण में कण होते हैं। यदि प्रकाश की किरण या क्षय-किरण किसी धातु के टुकड़े पर पड़ती है तो उसमें से उच्चगति के इलेक्ट्रॉन निकलते हैं। इन इलेक्ट्रॉनों की गतिज ऊर्जा आपाती किरण की **आवृत्ति** के साथ बढ़ती जाती है, किन्तु आपाती विकिरण की **तीव्रता** से अप्रभावित रहती है। इसकी व्याख्या यह मानकर की जा सकती है कि विकिरण का क्वाण्टम अपनी सारी ऊर्जा, जो hv के बराबर होती है, बाहर जाने वाले इलेक्ट्रॉन को दे देता है। इस प्रकार हम **आइंस्टाइन** के प्रकाश क्वाण्टम तथा उसके पूर्व के **न्यूटन** के प्रकाश कण के पास लौट आते हैं।

इन सबके बावजूद तरंग थिअरी को व्यतिकरण और विवर्तन की व्याख्या करने के लिए अपनाना आवश्यक है। इस प्रकार अभी तक यह स्पष्ट नहीं हो पाया है कि प्रकाश की तरंग थिअरी और कण थिअरी में क्या सम्बन्ध है।

अतएव यह आवश्यक है कि प्रकाश की दो परस्पर विरोधी थिअरियों को मानें। साथ ही यह समझना भी असम्भव है कि परमाणु में इलेक्ट्रॉन के वास्तविक पथ कुछ विशेष ही क्यों होते हैं जबकि चिरसम्मत सिद्धान्त के अनुसार उनकी संख्या अनन्त होनी चाहिए।

जब मैं इन समस्याओं पर विचार करने लगा तो मेरा ध्यान मुख्यतय: दो बातों ने अपनी ओर खींचा। एक ओर तो प्रकाश की क्वाण्टम थियरी को सही नहीं माना जा सकता क्योंकि यह प्रकाश के कण की ऊर्जा को समीकरण $W = h\nu$ से परिभाषित करती है। पूर्णत: कणीय सिद्धान्त में कोई ऐसी चीज नहीं होती जिसके आधार पर हम आवृत्ति को परिभाषित कर सकें। इसी कारण प्रकाश के केस में हम 'कण तथा नियतकालिकता' (Periodicity) के विचार को एक साथ मानने को मजबूर हैं।

दूसरी तरफ, परमाणु में इलेक्ट्रॉनों की स्थिर गति के निर्धारण में पूर्णांकों का सहारा लेना पड़ता है। इस समय तक भौतिकी में पूर्णांकों से सम्बन्ध रखने वाली घटनाएँ सिर्फ व्यतिकरण और कम्पन की प्रसामान्य विधाएँ हैं। इसी तथ्य के कारण मुझे यह विचार आया कि इलेक्ट्रॉनों को भी सिर्फ साधारण कण नहीं माना जाना चाहिए, अपितु उनको भी 'नियतकालिकता' से सम्बद्ध होना चाहिए।

इस प्रकार मुझे अपना निम्नांकित विचार मिला, जिसके अनुसार मैंने अपने निरीक्षण प्रारम्भ किए—सामान्यत: विकिरण और विशेषत: प्रकाश के विकिरण की तरह ही द्रव्य के केस में भी यह आवश्यक है कि एक साथ तरंग और कण के विचार को माना जाय। दूसरे शब्दों में, दोनों ही स्थितियों (केसों) में कण के साथ-साथ तरंग के अस्तित्व को भी माना जाना चाहिए। बोर के अनुसार वे सच्चाई के दो संपूरक पहलू हैं और फलस्वरूप यह सम्भव होना चाहिए कि कण की गति और उसकी सहचरी तरंग के संचरण में एक निश्चित सादृश्य हो। इस सादृश्य के अस्तित्व को स्थापित करना ही मेरा पहला उद्देश्य था।

इस विचार के साथ मैंने सरलतम केस लेकर अपना कार्य प्रारम्भ किया। सभी बाहरी प्रभावों से दूर एक अकेला कण लिया। इस कण की सहचरी तरंग प्राप्त करना ही उद्देश्य था.............." [और $h = h/p$ सूत्र स्थापित किया]।

अन्त में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि द्रव्य अथवा प्रकाश के गुणों का वर्णन करने के लिए कण और तरंग को साथ-साथ मानना पड़ेगा। अब हम इलेक्ट्रॉन को सिर्फ एक कण नहीं मान सकते। इसकी सहचारी तरंग भी होनी चाहिए। यह तरंग एक कल्पना मात्र नहीं है। इसका तरंग दैर्घ्य मापा जा सकता है और इसके व्यतिकरणों की अग्रिम गणना की जा सकती है। वास्तव में, इस प्रकार वास्तविक खोज होने से पहले ही उनकी भविष्यवाणी की जा चुकी थी। तरंग और कण की प्रकृति में द्विविधता का यह विचार ही थियरेटिकल भौतिकी के समस्त आधुनिक विकास का आधार है और ऐसा लगता है कि निकट भविष्य के विकास का आधार भी यही होगा।"

लुई द ब्रॉगली एक शिष्ट तथा अप्रभाव्य व्यक्तित्व थे। वे एक अत्यन्त ही कुलीन परिवार से थे। उनको अपने भाई से ड्यूक का पद उत्तराधिकार में मिला था, किन्तु उनकी रुचि पूर्णत: वैज्ञानिक ज्ञान के खोज की ओर थी। उन्हें जन्म से ही उच्चपद और प्रतिष्ठा प्राप्त थी, पर उनका जीवन अत्यन्त सरल था, लगभग संन्यासियों जैसा। उन्होंने अनेक प्रख्यात और लोकप्रिय पुस्तकें लिखीं जिनमें बीसवीं सदी की भौतिकी की अनेक समस्याएँ उठाई गई थीं। वैज्ञानिक समुदाय उनका चिर ऋणी रहेगा।□□

रासायनिक खाद से उगाई चीजें जानलेवा

हृदय रोगों के ख्याति प्राप्त विशेषज्ञ **डॉ० के० एल० चोपड़ा** के अनुसार रासायनिक खाद से उगाई गई खाने की वस्तुओं और रसायन की सहायता से साफ़ किया गया पानी हृदय के रोगियों—विशेष रूप से गाढ़े रक्त के रोगियों—के लिए हद से अधिक हानिकर होता है।

वन्य जीवों को संरक्षण चाहिए | कु० अर्पिता

भारत में कभी उत्तर में हिमालय से लेकर बीच में घास के मैदानों और दक्षिण के लहलहाते पठारों तक सभी जगहें वन्य जीवों से भरी हुई थीं। पर आज स्थिति इसके सर्वथा विपरीत है। विगत तीस-चालीस वर्षों में भारतीय वन्य जीवन संपदा में लगातार कमी हुई हैं। एक-एक करके अनेक वन्य जीव लुप्त होते जा रहे हैं। जंगल काटे गए, जंगली जमीनों पर खेती की जाने लगी, जंगली जानवर चुन-चुन कर शिकारियों द्वारा मारे जाते रहे, उन्हें अपना मूल निवास छोड़ने के लिए विवश होना पड़ा। वास्तविकता तो यह है कि भारत में वन्य जीव अब मात्र पाँच दर्जन राष्ट्रीय उद्यानों और लगभग ढाई सौ अभयारण्यों में ही सिमटे रहने को मजबूर हो गये हैं। क्रूर मनुष्य ने उनका घर छीन लिया है। और तो और अभयारण्यों में भी उनका जीवन सुरक्षित नहीं रह गया है। धीरे-धीरे अभयारण्य विवादों के घेरे में आते जा रहे हैं।

एक अनुमान के अनुसार आज भारत में वन्यजीवों के निवास के लिए मात्र चार प्रतिशत क्षेत्र ही उपलब्ध हैं। और यही कारण है कि एक के बाद एक वन्यजीव दुर्लभ होते, जा रहे हैं। 1952 में सरकारी सूची में 13 दुर्लभ प्रजातियाँ थीं, 1972 में इसमें 41 स्तनपायी प्रजातियाँ, 2 रेंगनेवाली (सरीसृप) और 18 पक्षी प्रजातियों को शामिल करना पड़ा। इधर परिस्थिति और विषम हो चली है। नवम्बर 1986 में लुप्त स्तनपायी प्रजातियों की संख्या 41 से बढ़कर 70, सरीसृपों की 2 से 16 और पक्षियों की 18 से 38 हो गई है और अभी तक तो हमने ऐसा कुछ नहीं किया है कि यह सूची बढ़ेगी नहीं।

काले धब्बों और मुलायम चमड़ी वाले खूबसूरत सफेद तेंदुये कभी हिमालय के उत्तरी भागों में बहुतायत से पाये जाते थे पर आज इनकी संख्या घटकर 300 ही रह गई है और यदि यही स्थिति रही तो इस शती के अंत तक सफेद तेंदुआ भी उसी तरह विलुप्त हो जायेगा जैसे 1948 में भारतीय चीता लुप्त हो गया था। हिमालय के निचले क्षेत्रों में पाया जाने वाला कस्तूरी मृग भी अपने सुगंधित कस्तूरी के कारण मारा जा रहा है। स्वादिष्ट मांस के लिए नेपाली बकरी, काले मुँह वाले नीलगिरि लंगूर, चमड़ी के लिए भारतीय अजगर, लोमड़ी, गोल्डन लंगूर, जंगली साँड़, सफेद बिल्ली, भारतीय डॉल्फिन, रीछ, काली गर्दन वाले सारस, आगरा मॉनीटर जाति की छिपकली और तीतरों की कई किस्में ख़तरे के घेरे में आ चुकी हैं।

मणिपुर के थामिन नस्ल के हिरण, गुवाहाटी के (कांजीरंगा) एक सींग वाले गैंडे, गिरिवन की ऊँची पहाड़ियों के एशियाई बबर शेर, पूर्वोत्तर राज्यों के हाथी—सभी अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रहे हैं। जंगल का राजा बाघ कभी पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में दहाड़ता था पर मनुष्य द्वारा इसके शिकार के कारण 1970 तक इनकी संख्या 1500 ही रह गई जो अब 15 बाघ परियोजनाओं के कारण बढ़कर 1800 हो पाई है। वैसे यह निर्विवाद सत्य है की वन्य जीवों की यह बुरी हालत आदमी की बढ़ती जनसंख्या के कारण हुई है। इस सदी के अंत तक जब आबादी एक अरब हो जायेगी, तब वन्य जीवों का क्या होगा? वे कहाँ जायेंगे? क्या इससे पारिस्थितिक तन्त्र छिन्न-भिन्न नहीं हो जायेगा? क्या प्राकृतिक वास का नाश हम सबको नष्ट नहीं कर देगा? इन्हीं प्रश्नों को लेकर आज पर्यावरणविद् भी चिंतित हैं। इसलिए यदि हमें अपने अस्तित्व को बचाये रखना है तो निश्चित रूप से हमें वन्य जीवों के संरक्षण, परिवार नियोजन कार्यक्रमों द्वारा जनसंख्या पर नियंत्रण, गरीबी हटाने, पशुओं के लिए वैकल्पिक चारे का प्रबन्ध, पशुपालन के तरीकों में सुधार पर विशेष बल देना होगा। इसके साथ ही अभयारण्यों के चारों ओर वन लगाकर ग्रामवासियों की ऊर्जा की आवश्यकता पूरी करने पर विशेष ध्यान देना होगा जिससे वे हमारी वन सम्पदा को नष्ट न करें।□□

विज्ञान समाचार | संकलन : कु० किरन द्विवेदी एवं कु० अर्पिता

चन्द्रमा और मानव का आक्रामक स्वभाव

'पटना मेडिकल कॉलेज' के ओषधि के प्रोफेसर **डॉ० पी० सी० ठाकुर** के नेतृत्व में एक शोधदल ने इस बात का पता लगाया है कि **'पूर्ण चन्द्र'** (Full Moon) वाले दिवसों को अप्राकृतिक रूप से मरने वालों की बढ़ी हुई संख्या का कारण यह है कि इन दिनों चन्द्रमा के गुरुत्वाकर्षण के कारण मनुष्यों में 'ज्वारीय तरंगें' ('ह्यूमन टाइडल वेव्स') उठती हैं और फलस्वरूप आदमी का स्वभाव आक्रामक हो जाता है। आँकड़े बताते हैं कि हत्यारों द्वारा इन्हीं दिनों अधिक हत्यायें की जाती हैं।

बंगलोर विश्वविद्यालय के अनुप्रयुक्त आनुवंशिकी विभाग से सम्बद्ध एक वैज्ञानिक **डॉ० एन० जे० शेट्टी** ने मच्छरों के मिले-जुले समूहों से नर मच्छरों को अलग करने की विधि ढूंढ़ निकाली है और इससे **मलेरिया और फाइलेरिया** जैसे रोगों के नियंत्रण (जैवीय) में भी सहायता मिलेगी। डॉ० शेट्टी का विश्वास है कि इसी प्रकार रेशम के कीड़ों में भी नर रेशम कीड़े को आनुवंशिक विधियों द्वारा अलग करके अधिक रेशम प्राप्त किया जा सकता है। ज्ञातव्य है कि नर रेशम-कीट अपनी ही जाति की मादा की अपेक्षा दुगना रेशम कातता है।

देशी दवाओं से दिल के रोगों की रोकथाम

हृदय रोगों की रोकथाम में देशी दवायें अधिक उपयोगी सिद्ध हो रही हैं और उनका नियंत्रित व्यवहार कई घातक हृदय रोगों से बचा सकता है। यह निष्कर्ष निकाला है काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सम्बद्ध आयुर्विज्ञान संस्थान के शोधदल ने जिसका नेतृत्व किया मौलिक सिद्धान्त विभाग में मनोकायिक संभाग के अध्यक्ष **प्रो० जी० पी० दुबे** ने। 'अमीरत प्रोफेसर' **प्रो० के० एन० उडप्पा** के निर्देशन में किए गये शोध के दौरान पाया गया कि देशी औषधियों और खनिजों से तैयार किया गया यौगिक **'अबाना'** हृदय रोगों से कई रूपों में रक्षा करता है। इसके प्रयोग से पाया गया कि हृदय रोग के लिए जिम्मेवार कई कारक स्वतः या तो समाप्त हो जाते हैं या कम हो जाते हैं।

अध्ययन के दौरान पाया गया कि **'अबाना'** के सेवन से नाड़ी की गति कम होती है और रक्तदाब घटता है। मानसिक तनाव कम करने में भी यह उपयोगी सिद्ध हुई है। इसका प्रभाव रक्त में लिपिड उपापचय पर भी पड़ता है और सीरम **ट्राइग्लिसराइड और कोलेस्ट्रॉल** की मात्रा भी इससे कम होती है। इसका सेवन हृद्शूल में भी कमी लाता है।

शोधदल में प्रो० दुबे के अलावा **डॉ० अरुणा अग्रवाल, बी० के० श्रीवास्तव** और **उर्मिला अग्रवाल** थीं, जिन्होंने 67 मरीजों पर **'अबाना'** का परीक्षण किया। इनमें हृद्शूल, धड़कन, रक्तदाब आदि कई तरह के रोगी थे। इस दल का निष्कर्ष था कि यदि स्वस्थ व्यक्ति भी **'अबाना'** का सेवन करें तो वे हृद् रोगों से बच सकते हैं।

इसी दल ने एक दूसरे यौगिक **'जेरीफोर्ट'** पर अध्ययन के दौरान पाया कि इससे तनाव और चिन्ता को कम करने में मदद मिलती है। मनोकायिक गड़बड़ी के 115 मामलों में जब इस यौगिक का प्रयोग किया गया तो पाया गया कि तनाव और चिन्ता के कारण होने वाले शारीरिक-मानसिक परिवर्त्तनों को रोकने में कामयाब है। इससे भी हृदय रोगों से बचाव होता है क्योंकि तनाव अन्ततः दिल को प्रभावित करता है।

इन दोनों यौगिकों की विशेषता है कि इनका शरीर पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता। **'अबाना'** और **'जेरीफोर्ट'** का उत्पादन 'हिमालय ड्रग कम्पनी' कर रही है।□□

14 दिसम्बर 1987 को 'विज्ञान, तकनीकी और पर्यावरण 2001' संगोष्ठी में प्रस्तुत आलेख

भारत का भविष्य : जन आधारित तकनीक

अरविन्द कुमार सक्सेना

भारत में प्रयुक्त किए जा रहे विभिन्न तकनीकों को जानने के पहले यह जानना ज़रूरी है कि यह तकनीक विकसित कैसे हुई। एक समय था जब भारत को सोने की चिड़िया कहा जाता था। धन-धान्य से परिपूर्ण था यह देश और अन्य देशों के मुकाबले यहाँ प्रयोग की जा रही तकनीक कहीं श्रेष्ठ थी। इसकी चमक-दमक से प्रभावित होकर यहाँ कई आक्रमणकारी आए। कुछ तो यहीं बस गए पर कुछ लूट-पाट मचाकर चले गए। बार-बार के आक्रमण से यहाँ की सामाजिक, आर्थिक व राज-नीतिक व्यवस्था तहस-नहस हो गई। अंग्रेज़ों की गुलामी का सबसे कड़ुआ अनुभव रहा। उन्होंने इस देश के लिए उपयुक्त विकास की तकनीक को तो खत्म किया ही, यहाँ के लिए बिल्कुल अनुपयुक्त तकनीक को हमारे गले मढ़ दिया। एक नया वर्ग विकसित हुआ जो तथाकथित प्रबुद्ध वर्ग कहलाता है। इनके दिमाग में यह बात ठोक-पीट कर बैठा दी गई कि हममें खुद सोचने की क्षमता है ही नहीं। मानसिक स्तर को पूरी तरह पंगु बनाने के बाद विदेशी तकनीक व विदेशी शिक्षा को थोपा गया। दुर्भाग्य यह है कि आज यही प्रबुद्ध वर्ग अगुवा बन बैठा है। उनके दिमाग में यह बात कभी आती ही नहीं है कि हम भी समर्थ हैं। आज हाल यह है कि जो भारत एक समय प्रगति और विकास में विश्व का सिरमौर था वही आज उचित दिशा के अभाव में दूसरे देशों की तकनीक आयात कर किसी तरह घिसट रहा है। आज भी आशा की किरण मौजूद है और वह पश्चिमी तकनीक के समानांतर विकसित हो रही हमारी ग्रामीण तकनीक है। अगर गुलामी के प्रभाव से कोई हिस्सा थोड़ा बचा है तो वह हमारे गाँव हैं। गाँव में पीढ़ी दर पीढ़ी चली आ रही व विकसित हो रही विभिन्न तकनीकों में से कुछ आज भी अक्षुण्ण हैं। वर्तमान में भारत में पश्चिमी व स्थानीय दोनों तकनीकें प्रयुक्त हो रही हैं। पर ऊपर कहे गए कारणों से पश्चिमी तकनीक ही हावी है। उचित संरक्षण के अभाव में हमारी पुरानी तकनीक घिसटती हुई सी बढ़ रही है।

समय की माँग

आज समय आ गया है कि आधुनिकता की अंधी दौड़ में भागते हुए लोग थोड़ा ठहर कर विचार करें कि वे जिधर जा रहे हैं वह उपयुक्त है भी या नहीं। किसी भी समस्या का समाधान सर्वत्र एक सा नहीं होता। यही बात तकनीक पर भी लागू होती है। जो तकनीक दूसरे देशों के लिए लाभकर हो वही हमारे यहाँ भी हो जाय, यह ज़रूरी नहीं है। हमें ऐसी तकनीक नहीं चाहिए जो बहुसंख्यक लोगों की कीमत पर अल्पसंख्यकों का लाभ कर रही है। अभी हमारे यहाँ ऐसा ही हो रहा है। भारत बहुत बड़ी जनसंख्या का मालिक है। हमें जन-साधारण के लिए सोचना पड़ेगा। विज्ञान का उपयोग जनसाधारण के लिए तकनीक का विकास करने में होना चाहिए। आज़ादी के बाद से गाँवों की जनसंख्या का प्रतिशत कुछ घटा है, पर जन का सामान्य अर्थ भारत जैसे देश के लिए अभी भी ग्रामीण जनों से ही है। अतः ऐसे लोगों के रोजमर्रा के कार्यों अथवा जीविकोपार्जन के कार्यों में विज्ञान व तकनीक के सहारे कितना सरल व सहज बनाया जा सकता है, यही आज की माँग है। गाँवों

विज्ञान शिक्षा केन्द्र, तेरहीं मापी, तिन्दवारी, बाँदा, उत्तर प्रदेश

के वर्तमान सामाजिक ढाँचे में रहते हुए ही उनका विकास करना, बल्कि शहरीकरण करना उपयुक्त तकनीक की कसौटी होनी चाहिए।

उपयुक्त तकनीक के गुण

जनसाधारण की तकनीक की बात करने से पूर्व हम यह देखें कि कौन सी तकनीक उपयुक्त तकनीक कही जा सकती है। उपयुक्त तकनीक में निम्न गुणों का होना ज़रूरी है।

(1) तकनीक को समतावादी होना चाहिए। उससे बहुसंख्यकों का विकास होना चाहिए।

(2) तकनीक स्थानीय वातावरण के अनुकूल हो। उसे स्थानीय व्यक्तियों तथा साधनों पर ही निर्भर होना चाहिए।

(3) तकनीक को स्थानीय पर्यावरण से अच्छा सामंजस्य रखना चाहिए।

(4) तकनीक जनसाधारण के लिए सरल, सहज व सुगम होनी चाहिए।

(5) तकनीक के उपयोग व रखरखाव में आपसी सद्भाव व सहभागिता का वातावरण झलकता हो।

जनसाधारण की तकनीक

इन सभी गुणों का समावेश जिस तकनीक में हो, वही तकनीक उपयुक्त तकनीक है और उसे ही हम जन-साधारण की तकनीक कहेंगे। इस तकनीक में सभी जनों की हिस्सेदारी होगी और इसमें एक तरह का अपनापन झलकेगा। यह थोपी गई तकनीक न होकर जनसाधारण की समस्याओं का समाधान करने वाली तथा सहज ग्राह्य होगी। यहाँ यह बात फिर स्पष्ट कर देने की है कि कोई भी तकनीक सम्पूर्ण नहीं है और उसका प्रयोग सर्वत्र नहीं किया जा सकता। जनसाधारण की तकनीक विभिन्न जगहों पर विभिन्न तरह की हो सकती है।

जनसाधारण की तकनीक अपनाने की दिशा में ज़रूरी प्रयास

(1) **वर्तमान नज़रिये को बदलना**—आज शिक्षा का अर्थ महज किताबी ज्ञान से ही लिया जाता है। भारत की ग्रामीण जनता, जो इस परिभाषा के तहत अशिक्षित है, हेय दृष्टि से देखी जा रही है। उनमें भी कुछ ज्ञान होगा, यह आज के तथाकथित प्रबुद्ध वर्ग व वैज्ञानिक समझने में असफल हैं। विज्ञान शब्द से लोगों की धारणा सामान्यतया विभिन्न यंत्र, कठिन सूत्र जिनको कंटस्थ करते-करते आँखों पर मोटा चश्मा चढ़ जाना आम बात है तथा प्रयोगशाला आदि है। यद्यपि ये चीजें विज्ञान का एक आवश्यक पहलू हैं फिर भी ये सम्पूर्ण विज्ञान नहीं है। विज्ञान किसी भी वस्तु को देखने का एक विशेष नज़रिया है, एक दृष्टिकोण है और इसी दृष्टिकोण का फैलाव ही विज्ञान का विस्तार है। इस दृष्टिकोण को सामान्य जन तक पहुँचाना ही हमारा लक्ष्य होना चाहिए। अतः आज शहरी वातावरण में पले-बढ़े वर्ग को यह बात समझ कर जनसाधारण से तादात्म्य जोड़ना चाहिए। यह नज़रिया छोड़ना पड़ेगा कि प्राचीन चीजें व दृष्टिकोण बिल्कुल ही नाकारा हैं। उनकी तरफ ध्यान देने की ज़रूरत ही नहीं है। यह आवश्यक है कि हम मानसिक गुलामी की खोल को उतारकर यह सोचें कि जो चीजें हज़ारों साल से अपना अस्तित्व बनाए रखने में सफल रही है उनमें आखिर कुछ तो होगा ही जो अभी भी चली आ रही हैं। हम खुद भी किसी चीज को करने में सक्षम हैं, जब यह विचार जगेगा तो हमारा दृष्टिकोण खुद ब खुद ग्रामोन्मुखी हो जायेगा।

(2) **ग्रामीण जनता में फिर से विश्वास पैदा करना**—आज हमारे विज्ञान व उसकी चीजों को अजनबीपन से देखा जाता है। स्थिति यह है कि शहरों से आया कोई सर्वेक्षण दल अगर गाँव पहुँचता है तो उसे काफी दिक्कतें होती हैं। ग्रामीण जनता का विश्वास अब इन चीजों पर रह नहीं गया है क्योंकि उन पर अविश्वास किया गया है। अतः हमें ग्रामीणों को यह विश्वास दिलाना अति आवश्यक है कि वे समर्थ और सक्षम हैं। हमें अपनी भूलें माननी होंगी तथा ग्रामीणों का पूरा सहयोग पाना व करना पड़ेगा। एक बार ऐसी स्थिति अगर पैदा हो गई तो फिर जनसाधारण की तकनीक को मूर्त रूप देना बिल्कुल आसान हो जायेगा।

(3) **गाँवों में प्रयुक्त वर्तमान तकनीक का गहन अध्ययन**—अगर गाँवों के प्रति फिर से रुझान जाग जाये और ग्रामीण भी इसे सहजता से लेने लगें तो फिर यह अध्ययन करना बहुत आसान हो जायगा कि जो तकनीक

गाँवों में प्रयुक्त हो रही है उसमें क्या विशेषता है जो अभी तक चली आ रही है।

अध्ययन की कड़ी में हमें गाँवों में प्रचलित परम्पराओं व अंधविश्वासों को भी देखना पड़ेगा। हो सकता है उनके गहन अध्ययन के परिणामस्वरूप हमें कुछ ठोस धरातल प्राप्त हो ही जाय। उदाहरणस्वरूप गाँवों में अभी भी वनदेवता की पूजा का प्रचलन है। पीपल के पेड़ की पूजा होती है। उसे काटना निषिद्ध माना गया है। आज के वैज्ञानिक खोजों से यह साबित हो चुका है कि पीपल सिर्फ प्राणवायु ऑक्सीजन का ही उत्सर्जन करता है। हमारे पूर्वजों ने यह बहुत पहले जान लिया था कि पर्यावरण संतुलन के लिए वृक्षों की उपयोगिता है। हमने शहरों के विकास हेतु वन काट डाले। फल और भयानक हुआ। पर्यावरण असंतुलन की मार हम पर पड़ी और आज हम प्रदूषण व बाढ़ तथा सूखे से ग्रस्त हैं।

इसलिए यह बहुत जरूरी है कि पश्चिम तकनीक को अपनाने की दौड़ से थोड़ा हट कर हम अपनी ही ग्रामीण तकनीक का विभिन्न कोणों से गहन अध्ययन कर उपयुक्त चीजों को निकालें और उसका प्रयोग करें।

(4) **उपयुक्त तकनीक अथवा जनसाधारण की तकनीक को उचित मान्यता, उनका उचित प्रोत्साहन व संरक्षण**—आज बिना किसी गहन अध्ययन के हम मान बैठे हैं कि विदेशी तकनीक ही श्रेष्ठ है। ऐसा बहुत हद तक पश्चिमी देशों के राजनीतिक दबाव के कारण है। फल यह है कि हमारे सारे शोध-कार्य उसी विचारधारा से प्रेरित हैं। हमें अपने लायक चीजों की तरफ देखने की फुर्सत नहीं है। जो अभी भी पुरानी तकनीक से काम कर रहे हैं उन्हें उचित प्रोत्साहन नहीं दिया जा रहा है। उनका मज़ाक उड़ाया जा रहा है। यह नहीं होना चाहिए। परंपरागत तकनीकों के गहन अध्ययन के पश्चात् मिली अच्छी चीजों को उचित बढ़ावा मिलना चाहिए। उसमें थोड़े बहुत परिमार्जन की आवश्यकता होने पर उस पर धन व्यय कर उसे और उपयोगी बनाया जा सकता है।

अपने समग्र विकास के लिए हमें एक उपयुक्त योजना पर अमल करना पड़ेगा जो दीर्घकालीन होगी तथा जिसमें जनसाधारण का विश्वास हो, उनके द्वारा प्रयुक्त हो तथा जिसमें उन्हें विदेशीपन की बू न लगे, अपना प्रतीत हो।

भारत जैसे बड़े देश के लिए अभी भी कृषि ही आय का सबसे प्रमुख स्रोत है। इसलिए हमें इसे और विकसित कर आगे बढ़ाना पड़ेगा तथा हमारे यहाँ प्रयुक्त कृषि की अच्छाइयों को समझकर उस पर अमल करना पड़ेगा।

□□

'स्पाइरूलीना' शैवाल : शाकाहारियों का नया भोजन

'स्पाइरूलीना' नामक नील-हरित शैवाल में प्रोटीन काफी अधिक मात्रा में पाया जाता है। इस शैवाल को पशुओं के चारे और शाकाहारी भोजन करने वालों के लिए महत्वपूर्ण बताया जा रहा है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के उच्चानुशीलन वनस्पतिशास्त्र विभाग के प्रोफेसर **हरदर्शन कुमार, डी० बी० सिंह और एम० इना** ने वाराणसी के दुर्गाकुंड पोखरे से यह शैवाल निकाल कर इसकी प्रयोगशालीय खेती की। यह क्षारीय और लवण-जल में भी उगाया जा सकता है। वैज्ञानिकों ने पाया कि स्पाइरूलीना में 'केरोटिनायड' और 'फाइकोसायनिन' नामक प्रोटीन काफी अधिक है। उन्होंने बताया कि इसकी रासायनिक संरचना और रंगीनी का पता लगाकर इसका उत्पादन बढ़ाने का अध्ययन किया जा रहा है। संभावना व्यक्त की जा रही है कि यह शैवाल शाकाहारियों के भोजन का विकल्प बनेगा।

उदयपुर स्थित सुखाड़िया विश्वविद्यालय की **श्रीमती जीनत आर० रिजवी और बी० के० शर्मा** ने बताया कि टमाटर के पौधे के तेजी से विकास में 'आलोसिरा फ़र्टिलसिमा' नामक शैवाल लाभकारी पाया गया है। यह शैवाल टमाटर के पौधे की लंबाई 160 प्रतिशत तक बढ़ाने में मददगार साबित हुआ है। पाया गया कि रासायनिक खाद डालने के मुकाबले इस शैवाल का पाउडर मददगार साबित हो सकता है।

उत्तरी बिहार की क्षारीय चूनायुक्त मिट्टियाँ

उमेश सिंह एवं डॉ० जनार्दन प्रसाद

भारतवर्ष की लगभग 70 लाख हेक्टेयर भूमि, जिस पर कृषि की जाती है, लवणों से प्रभावित है। इसमें उत्तरी बिहार की लगभग 2 लाख हेक्टेयर भूमि लवणीय एवं चूनायुक्त है। इसमें कैल्सियम कार्बोनेट 0·5-36 प्रतिशत तक या इससे भी अधिक पाया जाता है। यहाँ की मृदा की संरचना बलुई दोमट या सिल्टी दोमट है। इन मृदाओं में सोडियम, कैल्सियम एवं मैगनीशियम अपने बाई कार्बोनेटों और क्लोराइडों के रूप में पाये जाते हैं। इसमें मृतिका की मात्रा कम एवं कुल विनिमेय क्षमता भी ज्यादा नहीं होती है। अतः इस प्रकार की मृदा की उत्पादन क्षमता भी ज्यादा नहीं होती है। कृषकों के लिए इस प्रकार की मिट्टी में खेती करना एक विकट समस्या है। बिहार एक ऐसा प्रदेश है, जिसकी भौगोलिक स्थिति भी विचित्र है, जो चारों तरफ से नदियों से घिरा हुआ है, जहाँ का अधिकांश भाग अधिकांश समय तक जलमग्न रहता है, इस भाग में खेती करना सम्भव नहीं है। किन्तु—खान, खनिज पदार्थ, धातु के क्षेत्र में इसकी धरती समृद्ध है। इस क्षेत्र में जलस्तर भी काफी ऊँचा है जो क्षरीय मिट्टी का एक विशेष कारण है। इस क्षेत्र की मिट्टियों का पी० एच० 7·9 से 9 तक या अधिक पाया जाता है। इस क्षेत्र की मुख्य फसल खाने की तम्बाकू, मिर्चा, केला, धान, गेहूँ, मक्का एवं गन्ना है।

केन्द्र सरकार एवं राज्य सरकार इस प्रदेश की मिट्टी के विकास के लिए प्रयत्नशील हैं किन्तु इस प्रदेश के कृषक नकदी (Cash Crops) पर ज्यादा ध्यान देते हैं, क्योंकि प्राकृतिक आपदाओं का प्रकोप ज्यादा होने के कारण वे कृषि के क्षेत्र में समुचित पूँजी नहीं लगाते। खेती के लिए 70 प्रतिशत कृषक प्रकृति पर निर्भर हैं।

बिहार में कृषि के विकास के लिए भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली का विशेष ध्यान रहा है। इस प्रदेश में राजेन्द्र कृषि विश्वविद्यालय के माध्यम से कृषि अनुसंधान परिषद् वर्ष 1965-66 से ही अपने विभिन्न कार्यक्रम चला रहा है, जैसे उन्नतिशील जातियों के कार्यक्रम (H. Y. V. P.) राष्ट्रीय प्रत्यक्षण योजना, प्रयोगशाला से खेत तक कार्यक्रम आदि।

उत्तरी बिहार के एक ज़िला वैशाली के कुतुबपुर कोठी नामक गाँव में एक कृषक जिसका नाम **रामखेलावन पासवान** है, उसके प्रक्षेत्र में राष्ट्रीय प्रत्यक्षण योजना के अन्तर्गत एक प्लाट पर किए गए प्रत्यक्षणों के परिणाम से यह पता चलता है कि यदि कृषक थोड़ा पैसा एवं बूझ से कार्य करे तो उसे अच्छी उपज प्राप्त हो सकती है। कृषक का यह प्लाट पटना से मुज़फ्फरपुर रोड पर पटना से 25 किलोमीटर पर स्थित है। इस प्रक्षेत्र की उपज क्षमता बहुत ही कम थी। यह प्लाट राष्ट्रीय प्रत्यक्षण योजना वैशाली के अन्तर्गत है, अतः प्लाट की ऊपज क्षमता बढ़ाने के लिए प्लाट में सुधारक के रूप में पाइराइट का उपयोग किया गया। इस प्रक्षेत्र में सुधारक का उपयोग करने से पहले मिट्टी की जाँच करने पर प्रक्षेत्र की स्थिति निम्न थी।

क्रम संख्या	पोषक तत्व की स्थिति	प्राप्य पोषक तत्व की मात्रा (किलो/हे०)
1.	जैविक कार्बन का प्रतिशत	0·15.
2.	प्राप्य फॉस्फेट की मात्रा	25.76.
3.	प्राप्य पोटाश की मात्रा	76·00.
4.	विद्युत् चालकता	0·271 एम० एम० होज/से० मी०
5.	पी० एच०	8·5.

राष्ट्रीय प्रत्यक्षण योजना, वैशाली, राजेन्द्र कृषि विश्वविद्यालय, बिहार

इस स्थिति में 1/2 एकड़ में मूँग (पूसा वैशाखी) की बुआई अप्रैल माह में की गयी किन्तु अंकुरण का प्रतिशत 20 था, साथ ही साथ समय-समय पर वैज्ञानिकों द्वारा इस प्रक्षेत्र का निरीक्षण करने पर देखा गया की अकुंरण की स्थिति जो 20 प्रतिशत थी वह भी बराबर न थी बल्कि प्रक्षेत्र के बीच-बीच में काफी दूरी में एक भी पौधे दिखायी नहीं दे रहे थे। वहाँ पर मिट्टी की पी० एच० ज्यादा होने के कारण बीज का अंकुरण ही नहीं हो सका था। खेत में जो अंकुरण हुआ था वह भी पौधे 15 मई के बाद ताप ज्यादा होने के कारण नष्ट हो गये। प्रक्षेत्र की इस स्थिति को देखते हुए भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, द्वारा अनुदान प्राचार्य, तिरहुत कृषि महाविद्यालय, ढोली, मुजफ्फरपुर के सहयोग से प्राप्त कर जिला वैशाली के वैज्ञानिकों द्वारा कृषक के प्लाट में सुधारक के रूप में पाइराइट्स डालकर प्रक्षेत्र की भौगोलिक एवं रासायनिक स्थिति सुधारने का निर्णय लिया गया, जिसके तहत एक कुन्तल पाइराइट्स (15 प्रतिशत संगठन वाला) समान रूप से 15 जून को खेत में बिखेर दिया गया।

उससे पहले खेत को समतल कर जुताई कर खेत में रतन गोबर की खाद बिखेर कर 5 दिन बाद पाइराइट्स डाल कर फिर 4-5 दिन बाद जुताई कर पूर्णरूप से मिलाकर छोड़ दिया गया। जुलाई के प्रथम सप्ताह में हल्की-हल्की वर्षा शुरू हुयी। खेत में कृषक ने एक भी सिंचाई नहीं की थी। मिट्टी के जाँच के आधार पर उर्वरक की संस्तुति राजेन्द्र कृषि विश्वविद्यालय, पूसा (बिहार) के मिट्टी रसायनज्ञ डॉ० एस० एन० झा द्वारा की गयी, किन्तु कृषक ने प्रक्षेत्र पर धान की रोपाई के बाद कल्ले निकलने की अवस्था में एक बार केवल 10 किलो यूरिया की टाप ड्रेसिंग की थी (पूरे आधा एकड़ के प्रक्षेत्र पर)। एक किलो जिंक सल्फेट एवं 250 ग्राम चूना को घोलकर एक बार छिड़काव पूरे प्रक्षेत्र पर किया गया था।

क्रम संख	पोषक तत्व का नाम	पोषक तत्व की मात्रा (किलो०/हे०) में
1.	नाइट्रोजन	यूरिया द्वारा 165 किलो०/हे०
2.	फॉस्फेट	सिंगल सुपर फॉस्फेट द्वारा 230 किलो०/हे०
3.	पोटाश	म्यूरेट ऑव पोटाश 45 किलो/हे०
4.	कम्पोस्ट	9 टन/हे०
5.	जिंक सल्फेट	25 किलो०/हे०

प्राथमिक अध्ययनों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पाइराइट्स एक सस्ता एवं उपयोगी भूमि सुधारक है एवं इसका उपयोग सह-उर्वरक के रूप में किया जा सकता है एवं इसका परिणाम भी उपयोगी होगा क्योंकि संगठन में वे सभी आवश्यक सूक्ष्म तत्त्व हैं जो पौधों के विकास में एक अहम भूमिका निभाते हैं। इसमें विशेष कर सल्फर जिसकी आवश्यकता, अब एक आवश्यक तत्त्व के रूप में हो गयी है एवं अनुसंधानों से यह साबित हो चुका है कि सल्फर एक आवश्यक तत्त्व है, जिसकी सबसे अधिक मात्रा पाइराइट्स में मृदा को प्राप्त होती है। फसल के लिए लोहा भी उपयोगी है जो आवश्यक मात्रा में प्राप्त होता है। साथ ही साथ इसमें मैगनीशियम, कैल्शियम, एल्यूमिनियम, सिलिका, कार्बन, जिंक, कॉपर एवं मैंगनीज भी प्राप्त होता है। जब मृदा में लोहा की कमी होती है तो फेरस सल्फेट का उपयोग किया जाता है किन्तु जब मृदा में इसका उपयोग किया जाता है, तो यह फेरिक में बदल जाता है एवं पौधों को प्राप्य नहीं होता जबकि पाइराइट्स को मृदा में डालने पर यह पौधों को पूरी तरह प्राप्य होता है। क्षारीय चूनायुक्त मृदाओं में पोषक तत्त्वों की कमी तो रहती ही है। पाइराइट्स के उपयोग के बाद काफी मात्रा में कार्बन डाइऑक्साइड का उत्पादन होता है, जो जड़ क्षेत्र में फैल कर जड़ को उचित रूप से कार्य करने की क्षमता प्रदान करता है, एवं पोषक तत्त्वों की कमी को पूरा करता है। अतः कार्बन डाइऑक्साइड का उत्पादन एक महत्वपूर्ण भूमिका चूनायुक्त क्षारीय मृदा की उर्वरता को बढ़ाने में निभाता है।

इस तरह धान की उपज 35 क्विंटल प्रति हेक्टेयर मिली और मिट्टी का पी एच घट कर 8.2 हो गया।

इस प्रक्षेत्र के परिणाम के आधार पर यह कहा जा सकता है की खेत में किसी भी मौसम में चाहे रवी हो या खरीफ़ या जायद पाइराइट्स का उपयोग सह-उर्वरक के रूप में पाइराइट्स को अन्य उर्वरक के साथ खेत की तैयारी के समय टाप ड्रेसिंग करके छोड़ दिया जाय एवं यदि सम्भव हो तो एक सिंचाई करके तब फसल की बुआई की जाय तो अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा। विशेषकर बिहार के उत्तरी क्षेत्र में तमाम गाँवों के निरीक्षण एवं मिट्टियों की जाँच के आधार पर हमारा अनुभव है कि पाइराइट्स यहाँ के लिए वरदान सिद्ध होगा क्योंकि यहाँ की मिट्टियों में ज़िंक की भी कमी है, जो पाइराइट्स में पाया जाता है। वैशाली ज़िले में भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली का राष्ट्रीय प्रत्यक्षण योजना कार्यक्रम, राजेन्द्र कृषि विश्वविद्यालय के अन्तर्गत चल रहा है, जिसके अन्तर्गत मैं इस समय कनिष्ठ वैज्ञानिक (मृदा) के रूप में कार्यरत हूँ एवं मैंने अपने ज़िले के सभी गाँवों के धान की फसल की आरम्भिक स्थिति में ही पत्तियों में सल्फर एवं ज़िंक की कमी देखी है। कुछ गाँवों में तो अंकुरण प्रतिशत भी संतोषजनक न था, कुछ गाँवों जैसे-इनायत नगर, हरसेर एवं गुरमियाँ आदि में ज़िंक सल्फेट का छिड़काव दो-दो बार कराया गया है, जबकि वैज्ञानिकों की अनुशंसा है कि एक बार यदि (25 किलो/हे०) ज़िंक सल्फेट का व्यवहार काफी होता है, एवं 3-4 वर्षों तक फिर आवश्यकता नहीं होती है, किन्तु मुख्यतया यह ली गयी फसल की प्रजाति एवं मृदा की भौतिक एवं रासायनिक संरचना पर निर्भर करता है। फसल की प्रजाति का चुनाव हमेशा मृदा के संगठन के अनुसार करना चाहिए, अन्यथा उपज कम प्राप्त होती है, जैसे—सिता प्रजाति, एक अच्छी एवं अधिक उपज देने वाली प्रजाति है, जो बिहार के लिए मुख्य वैज्ञानिक (चावल) द्वारा अनुशंसित है, किन्तु ज़िंक की कमी वाली मृदा में कभी भी नहीं लेना चाहिए, क्योंकि यह ज़िंक के प्रति अत्यधिक संवेदनशील होती है एवं फसल असफल होने की सम्भावना बनी रहती है।

पाइराइट्स का सुधारक के रूप में उपयोग करके हमें भारतवर्ष की 2 लाख हेक्टेयर भूमि, जो ऊसर से प्रभावित है, का सुधार करके उपज को दो गुना कर सकते हैं, साथ ही साथ यदि हम वैज्ञानिक विधियों का पूर्णरूप से उपयोग करें तो हम अन्य सामान्य मृदा वाले प्रक्षेत्र की अपेक्षा भी ज़्यादा उपज प्राप्त कर सकते हैं, जो इस प्रत्यक्षण प्रक्षेत्र के परिणाम से पूर्णरूप से सत्य साबित होता है। इसमें न तो सामान्य प्रक्षेत्र की भाँति ही उर्वरक का उपयोग किया गया है, न तो क्षारीय मृदा के लिए सामान्य मृदा से 20 प्रतिशत ज़्यादा खाद एवं उर्वरक की अनुशंसा की जाती है, उसका उपयोग किया गया है, न तो पाइराइट्स का उपयोग करने के बाद 15 दिनों तक 9 सेमी० पानी प्रक्षेत्र पर एक सप्ताह तक लगा रहना चाहिए एवं नमी प्रक्षेत्र पर 1 महीने तक लगातार बनी होने के बाद धान की रोपाई की जानी चाहिए। इसको अपनाने के बाद भी उत्पादन संतोषजनक था। □□

मौसम के अध्ययन के लिए भारत 89 में उपग्रह छोड़ेगा

ऊपरी वायुमंडल के अध्ययन के लिए भारत 'स्रोस' नामक 150 किलोग्राम वज़न का एक उपग्रह वर्ष 1989 के आरंभ में अंतरिक्ष मे छोड़ेगा।

यह उपग्रह इन दिनों तैयार किया जा रहा है। यह जानकारी केंद्राय वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद् के महानिदेशक डॉक्टर **ए० पी० मित्रा** ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रौद्योगिकी संस्थान में नक्षत्र विज्ञान विषयक संगोष्ठी के उद्घाटन के अवसर पर दी।

डॉक्टर मित्रा ने बताया कि यह उपग्रह न सिर्फ 'आयन-मंडल' की जाँच करेगा बल्कि प्राकृतिक कणों के तापमान का भी पता लगायेगा एवं इलेक्ट्रॉन तथा नये 'आयन' की जानकारी देगा, ताकि मौसम संबंधी भविष्यवाणी ज़्यादा सटीक की जा सके।

यह उपग्रह दो से तीन साल तक काम करेगा। इसके लिये अत्याधुनिक एम. एस. टी. राडार की स्थापना करने का काम भी किया जा रहा है। उन्होंने बताया कि यह राडार 1990 में तिरुपति के समीप काम करना शुरू कर देगा। भारतीय वैज्ञानिकों का 'समीर' नामक एक अनुसंधान दल इस राडार को तैयार कर रहा है। यह राडार 52 'मेगाहर्ट्ज' फ्रीक्वेंसी पर काम करेगा। यह राडार पूर्णतः स्वदेशी तकनीक से बना होगा।

भारतीय कृषि एवं मौसम विज्ञान की प्राचीन धरोहर और उस पर अनुसंधान की आवश्यकता

डॉ० रामकृष्ण पाराशर

आज विश्व में विज्ञान और प्रौद्योगिकी का विकास बड़ी तीव्रता से हो रहा है। विज्ञान की नई-नई शाखाओं में नित नए आविष्कारों की उपलब्धियाँ प्रकाश में आ रही हैं। विज्ञान की इस अद्‌भुत प्रगति से हमारी कृषि का स्वरूप भी बदलता जा रहा है। हमारा मौसम विज्ञान भी आगे बढ़ रहा है। हमारी इस वैज्ञानिक प्रगति का मूल स्रोत पश्चिमी देशों का विज्ञान रहा है। इस तथ्य को भी नकारा नहीं जा सकता है कि विश्व में आज भी विज्ञान के अध्ययन, अध्यापन और अनुसंधान का आधार यही विज्ञान है, परन्तु इसी चकाचौंध में हम अपने देश के विज्ञान की पुरानी धरोहर से दूर होते जा रहे हैं। यह निर्विवाद सत्य है कि भारत में कृषि शताब्दियों से होती आई है और इसमें उतार-चढ़ाव आते रहे हैं। यहाँ के मौसम विज्ञान की पुरानी उपलब्धियाँ आधुनिक विज्ञान के लिए आज भी कुछ रहस्य बनी हुई हैं और अनुसंधान के लिए भारतीय वैज्ञानिकों का आह्वान कर रही हैं और आगे भी इस दिशा में भारतीय वैज्ञानिकों को अनुसंधान की आवश्यकता रहेगी—ऐसी मेरी धारणा है।

भारत में फसलें उगाने के लिए सिंचाई तो ऋग्वेद काल से होती आई है परन्तु कृषि के लिए वर्षा का महत्त्व उस समय भी उतना ही रहा होगा, जितना आज है क्योंकि उस काल में कृषि विद्या के विशेषज्ञ के लिए मौसम विज्ञान में विशेष अध्ययन और अनुसंधान करना आवश्यक होता था। इस कारण भारत के प्राचीन कृषि वैज्ञानिक मौसम विज्ञान के भी ज्ञाता होते थे। मौसम विज्ञान का अध्ययन पहले ज्योतिषशास्त्र के अन्तर्गत किया जाता था। ऐसे प्राचीन कृषि एवं ज्योतिषशास्त्र के सुप्रसिद्ध ज्ञाताओं में महर्षि पराशर, वराह मिहिर, घाघ, भड्डरी के नाम उल्लेखनीय हैं, जिनका ज्ञान और अनुभव आज भी हमारे कृषकों में प्रेरणा और मार्गदर्शन की दृष्टि से लोकप्रिय है।

उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर **महर्षि पराशर** का कार्यकाल 1300 ईसा पूर्व माना जाता है। उनके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ "कृषि पराशर" में कृषि पर नक्षत्रों के प्रभाव, मेघ और प्रकार, वर्षा होने के लक्षण, कृषि की देखभाल, हल बैल, कृषि उपकरण, जुताई विषयक अन्य कार्यों, बैलों के चयन, बोआई, रोपण, कटाई, भंडारण पर बहुमूल्य वैज्ञानिक जानकारी उपलब्ध हैं। इस पुस्तक का बंगला अनुवाद "कृषि संग्रह" के नाम से श्री ताराकान्त काव्य तीर्थ द्वारा किया गया है जो श्री नटवर चक्रवर्ती द्वारा भवानी चरण दत्त स्ट्रीट, कलकत्ता से सन् 1915 में प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ के आरम्भ में महर्षि पराशर लिखते हैं कि कृषि के लिए वर्षा जरूरी है और जीवन के लिए कृषि। अतएव मनुष्य को सबसे पहले वर्षा विषयक ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। वर्षा के ज्ञान के लिए वर्षा के स्वामी, बादलों की प्रकृति, वर्षा के जल की मात्रा का ज्ञान होना जरूरी है।

खरीफ की फसलों की बोआई के उपयुक्त समय का संकेत करते हुए महर्षि पराशर ने लिखा है कि अधिक उपज प्राप्त करने के लिए किसान को जेष्ठ मास के आखिरी साढ़े तीन दिनों तक या आसाढ़ के शुरू के साढ़े तीन दिनों में बीज नहीं बोना चाहिए। इस अवधि में बोआई करने से उपज कम होती है। प्राय: बीज खराब हो जाता है।

काली मोहन विद्यारत्न द्वारा बंगला में संकलित वराह मिहिर खना ज्योतिष ग्रन्थ के अध्ययन से ज्ञात होता है कि गुप्त काल में विक्रमादित्य नामक उज्जैन के राजा के

सह निदेशक, प्रकाशन निदेशालय, गोविन्द बल्लभ पन्त कृषि एवं प्रौद्योगिक विश्वविद्यालय, पन्त नगर, जनपद—नैनीताल, पिन-263145

दरबार में वराह और मिहिर दो कृषि एवं ज्योतिष के सुप्रसिद्ध ज्ञाता एवं कृषि प्रसारक थे। मिहिर के पिता का नाम बराह और उनकी पत्नी का नाम खना देवी था, जो कृषि कार्य में बड़ी दक्ष थीं, ज्योतिष की बड़ी ज्ञाता थीं। खना देवी ने बंगला भाषा में खेतों की जुताई, फसलों के बोने का उचित समय, काटने का समय, उपज की मात्रा, फसलों में दी जाने वाली खादों आदि का वर्णन किया है। वर्षा के लक्षण के बारे में उन्होंने लिखा है—

1. पाँच रवि मासे पाए
झराए किम्बा खराय जाए ।।

अर्थ—जिस वर्ष के एक महीने में 5 रविवार हों तो उस वर्ष अतिवृष्ठि से खेती नष्ट हो जायेगी।

2. चैते तेर शनिधरे। काठार फसल कुडोय धरे ।।

अर्थ—जिस वर्ष चैत में तेरस भी शनिवार पड़े उस वर्ष में एक बीघे जमीन से एक कुठला अन्न होगा, अर्थात् बहुत कम अन्न होगा।

3. मधुमासे प्रथम दिवसे हवे जेजे वार।
रवि घोषे, मंगल वर्षे, दुर्भिक्ष है बुधवार।
सोम, शुक्र, गुरुवार, पृथ्वी ना वय शखयरे भार।

चैत के महीने का पहिला दिन इतवार हो, तो अनावृष्टि हो, मंगलवार हो तो सुवृष्टि हो, बुधवार हो तो दुर्भिक्ष हो, शुक्र और गुरुवार हो तो खूब फसल हो।

4. आये खान, तेंतुलेवान।

जिस वर्ष आम अधिक होंगे उस वर्ष धान अच्छा होगा और जिस वर्ष इमली अधिक हो, उस वर्ष बाढ़ आयेगी।

5. यदि न देखे अधाने वृष्टि,
तवे न ह्वै कॉंठाले सृष्टि।

जिस अगहन में वर्षा नहीं होगी, तो उस वर्ष कटहल नहीं फलेगा।

6. पौष गरमि बैसाख जाड़ा,
प्रथम असाढ़ भरवे गाड़ा।
खनावलै, सुनो हे स्वामी,
सावन भादर नाइको पानी ।।

खना अपने पति से कहती हैं कि सुनो "जिस वर्ष पौष में गर्मी और वैसाख में जाड़ा लगे, असाढ़ लगते ही सब गड्ढे भर जाएँ, तो सावन, भादों में वर्षा नहीं होगी।

7. पौषेर कुया, बैसाखे फल, य दिन कुया त दिन जल।
शनिर सात मंगलेर तिन और सब दिने-दिन।

पौष में जितने दिन कुहरा पड़ेगा, बैसाख में उतने ही दिन वर्षा होगी। यदि शनिवार को वर्षा शुरू हुई, तो सात दिन वर्षा होगी और मंगल को शुरू होगी तो तीन दिन तथा अन्य दिनों में वर्षा शुरू हुई तो दिन भर पानी बरस कर खुल जाएगा।

8. यदि बरसे मकरे, धान ह्वे ठिकरे।

यदि माघ के महीने में वर्षा हो, तो ठीक अर्थात् ऊँची भूमि पर धान पैदा होगा।

9. यदि है चैते वृष्टि तबै है धात्तेर सृष्टि।
कार्तिक अन जले, खना बलै धान दूनो फले ।।

खना कहती है कि यदि चैत के महीने वर्षा हो, तो धान की फसल अच्छी हो और यदि कार्तिक में हवा न चले और थोड़ी सी ही वर्षा हो, तो हेमन्तिक धान की फसल अच्छी होगी।

जुताई

आगे गिये करो दिक निरूपण,
पूर्वादिक ह्वे हल चालन।
ताहा हले तोर समस्त आशय,
हइवे सकल नाहिक संशय ।।

खेत में पहुँच कर पहले दिशा का निर्णय करो फिर पूर्व से हल जोतना शुरू करो तब तुम्हारा मनोरथ पूरा होगा, इसमें कोई संशय नहीं है।

अमा पूर्णिमाय ये धरे हाल, तार दुःख चिरकाल।
तार बलदेर है बात, नाहि थकि घर भांत
खना बले सुन आमार बानी,
ये चखे तार प्रमाद गति ।।

खना कहती है कि पूर्णिमा और अमावस्या को हल जोतने से सदा दुख रहता है। बैलों को गठिया रोग हो जाता है और घर में खाने को अनाज नहीं रह जाता। अतः हमारी वाणी सुनो, जो इन तिथियों में जोतता है, वह प्रमादी ही है।

आछे बलद ना बय हाल,

तार का हा भात चिरकाल।

आउशेर मुई बेले, पागर मुई आटाले ।।

जिसके पास अच्छा हल नहीं है और जो हल नहीं जोतता है वह भूला रहता है। भुरभुरी मिट्टी में और किस्म का धान होता है और पिसान जैसी चिकनी मिट्टी में पाट (जूट) होता है।

धान रोपण

श्रावणेर पूरो भादरेर बारो।

एक मध्ये मत पार।।

सावन का पूरा महीना और भादों के 12 दिन तक धान लगाने का ठीक समय है। इस अवधि में धान लगाने से अधिक उपज होती है।

आषाढ़ पंचम दिन रोपण जे करे धाने।

सुखे भांके कृषि बल, सकल आशा है सफल।

आषाढ़ के पहले 5 दिनों में धान लगा देने से उपज अधिक होगी और कृषकों की सारी इच्छाएँ पूर्ण होंगी तथा सुख मिलेगा।

धान की कटाई

शीश देखे बिश दिन। काटते माड़ते दश दिन।

बालें आने के 20 दिन बाद धान काटने का समय आता है और 10 दिन बाद काट माँड़ कर घर ले जाया जाता है।

अन्य फसलों की कृषि क्रियाएँ

खना बले सुन-सुन। शरतेर शेषे मूला बुन।

मूलार भुई तुला, कुशरेर भुई धुला ।।

खना कहती है कि शरद ऋतु के अंत में मूली बोओ। मूली के खेत में मिट्टी रुई की भांति और ईख के खेत में मिट्टी धूल के समान मुलायम बनाना चाहिए।

खना बले चाषार पो। शरतेर शेषे सरिषारो।

भाछरेर चार आश्विनेर चारि।

क्लाइ रोवे मत पारि।

खना कहती है किसान के बच्चों! शरद ऋतु के अंत में भादों के आखिरी चार दिनों में और कुआर के पहिले चार दिनों में सरसों बोना चाहिए।

इसी काल में सुप्रसिद्ध कृषि एवं ज्योतिषशास्त्री बराह मिहिर का बृहत संहिता नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ इस युग में रचा गया। इस ग्रन्थ में बराह मिहिर ने लिखा है कि 90 प्रतिशत से अधिक जनता कृषि पर निर्भर थी। किसान वर्ष में कई फसलें बोते और काटते थे। बराह मिहिर ने इसी ग्रन्थ में गर्मी और पतझड़, खरीफ और रबी दो प्रधान और एक तीसरी साधारण फसल का उल्लेख किया है! इनका कथन है कि धान की किस्मों में कलम, कलि और नीबर की किस्में अधिक लोकप्रिय थीं। "कलम" और "कलि" किस्में किसानों द्वारा उगाई जाती थीं और "नीबर धान" जंगलों में अपने आप उगता था, जो वनवासियों और आश्रमवासियों का मुख्य आहार था। इस युग में कृषि वर्षा पर अधिक निर्भर थी। बराह मिहिर ने अपनी बृहत संहिता में वर्षा, जल गिरने का अनुपात और उसके नापने के तरीके का विस्तृत वर्णन किया है। बराह मिहिर का काल 505 ई० के लगभग माना जाता है।

बराह मिहिर ने अपने गौरव ग्रन्थ 'बृहत् संहिता' के बारे में लिखा है कि **गर्ग, पराशर, काश्यप, वात्स्य आदि** ऋषि-मुनियों ने वर्षा के जो लक्षण लिखे हैं उनको देख-कर ही यह ग्रन्थ रचा गया है।

बराह मिहिर के बाद के भारतीय कृषि के ज्ञाताओं में **घाघ, भड्डरी** के नाम उत्तर भारत के कृषि जगत् में बहुत लोकप्रिय हैं। इनकी कहावतें आज भी हमारे किसानों की जबान पर हैं और वे पिछली कई शताब्दियों से हमारे किसानों का कृषि कार्य में मार्ग-दर्शन करती आ रही हैं। □□

[अगले अंक में जारी]

सूचना

'विज्ञान' के नवम्बर और दिसम्बर 1987 अंक प्रकाशित नहीं हुए हैं। इनके स्थान पर सभी को 'विज्ञान, तकनीकी और पर्यावरण 2001' पुस्तक भेज दी गई है। इसका मूल्य 10 रुपया है।

बायोस्फीयर रिज़र्व

सतीश कुमार शर्मा

हमारी पृथ्वी स्पष्ट रूप से तीन प्रकार के पदार्थों से बनी है—ठोस, द्रव तथा गैस। समस्त ठोस पदार्थ जैसे मिट्टी, चट्टानें, खनिज आदि मिलकर भूमण्डल (Litho sphere) कहलाते हैं। समस्त जल-स्रोत जलमण्डल (Hydrosphere) तथा समस्त गैसें वायुमण्डल (Atmosphere) का निर्माण करती हैं। ये तीनों मण्डल मिलकर जैवमण्डल (Biosphere) कहलाते हैं, जिसमें समस्त जीव-जन्तु एवं पेड़-पौधे पनपते हैं।

पृथ्वी के एक हिस्से में किया गया अप्राकृतिक हस्तक्षेप केवल उसी हिस्से तक सीमित नहीं रहता बल्कि वह अन्य भागों में भी फैल जाता है। हस्तक्षेप के प्रति होने वाली प्राकृतिक प्रतिक्रिया समस्त सजीवों एवं निर्जीव मण्डलों को प्रभावित करती है। गंभीर हस्तक्षेपों के प्रति प्रकृति भी गंभीर प्रतिक्रिया व्यक्त करती है जिससे पेड़-पौधे एवं जीव-जन्तु नष्ट तक होने लग जाते हैं। उदाहरण के लिये मैडागास्कर में **डोडो पक्षी** का मनुष्य द्वारा सम्पूर्ण विनाश किया गया जिसकी प्राकृतिक प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वहाँ **कालबेरिया मेजर** के जंगल स्वतः ही नष्ट हो गये। बाद में पता चला कि डोडो **कालवेरिया मेजर** के बीज खाया करता था, जो उसके पेट एवं आँतों से गुजरते हुए पाचक रसों से उपचारित हो जाते थे, मल के साथ बाहर आकर वे बीज अंकुरित हो जाते थे, परन्तु डोडो की समाप्ति के बाद कठोर बीजों का कोई प्राकृतिक उपचार ही शेष नहीं रहा फलतः डोडो के बाद वहाँ **कालवेरिया** का एक भी बीज नहीं उगा।

इसी प्रकार पक्षियों के विनाश से चन्दन के बीजों के प्रकीर्णन पर बुरा असर पड़ता है। रेगिस्तानी क्षेत्रों में पक्षियों के विनाश से टिड्डियों की संख्या बढ़ने लगती है। साँपों को नष्ट करने से चूहों की संख्या ख़तरनाक ढंग से बढ़ती है। चूहों की संख्या बढ़ने से खेतों एवं गोदामों में अन्न-स्रोतों की बर्बादी में बढ़ोत्तरी होने लगती है। तीतर, बटेर जंगली मुर्गों आदि के सफाये से दीमकों को फलने-फूलने के अवसर मिल जाते हैं। इसी तरह माँसाहारी प्राणियों को बन्दूक का निशाना बनाने पर शाकाहारियों की संख्या बढ़ने लगती हैं। शाकाहारी जीवों के सफाये से माँसाहारी प्राणी भूख से परेशान होकर नर-भक्षी एवं पशु-भक्षी होने लगते हैं।

जंगलों की सफाई से वर्षा पर विपरीत प्रभाव पड़ने लगता है। सूक्ष्म जलवायु में भारी परिवर्तन आने लगते हैं। वन विहीनता से मिट्टी बन्धनरहित हो जाती है जिससे वह हवा तथा पानी से कट-कट कर दूसरे स्थानों पर पहुँचने लगती है। कटाव से आई मिट्टी बाँधों में जमा होकर उन्हें उथला बनाती है, नदी की गहराई भी तलछट से कम होने लगती है जिससे उसकी चौड़ाई में बढ़ोत्तरी होने लगती है। इस सबसे बाढें आने लगती हैं जिनसे जन-धन की अपार हानि तो होती ही है, हमारे वन, चारागाह, वन्यप्राणी, जल-स्रोत, मिट्टी आदि महत्वपूर्ण सम्पदायें भी बर्बाद हो जाती हैं।

बढ़ते औद्योगीकरण, बढ़ती जनसंख्या, प्रदूषण आदि से प्राकृतिक जंगलों को भारी नुकसान हुआ है। मानवीय हस्तक्षेपों से वन्य प्राणियों के प्राकृतिक आवासों में काफी कमी आई है। 'सूक्ष्म जलवायुओं' में तेज़ी से परिवर्तन हो रहा है। कुल मिला कर हमारा पर्यावरण असंतुलित होता जा रहा है।

मानव-जनित हस्तक्षेपों से वन एवं वन्यप्राणियों का भारी विनाश हुआ है। कुछ जातियाँ तो हमेशा-हमेशा के लिये ही समाप्ति के गर्भ में समा चुकी हैं। कई प्रजातियों के पौधे तथा प्राणी संख्या में मात्र मुट्ठी भर ही रहे हैं।

वन प्रसार अधिकारी, वन चेतना केन्द्र, गुलाब बाग, उदयपुर–313001 (राजस्थान)

यही नहीं अनेक ऐसे जटिल पारिस्थितिकीय सम्बन्ध एवं व्यवस्थायें भी छिन्न-भिन्न हुई हैं जिनके बारे में कोई कुछ नहीं जानता।

ऐसी परिस्थितियों में वन एवं वन्यप्राणी संपदा को बचाने तथा जटिल पारिस्थितिकीय व्यवस्थाओं को बरकरार रखने के लिये देश में जगह-जगह अभयारण्य तथा राष्ट्रीय उद्यानों की स्थापना की गई। इस तरफ हमारे देश में कितना कार्य हुआ यह इसी तथ्य से जाना जा सकता है कि वर्तमान में देश में अभयारण्यों एवं राष्ट्रीय उद्यानों की संख्या 300 से ऊपर जा चुकी है।

अभयारण्यों एवं राष्ट्रीय उद्यानों में किसी भी वन्य प्राणी को मारना या मारने की कोशिश करना एवं उसके आवास (वन) को क्षति पहुँचाना अपराध घोषित किया गया है, साथ ही यह भी प्रावधान रखा गया है कि वन्यप्राणियों की भलाई के लिय उनके आवासों में किसी सीमा तक सुधार कार्य भी किये जाने चाहिये।

अभयारण्य एवं राष्ट्रीय उद्यानों की संकल्पना भी अब पुरानी पड़ने लगी है। आवास सुधार के नाम पर हमें कुछ न कुछ तो करना ही पड़ता है। यह 'कुछ' भी क्या प्रकृति की व्यवस्थाओं के खिलाफ़ नहीं है ? वन्य प्राणियों को पीने का पानी सुलभ कराने के लिये खोदा गया तालाब उन प्राणियों के लिये तो वरदान है जो इसमें पानी पीते हैं, परन्तु इसकी खुदाई पर कितने ही जीवाणु, कीड़े-मकोड़े, केंचुये, छोटे-छोटे पौधे जो इस मिट्टी में रह रहे थे, नष्ट हो जाते हैं। ये छोटे-छोटे प्राणी मनुष्य के लिये तुच्छ हो सकते हैं परन्तु प्रकृति की दृष्टि में वे भी इतने ही महत्वपूर्ण हैं जितने अन्य प्राणी।

इन्हीं सूक्ष्मताओं को ध्यान में रखकर यूनेस्को ने एम० ए० बी० (M. A. B. Man And Biosphere) कार्यक्रम चलाया। इसी कार्यक्रम के तहत् बायोस्फीयर रिज़र्व बनाये जा रहे हैं। कोई भी क्षेत्र, जिसे बायोस्फीयर रिज़र्व घोषित कर दिया गया हो, वहाँ पर समस्त मानवीय हस्तक्षेप निषिद्ध होते हैं। बायोस्फीयर रिज़र्व में एक नन्हें जीवाणु को भी जीने का उतना ही अधिकार है (चाहे वह जीवाणु हानिकारक ही क्यों न हो) जितना एक बाघ या हाथी को है।

बायोस्फीयर रिज़र्व में प्रकृति के किसी भाग को जहाँ है, जैसा है, जितना है उसे उसी रूप में ज्यों का त्यों परिरक्षित किया जाता है। बायोस्फीयर रिज़र्व में न केवल वनस्पतियाँ एवं जीव-जन्तुओं को सुरक्षित किया जाता है, बल्कि मिट्टी, चट्टानें, प्राकृतिक जलस्रोत आदि सभी प्राकृतिक चीजों को भी ज्यों का त्यों सुरक्षित रखा जाता है। बायोस्फीयर रिज़र्व की गतिविधियाँ पूर्णरूपेण प्रकृति पर छोड़ दी जाती हैं एवं सुधार या प्राणियों के सुख के लिये कोई भी सकारात्मक मानवीय प्रयास तक भी निषिद्ध होता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि बास्फीयर रिज़र्व में संरक्षण चरम बिन्दु पर पहुँच जाता है।

नैसर्गिक वनों में प्रकृति अपने अधिकतम एवं उच्चतम् रूप में मुखरित होती है। प्राकृतिक वनों में वनस्पतियों एवं प्राणियों की सर्वाधिक किस्में पाई जाती हैं न कि मानव-निर्मित वनों में। यही कारण है बायोस्फीयर रिज़र्व प्राकृतिक वनों में ही बनाये जाते हैं क्योंकि इन वनों में न्यूनतम् स्थान में अधिकतम् वनस्पतियों एवं प्राणी प्रजातियों को संरक्षित एवं प्राकृतिक रूप में संग्रहीत किया जा सकता है। यही नहीं, इन स्थानों पर जटिल पारिस्थितिकीय संबंधों को भी संरक्षित किया जा सकता है।

हमारे देश की 'राष्ट्रीय एम० ए० बी० कमेटी' ने देश के विभिन्न भागों में बायोस्फीयर रिज़र्व बनाने की सिफारिश की है। हिमालय क्षेत्र, नीलगिरी की पहाड़ियाँ पश्चिमी घाट, राजस्थान का रेगिस्तान आदि कुछ चुने हुये प्रारूपिक आवासों में बायोस्फीयर रिज़र्व बना कर वहाँ की प्रतिनिधि वनस्पति एवं प्राणी समुदायों (Flora and Fauna) को ज्यों का त्यों संरक्षित एवं सुरक्षित करने का प्रावधान है। इससे इन क्षेत्रों का समस्त आनुवंशिक पुंज (Gene Pool) भविष्य के लिये सुरक्षित हो जायेगा एवं आने वाले दिनों में ये क्षेत्र हमारे लिये 'जीन बैंक' का कार्य करेंगे।

देश में कुछ बायोस्फीयर रिज़र्व बन भी चुके हैं। मध्य प्रदेश के बस्तर ज़िले में जगदलपुर के पास 'कांगेर घाटी राष्ट्रीय उद्यान' में कुछ क्षेत्र को बायोस्फीयर रिज़र्व

[शेष पृष्ठ 13 पर]

मोटर वाहनों की बढ़ती संख्या और पर्यावरण

दिनेश द्विवेदी 'मणि'

जीवों और वनस्पतियों के विकास का सीधा सम्बन्ध पर्यावरण से है। इसीलिये एक निश्चित सीमा तक प्रकृति पर्यावरण स्थितियों को झेलते हुये उसके अनुरूप ढलने के लिये, वनस्पतियों या प्राणियों की इच्छानुसार, उसके आनुवंशिक पदार्थ 'जीन' में परिवर्तन द्वारा कुछ सुधार करके अपेक्षाकृत अधिक अनुकूलन क्षमता वाली पीढ़ी तैयार करती है। यद्यपि हमारे देश की प्राचीन संस्कृति पर्यायरण के संरक्षण के अनुरूप ही रही है, किन्तु वर्तमान परिवेश में बढ़ती हुई भौतिकतावादी विचारधाराओं के अनुसार मनुष्य अपनी सुख-सुविधाओं में अधिकाधिक वृद्धि करने के उद्देश्य से प्राकृतिक सम्पदाओं का बुरी तरह से अविवेकपूर्ण दोहन कर रहा है। जिससे आज तरह-तरह के प्रदूषण जन्म लेते जा रहे हैं। फलस्वरूप आज सारा जीव-जगत् ख़तरे में है।

वायु प्रदूषण जो कि महानगरीय जीवन की देन है, आजकल बहुत तीव्रता से फैल रहा है। अब तक अरबों टन आर्सेनिक, 6 लाख टन ऐन्टिमनी, 10 लाख टन कोबाल्ट और 8 लाख टन निकिल वायुमण्डल में समा चुके हैं। पिछले सौ वर्षों में लगभग 24 लाख टन ऑक्सीजन समाप्त हो चुकी है। और उसकी जगह 36 लाख टन कार्बन डाइ ऑक्साइड ले चुकी है।

मोटर वाहनों की बढ़ती हुई संख्या वायु प्रदूषण के लिये अति महत्वपूर्ण कारक है। इस समय विश्व की सड़कों पर लगभग 20 करोड़ वाहन चल रहे हैं। इन मोटर वाहनों से निकलने वाली गैसों व पदार्थों से हमारा वायुमण्डल धीरे-धीरे विषाक्त होता जा रहा है। पेट्रोल व डीज़ल दोनों तरह के ईंधनों से चलने वाले मोटर वाहनों द्वारा जो प्रदूषक पदार्थ उत्पन्न होता है वह लगभग एक-सा ही होता है। हाँ, इनकी मात्रा इंजन की क्षमतानुसार अलग-अलग होती है। कुछ लोगों का विचार है कि पेट्रोल से चलने वाली गाड़ियों की अपेक्षा डीज़ल से चलने वाली गाड़ियाँ अधिक प्रदूषण पैदा करती हैं। यह विचार सही नहीं है। डीज़ल इंजन से बाहर निकलने वाली गैस अपेक्षाकृत अधिक काले रंग की होती है अत: लोगों को डीज़ल इंजन अधिक हानिकारक मालूम पड़ता है।

दहन-प्रकम द्वारा उत्सर्जित गैसें—पेट्रोल व डीज़ल (जीवाष्म ईंधन) से चलने वाले इंजनों से इनके अपूर्ण दहन के फलस्वरूप कार्बन मोनोऑक्साइड, विभिन्न प्रकार के हाइड्रोकार्बन जैसे बैंजीपाइरिन, नाइट्रोजन के विभिन्न ऑक्साइड, सल्फर के ऑक्साइड जैसे विविध प्रदूषक पदार्थ वायुमंडल में उत्सर्जित होते हैं। प्रत्येक वाहन चलते समय वातावरण को प्रदूषित करने के साथ-साथ वातावरण से ऑक्सीजन का भी इस्तेमाल करता है। एक कार एक हज़ार कि० मी० चलने पर इतनी ऑक्सीजन उपभोग कर लेती है जो कि एक मनुष्य के एक वर्ष तक जीवित रहने के लिये पर्याप्त है।

मोटर वाहनों से एग्जास्ट हुई गैसें सूर्य के प्रकाश में प्रकाश-रासायनिक धूम को जन्म देती हैं। इन उत्सर्जित गैसों में कार्बन मोनोऑक्साइड सबसे अधिक हानि पहुँचाती है। इसके प्रभाव से सिर दर्द की शिकायत हो सकती है साथ ही इसकी अधिक मात्रा से मृत्यु भी हो सकती है।

ईंधन के अधजले अवशेषों को हाइड्रोकार्बन कहते हैं। जब ईंधन का दहन पूर्ण नहीं होता है तब इंजन द्वारा वायुमण्डल में विभिन्न प्रकार के हाइड्रोकार्बन उत्सर्जित होते हैं। ईंधन का पूर्ण दहन होने पर हाइड्रोकार्बन की समस्या नहीं रहती। बैंजापाइरिन नामक हाइड्रोकार्बन का सीधा असर फेफड़ों पर होता है। इससे फेफड़ों का

एम० एस-सी०, उत्तरार्ध, कृषि रसायन, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद—211002

कैंसर भी हो सकता है। मोटर वाहनों के धुंये में नाइट्रोजन के विभिन्न ऑक्साइड भी होते हैं। अल्प मात्रा में सल्फर डाइऑक्साइड भी होता है। धूम व कोहरे से वातावरण में अक्सर 'स्माग' बन जाता है। सर्दियों में सल्फर डाइ ऑक्साइड के साथ मिलकर यह एसिड-स्माग बनाता है। एसिड-स्माग में साँस लेने में श्वाँस नलिका क्षतिग्रस्त हो जाती है।

अब सवाल यह उठता है कि मोटर वाहनों के द्वारा उत्सर्जित गैसों द्वारा होने वाले प्रदूषण को कैसे रोका जाय ? इसके लिये सबसे ज़्यादा आवश्यकता गाड़ियों के सही रख-रखाव की है। कारबुरेटरों को ही ठीक करके कार्बन मोनो ऑक्साइड की मात्रा कम की जा सकती है। डीज़ल इंजन के इंजेक्शन पाइप व डीज़ल में विभिन्न ऐडिटिव्ज मिलाने से काला धुँआ निकलना कम किया जा सकता है। एग्जास्ट पाइप में फिल्टर लगाने से कार्बन कणों की मात्रा कम की जा सकती है। इस तरह से काफी हद तक मोटर वाहनों के द्वारा होने वाले प्रदूषण को रोक कर पर्यावरण को सुरक्षित रखा जा सकता है।

□□

[पृष्ठ 11 का शेषांश]

बनाया जा चुका है। यहाँ कोटमसर की विशाल प्राकृतिक गुफायें एवं सघन वन देखने लायक हैं। कुछ स्थानों पर तो बायोस्फीयर रिज़र्व बनाने इसलिये भी ज़रूरी हैं क्योंकि आने वाले सालों में इन क्षेत्रों की जलवायु व आवासीय परिस्थितियों में आमूल परिवर्तन होने की आशंका है। जैसे राजस्थान का रेगिस्तान क्षेत्र। इस क्षेत्र में मरुगंगा 'इन्दिरा गाँधी नहर' की वजह से रेगिस्तान उपजाऊ क्षेत्र में बदलता जा रहा है। यदि समस्त रेगिस्तानी क्षेत्र अपना मूल स्वरूप खो बैठा तो वहाँ की प्रतिनिधि वनस्पतियाँ एवं प्राणी स्वतः ही वहाँ से पलायन कर जायेंगे। अतः इस क्षेत्र में 'डेज़र्ट नेशनल पार्क, जैसलमेर' को ज्यों का त्यों सुरक्षित करना ज़रूरी है।

आइये आने वाली पीढ़ियों के स्थायी अस्तित्व के लिये प्रकृति एवं प्राकृतिक संसाधनों को प्रदूषणमुक्त एवं संरक्षित रखने का संकल्प लें। यदि हमने इसे गंभीरता से नहीं लिया तो आने वाली पीढ़ियाँ हमें कभी माफ नहीं करेंगी।□□

गंगा की प्रदूषणमुक्ति

गंगा प्रदूषण को रोकने के लिए राष्ट्रीय स्तर पर कार्य हो रहे हैं। हरिद्वार, इलाहाबाद और वाराणसी में मुख्य रूप से सम्प्रति गंगा के निर्मलीकरण की योजनाएँ चल रही हैं। वाराणसी में गंगा को प्रदूषित होने से रोकने हेतु व्यापक योजना बनी है। यहाँ सड़कों, सीवरों, गलियों आदि को भी व्यवस्थित रूप देने का निश्चय किया गया है। कुछ घाटों पर विशेष पम्प द्वारा यन्त्र लगाकर गन्दे जल को गंगा में जाने से रोकने की व्यवस्था की गयी है। यह ठीक है पर अस्सी से राजघाट तक घाटों की जो श्रृङ्खला है वहाँ बहने वाले अधिकतर गन्दे नाले भी गंगा को प्रदूषित कर रहे हैं। इस सम्बन्ध में शीघ्र ध्यान देने की आवश्यकता है।

गंगा की धारा में नगर के गन्दे नालों का बहना रोकने तथा उस गन्दे जल को खेत की सिंचाई के लिए उपलब्ध करने की योजना है। इस सम्बन्ध में अभी तक जो कार्य चल रहा है, वह अधूरा है। इस ओर विशेष ध्यान दिये बिना वांछित फल की आशा नहीं की जानी चाहिए। मणिकर्णिका घाट पर शवदाह के कारण जल में कितना प्रदूषण आ जाता है, इसकी जाँच ठीक से की जानी चाहिए। यह तो स्पस्ट है कि कुछ दूर आगे चल कर अथवा मध्य धारा का जल दूषित नहीं होता। इस सम्बन्ध में सर्वेक्षण कर उसका व्यापक प्रचार किया जाना चाहिए। गंगा के प्रमुख घाटों में अशुचिता के कारण जो गन्दगी व्याप्त है, उसे तो जन सहयोग से रोका जा सकता है।

वाराणसी के घाट शोभा, सौन्दर्य, कला तथा पवित्र वातावरण के लिए प्रख्यात रहे हैं। इनका स्वच्छ रहना जरूरी है। काशी का प्राचीन रूप आनन्द वन का रहा है। यहाँ कूपों, तालाबों तथा कुण्डों को पाट कर नगर का निर्माण हुआ है। इसे विदेशी विशेषज्ञ नहीं समझ सकते हैं। इस नगर की प्राचीन रचना के जानकार ही उपयोगी सुझाव दे सकते हैं। कलकत्ते में गंगा प्रदूषण निवारण के लिए विशेषज्ञों की जो बैठक हुई थी उसमें यह स्पष्ट हो गया है कि इस कार्य में विदेशी विशेषज्ञों की अपेक्षा देश के विशेषज्ञ ही अधिक उपयोगी सिद्ध होंगे। गंगा-स्वच्छ-अभियान में विदेशी सहयोग तथा तकनीक का प्रयोग बहुत सोच-विचार तथा लाभालाभ की दृष्टि से किया जाना चाहिए। एक बात और। काशी में घाटों पर गन्दे पानी को पम्प से खींच कर खेतों में सिंचाई के लिए प्रयुक्त करते समय यह भी ध्यान रखना होगा कि इसके वे दूषित तत्व जो खाद के बदले उर्वरा शक्ति को नष्ट करने वाले हैं, उन्हे पहले ही विनष्ट कर दिया जाय। प्रदूषण को दूर करने के साथ ही यह समस्या भी अब विशेषज्ञों के समक्ष आ गयी है।

बहु-उपयोगी वृक्ष पलाश

गोविन्द प्रसाद मैठाणी

[जिन्होंने ढाक, पलाश या पलास या किंशुक के फूलों से लदे वृक्ष देखे हैं वे इस बात की पुष्टि करेंगे कि फूल वाले वृक्षों में यह सर्वाधिक भड़कीला और आकर्षक वृक्ष है। फरवरी-मार्च के महीनों में पलाश की फूलों से लदी और पत्तियों से विहीन शाखाएँ दूर से जलती मशालें लगती हैं। ऐसा लगता है मानो अंगारों से लपटें उठ रही हों। इसी कारण पलाश का दूसरा नाम 'वन की ज्वाला' या 'जंगल की आग' (फ्लेम ऑव द फॉरेस्ट) है। लाल-नारंगी या पीले फूलों से लदे वृक्षों की छटा अत्यन्त मनोहारी होती है।

बंजर क्षेत्रों में उगने वाला यह एक सामान्य 10–11 मीटर ऊँचा जंगली वृक्ष है। इसके फूलों से लोग पीला रंग बनाते हैं, जिसे वे होली में आमतौर से इस्तेमाल करते हैं। दालों वाली या लेग्यूमिनोसी (पैपिलियोनेसी या फैबेसी) कुल के इस वृक्ष का वानस्पतिक नाम **ब्यूटिया फ्रांडोसा या ब्यूटिया मोनोस्पर्मा** है। अंग्रेजी में इसे फ्लेम ऑव द फॉरेस्ट, हिन्दी में **ढाक, टेसू, पलाश या पलास**, बंगाली में **किनक**, कन्नड़ में **ब्रह्मवृक्ष या मुत्तुगा** गुजराती में **काकरिया**, मलयालम में **ब्रह्मावृक्ष**, मराठी में **काकराचा**, पंजाबी में **चाचरा**, तमिल में **कुट्टु मुरुक्कु**, तेलुगु में **मोटुगा** और उड़िया में किंजुको कहते हैं। इसके बीज आसानी से उग आते हैं। ताजे बीजों को बोकर और भी आसानी से उगाया जा सकता है। किसी कवि ने क्या खूब कहा है—

किंशुक कुसुम जानकर भँवरा,
झपटा शुक की लाल चोंच पर।
तोते ने निज चोंच चलाई,
जामुन का फल उसे सोचकर।

—सम्पादक]

वानिकी राष्ट्र के सामाजिक-आर्थिक विकास में सर्वोत्कृष्ट भूमिका निबाह रही है और उत्तरोत्तर निबाहते रहने की क्षमता रखती है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि वानिकी राष्ट्रीय पर्यावरण के सर्वाङ्गीण विकास में योगदान देने में सर्वोपरि है। यह सौभाग्य की बात है कि आज वानिकी की ओर सम्पूर्ण राष्ट्रीय चिन्तन उन्मुख हुआ है। यही उचित अवसर है जबकि जनता के सहयोगात्मक रुख का लाभ उठाया जाए और वानिकी को बृहद स्तर पर राष्ट्रीय सेवा में अर्पित कर दिया जाए। इसका माध्यम जनहित एवं बृहत्तर राष्ट्रीय हित की योजनायें ही हो सकती हैं। हमें दृढ़ता से वानिकी की तकनीकी विशेषता विकसित कर, जनता के समक्ष रखना होगा।

ऐसी कई योजनायें हैं जो कि पूर्व में प्रचलित थीं और आज पुनर्जीवित की जा सकती हैं। आवश्यकता है हमें जनहित के लिए उन्हें व्यावहारिक बनाने की और ऐसी एक योजना है लाख की खेती की। लगभग 2 दशक पूर्व लाख का व्यापार पर्याप्त गतिशील और लाभकारी था। परन्तु अधिकांशत: प्राकृतिक क्षमता पर निर्भर रह कर व्यापारी एवं शासन के हितों पर ही ध्यान रखा जाता था। अनुसंधान, विकास एवं विदोहन में रत श्रमिकों पर विशेष ध्यान नहीं था। फिर कृत्रिम पदार्थों के उपयोग से विश्व स्तर पर लाख की माँग में भारी कमी आयी तथा भावों में इतनी अधिक गिरावट आई कि लाख का व्यापार लड़खड़ाने लगा। इसे बचाने के लिए कोई विशेष प्रयास भी नहीं किये गए। श्रमिक वर्ग तो उचित मूल्यों और निश्चित बाजार के अभाव में टूट से गये, परन्तु समय ने फिर पलटा खाया, कृत्रिम पदार्थों की

निदेशक, वन संवर्धकीय अनुसंधान, वन अनुसंधान संस्थान, देहरादून-6

अपेक्षा प्राकृतिक लाख की उपयोगिता अधिक सिद्ध हुई। लाख की माँग बढ़ी। इसका बाज़ार सुनिश्चित हुआ और भाव दृढ़ हुये। 1983 में बाज़ार भाव कच्चे लाख के लिए 5,000 रुपये प्रति टन हुआ जो कि वर्ष 1986 में 25,000 रुपये टन बताया गया।

लाख निर्यात परिषद्, कलकत्ता, लाख की निर्यात सम्बन्धी गतिविधि में कार्यरत है। लाख के व्यापार एवं विशेषकर निर्यात में गिरावट आने से यह परिषद् चिन्तित हुई, इसी परिप्रेक्ष्य में परिषद् के कुछ अधिकारी वर्ष 1983 में विलासपुर (म० प्र०) आये। यह क्षेत्र लाख उत्पादन हेतु प्रख्यात होने से परिषद् के अधिकारियों ने क्षेत्रीय एवं कार्यालयीन स्तर पर सर्वेक्षण एवं चर्चायें की, उन्हें बताया गया कि यदि जनता को लाख बीज प्रदान किया जाए तथा लाख का उचित मूल्य प्रदान करने हेतु समर्थन-क्रय की व्यवस्था की जाए तो वांछित परिणाम प्राप्त होने की पूर्ण सम्भावनायें हैं। परिषद् ने जन-सम्पर्क से तथा बीज प्रदान करके तथा समर्थन मूल्य प्रदान करने की व्यवस्था करके जनता का विश्वास अर्जित किया। राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय लाख व्यापार की स्थिति का अध्ययन कर परिषद् यह महसूस करती है कि अब व्यापार और मूल्यों में उतार की कोई आशंका नहीं है।

इस कार्य में उत्तरोत्तर सफलता पाने तथा इसे जनप्रिय बनाने के लिए अनुसंधान एवं विकास की आवश्यकता है। लाख की खेती के आर्थिक सक्षमता के नमूने विकसित किये जाने होंगे। इसे निर्धन एवं दलित वर्ग के उत्थान का साधन बनाना होगा। यह व्यवसाय सीमित एवं कम उपजाऊ खेती वालों के लिये भी पूर्णकालिक आय का स्रोत सरलता से हो सकता है। इसकी पुष्टि होती है विलासपुर (म० प्र०) जिले के भरारी ग्राम में किये जा रहे प्रयोग से। प्रयोग का सूक्ष्म विवरण निम्नानुसार—

भरारी ग्राम विलासपुर रतनपुर मार्ग पर विलासपुर से 17 कि० मी० दूर है। मार्ग के दोनों ओर लगभग 40 हेक्टेयर भूमि है, जिसमें पर्याप्त संख्या में पलाश (**ब्यूटिया मोनोस्पर्मा**) के वृक्ष हैं। यह वृक्ष लाख की खेती के लिए सर्वाधिक महत्त्व का है। इस वृक्ष पर लाख के कीड़ों को पाल कर लाख प्राप्त करते हैं। पूर्व में यहाँ वन विभाग का लाख फार्म था। विभाग की सहायता से परिषद् ने यहीं पर प्रायोगिक लाख-खेती आरम्भ की है। लाख का बीज ग्रामीणों को देकर उन्हीं के माध्यम से पलाश का शाख-कर्तन कराकर शाखाओं पर लाख के कीड़ों का संक्रमण कराया। फलस्वरूप पेड़ लाख से लदे हैं। इस क्षेत्र में लगभग 200 पलाश वृक्ष प्रति हेक्टेयर हैं जिन पर 20 क्वि० पलाशबीज का संक्रमण किया है। यह आशा व्यक्त की जा रही है कि कम से कम 60 क्वि० लाख की फसल प्राप्त होगी। इस कार्य के लिए एक सामान्य व्यक्ति के 30 दिन के पारिश्रमिक की आवश्यकता है। बीज लगाने से लाख निकालने तक में लगभग 5 माह का समय लगता है और वर्ष में दो फसल प्राप्त की जा सकती हैं। कोई विशेष देख-भाल की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस प्रकार वर्ष में पारिश्रमिक और बीज के मूल्य को कम करके पर्याप्त आय प्राप्त हो सकती है।

पलाश के वृक्ष तो प्राकृतिक रूप से खेतों की मेड़ों और परती भूमि पर होते ही हैं। लेगूमिनस होने के कारण भूमि के लिए लाभकारी भी है। पलाश के पत्ते 'दोने' बनाने के काम, जड़ें कूचियों के लिये उपयोगी और फूल तो प्रसिद्ध टेसू के फूल हैं जिनसे रंग मिलता है और दवाई के काम भी आते हैं। टेसुओं ने तो कवि हृदयों को कविता रस प्रवाहित करने की प्रेरणा दी है। बसन्त तो टेसू के बिना वैधव्य युक्त ही लगे। टेसू की छटा किसके मन को न मोह ले। पूर्ण पर्णहीन वृक्ष पर ग्रीष्म-काल में हरी चपटी लटकती हुई फलियाँ भी प्राकृतिक सौन्दर्य में किसी भी प्रकार से कम नहीं। पुराने ताँबे के पैसे के आकार का बीज खाद्य तेल एवं खली का स्रोत है। पेड़ पर घाव करने से एक लाल गोंद निकलता है जो सूखने पर तीव्र गन्धयुक्त कठोर पदार्थ का स्वरूप धारण करता है। इस पदार्थ से 30-40 प्रतिशत नील निकलता है। पेड़ों पर मई-जून में घाव किया जाता है। गोंद अच्छे मूल्य पर बिकता है। मुलायम पत्तियाँ भैंस के काम आती हैं। पत्तियों से अच्छी खाद भी बनती है। जड़ों की खाल से रेशे तथा फूलों से पीला रंग निकलता है। बीज का शोधक (परगेटिव) और कृमिनाशक (व्हर-मिफ्यूज़) के रूप में औषधीय उपयोग होता है। यह घोड़ों

के लिये 'कण्डिशण्ड बौल' बनाये जाने के काम भी आते हैं।

बीज का चूर्ण "मैगट" को मारता है। यह एस्कैरिस या गोलकृमि (राउण्ड वर्म) के विरुद्ध कृमिनाशक (एन्थेलमिंटिक) के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। नींबू के साथ लगाने से धोबी-खाज दूर होती है।

पलाश की लकड़ी मेकेनिकल पल्प के काम आती है। पानी के अन्दर यह काफी दिनों तक खराब नहीं होती एवं कुंओं के स्थूणा (पाइल्स) एवं जगत के रूप में उपयुक्त होती है। शादियों में 'खाम' के लिये प्रयोग में लाई जाती है। पलाश की लकड़ी यद्यपि ईंधन की दृष्टि से विशेष अच्छी नहीं होती परन्तु जलाऊ लकड़ी के अभाव में अब पलाश पर ही पूरा प्रहार है। यदि वर्तमान उपेक्षा निरन्तर रही तो आश्चर्य नहीं कि हमारे पारिस्थितिकी तन्त्र से पलाश लुप्त ही हो जाए।

पलाश की एक किस्म होती है जिसकी खाल अपेक्षाकृत सफेद होती है। इस पर लाख बीज का संक्रमण नहीं हो पाता है। सामान्य किस्म और इस किस्म में जो अंतर है पर उस शोध कार्य करने की पर्याप्त सम्भावनायें हैं। पलाश की पत्तियों में नाइट्रोजन युक्त यौगिक पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं। इसे धान की खेती में हरी खाद के रूप में भी काम में लाते हैं। इसकी पत्तियों और फूलों में कामोत्तेजक गुण होते हैं।

कुछ पलाश वृक्षों पर पीले फूल भी होते हैं। यह एक उत्परिवर्ती (म्यूटैण्ट) मालूम पड़ती है। मिश्रित पत्ती के स्थान पर एक ही पत्ती तथा 3 पत्तियों के स्थान पर 4 पत्तियों वाली किस्में भी पाई जाती हैं। इसके महत्व और प्रक्रिया पर शायद ही कोई अध्ययन हुआ हो !

पुनरुत्पादन सीधे बीज बोने तथा रोपणी में तैयार किये पौधे से होता है। रोपण में सुअरों, सेई चूहों से पर्याप्त क्षति होती है। लाख के लिए 6 मी^{2} या इससे अधिक अन्तराल उपयुक्त होता है। बीज की अंकुरण क्षमता एक वर्ष में समाप्त हो जाती है। ताजे बीज की अंकुरण क्षमता अच्छी होती है। वास्तव में रोपण-पद्धति से इसके उत्पादन पर कोई विशेष कार्य नहीं हुआ है। पलाश 'कापिस' 'पोलार्ड' और 'हटसकर' पद्धति से भी पुनरुत्पादित होता है। पुनरुत्पादन की पद्धति का विभिन्न उपयोगों के लिए मानकीकरण की आवश्यकता है।

ग्रामीण अर्थव्यवस्था में तो पलाश अहम भूमिका निभाने की क्षमता रखता ही है अपितु पर्यावरणीय दृष्टि से भी यह बहुत महत्वपूर्ण है। पड़ती–भूमि वृक्षारोपण में कुछ विशिष्ट भूमियों पर तो सम्भवतः पलाश ही सबसे अधिक उपयोगी होगा। काली मिट्टी, अपर्याप्त निथारक्षमता वाली भूमि तथा क्षारीय भूमि में यह एक महत्वपूर्ण सफल प्रजाति है। हमारे पर्यावरण से जुड़ा पलाश हमारे लिये इतना उपयोगी है कि इसकी अब और अधिक उपेक्षा नहीं की जानी चाहिये। इसकी रोपण-पद्धति विकसित करने, आनुवंशिक सुधार करने तथा लाख की खेती के आर्थिक लाभ वाले नमूने विकसित करने पर अनुसंधान कार्य में अब अधिक विलम्ब नहीं होना चाहिए।

ऐसा अनुमान है कि गरीबी रेखा से नीचे वाले एक सामान्य ग्रामीण-परिवार के लिए एक हेक्टेयर पलाश वृक्ष युक्त क्षेत्र उपलब्ध कराने पर वर्ष भर पर्याप्त आय प्राप्त हो सकती है। पत्तों और फलों को भी बेचा जा सकता है। अन्तर्स्थल में अन्य उपज भी उगाई जा सकती हैं। इस प्रकार वर्ष भर नियोजन एवं भरण-पोषण के साथ-साथ पर्यावरणीय ह्रास से भी बचा जा सकता है। ☐☐

नव वर्ष 1988 शुभ हो

आँकड़े कैसे याद रखता है कंप्यूटर ?

आशुतोष मिश्र

मानव मस्तिष्क की स्मृति क्षमता से हम सब भली-भाँति परिचित ही हैं। हम कितना कुछ पढ़ते हैं, परन्तु उसका कुछ अंश ही याद रह पाता है, और शेष भूल जाता है। यदि कंप्यूटर का भी यही हाल रहे, तो हमारी सभी गणनाएँ संकट में पड़ जाएँ। कंप्यूटर को न केवल बहुत कुछ याद रखना पड़ता है, वरन् यह भी देखना होता है कि समय पड़ते ही आवश्यक जानकारी पलक झपकते प्रस्तुत हो जाए, यह नहीं कि बैठे सोच रहे हैं! इस उद्देश्य की पूर्ति कंप्यूटर की 'स्मृति' (Memory) से होती है। वास्तव में यदि कंप्यूटर की 'मेमोरी' न होती, तो वह कोई भी कार्य—गणितीय अथवा तार्किक—करने में समर्थ न होता। जिस कंप्यूटर की मेमोरी जितनी विशाल होगी, वह उतना ही अधिक कार्यकुशल समझा जाएगा।

कंप्यूटर की 'मेमोरी' आदि से संबद्ध पेचीदियों को 'हार्डवेयर' (hardware) के अंतर्गत रखा जाता है। वैसे तो कंप्यूटर मेमोरी को पूर्णरूपेण समझा सकना इस लेख की सीमा से बाहर है, फिर भी इस बात का प्रयत्न किया जाएगा कि आप इसके रहस्य को समझ सकें।

इस लेख में कुछ शब्दों के संक्षिप्त रूप प्रयोग में लाए जाएँगे, जैसे आई० सी० I. C's : Integrated Circuit; एकीकृत परिपथ; एम० ओ० एस० MOS : Metal Oxide Semiconductor; डी० टी० एल० DTL : Diode transistor logic; टी टी एल TTL : Transistor Transistor logic.

कैसी होती है कंप्यूटर मेमोरी ?

किसी भी मेमोरी में चार विशिष्ट इकाइयाँ होती हैं—

(1) **अन्तरापृष्ठ इकाई** (Interface Unit)—इस इकाई द्वारा कंप्यूटर तथा बाह्य वातावरण के बीच संपर्क स्थापित रहता है अर्थात् इससे कंप्यूटर संकेत ग्रहण कर सकता है। आज एम० ओ० एस० (MOS) आई० सी० (IC) प्रयोग में लाए जा रहे हैं जिनके द्वारा डी टी एल (DTL) तथा टी टी एल (TTL) में सामंजस्य स्थापित करना संभव हो सका है।

गणतीय फलन इकाई (Arithmetic Function Unit)—इस इकाई द्वारा 'डाटा' (data) पर कोई कार्य होता है। 'कार्य' का अर्थ हुआ—जोड़ना, घटाना, लॉग लेना इत्यादि। एम ओ एस (MOS) प्रयुक्त करते समय जोड़ने अथवा घटाने के फलनों का स्पष्टीकरण आवश्यक नहीं होता क्योंकि आवश्यकता पड़ते ही ये हमें स्वतः उपलब्ध हो जाते हैं। इससे समय की विशेष बचत होती है, और इस कारण ही द्विध्रुवीय परिपथों (bipolar circuitry) के स्थान पर एम ओ एस (MOS) का प्रयोग अधिक मात्रा में हो रहा है। आर ओ एम (ROM) (read only memory) को प्रोग्रामित करके अनेक विशिष्ट फलनों ($\sqrt{}$, sin, cos θ, log) इत्यादि का समावेश कंप्यूटर मेमोरी में संभव होता है।

(3) **नियंत्रण इकाई** (Control Unit)—इसके द्वारा कंप्यूटर में आने वाली जानकारी को नियंत्रित किया जाता है। इस इकाई का कार्य अत्यन्त जटिल होता है। इसमें आर ओ एम (ROM) का भी प्रयोग बहुधा किया जाता है क्योंकि इससे कुछ जानकारी को एक विशेष शृङ्खला में प्रोग्रामित किया जा सकता है तथा 'टाइमर' (Timer) के प्रयोग द्वारा आर ओ एम (ROM) को चलाकर शृङ्खला में जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

(4) **स्मृति इकाई** (Memory Unit)—इसका कार्य 'डाटा' को एक स्थान पर एकत्रित करना होता है—यह शृंखलाबद्ध रूप में हो सकता है अथवा बिखरे हुए रूप में।

आई० आई० टी० कानपुर, उत्तर प्रदेश

जानकारी के किसी भी अंश को उसकी स्थिति (Location) द्वारा निर्धारित किया जाता है।

कैसे कार्य करती है कंप्यूटर मेमोरी ?

कंप्यूटर 'स्मृति' आँकड़ों को भण्डारित करती है तथा समय पड़ने पर उन्हें उपलब्ध कराती है। मेमोरी में दिये गए **प्रथम** आदेश के साथ ही कार्य प्रारम्भ होता है, तथा यह शृंखलाबद्ध रूप में तब तक चलता रहता है, जब तक कोई तार्किक निष्कर्ष नहीं निकल जाता। प्रत्येक आदेश का पालन होते ही मेमोरी दूसरे आदेश को ग्रहण कर लेती है, तथा उसका पालन करती है। मेमोरी में आँकड़े प्राप्त करने के लिए उसका स्थान स्पष्ट करना पड़ता है, फिर तो पलक झपकते ही वह हाजिर हो जाता है। यह ठीक उसी प्रकार से है जैसे कि पत्र में पिन कोड से पत्र उसी डाकघर में पहुँचता है, कहीं और नहीं। उदाहरणस्वरूप, 'विज्ञान' के संपादक तक एक पत्र पहुँचाने के लिए कंप्यूटर को निम्न आदेश देने पड़ेंगे, और वह शृंखलावद्ध तरीके से उनका पालन करेगा।

(1) जाओ पिन कोड (PIN CODE) 211002.
जाओ=गो टु (GO TO)

(2) जाओ महर्षि दयानन्द मार्ग

(3) जाओ विज्ञान परिषद्

(4) जाओ संपादक 'विज्ञान'

आप समझ ही गए होंगे, कि इसमें शृङ्खला का होना कितना आवश्यक होता है।

यदि किसी आँकड़े को मेमोरी में स्थान देना होता है, तो निम्न आदेश दिये जाते हैं—

(1) भण्डारित होने वाले आँकड़े को निवेशी टर्मिनल (input terminal) पर O तथा I के द्वि-आधारी रूप में निवेशित किया जाता है। वास्तव में, हम निवेश तो आम संख्याओं व शब्दों के रूप में ही करते हैं, परन्तु उनके वोल्टता स्तर (voltage levels) O तथा I के तुल्य होते हैं।

(2) इस आँकड़े का दिशा निर्देश एक सिग्नल के रूप में दिया जाता है, जिससे यह तय हो जाता है कि अमुक आँकड़ा मेमोरी के किस भाग में रहेगा।

(3) क्लिअर/राइट (CLEAR/WRITE) के आदेश की एक पल्स मेमोरी में भेजी जाती है, जिससे कि वह चुना हुआ भाग किसी पुरानी भण्डारित सामग्री से रिक्त हो जाए।

(4) इसके पश्चात् किसी भी आँकड़े को उस स्थान पर भण्डारित किया जा सकता है।

मेमोरी के प्रकार

(1) **क्रोड मेमोरी** (Core memory)—फेराइट क्रोड मेमोरी में छोटे-छोटे चुंबकीय छल्ले प्रयुक्त होते हैं
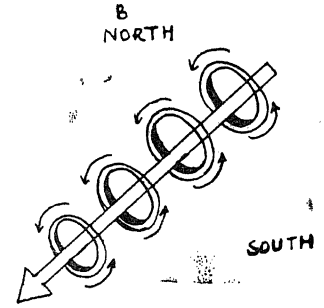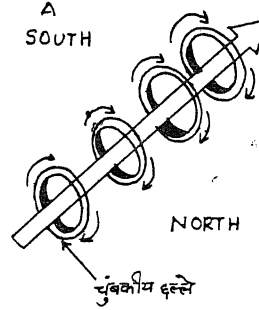
कोर मेमोरी
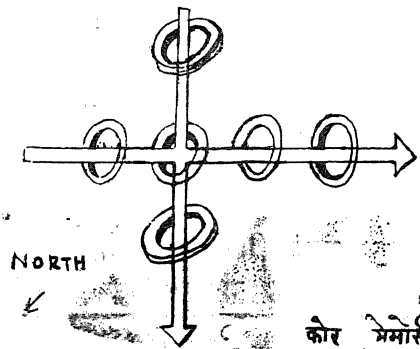
कोर मेमोरी

जो कि पतले तारों के जाल में फँसे रहते हैं। तार में विद्युत्धारा प्रवाहित कर, इन छल्लों को एक विशिष्ट ध्रुवण प्रदान किया जाता है, जो कि इनकी 'O' अथवा 'I' की अवस्था को निर्धारित करता है। एक अन्य तार की मदद से इस छल्ले की चुंबकीय स्थिति ज्ञात करके मेमोरी के आँकड़े पढ़े जा सकते हैं।

यद्यपि कुछ दशकों तक कोर मेमोरी का प्रयोग बहुतायत में हुआ, परन्तु इनके अधिक स्थान घेरने के कारण तथा आँकड़ों तक पहुँचने में लगने वाले समय के कारणवश, कोर मेमोरी शनैः शनैः अन्य प्रकार की मेमोरी को स्थान देने लगी है।

क्रोड मेमोरी बनाने वाली कंपनियों का उद्देश्य यह रहता है कि वे अपनी मेमोरी की क्षमता को किसी न किसी प्रकार बढ़ाएँ—जैसे कि क्रोडों के बीच के स्थान को कम करके।

(2) **अर्धचालक मेमोरी** (Semiconductor memory)—प्रत्येक मेमोरी एक ही सिद्धान्त पर आधारित होती है—वह है अवस्था परिवर्तन। एक बार उसकी अवस्था निर्धारित कर देने पर, वह उसमें तब तक रहती है, जब तक उसमें पुनः परिवर्तन न किया जाए। इसलिए कंप्यूटर मेमोरी को हम स्विचों का एक जंजाल कह सकते हैं, जिनमें से कुछ "ऑन", तथा कुछ "ऑफ" अवस्था में रहते हैं। कंप्यूटर की मेमोरी में आँकड़े भरने का अर्थ होता है—इस जंजाल के स्विचों की अवस्था में फेर-बदल करना।

अर्धचालक मेमोरी ट्रांजिस्टरों के "फ्लिप-फ्लाप" (flip-flop) समायोजन पर आधारित होती है। इस समायोजन की विशेष बात यह है कि एक बार दी गई अवस्था को बनाए रख सकता है। इन ट्रांजिस्टरों से बने एक द्विस्थितिक परिपथ (bistable circuit) में यदि एक ट्रांजिस्टर धारा प्रवाह होने देता है, तो दूसरा उसे रोके रहता है, तथा उपयुक्त सिग्नल मिलने पर यह समायोजन ठीक विपरीत दिशा में कार्य करने लगता है। इस प्रकार के अनेक समायोजनों को एकत्रित करके अर्धचालक कंप्यूटर मेमोरी तैयार की जाती है, जिसमें प्रत्येक फ्लिप-फ्लाप का स्थान निर्धारित होता है। कंप्यूटर में आँकड़े भरते समय, किसी एक फ्लिप-फ्लाप को चुना जाता है, तथा उपयुक्त विद्युत् वोल्टेज प्रदान कर उसे निर्धारित अवस्था में ले आया जाता है।

एकीकृत परिपथों (IC's) के प्रयोग द्वारा अर्धचालक मेमोरी अत्यन्त कम स्थान घेरती है, तथा अत्यन्त कार्य-कुशल होती है। एक छोटी सी सिलिकॉन चिप पर ही हजारों ट्रांजिस्टर, रेजिस्टर, तथा अपोड बनाए जा सकते हैं, जिनके कारण आज अर्धचालक मेमोरी का प्रयोग अत्यन्त विशाल स्तर पर हो रहा है।

आर. ओ. एम. (ROM) अर्थात् Read Only Memory—एक विशेष प्रकार की मेमोरी होती है, जिससे हर बार एक ही प्रकार के आँकड़े प्राप्त होते हैं, जब तक कि उनके डाटा को बदला न जाए। जैसे कि $+, -; \times, \div$, log, sin, cos इत्यादि फलन हर बार एक ही उत्तर प्रदान करते हैं।

(3) **चुंबकीय बुलबुले** (Magnetic bubble memory)—

(4) **आवेश युग्मित युक्तियाँ** (Charge coupled devices)

(5) **चुंबकीय टेप** (Magnetic tape)—चुंबकीय टेप पर आँकड़े तभी अंकित किए अथवा पढ़े जा सकते हैं
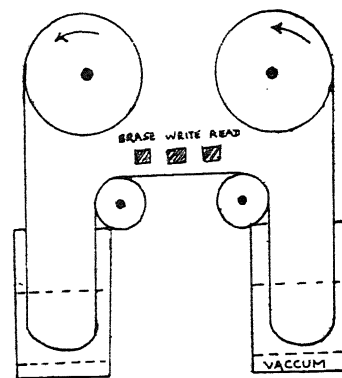
चुंबकीय टेप

जब वह एक निर्धारित गति से घूर्णन कर रहा हो जो कि अधिकतर कंप्यूटरों में 75 से 200 इंच प्रति सेकेंड होती है। चूँकि विश्राम अवस्था से चलकर इस गति को प्राप्त

[शेष पृष्ठ 21 पर]

हिन्दी विज्ञान लेखक रामचन्द्र तिवारी नहीं रहे

तुरशन पाल पाठक

हिन्दी विज्ञान के कुशल लेखक, सम्पादक, आकाशवाणी दिल्ली से वैज्ञानिक वार्ताओं में सुप्रसिद्ध प्रसारक, वैज्ञानिक ध्वनि नाटकों और फीचरों के सर्वश्रेष्ठ निर्माता, लब्धप्रतिष्ठित उपन्यासकार और प्रतिभावान कहानी लेखक, सहृदय इन्सान श्री रामचन्द्र तिवारी का जन्म 19 मार्च 1910 को उत्तर प्रदेश के प्रतापगढ़ (अवध) जिले में समदरिया—"दूबे-का-पुरवा' नामक गाँव में हुआ था। उनके पिता का नाम श्री गयादीन तिवारी और उनकी माता का श्रीमती कौशल्या देवी था।

तिवारी जी ने रसायनशास्त्र में दिल्ली के हिन्दू कॉलेज से स्नातक स्तर की उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। सेवा में प्रारंभिक वर्षों में वे आयुर्वेदिक और यूनानी तिबिया कॉलेज की अनुसंधानशाला में कुछ वर्षों तक कार्य करते रहे। बाद में वे वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान परिषद् की प्रयोगशाला में पहले पूना और फिर दिल्ली में सेवारत हो गये।

तिवारी जी का विवाह सन् 1936 के आस-पास हुआ था पर उनकी पत्नी श्रीमती सिद्ध तिवारी 1973 में स्वर्गवासी हो गई थीं। तिवारी दम्पति द्वारा मिलकर लिखी गई लोकप्रिय वैज्ञानिक प्रस्तुक 'पानी बोला' अपने समय की हिन्दी में वैज्ञानिक बाल पुस्तकों में पर्याप्त लोकप्रिय पुस्तक थी।

सन् 1952 में जब 'विज्ञान प्रगति' लोकप्रिय वैज्ञानिक पत्रिका के परिषद् द्वारा प्रकाशित करने की योजना बनी तो तिवारी जी इस पत्रिका के प्रथम सम्पादक नियुक्त किये गये थे। आज इस पत्रिका की 1 लाख 16 हज़ार प्रतियाँ प्रकाशित होती हैं। परिषद् ने जब 'वेल्थ ऑफ इंडिया रॉ मैटीरियलस' के हिन्दी संस्करण 'भारत की सम्पदा—वैज्ञानिक विश्वकोश' की योजना बनाई तो रामचन्द्र तिवारी जी इस विश्वकोश के प्रथम सम्पादक नियुक्त किये गये थे। हालांकि इस विश्वकोश का पहला खण्ड तैयार कर तिवारी जी ने मुद्रण हेतु भेजा था लेकिन इसके मुद्रित होने से पहले ही वे रिटायर हो गए थे। यह खंड **डॉ० शिव गोपाल मिश्र**, जो इस समय इलाहाबाद विश्वविद्यालय में रसायन विभाग में प्रोफेसर हैं, की देख-रेख में मुद्रित हुआ था। इस खण्ड का विमोचन करते हुए तत्कालीन प्रधान मन्त्री इन्दिरा गाँधी ने इस प्रकाशन की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। डॉ० शिवगोपाल मिश्र 1973 में जब इलाहाबाद विश्वविद्यालय वापस चले गये तो कार्य को सम्पादक की हैसियत से आगे बढ़ाने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। तिवारी जी का लगाया विश्व-कोश का यह पौधा अब आठ खण्डों और दो पूरक खंडों की यात्रा पूरी कर चुका है, इसके शेष तीन खंड प्राकशनाधीन हैं।

श्री तिवारी जी अनुवाद की तुलना में मौलिक लेखक को अधिक अच्छा मानते थे। चर्चा होने पर इसकी तुलना अपनी एक छोटी सी कविता सुना कर अक्सर किया करते थे।

वे उगल रहे हम निगल रहे,
गतिवादी वे अनुवादी हम ॥
परभाषी कलमें बनी रहे,
हिन्दी विज्ञानी को क्या गम ॥

सरकारी साहित्य की रचना के अतिरिक्त तिवारी जी ने निजी लेखन भी पर्याप्त किया था। अखबारों में तो उनके लेख अक्सर आते रहते थे। 1947 के आसपास **तिवारी जी और विष्णु प्रभाकर** दोनों के रेडियो कार्यक्रम लगातार आते रहते थे। उनके रेडियो नाटक, फीचर तथा वार्तायें समाज में वैज्ञानिक सोच-विचार के लिए लोकप्रिय

सम्पादक, 'भारत की सम्पदा-वैज्ञानिक विश्व कोष' प्रकाशन एवं सूचना निदेशालय, नई दिल्ली—110012

हो गये थे, आज उनकी पुस्तकें देखकर लगता है कि वे वैज्ञानिक गुत्थियों को सरलता से कहने में माहिर थे। बच्चों के लिए उनकी पुस्तक 'अपना देश' लोकप्रिय रही तथा सुभद्रा उपन्यास ऐसा था जो कई विश्वविद्यालयों के स्नातक पाठ्यक्रम में सम्मिलित था। अन्य पुस्तकों में 'कमला', 'नवजीवन', 'सागर सरिता और अकाल', 'सोना और नर्स' प्रमुख हैं। उपन्यासों में 'सुभद्रा' के अतिरिक्त 'दुर्भिक्षिका', 'कृष्ण अर्जुन युद्ध' तथा लोकप्रिय विज्ञान पुस्तकों में 'पानी बोला', 'धरती माता', 'विज्ञान और सभ्यता' तिवारी जी की चर्चित कृतियाँ हैं। अनुवाद के क्षेत्र में **हरमन मैलविल** की पुस्तक 'मोबीडिक' तथा **विलियम फॉकनर** की पुस्तक 'द रिवर्स' और **दस्तवस्की** की पुस्तक 'गैम्बलर' तिवारी जी का सराहनीय कार्य माना जाता है। अन्य लघु पुस्तकों में 'गंगा जी', 'वन-सम्पदा', 'जंगल की सैर', 'माटी की मूरत जागी' नामक कृतियाँ कम कीमत की अच्छी पुस्तकें हैं। विवेकानंद अंग्रेज़ी साहित्य का हिन्दी रूपान्तरण भी तिवारी जी ने बड़ी लगने से किया।

कविता लिखना भी तिवारी जी का प्राकृतिक स्वभाव था।

रिटायर हो जाने के बाद उन्होंने अपना उपनाम **'विज्ञानानंद'** रख लिया था और इसी नाम से वे गीता के प्रवचन किया करते थे। उनका सरल स्वभाव सभी को लुभा लेता था। जो भी उनके सम्पर्क में आता था उसकी जितनी भी वे कर सकते थे मदद अवश्य करते थे। कोई कुछ करना चाहता था तो वे उसे प्रोत्साहित अवश्य करते थे। वे सबमें अच्छाई देखते थे और अन्य लोगों को भी सुखी रहने के लिए ऐसा ही करने पर ज़ोर देते थे।

सन् 1977 में दिल्ली के हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने हिन्दी विज्ञान लेखक सम्मेलन आयोजित कर उन्हें सम्मानित किया था और सम्मानस्वरूप उन्हें सरस्वती की प्रतिमा और शाल भेंट किया था।

अपने परिश्रम और सद्व्यवहार के बल पर जीवन में अपने पैरों आप खड़े होने तथा परिवार के साथ इष्ट मित्रों को भी सद्मार्ग बताने और अत्मविश्वास जगाने वाले तिवारी जी को हम जितना भी याद करें, वह दीप-स्तम्भ की तरह हम सभी के हित में है। □□

[पृष्ठ 19 का शेषांश]

करने में कुछ समय लगता है, इसलिए आँकड़ों के हर अंश के दोनों ओर एक इण्टरब्लाक गैप (interblock gap) होता है। नौ ट्रैक वाले टेप पर यह रिक्त स्थान 0.6 इंच होता है, तथा सात ट्रैक वाले टेप पर 0.75 इंच। कंप्यूटर में टेप के साथ निर्वात लूप (Vaccum loops) भी लगाए जाते हैं जिनके द्वारा समस्त टेप के कुछ चुने हुए हिस्सों को अलग किया जा सकता है। टेप चालू करते समय अथवा रोकते समय 1000 g तक के त्वरण (acceleration) उत्पन्न होते हैं।

(6) **चुंबकीय डिस्क** (Magnetic disc)—चुंबकीय **डिस्कों** पर रिकार्डिंग माध्यम फेरस ऑक्साइड अथवा फेरस ऑक्साइड तथा क्रोमियम ऑक्साइड होता है। अधिकतर डिस्क 14 इंच व्यास की होती हैं तथा एल्युमिनियम की बनी होती हैं, जिन पर रिकार्डिंग माध्यम लेपित रहता है। इस चुंबकीय माध्यम में सुई के आकार के चुंबकीय कण होते हैं, जो कि उत्पादन के समय इस प्रकार निर्देशित कर दिए जाते हैं, कि उनकी दिशा डिस्क के घूमने की दिशा में होती है और इसलिए प्रयोग के दौरान इन्हें अधिक से अधिक चुंबकीय किया जा सकता है। आजकल बहुधा प्रयुक्त होने वाली फ्लॉपी डिस्क (floppy disc) 5.25 इंच से 8.0 इंच व्यास तक की होती तथा लगभग 0.03 इंच मोटे, एक लचीले पदार्थ की बनी होती हैं। वे डिस्क एक केन्द्रीय अक्ष के ओर घूमती हैं, तथा आँकड़े वृत्ताकार पंक्तियों में भण्डारित किए जाते हैं। आँकड़ों को रिकार्ड करने अथवा उन्हें पढ़ने के लिए रिकार्डिंग व रीडिंग हेड (recording and reading heads) लगे होते हैं।

कंप्यूटर की मेमोरी उसका एक अभिन्न अंग है, ठीक उसी प्रकार जैसे मानव का मस्तिष्क। जिस प्रकार हम रटकर बातें याद रखते हैं, ठीक वैसे ही मेमोरी भी आँकड़ों को रटती है और इस बात का ध्यान रखती है कि आपके आदेश देते ही वे उपलब्ध हो जाएँ। है न यह एक अद्भुत चीज़ ! □□

विज्ञान समाचार

1. भारतीय विज्ञान कांग्रेस का 75वां अधिवेशन

7 जनवरी को पुणे में 'भारतीय विज्ञान कांग्रेस' के 'प्लैटिनम जयंती' अधिवेशन के उद्घाटन के अवसर पर **प्रधानमंत्री राजीव गांधी** ने कहा कि भारत में विज्ञान का मुख्य ध्येय गरीबी समाप्त करना है और इसके लिए उन्होंने अनुसंधान करने की सलाह दी। विज्ञान कांग्रेस के मुख्य विषय 'विज्ञान और तकनीक के आयाम' की चर्चा करते हुये उन्होंने बताया कि उनकी नज़र में 'मानव कल्याण सबसे महत्वपूर्ण आयाम है।' विज्ञान और तकनीकी की उपलब्धियों को गाँवों तक पहुँचाने का वैज्ञानिकों से आग्रह करते हुये उन्होंने कहा कि हमें ऐसी नयी तकनीकी और वैज्ञानिक अनुसंधान की ज़रूरत है जिससे सूखे का खेती पर प्रभाव न पड़े, तिलहनों और दालों के उत्पादन में वृद्धि हो तथा शुष्क कृषि की व्यवस्था हो। प्रधानमंत्री ने इसके पूर्व **प्रो० सी० वी० रमण** की कांस्य प्रतिमा का अनावरण किया। इस अधिवेशन में लगभग 2000 वैज्ञानिकों ने भाग लिया। इसके अध्यक्ष **डॉ० सी० एन० आर० राव** थे।

इस अवसर पर श्री राजीव गांधी ने अपने विज्ञान सलाहकार प्रो० एस० जी० मेनन को आशुतोष मुखर्जी स्वर्ण पदक प्रदान किया। इसके अलावा चौदह अन्य वैज्ञानिकों को भी उनकी विशिष्ट सेवाओं के लिये सम्मानित किया।

अन्य पुरस्कार प्राप्त कर्ताओं में हैं—प्रोफेसर डी० एस० कोठारी, डॉक्टर बी० पी० पाल, डॉक्टर एम० एस० स्वामीनाथन, डॉक्टर (श्रीमती) आसिमा चटर्जी, प्रोफेसर आर० सी० मेहरोत्रा, प्रोफेसर ए० के० साहा, प्रोफेसर ए० के० शर्मा, प्रोफेसर बी० रामचन्द्र राव, प्रोफेसर ए० एस० पेन्टल, डॉक्टर टी० एन० खोशू, प्रोफेसर (श्रीमती) अर्चना शर्मा, प्रोफेसर के० सिंघल, प्रोफेसर पी० के० बोस और प्रोफेसर एस० के० मुखर्जी।

भारतीय विज्ञान कांग्रेस असोसियेशन ने प्रधान मंत्री राजीव गांधी को संघ का मानद सदस्य बना लिया।

प्रधान मंत्री की विज्ञान सलाहकार समिति की दो दिन की बैठक 22 जनवरी से यहाँ राष्ट्रीय समुद्र विज्ञान संस्थान में होगी।

2. घुड़सवारी हृदयरोग में लाभप्रद

त्बिलिसी (ज्यार्जिया) के 'चिकित्सक प्रशिक्षण संस्थान' के विशेषज्ञों का कहना है कि घोड़े की सवारी हृदयरोग की चिकित्सा में सहायक होती है। विशेष रूप से हृदय की शल्यचिकित्सा के बाद घोड़े की सवारी लाभप्रद होती है क्योंकि इससे हृदय मज़बूत होता है। विशेषज्ञों का कहना है कि यह मान्यता ग़लत है कि अधिक धड़कने से हृदय कमज़ोर होता है। वास्तव में अधिक धड़कने से और तेज़ी से काम करने से हृदय मजबूत होता है और उसकी मांस-पेशियों को नई शक्ति प्राप्त होती है। घोड़े की सवारी में व्यक्ति को विशेष शारीरिक श्रम नहीं करना पड़ता है, लेकिन उसके हृदय की धड़कन बढ़ जाती है। इसके अलावा इससे रीढ़ की हड्डी सीधी होती है तथा आयु के साथ उत्पन्न होने वाले रोगों की गति भी धीमी हो जाती है।

3. कॉफ़ी हृदय के लिए लाभदायक

वियना चिकित्सा स्कूल के एक अनुसंधान दल के नेता **प्रोफेसर बर्नड् बाइण्डर** के अनुसार कॉफ़ी हमारे शरीर की 'हार्ट अटैक' (दिल के दौरे) से रक्षा करता है। जैवरासायनिक प्रयोगों द्वारा इस बात की पुष्टि हो चुकी है कि कॉफ़ी रक्त-नलिकाओं में रक्त के थक्कों को बनने से रोकता है और इस प्रकार दिल के दौरों को नहीं पड़ने देता। आस्ट्रेलिया के वैज्ञानिकों का मत है कि प्रति दिन दो प्याले कॉफ़ी का सेवन करने वालों को दिल के दौरे नहीं पड़ते। कॉफ़ी में पाया जाने वाला 'कैफ़ीन' उस एन्ज़ाइम को उदासीन या निष्क्रिय कर देता है जिससे रक्त-नलिकायें संकरी हो जाती है और परिणामस्वरूप दिल का दौरा पड़ जाता है। □□

विज्ञान वक्तव्य

प्रिय पाठकगण !

नव वर्ष शुभ एवं मंगलमय हो। आप सब जानते ही हैं कि आज से 75 वर्ष पूर्व सन् 1913 में परिषद् की स्थापना जन-जन में विज्ञान के प्रचार-प्रसार के उद्देश्य से हुई थी। 'विज्ञान परिषद्, प्रयाग' के संस्थापकों में **महामहोपाध्याय पं० गंगानाथ झा, प्रो० हमीदउद्दीन साहब, बाबू रामदास गौड़** और **पं० सालिगराम भार्गव** थे। 14 मार्च 1913 का दिन चिरस्मरणीय रहेगा क्योंकि इसी दिन इन चारों विभूतियों ने 'वर्नाक्युलर साइंटिफिक लिटरेचर सोसाइटी' नाम की संस्था का गठन किया था। इसका नाम प्रो० हमीदउद्दीन साहब ने 'अंजुमन सनअ-व-फ़नून' और डॉ० झा ने 'विज्ञान परिषद्' सुझाया। अंत में 'विज्ञान परिषद्' नाम से ही यह संस्था यशस्वी हुई।

आज **'विज्ञान परिषद्'** के पास अपना भवन है। एक बड़ा प्रेक्षागृह है जिसमें 500 व्यक्तियों के बैठने की व्यवस्था है। अपना पुस्तकालय है। 'विज्ञान' के अतिरिक्त 1957 से एक त्रैमासिक शोध पत्रिका, 'विज्ञान परिषद् अनुसंधान पत्रिका' निरंतर प्रकाशित हो रही है। इस शोध पत्रिका के विनिमय में देश-विदेश के लगभग 50 शोध जर्नल आते हैं। परिषद् द्वारा 70 पुस्तकों का प्रकाशन हो चुका है और डॉ० गोरख प्रसाद, प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा, स्वामी सत्य प्रकाश सरस्वती जैसे अनेकानेक ख्यातिप्राप्त हिन्दी विज्ञान लेखकों को पैदा करने का श्रेय विज्ञान परिषद् को ही है। लगभग प्रतिवर्ष 'भारतीय विज्ञान कांग्रेस' के शुभारंभ की पूर्व संध्या पर, उसी जगह गोष्ठी भी की जाती है। पिछले अनेक वर्षों से हर वर्ष 'विज्ञान' का एक विशेषांक प्रकाशित किया जा रहा है। 'प्रदूषण', 'डार्विन', 'ऊर्जा', 'डॉ० आत्माराम', 'पर्यावरण', 'वैज्ञानिक अभिरुचि' जैसे विषयों पर प्रकाशित विशेषांक विशेष रूप से सराहे गये हैं। अभी पिछले 14 दिसम्बर 1987 को विज्ञान परिषद् ने 'विज्ञान, तकनीकी और पर्यावरण 2001' विषय पर एक एकदिवसीय राष्ट्रीय विज्ञान गोष्ठी भी आयोजित की थी और 120 पृष्ठों की एक पुस्तक 'विज्ञान, तकनीकी और पर्यावरण 2001' भी प्रकाशित की। इस प्रकार भाषणों, गोष्ठियों और लेखों के माध्यम से परिषद् निरन्तर विज्ञान के प्रचार-प्रसार में लगी हुई है।

पिछले अनेक वर्षों से हम अपने सीमित साधनों के बावजूद इस बात के लिए प्रयत्नशील हैं कि लोग अपने पर्यावरण को सुरक्षित रखने के प्रति जागरूक हों। फिर भी 'साइंस एज' (Science Age) नामक अंग्रेजी भाषा की एक पत्रिका के नवम्बर 1987 माह के अंक में **श्री अरविन्द गुप्त** अपने लेख 'साइंस फॉर द पीपुल' (Science for the People) में लिखते हैं —

The oldest popular science magazine in Hindi, Vigyan, was setup in Allahabad in 1916, by some of the elders in the freedom movement. Since 1916, Vigyan is coming out regularly every month. Some of the luminaries like Gorakh Prasad—the renowned mathematician, was its editor for years. However, today Vigyan is a spent force. In a Hindi speaking population of about 400 million, its circulation is a mere 800 copies a month.

इस प्रकार के लेखकों या 'विज्ञान' पत्रिका के विषय में ऐसा सोचने वाले सभी लोगों से मेरा विनम्र निवेदन है कि वे पहले 'विज्ञान' पत्रिका पढ़ें, फिर कोई राय बनायें। हमारी पत्रिका की संख्या हमारे सीमित साधनों के कारण कम है। हमारे लेखक पारिश्रमिक की बिना परवाह किए हमें लेख भेजते रहते हैं। बहुत से लेखक तो मात्र इसी कारण लेख भेजते हैं क्योंकि हम एक अच्छे काम में लगे हैं। हाँ यह सच है कि धनाभाव के कारण हम लेखों के साथ चित्र नहीं छाप पाते और पत्रिका, विशेषांकों को छोड़कर, मात्र 24 पृष्ठों की ही निकाल पाते हैं। 'विज्ञान' को इसकी संख्या नहीं वरन् इसके स्तर से जाँचें-परखें। यहाँ मैं एक बात स्पष्ट कर दूँ कि साधनों के सीमित होने के कारण परिषद् चाहते हुए भी बहुत कुछ नहीं कर पाती।

यह परिषद् का 'प्लैटिनम जयंती' वर्ष या 'अमृत जयन्ती' वर्ष है। यह एक सुखद संयोग है कि देश की सबसे बड़ी संस्था 'भारतीय विज्ञान कांग्रेस' का भी यह 'प्लैटिनम जयन्ती' वर्ष है। किसी भी संस्था के लिए पचहत्तर वर्ष पूरे कर पाना संतोष का विषय हो सकता है। यह वर्ष परिषद् के इतिहास में चिरस्मरणीय हो जाय इसके लिए परिषद् के पदाधिकारियों, सभ्यों एवं लेखकों को कुछ अधिक ही मेहनत करनी होगी।

इस वर्ष के लिए हमारी अनेक योजनायें हैं। इस वर्ष हम 'विज्ञान' के अंकों में 'विज्ञान परिषद्' से सम्बन्धित जानकारियाँ भी समय-समय पर प्रकाशित करते रहेंगे और मैं अपने नि:स्वार्थ लेखकों से आग्रह करता हूँ कि वे 'विज्ञान' के लिए अपने लेखों को और भी अच्छा बनाकर भेजें।

नव वर्ष की शुभकामनाओं के साथ ही परिषद् की प्लैटिनम जयन्ती वर्ष पर मेरा अभिनन्दन एवं शत-शत वन्दन स्वीकार करें।

आपका
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

विज्ञान कथा—क्यों, क्या और कैसे लिखें

अनिल कुमार शुक्ल

विज्ञान कथा का क्षेत्र हिन्दी विज्ञान साहित्य का सबसे उपेक्षित पक्ष है। यह हिन्दी विज्ञान साहित्य की वह विधा है, जिसकी ओर रचनाकारों ने ध्यान नहीं दिया। जहाँ-तहाँ इक्के-दुक्के प्रयासों को छोड़कर किसी भी लेखक, पत्रिका या संस्था ने हिन्दी में विज्ञान कथा साहित्य—मौलिक या अनूदित—उपलब्ध कराने का बीड़ा नहीं उठाया। हिन्दी में संभवतः पहली बार जब बच्चों की पत्रिका 'पराग' ने **विज्ञान कथा अंक** (दिसम्बर 1975) निकाला तब लगा था कि, देर से ही सही, इस विधा के प्रति 'हिन्दी वालों' की रुचि बढ़ी। पर, यह दुराशा ही सिद्ध हुई। विज्ञान परिषद, प्रयाग ने जब अपनी मासिक पत्रिका 'विज्ञान' का **विज्ञान कथा विशेषांक** निकाला तो उसके संपादकीय [नवम्बर 1984–जनवरी 1985] में 'विज्ञान कथा' नाम की एक द्वैमासिक पत्रिका निकालने की योजना का संकेत दिया गया। पर न तो वह पत्रिका अस्तित्व में आई और न ही 'विज्ञान' या किसी अन्य हिन्दी विज्ञान पत्रिका ने विज्ञान कथा विशेषांक निकालने का साहस किया! क्यों हुआ ऐसा? यदि पाठकों को शिकायत है कि उन्हें पढ़ने को विज्ञान कथाएँ नहीं मिलतीं तो विज्ञान परिषद् जैसी संस्थाओं को शिकायत है कि साधनों की कमी और स्तरीय विज्ञान कथाओं के अभाव के कारण पाठकों में हिन्दी विज्ञान कथाओं की मांग ही नहीं है! फिर वही प्रश्न कि आखिर ऐसा क्यों है?

इस 'क्यों' का जवाब देने से पूर्व हमें यानी हिन्दी विज्ञान लेखकों को यह सच्चाई खुले दिल से स्वीकार कर लेनी चाहिए कि हम विज्ञान कथाएँ लिखने से घबराते हैं। या तो हम विज्ञान कथाएँ लिखना ही नहीं जानते, या लिखना नहीं चाहते या फिर अस्वीकृति के डर से लिखने का साहस ही नहीं करते! कारण चाहे जो भी हो, परिणाम हमारे सामने है कि हम हिन्दी वाले विज्ञान कथाओं के क्षेत्र में 'क्षेत्रीय' कही जाने वाली मराठी और बंग्ला जैसी भाषाओं से भी बहुत पिछड़ गये हैं। इतने बड़े हिन्दी भाषी क्षेत्र से हम एक भी समर्थ विज्ञान कथाकार इस देश को न दे सके। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अकेले हिन्दी में साहित्य सृजन की लहर चला दी, पर पूरे देश में आज एक भी ऐसा विज्ञान कथाकार नहीं, जिससे प्रेरणा लेकर हिन्दी में विज्ञान कथाओं का एक दौर शुरू हो सके!

जो नहीं है, उस पर आँसू बहाना मनस्वी जनों का का काम नहीं है। बहुत दिनों तक हिन्दी में विज्ञान कथाओं के अभाव पर हमने 'घड़ियाली आँसू' बहाये, पर अब समय आ गया है कि हम इस अभाव की पूर्ति के लिए कुछ करें। अभाव की पूर्ति का एक ही उपाय है—हिन्दी में विज्ञान कथाओं का निरन्तर सृजन! प्रश्न उठ सकता है कि हिन्दी में विज्ञान कथाओं के सृजन पर इतना ज़ोर क्यों दिया जा रहा है? फिर वही प्रश्न 'क्यों'?

हिन्दी में ही 'क्यों' लिखें?

आइए पहले इसी 'क्यों' का उत्तर ढूँढ़ने की कोशिश करें। अपनी पुस्तक 'आसिमोव ऑन साइन्स फिक्शन' (Asimov On Science Fiction) में आइज़क आसिमोव लिखते हैं कि **"प्रत्येक सच्चे बुद्धिजीवी को जिसने ज्ञान की किसी शाखा में विशेषता हसिल कर ली है, चाहिए कि वह अपना ज्ञान, यथासंभव हर व्यक्ति तक पहुँचाये न कि केवल अन्य विशेषज्ञों तक ही सीमित रखे।"** स्वभावतः हर व्यक्ति तक ज्ञान तभी पहुँच सकता है जबकि वह अपरिचित भाषा के बजाय उसकी अपनी भाषा में हो। जनता की अपनी भाषा, भारतवर्ष में, हिन्दी और अन्य क्षेत्रीय भाषायें हैं, न कि अंग्रेज़ी।

संयुक्त मंत्री, विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद

हाँ दुर्भाग्य से अंग्रेज़ी अभी भी इस देश में विशेषज्ञों की भाषा बनी हुई है। पर आसिमोव की दृष्टि में सच्चे बुद्धिजीवी को अपना ज्ञान विशेषज्ञों तक (यानी अंग्रेज़ी में) सीमित रखने के बजाय, यथासंभव हर व्यक्ति तक (यानी हिन्दी में) पहुँचाना चाहिए। आसिमोव की दृष्टि में, ऐसे हर विशेषज्ञ के कुछ विशेष दायित्व हो जाते हैं जिन्हें उसे पूरा करना ही चाहिए। क्योंकि—

1. विज्ञान का सीधा सम्बन्ध जनता के भविष्य से है, क्योंकि विज्ञान के क्षेत्र में हुई हर प्रगति, जाने-अनजाने समाज को मिटा या बचा सकती है।

2. यदि जनता वैज्ञानिक शोधों के लिये कर देती है तो उसे यह जानने का भी हक है कि उसके द्वारा दिया गया कर (टैक्स) उसके विनाश के लिये लगाया जा रहा है या विकास के लिए।

3. आजकल किये जा रहे सभी वैज्ञानिक शोध जनता की जेब से लिये गये पैसे से किये जाते हैं, अत: अब विज्ञान, ब्रह्मांड की गुत्थी सुलझाने में लगे किसी अकेले व्यक्ति की बपौती नहीं है।

4. आज के युग में वैज्ञानिक शोध अब कुछ समर्पित स्वयंसेवी प्रकृति के लोगों के वश की चीज़ नहीं है। वैज्ञानिक शोधों की निरन्तरता और गति को बनाये रखने के लिए बड़ी संख्या में वैज्ञानिक अभिरुचि-सम्पन्न प्रशिक्षित लोगों की आवश्यकता है।

और, यह सब केवल तभी संभव है जबकि विज्ञान का ज्ञान लोक मानस में प्रतिष्ठित हो। विज्ञान की यह प्रतिष्ठा, भारत में, केवल हिन्दी (और अन्य क्षेत्रीय भाषाएँ) ही दिला सकती हैं। हर वैज्ञानिक खुद भी 'आम जनता' का ही एक अंश है, वह भी (वैज्ञानिक शोधों के लिए) कर का भुगतान करता है, अत: उसके लिए भी विज्ञान को 'लोकप्रिय' बनाना आवश्यक है—ताकि उसके द्वारा किये जा रहे अनुसंधान को समझने और आगे बढ़ाने के लिये अधिकाधिक योग्य 'शिष्य' उपलब्ध हो सकें।

इस तथ्य को पढ़, सुन और समझ सकने के बावजूद यदि कोई भारतीय वैज्ञानिक हिन्दी (व अन्य क्षेत्रीय भाषाओं) में वैज्ञानिक साहित्य सृजन को मूर्खतापूर्ण, या अनावश्यक कृत्य समझता या कहता है तो आसिमोव की दृष्टि में वह एक 'गधा' है—एक ख़तरनाक गधा !

विज्ञान कथा ही 'क्यों' लिखें ?

यदि हम आसिमोव की दृष्टि में 'गधा' नहीं बनना चाहते तो निश्चय ही हमें विज्ञान को लोकप्रिय बनाने के लिए कमर कस लेनी चाहिए। पर, आप पूछ सकते हैं कि विज्ञान को लोकप्रिय बनाने के लिए 'विज्ञान कथा' ही 'क्यों' लिखी जाय? क्या विज्ञान कथाओं की कोई उपयोगिता भी है? इस प्रश्न पर विचार करते हुए **ह्यूगो गर्न्सबैक** (Hugo Gernsback) द्वारा संपादित विश्व की पहली विज्ञान कथा पत्रिका 'अमेज़िंग स्टोरीज़' (Amazing Stories) के संदर्भ में **आसिमोव** अपने बचपन की याद करते हैं। **आसिमोव** के अनुसार, उनके पिता ने उस पत्रिका को पढ़ने की छूट केवल इस कारण दे रखी थी कि उसमें छपी 'कथा' में केवल कहानी ही नहीं 'विज्ञान' भी रहता था। विज्ञान कथा में अपनी बढ़ती हुई रुचि का श्रेय, आसिमोव उस पत्रिका में छपने वाली उस 'क्विज़' को देते हैं, जिसके प्रश्नों का उत्तर ढूँढ़ते हुए उन्हें 'अरुचिकर' विज्ञान कथाओं को भी कई बार पढ़ना पड़ता था।

बार-बार अभ्यास करने पर अरुचिकर चीज़ भी जब रुचिकर लगने लगती है, तब विज्ञान कथाओं में भला रुचि कैसे न पैदा होगी? यही बात हम 'हिन्दी वालों' को गाँठ बाँध लेनी चाहिए—यदि हिन्दी के पाठकों में विज्ञान कथाओं की माँग नहीं है या उनमें विज्ञान कथाओं के प्रति रुचि नहीं है, तो भी हमें विज्ञान कथाएँ लिखनी ही चाहिए, क्योंकि '**विज्ञान कथा**' साहित्य की एक ऐसी विधा है जो विज्ञान के पाठकों को तो आकृष्ट करेगी ही, विज्ञान न जानने वालों को भी अपना दीवाना बना देगी !

पर विज्ञान कथा की सबसे बड़ी उपयोगिता 'लर्निंग डिवाइस' (Learning device) के रूप में है। पूर्वमाध्यमिक स्तर (कक्षा 6 से 10) के बच्चों को यदि पाठ्य सहायक कार्य के रूप में कोई विज्ञान कथा पढ़ने को दी जाय तथा अगले दिन यदि कक्षा में विज्ञान की पढ़ाई उस विज्ञान कथा का सन्दर्भ देते हुए ही शुरू की जाय

तो निश्चय ही बच्चे पूरी लगन व तन्मयता से पूरा व्याख्यान भी सुनेंगे और बीच-बीच में अपनी जिज्ञासाएँ भी पूछ-पूछ कर शान्त करेंगे। उदाहरण के लिए पचास के दशक में छपी आसिमोव की दो विज्ञान कथाएँ 'लकी स्टार' व 'ओशन्स ऑव वीनस' (Lucky Star & Oceans of Venus) को शुक्र ग्रह पर व्याख्यान देने से पहले बच्चों को पढ़ाने हेतु दिया जा सकता है। पचास के दशक में, जब ये विज्ञान कथाएँ लिखी गईं, उपलब्ध ज्ञान के अनुसार शुक्र एक गर्म पर जल-आप्लावित ग्रह था, जिसमें पृथ्वी के 'डायनासोर युग' के प्राणियों के रहने की कल्पना की गई थी पर अब यह एक स्वीकृत तथ्य है कि शुक्र जहरीले बादलों से आवृत्त एक लाल तप्त ग्रह है, जिस पर जीवन तो क्या एक बूंद पानी भी सम्भव नहीं है! अब यदि यह विज्ञान कथा बच्चों को पढ़ने को दी जाय तथा अगले दिन कक्षा में (या घर पर ही) उन्हीं से पूछा जाय कि क्या शुक्र पर समुद्र है? सम्भव है, बच्चों का उत्तर 'हाँ' में हो। अब बच्चों को यह बताया जा सकता है कि वैज्ञानिकों के अनुसार इस समय शुक्र पर 600 डिग्री फारेनहाइट (600° F) ताप है! क्या इतने ताप पर भी आसिमेव की विज्ञान कथा में वर्णित सागर में पानी सम्भव है? ऐसे ही अनेक रोचक प्रश्न किये जा सकते हैं और प्राप्त उत्तरों को ध्यान में रखते हुए विषय से सम्बन्धित नई वैज्ञानिक जानकारियाँ दी जा सकती हैं।

स्पष्टतः सामान्य वैज्ञानिक लेखों की अपेक्षा विज्ञान कथाओं के ज़रिए वैज्ञानिक तथ्यों को अधिक रोचक और ग्राह्य बनाया जा सकता है—यानी अब यह स्पष्ट हो ही गया होगा कि विज्ञान को लोकप्रिय बनाने के लिए विज्ञान कथाएँ ही क्यों लिखी जायँ!

विज्ञान कथा 'क्या' है?

विज्ञान कथाओं की उपयोगिता समझ लेने के बाद, स्वभावतः विज्ञान कथा के बारे में 'कुछ' जानने की जिज्ञासा प्रबल हो उठती है। वस्तुतः विज्ञान कथा क्या है? इसमें और सामान्य कथाओं में अन्तर क्या है? क्या विज्ञान कथा की अपनी कुछ अलग विशिष्टता या पहचान है? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जिनका उत्तर जाने बिना न तो विज्ञान कथा लिखी जा सकती है और न विज्ञान कथा के अच्छी-बुरी होने का निर्णय ही किया जा सकता है। अतः इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर भी थोड़ा विस्तार से विचार किया जाना आवश्यक लगता है।

विज्ञान कथा को परिभाषित करते हुए **आसिमेव** लिखते हैं, **"विज्ञान कथा, साहित्य की वह विधा है जो विज्ञान और प्रौद्योगिकी में सम्भावित परिवर्तनों के प्रति मानवीय प्रतिक्रियाओं को अभिव्यक्ति देती है।"** इस परिभाषा से ही यह बात स्पष्ट है कि विज्ञान कथा में कथानक (यानी कहानी का मूल विषय) विज्ञान अथवा प्रौद्योगिकी की अवस्था या स्तर में सम्भावित परिवर्तन से सम्बद्ध होना चाहिए तथा कथानक का विकास इस प्रकार होना चाहिए कि उन परिवर्तनों के प्रति वर्तमान समाज की भावनाएँ व प्रतिक्रियाएँ स्पष्ट हो सकें। दरअसल, यह विज्ञान कथा का ही प्रभाव है कि हम जीवन-प्रक्रिया और रहन-सहन में **'प्रौद्योगिकी के द्वारा परिवर्तन'** की अवधारणा को हृदयंगम कर सकें। आज यह अवधारणा हमारी निर्णय प्रक्रिया का इतना अभिन्न अंग बन चुकी है कि हम इस तथ्य को 'अलग' से समझ ही नहीं पाते। कोई भी दीर्घकालीन निर्णय करते समय यदि हम भविष्य की सम्भावित प्रौद्योगिक उन्नति को ध्यान में नहीं रखते तो निश्चय ही हमारा निर्णय बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं माना जा सकता। यही कारण है कि हर राजनेता, व्यवसायी और आम जनता को **'विज्ञान कथा की दृष्टि से'** सोचने की सलाह आसिमेव देते हैं।

जहाँ तक विज्ञान कथा और अन्य कथा-कहानियों में मूल अन्तर की बात है, आसिमोव कथाओं को दो वर्गों में विभाजित करते हैं—यथार्थ (Realistic) कथाएँ और अतियथार्थवादी (Surrealistic) कथाएँ। यथार्थ कथाओं का कथानक हमारे वर्तमान या अतीत के **ज्ञात परिवेश** के इर्द-गिर्द विकसित होता है जबकि अतियथार्थवादी कथाओं में ऐसे **अज्ञात परिवेश** की घटनाएँ वर्णित होती हैं जिनके बारे में हमारा ज्ञान अत्यन्त सीमित या न के बराबर होता है। इन कथाओं को भी दो उपवर्गों में बाँटा जा सकता है—फैंटेसी (Fantasy) व विज्ञान कथा (SF)। फैंटेसी शब्द जिस ग्रीक मूल से व्युत्पन्न है

उसका अर्थ है कल्पना। अतः आज जब हम किसी कथा को 'फैंटेसी' कहते हैं तो हमारा मतलब प्रायः ऐसी कथाओं से होता है जो विज्ञान के नियमों से सीमाबद्ध न होकर पूर्णतः कथाकार की स्वच्छन्द कल्पना का ही सृजन होती हैं। यहीं यह बात भी स्पष्ट वादी पर समझ लेनी चाहिए कि फैंटेसी के कथानक में अतियथार्थ परिस्थितियों के सृजन में वैज्ञानिक-प्रौद्योगिक प्रगतिवादी की कोई भूमिका नहीं होती। पर '**विज्ञान कथा**' में ऐसी घटनाओं व परिस्थितियों का सृजन इसकी भूमिका ही महत्वपूर्ण होती है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के स्तर के अन्तर को दिखाने के लिए मंगल या किसी अन्य ग्रह-उपग्रह पर सभ्यता के विकास की कल्पना की जा सकती है या विभिन्न आकाशीय पिंडों से प्राप्त संकेतों का वैज्ञानिक विश्लेषण किया जा सकता है अथवा किसी नाभिकीय या पर्यावरणीय ध्वंस के कारण वर्तमान प्रौद्योगिक सभ्यता का विनाश दिखाया जा सकता है। भविष्य में वैज्ञानिक-प्रौद्योगिक सफलताओं की कल्पना में काल यंत्र प्रकाश से अधिक वेग, सर्वभाषा-भाषी यंत्रमानव (रोबोट) आदि समाहित किये जा सकते हैं।

अब तक तो हमने अवधारणा (Concept) की दृष्टि से मूलभूत तकनीकी अंतरों की चर्चा की। पर आइए, अब यह देखें कि विज्ञान कथाएँ सामान्य कथाओं से अचानक कब और कैसे भिन्न हो जाती हैं। मंगल और चाँद की बात कौन कहे अपने देश में तो सशरीर स्वर्ग जाने और इच्छानुसार वेश बनाकर कहीं भी कभी भी पहुँच जाने की ढेरों कथाएँ रची गई हैं। इन यात्रा कथाओं और विश्व के पहले सफल व्यवसायिक विज्ञान कथाकार **जुले वर्न** की यात्रा कथाओं में क्या अन्तर है? इन कथाओं व जुले वर्न की 'विज्ञान कथाओं' में मूल अन्तर यह है कि **वर्न** ने यात्रा के लिए वैज्ञानिक सिद्धांतों को ही खींच-तानकर ऐसा उपयोग किया था जिनका तब तक के वास्तविक जीवन में प्रयोग ही नहीं हुआ था। उदाहरण के लिए हमारे पौराणिक साहित्य में 'पुष्पक विमान' की कल्पना तो की गई, पर उसे आकाश मार्ग से उड़ाने के लिए किसी नये यन्त्र या प्रक्रिया की कल्पना नहीं की गई। उसमें तो सदियों से 'ज्ञान' तथ्य कि हंस (व अन्य पक्षी) उड़ते हैं, तो (घोड़ों के बजाय) यान में हंस जोत दिए गये। स्पष्टतः 'पुष्पक विमान' की कल्पना में न तो कोई वैज्ञानिक-प्रौद्योगिक उन्नति दृष्टिगोचर होती है और न ही किसी 'अज्ञात' परिवेश का ज्ञान हमें हो पाता है। अतः 'पुष्पक विमान' या इच्छानुसार आकाश मार्ग से भ्रमण को 'विज्ञान कथा' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। हाँ, यदि आप चाहें तो उन्हें 'फैंटेसी' अवश्य कह सकते हैं। आधुनिक युग में भी, पश्चिमी देशों में **जुले वर्न** की यात्रा कथाओं को पढ़कर अन्य लोगों ने मंगल व अन्य ग्रहों पर जाने के लिए बेसिर-पैर की कल्पनाएँ कीं, पर **स्मिथ** (E. E. Smith) ने 1928 ई० में 'जड़त्वहीन ड्राइव' की कल्पना करके जब 'द स्काईलार्क ऑव स्पेस' (The Skylark of Space) की रचना की तो उसे ही 'विज्ञान कथा' माना गया।

विज्ञान कथा : कुछ विशिष्टताएँ

जिस प्रकार विज्ञान की विविध शाखाओं में कुछ विशिष्ट तकनीकी पारिभाषिक शब्द होते हैं, ठीक वैसे ही विज्ञान कथाओं की भी अपनी शब्द संपदा है। विज्ञान कथाओं की यह शब्दावली विशिष्ट इस मायने में है कि जब कभी भी ये शब्द 'विज्ञान कथा' में प्रयुक्त होंगे तो सामान्य भाषा में प्रचलित अपने अर्थ को छोड़ '**विशिष्ट**' अर्थ (जो केवल विज्ञान कथाओं में लिया जाता है) ग्रहण कर लेते हैं। दुर्भाग्य से हिन्दी में विज्ञान कथाओं की पारिभाषिक शब्दावली अभी नहीं बन सकी है। इस ओर हमे विशेषकर वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग को ध्यान देना चाहिए। पर तब तक इस लेख के लिए आसिमोव द्वारा उद्धृत कतिपय अंग्रेज़ी शब्दों से ही काम चलाया जाय। इन उदाहरणों से इस बात का कुछ अंदाज लग सकेगा कि विज्ञान कथाकर अपनी आवश्यकता के लिए 'विशिष्ट' शब्द किस प्रकार बना लेते हैं।

ग्रीक मूल Andros से व्युत्पन्न Android शब्द का मूल अर्थ है—**'नर' की तरह का** तथा ग्रीक मूल Anthropos से व्युत्पन्न शब्द Anthropoid का मूल अर्थ है 'मानव' जैसा। अतः 'मानव' जैसे रूप व आकार वाले किसी कृत्रिम यन्त्र के लिए विज्ञान कथाकारों को Anthropoid शब्द चुनना चाहिए था, पर इस शब्द में न

जाने कैसे उन्हें 'बन्दर की गंध' आने लगी और उन्होंने Android शब्द का (केवल 'नर' के बजाय 'नर-मादा' दोनों के लिए) अर्थ विस्तार कर दिया। उचित तो शायद यह होता कि उस कृत्रिम यन्त्र को 'मादा' की पहचान देने के लिए Gynoid शब्द रच लिया जाता, पर भाषाई व्युत्पत्ति के इस 'औचित्य' पर विचार करने की फुर्सत कहाँ है विज्ञान कथाकारों को। एक बार जो शब्द बन गया और चल गया तो भाषा को स्वीकारना ही पड़ेगा। लेकिन मानव जैसे रूप-आकार वाले कृत्रिम यंत्र के लिए तो Android शब्द बन गया, पर अगर विज्ञान कथाकार ने मानवीय रूप-आकार के किसी जीवित प्राणी (जैसे किसी ग्रह पर) की कल्पना कर ली तो उसे क्या कहेंगे? लीजिए Human शब्द में हमने वही ग्रीक प्रत्यय—oid (जैसा) लगा दिया और बन गया हमारा शब्द Humanoid, परन्तु कुछ-कुछ इसी अर्थ में एक शब्द और हम प्रयोग करते हैं Robot—तो यह कहाँ से आया? यह शब्द पहली बार चेकोस्लवाकिया के विज्ञान कथाकार कैरेल कैपेक की चेक विज्ञान कथा Rossum's Universal Robots में प्रयुक्त है और दर असल चेक शब्द Robota के अंग्रेज़ी अनुवाद सम्बन्धी एक छोटी-सी कठिनाई का वरदान है। अपनी मूल भाषा में Robota 'गुलाम' के अर्थ में प्रयुक्त होता है, पर चूंकि अंग्रेज़ी में Slave यानी 'गुलाम' मनुष्यों की एक 'जाति' का सूचक था, अतः गुलामों यानी स्वामी की इच्छानुसार काम करने वाली कृत्रिम प्रजाति को सूचित करने के लिए चेक शब्द Robota अंग्रेज़ी का Robot बन गया। पर इससे एक कठिनाई पैदा हो गई कि Android व Robot दोनों एक ही अर्थ प्रकट करते जान पड़े। तो विज्ञान कथाकारों ने कल्पना की एक और उड़ान भरी तथा यह स्पष्ट किया कि अधिकांशतः या पूर्णतः धातु से निर्मित कृत्रिम मानवों को Robot कहा जाएगा जबकि मानवीय ऊतकों से मिलते-जुलते पदार्थों से निर्मित कृत्रिम मनुष्य Android कहलाएगा!

ऐसे ही अनेक शब्द हैं, जिन्हें हम—यानी हिन्दी के भावी विज्ञान कथाकारों को जानना पड़ेगा और हिन्दी में शब्द गढ़ते समय उनके बीच व्याप्त सूक्ष्म अंतरों को भी ध्यान में रखना पड़ेगा।

यह तो हुई विज्ञानकथा की पहली विशिष्टता। एक अन्य विशिष्टता, या बेहतर हो कि इसे हम कमी कहें, यह है कि विज्ञान कथाओं में पात्रों का चारित्रिक विकास नहीं हो पाता। दूसरे शब्दों में, हम यों कह सकते हैं कि विज्ञान कथा में कथानक और कथोपकथन के सिवा और कुछ नहीं होता। ऐसा लगता है कि विज्ञान कथाकारों को पात्रों के चरित्र-चित्रण का अवसर ही नहीं मिल पाता! बात कुछ हद तक सही भी है। खुद आसिमोव यह स्वीकार करते हैं कि विज्ञान कथा का अधिकांश कथानक तो उस अपरिचित परिवेश से पाठकों का तादात्म्य (परिचय) स्थापित करने में ही 'खर्च' हो जाता है। विज्ञान कथा एक ऐसे परिवेश की परिस्थितियों और घटनाओं का वर्णन करती है, जिसके बारे में पाठकों का ज्ञान अबोध शिशु के ही सदृश होता है! यही कारण है कि विज्ञान कथा में पात्रों का चारित्रिक विकास दर्शाने का समय कथाकार को नहीं मिल पाता। पर यदि कोई विज्ञान कथाकार चाहे और वह कर सके तो इस पक्ष को पर्याप्त महत्व मिल सकता है। हमारे देश में तो नैतिक मूल्यों और चरित्र का बड़ा महत्व है। संभव है पाश्चात्य विज्ञान कथा की इस कमी को दूर करने का श्रेय हमें ही मिलना हो! तो फिर, देर किस बात की? उठाइए कलम और लिख डालिए एक विज्ञान कथा! रुक क्यों गये?

विज्ञान कथा 'कैसे' लिखें?

लेखन एक कला है, जो निरंतर अभ्यास से ही निखरती है। लिखते-लिखते ही हम लिखना सीखते हैं। लेखन, विशेषकर विज्ञान कथा लेखन का कोई ऐसा जादुई फार्मूला नहीं है जो किसी नौसिखिए को रातों रात 'विज्ञान कथाकार' बना दे। नौसिखिए द्वारा लिखी गई रद्दी कहानियाँ ही उसे 'अच्छी' कहानियाँ लिखने के योग्य बनाती हैं। यदि आप लिखने से डरेंगे और लिखना शुरू ही नहीं करेंगे तो लेखक बनेंगे कैसे? तैराक बनने के लिए जिस प्रकार डूबने का भय मन से निकालकर तालाब में कूदकर तैरना सीखना पड़ता है, ठीक वैसे ही अपनी रची प्रारंभिक विज्ञान कथाओं की अस्वीकृति का डर मन से निकालकर आपको विज्ञान कथाएँ लिखना

शुरू ही कर देना चाहिए ! यदि आप के पास विज्ञान की डिग्री नहीं है, तो भी आप विज्ञान कथा लिख सकते हैं— लेकिन आप जो विज्ञान कथा लिखना चाहते हैं उसके कथानक के विकास के लिए जितनी साइंस जरूरी है, उतना तो आपको जानना ही चाहिए ! उदाहरण के लिए यदि आपकी विज्ञान कथा का नायक अंतरिक्षयान लेकर **'टिटान'** पर पहुँचता है तो 'टिटान' के बारे में वैज्ञानिकों द्वारा अब तक अर्जित ज्ञान से आप को अवश्य परिचित होना चाहिए। कहीं ऐसा न हो कि आप अपनी विज्ञान कथा में किसी ऐसी बात का वर्णन कर दें, जिसे वर्तमान विज्ञान गलत सिद्ध कर चुका हो ! हाँ, आप अपनी विज्ञान कथा में ऐसी काल्पनिक बातों का समावेश अवश्य कर सकते हैं, जिसके बारे में वैज्ञानिकों ने संभावना व्यक्त की हो या फिर जो वर्तमान वैज्ञानिक ज्ञान से तर्क द्वारा निगमित (निष्पन्न) किया जा सके। पर, निश्चय ही आपकी कल्पना का 'टिटान' 'बृहस्पति' का उपग्रह नहीं होना चाहिए, क्योंकि वस्तुतः यह 'शनि' का उपग्रह है।

इसके अलावा कुछ और 'नियम' भी हैं, जिन्हें ध्यान में रखकर लिखी गई विज्ञान कथाएँ 'अच्छी' सिद्ध हो सकती हैं। आइए, इन्हें एक-एक कर समझें। ये नियम उन मूलभूत आवश्यकताओं की ओर संकेत करते हैं, जिनके बिना कोई 'विज्ञान कथाकार' बन ही नहीं सकता।

(1) **लिखने की तैयारी करें**—विज्ञान कथा लिखने की तैयारी की दिशा में पहला कदम है भाषा पर अधिकार। भाषा (यानी हिंदी) की वर्तनी, व्याकरण और शब्द भंडार की सही पकड़ सबसे जरूरी है। इसके अलावा वाक्य के गठन, उसके शैलीगत सौन्दर्य, कथोपकथन (dialogue) के आरोह-अवरोह, कथानक की रोचकता में नैरन्तर्य और ऐसी ही अनेक चीजों की सीखने-जानने की आवश्यकता पड़ सकती है। ये सारी बातें सीखने का एक ही सही मार्ग है—सिद्धहस्त सफल रचनाकारों, कथाकारों के साहित्य का मनन ! अंग्रेजी में जिस प्रकार **चार्ल्स डिकेन्स** व **मार्क ट्वेन** को पढ़ने की सलाह दी जाती है, वैसे ही हिन्दी में **प्रेमचन्द, जैनेन्द्र कुमार, अज्ञेय, मन्नू भण्डारी, राजेन्द्र यादव, शिवानी** आदि हैं लेकिन इन कथाकारों की रचनाएँ पढ़ते समय मनोरंजन का लक्ष्य न रखें, बल्कि यह सोचें कि किसी परिस्थिति विशेष में कथाकार ने कोई शब्द विशेष ही क्यों चुना ? किसी भाव-विशेष की अभिव्यक्ति के लिए किस तरह के वाक्य-गठन एवं भाषा-शैली का चयन किया गया है ? स्वयं से ऐसे प्रश्न पूछ-पूछ कर आप भाषा पर अधिकार पा सकेंगे !

तैयारी की दिशा में दूसरी आवश्यकता **विज्ञान का ज्ञान** है। जरूरी नहीं कि आप उच्चकोटि के वैज्ञानिक हों (अगर आप हैं, तब तो और भी अच्छी बात है) पर आप में स्वयं विज्ञान पढ़ने और समझने की जिज्ञासा तो होनी ही चाहिए ! उदाहरण के लिए, याद रखिए कि **फ्रेडरिक पोह्ल** (Frederik Pohl) एक विशिष्ट विज्ञान कथाकार हैं, जिन्होंने हाईस्कूल भी नहीं पास किया। संभव है, आप फ्रेडरिक की तरह 'जीनियस' न हों, फिर भी प्रयास करने में बुराई क्या है ?

पर संभव है, आप 'विज्ञान' को 'लेखन' से जोड़कर 'कथा' का रूप न दे सकें। अतः विज्ञान कथाकार बनने की तैयारी की दृष्टि से तीसरी आवश्यकता इस बात की है कि आप विज्ञान कथाओं के नियमित और सजग पाठक बनें—ताकि शुरू में कथानक के विकास, कथा की शुरूआत व अंत आदि की तकनीकें सफलतापूर्वक 'चुरा' सकें। आपकी सुविधा के लिए तीन खज़ानों का पता बताए देता हूँ। याद कीजिए—**जुले वर्न, एच० जी० वेल्स** और **आसिमोव** !

(2) **लिखना शुरू करें**—विज्ञान कथा लिखने की प्रारंभिक तैयारी कर चुकने के साथ-साथ लिखना भी शुरू कर दीजिए। जिस प्रकार नदी या तालाब में उतरे बिना हम तैरना नहीं सीख सकते, वैसे ही विज्ञान कथा लिखे बिना 'विज्ञान कथा' लिखना भी नहीं आ सकता। इसीलिए लिखना शुरू कीजिए और एक के बाद एक विज्ञान कथाएँ लिखते जाइए······लिखते-लिखते आप खुद बहुत कुछ सीखेंगे······और एक दिन 'विज्ञान कथाकार' हो जाएँगे।

(3) **निराश न हों**—अगर एक बार आपने विज्ञान कथाएँ लिखना शुरू कर दिया तो निराश होना भी छोड़

दीजिए। एक बार भी लक्ष्य प्राप्त करने के लिए चयन चुकने के बाद जो व्यक्ति कठिनाइयों से निराश होकर बीच में ही प्रयास छोड़ देता है, वह कभी भी मंज़िल तक नहीं पहुँचता। आपका का लक्ष्य भी तो विज्ञान कथाकार बनना है। अतः लिखी गई विज्ञान कथाओं के प्रकाशनार्थ अस्वीकृत होने से निराश होकर धैर्य खोने के बजाय, और मनोयोग से विज्ञान कथा लिखने में जुट जायँ। याद रखिए, जब आप पहली विज्ञान कथा लिखते हैं तो मानो पहली कक्षा उत्तीर्ण करते हैं। अब और परिश्रम करें, दूसरी विज्ञान कथा लिखें···फिर तीसरी···फिर चौथी··· और विश्वास रखें कि अपनी कमियों को निरंतर सुधारते रहने से आप अवश्य सफल होंगे।

(4) **आजीविका का साधन न बनाएँ**—लेखन और विशेषकर विज्ञान कथा लेखन एक अद्भुत और संतुष्टि-दायक कार्य है, तथापि कोई भी लेखक यानी कथाकार अपनी आजीविका के लिए इसी पर निर्भर नहीं रह सकता ! खुद आसिमोव की पहली विज्ञान कथा तीन साल बाद छपी और तब से लगातार लिखते रहने के बावजूद एक 'सफल' विज्ञान कथाकार बनने में उन्हें सत्रह साल और लगे।

इन चार नियमों को सीख लेने के बाद, आसिमोव की ही तरह मेरा भी विश्वास है कि आप एक 'अच्छे' विज्ञान कथाकार बन सकते हैं। पर, शुरू-शुरू में शायद आप अपनी विज्ञान कथा के लिए उपयुक्त कथानक का चयन करने में कठिनाई महसूस करें ! अतः आप की सुविधा के लिए तीस विषयों की एक लघु सूची दी जा रही है—जिन्हें आप **विज्ञान कथाओं के विषय** मान सकते हैं। (1) जीन बैंक (2) जेनेटिक इंजीनियरिंग (3) रोबेट या यंत्रमानव (4) कंप्यूटर (5) कम्प्यूटरित शिक्षा (6) अंतर्ग्रहीय यात्रा (7) कालयात्रा (Time travel) (8) विकल्पी काल (Time) मार्ग (9) निम्न गुरुत्व उड़ान (10) गुरुत्व नियंत्रण (11) अन्तर्नक्षत्रीय यात्रा (12) अंतरिक्ष बस्तियाँ (13) विश्व ग्राम (14) विश्व सरकार (15) आकाशगंगीय साम्राज्य (16) जीवन-विकास प्रक्रिया का नियंत्रण (17) अमरत्व (18) जन-संख्या नियंत्रण (19) मौसम नियंत्रण (20) दूसरे आकाशीय पिंडों के तापमान, जलवायु आदि को पृथ्वीसम बनाना (21) टेलीपैथी (22) अन्तर्नक्षत्रीय संचार (23) द्रव्यमान-विकिरण स्थानांतरण (24) ब्लैक होल (25) निकट अंतरिक्ष का आर्थिक उपयोग (26) सागर संपदा का उपयोग (27) अंतर्प्रजातिय संचार (28) स्थायी ऊर्जा-स्रोत (29) पर्यावरणीय विध्वंस (30) कृत्रिम मानव (Android) की रचना।

इस सूची के ही साथ इस लेख को इस आशा के साथ समाप्त कर रहा हूँ कि लेख पढ़ लेने के बाद आप कागज़ व क़लम लेकर बैठ जाएँगे और एक विज्ञान कथा लिखे बिना कुछ 'और' नहीं करेंगे !!

□□

भारत में डेढ़ हजार वर्ष पूर्व रोबोट बन गये थे

'जैन आगमों' में आज से डेढ़ हज़ार वर्ष पूर्व ही यंत्र मानव (रोबोट) का ज़िक्र मिलता है। यह जानकारी सागर विश्वविद्यालय के **प्रोफेसर के० डी० वाजपेयी** ने पिछले दिनों 'पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान' में आयोजित जैन और प्राकृत सम्मेलन में दी।

प्रोफेसर वाजपेयी ने ऋषभदेव के पुत्र भरत का ज़िक्र करते हुए कहा कि उन्होंने कैलाश पर्वत पर मंदिर बनवाया था। पर चूँकि वहाँ बर्फ पड़ती है और जाड़े में वहाँ रहना संभव नहीं था, अतः मंदिर की रक्षा के लिए 'लौहमय' यंत्र मानव का निर्माण कर उस पर मंदिर की सुरक्षा का भार डाल दिया था।

उन्होंने बताया कि कैलाश पर्वत पर होने वाले हिमपात से मंदिर की रक्षा के लिए लौह मानव (रोबोट) का निर्माण आगमों में दर्ज मिलता है। आज का आधुनिक विज्ञान रोबोट का इस्तेमाल कर रहा है। लेकिन, हम अपने पुराग्रंथों में वर्णित प्रौद्योगिकी का उल्लेख करना भूल जाते हैं।

कतिपय वक्ताओं ने कहा कि जैन आगमों में गणित की सधी-सधायी विधि का ज़िक्र है। गणित को आसान रूप में इन ग्रंथों में प्रस्तुत किया गया है। त्रिशतिका, गणितसार संग्रह, गणित तिलक (टीका), गणितसार कौमुदी आदि ग्रंथों में गणित की आसान विधियों के माध्यम से बड़ी से बड़ी संख्याओं के सेकेण्डों में हल ढूँढ़ निकालने की विधि बतायी गयी है।

राष्ट्रीय धरोहर : ऐन्डेमिक प्रजातियाँ

सतीश कुमार शर्मा

पौधों तथा प्राणियों की विभिन्न प्रजातियों का संसार के प्रत्येक भाग में समान वितरण नहीं होता है। एक प्रजाति दूर-दूर तक कई प्रान्तों, देशों या महाद्वीपों में फैली पाई जा सकती है तो दूसरी जाति छुट-पुट रूप से फैली पाई जाती है। कई प्रजातियाँ ऐसी भी होती हैं जो सिर्फ एक देश या प्रान्त या एक जिले या एक खास स्थान पर पाई जाती हैं। ऐसी सीमित क्षेत्र में ही पाई जाने वाली प्रजातियाँ, ऐन्डेमिक प्रजातियाँ कहलाती हैं।

हमारा देश भारत एक सौभाग्यशाली देश है जहाँ ऐन्डेमिक वनस्पतियों तथा प्राणियों की एक बड़ी संख्या विद्यमान है। कहना न होगा ये ऐन्डेमिक प्रजातियाँ हमारे देश के अलावा और कहीं नहीं मिलतीं। वनस्पति विज्ञानी **चटर्जी** (1940) के अनुसार हमारे देश में पाई जाने वाली वनस्पतियों का 61·5% यानी लगभग 7000 प्रजातियाँ ऐन्डेमिक हैं, जो 134 ऐन्डेमिक वंशों (Endemic Genera) से सम्बन्धित हैं। अकेले हिमालय तथा खासी पहाड़ियों से ही 3000 ऐन्डेमिक पादप प्रजातियाँ पाई गई हैं और दक्षिण भारत से 2000 ऐन्डेमिक पादप प्रजातियों के पाये जाने की सूचना है।

चूँकि ऐन्डेमिक प्रजातियाँ राष्ट्र विशेष की अपनी विशिष्ट धरोहर होती हैं अतः विश्व के समस्त देश उन प्रजातियों एवं उनसे सम्बन्धित उत्पादों के लिये परावलम्बी होते हैं। यही कारण है सभी ऐन्डेमिक प्रजातियों को 'रेड डेटा बुक' में संकटग्रस्त प्रजाति (Threatend Species) का दर्जा देकर उनको सुरक्षा प्रदान की जाती है।

जैसा ऊपर बताया गया है, भारत में ऐन्डेमिक वनस्पति प्रजातियों की एक बड़ी संख्या विद्यमान है। आइये कुछ ऐन्डेमिक वनस्पतियों (Endemic Flora) के सही-सही निवास स्थान के बारे में जानकारी प्राप्त करें (सारणी 1)।

सारणी—1

क्र०	ऐन्डेमिक वनस्पति का वैज्ञानिक नाम	स्थान जहाँ वितरित है
1.	लिलियम नीलगिरेन्स	नीलगिरि पहाड़ियाँ (तमिलनाडु)
2.	डायोस्कोरिया बाइटियाई	तिरूनलवेली पहाड़ियाँ (तमिलनाडु)
3.	यूवेरिया निकोबारिका	ग्रेट निकोबार द्वीप
4.	नेपेंथीज खासियाना	काश्मीर
5.	हैडीसॉरम कैचीमिरियानम	काश्मीर
6.	लैवेंटेरा काश्मीरियाना	केरल तथा तिरूनलवेली पहाड़ियाँ
7.	बैन्टिन्किया कौन्डेपाना	कडप्पा पहाड़ियाँ (आन्ध्रप्रदेश)
8.	सायकस बडोमी	तिरूनलवेली पहाड़ियाँ (तमिलनाडु)
9.	पाइपर बारबेरी	कडप्पा ज़िला (आन्ध्रप्रदेश)
10.	टेरोकार्पस सैन्टेलाइनस	तिरूनलवेली पहाड़ियाँ (तमिलनाडु)
11.	आयलैन्थस कुर्जाई	कडप्पा ज़िला (आन्ध्रप्रदेश)
12.	अपामा बारबेरी	अण्डमान
13.	मैनीसूरिस (सभी 12 प्रजातियाँ)	तिरूनलवेली पहाड़ियाँ (तमिलनाडु), देश के विभिन्न भाग

वन प्रसार अधिकारी, वन चेतना केन्द्र, गुलाब बाग, उदयपुर-313001 (राजस्थान)

न केवल वनस्पतियाँ, बल्कि कई तरह के वन्य प्राणी भी हमारे देश में ऐन्डेमिक हैं जैसे अन्डमान जंगली शूकर, निकोबार जंगली शूकर, निकोबार कबूतर, **नार्कोन्डम हॉर्नबिल** आदि ।

ऐन्डेमिक प्रजातियाँ किसी भी देश का गौरव होती हैं। हम ऐन्डेमिक वन एवं वन्य प्राणियों के मामले में एक धनी देश में रहते हैं। ये ऐन्डेमिक प्रजातियाँ हमारे देश की अमूल्य राष्ट्रीय धरोहर हैं। केन्द्र सरकार तथा विभिन्न राज्यों की राज्य सरकारें ऐन्डेमिक प्रजातियों को बचाने पर काफी ध्यान दे रही हैं। **नार्कोन्डम हॉर्नबिल** जैसे अदभुत पक्षी को बचाने के लिये केन्द्र प्रशाशित अन्डमान निकोबार द्वीप समूह में 'नार्कोन्डम द्वीप अभ्यारण्य' की स्थापना की जा चुकी है। इस पक्षी को सुरक्षा प्रदान करने के लिये 'बाम्बे नेचुरल हिस्ट्री सोसाइटी' ने हार्नबिल को अपने 'संस्थागत चिह्न' के रूप में स्वीकार किया है।

इसी तरह कीड़े खाने वाले पादप **नेपेन्थीज़ खासियाना** (**Nepenthes khasiana**) नामक पौधे को बचाने के लिये मेघालय सरकार ने इस पौधे के आवास को 'सुरक्षित क्षेत्र' घोषित कर दिया है। इसी तरह के सुरक्षात्मक कदम अन्य प्रजातियों को बचाने के लिये देश के हर प्रान्त में उठाये जा चुके हैं।

आम आदमी संकटग्रस्त ऐन्डेमिक प्रजातियों की सुरक्षा के महत्व का भारत जैसे विकासशील देश में औचित्य इसी लक्ष्य से समझा जा सकता है कि अमेरिका जैसे विकसित देश ने ही अपने यहाँ की संकटग्रस्त प्रजातियों को बचाने के लिये 1973 में 'युनाईटेड स्टेट एन्डैंजर्ड स्पीशीज़ एक्ट (1973)' [United state Endengered Species Act (1973)] बना लिया था। आइये हम भी अपनी संकटग्रस्त ऐन्डेमिक वन तथा वन्य प्राणी संपदा को अपने-अपने क्षेत्रों में सुरक्षित रखने का दृढ़ संकल्प लें। □ □

इंजेक्शन से अग्नि-शमन

खारकोव के अग्नि-शमन कर्मियों ने भूमिगत स्थानों में लगी आग को नियंत्रित करने और बुझाने के लिए एक नई विधि का विकास किया है। इनमें होज़-पाइप से पानी डालने की बजाय एक बड़ी पिचकारी से तरल कार्बनिक अम्ल का छिड़काव किया जाता है। इससे आग वाले स्थान का तापमान कम हो जाता है और गैस का ऐसा आवरण तैयार हो जाता है कि आग आगे फैल नहीं पाती है और अंत में बुझ जाती है।

क्या नदियाँ सागर में भी बहती हैं ?

सोवियत विज्ञान अकादमी के शिरशोव सागरविज्ञान संस्थान के विशेषज्ञों के अनुसार अमेज़न नदी अटलांटिक सागर में मिलने के बाद 1500 × 300 किलो मीटर क्षेत्र के पानी के स्वरूप को बदल देती है। हाल में ही 'अकादमीशियन कुर्चातोव' नामक अनुसंधान जहाज़ द्वारा किये गये अन्वेषण से इस तथ्य की पुष्टि हो चुकी है कि अमेज़न नदी महासागर में मिलने के बाद भी काफी दूर तक बहती रहती है।

वृद्ध होने की प्रक्रिया पर नया विचार

खारकोव विश्वविद्यालय में **विक्तर लेमेश्को** के नेतृत्व में कार्यरत वैज्ञानिकों के एक दल का मत है कि **शरीर के वृद्ध होने की प्रक्रिया छोटी आयु से ही शुरू हो जाती है।** जीवित कोशिकाओं की झिल्ली के अध्ययन से इस लक्ष्य की पुष्टि हो जाती है। चयापचय की प्रक्रिया के दौरान विभिन्न अणुओं का निर्माण होता है जो धीरे-धीरे कोशिकाओं को नष्ट करते हैं और इस प्रकार वार्धक्य का मुख्य कारण बनते हैं। लेकिन ये अणु या रेडिकल कोशिकाओं को नष्ट करके नई कोशिकाओं के निर्माण की प्रक्रिया को तीव्र करते हैं। इस प्रकार ये एक रचनात्मक प्रक्रिया में भी सहायक हैं। लेकिन एक समय ऐसा भी आता है कि कोशिकाओं के नष्ट होने और नई कोशिकाओं के निर्माण का संतुलन बिगड़ जाता है—पुरानी कोशिकाएँ नष्ट होती रहती हैं, लेकिन नई कोशिकाएँ उसी गति से नहीं बन पाती हैं। इस प्रकार शरीर में वार्धक्य की शुरूआत होने लगती है। इस बात का पता लग जाने के बाद अब वैज्ञानिक इसी प्रक्रिया को नियंत्रित करने की विधियों की खोज में हैं।

द्रव्य की बनावट और उद्गम के अंतिम अवयव

डॉ० बिपिन प्रकाश सेठ

पिछली कुछ शताब्दियों से प्रकृति के द्रव्य की बनावट और उद्गम के अंतिम अवयव तथा इन अवयवों में लगने वाले बल को समझने के लिये वैज्ञानिक कार्य कर रहे हैं। पिछली शताब्दी में रसायनज्ञों ने बताया कि द्रव्य पृथक न किये जाने योग्य परमाणु से बना है। परमाणु अभेद्य है और दो परमाणु एक दूसरे पर कोई बल नहीं लगाते हैं। इसी अवधारणा पर गैस के अणु गति सिद्धांत को सफलतापूर्वक विकसित किया गया। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में वैज्ञानिकों ने पाया कि रेडियोएक्टिव (रेडियोसक्रिय) स्रोत के ऐल्फ़ा कण धातु की पतली पन्नी से पार हो जाते हैं अर्थात् परमाणु भेद्य हैं। भौतिक विज्ञानियों ने परमाणु को नाभिक (न्यूक्लियस) और उसके चारों ओर इलेक्ट्रॉन अभ्र में विघटित कर दिया। यह भी निष्कर्ष निकाला गया कि परमाणु का आवेश शून्य है और इसकी नाभि प्रोटॉन और न्यूट्रॉन की बनी है। प्रोट्रॉन का आवेश धनात्मक एवम् इलेक्ट्रॉन के आवेश के बराबर है परन्तु न्यूट्रॉन आवेशरहित है। नाभि में प्रोटॉन की संख्या इसके चारों ओर घूमने वाले इलेक्ट्रॉन की संख्या के बराबर है। इलेक्ट्रॉन पाउली अपर्वजन सिद्धांत के अनुसार नाभिक (न्यूक्लियस) के चारों ओर चक्कर लगाते हैं।

न्यूट्रॉन या प्रोट्रॉन, जिन्हें हम न्यूक्लिऑन भी कहते हैं, का आवेश वितरण जानने के लिए उच्च ऊर्जा वाले इलेक्ट्रॉन-प्रोटॉन प्रकीर्णन के कई प्रयोग किये गये। यदि प्रोटॉन की आन्तरिक बनावट नहीं है तब इन प्रकीर्णन के परिणाम इलेक्ट्रॉन-म्यूऑन प्रकीर्णन के सिद्धांत से समझे जा सकते हैं, परन्तु यह पाया गया कि न्यूक्लिऑन को म्यूऑन की तरह बनावटरहित या बिन्दु मात्र नहीं लिया जा सकता। 1968 में इन प्रयोगों के आधार पर न्यूक्लिऑन को कणिकी संरचना वाला समझा गया। आजकल हम मानते हैं कि प्रत्येक न्यूक्लिऑन तीन चालन क्वार्क (Valence quarks) का बना है। इसके बारे में अभी कुछ कहना बहुत कठिन होगा कि द्रव्य छोटे-छोटे अवयव का ही बना है या इसकी कोई आन्तरिक बनावट नहीं है, यह केवल गणितीय बिन्दु मात्र है।

हम जानते हैं कि सूक्ष्म ब्रह्माण्ड के भीतर की बनावट जानने के लिए बहुत अधिक ऊर्जा के कण अन्वेषी के रूप में प्रयोग में लाते हैं। सबसे छोटा विवरण विभेदन कण की 'दे ब्राग्ली तरंग दैर्ध्य' के समानुपातिक होता है। किसी कण की दे ब्राग्ली तरंग दैर्ध्य का मान h/p के बराबर है, जिसमें h **प्लांक नियतांक** है जिसका मान 6.63×10^{-27} अर्ग-सेकेंड है और p **रैखिक संवेग** है। आज के त्वरकों से उपलब्ध अधिकतम ऊर्जा वाले कण से 10^{-16} सेन्टीमीटर तक के विवरण का विभेदन कर सकते हैं। यह दूरी प्रोटॉन की त्रिज्या का $\frac{1}{1000}$ वाँ हिस्सा है।

आइन्सटीन द्रव्यमान-ऊर्जा संबंध, ऊर्जा=संहति × (प्रकाश का वेग)^2, के अनुसार अधिक भारी कण पैदा करने के लिए अधिक ऊर्जा जरूरी है। भारी कण कई चैनल से छोटे-छोटे कणों में क्षय हो जाते हैं अत: भारी कण की आयु कम होती है और वे प्रकृति में दिखलाई नहीं पड़ते हैं। इन्हें कृत्रिम ढंग से पैदा किया जा सकता है। आधुनिक प्राप्त ऊर्जा द्वारा बीस प्रोटॉन की संहति के बराबर की संहति वाले कण पैदा किये जा सकते हैं जो कि काफी भारी नहीं हैं।

इतनी उच्च ऊर्जा को प्राप्त करने का एक मात्र साधन कणों को विद्युत-चुम्बकीय क्षेत्र द्वारा त्वरित करना है। चूँकि कण को त्वरित करने में कुछ सेकेंड लगते हैं अत: केवल स्थायी कण ही त्वरित किये जा सकते हैं। केवल इलेक्ट्रॉन और प्रोटॉन या इनके प्रतिकण को ही त्वरित करते हैं।

रीडर, भौतिकी विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक, हरियाणा

प्रोटॉन को इलेक्ट्रॉन की अपेक्षा आसानी से त्वरित किया जा सकता है, परन्तु प्रोटॉन की बनावट बहुत जटिल है। इलेक्ट्रॉन, म्यूऑन जिनको हम लेप्टॉन भी कहते हैं, के प्रकीर्णन के प्रयोग से हम जानते हैं कि प्रोटॉन में केवल तीन चालन क्वार्क्स (Valence quarks) ही नहीं होते बल्कि अनन्त क्वार्क्स (Sea quarks) होते हैं और ग्लुआन (Glouns) इन क्वार्क्स को आपस में बाँधे हुए हैं। ये अनन्त क्वार्क्स (Sea quarks) निर्वात ध्रुवण (Vacuum polarisation) के कारण हैं। इस कारण प्रोटॉन के संघटन की व्याख्या करना और इससे द्रव्य के अवयव के बारे में मूल सूचना प्राप्त करना बहुत कठिन है।

आज तक के ज्ञान के अनुसार इलेक्ट्रॉन 10^{-16} से० मी० विस्तार तक केवल गणितीय बिन्दु मात्र है, परन्तु इनको वृत्ताकार त्वरक से त्वरित करना कठिन है क्योंकि अभिकेन्द्र त्वरण के कारण सिंक्रोट्रॉन विकिरण उत्सर्जित होने लगते हैं। सिंक्रोट्रॉन विकिरण द्वारा ऊर्जा की हानि E^4/R के समानुपाती होती है जहाँ E इलेक्ट्रॉन की ऊर्जा है और R इलेक्ट्रॉन की कक्षा की त्रिज्या है। ऊर्जा की इस क्षति को त्वरक क्षेत्र का मान बढ़ाकर पूरा किया जा सकता है। त्वरक क्षेत्र का मान बढ़ाने के लिए (इलेक्ट्रॉन की ऊर्जा)^8 के अनुपात में शक्ति चाहिए। दूसरा तरीका इलेक्ट्रॉन की कक्षा की त्रिज्या का मान बढ़ाकर विकिरण को कम करना है, परन्तु यह तरीका भी अधिक कार्यक्षम नहीं है। वास्तव में त्रिज्या का मान दो गुना करने से इलेक्ट्रॉन की ऊर्जा में केवल 20% की वृद्धि होती है। इसीलिए कैलीफोर्निया के 'स्टेनफोर्ड लिनीयर एक्सीलरेटर सेन्टर' में 3.2 किलोमीटर लम्बे त्वरक से अधिकतम ऊर्जा वाले इलेक्ट्रॉन प्राप्त कर सके हैं, जिनमें सिंक्रोट्रॉन विकिरण नहीं होता। रैखिक त्वरक से अधिक ऊर्जा वाले इलेक्ट्रॉन प्राप्त करना बहुत कठिन है और यह इलेक्ट्रॉन संग्रह रिंग के लिए भी उपयोगी नहीं हैं। इस कारण यूरोप में स्विटज़रलैण्ड के लिए 27 किलोमीटर परिधि वाले नये Large Electron-Positron Storage Ring या LEP संग्रह रिंग परियोजना को अनुमति मिल गयी।

इन त्वरित कणों को प्रयोग में लाने के दो तरीके हैं:

1. पहले तरीके में स्थिर लक्ष्य वाले त्वरक में त्वरित प्रोटॉन या इलेक्ट्रॉन को विराम स्थिति में न्यूक्लियस से टकराते हैं। इस टकराव में द्वितीयक कण उत्पादित होते हैं जो द्वितीयक कण किरण-पुंज बनाते हैं। इस किरण पुंज के कुछ कणों को जैसे न्यूट्रॉनों, म्यूऑन, पाइऑन या केऑन को हम त्वरित नहीं कर सकते; लेकिन द्वितीयक इलेक्ट्रॉन की किरण पुंज 300 गीगा इलेक्ट्रॉन वोल्ट ऊर्जा वाली प्राप्त कर लेते हैं। इतनी ऊर्जा वाली किरण-पुंज किसी अन्य साधन से नहीं प्राप्त कर सकते हैं। इन द्वितीयक किरण पुंज से उन भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रक्रमों का अध्ययन नहीं किया जा सकता है।

2. दूसरे तरीके में दो कण किरण-पुंज को सम्मुख टक्कर करवाते हैं। इसमें संहित केन्द्र ऊर्जा दोनों किरण-पुंज की ऊर्जा के जोड़ के बराबर होती है। इस विधि में कणों के टकराव की सम्भावना कम होती है, इसलिए इन किरण-पुंजों को संग्रह रिंग में संग्रहित कर लेते हैं, जहाँ यह घंटों या कई दिनों तक घूमते रहते हैं और इन दोनों किरण-पुंजों के टकराव की सम्भावना बहुत बढ़ जाती है।

यदि एक ही प्रकार के कणों के दो किरण-पुंजों का टकराव करवाना है तो विपरीत चुम्बकीय क्षेत्र वाली दो प्रतिच्छेदी चुम्बकीय रिंग जरूरी हैं। इस प्रकार का पहला त्वरक योरोप में I.S.R. (Intersecting Storage Rings) नाम से बना।

इससे भी रुचिकर और आसान वे संग्रह रिंग हैं जिनमें कण और प्रतिकण आपस में टकराते हैं। इन कणों का आवेश विपरीत होने के कारण केवल एक चुम्बकीय रिंग की ज़रूरत होती है। संसार की दो सबसे बड़ी इलेक्ट्रॉन-पाजीट्रॉन संग्रह रिंग हमबर्ग (Hamburg), जर्मनी में PETRA और स्टैनफोर्ड (Stanford), अमेरिका में PEP हैं। PETRA में एक किरण-पुंज की ऊर्जा 19 गीगा इलेक्ट्रॉन वोल्ट है जिसे 22 गीगा इलेक्ट्रॉन वोल्ट करने की कोशिश है। PEP में एक किरण-पुंज की ऊर्जा 18 गीगा इलेक्ट्रॉन वोल्ट है। योरोप में 1980 में प्रोटॉन-एन्टीप्रोटॉन के टकराव के लिए सुपर प्रोट्रॉन सिंकोट्रॉन (Super Proton Synchotron, SPS) संग्रह रिंग का

निर्माण हुआ। इसमें एक किरण-पुंज की ऊर्जा 270 गीगा इलेक्ट्रॉन वोल्ट है। शोध कार्य के लिए यह बहुत बड़ी उपलब्धि है।

इससे अधिक ऊर्जा वाले त्वरकों की योजना है। ये त्वरक इतने बड़े और कीमती हैं कि विश्व के कई देशों ने इस दिशा में सहयोग करना स्वीकार किया है। ऐसा विश्वास है कि इस शताब्दी के अन्त तक 10 टेरा इलेक्ट्रॉन वोल्ट ऊर्जा वाले प्रोटान किरण-पुंज प्राप्त कर लिए जायेंगे।

आज के ज्ञान के अनुसार द्रव्य केवल 6 क्वार्क और 6 लेप्टॉन से बना है। ये 6 क्वार्क हैं—अप (up), डाउन (down), स्ट्रैंज (strange), चार्म (charm), बाटम (bottom) तथा टाप (top); और 6 लेप्टॉन हैं इलेक्ट्रॉन न्यूट्रीनो, (Electron neutrino), म्यूऑन न्यूट्रीनो (Muon neutrino), टौ न्यूट्रीनो (Tau neutrino), इलेक्ट्रॉन (Electron), म्यूऑन (Muon), तथा टौ (Tau)। ये सारे कण फर्मिऑन हैं क्योंकि इन सबकी स्पिन 1/2 है। इससे स्पष्ट है कि इनमें से एक कण को स्वतंत्र रूप से उत्पन्न नहीं किया जा सकता, बल्कि वे दो लेप्टॉन या क्वार्क-एन्टीक्वार्क युगल के रूप में उत्पन्न होंगे।

क्वार्क और लेप्टॉन में अन्तर है। क्वार्क का आवेश इलेक्ट्रॉन के आवेश का 1/3 या 2/3 गुणा होता है, जबकि पहले तीन लेप्टॉन आवेश रहित हैं और आखिरी तीन लेप्टॉन का आवेश इलेक्ट्रॉन के आवेश के बराबर (1.6×10^{-19} कूलॉम्) होता है। लेप्टॉन नाभिकीय बल को अनुभव नहीं करते हैं, जबकि क्वार्क इस बल का अनुभव करते हैं।

अनेक सिद्धांतवादियों की धारणा है कि क्वार्क और लेप्टॉन बिन्दुमात्र नहीं है बल्कि इनकी भी आन्तरिक बनावट है। यह अन्य छोटे-छोटे कणों के बने हैं जिसे प्रीऑन (Preons) या रीशॉन (Rishons) या हैप्लॉन (Haplons) कहते हैं। यदि यह सत्य है तो क्वार्क और लेप्टॉन का निश्चित आकार होगा। अभी तक की प्राप्त ऊर्जा से किये गये प्रयोगों के आधार पर हम कह सकते हैं कि लगभग 10^{-16} से० मी० विस्तार तक क्वार्क और लेप्टॉन बिन्दु मात्र हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि क्वार्क और लेप्टॉन की कोई आन्तरिक बनावट नहीं है। अतएव और अधिक ऊर्जा वाले प्रकीर्णन के प्रयोग ही इन कल्पनाओं की पुष्टि कर सकेंगे और यदि आने वाले कुछ वर्षों में इन कल्पनाओं को समर्थन मिल सका तो वह इस शताब्दी की सर्वाधिक शक्तिशाली उपलब्धि होगी। □□

सौरमंडल की उत्पत्ति के बारे में नयी खोज

'सोवियत विज्ञान अकादमी' के भूविज्ञान संस्थान के रसायनविद् डॉ. लियोनिद लेव्स्की का मत है कि हमारे सौर मंडल की उत्पत्ति गैस के दो विशाल बादलों के मिलने से हुई है। इन दोनों बादलों की उत्पत्ति दो भिन्न तापनाभिकीय स्रोतों से हुई थी। यही कारण है कि सौरमंडल ग्रहों, विशेष रूप से पृथ्वी पर विभिन्न रासायनिक संरचनाओं वाले तत्व जैसे ऑक्सीजन, जेनन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, मैग्नीशियम आदि भिन्न-भिन्न परिभाषाओं में पाये जाते हैं। उन्होंने आगे बताया है कि अंतर्ग्रहीय सामग्री का अधिकांश ग्रहों के निर्माण में व्यय हुआ और शेषांश अंतर्ग्रहीय अंतरिक्ष में विलीन हो गया। ग्रहों के बीच घूमने वाले उल्कापिंडों की संरचना से भी यही तथ्य सिद्ध होता है।

बिच्छू के जहर पर अनुसंधान

उज्बेकिस्तान की राजधानी ताशकंद की एक प्राणि-विज्ञानशाला में प्रति वर्ष सांप, बिच्छू और अन्य विषैले जंतुओं का 200 ग्राम से अधिक जहर जमा किया जाता है जो विभिन्न प्रकार की औषधियाँ तैयार करने के काम आता है।

प्रयोगशाला के एक विशेषज्ञ ने बताया है कि एक ग्राम विष जमा करने के लिए 8-9 हज़ार काले बिच्छुओं की ज़रूरत होती है। काले बिच्छू के एक ग्राम विष का मूल्य 20,000 डालर से अधिक का होता है। अब प्रयोगशाला में इस विषय में अनुसंधान चल रहा है कि क्या सफेद बिच्छू का बिष लकवे की चिकित्सा के लिए उपयुक्त है।

भारतरत्न सर चन्द्रशेखर वेंकटरामन

द्वारिका प्रसाद शुक्ल

भारतरत्न सर सी० वी० रामन स्वयं एक महान् रत्न प्रेमी, रत्न पारखी एवं रत्नों के तराशकर्ता थे। प्रकृति के सौन्दर्य एवं कौतूहल को समझने की तीव्र ललक आप में थी तथा सौन्दर्य बोध के माध्यम 'मानव दृष्टि' एवं मधुर संगीत के सृजन में सहायक मृदंगम एव वीणा आदि वाद्ययंत्रों से संबंधित स्वर-विज्ञान के क्षेत्र में आपने साधना की एवं अमूल्य योगदान किया। प्रकाश के विकिरण संबंधित अध्ययन एवं अनुसंधान के लिये आपको 'नोबेल पुरस्कार' प्राप्त हुआ जिसके लिये पूरे भारतवर्ष को गर्व है।

प्रकाश के विकिरण से संबंधित अत्यन्त महत्वपूर्ण वैज्ञानिक आविष्कार 'रामन प्रभाव' (Raman Effect) के प्रतिपादक सर सी० वी० रामन का जन्म 7 नवम्बर, 1888 ई० को वर्तमान तामिलनाडु राज्य के अन्तर्गत त्रिचुरापल्ली (त्रिची) के पास तिरवनैक्कवल गाँव में हुआ था। आपकी माताजी **श्रीमती पार्वती अम्माल** तथा पिता **श्री चन्द्रशेखर अय्यर** थे। बालक सी० वी० रामन के चार भाई तथा तीन बहनें थीं। ये उनमें एक से छोटे तथा छः से उम्र में बड़े थे। पिताजी पहले एक स्थानीय विद्यालय में अध्यापक थे, बाद में ए० वी० एन० कॉलेज वाल्तेयर (विशाखापटनम्) में भौतिकी तथा गणित के प्रवक्ता हो गये थे। इसी कालेज में बालक वेंकटरामन ने शिक्षा पाई। बाद में 1901 में वे प्रेसीडेन्सी कॉलेज; मद्रास के छात्र हुये जहाँ से भौतिक विज्ञान के साथ आपने बी० ए० एवं एम० ए० की परीक्षायें विशेष योग्यता सहित प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। एम० ए० की परीक्षा में पूरे मद्रास विश्वविद्यालय में प्रथम स्थान प्राप्त किया। सरकार ने उच्च शिक्षा एवं अध्ययन के लिये इंगलैण्ड जाने के लिये आपको छात्रवृत्ति स्वीकृत की परन्तु डॉक्टर ने इनके स्वास्थ्य को देखते हुये इंगलैण्ड जाने की अनुमति नहीं दी। बाद में 1907 में आप भारतीय वित्त विभाग में राजपत्रित अधिकारी के पद पर नियुक्त हो गये। इस परीक्षा में भी आपने पूरे भारत में प्रथम स्थान प्राप्त किया तथा कलकत्ता में डिपुटी एकाउन्टेन्ट जनरल नियुक्त हो गये।

इसी बीच रामन ने वैज्ञानिक एवं सामाजिक विशिष्टताओं के साथ ही एक मानव रत्न खोज निकाला। त्यागराज की कृति 'राम नी समनम एवोरा' (राम ! कौन आपके बराबर हो सकता है ?) की मधुर ध्वनि वीणा पर निकालते हुये **लोकसुन्दरी** को देखकर वेंकटरामन मंत्र-मुग्ध हो गये और शीघ्र ही उनसे दाम्पत्य-सूत्र में बँध गये। राज्य सरकार की सेवा में आने के पश्चात् रामन एवं लोकसुन्दरी ने कलकत्ता में बउबाज़ार में अपना घर-संसार बसाया।

विज्ञान में रामन जी की इतनी प्रगाढ़ अभिरुचि थी कि वे नौकरी में आने पर भी विज्ञान का अध्ययन करते रहना चाहते थे। एक दिन दफ्तर जाते हुये उनकी दृष्टि विज्ञान के संवंधर्न के लिये स्थापित एक संस्था (इंडियन एसोसियेशन फॉर कल्टीवेशन ऑव साइंस) के नाम-पटल पर पड़ी। बाद में **श्री महेन्द्रलाल सरकार** द्वारा पावन उद्देश्यों सहित 1876 में स्थापित इसी संस्था को रामन महोदय ने अपने वैज्ञानिक अध्ययन की पुण्य स्थली बनाया। अपने पूज्य पिता के संगीत प्रेम से प्रेरणा पाकर आपने मृदंगम एव वीणा के मधुर स्वर के कारणों का वैज्ञानिक अध्ययन किया तथा अपने शोध के परिणामों को इंडियन एशोसियेशन की बुलेटिन में छापते रहे जो आगे चलकर भौतिकी के भारतीय जर्नल (इंडियन जर्नल ऑव फ़िज़िक्स) के रूप में विख्यात हुआ। यहाँ पर रामन साहब के साथ **श्री आशुतोष डे** भी शोधकार्य में रत रहते थे। यद्यपि आशुतोष बाबू ने किसी विश्वविद्यालय में

मुख्य प्रशिक्षक, स्टाफ ट्रेनिंग सेन्टर, स्टेट बैंक ऑव इण्डिया, इलाहाबाद

शिक्षा नहीं प्राप्त की थी परन्तु शोध में उनकी तीव्र रुचि थी एवं वेंकटरामन इससे बहुत प्रसन्न थे। लोकसुन्दरी जी के अनुसार सबेरे $5\frac{1}{2}$ बजे से पौने दस बजे तक तथा शाम को दफ्तर से सीधे 5 बजे एसोसियशन भवन में पहुँच कर रात $9\frac{1}{2}$—10 बजे तक रामन साहब शोध में रत रहते थे। बीच में दफ्तर का कार्य 10 बजे से 5 बजे तक उन्हें व्यस्त रखता था। इतने व्यस्त जीवन में लोकसुन्दरी जैसी पत्नी का अपूर्व सहयोग रामन साहब के लिये सौभाग्य की बात थी। अनायास याद आती है ये पंक्ति 'अभिमान न करना यदुराई यह बल है राधारानी का'।

1909 में रंगून तथा दूसरे वर्ष नागपुर स्थानांतरण के बाद रामन साहब ने अपने निवास को ही अपनी प्रयोगशाला बनाया परन्तु विज्ञान-साधना में व्यवधान नहीं आने दिया।

इसी क्रम में 1917 में प्रतिभापूर्ण रत्नों के महान पारखी का ध्यान वेंकटरामन पर पड़ा—वह जौहरी थे **सर आशुतोष मुखर्जी**, कलकत्ता विश्वविद्यालय के उपकुलपति। भौतिकी में **सर तारकनाथ** पलित प्रोफेसर के नये पद के लिये एक उपयुक्त व्यक्ति की तलाश उन्हें थी। उन्होंने रामन साहब के नाम का प्रस्ताव किया। पद, मान-मर्यादा आदि को त्यागकर तुरन्त कम वेतन होते हुए भी वेंकटरामन ने सरकारी नौकरी छोड़कर सरस्वती के मंदिर में विज्ञान की पूजा में सतत् लगे रह सकने का यह सुअवसर हाथ से नहीं जाने दिया। सर आशुतोष इससे बहुत प्रभावित एवं उत्साहित हुये। उन्हें हार्दिक प्रसन्नता हुई कि वैभव एवं उच्च पद को त्यागकर कम धन एवं पर्याप्त सुविधाओं की कमी के बावजूद वेंकट रामन जैसे नवयुवक ने विश्वविद्यालय से प्रोफेसर पद को गौरवान्वित किया। इससे सर आशुतोष को यह निश्चय हो सका कि सत्य एवं ज्ञान के साधकों की विद्या के मंदिर में कमी न रह सकेगी।

प्रारंभ में रामन महोदय ने भारतीय वाद्य-यंत्रों—वीणा, मृदंग, तबला आदि की ध्वनियों का विस्तृत एवं गहन अध्ययन करके ध्वनि-विज्ञान की दृष्टि से उनकी उत्तमता, गुणवत्ता एवं रागात्मकता (होरमोनिक्स) का निरूपण किया।

1922 में कलकत्ता विश्वविद्यालय ने रामन साहब को डॉक्टर ऑव साइंस (डी० एस-सी०) की उपाधि से विभूषित किया तथा 1924 में 'रॉयल सोसायटी ऑव लंदन' ने उन्हें फेलोशिप (एफ० आर० एस०) से सम्मानित किया। वैज्ञानिक चुनौती रामन साहब के लिये सदैव उत्प्रेरक का काम करती थी। रॉयल सोसायटी के फेलो चुने जाने के पूर्व की एक रोचक घटना है। अपने प्रवास के दौरान जब वे ध्वनि-विज्ञान से संबंधित अपने शोधों पर आधारित एक भाषण लंदन में दे रहे थे तो रॉयल सोसायटी के एक सदस्य (फेलो) ने उनके शोध-कार्य की सराहना करते हुये विनोद में कहा कि क्या वे इसी तरह बिना कोई गहन कार्य किये हुये बाजा बजाते हुये रॉयल सोसाइटी के फेलो बनने की आशा करते हैं। इसके बाद रामन साहब ने ध्वनि-विज्ञान से प्रकाश-विज्ञान की दिशा में अपने शोध को मोड़ दिया। वे **लार्ड रैले** को अपना गुरू मानते थे यद्यपि उनसे आपकी मुलाकात नहीं हुई थी।

लार्ड रैले ने आकाश की नीलिमा की व्याख्या वातावरण के अणुओं द्वारा प्रकाश के विकिरण के कारण की थी परन्तु समुद्र के जल की नीलिमा को उन्होंने आकाश की नीलिमा का परावर्तन (रेफलेक्शन) बताया था। अपने इंगलैंड के प्रवास से लौटते समय ही रामन साहब ने मध्यसागर के नीले जल को देखकर यह निश्चय किया कि इसके कारण को समझा जाय। रामन के साधारण प्रयोगों से यह सिद्ध हुआ कि सागर के जल की नीलिमा आकाश की नीलिमा के परावर्तन से नहीं बल्कि जल द्वारा प्रकाश के विकिरण (स्कैटरिंग) के कारण थी। लौटते समय जलयान में ही उन्हें आभास हुआ कि आइन्स्टीन-स्मोलुचोस्की (Einstein-Smoluchouski) ऊष्मा-गतिकी फ्लक्चुयेशन (thermodynamic fluctuation) का सिद्धान्त, जिसके द्वारा चरम बिन्दु (क्रिटिकल प्वाइन्ट) के निकट विशिष्ट प्रकाशीय घटनाओं की व्याख्या की जाती है, द्रवों में आणुविक डिफ्रेक्शन की व्याख्या हेतु भी काम में लाया जा सकता है। अत: भारत पहुँचते ही उन्होंने (i) द्रवों द्वारा प्रकाश का विकिरण, (ii) द्रवों द्वारा एक्स-किरणों का विकिरण तथा (iii) द्रवों की श्यानता

(विस्कॉसिटी) पर शोध-कार्य प्रारंभ कर दिया। 1923 में प्रसिद्ध **रामन-रामनाथन शोध-पत्र** प्रकाशित हुआ। **रामन-शेषगिरि राव शोध-पत्र** भी प्रकाशित हुआ। **डॉ० के० कस० कृष्णन** ने भी कई प्रयोग किये। विख्यात **काम्पटन-रामन सूत्र** का प्रतिपादन भी इसी बीच हुआ।

27 फरवरी 1928 को **आशु बाबू (आशुतोष डे)** ने रामन साहब के लिये 'फ्लोरेसेन्स ट्रैक' का निरीक्षण करने हेतु स्पेक्ट्रोस्कोप को लगाया परन्तु तब तक सूर्यास्त हो चुका अतः प्रयोग नहीं हो सका। 28 फरवरी, 1928 की सुबह प्रथम निरीक्षण उस प्रभाव का किया गया जिसे बाद में जर्मन भौतिकीविद् **प्रिन्गशेम** ने 'रामन प्रभाव' की संज्ञा थी। 1930 में प्रकाश-प्रकीर्णन के शोधों के लिये डॉ० सी० वी० रामन को विश्व-प्रसिद्ध 'नोबेल पुरस्कार' से सम्मानित किया गया। वे न केवल प्रथम भारतीय वरन् प्रथम एशियाई वैज्ञानिक थे जिन्हें इस सम्मान से विभूषित किया गया। रामन साहब ने भाषण में अपने सभी सहयोगियों का समुचित उल्लेख किया।

'रामन प्रभाव' पर पूरे विश्व में बहुत शोध-कार्य हुआ। 1940 तक लगभग 1800 शोध-पत्र 'रामन प्रभाव' के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाशित हुये। इसी बीच लगभग 2500 विभिन्न रासायनिक यौगिकों का परीक्षण हुआ। 'रामन प्रभाव' की सहायता से अणुओं की अज्ञात संरचना को जानने में बहुत सहायता मिली।

1960 के दशक में लेज़र किरणों (Lasers) के आविष्कार के बाद 'रामन प्रभाव' संबंधित शोध एवं अध्ययन ने एक नया रूप ले लिया है और रामन स्पेक्ट्रो-स्कोपी पर बहुत सी अंतर्राष्ट्रीय गोष्टियाँ प्रायोजित की जाती रही हैं तथा मूलभूत भौतिकी में शोध के नये आयाम खुल रहे हैं।

प्रकृति की रंग बिरंगी वस्तुओं से रामन साहब को अभूतपूर्व लगाव था—चाहे वह फूलों में हो, तितलियों में हो, आकाश में या जल में अथवा विभिन्न मणिभों (क्रिस्टल्स) में। एक बार उन्होंने युवा वैज्ञानिकों के एक समूह को संबोधित करते हुये कहा था कि विज्ञान विश्व व प्रकृति में है न कि प्रयोगशालाओं में इसलिये वैज्ञानिक को अपनी उत्सुकता एवं सौन्दर्यबोध को बनाये रखना अति आवश्यक है। प्रश्नों एवं वैज्ञानिक विधियों / उपकरणों से प्राकृतिक घटनाओं एवं प्रकृति के रहस्यों को समझने में मदद अवश्य मिल सकती है।

रामन साहब ने नानाप्रकार के स्फटकों एवं मणिभों का संग्रहालय 'रामन रिसर्च इन्स्टीट्यूट' में बना रक्खा था। रत्नों एवं मणिभों में सुन्दर रंगों की छटा क्यों तथा कैसे दिखायी पड़ती है, इस पर भी उन्होंने काफी शोधकार्य किया था।

1933 में प्रोफेसर रामन कलकत्ता विश्वविद्यालय से इंडियन इंस्टीट्यूट ऑव साइंस, बंगलोर के निदेशक होकर आ गये जहाँ वे 1943 तक रहे। उसके बाद सरकारी तंत्र से त्रस्त होकर उन्होंने अपने अंशदान से तथा चन्दा इकट्ठा करके 1943 में 'रामन रिसर्च इंस्टीट्यूट' की स्थापना बंगलोर में की जहाँ वे निर्वाध शोधकार्य कर व करा सके।

'इंडियन इंस्टीट्यूट ऑव सांइस' के उनके कटु अनुभव उन्हीं के शब्दों में—

"बंगलौर एक सुन्दर जगह है और मैंने सोचा कि यहाँ पर विज्ञान में रुचि रखने वाले लोग हैं। मैं यहाँ धन कमाने नहीं आया। मैं बंगलौर को एशिया में विज्ञान का केन्द्र बनाना चाहता था, परन्तु यहाँ इंडियन इन्स्टीट्यूट ऑव साइंस में मुझे 'नर्क' का दुःख मिला। मुझसे कहा गया कि मैं वैज्ञानिक हो सकता हूँ, पर प्रशासक नहीं हूँ। इन्स्टीट्यूट की ग्रान्ट्स में कटौती कर दी गई और यहाँ तक कहा गया कि मैंने धन का गबन किया है।

मुझे जो कष्ट हुआ वह वर्णन करने योग्य नहीं है। सफल होने के लिये राजनीतिक सहारा चाहिये जो मेरे पास नहीं है। मैंने इंडियन इन्स्टीट्यूट ऑव सांइस छोड़कर अपना इंस्टीट्यूट स्थापित किया। अब मैं अपना मालिक स्वयं हूँ और प्रसन्न हूँ। यह संस्थान मुझको दिये गये कष्ट का एक उचित जवाब है। यहाँ मैं शांति से, चुपचाप काम करता हूँ। विज्ञान का कार्य चुपचाप एवं शांति से किया जाता है। हमारी राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं को देखिये। वे कुछ लोगों के लिये निहित स्वार्थ की चीजें हैं।"

[शेष पृष्ठ 18 पर]

ऊर्जा संकट : किसान के लिए चुनौती

डॉ० शिवगोपाल मिश्र

विश्व की जनसंख्या में जिस गति से वृद्धि हो रही है उसको देखते हुए आवश्यक होगा कि अन्नोत्पादन एवं अन्य साधनों में वृद्धि की जाय। चूँकि अन्नोत्पादक दिनो-दिन ऊर्जा पर आश्रित होता जा रहा है अतएव ऊर्जासंकट की स्थिति उत्पन्न होने पर अन्नोत्पादन बुरी तरह प्रभावित हो सकता है।

ऊर्जासंकट की ओर वैज्ञानिकों का ध्यान 1973 ई० से ही गया है किन्तु बहुत काल तक लोग इसे हो-हल्ला ही समझते रहे। इसी प्रकार लगातार बीस वर्षों से अन्न-संकट के विषय में चेतावनियाँ दी जाती रही हैं। विश्व-व्यापी खाद्यान्न का अभाव एकमात्र ऊर्जा के अधिक उत्पादन और कृषि में उसके समुचित उपयोग से दूर किया जा सकता है। यदि हमें काफी अन्न उत्पन्न करना है तो हमें ऊर्जा का उपयोग करना ही होगा। चुनौती यह है कि ऊर्जा किन-किन साधनों से प्राप्त की जाय।

उर्वरकों के उत्पादन में अमेरिका में केवल 2% ऊर्जा व्यवहृत होती है किन्तु उसके बल पर इतना अन्नोत्पादन होता है कि उसका निर्यात किया जाता है। यदि मक्के की फ़सल में 1 इकाई ऊर्जा व्यय की जाती है तो उससे 6 इकाई ऊर्जा मिलती है। तात्पर्य यह कि उच्च उत्पादन का मूल मंत्र है ऊर्जा का उपयोग। किन्तु उर्वरकों के उत्पादन में न केवल बिजली व्यय होती है अपितु पानी भी लगता है। 1 टन फॉस्फेट उर्वरक बनाने में 1000 किलोवाट घंटा बिजली, 6 गैलन डीज़ल तथा 3000 गैलन पानी लगता है।

इस तरह चाहे उर्वरक उत्पादन हो, चाहे सिंचाई का कार्य हो या फ़सलोत्पादों को सुखाने का कार्य, सभी के लिए ऊर्जा चाहिए। यह ऊर्जा प्राकृतिक गैस, डीज़ल तेल, बिजली आदि से प्राप्त होती है। सिंचाई के लिए तेल, गैस या जल-विद्युत् का उपयोग होता है किन्तु सौर ऊर्जा, पवन ऊर्जा, तथा बायोमास से प्राप्त ऊर्जा का उपयोग सम्भव है। यदि किसानों को इन समस्त ऊर्जा साधनों में चुनाव करना पड़े तो वह सस्ते से सस्ते साधन को चुनना चाहेगा। अध्ययनों से पता चला है कि यद्यपि पवन तथा सूर्यप्रकाश प्रकृति की देनें हैं अतएव मुफ्त ही उपलब्ध हो सकती हैं किन्तु देखा गया है कि सौर ऊर्जा 5-10 गुनी महँगी होगी जबकि पवन ऊर्जा तथा बायोमास ऊर्जा सस्ती होंगी। पवन ऊर्जा निश्चित ऋतु में पवन के वेग पर निर्भर होने से यदाकदा ही उपलब्ध हो सकती है किन्तु बायोमास, जो सौर ऊर्जा का वनस्पतियों द्वारा उपयोग है, ऊर्जा का सरलता से उपलब्ध स्रोत है। यह ऊर्जा बायोमास को सीधे जलाकर, उसके गैसीकरण से, उससे मीथेन या ऐल्कोहॉल उत्पन्न करके प्राप्त की जा सकती है। किन्तु बायोमास का उपयोग ऊर्जा के लिए तभी हो सकता है जब वह खाद्य न हो, वह पशुओं के चारे के रूप में अथवा रेशे के रूप में बेकार हो। इसी बायोमास का ही रूप है खेतों में उगी फसलों के डंठल, पुआल जैसे अपशिष्ट (Agricultural wastes) तथा जंगलों के रूप में उगे वृक्षों की लकड़ी। आज हमारे देश में कृषीय अपशिष्ट तथा लकड़ी दोनों ही ईंधन के रूप में प्रयुक्त हो रहे हैं। अनुमान है कि प्रतिवर्ष पंजाब में 50 लाख टन पुआल जला दिया जाता है। जलाऊ लकड़ी का उपयोग गाँवों में ईंधन के रूप में होता है। देश में कृषीय अपशिष्टों की अनुमानित मात्रा प्रतिवर्ष 29 करोड़ टन से अधिक एवं धान की भूसी, खोई, बुरादा की भी मात्रा 3 करोड़ टन होगी। एक अनुमान के अनुसार बायोमास से देश की कुल ऊर्जा का 77% प्राप्त हो सकता है किन्तु अभी केवल 40% ही प्राप्त हो पाता है। जलीय बायोमास यथा जलकुम्भी से से भी काफी अपशिष्ट प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार किसान के समक्ष अनेक विकल्प हैं।

वस्तुतः ऊर्जा के बढ़ते उपयोग को देखते हुए ऊर्जा के अधिक सतर्क एवं दक्ष उपयोग की आवश्यकता है। किसानों को ऊर्जा के पारम्परिक और गैरपारम्परिक

प्रोफेसर, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

साधनों का उपयोग करना होगा। ऊर्जा के पारम्परिक साधन पेट्रोल तथा कोयला हैं। गैर पारम्परिक स्रोत हैं, सूर्य, पवन, बायोमास, ऐल्कोहॉल तथा वानस्पतिक तेल। ये नवीकरणीय साधन हैं जिनके उपयोग से परम्परागत ऊर्जा में बचत की जा सकेगी। पशु ऊर्जा भारत जैसे देश के लिए वरदान है। स्वस्थ एवं बलशाली बैल, भैंस, ऊँट खेतों की जुताई करने के अनुकूल हैं जिससे कृषि क्षेत्र में प्रयुक्त होने वाली ऊर्जा में बचत की जा सकती है किन्तु इन पशुओं के लिए चारे-भूसे की व्यवस्था होनी चाहिए, जिसका अर्थ है उर्वरक, सिंचाई आदि साधनों को जुटाना। दिनोंदिन यान्त्रिक कृषि के प्रति आकर्षण बढ़ने से इन पशुओं की संख्या में कमी आवेगी, किन्तु इसका दुष्परिणाम यह होगा कि आज के चारागाह कल के खेत बन जावेंगे, भूमिक्षरण बढ़ेगा, भूमि की उर्वरता कम होगी।

हाँ, सौर ऊर्जा एक सुन्दर विकल्प है किन्तु इस ऊर्जा से लाभान्वित होने के लिए किसानों को मक्का, सोयाबीन, मूंगफली जैसी फसलें और पहाड़ी क्षेत्रों में चारे की फसलें उगानी चाहिए। तेलहनी फसलें उगाने से सौर ऊर्जा का उपयोग वानस्पतिक तेल प्राप्त करने में किया जा सकता है। इस वानस्पतिक तेल का उपयोग डीज़ल तेल के साथ मिलकर ऊर्जा उत्पादन में किया जा सकेगा। यह तेल सूरजमुखी, सोयाबीन, मूंगफली उगाकर प्राप्त किया जा सकता है और इसका उपयोग किसानों द्वारा ट्रैक्टरों के चालन में हो सकता है।

इस प्रकार किसानों के ऊपर दोहरा उत्तरदायित्व है—भूमि से अन्न उत्पन्न करना और भूमि से ही ऊर्जा उत्पन्न करना। अतएव इस समय सुविधा की स्थिति है—भोजन या ईंधन। स्पष्ट है कि अन्नोत्पादन के लिए ऊर्जा का प्रयोग करना ही पड़ेगा। किन्तु चुनौती यह है कि कितनी भूमि में अन्न उपजाया जाय और कितनी भूमि ऊर्जा के लिए छोड़ी जाय।

ऊर्जा उत्पादन के लिए भूमि का उपयोग नया नहीं है। अमेरिका में आधी सदी से अन्न का उपयोग ऐल्कोहॉल उत्पादन के लिए होता चला आ रहा है। ब्राज़ील में पेट्रोल की कमी की पूर्ति ऐल्कोहॉल से की जाती है। इसके लिए गैसोलीन में 10% ऐल्कोहॉल मिलाकर गैसोहॉल तैयार किया जाता है जिसका उपयोग परिवहन के लिए होता है। वस्तुतः वानस्पतिक तेलों का भी उपयोग इसी तरह से होना है।

ऐसे अनेक कृषीय पदार्थ हैं जिनका उपयोग ऊर्जा के लिए किया जा रहा है—

(1) अन्न तथा गन्ना—इथेनॉल (ऐल्कोहॉल) उत्पादन के लिए

(2) वानस्पतिक तेल—डीज़ल तेल के साथ प्रयुक्त

(3) पशु-खादें—बायोगैस या मीथेन के लिए

(4) फसलों के अपशिष्ट—अनेकानेक प्रयोग

फसलों के अपशिष्टों में प्रभूत सम्भावनाएँ ऊर्जा के साधन रूप में छिपी हैं। यह कोयले का विकल्प बन सकता है। यदि इन अपशिष्टों का जल अपघटन करके इनसे प्राप्त शर्कराओं का किण्वन किया जाय तो ऐल्कोहॉल प्राप्त किया जा सकता है। प्रायः सभी कृषि-प्रधान देशों में मक्का तथा गेहूँ में डंठल प्रचुर मात्रा में कृषीय अपशिष्ट प्रदान करने वाले हैं—ये एक प्रकार से मुफ्त (बहुत ही कम दाम पर) प्राप्त हो सकते हैं। किन्तु इन अपशिष्टों को एकत्र करने, फिर उनको किसी संयंत्र तक ले जाने आदि में खर्च लगेगा। यही नहीं, किसान जिस महत्वपूर्ण पक्ष से भिज्ञ नहीं हैं वह है कृषीय अपशिष्टों के हटाने से होने वाली अपूरणीय क्षति, भूमि उर्वरता का ह्रास। इसलिए यदि कोई यह सोचे कि अपशिष्ट एक प्रकार से मुफ्त हैं तो यह भूल होगी। भूमि क्षरण को रोकने तथा भूमि के पोषक तत्वों का सन्तुलन बनाये रखने में इन अपशिष्टों की महत्वपूर्ण भूमिका है। इनसे भी परे भूमि में ह्यूमस-कोष को समृद्ध बनाने एवं भूमि संरक्षण में इन कृषीय अपशिष्टों का महत्व है। अतएव इन अपशिष्टों को जला देना बुद्धिमानी नहीं होगी। किन्तु जहाँ यान्त्रिक कृषि का प्रचलन है, डंठल तथा खरपतवार खाने वाले पशु नहीं हैं, वहाँ से कृषीय अपशिष्ट मिल सकते हैं। जहाँ से अन्नोत्पादन के लिए उर्वरक प्रयुक्त होते हैं, वहाँ भूमि उर्वरता के दोहन की बात भी निरर्थक हो जाती है। तभी कृषीय अपशिष्ट का सदुपयोग ऊर्जा उत्पादन के लिए हो सकता है। अमेरिका में मक्का के डंठल से ऊर्जा प्राप्त करने के लिए उसे कोयले के साथ

जलाने की योजना बनी है। इसका लाभ यह होगा कि इस तरह कम कोयला खर्च होगा और वायु-प्रदूषण घटेगा क्योंकि शोधों से पता चला है कि मक्के के डंठल में गन्धक की मात्रा कम होती है अतएव कोयले के साथ मक्के के डंठल जलाने से गन्धक की कम मात्रा निकल कर वायु में जावेगी।

इसी तरह सभी प्रकार के कूड़ा-करकट से ऊर्जा प्राप्त करने पर विचार किया जा सकता है। स्पष्ट है कि इक्कीसवीं सदी में किसान को सोचना होगा कि भूमि का उपभोग भोजन के लिए करे कि ऊर्जा के लिए; वह जल का उपयोग अन्न उगाने के लिए करे कि पीने के लिए या कि ऊर्जा उत्पादन के लिए। इस प्रकार भावी कृषि कार्य अत्यन्त चुनौतीपूर्ण होगा। □□

[पृष्ठ 15 का शेषांश]

इसी तरह—

"विज्ञान का सार स्वतंत्र विचार एवं कठिन परिश्रम है न कि उपकरण। जब मुझे 'नोबेल पुरस्कार' मिला, मैंने उपकरणों पर मुश्किल से 200 रु० व्यय किये थे।" राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं की दुर्दशा पर उनका आक्रोश देखें—

"**शाहजहाँ** ने अपनी प्रियतमा को दफ़नाने के लिये ताजमहल बनवाया। राष्ट्रीय प्रयोगशालायें वैज्ञानिक उपकरणों को दफनाने के लिये स्थापित की गयी हैं।"

उच्चस्तरीय बौद्धिक एवं रचनात्मक कार्य करने वालों के बारे में उनके विचार—

"समाज के लिये बहुमूल्य व्यक्ति वे हैं जो एकांत में रहते हैं। वे पृथ्वी के सारतत्व हैं, उनसे मानवता का कल्याण और विकास होता है।"

विज्ञान के दुरुपयोग पर उनकी तीखी फटकार—"जो अनुसंधान व आविष्कार शांति को बढ़ाने के लिये किये जाते हैं, अधिकतर वे ही युद्ध में घातक सिद्ध होते हैं।"

एक और विचार—

"जब बेवकूफी की बात आती है तो रूसी तथा अमेरिकी लोगों में कोई अन्तर नहीं दिखायी पड़ता।"

रामन रिसर्च संस्थान के उद्देश्य के बारे में—"यह मेरी हार्दिक इच्छा है कि अपने पुरातन देश में वैज्ञानिक शोध का एक ऐसा केन्द्र स्थापित करूँ जिसमें देश के मेधावी लोग ब्रह्माण्ड के रहस्य को समझने में तत्पर रहें और ऐसा करके सर्वश्रेष्ठ '**शक्ति**', जो हमारा मार्गदर्शन करती है, को समझने में हमारी सहायता करें। यह उद्देश्य तभी पूरा हो सकता है जब 'उसकी दैवी अनुकम्पा' से सभी देशवासी इस कार्य को पूरा करने में योगदान करें।"

सर सी० वी० रामन के बारे में, उनके जीवन दर्शन, उनके योगदान पर बहुत कुछ लिखा जा सकता है। इस लघु लेख में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि पुरातन ऋषियों की परम्परा में यह मानव महान् देशभक्त, कर्मयोगी, सौन्दर्य एवं कलाप्रेमी, विज्ञानवेत्ता, मनीषी, आत्मस्वाभिमान एवं शांति का स्वरूप, प्रकृति का पुत्र, शालीनता की मूर्ति, आदर्श सहयोगी, महान् गुरु, वैचारिक क्रान्तिकारी, निर्भय, सहृदय, उदार, आडम्बर से दूर, पुष्पों का प्रेमी, 'सत्यं ब्रूयात्' की साक्षात् मूर्ति, देश प्रेम से परिपूर्ण, जीवन को संगीतमय बनाकर, न्यूटन, आइंस्टीन एवं ऋषियों-मनीषियों की परम्परा को सुदृढ़ कर, मानव-शरीर को 21 नवंबर 1970 को छोड़कर अपार ब्रह्माण्ड में विलीन हो गया। परन्तु उसके पूर्व जो कुछ कर गया, दे गया वह चिरस्मरणीय है तथा 28 फरवरी 'रामन प्रभाव' की वर्ष गाँठ को **भारतीय विज्ञान दिवस** के रूप में मनाना सर्वथा उचित एवं श्रेयकर है। केवल याद यह रखना होगा कि विश्व-मानव भारतरत्न रामन की आत्मा शुद्ध कार्यों, श्रम, सादगी, सौन्दर्य, माधुर्य, मानव-प्रेम, सत्य की खोज से प्रसन्न एवं सम्मानित होगी, प्रदर्शनों एवं समारोहों से नहीं। □□

अब मशरूम की भी खेती होती है

विनीता अग्रवाल

हमारे देश में खाद्यान्नों की कमी नहीं है, फिर भी यहाँ की आबादी का एक बहुत बड़ा भाग भोजन में प्रोटीन और विटामिन की कमी के कारण अनेक प्रकार के रोगों से पीड़ित है। इसका एक मुख्य कारण इस विषय में लोगों की अज्ञानता है। इसलिये प्रोटीन और विटामिन से भरपूर खाद्यान्नों के विषय में लोगों को न केवल बताने की आवश्यकता है बल्कि उन्हें लोकप्रिय भी बनाना होगा। मशरूम एक ऐसा ही खाद्य है। इसे छत्रक, कुकुरमुत्ता और खुम्बी नाम से भी जाना जाता है। संभवतया इसकी खोज आदिमानव ने उस समय की थी जब उन्हें केवल फल-फूल पत्ते और जड़ें खाकर ही गुजारा करना पड़ता था। सभ्यता की प्रगति के साथ-साथ इस प्राकृतिक उपज का प्रयोग विभिन्न रोगों की चिकित्सा के लिए आरम्भ हुआ।

भारत में जहाँ अधिकतर लोग शाकाहारी हैं मशरूम जैसे खाद्यों की बहुत जरूरत है जिससे लोगों में प्रोटीन, विटामिन एवं खनिज की कमी को दूर किया जा सके। पहले तो मशरूम केवल प्राकृतिक उपज के रूप में ही मिलते थे लेकिन अब तो वैज्ञानिक रीतियों से भी इनकी खेती की जा रही है। मशरूम की खेती बहुत सरल और आसान है।

मशरूम की सभी जातियाँ खाद्य नहीं होतीं बल्कि कुछ तो विषैली भी होती हैं। इसलिये इसे भोजन के रूप में कम प्रयोग किया जाता रहा है। विषैली और भोज्य किस्मों को आसानी से नहीं पहचाना जा सकता किन्तु वैज्ञानिक रीति से भोज्य किस्मों को उगाया जाता है जिससे उनके विषैले होने की सम्भावना नहीं रहती। मशरूम की लगभग 2000 जातियाँ खाद्य होती हैं जिसमें से 20 जातियों की व्यापारिक स्तर पर खेती की जा रही है। इसमें से भी तीन-चार जातियाँ ही ऐसी हैं जो विशेष रूप से लोकप्रिय हैं। इसकी मुख्य खाद्य जातियाँ इस प्रकार हैं : **एगैरिकस बाइस्पोरस** या बटन मशरूम, **प्लूरोटस** या ढींगरी और **वालवेरिया वाल्वेसिया** या पैडी स्ट्रा या गुच्छी मशरूम।

मशरुम की खेती

भारत में, बरसात के मौसम में मशरूम को वृक्षों की छाया में, गन्दे स्थानों में तथा चारागाहों आदि में अपने आप ही उगते हुये देखा जा सकता हैं किन्तु ताप तथा कुछ अन्य आवश्यक तत्त्वों को नियंत्रित कर इनकी खेती भी की जा सकती है। मशरुम की सभी जातियों की खेती लगभग एक समान होती है। सामान्य फसलों के तैयार होने में **3-4** महीने लग जाते हैं जबकि मशरूम बहुत जल्दी प्राप्त होने वाली फ़सल है।

अन्य पेड़-पौधों के समान मशरूम के बीज नहीं होते बल्कि इन्हें छोटे-छोटे बीजाणुओं से उगाया जाता है। ये बीजाणु छत्रक की निचली सतह पर गिल्स के बीच बड़ी संख्या में पैदा होते हैं। इनकी आयु केवल कुछ घण्टों की ही होती है। अनुकूल वातावरण पर यह बीजाणु अंकुरित होकर कवकजाल बनाते हैं। यही कवकजाल मिट्टी के कणों के बीच पैदा होता है जिसे अण्डौध या स्पान कहते हैं। इसे ही मशरूम की खेती के लिये काम में लाया जाता है। आजकल प्रयोगशालाओं में तैयार किया हुआ अनाज अण्डौध और पुआल अण्डौध का भी प्रयोग किया जा रहा है।

ढींगरी या **प्लूरोटस** की खेती के लिये सूखी हुयी धान की पुआल को 7·5-10 सेमी० के टुकड़ों में काटकर रात भर पानी में भिगोकर रख दिया जाता है। उसके बाद उसके ऊपर 2 फार्मोल्डिहाइड की फुहार करके 12-18 घण्टों के लिये पॉलीथीन से ढँक दिया जाता है। जब फार्मोल्डिहाइड की गंध आना बन्द हो जाये तो उसे अण्डौध के लिये पॉलीथीन बैग में रखा जाता है। बैग में एक तिहाई भाग तक धान की पुआल को रखकर उसके

सी-4 जी, 103 ए, जनकपुरी, नई दिल्ली-58

ऊपर अण्डौध की परत लगा दी जाती है। बैग के अन्दर नमी बनाये रखने के लिये बैग को बन्द रखा जाता है। जब बैग माइसीलियम से पूरी तरह भर जाये तो उसे खोलना चाहिये। दिन में एक या दो बार उसमें पानी देना चाहिये। एक सप्ताह के अन्दर ही छत्रक निकलने लगते हैं। अण्डौध के टुकड़ों के साथ-साथ थोड़ा सा अरहर या चने की दाल का चूर्ण डालने से पैदावार अच्छी होती है।

एगैरिकस को उगाने के लिये एक विशेष प्रकार की खाद की आवश्यकता होती है। यह गेहूं की पुआल के छोटे-छोटे टुकड़े गेहूं या धान की भूसी व कुछ रसायनों के मिश्रण स बनायी जाती है। खाद का लकड़ी की ट्रे मे भरकर अण्डौध के टुकड़े बिखरा दिये जाते हैं। जब खाद के ऊपर माइसीलिया दिखाई देने लगते हैं ता उसके ऊपर मिट्टी की एक सेमी० मोटी परत बिछा दी जाती है। 3-4 दिन में छत्रक निकल आते हैं जो एक माह तक निकलते रहते हैं।

इनके अतिरिक्त एक और खाद्य मशरूम उत्तरी भारत में गुच्छी के नाम से प्रसिद्ध है। यह हर मौसम में बाजारों मे सूखी अवस्था में मिलता है। वैज्ञानिक रीति से अभी तक इसकी खेती नहीं की जा सकी है और यह पूर्ण रूप से प्रकृति की ही देन है।

मशरूम का प्रवर्द्धन और वृद्धि दोनों ही ताप तथा वायुमण्डल की आद्रता से बहुत अधिक प्रभावित होते हैं। वैसे तो इसके लिये उष्णकटिबंधीय जलवायु सर्वोत्तम होती है किन्तु इसकी अलग-अलग जातियों के लिये अलग-अलग तापक्रम होना चाहिये। यहाँ तक कि माइसीलियम तथा छत्रक क लिये भी अलग-अलग ताप की आवश्यकता होती है। व्यापारिक स्तर पर इसकी खेती करने के लिये उनकी जरूरत के हिसाब से ताप की व्यवस्था करनी चाहिये। अधिक नमी से भी मशरूम की वृद्धि रुक जाती है। प्रकाश की इसके लिये कोई खास जरूरत नहीं होती। कुछ जातियो के प्रवर्धन के किसी विशेष चरण में प्रकाश की आवश्यकता होती है।

मशरूम का पोषक मान

मशरूम में पाये जाने वाले तत्वों के आधार पर इसका स्थान सब्जियों तथा मांस या मीट के बीच का है। इसके रासायनिक विश्लेषण से ज्ञात हुआ है कि मशरूम में प्रोटीन काफी मात्रा में पायी जाती है किन्तु कार्बोहाइड्रेट और वसा की मात्रा प्रोटीन की अपेक्षा काफी कम होती है। इसके अतिरिक्त इसमें कई प्रकार के विटामिन तथा खनिज भी पाये जाते हैं। यह लगभग सभी प्रकार के अमीना अम्लों का भी अच्छा स्रोत है।

सब्जियों की अपेक्षा प्रोटीन की अधिक मात्रा पाये जाने के कारण जहाँ मशरूम शाकाहारियो के लिये एक स्वास्थ्यवर्द्धक खाद्य है वहीं कार्बोहाइड्रेट और वसा की मात्रा कम होने के कारण यह हृदयरोगियों और मधुमेह क रागियो क लिये भी लाभदायक है। यह सरलता स पच जाता है। इसमें कई प्रकार के एन्जाइम भी होते हैं विशेषकर 'ट्रिप्सिन' जो पाचन-क्रिया मे सहायता करता है।

मशरूम के औषधीय मान

औषध के रूप में मशरूम का प्रयोग पाँचवीं शताब्दी से होता रहा है। इसका प्रयोग त्वचा सम्बन्धी रोगों मे, घावों तथा बहते हुये रक्त को रोकने क लिय, आंखों की जलन दूर करन क लिये, गला खराब होने पर गरारे करने क लिये तथा स्वापक और स्वेदनकारी के रूप म बहुत पहले से हो रहा है किन्तु अब इसको हृदय रोग, मिरगी तथा अन्य तंत्रिका सम्बन्धी रोगों क उपचार क लिये भी उपयोगी माना जा रहा है।

छतरी (फ्लाई एगरिक) मशरूम अमानिता (Amanita) औषधी के रूप मे अत्यन्त उपयोगी है। इसे होम्योपैथी में 'अगर' या 'ऐगरस' आदि नामों स प्रयोग किया जाता है। इसे स्वापक के रूप मे तथा हृदय रोगों, गठिया और जोड़ों के दर्द के लिये भी लाभकारी माना गया है। वॉलवेरिया गुच्छी से प्राप्त कार्डियो-आक्सिक प्रोटीन ट्यूमर कोशिकाओं की वृद्धि को रोकती है। मशरूम की अन्य कुछ जातियों में भी ट्यूमररोधी तत्व पाये गये हैं।

हाल ही में भारत में प्रवर्तित की गयी जाति साइलोसिबे से प्राप्त अम्लों का प्रयोग तंत्रिका सम्बन्धी रोगों जैसे मिरगी और शाइजोफ्रेनिया आदि के लिये औषध बनाने में किया जा रहा है। एबोटेनिक अम्ल में

एम्पा (ए० एम० पी० ए०) नामक तत्व की उपस्थिति न्यूरॉन को उद्वेलित करने में सक्षम होती है।

इस प्रकार मशरूम के रूप में जहाँ एक ओर पौष्टिक तत्वों से भरपूर भोजन उपलब्ध कराया जा सकता है वहीं दूसरी ओर निरन्तर बढ़ रही जनसंख्या के कारण उत्पन्न हो रही खाद्य समस्या को भी कुछ कम किया जा सकता है। इसके साथ-साथ मशरूम की खेती को लघु उद्योग के रूप में विकसित कर गाँवों की आर्थिक स्थिति को भी सुधारा जा सकता है।□□

सारणी 1. मशरूम की रासायनिक संरचना

जल	90 0 प्रतिशत
प्रोटीन	4·5 प्रतिशत
कार्बोहाइड्रेट	3·5 प्रतिशत
वसा	1·5 प्रतिशत
खनिज लवण और विटामिन	1·0 प्रतिशत

सारणी 2. एगैरिकस के पोषक मान

जल	92·38
एस्कोर्बिक एसिड	78· 8 मिग्रा/100 मिग्रा
प्रोटीन	3·89
टाइरोसीन	15·80 मिग्रा/100 मिग्रा
ऐश (राख)	1 22
ऐश का विश्लेषण	
कैल्शियम	0·0026
सोडियम	0·11
पोटैशियम	0·45
फॉस्फोरस	0·148
मैग्नीशियम	13·20
लोहा	18·70
ज़िंक	76·40
ताँबा	1·55
मैग्नीशियम	12·30

औषध की क्षमता आनुवंशिक कूट पर निर्भर

कियेव के चिकित्सा संस्थान के विशेषज्ञों का कहना है कि किसी व्यक्ति पर किसी औषध का प्रभाव उस व्यक्ति के आनुवंशिक कूट (जेनेटिक कोड) पर ही निर्भर करता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार उसकी अन्य शारीरिक क्रियाएँ निर्भर करती हैं।

सोवियत विशेषज्ञों का मत है कि चूँकि हर व्यक्ति का आनुवंशिक कूट (जेनेटिक कोड) भिन्न होता है इसलिए उस पर औषध का प्रभाव भी भिन्न होता है। चिकित्सा की दृष्टि से इस बात का बड़ा भारी महत्व है। बच्चों की चिकित्सा के दौरान यह तथ्य अधिक उभर कर प्रकट होता है। जन्म के समय बच्चे के वज़न, बच्चे के रक्त-वर्ण, उसके शरीर में प्रोटीनों और एन्ज़ाइमों की संरचना और मात्रा आदि विशेषताओं का भी इस बात पर प्रभाव पड़ता है कि उसे किस औषध की कितनी मात्रा की आवश्यकता होगी।

डॉ० आत्माराम स्मृति व्याख्यान

सी० एस० आई० आर० के भूतपूर्व महानिदेशक स्व० डॉ० आत्माराम की स्मृति विज्ञान परिषद्, प्रयाग द्वारा आयोजित व्याख्यान माला का प्रथम व्याख्यान स्वामी सत्य प्रकाश सरस्वती जी 10 मार्च 1988 को 'राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला', नई दिल्ली में देंगे। इस व्याख्यान के स्थानीय संयोजक प्रयोगशाला के निदेशक डॉ० श्रीकृष्ण जोशी होंगे।

एन० एम० आर० तकनीक

कृष्ण प्रकाश त्रिपाठी

1945 में जब नाभिकीय-चुम्बकीय-अनुवाद (न्यूक्लियर मैग्नेटिक रिजॅनेंस संक्षेप में एन. एम. आर.) का आविष्कार हुआ था तो वैज्ञानिकों ने समझा था कि उन्हें नाभिक के चुम्बकीय गुणों को मापने का एक बहुत ही उत्तम साधन मिल गया है। आविष्कार के प्रारंभिक वर्षों में इस तकनीक का उपयोग भौतिक विज्ञान के अतिरिक्त भूगर्भविज्ञान में भी हुआ क्योंकि इसके द्वारा पृथ्वी का चुम्बकीय क्षेत्र बहुत यथार्थता से मापा जा सकता था। 1955 तक इसका उपयोग रसायनविज्ञान में अणुओं की संरचना तथा रासायनिक अभिक्रियाओं के अन्वेषण में होने लगा। 1975 के बाद यह तकनीक जीवविज्ञान में अणुओं से लेकर मानव शरीर तक अनेक प्रकार के अनुसंधान में बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है।

नाभिकीय चुम्बकीय अनुवाद का प्रयोग उन परमाणुओं पर किया जा सकता है जिनके नाभिक में चक्रण का गुण होता है। ऐसे परमाणुओं के नाभिक स्वयं एक छोटे चुम्बक की तरह कार्य करते हैं। यदि इन्हें एक चुम्बकीय क्षेत्र में रख दिया जाय तो इस क्षेत्र के प्रभाव से नाभिकीय चुम्बक कुछ विशेष दिशाओं में अपने-अपने ध्रुवों को अभिमुख कर लेते हैं। इसी क्रिया को नाभिकीय-चुम्बकीय अनुनाद कहते हैं। विभिन्न नाभिकों की अनुनाद आवृत्तियों में काफी अन्तर रहता है इसलिए प्रत्येक प्रयोग में केवल एक ही प्रकार के नाभिकों का वर्णक्रम लिया जा सकता है।

इस प्रकार के वर्णक्रमों से रसायन विज्ञान में अणु-संरचना संबंधित महत्वपूर्ण ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। आण्विक जीवविज्ञान में न्यूक्लिक अम्लों द्वारा बनी विभिन्न शब्दावली की पहचान कर प्रोटीनों के कार्य सम्पादन की जानकारी पा सकते हैं।

कुछ ऐसे प्रयोग हैं जिनसे किसी भी पदार्थ की त्रिआयामी संरचना का अध्ययन किया जा सकता है। इस प्रकार के उदाहरण का एक बहुत ही उपयोगी पहलू है मानव शरीर के विभिन्न भागों का चित्रण। मान लीजिए हम एक परखनली में पानी लेते हैं जिसके बीच में काँच की एक और नली रखी हुई है। इस प्रयोग में हम ऐसे चुम्बकीय क्षेत्र का प्रयोग करेंगे जो कि स्थिर न होकर बायें से दायीं तरफ एक निश्चित दर से बढ़ता है। पानी के अणु में उपस्थित दोनों प्रोटॉन समान होते हैं तथा एक स्थिर चुम्बकीय क्षेत्र में केवल एक ही अनुनाद संकेत मिलता है अतः परखनली के भिन्न-भिन्न भागों से प्राप्त प्रोटॉन के संकेत अलग-अलग आवृत्तियों पर प्राप्त होंगे और इन संकेतों की तीव्रता पानी की मात्रा के अनुसार भिन्न होगी। चूंकि काँच से प्रोटॉन संकेत नहीं मिलते, इसलिए हमें परखनली तथा उसके अन्दर उपस्थित पानी की एक छाया-सी प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार किसी भी पदार्थ की प्रोटॉन चुम्बकीय अनुनाद छाया अलग-अलग कोणों से लेकर तथा इनका कम्प्यूटर में विश्लेषण करके हम उस पदार्थ का एक चित्र बना सकते हैं। मानव शरीर के प्रयोगों में यह आवश्यक है कि एक बहुत बड़ा चुम्बक प्रयोग में लाया जाय जिसके क्षेत्र में मानव शरीर जा सके परन्तु आण्विक प्रयोगों की तुलना में इनकी शक्ति काफी कम रहे।

इस तकनीक ने चिकित्सा-जगत् में एक हलचल सी मचा दी है। आपने टूटी हुई हड्डियों के एक्स-किरणों द्वारा लिए गये चित्र तो देखे ही होंगे। चुम्बकीय अनुनाद एक्स-किरणों की भाँति शरीर की कोशिकाओं को हानि नहीं पहुँचाता। इसके अतिरिक्त इस तकनीक द्वारा शरीर क कोमल अंगों के चित्र भी लिये जा सकते हैं जबकि एक्स-किरणें केवल हड्डियों जैसे कड़े स्थानों के ही चित्र ले सकती हैं। माँ के गर्भाशय में जन्म से पहले बच्चे की स्थिति देखने में इस तकनीक का विशेष महत्व है क्योंकि शिशुओं पर एक्स-किरणों का बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है और इस कारण गर्भवती माताओं को एक्स-किरण मशीनो से दूर रखा जाता है।

14 सर पी० सी० बनर्जी हॉस्टल, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद—211002

कुछ ऐसे भी प्रयोग हैं जिनमें जीवित कोशिकाओं का वर्णक्रम लिया जा सकता है। इस प्रकार के प्रयोग कई प्रकार से अनुसंधान में किये जा सकते हैं, उदाहरणार्थ हानिकारक जीवाणुओं पर प्रतिजैविक रसायनों का प्रयोग करके इन रसायनों की शक्ति तथा संवेदनशीलता के बारे में उपयोगी ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। ऐसे प्रयोग मानव-शरीर के कुछ भागों जैसे हृदय पर भी किये जा सकते हैं, जिससे हृदय के स्वास्थ्य के बारे में महत्वपूर्ण ज्ञान मिल सकता है।

एन० एम० आर० तकनीक द्वारा मानव तथा पशुओं के किसी भी अंग जैसे हृदय, गुर्दे आदि के चित्र लिये जा सकते हैं तथा उनमें उपस्थित विकृतियों का पता लगाया जा सकता है।

पिछले वर्षों में यंत्रों में हुई निरंतर प्रगति, अधिक शक्तिशाली कम्प्यूटरों के सस्ती दरों पर उपलब्ध होने तथा नयी-नयी तकनीकों के आविष्कार के कारण एन० एम० आर० तकनीक जीव रसायन में एक बहुत ही शक्तिशाली तकनीक के रूप में उभर रही है। वह दिन दूर नहीं जब इस तकनीक द्वारा आप स्वयं अपने हृदय की धड़कन अथवा जन्म से पहले माँ के गर्भ में बच्चे को खेलते हुए देख सकेंगे। □□

भौतिकी में इस दशक का आश्चर्यजनक अन्वेषण

पुणे में 6 जनवरी 1988 को 'भारतीय विज्ञान कांग्रेस' के प्लैटिनम जयंती' की पूर्व संध्या पर राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला, नई दिल्ली के निदेशक **डॉ० श्री कृष्ण जोशी** ने 'विज्ञान परिषद्, प्रयाग' द्वारा आयोजित संगोष्ठी में 'भौतिकी में इस दशक का आश्चर्यजनक अन्वेषण' विषय पर अपने अध्यक्षीय भाषण द्वारा उपस्थित जनों को अभिभूत कर दिया। डॉ० जोशी ने बताया कि पिछला वर्ष भौतिकी के क्षेत्र में अनेक 'सुपर' अन्वेषणों के कारण महत्वपूर्ण है यथा ऊँचे तापमान पर सुपर कंडक्टिविटी (अतिचालकता); सुपर कंडक्टिंग सुपर कोलाइडर तथा सुपर स्ट्रिंग; और सुपर नोवा 1987 ए। डॉ० जोशी ने बताया कि रीगन सरकार ने सुपर कंडक्टिंग सुपर कोलइडर का निर्माण करने की स्वीकृति दे दी है। यह विश्व का सबसे विशाल कण त्वरित (particle accelerator) होगा तथा 53 मील परिधि वाली एक सुरंग में स्थित होगा। इस मशीन में विपरीत दिशा में त्वरित (accelerated) प्रोटॉन एक दूसरे से कुल मिलाकर 40 ट्रिलियन इलेक्ट्रॉन वोल्ट (4×10^{15}eV) ऊर्जा से टकरायेंगे।

दूसरी महत्वपूर्ण घटना रही सुपर नोवा 1987 ए का जन्म !

24 फरवरी 1987 की रात्रि को हमारी गैलेक्सी (आकाश गंगा) की परिक्रमा करती हुई गैलेक्सी, दीर्घ मैगलैनीय मंदाकिनी (Large Megellanic cloud) में स्थित एक तारे का अंतिम विस्फोट देखा गया, जिसके फलस्वरूप सुपर नोवा 1987 ए का जन्म हुआ। 24 घंटे के भीतर इस सुपर नोवा की चमक 1500 गुना बढ़ गई।

किन्तु संभवतः इन सबसे अधिक उत्तेजनापूर्ण तथा आश्चर्यजनक उपलब्धि उच्चताप पर अतिचालकता की खोज रही जिसके लिए वर्ष 1987 का 'नोबेल पुरस्कार' **मुलर और बेडनॉर्ज** को दिया गया है। यह क्षेत्र डॉ० जोशी के अनुसंधान क्षेत्र के बहुत निकट है। अपने विद्वतापूर्ण भाषण में डॉ० जोशी ने अतिचालकता की खोज, इसके इतिहास, इसके उपयोग तथा इसके भविष्य पर प्रकाश डाला।

इस संगोष्ठी में देश के अनेक विशिष्ठ वैज्ञानिक उपस्थित थे और मुख्य अतिथि **स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती** थे। डॉ० जोशी का पूरा भाषण 'विज्ञान परिषद् अनुसंधान पत्रिका' के जनवरी 1988 अंक में शीघ्र ही प्रकाशित किया जायेगा। □□

परिषद् का पृष्ठ

'विज्ञान परिषद्, प्रयाग' के 'अमृत जयंती' वर्ष के कार्यक्रमों की रूपरेखा तय करने के निमित्त परिषद् की अंतरंग सभा की एक बैठक 21 जनवरी 1988 को परिषद् के पुस्तकालय कक्ष में हुई। इस बैठक में परिषद् की गतिविधियों को और बढ़ाने तथा सही अर्थों में उसे अखिल भारतीय स्वरूप देकर गतिशील बनाने के लिए निम्न प्रस्तावों को स्वीकृत किया गया—

(1) परिषद् की स्थापना 14 मार्च 1913 को हुई थी, अतः यह निश्चय किया गया कि 14 मार्च 1988 को 'स्थापना दिवस' समारोह का आयोजन किया जाय। इसी दिन सायंकाल 3 बजे से एक खुला अधिवेशन आयोजित किया जाएगा जिसमें **स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती** जी व्याख्यान देंगे।

(2) परिषद् की आर्थिक स्थिति को मज़बूत बनाने की दृष्टि से अधिकाधिक लोगों को आजीवन एवं साधारण सभ्य बनाने की आवश्यकता महसूस की गई। यह निश्चय किया गया कि 'विज्ञान' के कम से कम दो हज़ार आजीवन सभ्य बनाये जायें तथा यह सारी धनराशि स्थायी 'अमृत निधि' में डाल दी जाय।

(3) सभी भारतीय भाषाओं के माध्यम से विज्ञान के प्रचार-प्रसार में लगी संस्थाओं से निकट सम्पर्क स्थापित किये जायें और आपसी सहयोग को सुदृढ़ बनाया जाय।

(4) अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में हिन्दी के प्रचार-प्रसार में लगी संस्थाओं से सम्पर्क को बढ़ाया जाय।

(5) परिषद् द्वारा पूर्वप्रकाशित कुछ लोकप्रिय पुस्तकों का पुनर्मुद्रण किया जाय तथा कुछ नई पुस्तकें भी छापी जायें। हिन्दी विज्ञान व्याकरण, हिन्दी विज्ञान साहित्य का इतिहास, विज्ञान परिषद् का इतिहास जैसे शीर्षकों पर पुस्तकें लिखीं व प्रकाशित की जायें।

(6) अमृत जयंती वर्ष में सितम्बर में त्रिदिवसीय अखिल भारतीय गोष्ठी व कार्यशाला 'भारतीय भाषाओं में विज्ञान लेखन' विषय पर आयोजित की जाय। इसी अवसर पर विभिन्न भारतीय भाषाओं के विज्ञान लेखकों तथा विज्ञान परिषद् के वयोवृद्ध सेवियों को सम्मानित किया जाएगा।

(7) इन सारे कार्यक्रमों के लिए आवश्यक धन एकत्र करने के लिए विज्ञान परिषद् से जुड़े विशिष्ट व्यक्तियों तथा देश के प्रमुख लोगों द्वारा हस्ताक्षरित विशेष अपील जारी की जाय।

इन सारे कार्यक्रमों को अंतिम रूप देने के लिए आजीवन एवं साधारण सभ्यों का एक विशेष अधिवेशन 14 मार्च 1988 को आयोजित किया जाएगा। ☐☐

इक्कीसवीं शताब्दी में मानव

डॉ० जयंत नार्लिकर

1975 में मुझे 'कैलीफोर्निया इंस्टीट्यूट ऑव टेक्नॉलॉजी' में वैज्ञानिक **फ्रेड हायल** और वैज्ञानिक कथा लेखक **ब्रैडबरी** के बीच होने वाले वाद-विवाद में उपस्थित होने का अवसर प्राप्त हुआ था। वाद-विवाद का विषय था— 'विज्ञान कथा का संदेश : भविष्यसूचक अथवा लौकिक !' इस संदर्भ में **ब्रैडबरी** ने सहज परंतु महत्वपूर्ण बिंदु स्पष्ट किया था कि बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में जन्म लेने वाले उनके ऐसे व्यक्ति का जीवन वैज्ञानिक कल्पना की यथार्थ में परिणति है। **ब्रैडबरी** की बात को और अधिक बल देने के लिए हम आज के अपने जीवन के कुछ दृश्यों की कल्पना कर सकते हैं।

1. किसी स्वचालित वाहन से अपने आवास पहुँचने वाला कोई व्यक्ति किसी उपकरण को सक्रिय करता है तो गैरेज के दरवाज़े खुल जाते हैं। वह कार अंदर ले जाता तो स्वचालित लिफ्ट का खुला दरवाज़ा उसका स्वागत करता है। वह एक **बटन** दबाता है और लिफ्ट उसे ऊपर इक्कीसवीं मंज़िल पर पहुँचा देती है। वहाँ वह दरवाज़े के सामने बने एक छिद्र में एक कार्ड डालता है तो इलेक्ट्रॉनिक ताला खुल जाता है। अंदर घुसते ही बत्तियाँ अपने आप जल जाती हैं। वह दूरस्थ नियंत्रक से टी० वी० चलाता है और हज़ारों मील दूर चल रहे 'ओलंपिक खेलों' का दृश्य सामने दिखाई देने लगता है।

2. किसी ग्रामीण इलाके के दुर्घटना स्थल से कोई हेलीकॉप्टर घायल व्यक्ति को एक प्रतीक्षारत जेट वायुयान तक पहुँचाता है जो उसे एक बड़े महानगर तक ले जाता है। वहाँ खड़ी एक एंबुलेंस गाड़ी उसे अस्पताल तक ले जाती है। वहाँ संगणक-चालित तलीय विश्लेषण (कंप्यूटराइज्ड ऐक्सियल टोमोग्राफी-स्कैन) जाँच और अन्य चिकित्सकीय जाँच के बाद शल्य-चिकित्सा के लिए ले जाया गया जहाँ आवश्यकता होने पर थोड़ी देर हृदय-फुफ्फुस संयंत्र इन अंगों का कार्य संभाल सकता है।

3. केंद्रीय संगणक की किसी त्रुटि के कारण सुरक्षा-मुख्यालय को शत्रु द्वारा किये जाने वाले नाभिकीय **आक्रमण** की सूचना दी गयी। स्वचालित प्रतिक्रियात्मक यंत्र ने तत्काल इस सूचना के आधार पर शत्रु पर नाभिकीय प्रक्षेपास्त्रों से आक्रमण प्रारंभ कर दिया। शत्रु देश ने भी तत्काल इसका उत्तर दिया और नाभिकीय युद्ध प्रारंभ हो गया।

प्रथम दोनों दृश्य विकसित देशों में प्रतिदिन घटते हैं और विकासशील देशों में भी शीघ्र ही संभव हो जायेंगे। तीसरा दृश्य भी कभी भी संभव हो सकता है। यद्यपि अभी तक ऐसा हुआ नहीं है।

ब्रैडबरी अपनी वार्ता में इस बिंदु को स्पष्ट करना चाहते थे कि पिछली शताब्दी अथवा इसी शताब्दी के प्रारंभिक काल के किसी वयस्क को उपरोक्त दृश्य **जुले वर्न** अथवा **एच० जी० वेल्स** की वैज्ञानिक कल्पनापूर्ण कृतियों के अंश प्रतीत होते। परंतु आज यह वास्तविक जीवन के दृश्य हैं। यह घटना, जो संपूर्ण मानव-इतिहास के क्रम में केवल बीसवीं शताब्दी में ही संभव हुयी है, किसी भविष्यवाणी के संदर्भ में अत्यंत सावधानीपूर्वक देखी जानी चाहिये।

यह सत्य है, जैसा कि भविष्य विज्ञानी **एल्विन टॉफलर** ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'द फ्यूचर शाक' में संकेत किया था कि उपरोक्त घटना विज्ञान और तकनीकी के तीव्र त्वरण का परिणाम है। यद्यपि **ब्रैडबरी** अपने स्वयं के जीवन-विस्तार की सीमा में विज्ञान और तकनीकी के तीव्र विकास का उल्लेख कर रहे थे परंतु उपरोक्त दृश्यों में सर्वाधिक नाटकीय दृश्य अभी शीघ्र ही उपस्थित हुआ है। उपग्रहों द्वारा टी० वी० कार्यक्रमों का प्रेषण, प्रत्येक क्षेत्र में स्वचालितता और संगणकों का उपयोग, जेट वायुयान तथा चिकित्सीय निदान और शल्य-तकनीक के नवीन आविष्कार पिछले तीन दशकों की उपज हैं। विज्ञान और

टाटा इंस्टीट्यूट ऑव फंडामेंटल रिसर्च, बम्बई

तकनीक के प्रभाव की यह तीव्र गति किसी भविष्यकथन की प्रक्रिया को अत्यंत कठिन बना देती है।

तब भी, भविष्य कथन की इस प्रक्रिया को मोटे तौर पर दो विचारधाराओं में विभाजित करना संभव है—**आशावादी विचारधारा और निराशावादी विचारधारा।** दोनों विचारधाराएँ इस पर आधारित हैं कि मनुष्य—एक विवेकपूर्ण प्राणी के रूप में—विज्ञान और तकनीकी के प्रभावों के प्रति कैसी प्रतिक्रिया करता है।

आशावादी दृष्टिकोण

प्रारंभ में हम यह विचार करें कि हमारा ज्ञान-भंडार किस प्रकार वृद्धि प्राप्त कर सका है। विज्ञान और तकनीकी के सुधारों के प्रकाश में हम सूचना और संप्रेषण के क्षेत्रों में नवीन स्थितियों का अनुमान लगा सकते हैं। यदि पिछले चार दशकों में इन क्षेत्रों में इलेक्ट्रॉनिकी का महत्वपूर्ण योगदान रहा है तो आने वाले दशक फोटोनिकी (फोटोनिक्स) के आविष्कारों के लिये प्रस्तुत हैं। इलेक्ट्रॉनिकी में सूचना का स्थानांतरण और संभारण इलेक्ट्रॉनों द्वारा होता है। फोटोनिकी में यह कार्य फोटॉन-कणों, जो प्रकाश-ऊर्जा के संवाहक होते हैं, द्वारा किया जाएगा।

विकसित देशों में संप्रेषण हेतु धात्वीय केबिलों के स्थान पर ग्लास-फाइबरों का उपयोग प्रारंभ हो चुका है। इस प्रकार का एक ग्लास-फाइबर प्रति सेकेण्ड अरबों सूचना इकाइयों को संप्रेषित कर सकने में समर्थ है। इस वेग से कितनी सूचनाएँ प्रेषित की जा सकती हैं? अधिक नहीं, एक सेकेण्ड में 10,000 द्विपक्षीय वार्तालाप और तीन सौ वीडियोगोष्ठियों के संदेश इस रूप में प्रेषित करना संभव हो सकता है। और आज की तकनीक के स्तर पर एक से० मी० व्यास के क्षेत्र में ऐसे 144 ग्लास फाइबर रखे जा सकते हैं (अर्थात् 183 ग्लास फाइबर प्रति वर्ग से० मी० क्षेत्र में)। दूसरे शब्दों में, इस नवीन उपलब्धि के उपयोग से न केवल संप्रेषण-संचार प्रणालियाँ कम स्थान घेरेंगी वरन् अधिक दूरी तक प्रभावकारी भी हो सकेंगी।

भविष्य के संगणकों में भी फोटोनिकी का प्रयोग अवश्यंभावी है। एक अन्य उपयोग, जिसका परीक्षण चल रहा है, समांतर-संगणिकी के क्षेत्र में हो सकता है जहाँ अनेक छोटे संगणकों का संकुल एक बड़े बृहद संगणक के स्थान पर उपयोग में लाया जाता है। इससे लागत में काफी कमी आ जाती है और संगणना-गति में भी सुधार की आशा की जाती है।

लेकिन संचार और संगणक इतने महत्वपूर्ण क्यों हैं? जैसे-जैसे कोई सभ्यता उन्नत होती है, इसकी सूचनाओं का विस्तार बढ़ता जाता है। यह सूचनाएँ इस प्रकार संग्रहीत की जानी चाहिये कि आवश्यकता के समय उन्हें तत्काल प्राप्त किया जा सके। सूचना के अभाव अथवा त्रुटिपूर्ण सूचनाओं ने अतीत में सामाजिक संरचना को भंग करने के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। भारत ऐसे विशाल देश में, जहाँ की अधिकांश वयस्क जनसंख्या अभी भी अशिक्षित है, यह असामान्य अनुभव नहीं है। अतः हम यह आशा कर सकते हैं कि इस दिशा में प्रगति से हमारे देश को निश्चय ही लाभ होगा।

दूसरा महत्वपूर्ण कारक ऊर्जा के संसाधनों की उपस्थिति और ऊर्जा-उत्पादन में उनका उपयोग है। संसाधनों की दृष्टि से पर्याप्त संपन्न होते हुए भी ऊर्जा-उत्पादन के दृष्टिकोण से हमें बहुत कुछ करना है। यदि इस दृष्टि से हम भविष्य पर दृष्टिपात करें तो दो संभावनाएँ सामने आती हैं—

पहली संगलन या संलयन ऊर्जा (फ्यूज़न एनर्जी) है, अर्थात् अपेक्षाकृत कम भारी नाभिकों के पारस्परिक संगलन द्वारा प्राप्त ऊर्जा। सूर्य की ऊर्जा इसी विधि—हाइड्रोजन नाभिकों के संगलन द्वारा हीलियम नाभिक बनने की प्रक्रिया-से उत्पन्न होती है। सूर्य में ऐसा अत्यधिक दाब और तापक्रम, जो सूर्य के अत्यधिक गुरुत्व-बल के उत्पाद हैं, के कारण संभव होता है। क्या इस अतीव गुरुत्व-बल के अभाव में मनुष्य प्रयोगशाला में इस परिमाण के दाब और ताप की सृष्टि कर सकता है? इसका उत्तर सकारात्मक है परन्तु अभी सैद्धांतिक रूप में ही। संगलन-नाभिक संयंत्रों की तकनीक अभी भी सैद्धांतिक स्तर पर ही है परन्तु आशा की जाती है कि इक्कीसवीं शताब्दी के प्रारंभ

में यह तकनीक व्यावहारिक स्तर प्राप्त कर लेगी। भारी पानी के ईंधन के उपयोग के कारण इनमें विखण्डन-संयंत्रों की भाँति गोपनीय ईंधन का झमेला नहीं होगा और न ही इनसे प्रदूषण का ख़तरा होने की संभावना होगी।

दूसरा स्रोत स्वयं सूर्य ही है। अभी अरबों वर्षों तक सौर ऊर्जा पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध रहेगी और पृथ्वी पर आने वाली सौर ऊर्जा मनुष्य की आवश्यकता की तुलना में हज़ारों गुना अधिक है। समस्या यह है कि इस ऊर्जा का उपयोग कम लागत में किस प्रकार किया जाये? इस दिशा में प्रभावशाली सौर-बैटरियों के निर्माण से लेकर अंतरिक्ष में विशाल परावर्तियों द्वारा ऊर्जा को पृथ्वी पर केंद्रित करने की दिशा में प्रयत्न हो रहे हैं परन्तु दूसरी संभावना तो तभी पूरी हो सकती है जब अंतरिक्ष केन्द्रों का निर्माण पूरा हो जाये।

अग्नि की खोज से प्रारंभ करके मनुष्य ने शक्ति-निर्माण के लाभ सीख लिए हैं। जिस प्रकार कोयला भाप और पेट्रोलियम की ऊर्जा के उपयोग ने औद्योगिक कांति को जन्म दिया उसी प्रकार उपरोक्त दोनों ऊर्जा-स्रोतों में से एक के भी उपयोग की संभावनाएँ एक नई क्रान्ति का कारण बनायेंगी।

अगली शताब्दी में विज्ञान और तकनीकी के अनेक और लाभ मनुष्य को उपलब्ध हो सकेंगे—उन सभी का अनुमान अथवा सूचीकरण संभव नहीं है। मेरे विचार से मानव-जीवन के स्तर में उन्नयन का रहस्य सूचनाओं के संप्रेषण और ऊर्जा-निर्माण में ही निहित है।

निराशावादी दृष्टिकोण

कैलटेक की उपरोक्त चर्चा में ही **फ्रेड हॉयल** ने निराशावादी दृष्टिकोण उपस्थित किया था। यह चर्चा मैं उनके सजग उद्धरण से प्रारम्भ करना चाहता हूँ।

इस ग्रह (पृथ्वी) अथवा सूर्य की किसी प्राकृतिक ऊर्जा का उपयोग इस ग्रह के निवासियों की साझेदारी पर आधारित है। यह एक सरल गणितीय निष्कर्ष है कि यदि साझेदारों की संख्या बढ़ती ही जाए तो व्यक्ति के स्तर पर कोई सुधार संभव नहीं हो सकेगा। विकसित देशों ने इस तथ्य को ग्रहण कर लिया है और अपनी जनसंख्या को नियंत्रित करके वे इसका लाभ प्राप्त कर रहे हैं। अर्द्ध-विकसित और अविकसित देश अभी भी जनसंख्या की इस समस्या के समाधान के उपायों की खोज में हैं।

उपरोक्त समस्या के दो प्रधान कारक हैं। पहला—स्वैच्छिक परिवार नियोजन के प्रयोग में धार्मिक कट्टरपंथी चिंतन की बाधाएँ। आज के तथाकथित विज्ञान के युग में भी इस बाधा को दूर करना अभी तक संभव नहीं हो सका है। दूसरा कारक सामाजिक है। बड़े परिवार (विशेषकर पुरुष सदस्यों की बड़ी संख्या) यद्यपि वे आर्थिक दृष्टि से व्यावहारिक नहीं रह गये हैं, अभी भी अधिक सामाजिक प्रतिष्ठा के पात्र हैं। यद्यपि अब दस पुत्रों की माँ होने का आशीर्वाद नहीं दिया जाता परन्तु परिवार-नियोजन का संदेश अभी भी भावना के स्तर तक नहीं पहुँच पाया है।

जनसंख्या-वृद्धि की इस समस्या में विज्ञान और तकनीकी का भी योगदान है। शिशु मृत्यु दर को कम करके औसत आयु में वृद्धि के द्वारा विज्ञान और तकनीकी ने जनसंख्या की समस्या को और उलझाया है। यह प्रवृत्ति भविष्य में नवीन औषधियों और चिकित्सा-तकनीक के कारण और बढ़ेगी ही।

क्या विज्ञान और तकनीकी जन्म-नियंत्रण की सरल विधियाँ नहीं खोज सकते? सामान्य स्थिति में, कम से कम इस शताब्दी में तो शायद ही ऐसा हो सके। यदि ऐसा कोई आविष्कार हो जाये तो क्या हम उसे स्वीकार कर सकेंगे? क्या इस संदर्भ में अपने पूर्वाग्रहों से हम मुक्त हो सकते हैं?

जनसंख्या-वृद्धि की यह समस्या मानव-समाज के समक्ष उपस्थित अन्य समस्याओं से अधिक अनर्थकारी है क्योंकि अपनी धीमी गति के कारण यह अपने शिकार को बहकाए रखने में समर्थ है। दो प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि दर देखने में नगण्य प्रतीत होती है परंतु यही वृद्धि दर संपूर्ण जनसंख्या को पैंतीस वर्षों में दूना कर सकती है। इस नगण्य वृद्धि दर से एक शताब्दी में जनसंख्या में आठ-गुना वृद्धि संभव है। स्वाभाविक रूप में संसाधनों की वृद्धि का कोई भी प्रयास जनसंख्या की इस विशाल वृद्धि की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उपयुक्त नहीं हो सकता। **हॉयल** का तर्क था कि यदि मानव-जाति ने

अपनी संख्या पर नियंत्रण नहीं किया तो यह काम किसी प्राकृतिक विभीषिका के द्वारा ही संपन्न होगा। कुपोषण जन्य-मृत्यु, भूख के कारण उत्पन्न सामाजिक समस्याएँ, और महामारियाँ मानवीय जनसंख्या को कम करने में अपनी भयानक भूमिकाएं ग्रहण करेंगी।

आज के दृष्टिकोण से यद्यपि विश्व के अनेक भागों में अकाल का आतंक अब भी दिख रहा है, यह दृष्टिकोण चौंकाने वाला लग सकता है। परंतु यह आशंका कितनी अनर्थकारी होगी इसका अनुमान इस समस्या के प्रति हमारी आत्मसंतोषी वृत्ति से लगाया जा सकता है। यह भयानक विभीषिका जब मानवता के दरवाजे पर दस्तक देगी तब शायद हमारी अजगरी संतोष वृत्ति टूटे परंतु तब तक निश्चय बहुत देर हो चुकी होगी।

इस दृष्टि से मैं नाभिकीय विभीषिका को मानव-अस्तित्व के लिये जनसंख्या वृद्धि से कम भयानक ख़तरा मानता हूँ। नाभिकीय युद्ध के ख़तरे से हम सदैव सचेत हैं कि इससे मानव-जाति के विनाश का, संपूर्ण विनाश का ख़तरा है परंतु जनसंख्या वृद्धि के ख़तरे के प्रति हम अभी भी गंभीर नहीं हैं। वर्तमान अस्त्र-शस्त्रों की मारक क्षमता द्वितीय विश्व युद्ध में प्रयुक्त शस्त्रास्त्रों की तुलना में बहुत अधिक है। स्थानीय विनाश और ध्वंस के अतिरिक्त वर्तमान नाभिकीय शस्त्रास्त्रों द्वारा उत्पन्न किया गया रेडियोधर्मी प्रदूषण युद्ध के पश्चात् भी मानव अस्तित्व के लिये ख़तरा बना रहेगा। 'स्टार वार्स' या 'तारक युद्ध' जैसे कार्यक्रम इस ख़तरे को और बढ़ाते जा रहे हैं।

नाभिकीय युद्ध के परिणाम इतने स्पष्ट हैं कि नाभिकीय अस्त्रों के प्रसार के विरुद्ध एक जनमत तैयार हो गया है। यद्यपि नाभिकीय युद्ध की शुरुआत से बचाव के साधन हैं परंतु प्रारंभ में प्रस्तुत तृतीय दृश्य की संभावना कभी भी आ सकती है। इससे वास्तविक सुरक्षा तभी संभव है जब नाभिकीय शस्त्रास्त्र नष्ट कर दिये जाएँ। परंतु क्या सरकारें ऐसा कर सकती हैं? क्या वैज्ञानिक उस दिशा में अनुसंधान करना बंद कर सकते हैं?

मेरे विचार में दोनों ही स्थितियाँ संभव नहीं हैं। अभी मानव ने राष्ट्रीयता और क्षेत्रीयता के स्थान पर विश्व-नागरिकता को मानसिक स्वीकृति नहीं दी है। संभव है कि अगली शताब्दी में संचार प्रणाली की उन्नति इस दिशा में कुछ योगदान करे। इसी प्रकार वैज्ञानिक अनुसंधान को इन भयानक क्षेत्रों से परे रखना भी संभव नहीं है क्योंकि सरकारों द्वारा इन कार्यों के लिये प्रदान की जाने वाली विशाल धनराशि वैज्ञानिकों को इस क्षेत्र में कार्य करने का प्रलोभन प्रदान करती है। किसी भी स्थिति में यह आत्मविनाश ही होगा और कुछ नहीं।

निष्कर्ष

आज के मानव की यही स्थिति है। विज्ञान और तकनीकी के विकास की दिशाएँ उसे शीघ्र ही कुछ महत्वपूर्ण निर्णय लेने को विवश करेंगी क्योंकि ये दिशाएँ मानव के अस्तित्व और भविष्य को प्रभावित कर रही हैं। उसे यह निर्णय लेने ही होंगे, यदि वह एक विवेकशील प्राणी होने का दावा करता है। इस जिम्मेदारी से वह भाग नहीं सकेगा। □□

('द हेरिटेज' अप्रैल 1987 से साभार)

अनुवादक : राघवेन्द्र कृष्ण प्रताप, प्रवक्ता (शिक्षा), ए० पी० एन० डिग्री कॉलेज, बस्ती–272001

आभार प्रदर्शन

डॉ० जयंत नार्लिकर के इस लेख 'इक्कीसवीं शताब्दी में मानव' के प्रकाशन की अनुमति के लिए हम 'द हेरिटेज' के सम्पादक श्री मनोजदास, चंदामामा प्रकाशन, मद्रास, लेखक प्रो० नार्लिकर और श्री राघवेन्द्र कृष्ण प्रताप के प्रति आभार प्रकट करते हैं।

—संम्पादक 'विज्ञान'

मधुमेह से घबराइये नहीं

डॉ० अनुराग श्रीवास्तव

आज से हज़ारों वर्ष पूर्व ही मनुष्य को मधुमेह या डॉयबिटीज़ रोग का पता चल गया था। इस रोग का उल्लेख 'चरक संहिता' में भी किया गया है। प्राचीन भारतीय चिकित्सक सुश्रुत ने लगभग 500 वर्ष ई० पू० में इसे 'मधुमेह' की संज्ञा प्रदान की थी। आम भाषा में इसे 'चीनी की बीमारी' कह लेते हैं। डॉयबिटीज़ वास्तव में 'डॉयबिटीज़ मेलॉइटस' का ही प्रचलित संक्षेप रूप है। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना यथोचित होगा कि शरीर में 'ए० डी० एच० हार्मोन या 'एन्टी डाइयूरेटिक हार्मोन' की कमी या अनुपस्थिति से उत्पन्न अत्यधिक मात्रा में मूत्र उत्सर्जन की अवस्था 'डॉयबिटीज़ इन्सिपिडस' कहलाती है जो कि 'डॉयबिटीज़ मेलाइटस' से पूर्णतया भिन्न होती है।

कोशिकाएँ शरीर की संरचनात्मक एवं क्रियात्मक इकाइयाँ होती हैं। इन कोशिकाओं को विभिन्न जैव-क्रियाओं हेतु आवश्यक ऊर्जा रक्त-ग्लूकोज़ से प्राप्त होती है। शरीर में रक्त-ग्लूकोज़ की मात्रा सामान्यतया निर्धारित सीमा के भीतर बनी रहती है। सुबह बिना कुछ खाए-पिए यानी उपवास की स्थिति में रक्त-ग्लूकोज़ की मात्रा 70-100 मिलीग्राम प्रति डेसीलीटर (100 मिलीलीटर) एवं भोजनोपरांत 160 मिलीग्राम प्रति डेसीलीटर तक रहती है, किन्तु किसी भी स्थिति में यह 180 मिलीग्राम प्रति डेसीलीटर (रीनल थ्रेशोल्ड) से अधिक नहीं होती और तब तक हमारे गुर्दे (किडनी) रक्त-ग्लूकोज़ को मूत्र में जाने से बचाये रहते हैं। रक्त में ग्लूकोज़ की मात्रा इससे अधिक होने पर ग्लूकोज़ मूत्र के साथ बाहर निकलने लगता है। रक्त में ग्लूकोज़ की असामान्य रूप से अधिक मात्रा 'हाइपरग्लॉइसीमिया' एवं मूत्र में ग्लूकोज़ की उपस्थिति को 'ग्लॉइकोसूरिया' कहते हैं।

भोजनोपरांत रक्त-ग्लूकोज़ की बढ़ी हुई मात्रा को पुनः निर्धारित सीमा में वापस लाने का काम करता है 'इन्सुलिन' नाम का एक हार्मोन। यह हार्मोन शरीर की 'अग्न्याशय' नामक लगभग 6 इंच लंबी, मत्स्याकार, नलिकाविहीन अंतःस्रावी ग्रंथि की 'बीटा कोशिकाओं' द्वारा स्रावित होता है। जब किन्हीं भी कारणों से शरीर में इन्सुलिन हार्मोन की कमी या पूर्ण अभाव हो जाए अथवा इन्सुलिन का शरीर की कोशिकाओं पर, जो असर होना चाहिए, न हो तो उस स्थिति में 'हाइपरग्लॉइसीमिया' व 'ग्लॉइकोसूरिया' की मिली-जुली अवस्था मधुमेह कहलाती है।
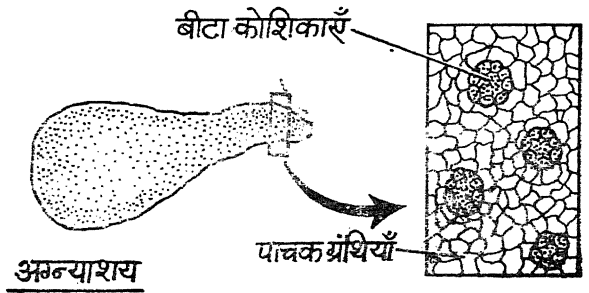
मधुमेह के लिए उत्तरदायी कुछ मुख्य कारण हैं—अग्न्याशय की 'बीटा-कोशिकाओं' में हुई टूट-फूट, ज़हरीले रसायन, कोशिका-निर्मित विषाक्त पदार्थ, हानिकारक एण्टीबॉडीज़ तथा एन्सिफैलोमायोकार्डाइटिस, मम्प्स व कॉक्सकी-बी वाइरस के विभिन्न संक्रमण एवं शरीर में इन्सुलिन को बेअसर करने वाले पदार्थों का अत्यधिक निर्माण। ऐसे इन्सुलिन-प्रतिरोधक पदार्थों में अग्न्याशय की 'अल्फा-कोशिकाओं' द्वारा निर्मित 'ग्लूकेगॉन' हार्मोन प्रमुख है।

मधुमेह (डॉयबिटीज़) को दो मुख्य श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं :

(1) टाइप I या आई० डी० डी० एम० : यह अवस्था जीवन के प्रारम्भिक 40 वर्षों के भीतर सामान्य या सामान्य से कम वज़न वाले व्यक्तियों में ही पाई जाती

बायोकेमिस्ट, 457 डी-2, डी सेक्टर, पिपलानी, भेल, भोपाल (मध्य प्रदेश)

है। अग्न्याशय की बीटा-कोशिकाओं में आई टूट-फूट या इन्सुलिन का कम बनना इस प्रकार के मधुमेह का प्रमुख कारण है। कुछ ही हफ्तों (सप्ताहों) या महीनों में अग्न्याशय की बीटा-कोशिकाओं का इन्सुलिन समाप्त होते ही यह रोग उग्र रूप धारण कर लेता है। ऐसे में कभी-कभी निर्जलीकरण तथा विभिन्न हानिकारक रासायनिक पदार्थों के रक्त में एकत्रित हो जाने से रोगी अर्द्धचेतन या पूर्ण अचेतन अवस्था में चला जाता है। यह अवस्था 'डॉयबिटिक कोमा' कहलाती है। चूँकि रक्त में इन्सुलिन की कमी को पूरा करने के लिए शरीर को अनिवार्य रूप से इन्सुलिन पर निर्भर होना पड़ता है, इसीलिए इसे 'इन्सुलिन डिपेन्डेन्ट डॉयबिटीज़ मेलाइटस' (आई० डी० डी० एम०) या 'जुवेनाइल ऑनसेट डॉयबिटीज़ मेलाइटस' कहते हैं। इस श्रेणी के रोगियों में सम्भावित लक्षण है— कमज़ोरी, थकान, वज़न का घटना, भूख व प्यास का बढ़ जाना, बार-बार पेशाब आना, घाव का देर में भरना, शुष्क खुजलाती त्वचा, मांसपेशियों में दर्द होना, कमज़ोर दृष्टि, हाथ-पैरों में झुनझुनी होना, किंकर्त्तव्यविमूढ़ता, फोड़े-फुंसी होना, जननांगों में खुजली होना, विभिन्न मूत्र रोगों का होना इत्यादि।

(2) **टाइप II या एन० आई० डी० डी० एन० :** इस श्रेणी के अधिकांश रोगी मध्यम या अधिक आयु वर्ग के होते हैं—सामान्यतया 40 वर्ष से अधिक। उन्हें इस रोग का ज्ञान अचानक किसी चिकित्सा-परीक्षण के दौरान ही होता है। यह स्थिति अधिक शोचनीय नहीं है, क्योंकि मात्र आहार-नियंत्रण, व्यायाम एवं मुँह से ली जाने वाली औषधियों के सेवन से नियंत्रित हो जाती है। अधिकतर रोगी मोटापे से ग्रस्त होते हैं और उनका मोटापा एवं मानसिक तनाव ही बहुधा इस रोग का कारण बनते हैं। मोटे व्यक्तियों में सामान्य व्यक्तियों के बराबर मात्रा में ही इन्सुलिन बनता है. जो कि उनकी अतिरिक्त आवश्यकताओं की पूर्ति में सक्षम नहीं होता है परिणामस्वरूप उनके रक्त में ग्लूकोज़ की अतिसांद्रता की संभावना बढ़ जाती हैं।

अग्न्याशय की बीटा-कोशिकाओं में इन्सुलिन बनता तो सामान्य मात्रा में ही है, किंतु इसकी यथोचित मात्रा रक्त में न पहुँचने से इसका वांछित प्रभाव शरीर पर परिलक्षित नहीं हो पाता। चूँकि शरीर को बाहर से इन्सुलिन देने की आवश्यकता नहीं होती, इसीलिए उसे 'नान इन्सुलिन डिपेन्डेन्ट डॉयबिटीज़ मेलाइटस' (एन० आई० डी० डी० एस०) या 'मच्योरिटी ऑनसेट डॉयबिटीज़ मेलाइटस' भी कहते हैं।

आनुवंशिकता का प्रभाव

टाइप II जैसी ही मधुमेह के रोगियों की एक पृथक श्रेणी भी है जिसमें इन्सुलिन की कमी नहीं होती तथा रोग की जटिलता भी देखने को प्रायः कम मिलती है। इन रोगियों में पैतृक लक्षण ही प्रभावी होते हैं। अतीत में मधुमेह के रोगियों की संतानों में भी इस रोग की बाहुल्यता-संबंधी अनेक भ्रामक धारणाएँ थीं। पहले लोग ऐसा मानते थे कि माता-पिता दोनों को मधुमेह होने पर समस्त संतानों में यह रोग निश्चित रूप से होगा ही। वास्तव में यह धारणा मिथ्या है। यदि माता-पिता में किसी एक को मधुमेह हो तो संतानों में इस रोग की संभावना पाँच प्रतिशत रहती है और वह भी केवल प्रौढ़ावस्था या अधिक आयु में जाकर परिलक्षित होती है। जहाँ माता-पिता दोनों इस रोग से ग्रस्त हों, संतानों में मधुमेह की संभावना मात्र दस प्रतिशत ही रहती है।

नवजात शिशु का वज़न अत्यधिक होने पर भी माता एवं संतान दोनों में ही मधुमेह रोग की संभावना बढ़ जाती है।

मधुमेह संबंधी एक महत्वपूर्ण तथ्य यह सामने आया है कि अन्तर्जातीय विवाह इस रोग की व्यापकता को रोकता है एवं सजातीय विवाहों से इस रोग की व्यापकता पीढ़ी दर पीढ़ी बढ़ती जाती है।

रोग की जटिलताएँ एवं दूरगामी परिणाम

यदि मधुमेह रोग लम्बे समय तक बिना उपचार किए अनियंत्रित रहे तो शरीर के विभिन्न महत्त्वपूर्ण अंगों— जैसे त्वचा, आँख, मस्तिष्क, गुर्दों एवं हृदय पर इसका कुप्रभाव पड़ता है।

गुर्दे हमारे रक्त को शुद्ध करने के उपकरण हैं। बढ़ा हुआ रक्त-ग्लूकोज़ उन पर अतिरिक्त भार डालता है, जिससे उनकी कार्यक्षमता का ह्रास तो होता ही है, बहुधा वे क्षतिग्रस्त भी हो जाते हैं जो आगे चलकर रक्त-चाप में वृद्धि या उच्च रक्तचाप का कारण बनता है।

ऊर्जा का स्रोत ग्लूकोज मूत्र में उत्सर्जित हो जाता है और ऊर्जा की इस क्षतिपूर्ति हेतु शरीर में विभिन्न वसा-अम्लों (फैट्टी एसिड्स) का ऑक्सीकरण होता है, जिसके फलस्वरूप अधिक मात्रा में कोलेस्ट्रॉल निर्मित होता है। रक्त में बढ़ा हुआ कोलेस्ट्रॉल हृदय की धमनियों की अंदरूनी सतह पर जमा होकर उन्हें सख्त व सँकरा बनाता है तथा उनके लचीलेपन को कम कर देता है, जिसे 'एथरोस्क्लीरॉसिस' कहते हैं। फलस्वरूप हृदयाघात, एन्जाइना (हृदयशूल), मायाकॉर्डियल इन्फार्कशन, लकवा, हृदय व मस्तिष्क में रक्तस्राव जैसी भयंकर स्थितियाँ पैदा हो सकती हैं जिससे रोगी की जान तक जा सकती है।

आँखों की रेटिना (दृष्टपटल) एवं विट्रियस (काचाभ) में बढ़े हुए रक्तचाप की वजह से रक्तस्राव हो सकता है। रेटिना क्षतिग्रस्त हो सकती है जिससे दृष्टिक्षमता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। कभी-कभी आँखों की रोशनी तक जा सकती है। विभिन्न त्वचा, साँस एवं मूत्र रोग, सरदर्द, गैंग्रीन (कोथ) आदि इसकी अन्य जटिलताएँ हैं।

आहार एवं व्यायाम द्वारा मधुमेह-नियंत्रण

जैसाकि पहले बताया जा चुका है, टाइप II के अधिकांश रोगी मोटापे से परेशान रहते हैं अतएव उन्हें अपना वज़न घटाने के लिए कम कैलोरी वाला संतुलित आहार (जिसमें आवश्यक मात्रा में कार्बोहाइड्रेट्स, प्रोटीन्स, वसा, विटामिन्स व खनिज हों) लेना चाहिए। आपको दिन भर में कितने कैलोरी मूल्य का आहार लेना है, यह जानने के लिए देखिए कि आपके शरीर की बनावट के अनुपात से क्या आपका वज़न आपकी लम्बाई के अनुरूप है या नहीं। दैनिक कैलोरी-आवश्यकता ज्ञात करने के लिए अपने वज़न को 30 से गुणा कर दीजिए, यदि आपका वज़न सामान्य है। यदि आपका वज़न सामान्य से अधिक है, तो 20 से एवं वज़न सामान्य से कम होने पर 40 से गुणा कर लीजिए। अपनी दैनिक कैलोरी की पूर्ति हेतु अपने आहार को निम्नवत् विभाजित कर लीजिए—

- 20 प्रतिशत सुबह के नाश्ते से।
- 40 प्रतिशत दोपहर के भोजन से।
- 10 प्रतिशत शाम की चाय से।
- 20 प्रतिशत रात्रि के भोजन से।
- 10 प्रतिशत सोते वक्त मीठा वगैरह लेकर।

यहाँ पर यह सुस्पष्ट कर देना भी सर्वथा उचित रहेगा कि खाद्य सामग्री का कैलोरी-मूल्य, उसमें उपस्थित कार्बोहाइड्रेट्स, वसा एवं प्रोटीन्स पर निर्भर करता है। 1 ग्राम कार्बोहाइड्रेट अथवा प्रोटीन से 4·1 कैलोरी व 1 ग्राम वसा से 9·3 कैलोरी ऊर्जा प्राप्त होती हैं।

मधुमेह के रोगियों को शक्कर, ग्लूकोज़, शहद, मिठाई, चाकलेट इत्यादि का सेवन वर्जित मानना चाहिए। आम, केला, अंगूर, आलू, चुकन्दर, शकरकन्द, चावल, डालडा, मक्खन इत्यादि का सेवन कम से कम करना चाहिए। बिना शक्कर की चाय, दूध, हरी सब्ज़ियों, अंकुरित अनाज, दाल, सोयाबीन, कम मीठे फल, सलाद नींबू, गाजर, खट्टा अचार एवं चटनी इत्यादि का नियमित सेवन करना चाहिए, क्योंकि इन खाद्य पदार्थों में उपस्थित रेशा (फाइबर) रक्त-ग्लूकोज़ एवं कोलेस्ट्रॉल को कम करता है तथा कब्ज़ की शिकायत को भी दूर करता है। अस्वस्थता की स्थिति में मधुमेह के रोगियों को तरल पदार्थों—जैसे—दूध, संतरे का रस, अनाज की कांजी इत्यादि लेने की सलाह दी जाती है। खानपान सम्बन्धी विस्तृत सलाह के मामले में आपका चिकित्सक आपके मित्रों, परिजनों एवं पड़ोसियों से कहीं बेहतर साबित होगा।

मधुमेह के उपचार में व्यायाम का अत्यधिक महत्त्व है। व्यायाम द्वारा स्वास्थ्य में सामान्य सुधार व बेहतर रक्त-संचार के साथ माँसपेशियाँ रक्त-ग्लूकोज़ का प्रयोग

पुरुष		महिलाएँ	
ऊँचाई (सेमी० में)	वज़न (किग्रा० में)	ऊँचाई (सेमी० में)	वज़न (किग्रा० में)
163	56—62	150	45—50
165	58—63	152	46—51
168	59—65	155	47—53
170	61—67	157	49—54
173	63—69	160	50—55
175	65—71	163	51—57
178	66—73	165	53—59
180	68—73	166	55—61

करती हैं जिससे रक्त-ग्लूकोज में वांछित कमी आती है एवं तदनुसार इन्सुलिन या रक्त-ग्लूकोज कम करने वाली (हाइपोग्लॉइसीमिक) औषधि की खुराक में भी कमी की जा सकती है। सैर करना सर्वोत्तम व्यायाम है। लिफ्ट का प्रयोग करने से ज्यादा अच्छा रहता है सीढ़ियों पर चढ़कर ऊपर जाना। अत्यधिक व्यायाम या भारी व्यायाम—जैसे दौड़, टेनिस, तैराकी इत्यादि से मधुमेह के रोगी को बचना चाहिए। यदि करना ही हो तो चिकित्सक से परामर्श लेकर और अतिरिक्त कार्बोहाइड्रेट्स लेकर ही इन्हें करें, ताकि रक्त में ग्लूकोज़ की कमी न होने पाये।

हाइपोग्लॉइसीमिया

यदि शरीर की आवश्यकता से अधिक मात्रा में इन्सुलिन या खाने वाली हाइपोग्लॉइसीमिक औषधियाँ ली जाएँ अथवा इनका सेवन करने के बाद अचानक मेहमानों के आ जाने या किन्हीं भी वजहों से आप नियत समय पर भोजन न कर पाएँ या भोजन में कमी रह जाए तो रक्त-ग्लूकोज़ की सांद्रता में अचानक कमी आ जाती है। रक्त-ग्लूकोज़ की सांद्रता 40 मिलीग्राम प्रति डेसीलीटर या इससे भी कम हो जाने की अवस्था ही 'हाइपोग्लॉइ-सीमिया' कहलाती है। यह अवस्था विभिन्न तकलीफों के रूप में परिलक्षित होती है, जैसे—कमजोरी महसूस होना, घबराहट लगना, अत्यधिक पसीना आना, हृदय की धड़कन का बढ़ जाना, कँपकँपी आना, चक्कर आना, सर-दर्द होना, मानसिक भ्रम होना, तेज़ भूख लगना, बेहोशी आना इत्यादि। 'हाइपोग्लॉइसीमिक कोमा' में मस्तिष्क में हुई क्षति मृत्यु का कारण भी बन सकती है।

इन्सुलिन या खाने वाली औषधियाँ लेने के बाद उपरोक्त लक्षण दिखते ही तुरन्त दो-तीन चम्मच ग्लूकोज़ (न हो तो चीनी ही) पानी में घोलकर पी लेना चाहिए एवं अपने चिकित्सक से संपर्क करना चाहिए।

मधुमेह के रोगियों को अपने साथ सर्वदा एक पहचान-पत्र, जिसमें उनका पता, फोन नम्बर एवं चिकित्सा-विवरण यथा चिकित्सक का नाम-पता, फोन नम्बर, मधुमेह की प्रकृति, उपचार, ब्लड-ग्रुप इत्यादि का उल्लेख हो तथा ग्लूकोज़ का छोटा पैकेट या चाकलेट भी रखना चाहिए।

पश्चिमी देशों में किए गए एक सर्वेक्षण के अनुसार 1.3 प्रतिशत व्यक्ति मधुमेह से पीड़ित पाये गये और चूँकि मधुमेह के रोगियों का जीवनकाल बढ़ जाता है, यह प्रतिशत दिन पर दिन बढ़ता ही जा रहा है। कुल रोगियों में से 25 प्रतिशत टाइप I व 75 प्रतिशत टाइप II से पीड़ित पाये गये हैं। सर्वेक्षणों से यह भी पता चला है कि मधुमेह के अधिकांश रोगी (59 प्रतिशत) 45 वर्ष की उम्र से अधिक हैं, जबकि 30 प्रतिशत रोगी 15-45 वर्ष के मध्य तथा केवल 11 प्रतिशत 15 वर्ष से कम उम्र के पाये गये।

उपरोक्त सर्वेक्षणों से हटकर एक बड़ी संख्या उन अज्ञात रोगियों की है, जिन्हें पता ही नहीं कि वे भी इस रोग से ग्रस्त हैं। ऐसे रोगियों का पता लगाना निर्विवाद रूप से परम आवश्यक है। 40 वर्ष से अधिक आयु के व्यक्तियों को, विशेषकर ऐसे व्यक्तियों को, जो स्थूल शरीर के स्वामी हों या जिनके पूर्वजों में किसी को यह रोग रहा हो, जो यकृत-संबंधी विकारों से पीड़ित हों या श्रम-रहित एवं तनावयुक्त व्यवसाय में लगे हों, तथा गर्भवती महिलाओं को नियमित रूप से अपने मूत्र व रक्त में ग्लूकोज़-परीक्षण करवाते रहना चाहिए। पहले मूत्र में ग्लूकोज़ की जाँच करने के हेतु बेनेडिक्ट्स विलयन का बहुतायत से प्रयोग होता था, किंतु अब बाज़ार में उपलब्ध 'डेक्स्ट्रोस्टिक्स' व 'यूरीस्टिक्स' द्वारा यह परीक्षण और भी सरल हो चुका है, जिसे अपने चिकित्सक की सलाह से आप स्वयं घर पर भी कर सकते हैं।

चेतावनी संकेत

निम्नलिखित लक्षणों के दिखते ही अपने चिकित्सक से सलाह लेना चाहिए —

- अचानक शरीर के वजन में कमी आना तथा कमज़ोरी महसूस होना।
- अत्यधिक भूख व प्यास लगना।
- बार-बार पेशाब आना।
- फोड़े-फुन्सी जैसे संक्रमणों का बार-बार होना एवं घावों का देर से भरना।
- भोजनोपरांत आलस्य व नींद का आना।
- हाथ-पैर की माँसपेशियों में दर्द होना एवं त्वचा का लाल या मुलायम होना।

उपरोक्त तथ्यों से यह सुस्पष्ट हो चुका है कि मधुमेह वास्तव में उतनी भयंकर स्थिति नहीं है, जितना हम इसे अनजाने ही मान बैठते हैं। आहार-व्यवहार में अपेक्षित एवं अनुकूल परिवर्तन एवं स्वस्थ मनःस्थिति मात्र से ही मधुमेह से होने वाली समस्त विपरीत संभावनाओं को निर्मूल बनाया जा सकता है। आवश्यकता होती है मात्र एक संकल्प की एवं अपनी इच्छा-शक्ति को सुदृढ़ बनाने की। □□

सूक्ष्मसंसाधित्र या माइक्रोप्रोसेसर

आशुतोष मिश्र

क्या आपने कभी इस बात पर विचार किया है कि जब भी आप गणना करते हैं, अथवा कोई तार्किक कार्य करते हैं, तब, आपका मस्तिष्क किन-किन प्रक्रियाओं से होकर गुज़रता है ? वास्तव में यह कार्य अत्यन्त जटिल होता है। आप इस तथ्य से भी अवगत होंगे कि जितना अधिक आप किसी समस्या पर विचार करेंगे, उतने ही अधिक पक्ष आपके सामने उभरकर आएँगे। मान लीजिए, आप इस समस्या पर विचार करते हैं—अपने जन्म से लेकर आज तक मुझे पैदा हुए कितने दिन हुए ? आपकी गणनाएँ कुछ इस प्रकार होंगी—आप अपने जन्म का दिन व वर्ष सोचेंगे, उस वर्ष 31 दिसम्बर तक के दिनों को जोड़ेंगे, 1 जनवरी 88' से आज तक के दिनों को जोड़ेंगे, बीच के सभी वर्षों (यदि वे लीप नहीं हैं) को 365 से गुणा करेंगे (लीप वर्ष में 366 से), तथा प्राप्त सभी योगों का कुल योग करके इच्छित परिणाम प्राप्त कर लेंगे। यह संपूर्ण प्रक्रिया **संसाधन** (Processing) के अंतर्गत आती है। पिछले कुछ लेखों से आपको ज्ञात हो चुका है, कि यह प्रक्रिया एक कंप्यूटर प्रोग्राम द्वारा भी कार्यान्वित की जा सकती है। परन्तु कंप्यूटर प्रोग्राम निर्देशों की एक सूचीमात्र ही होता है। यह प्रोग्राम अपने आप में कुछ भी कर सकने में सक्षम नहीं होता, यदि उसका पालन करने के लिए कंप्यूटर में कोई इकाई न हो। कंप्यूटर का वह भाग जो इन निर्देशों का पालन करता है, उसे **'सूक्ष्म संसाधित्र'** (microprocessor) कहते हैं। 'सूक्ष्म' इसलिए, क्योंकि इसका आकार वास्तव में अत्यन्त सूक्ष्म होता है। सूक्ष्म इलेक्ट्रॉनिकी (Microelectronics) के क्षेत्र में सूक्ष्म संसाधित्रों का आगमन एक क्रांति की भाँति है, जिससे अनेक जटिल प्रणालियों का विकास संभव हो सका हैं। **वृहत पैमाना एकीकरण** (Large Scale Integration L S T) द्वारा बड़े सर्किटों को अत्यन्त कम स्थान में ही समायोजित किया जा सकता है, परन्तु इसका उपयोग सीमित होता है। इनके क्षेत्र को विकसित करने के प्रयत्नों के फलस्वरूप ही सूक्ष्म संसाधित्रों का जन्म हुआ।

सूक्ष्मसंसाधित्र क्या होता है ?

सूक्ष्मसंसाधित्र किसी भी संगणक का वह केन्द्रीय **मार्ग** होता है जो कि **अंकीय-तार्किक एकक** (Arithmetic Logic Unit) तथा **नियंत्रक एकक** (Control Unit) का कार्य एक साथ करता है। यह एक या अधिक **LSI** परिपथों द्वारा निर्मित होता है जो एक या अधिक चिप्स (Chips) पर होते हैं। किसी भी निर्धारित कंप्यूटर प्रोग्राम को संचालित करने का कार्यभार सूक्ष्मसंसाधित्र पर होता है। यह उस प्रोग्राम को एक शृंखलाबद्ध रूप में चलाता है। मोटे तौर पर एक सूक्ष्मसंसाधित्र निम्नलिखित कार्य कर सकता है—आँकड़ों को ग्रहण करना, उनका संसाधन करना, उन्हें 'स्टोर' करके रखना और माइक्रोप्रोसेसर तथा अन्य परिपथों को संचालित करने वाले सिग्नलों का संप्रेषण व अभिग्रहण। इस प्रकार एक सूक्ष्मसंसाधित्र किसी बड़े कंप्यूटर के संसाधित्र की भाँति कार्य करता है, अंतर मात्र इतना होता है, कि यह कम निर्देशों (50 से 100 तक) का पालन कर पाता है तथा उसकी अक्षर क्षमता (word capacity) भी 8 से 16 बिट्स (binany digits=bits) की होती है। इस कारण ही सूक्ष्मसंसाधित्रों का प्रयोग आज नियंत्रक उपकरणों (Controllers), माइक्रोकंप्यूटरों (microcomputers) तथा सूक्ष्मसंसाधित्र निकायों (microprocessor systems) में विस्तृत रूप से हो रहा है। आइए देखें वे तीनों उपकरण होते क्या हैं ?

1. नियंत्रक (Controller)

यह एक स्वचालित अंकीय युक्ति होती है, जो एक निश्चित एल्गोरिथ्म का पालन करती है। उदाहरण-स्वरूप, यदि आप किसी रोबोट को एक विशेष कार्य के

कमरा न० 150, हाल III, आई० आई० टी० कानपुर, उत्तर प्रदेश 208016

लिए चलाना चाहते हैं, तो उसके अनुरूप एक एल्गोरिथ्म आपको तैयार करना होगा—सूक्ष्मसंसाधित्र उस एल्गोरिथ्म को चलाएगा और इच्छित सिग्नल रोबोट को भेजकर उसे क्रियाशील करेगा।

2. सूक्ष्मकंप्यूटर (Microcomputer)

यह किसी सूक्ष्मसंसाधित्र पर आधारित एक संपूर्ण प्रणाली होती है, जिसमें निवेश निर्गत युक्तियाँ (input-output devices) संसाधित्र को सिग्नल भेजने अथवा उससे सिग्नल प्राप्त करने के लिए जुड़ी होती हैं।

सूक्ष्मसंसाधित्र प्रणाली (Microprocessor system)

यह विस्तृत क्षेत्रों में प्रयुक्त हो सकती है, तथा इसके कार्य गणना करना, मानीटरन (monitoring) आदि होते हैं।
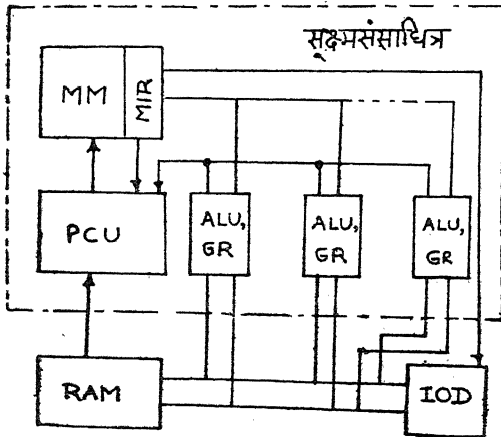
MM = सूक्ष्ममृस्ति
MIR = सूक्ष्म अनुदेश रजिस्टर
PCU = प्रोग्राम नियंत्रक एकक
RAM = यादृच्छिक अभिगम स्मृति
ALU = अंकीय-तार्किक एकक
GR = व्यापक रजिस्टर
IOD = निवेश-निर्गत युक्तियाँ

सूक्ष्मसंसाधित्र की संरचना

किसी भी सूक्ष्मसंसाधित्र के मुख्य रूप से **दो** हिस्से होते हैं—**संक्रियात्मक इकाई** (Operational unit) तथा **नियंत्रक इकाई** (Control unit)। संक्रियात्मक इकाई का कार्य कंप्यूटर के शब्दों को परिवर्तित करना होता है। नियंत्रक इकाई गणना की प्रक्रिया को नियंत्रित करती है। यह संचायक (storage) से निर्देशों (instructions) का विकोडन (decoding) करती है, सूक्ष्मस्मृति (micromemory) से कंट्रोल सिग्नल ग्रहण करती है, तथा इन निर्देशों का क्रमबद्ध रूप से पालन करती है। अधिकतर सूक्ष्मसंसाधित्रों में एक सूक्ष्मप्रोग्राम (micro-program) नियंत्रण होता है, जिससे इनको विस्तृत क्षेत्रों में प्रयुक्त किया जा सकता है। इस प्रकार के सूक्ष्मसंसाधित्र लघुकंप्यूटरों (minicomputers) के साथ आसानी से जोड़े जा सकते हैं, तथा इस प्रकार उनके उपयोग के क्षेत्र को अधिक विस्तृत किया जा सकता है।

संक्रियात्मक इकाई में अंकीय-तार्किक एकक (Arithmetic Logic Unit-ALU), तथा स्क्रैचपैड रजिस्टर (scratchpad register) जिनकी क्षमता 2 से 4 बिट्स के बीच होती है, होते हैं। सूक्ष्मसंसाधित्र को कार्यान्वित करने के निर्देश यादृच्छिक अभिगम स्मृति (RAM; Random Access Memory) के अन्दर होते हैं, जिन्हें प्रोग्राम नियंत्रक इकाई (Program Control Unit; PCU) में भेज दिया जाता है। यह इकाई अनेक अंकीय तार्किक इकाइयों के साथ कार्य करने में सक्षम होती है। सूक्ष्मस्मृति (micromemory—MM) में सूक्ष्म आदेश होते हैं। PCU में एक विकोडक (decoder), स्थानान्तरण आदेश परिपथ (transfer order circuit), तथा एक सूक्ष्म अनुदेश रजिस्टर (Microinstruction Register—MIR) होते हैं। सूक्ष्मस्मृति की गति जो लगभग 30-120 नैनोसेकेंड (1 नैनोसेकेंड $=10^{-9}$ सेकेंड) तक होती है, सूक्ष्मसंसाधित्र की गति को निर्धारित करती है। एक सूक्ष्म अनुदेश ALU के कार्य को संचालित करता है, तथा ALU उन सूक्ष्म गणनाओं को करने के पश्चात् RAM में एकत्रित जानकारी से उस आँकड़े को छाँटती है, जिन पर अगली गणना होनी है।

कुछ ही देर पहले आपने रजिस्टर, सूक्ष्मस्मृति, सूक्ष्म अनुदेश जैसे शब्द जाने। आइए देखें, वास्तव में ये होते क्या हैं?

रजिस्टर

बोलचाल की भाषा में रजिस्टर का तात्पर्य किसी ऐसी 'नोट बुक' से होता है जिसमें आप कुछ आवश्यक जानकारी लिखते हैं, तथा आवश्यकता पड़ने पर उसका उपयोग भी करते हैं। इलेक्ट्रॉनिकी की भाषा में 'रजिस्टर' युक्ति को कहते हैं जो बाह्य स्रोतों से आने वाली जानकारी को एकत्रित करती है अथवा उनका स्थानान्तरण करती है। इनका प्रयोग तार्किक जोड़ अथवा गुणा करने में हो सकता है। आँकड़ों के शब्द द्विघातीय (binary) रूप में एकत्रित किए जाते हैं, तथा इस प्रक्रिया के दौरान रजिस्टर का एक निश्चित भाग, किसी विशिष्ट अवस्था में आ जाता है। नियंत्रित स्पंदों (Controled pulses) के द्वारा रजिस्टर से कोई द्विघातीय शब्द हटाया जा सकता है अथवा निवेशित किया जा सकता है। किसी भी तर्क परिपथ (logic circuit) से निर्गम (output) को एक अथवा दो फेज़ द्वारा रजिस्टर में 'फ़ीड' किया जा सकता है। 'रजिस्टर' की वास्तविक संरचना एवं कार्यविधि अत्यन्त जटिल होती है, जिसका विवरण इस लेख में संभव नहीं है।
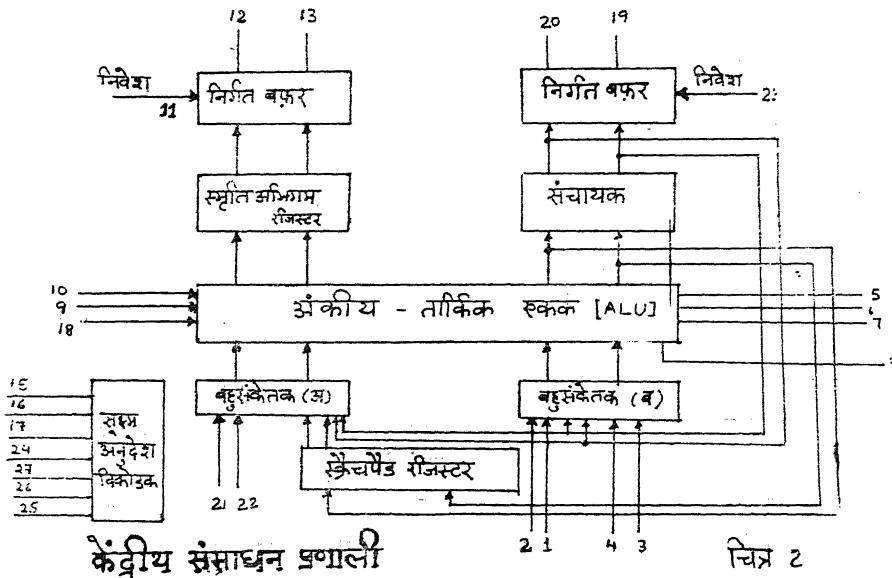
चित्र 2

सूक्ष्मप्रोग्राम नियंत्रण इकाई (Microprogram control unit)—नियंत्रण संचायक (control storage) का एक सूक्ष्मप्रोग्राम, चालू होते ही CPU को उसकी प्रारम्भिक अवस्था में ला देता है, तथा मेमोरी से संदर्भ की प्रक्रिया व अनुदेशों के पालन की क्रिया को प्रारम्भ करता है। इस इकाई बहुजनक अनुदेशों (macroinstructions) को ग्रहण करने के लिए कई निवेश टर्मिनल होते हैं। ये अनुदेश अधिक से अधिक 256 हो सकते हैं तथा इनका संक्रिया कूट (operation code) आठ बिट लम्बा होता है। इस इकाई में एक सूक्ष्म अनुदेश से दूसरे पर जाने के लिए, तथा इस प्रक्रिया को नियंत्रित करने के लिए एक निश्चित संख्या में बिट्स होती हैं। उदाहरणस्वरूप **K** 589 सूक्ष्मसंसाधित्र में 7 बिट्स पहले कार्य के लिए तथा 4 दूसरे कार्य के लिए प्रयुक्त होती हैं।

यह तो हुआ सूक्ष्मसंसाधित्रों का मोटे तौर पर विवरण। वास्तव में इन युक्तियों के भीतर क्या होता है, कैसे होता है, क्यों होता है, एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर देना आज कोई आवश्यक नहीं समझता—और यह उचित भी है, क्योंकि हमें इस युक्ति के संपूर्ण क्रियाकलाप में ही दिलचस्पी होती है, न कि उसके विभिन्न हिस्सों में होने वाले इलेक्ट्रॉन प्रवाह में। कैलकुलेटर के बटनों पर अंगुली फेरकर 2+2 जान लेना तो सरल है, पर आप शायद ही कभी यह सोचते हों कि वह सूक्ष्मसंसाधित्र जैसी जटिल युक्ति है, जो पलक झपकते आपके समक्ष उत्तर प्रस्तुत कर देती है। है न यह एक अद्भुत चीज़ !!□□

बहुउपयोगी खीस (कोलेस्ट्रम)

भूपेन्द्र नाथ मिश्र

खीस या फेनुस बच्चे के जन्म देने के तुरन्त बाद ब्यायी हुई मादा के स्तन से निकलता है। देखने में यह दूध से काफी मिलता है किन्तु संरचना तथा सामान्य गुणों में भिन्न होता है। लगभग 5 दिनों में खीस स्वतः दूध में बदल जाता है। खीस एक गाढ़ा, चिपचिपा, लसलसा, श्यान तथा तेलीय तरल पदार्थ होता है। प्रायः इसका रंग पीला होता है, जो विशेषतः कैरोटीन की अधिकता के कारण होता है। खीस बहुत उपयोगी व औषधीय गुणों से भरपूर होता है, परन्तु अधिकांश गौपालक इसके गुणों की अनभिज्ञता के कारण इसका लाभ नहीं ले पाते हैं। इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए खीस की बहूपयोगिता पर प्रस्तुत लेख में प्रकाश डाला गया है।

खीस में ठोस पदार्थों की अधिकता के कारण इसका आपेक्षिक घनत्व ज़्यादा अर्थात् 1·04 से 1·08 तक होता होता है। खीस गर्म करने पर तुरन्त फट जाता है, क्योंकि इसमें प्रोटीन विशेषकर ग्लोबुलिन की अधिकता होती है, जिससे इसकी अम्लता बढ़ जाती है। खीस का संगठन मादा के ब्याने के बाद से ही बदलता रहता है। खीस में दूध की अपेक्षा प्रोटीन तथा खनिज लवण अधिक और लैक्टोज़ व जल कम मात्रा में होता है। खीस में बहुत अधिक प्रोटीन होती है। कभी-कभी तो प्रोटीन की मात्रा 25 प्रतिशत तक पहुँच जाती है।

ब्याने के तुरन्त बाद के खीस में 73.01 प्रतिशत जल, 5.10 प्रतिशत वसा, 5.08 प्रतिशत केसीन, एल्बुमिन व ग्लोबुलिन 11.34, और लैक्टोज़ खनिज लवण तथा अम्लता प्रतिशत क्रमशः 2.19, 1.01 तथा 0.414 होता है। प्रसव के 24 घन्टे बाद संगठन बदलकर वसा 3.40 प्रतिशत, कुल प्रोटीन 4.52 प्रतिशत व लैक्टोज़ 3.98 प्रतिशत होता है।

प्रथम खीस के बाद इसके संगठन में लैक्टोज़ (दुग्ध-शर्करा) व जल में तो वृद्धि होती है, परन्तु प्रोटीन, वसा व खनिज लवण की मात्रा में कमी होती जाती है। गाय में लगभग 4 दिन बाद तथा भैंस में लगभग 3 दिन में खीस सामान्य दूध में स्वतः बदल जाता है। कभी-कभी यह समय अधिक भी हो सकता है। गाय के खीस में भैंस के खीस की अपेक्षा अम्लता, सोडियम क्लोराइड, प्रोटीन, भस्म व वसा कम होती है, परन्तु लैक्टोज़ अधिक होता है।

खीस की वसा में कैप्रिलिक, कैपिक आदि वसीय अम्लों की मात्राएँ अधिक होती हैं। साथ ही दूध की अपेक्षा सभी विटामिन अधिक मात्रा में होती हैं। खीस में आयरन, कैल्शियम, फॉस्फोरस, मैंग्नीशियम व क्लोराइड अधिक मात्रा में पाये जाते हैं।

खीस एक पौष्टिक मूल्यवान भोजन है। खीस का ऊर्जा तथा पोषणमान दूध की तुलना में अधिक होता है। खीस में प्रतिरक्षी (एंटीबॉडीज) मिलते हैं, जो छोटी आँत में उपस्थित रोग-उत्पादक जीवाणुओं को नष्ट करने में सहायक होते हैं। खीस में विटामिन 'ए' की मात्रा अधिक होने से यह संक्रामक रोगों से बचाव करता है तथा आँखों को स्वस्थ रखने में सहायक होता है। और तो और इसमें 'बी' वर्गीय विटामिन की भी पर्याप्त मात्रा मिलती है, जो सामान्य वृद्धि, विकास एवं उत्तम स्वास्थ्य के अनुरक्षण के लिए आवश्यक होता है। खीस मृदुरेचक (हल्का दस्तावर) होता है। संभवतः प्रकृति ने इसे आमाशय में गर्भकाल का इकट्ठा मल पदार्थ बाहर निकालकर साफ़ करने के लिए ऐसा किया है।

आम धारणा के अनुसार खीस इस्तेमाल योग्य नहीं माना जाता। इसे लोग छूना नहीं चाहते। पर अब तो आप इसके गुणों से परिचित हो चुके हैं। □□

एम० एस-सी०, शरीर क्रिया विज्ञान, 47/बी, चन्द्रशेखर आज़ाद कृषि एवं प्रौद्योगिक विश्वविद्यालय, कानपुर–2

भारतीय कृषि एवं मौसम विज्ञान की प्राचीन धरोहर और उस पर अनुसंधान की आवश्यकता

डॉ० रामकृष्ण पाराशर

(गतांक से आगे)

'कृषि विशेषज्ञ का **घाघ** का जन्म संवत् 1753 विक्रमी में बताया जाता है। ये अपने क्षेत्र में इतने लोकप्रिय रहे हैं कि उत्तर भारत के अलग-अलग राज्यों में किसान इन्हें अपने ही राज्य का बताते हैं। बिहार के किसान एवं विद्वान इन्हें छपरा तथा चम्पारन का बताते हैं, उत्तर प्रदेश के लोग इन्हें गोंडा, गोरखपुर, फतेहपुर, रायबरेली और कन्नौज का बताते हैं। कहा जाता है कि घाघ पहले हुमायूँ के दरबार में गये थे फिर अकबर के साथ रहने लगे थे। सम्राट अकबर ने उन पर प्रसन्न होकर उन्हें अपने नाम का गाँव बसाने को कहा, तो घाघ ने वर्तमान चौधरी सराय नामक गाँव अकबराबाद सराय घाघ के नाम से बसाया। सराय घाघ कन्नौज शहर से एक मील दक्षिण और कन्नौज रेलवे स्टेशन से 3 फर्लांग पश्चिम में है। अकबर के दरबार में घाघ का बड़ा आदर था। अकबर ने इन्हें कई गाँव दिये थे और चौधरी की उपाधि दी थी। इसी से घाघ के वंशज अभी भी चौधरी कहलाते हैं और सराय घाघ का दूसरा नाम चौधरी सराय भी पड़ गया। इनकी आठवीं पीढ़ी के वंशजों में श्री राम चरण दुबे और श्री कृष्ण दूबे के जीवित होने की सूचना उपलब्ध है। घाघ की मृत्यु के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उन्होंने ज्योतिष से गणना करके यह पता लगा लिया था कि उनकी मृत्यु तालाब में नहाते समय जाट में चोटी चिपक जाने होगी इसलिए घाघ तालाब में नहाते नहीं थे और न मोटी चोटी रखते थे। संयोग की बात है कि एक दिन उनके कुछ घनिष्ठ मित्र तालाब में नहा रहे थे उन्होंने घाघ को भी आग्रह करके पानी में खींच लिया। नहाते समय सचमुच उनकी चोटी जाठ में उलझ गई और बहुत प्रयत्न करने पर भी नहीं छूटी। उसी दशा में उनकी मृत्यु हो गई। मरते समय घाघ ने यह कहा था :

"ई नहि जान घाघ निबुद्धि। आवे काल विनास बुद्धि।"

वास्तव में खेती का पूरा लाभ उस स्थिति में ही होता है जब कि व्यक्ति स्वयं खेती करता है। इस विषय में घाघ महोदय ने लिखा है :

उत्तम खेती जो हर गहा।
मध्यम खेती जो संग रहा।
जो पूछेसि हरवाहा कहाँ।
बीज बूड़िनो तिनके तहाँ।।

अर्थात् जो स्वयं हल चलाता है उसकी खेती उत्तम है जो हलवाहे के साथ रहकर खेती कराता है वहाँ मध्यम हैं और जो हलवाहे पर निर्भर है उसका बीज बोना ही निरर्थक है।

वर्षा सन्दर्भ में घाघ की निम्नलिखित कहावतें बहुत प्रसिद्ध हैं :

एक मास ऋतु आगे धावे।
आधा जेठ आसाढ़ कहावे।।

अर्थात् मौसम एक महीने आगे चलता है। आधे जेठ से ही आषाढ़ समझ कर खेती की तैयारी शुरू कर देनी चाहिए।

माघ में गरमी जेठ में जाड़। कहे घाघ हम होब उजाड़।।

अर्थात्—माघ के महीने गरमी और ज्येष्ठ महीने में सर्दी पड़े, तो कहते हैं कि हम उजड़ जायेंगे। अर्थात् पानी नहीं बरसेगा।

पूनो परवा गाजे। तो दिना बहत्तर नाजे।

अर्थात्—आषाढ़ की पूर्णिमा और प्रतिपदा को बिजली चमके, तो 72 दिन तक वर्षा होगी।

दिन में गरमी रात में ओस।
कहैं घाघ वर्षा सौ कोस।

अर्थात्—यदि दिन में गर्मी पड़े और रात में ओस पड़े तो घाघ कहते हैं कि वर्षा को बहुत दूर समझना चाहिए।

एक बूँद चैत में परै। सहस बूँद सावन में हरै।।

अर्थात्—चैत में यदि एक बूँद भी वर्षा हो जाए तो वह सावन में एक हजार बूँद वर्षा को कम कर देगी। इसका आशय है कि यदि चैत्र में वर्षा हो जाए तो सावन में सूखा पड़ेगा।

पूरब धनुही पच्छिम भान।
घाघ कहैं बरखा नियरान॥

अर्थात्—संध्या के समय पूरब दिशा में इन्द्रधनुष दिखाई दे, तो घाघ के अनुसार वर्षा निकट है।

विभिन्न फसलों एवं सब्जियों की कृषि क्रियाओं एवं फसल सुरक्षा संबंधी निम्नलिखित प्रमुख कहावतों ने भारत के कृषि विकास में शताब्दियों तक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

1. कच्चा खेत जोतै कोई।
नाहीं बीज न अंकुरै कोई॥

अर्थात् जब तक खेत की मिट्टी जोतने योग्य न हो अर्थात् गीली हो तो खेत नहीं जोतना चाहिए नहीं तो बीज का अंकुर नहीं होगा।

2. जोते खेत घास न टूटे।
तेकर भाग साँझ ही फूटै॥

अर्थात् जोतने पर खेत की घास से जड़ न उखड़े, तो उस किसान का भाग्य संध्या का फूटा समझना चाहिए, क्योंकि अगले दिन अगर बोएगा तो फिर घास निकली दिखाई देगी।

3. बाहे क्यों न असाढ़ एक बार।
अब का बाहे बारम्बार।

अर्थात् असाढ़ में एक बार खेत को जोतने में जो लाभ होता है वह फिर बार-बार जोतने पर नहीं होता।

4. नौ नसी। न एक कसी॥

अर्थात् नौ बार हल जोतने से एक फावड़े से खेत को उलट देना अधिक उत्तम है।

5. हर लगा पताल। तो टूट गए काल।

अर्थात् यदि गहरी जुताई की गई है तो अकाल का भय करना व्यर्थ है।

6. गहिर न जोते बोवै धान।
सो घर कुठिला भरै किसान॥

अर्थात् धान के खेत को गहरा न जोतकर धान बो दे तो इतना धान पैदा होगा कि उसके घर के सभी कुठिलों में धान से भर जायेंगे।

खाद

गोबर मैला नीम की खली। यासे खेती दूनी फली॥

अर्थात् गोबर, मल और नीम की खली खेत में डालने से दूनी पैदावर होती है।

गोबर मैला, पानी सड़ै। तब खेती में दाना बढ़ै॥

अर्थात् गोबर, मल और पत्तियाँ खेत में सड़ें तो दाना अधिक होगा।

असाढ़ में खाद खेत में जावैं। तब मूठी दाना पावै।

अर्थात् असाढ़ लगते ही खेत में खाद पड़ जाएगी तो मनमाना अन्न होगा।

जो तुम देओ नील की ठूँठी।
सब खादों में रहे अनूठी॥

अर्थात् अगर तुम नील की डंठलों को खेत में डालकर सड़ा लो, तो यह सबसे अनूठी खाद है।

वही किसानी में है पूरा।
जो छोड़े हड्डी का चूरा॥

अर्थात् वही किसान होशियार है, जो खेत में हड्डी का चूरा डालता है।

सनई बोवै, सनई काटे,
सनई सारे खेत का भार।
उलटै पलटै दोनों जोतै,
वहि दीजे गल्ला का झार॥

अर्थात् सनई बोओ सनई काटो और सनई खेत में सड़ा हो। खेत को उलट पलट कर जोतो तो अनाज (गल्ला) दी अनाज पैदा होगा।

बीज की मात्रा

जौ गेहूँ बोवै पाँच पसेरा।
मटर का बीघा तीसे सेरा॥
बोवै चना पसेरी तीना।
तिन सेन बीघा जोन्हरी कीना॥
दो सेर मेथी अरहर मास।
डेढ़ सेर बीघा बीज कपास॥
पाँच पसेरी बिगहा धान।
तीन पसेरी जड़हन धान॥
सवा सेर बीघा सावाँ भान।
तिल्ली सरसों अंजुरी जान॥
बर्रे कोदो सेर बोवाओं।
डेढ़ सेर बीघा तीसी नाओं॥
डेढ़ सेर बजरा बजरी सवाँ।
कोदौ काँकुनि सवैया बवा॥

यहि विधि से जो बोवैं किसान।
दूनो लाभ खेती की जान ।।

अर्थात् प्रति बीघा जौ और गेहूँ 25 सेर, मटर 30 सेर, चने 15 सेर, मक्का 3 सेर ज्वार 3 सेर, अरहर, मौठ और उड़द दो-दो सेर कपास डेढ़ सेर, सावां सवा सेर, तिल और सरसों अंजुलि भर, वरैं और कोदों एक सेर, अलसी डेढ़ सेर, बाजरा बजरीं और सवाँ मिलकर डेढ़ सेर, कोदों और काकुन मिलाकर डेढ़ सेर बीज बोना चाहिए। जो किसान उक्त दर से वीज बोएगा उसकी दूनी उपज होगी।

बोआई

बुध बउनी। सुक लउनी।

अर्थात् बुधवार को बोना चाहिए और शुक्रवार को काटना चाहिए।

अगाई। सो सवाई ।।

अर्थात् आगे बोने से सवाया अन्न प्राप्त होता है।

सावन सावाँ अगहन जवा।
जितना बोवै उतना लवा ।।

अर्थात् सावन में सवाँ और अगहन में जौ जितना बोओगे ही काटोगे।

भादो की छठ चाँदनी, जो अनुराधा होय।
अबर खबिर बोय दे, अन्न धनेरा होय ।।

अर्थात् भादो शुक्ल पक्ष की छठ को अनुराधा नक्षत्र में ऊबड़ खाबड़ खेत में बोने पर भी अन्न अधिक उत्पन्न होगा।

तेरह कातिक तीन असाढ़।
जो चूका सो गया बजार।

अर्थात् कार्तिक मास के 13 दिनों में और असाढ़ के तीन दिनों के भीतर की बोआई कर देनी चाहिए। चूकेगा उसे बाजार से अनाज खरीदना पड़ेगा।

सिंचाई

धान पान अरु खीरा। तीनों पानी के कीरा ।।

अर्थात् धान पान और खीरे की फसल को पानी की बहुत जरूरत होती है।

साठी होवे साठवे दिन।
जो पानी पावे आठवे दिन ।।

अर्थात् हर आठवें दिन सिंचाई करने से साठी धान 60वें दिन तैयार हो जाता है।

कटाई और ओसाई

चना अध पका जौ पका काटै।
गोहूँ बाली लटका काटै।,

अर्थात् चना आधा पक जाए, जौ पूरा पक जाए और गेहूँ की बालें लटक जाएँ तो काटना चाहिए।

पछुवाँ हवा ओसावे जोई।
घाघ कहै धुन कबुँह हो गई।

अर्थात् पश्चिमी हवा चलने पर गेहूँ की ओसाई करने से दानों में घुन नहीं लगते ऐसा घाघ का मत है।

फ़सलों के रोग एवं कीट

फागुन मास बहै पुरवाई।
तब गोहूँ में गेरुई आई ।।

अर्थात् फाल्गुन मास में पूरब की हवा चलती है तो गेहूँ में गेरुई रोग तेज़ी से लगता है।

पूरा माघ बहै पुरवाई।
तब सरसों को माँहूँ खाई ।।

अर्थात् जब पौष और माघ के महीनों में पूरब की हवा चलेगी, तो सरसों की फसल को माहूँ कीड़ा खा जाएगा।

खेती के बैल

है उत्तम खेती बाकी। होय मेवाती गोई जाकी ।।

अर्थात् उसकी खेती उत्तम है जिस किसान के पास मेवाती नस्ल के बैल हो।

समतल जोटै पूत चरावे।
लगते जेठ मुसैला छावै ।।
भादों मास उठै जो गरदा।
बीस बरस तक जोतो बरधा ।।

अर्थात् बैल से समतल खेत की जुताई करें और किसान का पुत्र उसको चराए, जेठ महीने में भूसा रखने का घर छा दें और वैल रखने की जगह ऐसी सूखी रखें जहाँ भादों मास में धूल उड़े तो बीस बरस तक उस बैल को जोता जा सकता है।

सींग मुड़े, माथा उठा, मुँह का होवे गोल।
रोम नरम, चंचल करन, तेज बैल अनमोल ।।

अर्थात् जिस बैल के सींग मुड़े (छोटे और एक दूसरे की ओर मुड़े हुए हों) हों, माथा उठा हुआ हो, मुँह गोल हो, रोएँ मुलायम हों और कान चंचल हों, वह बैल चलने में तेज़ और अनमोल होगा।

कार कछोटा झबरे कान ।
इन्हें छाड़ि जनि लीजो आन ॥

अर्थात् काले कच्छ (पूछ की जड़ के नीचे का भाग) और झबरे कान वाले बैल को छोड़कर दूसरा न लेना ।

बैल लीजै कजरा । दाम दीजे अगरा ।

अर्थात् काली आँख वाला बैल मिले, तो पेशगी दाम देकर भी लेना चाहिए ।

करिमा काछी धौंरा बान ।
इन्हें छाँडि जनि वेस लो आन ।।

अर्थात् काली कच्छ और सफेद रंग वाले बैल को छोड़कर दूसरा नहीं खरीदना चाहिए ।

सात दाँत उदन्त को, रंग जो काला होय ।
इनको कबहूँ न लीजिए, दाम चहैं जो होय ॥

अर्थात् उदन्ती जिसके दूध के दाँत न गिरे हों बैल सात दाँत हो और उसका रंग काला हो तो उसे कभी नहीं खरीदना चाहिए चाहे उसके कुछ भी दाम दो ।

छोट सींग और छोटी पूँछ । ऐसे को ले वे पूँछ ।

अर्थात् उस बैल को तुरन्त खरीदना चाहिए जिस बैल के सींग और पूँछ छोटी हो ।

छोटा मुँह और ऐंठा कान ।
यही बैल की है पहिचान ।

अर्थात् अच्छे बैल की पहिचान उसके छोटे मुँह और ऐंठे कानों से होती है ।

□□

लेसर किरणों से कुष्ठरोग का इलाज

पिछले दिनों काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में 'लेसर' पर सम्पन्न एक संगोष्ठी में दिल्ली विश्वविद्यालय के **डॉ० एम० एम० बजाज** ने यह जानकारी दी कि लेसर किरणों की सहायता से मानव शरीर में न केवल कुष्ठरोग के विस्तार और उसकी गहराई का पता लगाया जा सकता है वरन् कुष्ठ रोग का इलाज सफलतापूर्वक कर पाना भी संभव दिख रहा है । डॉ० बजाज के अनुसार 'रमन इन्फ्रारेड' के माध्यम से कुष्ठ रोग के प्रसार को रोकने में सहायता मिल सकती है ।

इसी संगोष्ठी में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के **डा० डी० के० राय** ने स्वीडेन में की गई एक खोज के विषय में बताया कि अब लेसर किरणों की सहायता से प्रदूषण को भी मापा जा सकता है । लेसर उपकरण को एक ट्रक में रखकर किसी स्थान विशेष तक उसे ले जाते हैं जहाँ का प्रदूषण मापना होता है । वहाँ पर इस उपकरण की मदद से वायु में गंधक (सल्फर), ओज़ोन, नाइट्रोजन ऑक्साइड आदि के अणुओं को मापा जा सकता है । इस प्रकार अनेक प्रकार के रोगों और पर्यावरण प्रदूषण को नियंत्रित करने की दिशा में लेसर किरणों की उपयोगिता बढ़ती जा रही है ।

चुम्बक से बाँधों की अधिक सुरक्षा

ताजिकिस्तान के विशेषज्ञोंने रोगुंस्काया पनबिजलीघर के बाँध को सुरक्षित बनाने की एक नई विधि निकाली है । 335 मीटर ऊँचा यह बाँध मिट्टी भरकर बनाया गया है । आमतौर से इस प्रकार के बाँध इस्पात की छड़ों के उपयोग से मज़बूत बनाये जाते हैं, लेकिन इस बाँध में विशेषज्ञों ने मिट्टी में एक विशेष राशि में धातु-चूर्ण की मिलावट की है । बाँध की दीवार के दोनों कोनों पर दो शक्तिशाली चुम्बक स्थापित किये गये हैं, जो भूमिगत कंपन के दौरान अपने आप चालू हो जाते हैं और पूरी दीवार को एक अभेद्य स्वरूप प्रदान कर देते हैं ।

जनता का कोपभाजन : रसायन विज्ञान

डॉ० शिवगोपाल मिश्र

रसायन विज्ञान अत्यन्त प्राचीन शास्त्र है। हमारे देश में इसे रसायन कहा जाता था। विदेशों में इसे ही **कीमियागिरी** (Alchemy) नाम से अभिहित किया जाता था। इसका उद्देश्य निम्न धातुओं को सोने में बदलना, मनुष्य को जवान बनाये रखना तथा उसे आकाश मार्ग से उड़ने में सक्षम बनाना था। हमारे देश में सिद्धों तथा योगियों ने अठारहवीं सदी तक आम जनता को 'रसायन बट', 'सिद्ध गुटिका' आदि के चमत्कारों से आतंकित-संमोहित बनाये रखा। विदेशों में रसायनवेत्ता की परिभाषा उस व्यक्ति के रूप में की गई जो प्रयोगशाला में बैठ कर एक परखनली के रसायनों को दूसरी परखनली में डालकर चमत्कारी वस्तुएँ उत्पन्न कर लाए। वह ऐसा असामाजिक प्राणी है जो किसी से मिलना पसन्द नहीं करता।

हमारे देश में रसायन का सुसंगठित अध्यापन विगत 70 वर्षों से हो रहा है। आप विद्यार्थियों से बातें कीजिये तो कुछ तो रसायन विज्ञान से डरते हैं, कुछ इसे घोटने वाली विद्या बताते हैं और जो गणित में तेज़ हैं वे कहते हैं कि यह बुद्धुओं को रास आने वाला विषय है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से आम जनता परमाणु बम बनाने के लिए रसायन विज्ञान को दोषी ठहराती रही है और हमारे राजनीतिज्ञ वर्तमान प्रदूषण के लिए रसायनज्ञों को ज़िम्मेदार बतलाते हैं। ऐसी ही विचारधाराएँ सारे विश्व में रसायन विज्ञान के प्रति व्याप्त हैं क्योंकि आज से 8 वर्ष पूर्व 'केमिस्ट्री इन ग्रेटब्रिटेन' नामक पत्रिका में रसायन विज्ञान तथा रसायनज्ञों पर लगाये जाने वाले आक्षेपों का उल्लेख करते हुए उनका निरादर हुआ था। विज्ञान के पाठकों के लिए उनका पिष्टपेषण किया जा रहा है। आक्षेप हैं—

(1) **रसायन विज्ञान निरी संप्रयुक्त भौतिकी है**—वास्तव में यह आक्षेप यूरप में सर्वप्रथम **देकार्ते** ने 1646 ई० में लगाया था। उसके शब्द थे—'ये रसायनवेत्ता ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं जो सामान्य प्रचलन में नहीं होते। इस तरह वे उस बात को भी जानने का स्वाँग भरते हैं जिसे वे नहीं भी जानते होते।' वस्तुतः **गैलीलियो** ने जो खोजें कीं उसमें गणित को प्रधानता दी गई जिसके कारण भौतिकी को सर्वोपरि स्थान दिया जाने लगा और रसायन विज्ञान को हेय समझा जाता था। प्रसिद्ध दार्शनिक **कांट** के अनुसार रसायनशास्त्र विज्ञान नहीं अपितु 'नियमबद्ध कला' है। इसका परिणाम यह हुआ कि स्कूलों में रसायनशास्त्र का अध्यापन भौतिकी के शिक्षकों द्वारा यह मानकर प्रारम्भ हुआ कि इसके पढ़ाने के लिए विशेष योग्यता की आवश्यकता नहीं है। **लैवोजिये** ने अपने प्रयास से रसायन विज्ञान को इस जकड़न से मुक्त किया और फिर तो परमाणु सिद्धान्त तथा आवर्त सारणी के जन्म से रसायनज्ञों का वर्चस्व बढ़ गया। अब 'क्वांटम यांत्रिकी' के जन्म के साथ भौतिकों का रहा-सहा वर्चस्व जाता रहा है और वह स्वयंसिद्ध हो चुका है कि रसायन विज्ञान निरी संप्रयुक्त भौतिकी नहीं है।

(2) **गणित का फिसड्डी छात्र रसायन विज्ञान की शरण ग्रहण करता है**—वास्तव में ऐसा है नहीं। अन्य विवरणों की भाँति रसायन में गणित की आवश्यकता होती है। आज रसायन के छात्र कम्प्यूटरों का उपयोग करते हैं, विचित्र-विचित्र गणितीय समीकरणों का प्रयोग करते हैं—हां रसायन को सम्प्रयुक्त गणित नहीं बताया जा सकता। फिर भी यदि छात्रों से पूछा जाय तो वे गणित की दृष्टि से भौतिकी को सबसे जटिल विषय बतलाते हैं, उससे कम जटिल रसायन, तब जीव विज्ञान और तब मनोविज्ञान। किन्तु ध्यान से देखा जाय तो पता चलेगा कि समस्याओं की जटिलताएँ विपरीत क्रम में है। कोई भौतिकीविद् कितना ही दक्ष गणितज्ञ क्यों न हो वह प्रकृति की विवेचना करने में अपने को अक्षम पाता है जबकि जीव विज्ञानी अपने को सर्वाधिक सक्षम पाता है।

(3) **रसायनशास्त्र रटन्त विद्या है**—यह सच है कि रसायन में संकेतों और सूत्रों की भरमार है और यौगिकों की संख्या इतनी बड़ी है कि बिना रटे काम नहीं चलता

प्रोफेसर, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

किन्तु यह कोई वैध आक्षेप नहीं। हमारे प्रयोगात्मक विवरण भले ही डॉक्टरों के नुस्खों जैसे लगें किन्तु वे यथार्थ होते हैं। रसायनशास्त्र के नियम सुस्पष्ट हैं।

(4) **रसायनशास्त्र पाकशास्त्र से भी घटिया है**—यह सत्य है कि पहले बीकरों तथा फ्लास्कों का उपयोग रसायनशास्त्र में होता था किन्तु अब एक से एक जटिल संयंत्र काम में लाये जाने लगे हैं। रासायनिक क्रिया कुकर या बटलोई के भीतर दाल-चावल पकने जैसी पाचन-क्रिया नहीं रह गई है। फ्लास्क तथा परखनली के भीतर घटित होने वाली क्रियाएँ अत्यन्त नियन्त्रित होती हैं—उन्हें कोई भी दुहरा सकता है।

(5) **रसायन विज्ञान जीवन को समझने में सहायक नहीं होता** – वह विवाद पुराना है कि भौतिकी या रसायन शास्त्र के द्वारा प्रकृति को समझा नहीं जा सकता। किन्तु यह स्पष्ट हो चुका है कि भौतिकी तथा जीवविज्ञान के बीच का सेतु रसायन विज्ञान ही है। यदि विगत 40 वर्षों के 'नोबेल पुरस्कारों' पर दृष्टि फेरी जाय तो ज्ञात होगा कि फ़िज़ियोलॉजी तथा मेडिसिन में जितने भी पुरस्कार मिले हैं उनमें रसायन का अन्यतम योगदान रहा है—चाहे डी० एन० ए० की खोज हो या ऐडीनोसिन ट्राइ-फॉस्फेट की क्रिया। 1928 के बाद रसायनशास्त्र ने न जाने कितने कार्बनिक अणुओं का संश्लेषण किया है लेकिन यह सच है कि अभी न तो पत्ती का संश्लेषण हो सका है न आँख का।

(6) **सारे रसायन अप्राकृतिक होते हैं**—विदेशों में तथा हमारे देश में भी आम जनता प्राकृतिक पदार्थों को अधिक विश्वसनीय एवं मौलिक मानती है। उसे कृत्रिम या संश्लिष्ट खाद्य पदार्थ अप्राकृतिक लगते हैं। लेकिन यह वैज्ञानिक सत्य है कि प्राकृतिक तथा संश्लिष्ट यौगिकों में तनिक भी अन्तर नहीं पाया जाता—उनके गलनांक क्वथनांक एक जैसे होते हैं। यह कितना हास्यास्पद प्रस्ताव है कि डी० डी० टी० का प्रयोग न करके प्राकृतिक फेरो-मोनों का व्यवहार करके कीटों का दमन किया जाय। कुछ मि० ग्राम मात्रा प्राप्त करने के लिए करोड़ों कीटों को नष्ट करने पर फेरोमोन तैयार होंगे जबकि डी० डी० टी० या संश्लिष्ट हार्मोन उतने ही प्रभावकारी होंगे तथा उन्हें कम प्रयास से तैयार किया जा सकता है।

(7) **प्रदूषण तथा मृत्युओं के लिए रसायन विज्ञान उत्तरदायी है**—इस आक्षेप के समर्थन में औद्योगिक प्रदूषण से कैंसर उत्पत्ति की बात दोहराई जाती है किन्तु क्या कभी यह सोचा गया है कि इस प्रकार केवल 1-5% कैंसर उत्पन्न होता है जबकि भोजन के द्वारा 50%, सूर्य-स्नान से 5-8% तथा सिगरेट पीने से 80% कैंसर उत्पन्न होता है।

यह सच है कि वायु में व्याप्त रसायनों तथा भोजन में उपस्थित या ऊपर से मिलाये गये रसायनों से कैंसर फैलता है। लेकिन क्या बाल रँगने, लकड़ी जलाने, सिगरेट पीने या मांस खाने से कैंसर नहीं होता? तृतीय विश्व में सोयाबीन, मूँगफली, चावल आदि का भोजन करने वाले लोग कैंसर से इसलिए ग्रस्त होते हैं क्योंकि इन अन्नों के दूषित होने से इनमें **ऐस्परजिलस फ्लैवस** नामक फफूँदी उत्पन्न होती है जिसके कारण कैंसर उत्पन्न होता है। यह भी तथ्य है कि पिछले 50 वर्षों में लोगों की भोजन की आदतें बदली हैं। ज्यादा चिकनाई खाने से कोलेस्टेरॉल तथा वसा अम्लों की मात्रा बढ़ी है। भोजन में रेशेदार अंश घटा है। इससे वक्ष-कैंसर में वृद्धि हुई है। लेकिन रसायन विज्ञान स्पष्ट बतलाता है कि यदि कैंसर घटाना है तो स्वस्थ अच्छी गिरियाँ खाइये। यदि वायुमण्डल को शुद्ध रखना है तो लेड से मुक्त गैसोलीन का उपयोग वाहनों में कीजिये। अधिक खर्च कीजिये, प्रदूषण को अवसर ही न दीजिये। क्या आप तैयार हैं?

(8) **रसायनवेत्ताओं का काम बम बनाना है**—सम्भवतया यह बात सही है लेकिन आरोप गलत है। परमाणु बम के प्रयोग से जो नर-संहार हुआ उससे लोग सशंकित और आतंकित रहते हैं। वे रसानवेत्ताओं को कोसते अघाते नहीं। वे भूल जाते हैं कि रसायनवेत्ता भी उन्हीं की तरह के व्यक्ति हैं, नागरिक हैं। यह तो पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष है जो बमों का दुरुपयोग कराता है। क्यों नहीं समाज अपने को ईर्ष्या-दोष से मुक्त कर लेता!

(9) **यदि रसायन उद्योग न हो तो रसायनवेत्ता सड़ते रहें**—पता नहीं यह निन्दा है या प्रशंसा। क्योंकि

[शेष पृष्ठ 23 पर]

चार लघु पुस्तकें

अनिल कुमार शुक्ल

अंकुर प्रकाशन, हॉस्पिटल रोड, बीकानेर–33400 द्वारा प्रकाशित इन चार लघु पुस्तकों का उद्देश्य जनता तक विज्ञान एवं स्वास्थ्य संबंधी जानकारी सरल भाषा में पहुँचाना है। इसलिए 'स्वास्थ्य शिक्षा माला' व 'विज्ञान चर्चा श्रृंखला' में क्रमशः एक व तीन लघु पुस्तकें पिछले वर्ष प्रकाशित की गई हैं।

'स्वास्थ्य शिक्षा माला' की पुस्तक **'रोग परिचर्चा'** **डॉ० वाई० एस० भार्गव** व **श्रीमती सुषमा भार्गव** द्वारा सम्मिलित रूप से रचित है। इसमें तपेदिक, कुष्ठ, मलेरिया व नारू रोग के बारे में एकांकियों के माध्यम से जानकारी दी गई है। ये चारों एकांकी रोचक व जानकारीपूर्ण हैं। इन एकांकियों के माध्यम से अनेक ऐसी बातें बताई गई हैं, जिन्हें ध्यान में रखकर इन रोगों से न केवल बचा जा सकता है, बल्कि प्रभावित हो जाने पर समुचित चिकित्सा भी कराई जा सकती है। उदाहरण के लिए कुष्ठ रोग संबंधी एकांकी में धार्मिक अंधविश्वासों की निरर्थकता को स्पष्ट करने के साथ-साथ उसकी पहचान व मुफ्त चिकित्सा सुविधाओं की चर्चा है तो मलेरिया संबंधी एकांकी में यह भ्रम तोड़ा गया है कि मच्छरों की मृत्यु डी० डी० टी० की गंध से होती है। नारू रोग पर लिखित एकांकी में विभिन्न ग्रामीण जल स्रोतों की सफ़ाई के महत्व को उजागर करते हुए रोग फैलने के विभिन्न चरणों को स्पष्ट किया गया है। इसी प्रकार तपेदिक संबंधी एकांकी भी अत्यंत शिक्षाप्रद बन पड़ है। अनेक चित्रों से सुसज्जित 40 पृष्ठों की इस पठनीय व उपयोगी पुस्तक में कहीं-कहीं **अभिषाप** (पृ० 15), **स्त्राव** (पृ० 22) व **सिलाईड** (पृ० 25) जैसे अशुद्ध शब्द खटकते हैं। पर इससे भी खटकने वाली बात है पुस्तक का मूल्य दस रुपये—जो कुछ ज्यादा ही व्यवसायिक जान पड़ता है।

तीन अन्य पुस्तकें 'विज्ञान चर्चा श्रृंखला' के अंतर्गत ख्यातिलब्ध लेखक **डॉ० श्याम सुन्दर पुरोहित** द्वारा रचित हैं। **'फूलों से परिचय'**, **'वायु प्रदूषण'** तथा **'ऊर्जा संकट और विकल्प'** इन तीनों ही पुस्तकों में से प्रत्येक का मूल्य बारह रुपये (अजिल्द) है। क्रमशः 32, 43 व 36 पृष्ठों की ये लघु पुस्तकें लोकोपयोगी विषयों पर रचित हैं, पर विषयों की व्यापकता को देखते हुए पुस्तकों का कलेवर, अतएव सामग्री भी, अत्यल्प है।

फूलों से परिचय पुस्तक की विषयवस्तु तीन भागों में विभक्त है—फूलों से परिचय, कुछ विशिष्ट प्रकार के उद्यान के फूल, फूलों को अधिक समय तक ताजा रखना। पहले भाग में फूलदार पौधों के वर्गीकरण व उनके विभिन्न अंगों का विभाजन दिया गया है। दूसरे भाग में यों तो 25 प्रकार के फूलों का वर्णन है, पर गुलाब, गुलदाउदी व डहेलिया के अलावा शेष फूलों के बारे में मात्र कुछ परिचयात्मक पंक्तियाँ लिखकर ही वर्णन पूरा कर दिया गया है। यहाँ तक की सूरजमुखी जैसे सुन्दर व लाभप्रद व्यवसायिक पुष्प के बारे में भी कोई महत्वपूर्ण जानकारी नहीं दी गई है। चित्र भी कुछ ही फूलों के दिए गये हैं। पुस्तक का तीसरा भाग संक्षिप्त होते हुए भी उपयोगी जानकारी देता है। कुल मिलाकर इस पुस्तक से 'विज्ञान चर्चा श्रृंखला, का उद्देश्य पूरा हुआ नहीं माना जा सकता। बेहतर होता यदि लेखक (और प्रकाशक) ने अधिकाधिक फूलों के नामों का समावेश कर लेने का लोभ संवरण कर कुछ ही फूलों के बारे में विस्तृत जानकारी दी होती—जिससे सामान्य जनता अपने उद्यान में उन फूलों को लगाने के लिए अपेक्षित ज्ञान एक ही जगह पा जाती।

'वायु प्रदूषण' नामक पुस्तक 12 शीर्षकों में विभाजित है और वायुप्रदूषण संबंधी प्रायः हर प्रदूषक के बारे में पर्याप्त जानकारी देती है। कार्बन डाइ ऑक्साइड, कार्बन मोनो ऑक्साइड, सल्फर डाइ ऑक्साइड व नाइट्रोजन ऑक्साइड के साथ तेजाबी (यानी अम्ल) वर्षा व ऑक्सीजन संकट की भी चर्चा है। ताजमहल पर वायु प्रदूषण के प्रभाव संबंधी शीर्षक के मात्र पहले पैराग्राफ में ही इसकी चर्चा है। अगले डेढ़ पृष्ठों में शीर्षक से

[शेष पृष्ठ 23 पर]

विज्ञान समाचार

संकलन : कु० अर्पिता

(1) डल झील मृत्यु की कगार पर

विश्व की सुन्दरतम झीलों में से एक, कश्मीर की डल झील, जो सदियों से विदेशी पर्यटकों का आकर्षण केन्द्र रही है, 40 वर्ग किलोमीटर से सिमट कर मात्र 16 वर्ग किलोमीटर रह गयी है। झील लगातार प्रदूषित होती जा रही है। प्रदूषण का मुख्य कारण झील में पर्यटकों द्वारा कूड़ा-कचरा डाला जाना है। इसके अतिरिक्त खर-पतवार, जलकुम्भी भी बढ़ती जा रही है। इससे कश्मीर का पारिस्थितिक संतुलन भी बिगड़ गया है। कभी 'पृथ्वी का स्वर्ग' कहा जाने वाला कश्मीर आज पूरी तरह पर्यावरण प्रदूषण की चपेट में आ गया है। एक ताज़ी चेतावनी के अनुसार यदि झील के बढ़ते प्रदूषण पर नियंत्रण न रखा गया तो अगले 40 वर्षों में डल झील एकदम सूख जायेगी।

(2) 'चिपको आन्दोलन' पर शोध

जंगलों के विनाश से होने वाली क्षति से आज सभी परिचित हैं। पिछले दिनों टेलीविज़न पर दिए गये एक साक्षात्कार में 'चिपको आन्दोलन' के प्राण **श्री सुन्दर लाल बहुगुणा** ने बताया कि 1981 के 'भारतीय विज्ञान कांग्रेस' ने श्री बहुगुणा को निमंत्रित किया था और उन्हें सुनने के बाद 'चिपको आन्दोलन' को वैज्ञानिक मान्यता दे दी थी। श्री बहुगुणा ने यह भी बताया कि अब तो 'चिपको आन्दोलन' पर एक दर्जन शोधार्थियों को पी-एच० डी० डिग्री मिल चुकी है। बॉन विश्वविद्यालय (जर्मनी) से भी एक व्यक्ति ने पी-एच० डी० की है।

बहुगुणा जी के अनुसार लकड़ी जंगल की मृत पैदावार है। जीवित पैदावार फल-फूल, ऑक्सीजन इत्यादि हैं। इसलिए वृक्ष के मरने पर ही लकड़ी लेनी चाहिए।

(3) मीथैन गैस से आसन्न भूकम्प की सूचना

सोवियत नाभिकीय भूभौतिकी और भूरसायन संस्थान के वैज्ञानिकों ने सिद्ध कर दिया है किकिसी विमान से वायुमंडल में मीथेन गैस के अनुपात का पता लगाकर आने वाले भूकम्प की पूर्व सूचना प्राप्त की जा सकती है।

यही नहीं, मीथैन गैस की उपस्थिति से खनिज द्रव्यों की खोज में भी काफी मदद ली जा सकती है। वैज्ञानिकों का कहना है कि खनिज द्रव्यों, विशेष रूप से तेल-बहुल क्षेत्रों के ऊपर वायुमंडल में मीथैन गैस की मात्रा अधिक होती है। इस प्रकार यह खनिज द्रव्यों की उपस्थिति की सूचना देती है।

(4) ईंधन को जलाने की नई विधि

मास्को के 'ऊर्जा अनुसंधान संस्थान' के वैज्ञानिकों ने कारखानों को चलाने के लिए ईंधन को जलाने की एक नई विधि का विकास किया है, जिससे गैस और कोयले की खपत के कम होने के साथ ही विभिन्न प्रकार के प्रदूषणकारी तत्वों के प्रसार में भी उल्लेखनीय कमी हो जाती है। सोवियत विशेषज्ञों ने इस विधि को 'एयरो-फाउंटेन' का नाम दिया है। इसमें वास्तव में भट्टी में ईंधन को दो बार जलाने की व्यवस्था की गई। प्रथमतः भट्ठी में उस ईंधन को डाला जाता है जो पहले से कुछ जल चुका होता है। यहाँ जब कोयला जलता है तो पहले उसके वाष्पशील घटक अलग हो जाते हैं तथा राख और कोयले का गरम मिश्रण, जिसका तापमान 600 सेंटीग्रेड होता है, 'एयरोफाउंटेन' भट्ठी में चला जाता है। इसके जलने पर वायुमंडल में दूषित तत्व जैसे सल्फर-ऑक्साइड अधिक नहीं फैल पाते हैं।

(5) ज्वालामुखी से जीवन की उत्पत्ति

सोवियत संघ की विज्ञान अकादमी के जैव-रसायन विज्ञान संस्थान के वैज्ञानिकों ने एक व्यावहारिक प्रयोग-कार्य के जरिये यह सिद्ध किया है कि जीवन की उत्पत्ति ज्वालामुखी पर्वतों के कारण हुई है। उन्होंने राख और ज्वालामुखी के मुख से प्राप्त पदार्थों को प्रयोगशाला में

जगत् तारन गर्ल्स इण्टर कॉलेज, इलाहाबाद—211002

500 डिग्री सेंटीग्रेड तक गरम किया और उन्हें एक रिएक्टर में डाल दिया। इसके बाद रिएक्टर में प्लैटिनम के इलेक्ट्रोडों के माध्यम से बिजली-धाराएँ प्रवाहित करके आकाश में चमकने वाली बिजली के समान विद्युत्-प्रवाह उत्पन्न किया गया, जिससे एमिनो-एसिडों की उत्पत्ति हुई। ये एमिनो-एसिड ही जीवन के मूलभूत तत्त्व हैं।

सोवियत वैज्ञानिकों का मत है कि करोड़ों वर्ष पूर्व इसी प्रक्रिया से ज्वालामुखियों में जीवन की उत्पत्ति हुई थी। ज्वालामुखी से निकलने वाली सामग्री ही वायुमंडल में पहुँच कर वर्षा के जल के माध्यम से पृथ्वी पर फैल गई और मिट्टी में उपलब्ध खनिज द्रव्यों के मेल से एमिनो-एसिड को संयुक्त करते हुए जैल-पॉलिमरों की उत्पत्ति का कारण बनी। यह प्रक्रिया अब भी जारी है।

(6) प्राचीनतम चट्टानें

सोवियत संघ के कारेलिया क्षेत्र की झील ओनेगा के किनारे 3.5 अरब वर्ष पुरानी चट्टानें मिली हैं, जो अब तक पृथ्वी पर प्राप्त हुई सबसे प्राचीन चट्टानें मानी जा सकती हैं।

भूविज्ञान संस्थान के प्रयोगशाला प्रधान **लेव्स्की** ने बताया है कि इन चट्टानों की वास्तविक आयु का पता लगाने के लिए रेडियो-सक्रिय आइसोटोप का उपयोग किया गया। इस विधि से ज्ञात होता है कि किसी चट्टान में सीसे का कितना अंश है। किसी चट्टान में जितना अधिक सीसा होता है, उसकी वास्तविक आयु उतनी ही अधिक होती है। इन चट्टानों के अध्ययन से पृथ्वी की उत्पत्ति और आदिमकालीन संरचना की जानकारी प्राप्त करने में मदद मिलेगी।

(7) भाप इंजनों के नमूनों का संग्रह

मास्को के एक निवासी बरीस निफोतोव को भाप इंजनों के नमूनों का शौक है। उनके संग्रह में सोवियत संघ, जर्मन जनवादी जनतंत्र, ब्रिटेन, इटली आदि अनेक देशों के भाप के रेल इंजनों के छोटे नमूने मौजूद हैं।

इसी प्रकार ताल्लिन के एक श्रमिक अलेक्सेइ रेइमान के पास भी अनेक देशों की रेलगाड़ियों और भाप इंजनों के नमूने मौजूद हैं। उन्होंने अनेक इंजनों के नमूने भी तैयार किये हैं। इनसे रेल परिवहन के इतिहास और विकास की रोचक जानकारी प्राप्त होती है।

(8) ककड़ों से कांटैक्ट लेंसों का निर्माण

सोवियत विज्ञान अकादमी की सुदूर-पूर्व शाखा के प्रशांत बायो-आर्गेनिक रसायन संस्थान के वैज्ञानिकों ने केंकड़ों के छिलके से प्राप्त द्रव्यों से आँख के कांटैक्ट लेंस बनाने की विधि का विकास किया है। ककड़े के छिलके में **चैटिन** और **चिटोसैन** नामक प्राकृतिक द्रव्य पाये जाते हैं। ककड़े के छिलके से अनेक प्रकार की अन्य उपयोगी वस्तुएँ भी तैयार की जाती हैं, जिनमें शल्यकर्म के लिए उपयोगी रसायन, सौंदर्य-प्रसाधन और कपड़ों के रंग प्रमुख हैं।

(9) उक्राइन के जीवाश्मविज्ञानियों की नई खोज

उक्राइन की विज्ञान अकादमी के जीवविज्ञान संस्थान के वैज्ञानिकों ने पश्चिमी उक्राइन की एक पत्थर खदान में अति प्राचीन स्तनपायी जीव **चालीथेरिडी** के दो दाँत प्राप्त किये हैं। इनमें से एक दाँत किसी बच्चे की मुट्ठी के बराबर बड़ा है। ये दाँत 1.10 करोड़ वर्ष तक पृथ्वी-गर्भ में दबे रहे। वैज्ञानिक परीक्षणों से इन दाँतों की आयु जाँची जा चुकी है। इन्हें अब तक प्राप्त अति प्राचीन जीवाश्मों में बहुत महत्वपूर्ण माना जा रहा है।

(10) टेस्ट-ट्यूब में मिर्च !

मास्को के सहकारिता संस्थान के एक प्रवक्ता **आर्तेमियेव** ने टेस्ट-ट्यूब में हरे रंग का एक तरल पदार्थ तैयार किया है जो स्वाद और गुण में काली मिर्च के समान है और जिसका उपयोग काली मिर्च के स्थान पर किया जा सकता है। इस द्रव का उपयोग अचार-चटनी वगैरह बनाने के लिए किया जा सकता है। सोवियत संघ को उष्ण-कटिबंध के देशों से मिर्च का आयात करना पड़ता है।

आर्तेमियेव ने पहले मिर्च का वैज्ञानिक विश्लेषण किया और ज्ञात किया कि मिर्च में 80 प्रकार के द्रव्य पाये जाते हैं, जो उसके स्वाद और गंध का निर्माण करते हैं। उनमें से मात्र आठ तत्त्वों की सहायता से ही उन्होंने कृत्रिम मिर्च का निर्माण करने में सफलता प्राप्त कर ली है।

□□

विज्ञान वक्तव्य

गंगा सफ़ाई अभियान : एक चुनौती

इन दिनों गंगा सफाई अभियान जोरों पर है। यद्यपि प्रतिदिन 800-900 मिलियन लीटर गंदा कूड़ा-कचरे वाला जल गंगा में प्रवाहित करने से पूर्व उपचारित किया जाता है, फिर भी इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि अकार्बनिक, धात्वीय और रासायनिक तथा कुछ अज्ञात औद्योगिक अपशिष्टों के कारण गंगातट पर रहने वाले लाखों-करोड़ों लोगों के स्वास्थ्य को नया ख़तरा पैदा हो गया है। इसका संकेत है मछलियों की संख्या में कमी। कुछ वर्ष पूर्व तक देश के मत्स्य बीज उत्पादन का 87.5 प्रतिशत गंगा नदी से ही प्राप्त हो जाता था।

इस समय देश में गंगा नदी के किनारे स्थित 14 विश्वविद्यालय विभिन्न प्रकार के 44 शोध अध्ययनों में रत हैं। प्रत्येक विश्वविद्यालय ने गंगा का कुछ भाग अध्ययन के लिए लिया है। इस प्रकार शोधार्थी इस पूरी नदी के जैवीय और भौतिक-रासायनिक अध्ययन में रत हैं और इसके स्वास्थ्य के सुधार के तरीके तलाश रहे हैं।

हिन्दू धर्म ग्रंथों और वैदिक साहित्य में अन्य नदियों से कहीं अधिक उल्लेख गंगा का मिलता है। गंगा जीवनदायिनी होने के साथ ही पतिततारिणी भी हैं। गंगा मात्र नदी नहीं, भारत की एकता की प्रतीक और जल की शुद्धता का मानक है। किन्तु आज गंगा की कैसी दुर्दशा हो रही है, यह किसी से छिपा नहीं है।

मार्च 1985 में गंगा पर शोध के लिए 2.8 करोड़ रुपये स्वीकृत किए गये थे, जिसमें से 2 करोड़ रुपये विभिन्न विश्वविद्यालयों को दिए गये थे। 44 प्रकार के शोध अध्ययनों में से 14 तरह के अध्ययन तो केवल काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा किए जा रहे हैं। 21 प्रकार के अध्ययनों की रिपोर्ट भी पिछले वर्ष तक प्राप्त हो चुकी है जिसकी समीक्षा एक उच्चस्तरीय वैज्ञानिक दल कर रहा है। ऐसी आशा है कि शेष 23 प्रकार के शोध अध्ययनों की रिपोर्ट भी इस वर्ष मार्च और जून माह के बीच आ जायेगी।

गंगा सफाई अभियान के तहत किया जा रहा शोध देश की अन्य प्रदूषित नदियों की सफाई में भी निश्चय ही सहायक सिद्ध होगा। पर्यावरण मंत्रालय विभिन्न विश्वविद्यालयों और अन्य शोध संस्थानों द्वारा किए गए कार्यों को एकत्र करने की अहम भूमिका निभा रहा है।

गंगा विकास प्राधिकरण से सम्बद्ध **श्री के० सी० शिवरामकृष्णन** के अनुसार 10 अपशिष्ट संशोधन संयंत्रों का नवीकरण हो रहा है और 25 नये संयंत्र बनाये जा रहे हैं। भारत के अधिकतर शहरों में 1990 तक इस प्रकार के संयंत्र स्थापित हो जायेंगे। पटना, ऋषिकेश और हरद्वार के तीन संयंत्रों का नवीकरण हो चुका है और वाराणसी, टीटागढ़ और बातपारा में 5 संयंत्र इस वर्ष के अंत तक लग जायेंगे। अपशिष्ट से जैव ऊर्जा का उत्पादन और उसे बिजली में परिवर्तित करने का कार्य हरद्वार, कानपुर, इलाहाबाद, वाराणसी, पटना और कलकत्ता में प्रारंभ किया जाने वाला है। साथ ही साथ बेहरामपुर, नवद्वीप, पनिहाटी और सेरामपुर (पश्चिमी बंगाल) में मत्स्यपालन को बढ़ावा देने वाली योजनायें भी चालू की जायेंगी।

सेन्ट्रल वाटर कमीशन; सेन्ट्रल बोर्ड फॉर प्रिवेंशन एण्ड कंट्रोल ऑव वाटर पल्यूशन; आई आई टी, बम्बई; नीरी (NEERI), कानपुर जैसी संस्थायें भी अपना सहयोग प्रदान कर रही हैं। प्रधान मंत्री के वैज्ञानिक सलाहकार **प्रो० एम० जी० के० मेनन** समन्वित अनुसंधान परियोजना के अध्यक्ष हैं। कुल मिलाकर तस्वीर बहुत ही अच्छी उभरती है और ऐसा लगता है कि इक्कीसवीं सदी के आने तक गंगा स्वच्छ हो जायेंगी, किन्तु वास्तविकता कुछ भिन्न है। कूड़ा-कचरा जो निकालने के बाद खेतों में खाद के रूप में प्रयुक्त हो रहा है, उससे कानपुर, इलाहाबाद और वाराणसी में उगाई जाने वाली सब्जियाँ दूषित हो रही हैं। हमारे स्वास्थ्य के लिए यह नया ख़तरा है। साथ ही दूसरे जानवरों और आस-पास उगने वाले पेड़-पौधों पर भी इसका कुप्रभाव हो सकता है। भारतीय

[शेष पृष्ठ 23 पर]

भौतिकी और खगोलशास्त्र की चुनौतीपूर्ण उभयनिष्ठ सीमा

डॉ० जयंत विष्णु नार्लिकर

[प्रसिद्ध भौतिकीविद् और वैज्ञानिक प्रो० जयंत विष्णु नार्लिकर का यह लेख 'फ़िज़िक्स एजूकेशन' नामक पत्रिका की जिल्द 3, अंक 4, 1987 से ए० पी० एन० डिग्री कॉलेज, बस्ती के शिक्षा विभाग के प्रवक्ता श्री राघवेन्द्र कृष्ण प्रताप द्वारा अनूदित है। हम इस लेख के लेखक प्रो० नार्लिकर, 'फ़िज़िक्स एजूकेशन' के सम्पादक और प्रकाशक मैकमिलन इण्डिया लि०—सभी के प्रति आभार प्रकट करते हैं। —सम्पादक]

खगोलशास्त्र भौतिकी की प्राचीनतम शाखा होने का उचित दावा कर सकता है। दार्शनिक अनुमानों को छोड़ दिया जाये तो ब्रह्माण्ड का ज्ञान प्राप्त करने की क्रमबद्ध पद्धति दो हज़ार वर्षों से पुरानी यूनानी सभ्यता से संबंधित की जा सकती है। °

हिप्पारकस और **टॉलेमी** के निरीक्षण-परिणाम और **टॉलेमी** की कृति 'द आल्माजेस्ट' ग्रीस निवासियों के तारों और ग्रहों के अध्ययन संबंधी जटिल स्तर का विवरण प्रदान करते हैं। यद्यपि इन अध्ययनों का अधिकांश भाग 'एक स्थिर पृथ्वी और गतिशील ब्रह्माण्ड' की त्रुटिपूर्ण धारणा पर आधारित है, परंतु उपयोग की गयी ज्यामितीय निर्मितियाँ और प्रतिमानों के आधार पर निरीक्षणों की व्याख्या का सैद्धांतिक उपागम दोनों ही आधुनिक वैज्ञानिक अध्ययनों को निर्देशित करने वाली भावना ही प्रदर्शित करते हैं।

यूनानियों द्वारा प्रस्तुत भूकेंद्रित-अधिचक्र सिद्धांत की अस्वीकृति के पश्चात् भी, सत्रहवीं शताब्दी तक खगोलशास्त्र वैज्ञानिक चिंतन के परिदृश्य को प्रभावित करता रहा। भौतिकी की चार आधारभूत अंतर्क्रियाओं में से प्रथम अपनी खोज के लिये खगोलशास्त्र की ऋणी है। पेड़ से गिरते हुए सेब ने **न्यूटन** को गुरुत्वाकर्षण के व्युत्क्रम वर्ग नियम तक नहीं पहुँचाया (इस किंवदंती की पुष्टि नहीं की जा सकी है) वरन् यह नियम खगोलीय-निरीक्षणों द्वारा प्राप्त हुआ था। **केप्लर** के ग्रहों की गति के सिद्धांतों से प्रारंभ करके **हेली** द्वारा 'हेली-धूमकेतु' के 1758 में पुनरावलोकन की भविष्यवाणी, **लाप्लास** के सौरमण्डलीय अध्ययन 'मेकानीक सेलेस्ते' जो **नैपोलियन** के शासनकाल में प्रकाशित हुआ, तक हम यह पाते हैं कि किस प्रकार सूक्ष्म-खगोलीय संप्रेषणों ने सार्वभौमिक गुरुत्वाकर्षण सिद्धांत में विश्वास निर्मित किया था। वास्तव में यह न्यूटनी व्युत्क्रम वर्ग नियम की सफलता थी जिसके कारण **कूलम्ब** ने वैद्युत्स्थितिक आकर्षण और विकर्षण के लिये समान नियम की अभिधारणा स्वीकार की।

परंतु अठारहवीं, उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में विज्ञान की अन्य शाखाओं की प्रगति खगोलशास्त्र की तुलना में तीव्रतर रही। खगोलशास्त्र के 'दूरस्थ आकाशीय पिंडों के निरीक्षण' के स्थान पर परीक्षणकर्त्ता से निकटता, नियंत्रण, शुद्धता और बार-बार दुहराये जाने की योग्यता के लाभों के कारण 'प्रयोगशाला-परीक्षण' अधिक महत्वपूर्ण हो गए। वैज्ञानिक रुचि की दृष्टि से खगोलशास्त्रीय सिद्धांत अधिक अनुमानाधारित स्वीकार किये जाने लगे और विज्ञान परिवार के शीर्षस्थ सदस्य के स्थान पर खगोलशास्त्र एक निर्धन संबंधी मात्र रह गया।

आज की स्थिति उतनी दयनीय नहीं है। प्रस्तुत लेख में हम भौतिकी और खगोलशास्त्र की सीमा पर होने वाले सैद्धांतिक उद्वेलनों, खगोलशास्त्र में निरीक्षण हेतु आधुनिकतम तकनीक का उपयोग और आधारभूत भौतिकी की अवधारणाओं की वैधता की जाँच के लिये खगोलशास्त्रीय संकेतों के उपयोग पर विचार करेंगे।

गुरुत्वाकर्षण नियम (The Law of Gravitation)

ऐतिहासिक क्रम में गुरुत्वाकर्षण नियम भौतिकी की

° यह बहुधा कहा जाता है कि हमारे वैदिक पूर्व पुरुषों का उच्च-विज्ञान से परिचय था। मैं इस दावे को स्वीकार करने को प्रस्तुत हूँ यदि वैदिक साहित्य से किसी वैज्ञानिक प्रयोग/निरीक्षण का स्पष्ट विवरण उपलब्ध कराया जा सके। अभी तक मुझे ऐसा कोई विवरण उपलब्ध नहीं हो सका है —ज० वि० ना०

सर्वप्रथम ज्ञात अंतर्क्रिया है। यह संकेत दिया जा चुका है कि किस प्रकार हमारे सौरमण्डल की अरबों-खरबों किलोमीटर की अंतरिक्षीय दूरियों के लिये इस अंतर्क्रिया की वैधता स्थापित करने में खगोलशास्त्र ने महत्वपूर्ण भूमिका ग्रहण की थी। उन्नीसवीं शताब्दी में इंगलैण्ड में **जे० सी० ऐडम्स** और फ्रांस में **यू० जे० जे० लवेरियर** दोनों ने ही यूरेनस के समीप स्थित एक अज्ञात ग्रह की स्थिति और अस्तित्व का निगमन करने के लिये क्षोभ-तकनीक (परटरबेशन तकनीक) का प्रयोग किया था। इसकी पुष्टि के पश्चात् इसे नेपच्यून की संज्ञा दी गयी थी।

नेपच्यून की खोज यूरेनस की गति की निरीक्षित अनियमितता की व्याख्या के प्रयत्न द्वारा निर्देशित हुई थी। क्या यह अनियमितता अथवा विसंगति न्यूटनी गुरुत्वाकर्षण की अप्रभावकारिता का परिणाम थी ? न्यूटनी सिद्धांत में अपनी आस्था प्रदर्शित करते हुए **ऐडम्स और लवेरियर** दोनों ने स्वतंत्र रूप से यह तर्क उपस्थित किया कि यह निरीक्षित विसंगति एक अज्ञात ग्रह की उपस्थिति के कारण है—और इस प्रकार 1845 में नेपच्यून की खोज हो सकी।

परंतु यही उपागम दो दशाब्दियों पश्चात् असफल रहा जब **लवेरियर** ने बुध-कक्षा के उपसौर के निरक्षित अग्रगमन की व्याख्या के लिये वल्कन नामक ग्रह की उपस्थिति की कल्पना की। वल्कन का अनस्तित्व ही पुष्ट हुआ। आखिर इस आभासी अनियमितता का स्रोत कहाँ था ? इस अनियमितता के सापेक्ष न्यूटनी गुरुत्वाकर्षण की स्थिति क्या थी ? इसके द्वारा प्रति शताब्दी की नगण्य 43 सेकेण्ड चाप के अग्रगमन दर की व्याख्या संभव नहीं थी।

सिद्धांत और निरीक्षण के मध्य की यह विसंगति 1916 में **आइंस्टीन** द्वारा प्रस्तुत नवीन गुरुत्व सिद्धांत—'सामान्य सापेक्षता सिद्धांत'—द्वारा व्याख्यायित हो सकी। यद्यपि सामान्य सापेक्षता सिद्धांत की आधारभूत मान्यताएँ न्यूटनी-अवधारणाओं के सर्वथा विपरीत थीं, इसके परिणाम निर्बल गुरुत्वीय क्षेत्र की परिधि में न्यूटनी सिद्धांत के समान ही प्राप्त हुए। दोनों सिद्धांतों के बीच के अल्प-अंतर ने ही निरीक्षित विसंगति को स्पष्ट किया।

इस सैद्धांतिक अंतर को निम्न रूप में समझा जा सकता है। प्रति इकाई मात्रा को आकर्षित करने वाले व्युत्क्रम वर्ग बल

$$F_N = \frac{GM_0}{r^2}$$

जिससे न्यूटनी सिद्धांतानुसार सूर्य (मात्रा M_0) बुध को r दूरी पर आकर्षित करता है, के अतिरिक्त सामान्य सापेक्षता (GR) एक अतिरिक्त आकर्षण की भविष्यवाणी करता है

$$F_{GR} - F_N \propto 1/r^4$$

जो दूरी के चतुर्थ घात के व्युत्क्रम पर निर्भर है। यह अतिरिक्त आकर्षण बल अन्य ग्रहों के लिये अत्यंत अल्प और नगण्य है परंतु बुध और अन्य सौरमण्डलीय आंतरिक ग्रहों के लिये विशेषकर बुध के लिये इसका सीमांत प्रभाव दिखाई देता है। बुध की कक्षा एक शताब्दी में 43 चाप सेकेण्डों की गति से अग्रमित होती है—यही बुध की कक्षा के उपसौर के निरीक्षित अग्रगमन की व्याख्या के लिये आवश्यक गति है।

वर्तमान शती में अनेक प्रयोगों ने सामान्य सापेक्षता (GR) और न्यूटनी गुरुत्वाकर्षण के मध्यगत अंतरों की वास्तविकता की पुष्टि की है—और प्रत्येक स्थिति में परिणाम सामान्य सापेक्षता सिद्धांत के पक्ष में रहे हैं। सभी परीक्षण खगोल-क्षेत्र के ही रहे हैं। अंतर के परिमाण को व्यक्त करने वाला विशिष्ट प्राचल निम्न है—

$$\propto = \frac{GM}{C^2 R}$$

जहाँ R गुरुत्वीय पिंड (मात्रा M) से दूरी व्यक्त करता है। α का मान पिंड की सतह पर महत्तम होगा अत: यदि हम पिंड का अर्द्धव्यास R और औसत घनत्व P मान लें, तब

$$\propto = \frac{4}{3} \pi R^3 \rho . \frac{G}{CR}$$
$$= \frac{4\pi G}{3C^2} \rho . R^2$$

अंतरिक्षीय पिंडों का घनत्व 20 ग्रा० प्रति घन

सें॰ मी॰ से अधिक नहीं होता, R को मीटरों में मापन करने पर—

$$\propto \simeq 5 \times 10^{-24} R^2$$

इस प्रकार खगोलीय प्रयोगों में ∝ का संभावित मान 10^{-25} के निकट होता है जबकि सूर्य की सतह पर यह लगभग 2×10^{-6} होता है। अन्य पिंडों की तुलना में खगोलीय विशाल पिंडों के द्वारा ही इन लघु गुरुत्वीय प्रभावों की व्याख्या की जा सकती है।

अतएव यह कोई आश्चर्य नहीं है कि श्याम विवर्त (ब्लैक होल) की अवधारणा ($\propto = \frac{1}{2}$) और इसके विशिष्ट गुणों की संकल्पनाएँ तारा-भौतिक संदर्भों में ही उत्पन्न हो सकीं। अपने वातावरण में पदार्थ के शक्तिशाली आकर्षण केन्द्र की भूमिका द्वारा श्याम विवर्त एक महान ऊर्जा भंडार की संभावना से युक्त होता है। एक अतिरिक्त लाभ यह भी है कि यह ऊर्जा अपेक्षाकृत छोटे अंतरिक्षीय आयतन परिमाण में केंद्रित होती है। जहाँ कहीं भी खगोलशास्त्री ऊर्जा के केंद्रित पुंज निरीक्षित करता है वह श्याम विवर्त को ऊर्जा-यंत्र के रूप में प्रयोग करने को प्रलोभित हो जाता है। इसी कारण तारा-युग्मों के त्वरित परिवर्तनशील क्ष-किरण स्रोत, नीहारिकाओं के सक्रिय केन्द्रक और शक्तिशाली तथा अति-सघन अर्द्ध-ताराकृतियाँ आज अपनी ऊर्जा श्याम-विवर्तों से प्राप्त करती हुयी स्वीकार की जा रही हैं। इस प्रकार जहाँ तक गुरुत्व-बल का संबंध है, खगोलशास्त्र ने भौतिकी के ज्ञान-भंडार को व्यापक रूप में समृद्ध किया है।

विद्युत्-चुम्बकीय सिद्धांत
(Electromagnetic Theory)

चार आधारभूत अंतर्क्रियाओं में से दूसरी विद्युत्-चुम्बकीय अंतर्क्रिया ने अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में खगोलशास्त्र के मूल्य पर प्रयोगशाला-भौतिकी को ऊँचा उठाया था। तब भी, वर्तमान शताब्दी में तारा-भौतिकविदों ने विद्यु्त्-चुम्बिकीय विकिरणों, इनको उत्पन्न करने वाले रचना-तन्त्रों और अलग-अलग तरंग दैर्ध्यों पर इनको शोषित करने वाले भिन्न-भिन्न पदार्थों के प्रयोगशाला-अध्ययनों से अत्यधिक ज्ञान प्राप्त किया है।

तारों से आने वाले प्रकाश के वर्णक्रम-विश्लेषण द्वारा इन तारों की सतह के तापक्रमों और उनके बाह्य-आवरण की तात्विक प्रकृति संबंधी महत्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त हुयीं। तारों के मध्यवर्ती प्रकाश की लालिमा संबंधी अध्ययनों ने तारों के मध्य की अंतरिक्षीय धूल की प्रकृति का रहस्य स्पष्ट किया। सिद्धांत-कर्मियों ने ब्रह्माण्डीय क्ष-किरणों और रेडियो-स्रोतों के निरीक्षित गुणों की व्याख्या और अध्ययन के लिये सिन्क्रोट्रॉन उत्सर्जन और व्युत्क्रमीय क्रॉम्पटन विकीर्णन की प्रक्रियाओं का सफलतापूर्वक उपयोग किया है।

विद्युत्-चुम्बकीय विकिरण के खगोलशास्त्रीय समस्याओं में उपयोग का तात्पर्य यह नहीं है कि खगोल-वैज्ञानिकों ने आधारभूत भौतिकी के उपयोग से कितना लाभ उठाया है। यह लाभ विपरीत दिशा में भी संभव हुआ है क्योंकि खगोलीय प्रणालियों के वातावरण प्रयोगशाला के कृत्रिम वातावरण से बहुत अलग होते हैं। उपरोक्त उदाहरण यह प्रदर्शित करने में सक्षम हैं कि विद्युत्-चुम्बकीय सिद्धांत प्रयोगशाला की अपेक्षा व्यापक परिस्थितियों में भी वैध हैं। इस प्रकार भौतिकशास्त्री खगोलशास्त्र के माध्यम से भौतिकशास्त्र के नियमों की सार्वभौमिकता के प्रति विश्वास अर्जित करता है।

सबल और निर्बल अंतर्क्रियाएँ (Strong and Weak Interactions)

गुरुत्व और विद्युत्-चुम्बकीय सिद्धांत को खगोलशास्त्र से संबद्ध करना इस कारण संभव है क्योंकि वे अधिक परास की अंतर्क्रियाएँ हैं, परंतु लघु-परास की सबल और निर्बल अंतर्क्रियाएँ भी खगोलीय पिण्डों की प्रकृति की समझ के लिये महत्वपूर्ण हैं।

इन सिद्धांतों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपयोग तारा-संरचनाओं और विकास की समझ है। तारे क्यों प्रकाशित होते हैं? इसका उत्तर नाभिकीय ऊर्जा सिद्धांत—संगलन ऊर्जा से प्राप्त होता है। 1920 में खगोलशास्त्री एडिंग्टन ने जे॰ पेरिन के सुझाव पर आधारित विचार प्रस्तुत किया कि हाइड्रोजन नाभिकों के हीलियम नाभिक में संगलन

$$4H^1 \rightarrow He^4 + \text{ऊर्जा} + \text{लेप्टॉन}$$
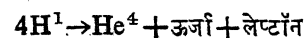
द्वारा इतनी ऊर्जा उत्सर्जित होती है जो सूर्य को अरबों वर्षों तक प्रकाशमान रखने में सक्षम है। **एडिंग्टन** ने तारक-केन्द्रों का तापक्रम 1 से 4 करोड़ °K तक अनुमानित किया था। इन तापक्रमों पर **एडिंग्टन** के अनुसार संगलन संभव था।

यद्यपि तत्कालीन नाभिक विज्ञानियों ने इस प्रक्रिया को असंभव माना था परंतु एक दशक पश्चात् ही **एडिंग्टन** की परिकल्पना को समर्थन प्राप्त हो गया। **हैन्स बेथ** ने सूर्य के एक सैद्धांतिक-प्रतिमान की सफल रचना की जिसमें ऊर्जा का प्रारंभिक स्रोत हाइड्रोजन का हीलियम में नाभिक संगलन था।

1950 के दशक में एक अन्य तारा-भौतिक विज्ञानी **फ्रेड हॉयल** ने निम्न नाभिकीय प्रतिक्रिया की भविष्यवाणी की—

$$3\propto \rightarrow C^{+12} \rightarrow C^{12} + \text{ऊर्जा}$$
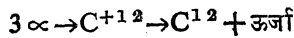
इस प्रतिक्रिया में तीन ∝-कण (हीलियम नाभिक) एक अनुनादी प्रतिक्रिया में कार्बन नाभिक की उत्तेजित अवस्था (C^{+12}) उत्पन्न करने के लिये संगलित किये जाते हैं। यह उत्तेजित कार्बन नाभिक C^{+12} ऊर्जा उत्पन्न करने के लिये अपने को साधारण कार्बन (C^{12}) में क्षयित कर लेता है। **हॉयल** का अनुमान था कि यदि अपने हाईड्रोजन ईंधन की समाप्ति के पश्चात् भी तारे प्रकाशमान होते रहते हैं तो इस प्रकार की प्रक्रिया को अवश्य घटित होना चाहिये। इस बार भी नाभिक-विज्ञानियों ने इस अनुमान के प्रति शंका प्रदर्शित की परंतु उन्हें शीघ्र ही ज्ञात हो गया कि ऐसी प्रतिक्रिया भी वास्तव में घटती ही है।

उपरोक्त उदाहरण तारा-भौतिक-विज्ञानियों के परमाणु नाभिक को समझने की प्रक्रिया में विशिष्ट योगदान को स्पष्ट करते हैं। श्वेत-वामन तारे, न्यूट्रॉन तारे आदि ऐसे तारे हैं जिनमें पदार्थ का घनत्व $10^6 - 10^{15}$ ग्राम प्रति घन सेमी० तक है। इतने संघनित रूप में पदार्थ किस प्रकार व्यवहार करता है? इसका उत्तर केवल खगोल-शास्त्रीय अध्ययन ही दे सकते हैं।

भौतिकी के एकीकरण की दिशा में
(Towards Unification of Physics)

भौतिकी के अनुसंधान और शोध का सर्वाधिक लोकप्रिय क्षेत्र आज कल मूलभूत भौतिक अंतर्क्रियाओं का एकीकरण है। **अब्दुस्सलाम** और **स्टीफेन वीनबर्ग** द्वारा विद्युत-चुम्बकीय एवं निर्बल अंतर्क्रियाओं के एकीकरण के लिये गाज सिद्धांतों का सफलतापूर्वक उपयोग किये जाने के पश्चात् इस उपागम का प्रयोग सबल अंतर्क्रियाओं के लिये भी किया जा रहा है। यह आशा की जाती है कि सभी चारों प्रकार की अंतर्क्रियाएँ, एक मूल अंतर्क्रिया में एकीकृत की जा सकेंगी।

सलाम-वीनबर्ग परिकल्पना के लिये 100 GeV ऊर्जा स्तर के कणों की अंतर्क्रियाओं का अध्ययन आवश्यक था। CERN का त्वरित्र ऐसे उच्च ऊर्जा स्तर के कण प्रस्तुत कर सकता था। अब कण ऊर्जा के इस स्तर को दूना और तिगुना करने के प्रयास चल रहे हैं। संभव है भविष्य में उन्नत तकनीक इन कणों के ऊर्जा स्तर में और वृद्धि कर सके।

परंतु ऊर्जा के इन उच्च स्तरों पर भी एकीकरण सिद्धांतों (Grand Unifictaion Theories, GUTs) की वैधता के परीक्षण संभव नहीं हैं। इसके लिये और अधिक ऊर्जा-स्तरों की आवश्यकता होगी। एकीकरण सिद्धांतों की पुष्टि प्रक्रिया के लिये 10^{15} GeV ऊर्जा स्तर के कणों की आवश्यकता होगी। यह ऊर्जा स्तर **सलाम-वीन बर्ग** प्रयोगों के लिये आवश्यक ऊर्जा स्तर से बहुत अधिक है। तब एकीकरण सिद्धांतों (GUTs) का सत्यापन किस प्रकार किया जाए? प्रोट्रॉन क्षय प्रयोग GUTs के परिणाम हैं परंतु उनकी पूर्ण गतिज संभावनाएँ प्रयोग सीमा में नहीं आ पातीं। एक प्रयोगशाला-सत्यापन की कल्पना की जा रही है।

यहाँ भी खगोलशास्त्र ही संकेत प्रदान करता है। ब्रह्माण्ड का प्रचलित प्रतिमान इसके प्रारंभ के संदर्भ में हमें तथा कथित महाविस्फोट ('बिग बैंग') की ओर निर्देशित करता हैं। यह विश्वास किया जाता है कि इस महाविस्फोट के करण ब्रह्माण्ड 15 अरब वर्ष पूर्व अस्तित्व में आया। यदि हम अपनी ब्रह्माण्डीय घड़ी को उसी महाविस्फोट के क्षण से चलाना प्रारंभ करे तो ब्रह्माण्ड को S आकार प्राप्त करने में लगने वाला समय (t) निम्न संबंध से प्राप्त होता है।

$$S \propto t^{\frac{1}{2}}$$

यदि ब्रह्माण्ड का तापक्रम S आकार की स्थिति में T हो, तो

$$T \propto t^{-\frac{1}{2}}$$

इस प्रकार t=o पर तापक्रम अनंत था। अगले क्षणों में यह तापक्रम कम होता गया।

तापक्रम कणों की औसत ऊर्जा का मापक है। अत: महाविस्फोट से अब तक यह ऊर्जा कम होती हुयी आज के स्तर पर पहुँची है।

अत: यह स्पष्ट है कि महाविस्फोट के पश्चात् किसी समय कणों की ऊर्जाएँ 10^{15} GeV के उच्चस्तर पर रही होंगी। गणना के आधार पर यह समय महाविस्फोट के 10^{-36} सेकेण्ड पश्चात् आया होगा जब एकीकरण सिद्धांत कार्यशील रहे होंगे।

सत्य तो यह है कि ब्रह्माण्डीय इतिहास के उन क्षणों को अब पुन: हस्तगत करना संभव नहीं है। परंतु हम परिणामों का परीक्षण कर सकते हैं और यदि एकीकरण सिद्धांतों ने ब्रह्माण्डीय रचना में कोई चिन्ह छोड़े हों तो उनके परीक्षण से एकीकरण सिद्धांतों की सत्यता सिद्ध की जा सकती है।

ऐसे चिन्ह या अवशेष आज के ब्रह्माण्ड के दृश्य-अदृश्य पदार्थ की मात्रा, उसकी प्रकृति और प्राप्त विकिरणों में प्राप्त होने की संभावना है। एकीकरण सिद्धांत (GUTs) और श्रेष्ठ समरूपता सिद्धांत (Super Symmetry Theories, SUSy) अनेक हैं और उनकी भविष्यवाणियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं। दृश्य और अदृश्य पदार्थ उसके ब्रह्माण्डीय-वितरण, नीहारिकाओं की निर्माण-प्रक्रिया इत्यादि के परीक्षण द्वारा हम संभवतया यह निश्चित कर सकेंगे कि कौन से एकीकरण सिद्धांत (GUTs) और श्रेष्ठ समरूपता सिद्धांत (SUSy) आज के ब्रह्माण्डीय परिदृश्य से संगति प्रदर्शित करते हैं। इस प्रकार पदार्थ की सूक्ष्म संरचना की प्रकृति का निर्णय ब्रह्माण्ड के विशाल आकार से संबंधित सिद्धांतों द्वारा होना निश्चय ही एक विचित्र संयोग ही कहा जा सकता है।

निष्कर्ष

उपरोक्त उदाहरण यह प्रदर्शित करते हैं कि किस प्रकार खगोलशास्त्र आधारभूत भौतिकी के क्षेत्र में मूल्यवान योगदान कर सकता है। यह भी स्पष्ट होता है कि आधारभूत भौतिकी के नियम और निष्कर्ष खगोलशास्त्रियों के ब्रह्माण्डीय-पिण्डों की समझ को प्रभावित करते हैं। यह बहुत सुस्पष्ट न होते हुए भी सत्य है कि भौतिक विज्ञानी इस प्रकार के उपयोगों से नियमों की सार्वभौमिकता का आत्मविश्वास अर्जित करता है। यह द्वि-मार्गी अंतर्क्रिया ही भौतिक विज्ञान और खगोलशास्त्र की संयुक्त सीमा को अध्ययन-उत्तेजनशीलता प्रदान करती है। ☐☐

['फ़िजिक्स एजूकेशन' जिल्द 3, अंक 4, 1987 से साभार]

डॉ० ए० पी० मित्र सम्मानित

'कॉउन्सिल ऑव साइंटिफिक एण्ट इंडस्ट्रियल रिसर्च, नई दिल्ली' के महानिदेशक ख्यातिप्राप्त प्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक **डॉ० ए० पी० मित्र** को लंदन की **'रॉयल सोसायटी'** ने भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में किए गये उनके उच्चस्तरीय शोध के लिए **एफ० आर० एस० (फेलो ऑव रॉयल सोसायटी)** देकर सम्मानित किया है। इससे निश्चय ही शोध के क्षेत्र में भारत के गौरव की श्रीवृद्धि हुई है। **डॉ० मित्र** को 'विज्ञान परिषद्' परिवार की हार्दिक बधाई।

☐

उपग्रह-अन्वेषण : भारतीय दृष्टिकोण

विष्णुदत्त शर्मा

इस समस्त ब्रह्मांड के रहस्य का कोई ओर-छोर नहीं है। सृष्टि के अनादि काल से ही मनुष्य इस सृष्टि के रहस्यों को उद्‌घाटित करने के लिए संघर्षरत रहा है।

सृष्टि को जानने और समझने के लिए जहाँ एक ओर योगियों तथा तपस्वियों ने योग, भक्ति और तपस्या का सहारा लिया वहीं तांत्रिकों-मांत्रिकों एवं हठयोगियों ने उसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए तंत्र-मंत्र पशुबलि और कठोर हठयोग का आश्रय लिया। तर्क, अन्वेषण, विश्लेषण तथा प्रयोग के द्वारा सृष्टि को समझने का प्रयास करने वाला एक और वर्ग कालांतर में उभरकर सामने आया जिसे वैज्ञानिकों की संज्ञा दी गई। इस प्रकार जिज्ञासुओं के तीन वर्ग—योगी (आत्मा, मन और साधना-तपस्या), तांत्रिक (तंत्र-मंत्र, श्मशान-साधना) और वैज्ञानिक (शोध, तर्क एवं प्रयोग) अपने-अपने क्षेत्रों तथा साधनों द्वारा रहस्यमयी सृष्टि के भेद तथा स्वरूप को समझने के लिए प्रयत्नशील रहे हैं और आज भी हैं।

रात्रि में निर्मल एवं स्वच्छ आकाश की ओर देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रमा, ग्रह और तारागण हमसे एक ही दूरी पर एक बहुत बड़े उलटे कटोरे में स्थित हैं, जो क्षितिज पर टिका हुआ है। यह भ्रम इस कारण पैदा होता है क्योंकि आकाशीण पिण्ड इतने दूर हैं कि इन्द्रियों द्वारा उनकी दूरी या ज्ञान नहीं हो पाता। परन्तु प्रारम्भिक ज्योतिष में इस भ्रम को बनाए रखना और यह मान लेना सुविधाजनक है कि सभी आकाशीय पिण्ड एक काल्पनिक गोले पर स्थित हैं जिसका अर्धव्यास बहुत बड़ा है। प्राचीन भारत के महर्षियों ने यह सिद्ध कर दिया था कि आकाश में ये पिण्ड उनमें विद्यमान आकर्षण-शक्ति के बल पर ठहरे हुए हैं, जिसका वर्णन ऋग्वेद में आया है।

सोमेननादित्या बलिनः। सोमेने पृथिवी मही।
अथो नक्षत्राणामेषाम्। उपस्थे सोम आहितः॥
—ऋग्वेद 10/85 (1-2)

आकाश में जो सहस्रों छोटे-बड़े तारे हैं, उन्हीं की तरह हमारी पृथ्वी भी एक है। यह पृथ्वी स्वयं घूमते-घूमते प्रायः तीन सौ पैंसठ दिन सूर्य की परिक्रमा कर आती है। न केवल पृथ्वी बल्कि इसके अतिरिक्त सात और छोटे-बड़े पृथ्वी के सदृश तारे सर्वदा सूर्य के चारों ओर प्रायः गोलाकार पथ में घूमते रहते हैं। ये सभी पास ही पास रहकर सूर्य की परिक्रमा नहीं करते रहते हैं, अपितु कोई सूर्य के अत्यंत निकट है, तो कोई उससे कुछ दूर है, और कोई सूर्य से बहुत ही दूर है। आकाश के एक बृहत स्थान के अधिश्रित होकर ये सूर्य की प्रदक्षिणा कर रहे हैं और सूर्य उनके बीच में स्थिर है। इसका कारण भारतीय मनीषियों ने सभी नक्षत्रों, पृथ्वी एवं चन्द्रमा को सूर्य से आविर्भूत माना है—

ऋक्षचन्द्रग्रहाः सर्वे विज्ञेयाः सूर्यसंभवाः।
—वायुपुराण, 50, 99, 53

जो तारा सूर्य के चारों ओर बहुत निकट घूमता है उसका नाम बुध है, उसके बाद शुक्र है और फिर हमारी यह पृथ्वी है। पृथ्वी जिस मार्ग से सूर्य की प्रदक्षिणा कर रही है, उसके बाहर मंगल, बृहस्पति, शनि, यूरेनस और नेप्चून हैं। ये सब भिन्न-भिन्न कक्षा में, दूर-दूर रहकर, सूर्य के चारों ओर घूमते हैं। बुध, शुक्र, मंगल, शनि, यूरेनस और नेप्चून—ये आठों सूर्य की परिक्रमा करते हैं जिनको ज्योतिषियों ने 'ग्रह' कहा है। सूर्य के चारों ओर जिस प्रकार ग्रह परिक्रमा करते हैं, उसी प्रकार कुछ ग्रहों के चारों ओर घूमने वाले पिण्ड को उपग्रह कहते हैं। अतः ग्रह तो केवल सूर्य के चारों ओर ही घूमते हैं, जबकि, उपग्रह ग्रह के साथ सूर्य की भी परिक्रमा करते हैं। वैज्ञानिक अध्ययनों से अब यह सिद्ध हो चुका है कि पृथ्वी ही एकमात्र ऐसा ग्रह नहीं है जिसके चारों ओर चंद्रमा नामक उपग्रह घूमता है अपितु बृहस्पति और शनि आदि अनेक ग्रहों के भी चन्द्रमा उनके चारों ओर घूम रहे हैं। किसी-किसी ग्रह के तो अनेक चन्द्र हैं। उदाहर-

तकनीकी अधिकारी, राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला, नई दिल्ली—110012

णार्थ—मंगल के दो चन्द्र, बृहस्पति के आठ, शनि के दस, यूरेनस के चार तथा नेप्चून का एक चन्द्र हैं।

प्राचीन भारत के परिव्राजकों ने जो नौ-ग्रहों की अवधारणा की थी, उनके नाम—सूर्य (sun), चन्द्र (moon), बुध (mercury), शुक्र (venus), मंगल (mars), बृहस्पति (jupiter), शनि (saturn), राहु (uranus) और केतु (neptune) हैं। आकाश के ग्रह-नक्षत्रों की और चन्द्र-सूर्य की गति-विधि के अनुसार ही संसार के सभी काम (यथा दिन-रात का घटित होना, ऋतु-परिवर्तन आदि) चलते हैं। नक्षत्रमंडल को पहचाने बिना संसार का काम नहीं चल सकता। प्राचीन समय में घड़ियों का विकास नहीं हुआ था अत: चन्द्र-सूर्य की गति देखकर ही समय का ज्ञान करना पड़ता था और चन्द्र-सूर्य की गति को जाँचने के लिए तारा पहचानने की आवश्यकता होती थी। इन सब कारणों से, विशेष प्रयोजनवश, उन्होंने नक्षत्रों का ज्ञान अर्जित कर कई भागों में उन्हें विभाजित किया था।

मनुष्य के जीवन में अनेक घटनायें घटित होती हैं, किन्तु यदि कोई प्राकृतिक घटना घटे तो मनुष्य का कौतूहलवश जिज्ञासु होना स्वाभाविक है। हमारे ऋषियों ने देखा कि समुद्र में जब ज्वार-भाटा आता है तो चन्द्रमा पूर्णता को प्राप्त होता है। इस प्राकृतिक घटना का अवलोकन करते हुए उन्होंने उस दिवस विशेष को 'पूर्णिमा' नाम दिया और अध्ययन किया कि एक पूर्णिमा के बाद दूसरी पूर्णिमा के आने में साढ़े उन्तीस दिन लगते हैं जबकि सूर्य के उदय और अस्त होने की अवधि को एक दिन कहा गया। इस पूर्णिमा से पूर्णिमा तक के समय का उन्होंने मास (महीना) नाम रखा था। इसके बाद उनको इस बात का भी ध्यान रखना पड़ा कि दिन-दिन पश्चिम से पूर्व आने में चन्द्रमा को किस-किस नक्षत्र के भीतर से होकर आना पड़ता है। वे चन्द्रमा के ऊर्ध्ववर्ती तारों की पहचान करने लगे और इस बात पर भी लक्ष्य करने लगे कि जिन तारों के बीच चन्द्रमा की एक बार पूर्णिमा हुई वहीं फिर एक माह के बाद पूर्णिमा होती है या नहीं। देखा गया कि यह नहीं होता। आज आकाश के जिस स्थान पर पूर्णिमा का चन्द्रमा देखा गया, ठीक उसी जगह सत्ताइसवें दिन यह फिर आ जाता है। इसलिए निश्चित करना पड़ा कि साढ़े उन्तीस दिन का अन्तर देकर पूर्णिमा होने पर भी सत्ताइस दिनों में ही चन्द्रमा सम्पूर्ण आकाश की परिक्रमा कर लेता है। इस प्रकार गति का निर्णय हो जाने पर इस बात के जानने की आवश्यकता हुई कि चन्द्रमा किस नक्षत्र से, किस नक्षत्र के समीप एक दिन में पहुँच सकता है। इसलिए भारतीय मनीषियों ने चन्द्रमा के पथ के ऊर्ध्व-स्थित सब तारों को सत्ताइस भागों में बाँट दिया और फिर इस बात का निश्चय किया कि प्रत्येक भाग के तारे एकत्र होकर किस आकार में दृष्ट होते हैं।

भारतीय ज्योतिषियों की गणनानुसार सत्ताइस नक्षत्रों के नाम इस प्रकार हैं—अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, अश्लेषा, मघा, पूर्वाफल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाति, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढ़ा, उत्तराषाढ़ा, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वभाद्रपदा, उत्तरभाद्रपद और रेवती। इनका पूर्ण विवरण अथर्ववेद (xix, 7, 2-5) में मिलता है। प्रत्येक पूर्णिमा में आकाश के जिस नक्षत्र-मंडल में चन्द्रमा रहता है, उसी नक्षत्र के नामानुसार उन्होंने महीने का नाम रखा था। वर्ष के जिस मास को हम वैशाख कहते हैं, उस समय चाँद विशाखा नक्षत्र में आता था तब पूर्णिमा होती थी, इसी से इस मास का नाम वैशाख हुआ। इसके बाद पूर्णिमा ज्येष्ठा नक्षत्र में हुई तो वैशाख के बाद जो मास आया उसका नाम ज्येष्ठ हुआ। दिन और मास की गणना के समान ही वर्ष की गणना भी पृथ्वी की गति को देखकर ही की जाती है। चूँकि $365\frac{1}{4}$ दिन में हमारी पृथ्वी सूर्य का एक बार चक्कर लगाती है, इस कारण इस अवधि को 'वर्ष' कहा गया।

प्राचीन भारतीय विद्वानों की गणना के अनुसार पृथ्वी सूर्य की 365.25 दिन में एक परिक्रमा पूरी करती है जबकि चन्द्रमा 27.32 दिन में पूर्ण कर लेता है। इस प्रकार देख गया कि सूर्य जितने समय में एक चक्कर पूरा करता है, चन्द्रमा उतनी देर में लगभग $13\frac{1}{8}$ चक्कर पूरा करता है, क्योंकि

$$\frac{\text{सूर्य का परिक्रमण काल}}{\text{चन्द्र का परिक्रमण काल}} = \frac{365.25}{27.32} = 13\frac{1}{3} = 13^{\circ}\ 20'$$

$\because$ 13°20′ राशिचक्र में नक्षत्र = एक

$\therefore$ 360° ,, ,, ,, $= \frac{360°}{13°20'} = 27$

अतः एक राशिचक्र (Zodiac) में सत्ताइस नक्षत्र हुए, जिनका परिभ्रमण काल उनकी गति पर निर्भर करता है। प्राचीन काल में ज्योतिर्विदों की कल्पना में खगोल पर तारामंडल बड़े जानवरों की रूपरेखा अथवा मानव की आकृति बनाते प्रतीत होते थे। अतएव तारा-मंडलों के द्वारा खगोल पर एक पेटी सी बनती है। इसे ही राशिचक्र कहते हैं। राशिचक्र को बारह बराबर भागों में बाँटा गया और प्रत्येक भाग राशि (sign) कहलाया। ये बारह राशि इस प्रकार हैं—मेष (aries), वृष (taurus), मिथुन (gemini), कर्क (cancer), सिंह (leo), कन्या (virgo), तुला (libra), वृश्चिक (scorpio), धनु (sagittarius), मकर (capricon), कुम्भ (aquarius), मीन (pisces)। इस प्रकार का राशिचक्र सौर-राशिचक्र कहलाता है जबकि सत्ताइस नक्षत्रों वाला राशिचक्र चान्द्र-राशिचक्र कहलाता है।

प्राचीन काल से ही मनुष्य आकाशीय पिंडों की गति से आकृष्ट होता रहा है। प्रागैतिहासिक काल का मानव भी सूर्य के उदय और अस्त, चन्द्रमा की कलाओं तथा ग्रहों और तारों की गति से चमत्कृत होता रहा होगा। वस्तुतः गणित-ज्योतिष, जिसमें आकाशीय पिंडों और उनकी गति का अध्ययन किया जाता है, सबसे पहले विकसित होने वाले विज्ञानों में से एक है। छान्दोग्य उपनिषद (VII, 1] के आधार पर कहा जा सकता है नक्षत्र विज्ञान तथा राशि वैदिक काल में बहुत प्रचलित था।

वैदिक काल में ज्योतिष का अच्छा विकास हो गया था। ऋग्वेद काल में खगोल के स्थिर तारों में चन्द्रमा का गमन ज्ञात था और चान्द्र-मास [lunar month] की अवधि असाधारण शुद्धता के साथ ज्ञात थी। भारतीय मनीषियों ने गणित-ज्योतिष से ज्ञात किया था कि चन्द्रमा का पृथ्वी का एक चक्कर लगाने का समय 27.32 दिन था जो आज के वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में निम्न प्रकार ज्ञात किया जाता है—

उपग्रह पर अभिकेन्द्रीय बल = उपग्रह पर अपकेन्द्रीय बल

$$\frac{mV^2}{R} = \frac{GMm}{R^2}$$

समीकरण को सरल करने पर—

$$V = \left(\frac{GM}{R}\right)^{\frac{1}{2}} \quad \ldots\ldots\ldots\ldots \text{(i)}$$

जब कि G गुरुत्वीय स्थिरांक, M एक पदार्थ का द्रव्यमान, m दूसरे पदार्थ का द्रव्यमान, V परिक्रमा करने वाले उपग्रह की गति और R दोनों पदार्थों के बीच की दूरी है।

उपर्युक्त समीकरण (i) में पृथ्वी का द्रव्यमान (M) $= 5.98 \times 10^{24}$ कि० ग्रा०

गुरुत्वीय स्थिरांक (G) $= 6{\cdot}67 \times 10^{-11}$ न्यूटन मी०/कि० ग्रा०,

पृथ्वी से चन्द्रमा की दूरी 3,82,400 कि० मी०

इस प्रकार $V = \left[\frac{6.67 \times 10^{-11} \times 5.98 \times 10^{24}}{382400 \times 1000}\right]^{\frac{1}{2}}$ मीटर/सेकेण्ड

= 1021.30 मीटर/सेकेण्ड

= लगभग एक कि० मी०/सेकेण्ड

इस तरह चन्द्रमा की कक्षीय गति एक कि० मी०/सेकेण्ड हुई।

$$\because V = \left(\frac{GM}{R}\right)^{\frac{1}{2}} = \frac{2\pi R}{T}$$

हल करने पर

$$\therefore T = 2\pi \left(\frac{R^3}{GM}\right)^{\frac{1}{2}}$$

अतः चन्द्रमा द्वारा पृथ्वी का एक चक्कर लगाने का समय,

$$T = 2\pi \left(\frac{R^3}{GM}\right)^{\frac{1}{2}}$$

अथवा $T = 2\pi \left[\frac{(382400 \times 1000)^3}{6.67 \times 10^{-11} \times 5.98 \times 10^{24}}\right]^{\frac{1}{2}}$ सेकेण्ड

= 2352573.452 सेकेण्ड

= 27.3 दिन

इस प्रकार चन्द्रमा को पृथ्वी का एक चक्कर लगाने में 27.3 दिन का समय लगता है। अतः उपग्रह की पृथ्वी से दूरी, उपग्रह का एक चक्कर लगाने का समय तथा इसकी कक्षीय गति—ये तीनों बातें एक दूसरे पर निर्भर करती हैं। यदि हमें इनमें से एक माप का पता हो तो शेष दो मापें निकाली जा सकती हैं।

ईसा के पूर्व पाँचवीं शताब्दी में प्राथमिक ज्योतिषीय ग्रंथ लिखे गए जिन्हें **संहिता** कहते हैं। भारत और अन्य देशों के बीच ज्योतिषीय ज्ञान का यथेष्ट आदान-प्रदान था। प्रसिद्ध गणितज्ञ एवं ज्योतिषी **आर्यभट्ट** (499 ई०) ने भूगतीय सिद्धांत का सुझाव दिया। **आर्यभट्ट का सिद्धांत** था कि तारामंडल स्थिर है और ग्रहों तथा तारों का दैनिक उदय एवं अस्त पृथ्वी के अपनी धुरी पर घूमने के कारण होता है। ध्यातव्य है सिद्धांत की निम्न पंक्तियाँ—

भवं जर:स्थिरो भूरे वा वृत्यावृत्य
प्रतिदैवसिकौ उदयास्तभयौ संपादयति ग्रहनक्षत्राणाम्।।

—आर्यभट्ट सिद्धांत

अधिक स्पष्ट रूप से कहा जाए तो **आर्यभट्ट** का विश्व भूकेन्द्रिक है, पर भूस्थिर नहीं। उसने ग्रहणों (eclipse) की भी ठीक व्याख्या की थी। छठी शताब्दी में **वाराहमिहिर** ने अपना स्मरणीय ग्रंथ 'पंचसिद्धांतिका' लिखा जिसमें उस समय के ज्योतिष सिद्धांत का वर्णन है। भारतीय ज्योतिष इतना उन्नत था कि बगदाद के खलीफाओं की सेवा में प्राचीन काल में भारतीय ज्योतिषी होते थे। दूरदर्शन यंत्र की सहायता के बिना प्रेक्षण की विधियों में दक्षता प्राप्त कर ली गयी थी और पृथ्वी, चन्द्रमा तथा अन्य उपग्रहों के व्यासों को असाधारण शुद्धता से ज्ञात कर लिया गया था। सिद्धांतों में गुरुत्वाकर्षण का भी उल्लेख है: **'पृथ्वी अपनी आकर्षण शक्ति से वस्तुओं को अपनी ओर खींचती है।'** भारतीय मनीषियों के इस सिद्धांत के आधार पर प्रसिद्ध वैज्ञानिक **आइजक न्यूटन** ने 'गुरुत्वाकर्षण सिद्धांत' का प्रतिपादन किया। इसके अनुसार दो पदार्थों के बीच का आकर्षण उनके द्रव्यमानों के गुणनफल के समानुपाती तथा उनके बीच की दूरी के वर्गफल के व्युत्क्रमानुपाती होता है।

उपग्रह अपनी कक्षा में स्थिर नहीं हैं, वरन् पृथ्वी की परिक्रमा किसी निश्चित गति से करते हैं। इस तरह उपग्रह पर अपकेन्द्रीय बल, जो उपग्रह की गति के कारण लगता है, और दूसरा अभिकेन्द्री बल जो पृथ्वी के उपग्रह पर गुरुत्वाकर्षण के कारण लगता है, बराबर है, इस संकल्पना को ध्यान में रखते हुए आधुनिक विज्ञान द्वारा उपग्रहों पर जाने का निश्चय किया गया। इस निश्चय को साकार रूप देने के लिए कृत्रिम उपग्रहों को अंतरिक्ष में स्थापित किया गया। उदाहरणार्थ—**'एपल'**, **'इन्सैट'**, **'आर्यभट्ट'** आदि। प्राकृतिक उपग्रह तो केवल मानव शरीर तथा उसकी दैनिकचर्या पर ही प्रभाव डालते हैं, किन्तु वर्षा, तूफ़ान आदि की सूचना, मौसम परिवर्तन की सूचना, किसी प्रदेश में दैविक विपदा एवं दुर्घटना तथा परस्पर संचार स्थापित करने के लिए कृत्रिम उपग्रह की आवश्यकता होने लगी और इस प्रकार उपग्रहों की ऊँचाई, गति तथा समय अपनी आवश्यकतानुसार स्थापित की गई। उपग्रह पृथ्वी की जितनी निकट कक्षा में होंगे, उनकी कक्षीय गति उतनी ही अधिक होगी।

उदाहरण के तौर पर निम्न कक्षीय श्रेणी के कृत्रिम उपग्रह 'आर्यभट्ट' को लीजिए। उपग्रह को पृथ्वी की सतह से 600 कि० मि० की ऊँचाई पर प्रतिस्थापित किया गया। अन्य भूस्थिर तथा उच्च कक्षीय उपग्रहों की अपेक्षा पृथ्वी के निकट होने के कारण इसको पृथ्वी का एक चक्कर लगाने की अवधि कम और कक्षीय गति अधिक होगी। 'आर्यभट्ट' उपग्रह को पहचान कर यदि हम यह पता लगा लें कि इसको पृथ्वी का एक चक्कर लगाने में कितना समय लगता है तो समीकरण :—

$$R = \left[\frac{T}{2\pi} (GM)^{\frac{1}{2}} \right]^{2/3}$$

के आधार पर उपग्रह की पृथ्वी से दूरी प्राप्त कर सकते हैं।

'आर्यभट्ट' उपग्रह को पृथ्वी का एक चक्कर लगाने में 96.6 मिनट का समय लगता है, अतः इसकी पृथ्वी से कक्षीय दूरी :

$$R = \left[\frac{96.6 \times 60}{2 \times 3.143} \times (6.67 \times 10^{-11} \times 5.98 \times 10^{24})^{\frac{1}{2}} \right]^{2/3}$$

$= 6976.0$ कि०मी०

$\because h = R - R_o$

$\therefore h = 6976 - 6376$

$= 600$ कि०मी०

'आर्यभट्ट' की पृथ्वी-धरातल से दूरी।

'एपल' उपग्रह भूस्थिर श्रेणी का है। भूस्थिर उपग्रहों की विशेषता यह है कि इनकी कोणीय गति पृथ्वी की कोणीय गति के बराबर होती है। पृथ्वी से देखने पर ये उपग्रह अन्तरिक्ष में स्थिर लगते हैं, इसलिए इनको भूस्थिर उपग्रह कहते हैं। भूस्थिर उपग्रहों को पृथ्वी का चक्कर लगाने में चौबीस घण्टे का समय लगता है। इस प्रकार निष्कर्षत: कह सकते हैं कि पृथ्वी की विभिन्न तीन कक्षाओं में प्राकृतिक उपग्रह 'चन्द्रमा' भूस्थिर उपग्रह 'एपल' और निम्न उपग्रह 'आर्यभट्ट' निसंदेह मानव जीवन के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

पृथ्वी के सम्पूर्ण भाग को घेरने के लिए लगभग 400 कि०मी० ऊँचाई पर 50 उपग्रहों की आवश्यकता होगी, जबकि भूस्थिर कक्षा में इस कार्य के लिए केवल तीन उपग्रह पर्याप्त हैं। प्रत्येक उपग्रह $120°$ के कोण की परिधि में आने वाले सभी क्षेत्रों के बीच पारस्परिक सम्पर्क कराने में सहायक हो सकता है। पृथ्वी के किसी भाग का उपग्रह से निरंतर सम्पर्क रखने के लिए पृथ्वी की सतह से लगभग 36000 कि०मी० ऊँचाई की कक्षा में रखना आवश्यक है जिससे पृथ्वी और उस उपग्रह का अपने केन्द्र बिन्दु के चारों ओर घूमने का समय समान रहे और वह पृथ्वी की भूमध्य रेखा के ऊपर स्थिर दिखाई देता है। इस कक्षा को पृथ्वी की भूस्थिर कक्षा कहा जाता है।

हमारा देश विश्व का सबसे बड़ा प्रजातन्त्र देश है। बड़े पैमाने पर औद्योगिक और कृषि सम्बंधी विकास के कारण संचार की आवश्यकता और भी बढ़ जाती है। स्वस्थ मनोरंजन तथा जागरूकता बनाए रखने के लिए अच्छे ज्ञानवर्धक प्रसारण उपयुक्त भूमिका निभा सकते हैं। उपग्रह के माध्यम से प्रसारण एक उत्तम विधि है। उपग्रह के प्रसारण से तात्पर्य यह है कि पृथ्वी से किसी कार्यक्रम को विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों में परिवर्तित करके प्रेषक द्वारा उपग्रह तथा उपग्रह से प्राप्त संकेतों को अभिग्राही जैसे विशेष यंत्रों की सहायता से फिर से वास्तविक कार्यक्रम में परिवर्तित करके उपभोक्ताओं तक पहुँचाया जाए। अत: संचार प्रणाली का भारत में दूरदर्शन सदुपयोग कर रहा है।

उपग्रह संचार प्रणाली ने समूचे विश्व को 'अन्तर्राष्ट्रीय गाँव' अर्थात् ग्लोबल विलेज' में परिणित कर दिया है। इसका प्रमाण है कि सन् 1984 में लॉस एंजिल्स में खेले गए अन्तर्राष्ट्रीय ओलम्पिक खेलों का विभिन्न उपग्रहों की सहायता से सीधा प्रसारण करके छः महाद्वीपों के 300 करोड़ पृथ्वीवासियों तक दूरदर्शन के माध्यम से पहुँचाया जाना। इसके अतिरिक्त उपग्रहों की सहायता से पृथ्वी के सम्बन्धित क्षेत्रों के छायाचित्र लेकर छिपी हुई खनिज सम्पदा का पता लगाने, समुद्र में पाए जाने वाले बहुमूल्य खनिजों को ढूँढ़ निकालने तथा बाढ़, सूखा, आँधी, चक्रवात, समुद्री तूफ़ान जैसे सामयिक तथा असामयिक प्राकृतिक विपदाओं से उत्पन्न सम्भावित संकटों के प्रति सम्बन्धित क्षेत्रों के निवासियों को सावधान करना भी सम्मिलित है। अन्तरिक्ष सम्बन्धी ज्ञान अर्जित करने में भी उपग्रह प्रशंसनीय भूमिका निभा रहे हैं। जहाँ एक ओर प्राकृतिक उपग्रह हमारे भावी जीवन के विषय में भविष्यवाणी करने में सहायक हैं वहीं दूसरी ओर कृत्रिम उपग्रह वर्तमान जीवन से सम्बन्धित गतिविधियों का साथी है।

आभार प्रदर्शन

संदर्भ रूप में उपयोग की गई सामग्री के लिए मैं भारतीय अन्तरिक्ष अनुसंधान संगठन, अहमदाबाद द्वारा आयोजित अखिल भारतीय संगोष्ठी की प्रोसीडिंग के प्रति आभार प्रदर्शन करता हूँ। दिल्ली भू-केन्द्र, नई दिल्ली के **श्री एम० एल० हासीजा** एवं **श्री एन० एस० जैसवाल** द्वारा प्रस्तुत आलेख "उपग्रह कक्षाएँ तथा कक्षीय काल" को आधार स्वरूप स्वीकारने के प्रति भी मेरी आभारोक्ति है। प्रकाशनार्थ अनुमति के लिए मैं **डॉ० श्री कृष्ण जोशी,** निदेशक, राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला, नई दिल्ली का हृदय से आभारी हूँ। □□

रासायनिक अस्त्रों का स्वास्थ्य पर प्रभाव

डॉ० सुशीला राय

जब से इस पृथ्वी पर मानवजाति का प्रादुर्भाव हुआ है तब से स्वार्थलिप्सा मनुष्य में पूर्णतः समाहित है, और इसी स्वार्थलिप्सा की पूर्ति के लिए वह अनेक प्रकार के नये-नये मारक कारकों की खोज में दिन-प्रति-दिन उलझता जा रहा है। इसका उदाहरण परमाणु बम हमारे सम्मुख है। हम यदि भारतवर्ष के प्राचीन ग्रंथों का अवलोकन करें तो समयानुसार युद्धों में शत्रु को परास्त करने के लिए प्रयोग में आने वाले विभिन्न प्रकार के अस्त्रों-शस्त्रों का वर्णन मिलता है। आजकल जिस प्रकार के रासायनिक अस्त्रों और मौसम बदलने की क्षमता रखने वाले अस्त्रों के विकास का समाचार सुनने या पढ़ने को मिलता है वे सभी चौंकाने वाले हैं। ऐसा लगता है कि ये कोई नए प्रकार के अस्त्र नहीं हैं, जिन्हें आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी की उपलब्धि माना जा सके। वास्तव में इनकी कल्पना हजारों वर्ष पुरानी है। रणक्षेत्र में आग लगाना, घनघोर वर्षा कराना, बादलों की गरज और बिजली कौंधाना, बड़े वेग से हवाओं का चलाना, चारों तरफ अंधकार ही अंधकार पैदा कर देना अथवा सम्मोहिनी शक्ति और माया से अनेक प्रकार की विकट परिस्थितियाँ उत्पन्न किए जाने का हमारे अधिकांश आदिग्रंथों **ऋग्वेद;पुराण, महाभारत, रामायण** आदि में उल्लेख है।

शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए विभिन्न रसायनों के उत्पादन एवं प्रयोग की चर्चा '**कौटिल्य** का अर्थशास्त्र' (जिसे 'चाणक्य नीतिशास्त्र' भी कहते है) में भी मिलती है। मध्यकालीन युग में जहरीली गैसों का उपयोग प्रचलित था। **हिटलर** के समय में भी एक प्रकार का आग्नेयास्त्र बनाया गया था जिससे आग तो लग जाती थी परन्तु नुकसान नहीं होता था।

रासायनिक अस्त्रों को निम्न दो श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—

(क) विभिन्न प्रकार के रासायनिक एम्यूनिशन।

(ख) विभिन्न प्रकार के रासायनिक एजेण्ट।

(क) विभिन्न प्रकार के एम्यूनिशन—इस प्रकार के रासायनिक अस्त्रों में **ग्रेनेड** से लेकर वायुयान द्वारा फेंके जाने वाले भारी से भारी **बम** तक सभी प्रकार के एम्यूनिशन तैयार किए जाते हैं। भारी बड़े-बड़े बमों के उत्पादन में अधिक खर्च आता है अतः ज़्यादातर छोटे बमों के निर्माण पर ध्यान केंद्रित किया जा रहा है। ये भारी बम दरअसल क्लस्टर बम होते हैं। क्लस्टर बम एक बड़ा खोखला बम होता है और इसमें अनेक छोटे-छोटे बम भरे होते हैं। ये बड़े बम निश्चित ऊँचाई पर साधारण विस्फोट से अपने आप खुल जाते हैं और उनमें भरे हुए छोटे-छोटे बम दूर-दूर तक बिखर जाते हैं। इन छोटे-छोटे बमों पर पंख लगे हुए होते हैं, जिनके कारण ये वायु में कुछ दूरी तक गतिमान रहकर पृथ्वी पर पहुँच जाते हैं और पृथ्वी तल से टकराते ही अथवा निश्चित समय (अवधि) के बाद फट जाते हैं। आर्टिलरी तोपों से गोले बरसाकर अधिक से अधिक क्षेत्रफल को विषाक्त रसायनों से प्रभावित किया जा सकता है। रासायनिक एजेन्टों से भरे राकेटों की भी मल्टीलांचरों से फायर कर झड़ी लगाई जा सकती है। विभिन्न प्रकार के एम्यूनिशन को समझने के लिए निम्न कुछ अमेरिकी रासायनिक अस्त्रों का वर्णन दिया गया है।

(i) **ग्रेनेड**—इन्हें हाथों व राइफलों से प्रक्षेपित किया जा सकता है। इनमें रासायनिक एजेण्ट; जलने वाले पदार्थों के साथ, पचास से तीन सौ ग्राम तक भरा जाता है। ज़्यादातर झगड़े-फसाद को काबू में लाने के लिए प्रयोग में लाये जाते हैं।

(ii) **डिस्पर्सर**—पचास घन सेन्टीमीटर एजेण्ट से लेकर नौ लीटर द्रव एजेण्ट के डिस्पर्सर भी अमेरिका में विकसित किए गये हैं। ये पिछले दो-तीन दशकों में ही तैयार हुए हैं। इस श्रेणी के अन्तर्गत फ्लेम थ्रोअर और स्प्रेगन भी शामिल हैं।

(iii) **स्मोक पॉट, जेनेरेटर और सिलिण्डर**—इस

वरिष्ठ वैज्ञानिक, रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर (राजस्थान) –342001

श्रेणी के अधिकतर अस्त्र द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व इस्तेमाल होते थे। पिछले दशक से इन जेनेरेटरों को संशोधित कर क्लस्टर बमों में प्रयोग किया जाने लगा है।

(iv) **लैंड माइन**—युद्ध के मैदान में से गुजरने वाले टैंकों, हल्के वाहनों और सैनिकों को क्षति पहुँचाने के लिए सुरंगे बिछा दी जाती हैं। इन्हें छिपाने के लिए ऊपर से मिट्टी व पत्ते डाल दिए जाते हैं। मनुष्यों के पैर, हल्की गाड़ियों के पहिए, टैंकों के दाब से ये सुरंगे फट जाती हैं। इन सुरंगों में चार से पाँच किलो तक रासायनिक पदार्थ भरा होता है।

(v) **तोप के गोले**—आजकल रासायनिक एजेण्टों के अतिरिक्त इन गोलों में नर्व एजेण्ट भी अधिकतर प्रयोग में लाये जाते हैं।

(vi) **राकेट**—इनमें 31 किलोग्राम से लेकर 217 किलोग्राम रासायनिक एजेन्ट भरा होता है अधिकतर नर्व एजेन्ट को ही इन राकेटों में बन्द कर क्लस्टर बमों में भरकर प्रयोग किया जाता है।

(vii) **स्प्रे और विक्षेपण संयंत्र**—हेलीकॉप्टरों के लिए ठोस और द्रव एजेन्टों के लिए विशेष प्रकार के विक्षेपण यंत्र तैयार किए गये हैं। इन यंत्रों में 200 गैलन तक क्षमता वाली टंकी होती है। इनसे शाक-नाशकों का स्प्रे किया जाता है। सूखे एजेन्टों के विक्षेपण के लिए 20 से 25 किलो तक चूर्ण टंकियों में भरा जा सकता है। हेली-कॉप्टरों के अतिरिक्त अन्य वायुयानों के लिए भी स्प्रे टंकी तैयार की गई है। इन टंकियों का उपयोग शान्तिकाल में कृषि-फार्मों के लिए भी किया जा सकता है।

(viii) **वायुयान से गिराए जाने वाले बम**—इनके अन्तर्गत 100, 115, 125, 500, 1000 और 4000 पौण्ड तक के वायुयान-बमों को रासायनिक एजेण्टों से तैयार किया गया है। इन बमों में अश्रु-उत्पादक एजेण्ट, **मस्टर्ड गैस, फॉस्ज़ीन, सायनोजन क्लोराइड** और सेरीन आदि का प्रयोग किया जाता है। उपरोक्त रेन्ज में क्लस्टर बमों का निर्माण भी किया गया है। 1000 पौण्ड के क्लस्टर बम में 76 छोटे बम होते हैं।

(ख) **विभिन्न रासायनिक एजेन्ट**—निम्नलिखित रासायनिक एजेण्ट काम में लाए जाते हैं—

(1) **अश्रु-उत्पादक पदार्थ** (Lachrimators)—इन रसायनों का उपयोग गैस के रूप में विश्वयुद्ध में फ्रांस, जर्मनी, ब्रिटेन, सोवियत संघ और अमेरिकी सेनाओं द्वारा किया गया था। इन रसायनों का प्रभाव आँखों पर पड़ता है जिससे आँसू बहने लगते हैं और अस्थाई तौर पर अन्धापन भी उत्पन्न हो जाता है। ये दो प्रकार के होते हैं—

(क) **साधारण अश्रु-उत्पादक पदार्थ**—यदि इनकी वायु में साधारण से अधिक मात्रा न हो तो केवल आँखों पर ही प्रभाव पड़ता है। इनके अन्तर्गत **इथाइल ब्रोमो-एसीटेट, बेन्ज़ाइल ब्रोमाइड, इथाइल आयडोएसिटेट, बेंज़ाइल आयोडाइड** आदि रसायनों का प्रयोग किया जाता है।

(ख) **विषाक्त अश्रु-उत्पादक पदार्थ**—ये पदार्थ आँखों के अतिरिक्त अन्य अंगों पर भी प्रभाव डालते हैं विशेषकर फेफड़ों पर। उदाहरण के लिए **क्लोरोएसीटोन, ब्रोमो-एसीटोन, सुपर टीयर गैस व एडमसाइट** आदि। इन अश्रु-उत्पादक पदार्थों की एकमात्र विशेषता यह है कि पशुओं पर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। कारण पशुओं की नेत्र-ग्रंथियाँ ज्यादा संवेदनशील नहीं होती हैं। ये रसायन सैनिकों को मुखौटे उपयोग करने के लिए मजबूर कर देते हैं, जिससे सैनिकों की कार्यक्षमता प्रभावित होती है। आजकल इन रसायनों का प्रयोग पुलिस द्वारा भीड़ व प्रदर्शनकारियों पर नियंत्रण करने के लिए किया जाता है।

(2) **फेफड़ों को हानि पहुंचाने वाले पदार्थ** (Lung Injurer Agents)

इन पदार्थों का भी प्रथम महायुद्ध में जर्मन, फ्रांसीसी और सोवियत संघ के सैनिकों द्वारा उपयोग किया गया था। ये द्रवित रूप में पाये जाते हैं। इनका क्वथनांक कम होता है, जिसके परिणामस्वरूप शीघ्र ही वाष्पीकृत हो वायुमंडल में फैल जाते हैं अतः किसी एक स्थान पर इनका प्रभाव कम होता है। इन रसायनों का मुख्य प्रभाव फेफड़ों पर पड़ता है। फेफड़ों के वायुकोशों में द्रव भर जाता है। इसके कारण रक्त को ऑक्सीजन मिलनी कम होती जाती है और प्रभावित होने के एक से दो घंटे के अंदर

मृत्यु भी हो जाती है। इन पदार्थों को **फुफ्फुस-क्षतिकारक** भी कहते हैं। इन्हें भी दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। **प्रथम श्रेणी के** अन्तर्गत पाये जाने वाले पदार्थ क्लोरीन **से युक्त** होते हैं तथा ये साधारण फुफ्फुस क्षतिकारक कहलाते हैं, जैसे—**फॉसजीन, क्लोरीन, मिथाइल सल्फ्यूराइल क्लोराइल, मोनोक्लोरोमिथाइल, क्लोरोफार्मेटट्राईक्लोरोमिथाइल, क्लोरोपिक्रिन** आदि। दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत पाए जाने वाले पदार्थ संखिया (Arsenic) से युक्त होते हैं। ये विषाक्त फुफ्फुस क्षतिकारक कहलाते हैं। उदाहरण के लिए-**फिनाइल-डाइक्लोरो आर्साइन, इथाइल-डाइक्लोरो-आर्साइन, फिनाइल-डाइब्रोमो-आर्साइन** आदि।

गैस युद्ध में **क्लोरीन** गैस का बड़े पैमाने पर प्रयोग किया गया था। इसके बहुत घातक प्रभाव होते हैं तथा मिनिटों में ही मृत्यु हो जाती है। फॉस्जीन गैस इससे भी भी अधिक घातक सिद्ध हुई है। **क्लोरोपिक्रिन** फुफ्फुस क्षतिकारक के अलावा अश्रुउत्पादक की भी भूमिका अदा करती है। **इथाइल-डाइक्लोरो-आर्साइन** से फेफड़ों को तो क्षति पहुँचती ही है, इसके अतिरिक्त शरीर पर फफोले भी पड़ जाते हैं।

(3) **श्वसन-क्षोभक एजेन्ट** (Respiratory Irritant Agents)

इन एजेन्टों के प्रयोग से श्वसन मार्ग में उत्तेजना हो जाती है और अधिक दूषित वायु में श्वास लेने से जी मिचलाने लगता है। छींकों पर छींकें शुरू हो जाती हैं। बार-बार उल्टी आती है और मजबूर होकर सिपाही अपने मुखौटे उतार देते हैं। यदि वायु में श्वसन क्षोभक एजेन्टों के अतिरिक्त फुफ्फुस क्षतिकारक मिला दिए गए हों तो ये एजेन्ट अपना प्रभाव मुखौटे उतारते ही दिखाना प्रारम्भ कर देते हैं और सैनिकों को शीघ्र ही असमर्थ कर देते हैं। इसी बात को ध्यान में रखते हुए मस्टर्ड,फुफ्फुस क्षतिकारक एवं श्वसन क्षोभक तीनों एजेन्टों को मिलाकर छोड़ा गया था जिन्हें क्रमशः **यलोक्रास, ग्रीनक्रास** और **ब्लूक्रास** नाम दिए थे।

श्वसन क्षोभकों के उच्च द्रवणांक होते हैं अतः सभी ठोस अवस्था में पाये जाते हैं। इनमें **आर्सेनिक** पाया जाता है। ये बिना किसी घाव के भी टिश्यू को उत्तेजित कर देते हैं अतः शरीर पर कोई भी ऊपरी चिन्ह नहीं पाये जाते, परन्तु इसका प्रभाव संवेदी तंत्रिका (Sensory nerve) के सिरे पर होता है, जिससे तीव्र पीड़ा होती है। पेशियाँ स्वयं क्रिया कर कई प्रकार के स्राव प्रभावित अंग के अनुसार निकालने लगती है, जो श्वसन-तंत्र को प्रभावित करते हैं। उनके लिए निम्न श्वसनक्षोभक एजेन्ट प्रयोग में आते हैं—**डाइफिनाइल-क्लोरोआर्साइन, डाइफिनाइल साइनार्साइन, ईथाइल कार्बोजाल**, आदि। इन सभी श्वसन क्षोभकों के प्रयोग से व्यक्ति की असमर्थता तीन-चार घंटे बनी रहती है अतः इन एजेन्टों का मुख्य उद्देश्य सेनाओं की कार्यक्षमता में कमी लाना ही था।

(4) **दैहिक विष** (Systematic Toxic Agents) ये वे विषैले रसायन हैं जिनका प्रभाव शरीर के किसी विशेष अंग तक सीमित न रहकर कहीं से भी प्रवेश कर फेफड़ों की इपिथीलियल अस्तर में घुसकर रक्त में प्रवेश कर जाता है। इस तरह ये विष रक्तधारा में मिलकर शरीर के पूरे भाग में फैल जाते हैं। इसके फलस्वरूप केन्द्रीय तंत्र का **पक्षाघात** हो जाता है और बाद में मृत्यु हो जाती है। इनका प्रयोग फ्रांस, जर्मनी, आस्ट्रेलिया आदि देशों द्वारा किया गया था। निम्न रसायन इस श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं जैसे—**हाइड्रोसायनिक अम्ल, सायनोजनब्रोमाइड, फिनाइल कार्बेलमीन क्लोराइड**। ये प्रमुखतः फुफ्फुस क्षतिकारक हैं। ये विष अधिक समय तक वातावरण को दूषित नहीं करते हैं अतः कोई शीघ्र कार्यवाही करनी हो तभी इन्हें छोड़ा जाता है।

(i) **मस्टर्ड गैस**—इन एजेन्टों का स्पर्श होने पर प्रमुख प्रभाव शरीर के आन्तरिक अथवा बाह्य भागों पर फफोले या छाले के रूप में पड़ता है। इन छालों से शरीर में बहुत पीड़ा होती है। प्रथम महायुद्ध के आरम्भ में वैज्ञानिकों को फफोले डालने वाले सत्तर से भी अधिक रसायनों की जानकारी थी। इनमें से कुछ निम्न रसायन युद्ध में उपयोगी पाये गये हैं—**डाइक्लोरोइथाइल सल्फाइड, इथाइल-डाक्इलोरो-आर्साइन, मिथाइल डाइक्लोरो-आर्साइन** आदि **डाइइथाइल सल्फाइड** को ही 'मस्टर्ड गैस' कहते हैं।

(ii) **नर्व गैस**—इन नर्व गैस रसायनों को तोप के गोलों में भरकर प्रयोग में लाते हैं। ये रसायन भी स्नायु-तंत्र पर प्रभाव डालते हैं।

[शेष पृष्ठ 16 पर]

आपका व्यक्तित्व

कु० निशि मिश्रा

प्रत्येक व्यक्ति का एक व्यक्तित्व होता है जो उसे किसी अन्य व्यक्ति से भिन्न बनाता है। किसी व्यक्ति को भली भाँति समझने की प्रत्येक व्यक्ति में जिज्ञासा होती है जो मुख्यत: उसके व्यक्तित्व के अध्ययन द्वारा संभव है।

आजकल सभी अपने व्यक्तित्व को सुधारने और सँवारने में लगे हैं। इसका उदाहरण आजकल के वे असंख्य 'सौन्दर्य केन्द्र' या Beauty Parlours हैं जो लोगों को आश्वासन देते हैं कि अमुक प्रकार से वे अपना व्यक्तित्व आकर्षक बना सकते हैं। यही नहीं, लगभग सभी पत्रिकाओं में अन्तिम पृष्ठों पर व्यक्तित्व को अधिकाधिक आकर्षक बनाने के लिए अनेक विज्ञापन रहते हैं तथा बच्चे एवं किशोर दूरदर्शन के माध्यम से बड़े-बड़े खिलाड़ियों तथा फिल्म अभिनेताओं-अभिनेत्रियों के समान व्यक्तित्व के विकास के लिए उनके हाव-भावों का अनुकरण करने की चेष्टा करते हैं। इसलिए यह जान लेना आवश्यक है कि व्यक्तित्व शब्द का असली अर्थ क्या है? यह कैसे विकसित होता है? इत्यादि।

व्यक्तित्व शब्द का अंग्रेज़ी पर्याय 'Personality' है, जिसकी उत्पत्ति Latin के 'Persona' से मानी गई है। 'Persona' का अर्थ है "मुखौटा।" ग्रीक नाटकों में अभिनेता अपने अभिनय को दर्शाने वाले मुखौटे लगाते थे। सामान्यजन अभी भी व्यक्तित्व के प्राचीन अर्थ को ही मानते हैं और व्यक्तित्व का निर्धारण व्यक्ति की बाह्य सुन्दरता से करते हैं—उसकी लम्बाई, उसका रंग, उसकी तन्दुरुस्ती इत्यादि। सुनने में आता है कि अमुक व्यक्ति का व्यक्तित्व बहुत 'अच्छा' है। लेकिन व्यक्तित्व का यह अर्थ भ्रामक है।

व्यक्तित्व के अध्ययन की अनेक दिशायें हैं जिनमें से मनोवैज्ञानिक दिशा ही सबसे अधिक उपयोगी है क्योंकि इसी के द्वारा व्यक्तित्व की अनन्यता एवं उसके लक्षणों का ज्ञान संभव है। मनोवैज्ञानिक रूप से व्यक्तित्व व्यक्ति के समग्र रूप का तथा सामान्य जीवन में अन्य व्यक्तियों के साथ उसके संपर्क का अध्ययन है।

कुछ मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व को एक उद्दीपन (Stimulus) के रूप में मानते हैं और उनका यह दावा है कि साक्षात्कार द्वारा एक व्यक्ति जिस प्रकार दूसरे व्यक्ति को प्रभावित करता है उससे उसका व्यक्तित्व जाना जा सकता है। आजकल इसी आधार पर सभी सरकारी नौकरियों में साक्षात्कार द्वारा व्यक्तित्व को परखा जाता है। लेकिन व्यक्तित्व इतना जटिल और व्यापक विषय है कि साक्षात्कार द्वारा उसका निरूपण एकांगी और अपूर्ण है।

अन्य मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व को अनुक्रिया मानकर कहते हैं कि व्यक्ति अन्य व्यक्तियों में जिस प्रकार की अनुक्रिया उत्पन्न करता है, उसी प्रकार का उसका व्यक्तित्व होता है। लेकिन इस विधि द्वारा भी व्यक्तित्व का पूर्ण स्वरूप नहीं जाना जा सकता क्योंकि यह समाज की धारणाओं पर आधारित है जो स्वयं अनैतिक एवं भ्रामक हो सकती हैं।

कालान्तर में व्यक्तित्व के अनेक अर्थ हो गये हैं और इस शब्द का प्रयोग दर्शन, धर्म तथा साहित्य में विभिन्न प्रकार से मिलता है। कुछ मनोवैज्ञानिक इसे व्यक्ति की "समस्त अनुक्रियाओं एवं गुणों का समुच्चय रूप मानते हैं और कुछ इसे व्यक्ति की विशेषताओं एवं रुचियों का समकलनात्मक पुंज मानते हैं।" मनोवैज्ञानिक **आलपोर्ट** ने 1937 में व्यक्तित्व सम्बन्धी नवीन अवधारणायें प्रतिष्ठित कीं। उन्होंने कहा कि मनुष्य एक क्रियात्मक प्राणी है जो परिस्थितियों को समायोजन द्वारा अपने अनुकूल बना सकता है। उनके शब्दों में—

"व्यक्तित्व व्यक्ति की उन मनोशारीरिक पद्धतियों का वह आन्तरिक गत्यात्मक संगठन है जो पर्यावरण में उसके अनन्य समायोजन को निर्धारित करता है।"

व्यक्तित्व के प्रकार—यूनान के प्रसिद्ध विचारक

मनोविज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

एवं चिकित्सक **हिपोक्रेटीज** ने व्यक्ति के शरीर में पाये जाने वाले चार प्रकार के कायरसों (Humours) के आधार पर व्यक्तित्व के चार प्रकार बताये हैं—क्रियाशील व्यक्तित्व वाले व्यक्ति में 'रक्त' की प्रधानता होती है, विषाद-प्रधान व्यक्तित्व में 'श्याम पित्त' की प्रधानता होती है, कोपशील व्यक्तित्व में 'पीत-पित्त' की, तथा 'श्लेष्मा' की प्रधानता वाले व्यक्ति का आलसी व्यक्तित्व होता है।

भारतीय साहित्य में **श्रीकृष्ण** ने 'श्रीमद्भग्वद्गीता' में **सतो**, **रजो** तथा **तमो** गुण के विभिन्न मात्रा में उपस्थित रहने के आधार पर तीन प्रकार के व्यक्तित्व बताये हैं—सत्व गुण की प्रधानता निर्मल व्यक्तित्व का निर्धारण करती है, रजो गुण की प्रधानता कामना और आसक्ति-युक्त व्यक्तित्व की, तथा तमोगुण का आधिक्य आलस्य, प्रमाद एवं निद्राप्रधान व्यक्तित्व को उत्पन्न करता है।

व्यक्तित्व के प्रकारों का सर्वाधिक लोकप्रिय वर्णन **कार्ल युंग** (Carl Jung) ने 1923 में किया। उनके अनुसार जो व्यक्ति अपने समाज एवं पर्यावरण में अधिक रुचि लेता है उसका बहिर्मुखी (Extrovert) व्यक्तित्व होता है। ऐसा व्यक्ति निर्भयी, चिन्ताओं से मुक्त, निजी असफलताओं से व्याकुल न होने वाला, तथ्यों पर भरोसा करने वाला, जल्दी विचलित न होने वाला तथा मिलनसार व्यक्ति होता है और इसी के विपरीत विशेषताओं वाला व्यक्ति अन्तर्मुखी (Introvert) होता है क्योंकि वह समाज से दूर, अपने विचारों में मग्न, एकांतप्रिय व्यक्ति होता है। लेकिन व्यक्तित्व इतना सहज नहीं है कि उसे इस प्रकार की स्पष्ट सीमाओं में में बद्ध किया जा सके। अधिकांश व्यक्तियों में अन्तर्मुखी एवं बहिर्मुखी विशेषताओं का मिश्रण होता है। ऐसे व्यक्तियों को उभयमुखी (Ambiverts) कहा जाता है। व्यक्तित्व का विकास किस प्रकार होता है, यह प्रश्न सभी के मन में कौंधता है। **जैविक आनुवंशिकता** एवं **सामाजिक पर्यावरण**—दोनों का ही व्यक्तित्व के विकास में योगदान होता है। व्यक्तित्व पूर्ण रूप से आनुवंशिक नहीं है, अर्थात् व्यक्ति अपने माता-पिता की कुछ प्रवृत्तियाँ जन्म से प्राप्त करता है किन्तु किस मात्रा तक प्राप्त करता है, यह पर्यावरणीय कारकों पर निर्भर करता है।

आनुवंशिक पूर्वानुकूलता के वैज्ञानिक प्रमाण कुछ प्रकार के व्यक्तित्वों के मानसिक रोगों के अध्ययन से प्राप्त होते हैं। अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि यदि माता-पिता में से कोई एक रोगी है तो बच्चे के रोगी होने की आशंका 10% बढ़ जाएगी। भ्रातृक यमज (Fraternal Twins) में यह 100 में 15 तथा समरूप यमज (Identical Twins) में 100 में 85 होती है। इसके अतिरिक्त समरूप जुड़वा बच्चों को भिन्न पर्यावरण में रखकर भी प्रयोग हुए हैं जिनमें विषमता की वही मात्रा रही है जो एक साथ पालित समरूप यमजों में थी। अतएव इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि असामान्य व्यक्तित्व के विकास में आनुवंशिकता का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है।

व्यक्तित्व के विकास में **अन्तःस्रावी ग्रन्थियों** (Endocrine Glands) का भी महत्वपूर्ण योगदान होता है। **थायराइड ग्रन्थि** से **आयोडीन** नामक रस निकलता है है जिसकी न्यूनता होने पर शिथिलता, निष्क्रियता एवं अत्यधिक न्यूनता से मनोविकार भी उत्पन्न हो सकते हैं। इसके अधिक स्राव से व्यक्ति मानसिक अशान्ति एवं उत्तेजना का अनुभव करता है। ग्रन्थियों में सबसे महत्वपूर्ण **पीयूष** (Pituitary) ग्रन्थि है। इसके दो भाग हैं जिनसे दो प्रकार के रस निकलते हैं—आगे के भाग से निकलने वाला रस शरीर की वृद्धि को प्रभावित करता है। इसके आधिक्य से व्यक्ति असामान्य लम्बा एवं न्यूनता से बौना रह जाता है। पिछले भाग से निकलने वाला रस आँतों, खून ले जाने वाली नलियों और गुर्दे के लिए उपयोगी होता है। इसकी कमी से व्यक्ति मोटा और निश्चित हो जाता है।

पर्यावरण सम्बन्धी निर्धारकों में परिवार एवं संस्कृति का महत्वपूर्ण स्थान है। **परिवार** का महत्वपूर्ण प्रभाव स्नेह है जो बाल्य-जीवन में अत्यावश्यक है। जो सुसमंजित माता-पिता अपने बच्चे को स्नेह देते हैं वे उनमें आत्म-विश्वास की भावना उत्पन्न करते हैं, किन्तु अत्यधिक स्नेह पराश्रयता (Dependency) उत्पन्न करता है जो प्रौढ़ काल तक बनी रहती है। स्नेह का अभाव बालक को आत्मकेन्द्रित तथा दिवा-स्वप्नों में मग्न बना देता है तथा ऐसा बालक बाल-अपराधी भी बन सकता है। घर

का पर्यावरण भी व्यक्तित्व के विकास को प्रभावित करता है। स्वस्थ व्यक्तित्व के विकास के लिए माता-पिता में अच्छे आपसी सम्बन्ध तथा घर का सौहार्दपूर्ण वातावरण अत्यावश्यक हैं। माता-पिता जिस प्रकार का आदर्श प्रस्तुत करते हैं, बच्चे उसी को अनुकरण द्वारा सीखते हैं। अतएव माता-पिता का बच्चों के व्यक्तित्व के विकास में महत्वपूर्ण योगदान होता है।

व्यक्तित्व पर्यावरण की संस्कृति के अनुरूप भी विकसित होता है। इसका कारण यह है कि बाल्यकाल से ही बच्चे का लालन-पालन तथा समाजीकरण (Socialization) सांस्कृतिक परम्परा के अनुसार होता है। अर्थात् बच्चे के माता-पिता उसे ऐसी आदतें, नियमादि सिखाते हैं जो उस संस्कृति में मान्य होते हैं तथा जिसे जनसामान्य मानता है। यही कारण है कि भिन्न प्रकार के समाजों में विभिन्न व्यक्तित्व पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ **एस्किमो रूक्ष स्वभाव के होते हैं, न्यू गिनि की आपेश जाति अहं और स्पर्धाहीन है, नवाहो इण्डियन्स** (Navaho Indians) **शारीरिक कष्टों के समक्ष शान्त और सहनशील रहते हैं।**

यह सर्वमान्य है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व का ज्ञान होता है, जिसे आत्म प्रेक्षण या आत्म सम्प्रत्यय (Self concept) कहते हैं। जब यह यथार्थ से भिन्न, अवांछनीय या विकृत होता है तो समायोजन में बाधायें उत्पन्न हो जाती हैं। अन्त में यह जान लेना भी आवश्यक है कि परिपक्व व्यक्तित्व (Mature Personality) क्या है और उसकी क्या विशेषतायें होती हैं? परिपक्व व्यक्तित्व से अभिप्राय ऐसे व्यक्तित्व से है जो शारीरिक, मानसिक, भावात्मक, आध्यात्मिक एवं नैतिक विकास, सभी प्रकार से सर्वाङ्गीण हो तथा सांस्कृतिक एवं सामाजिक आदर्शों के अनुरूप हो। **आलपोर्ट** के अनुसार जो व्यक्ति अपने 'स्व' का संतोषप्रद विस्तार करता है, जिसमें पर्याप्त अन्तर्दृष्टि होती है, तथा जो एकता का अनुसरण करने वाले जीवन दर्शन का अनुयायी हो, उसका व्यक्तित्व परिपक्व होता है। 'गीता के अनुसार जो व्यक्ति दुःखों से दुःखी नहीं होता तथा सुखों से सुखी नहीं होता, जो सदा शान्त रहता है, ऐसा स्थितप्रज्ञ एवं गुणातीत व्यक्ति का व्यक्तित्व परिपक्व अथवा पूर्ण रूप से विकसित होता है। आजकल व्यक्तित्व के अध्ययन के लिए प्रश्नावली, साक्षात्कार, प्रेक्षण, आत्मकथा, समाजमिति जैसी अमानकीकृत विधियाँ, बुद्धि परीक्षण, विशेषयोग्यता, समायोजन एवं व्यक्तित्व परीक्षण जैसी मानकीकृत विधियाँ उपयोग में लायी जा रही हैं।

सर्वाधिक प्रचलित प्रक्षेपण विधियाँ है जिनमें स्याही के धब्बों, विभिन्न प्रकार के चित्रों एवं रंगों से व्यक्तित्व का अध्ययन होता है। इन विधियों के अनुसार व्यक्ति अचेतन रूप से इन क्रियाओं द्वारा अपनी अंतरंग भावनाओं को आरोपित करता है, जिसके द्वारा उसका व्यक्तित्व जाना जा सकता है। **रोर्शाख एवं टी० ए० टी०** (Thematic Apperception Test) ऐसी विधियों में प्रमुख हैं।

उपर्युक्त सभी बातों को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि व्यक्तित्व अद्वितीय है, इसमें तारतम्य एवं संगति होती है, इसका परिवर्तन बहुत धीरे होता है, यह मनुष्य को पर्यावरण से अनुकूल समायोजन स्थापित करने में सहायक होता है तथा यह मनुष्य का केवल बाह्य रूप न होकर उसकी अभिरुचियों, अभिवृत्तियों, अभिप्रेरकों तथा विश्वासों की एकीकृत आन्तरिक संरचना भी है।

खर्चीले प्रसाधनों एवं आधुनिकतम वस्त्रों को छोड़ कर कुण्ठाओं एवं द्वन्द्वों से मुक्त होकर एवं शुद्ध विचारों द्वारा आइये हम सब अपना व्यक्तित्व स्वस्थ एवं परिपक्व बनाने की चेष्टा करें। □□

(पृष्ठ 13 का शेषांश)

(iii) **फॉस्फोरस के कार्बनिक यौगिक**—इनका प्रभाव भी नर्व गैस के विषैलेपन के समान ही होता है **जैसे टेट्रा एथिल पाइरोफॉस्फेट, पैराथायोन** आदि कीटनाशक भी इनके अन्तर्गत आते हैं।

(5) **नैसर्गिक विष**—ऊपर वर्णित विषैले रासायन यौगिकों के अलावा अधिक विषैले रासायनिक यौगिक प्रकृति में उपलब्ध हैं उदाहरण के लिए साँप का विष और जड़ी-बूटियों से तैयार किए हुए विष जिनका प्रयोग आदिवासी लोग अपने तीरों, भालों और अन्य तेज़ धार के हथियारों पर लगाकर करते रहे हैं। ऐसे अनेक विषयजन्य रसायनों की खोज जारी है और इस बात की पूरी संभावना है कि इससे भी अधिक विषैले रसायनों की खोज निकट भविष्य में ही की जा सके।

एक अध्ययन के अनुसार युद्ध में प्रयोग होने वाले रासायनिक एजेन्टों के दूरगामी प्रभाव पड़ते हैं। इन दूरगामी प्रभावों में शरीर पर पड़ने वाले मानसिक और स्नायविक परिवर्तन भी सम्मिलित हैं। कैंसर, फेफड़ों का संक्रमण, लिवर-क्षति, रक्त में परिवर्तन, हड्डी की बीमारी, नेत्रों में छाले पड़ना और जल्दी बुढ़ापा आना इत्यादि प्रभाव इन रसायनों से संभव हैं। विस्तृत जानकारी के लिए पाठक इन्दु प्रकाश द्वारा रचित राष्ट्र प्रहरी प्रकाशन (गाजियाबाद) द्वारा 1977 में प्रकाशित पुस्तक "रासायनिक और कीटाणु युद्ध" की सहायता ले सकते हैं।

□□

बिन पानी सब सून

प्रो॰ सीताराम सिंह 'पंकज'

यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि जल सभी प्राणियों के जीवन का आधार है। **अथर्ववेद** की उक्ति है--"जल सृष्टि का प्राण है।" यह अतिशयोक्ति नहीं; एक वैज्ञानिक सत्य भी है। सच पूछिए तो विश्व ही जलमय है। **वेद** की एक उक्ति है—"आपो हिष्ठा मयोभवस्तः न उर्जे दधातन" "यानी जल ही रोग निवारक औषधि है, वही बल और ऊर्जा का साधन है। कांति, सौन्दर्य, रमणीयता और इन्द्रियों को सक्रिय रखने वाला जल ही है।"

निस्संदेह जल ही जीवन का सार तत्व है। यदि आप नित्यप्रति खूब जल पीते हैं, खूब स्नान करते हैं, तो आप संसार के प्रत्येक पाँच व्यक्तियों में से एक भाग्यशाली हैं। विश्व में लगभग 150 करोड़ व्यक्ति ऐसे हैं, जिन्हें पीने का पानी भी पर्याप्त मात्रा में नहीं मिल पाता है। इसी तरह संसार में 180 करोड़ व्यक्तियों को सफ़ाई की सुविधाएँ उपलब्ध नहीं हैं। एक सर्वेक्षण के अनुसार विकासशील देशों (Developing Countries) में आज 90% बच्चे अशुद्ध जल पीने के कारण मरते हैं। जल की गंदगी के कारण फैलने वाले रोगों (Water borne diseases) की संख्या सबसे अधिक है। देहाती क्षेत्रों में गंदा जल रोगों के संक्रमण (Infection) का प्रमुख स्रोत है।

जल : प्राकृतिक धरोहर

पृथ्वी का 70% भाग जलमग्न है। यह एक विचित्र बात है कि कोइ एक अरब तीस करोड़ घन किलोमीटर जल जिसकी छाती पर बह रहा हो, उसी पृथ्वी पर बसने वाले लोग प्यासे क्यों हैं ! सच पूछिए तो यह 'पानी बिच मीन पियासी' वाली स्थिति है। इसका प्रधान कारण यह है कि पृथ्वी के तमाम जल का 97% भाग सागरों तथा महासागरों में कैद है। सागर का खारा या नमकीन जल पीने योग्य नहीं है। शेष 2% भाग पर्वतों और ध्रुवों पर बर्फ के रूप में जमा हुआ है। बचा हुआ मात्र 1% भाग पेय जल के रूप में पृथ्वी पर प्राकृतिक धरोहर के रूप में उपलब्ध है। चिंता की बात तो यह है कि यह 1% जल भी जो नदी-नालों, झील-झरनों और तालाबों में उपलब्ध है, दिन-दिन प्रदूषित होता जा रहा है। जल-प्रदूषण (Water Pollution) की समस्या आज एक गंभीर समस्या बन गई है।

पतितपावनी गंगा जो सदियों से मानव जीवन को पवित्र और पुलकित करती रही हैं, आज स्वयं अपवित्र हो गई हैं। गंगा जल के वैज्ञानिक जाँच से यह ज्ञात हुआ है कि इसमें रोगजन्य जीवाणुओं (pathogenic parasites) की प्रचुरता है। गरज यह कि पापनाशिनी गंगा का पावन जल भी आज प्रदूषण रहित (pollution free) नहीं है। गंगा-जल आज मुक्ति का साधन नहीं, रोगों का घर बन गया है। निस्संदेह हम सभी इसके लिए जिम्मेवार हैं। गंगा में जब तक गंदगी, कूड़े-कचरे, औद्योगिक अपशिष्ट (Industial wastes) मिलते रहेंगे, वह प्रदूषित बनी रहेंगी। किंतु संतोष का विषय है कि भारत सरकार ने गंगा को प्रदूषणमुक्त करने के लिए अनेक ठोस कदम उठाये हैं। अत्याधुनिक उपकरणों से गंगा की सफ़ाई का अभियान जारी है। और वह दिन दूर नहीं है, जब गंगा अपनी प्राचीन गौरव गरिमा को पुनः प्राप्त कर लेंगी।

जल का रासायनिक संगठन—रासायनिक विश्लेषण से यह जाहिर है कि जल दो तत्वों से बना एक यौगिक है। जल के एक अणु में हाइड्रोजन के दो और ऑक्सीजन का एक परमाणु होता है। जल का अणुसूत्र है H_2O। प्राकृतिक जल (Natural water) में इन दो तत्वों के अतिरिक्त कुछ अन्य पदार्थों जैसे आयोडीन, लोहा आदि के अंश भी होते हैं। पेय जल में आयोडीन की मौजूदगी स्वास्थ्य की दृष्टि से अनिवार्य है। ऐसा जल जिसमें लवणों की मात्रा ज़्यादा होती है, खारा जल (Hard water) कहलाता है। समुद्र का जल खारा जल होता है, जो पीने अथवा कपड़ा साफ़ करने लायक नहीं होता। फिर भी इस जल की उपयोगिता है। इसे सुखाकर नमक प्राप्त किया जाता

केदार संत रामाश्रय महाविद्यालय, अर्चनालय, सराय रंजन, समस्तीपुर, बिहार

है। मीठा जल (Soft water) उसे कहते हैं, जो पीने या कपड़ा साफ़ करने के काम में आता है। इनमें लवणों की मात्रा अधिक नहीं होती है।

जल और मानव—जल से मानव जीवन का अटूट रिश्ता है। प्रत्येक व्यक्ति को जीने के लिए प्रतिदिन लगभग 2-3 लीटर जल की आवश्यकता पड़ती है। मानव शरीर का 50-70% भाग जल से बना है। मांसपेशियों में 75%, हड्डियों में 22%, खून में 91%, दांतों व नाखूनों में 1% जल होता है। भोजन के बिना मनुष्य कुछ दिनों तक जीवित रह सकता है, लेकिन जल के बिना जीवित रहना असंभव है। वैज्ञानिकों का कहना है कि शरीर में जल की 1% कमी हो जाये, तो गंभीर संकट उत्पन्न हो सकते हैं। इसी प्रकार अगर शरीर में जल की कमी 20% हो जाए, तो मृत्यु हो जाती है। मानव शरीर की समस्त जैव-रासायनिक (Bio-chemical) क्रियाएँ—जैसे भोजन का पाचन, पचे भोजन का वितरण, रक्त परिवहन, उत्सर्जन इत्यादि जलीय माध्यम में ही सम्पन्न होती हैं। जल शरीर के गंदे तथा वर्ज्य पदार्थों (Waste products) को पसीना, मल-मूत्र आदि के रूप में बाहर निकालता है। सच पूछिए तो ऑक्सीजन की तरह जल भी शरीर के लिए नितांत आवश्यक है। शायद यही कारण है कि जल को 'जीवन का अमृत' (Elixire of life) भी कहा गया है।

पृथ्वी पर जीवन का विकास सबसे पहले जल में आरंभ हुआ। विकास के क्रम में सूक्ष्मजलीयजीवों (आमीबा, पैरामीशियम) आदि का विकास हुआ जो एककोशीय यानी 'प्रोटोजोन्स' थे। इनसे बहुकोशीय जीव विकसित हुए और फिर जलीयजीवों से स्थलीयजीवों का धीरे-धीरे विकास हुआ। अतः पृथ्वी पर जीवन की विकास-प्रक्रिया में भी जल की अहम भूमिका है।

जल की खपत—प्रदूषणरहित पेयजल मनुष्य, जानवर, और पेड़-पौधों के लिए ही नहीं, वरन् संयंत्रों, मशीनों और औद्योगिक क्रियाओं (Industrial activities) के लिए भी परम आवश्यक है। अनुमानतः एक लीटर बीयर बनाने में 20 लीटर और एक टन इस्पात बनाने में 2,00,000 लीटर जल की आवश्यकता पड़ती है। इसी तरह एक मोटरगाड़ी बनाने के लिए 380,000 लीटर जल चाहिए। एक मीटर ऊनी कपड़ा बनाने में 10 हजार लीटर तथा एक लीटर पेट्रोल बनाने में 10 लीटर पानी की खपत होती है।

आज प्रत्येक व्यक्ति की जल की औसत आवश्यकता 220-230 लीटर प्रतिदिन है। बर्तन तथा कपड़े धोने, कूलर एवं वातानुकूलन मशीनों के संचालन के लिए जल की मांग निरन्तर बढ़ती जा रही है। विशेषज्ञों का अनुमान है कि सन् 2000 तक हर व्यक्ति को प्रतिदिन लगभग 400 लीटर जल की आवश्यकता पड़ेगी। एक आँकड़े के अनुसार सम्पूर्ण विश्व में प्रतिदिन लगभग 16 अरब गैलन जल खर्च होता है। केवल पीने के लिए ढ़ाई अरब गैलन जल की आवश्यकता होती है। बम्बई तथा कलकत्ता को प्रतिदिन लगभग 15 करोड़ गैलन जल चाहिए। महानगरों से लेकर छोटे-छोटे शहरों तक सर्वत्र जल की मांग बढ़ती जा रही है। जाहिर है कि जल हमारे जीवन और अस्तित्व के लिए अपरिहार्य है।

जल के बिना पृथ्वी पर जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती है। प्राणियों के शरीर में सर्वाधिक मात्रा जल की होती है। शरीर की कोशिकाओं में 60-70% जल होता है। पेड़-पौधों और अच्छी फसल के लिए भी जल अनिवार्य है। रेगिस्तान और अरब देशों में लोग पेय जल के लिए तरसते रहते हैं। वैसे सौभाग्य से भारत में जल की स्थिति अच्छी है। फिर भी हमें जल के सभी स्रोतों को प्रदूषणमुक्त रखने हेतु हर संभव प्रयास करना चाहिए।

जल-प्रदूषण (Water Pollution)

आज विकासशील देशों में जल-प्रदूषण की समस्या दिन-दिन गंभीर बनती जा रही है। भारत की लगभग सभी नदियाँ प्रदूषित हैं। इनके प्रदूषण के अनेक कारण हैं। प्रदूषण का मुख्य कारण है शहरी क्षेत्रों के कल-कारखानों से निकलने वाला औद्योगिक कचरा, जो अबाध गति से नदियों के जल में मिलता रहता है। यह पेयजल को दूषित ही नहीं करता, वरन् जलीय जीवों (Aquatic life) को भी नष्ट करता है। जाहिर है कि औद्योगिक कचरे में अनेक रासायनिक पदार्थ होते हैं, जो विषैले और हानिकर होते हैं। जलीयजीवों, मुख्यतः मछलियों का विनाश, एक प्रमुख समस्या बन गई है। कानपुर, पटना, इलाहाबाद, वाराणसी तथा अन्य शहरों से होकर बहने वाली नदियाँ प्रदूषित हो गई हैं। गंदे जल के उपयोग से विभिन्न प्रकार की बीमारियाँ फैलती हैं। आज आवश्यकता इस बात की है कि नदियों के प्रदूषण को रोकने के लिए केवल सरकारी ही नहीं वरन् सार्वजनिक स्तरों पर भी हर संभव प्रयास किया जाए। यह व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के हित में है।

□□

हेरल्ड क्लेटन यूरे

डॉ० रामचन्द्र कपूर

हेरल्ड क्लेटन यूरे का जन्म अमेरिका के वार्कटन, इंडियाना नामक स्थान में 21 अप्रैल, 1893 को हुआ था। उन्होंने मोनटॉना विश्वविद्यालय से 1917 में प्राणिविज्ञान विषय के साथ स्नातक की उपाधि प्राप्त की। 1921 में उन्होंने महान् रसायनज्ञ **जी० एन० ल्यूइस** के साथ कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय में शोध कार्य करना प्रारम्भ किया तथा वहीं से 1923 में पी० एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। 1929 से 1945 तक वे कोलम्बिया विश्वविद्यालय में, 1945-56 में वे शिकागो विश्वविद्यालय में, 1956-57 में वे ऑक्सफोर्ड विश्व विद्यालय में रहे। फिर 1958 में वे कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय वापस आ गये जहाँ वे 22 वर्षों तक पहले प्रोफेसर-एटलार्ज तथा बाद में प्रोफेसर एमेरिटस रहे।

यूरे का प्रारम्भिक शोधकार्य परमाणु संरचना तथा अणुओं की संरचना से संबंधित द्विपरमाणीय तथा बहु-परमाणीय अणुओं के उष्मागतिक गुणों व वर्णक्रमिकी (स्पेक्ट्रॉस्कोपी) के अध्ययन की ओर केंद्रित रहा। 1931 में उन्होंने हाइड्रोजन, नाइट्रोजन व ऑक्सीजन के प्राकृतिक समस्थानिकों की प्रचुरता का विस्तृत अध्ययन प्रारंभ किया। उन्होंने द्रव हाइड्रोजन के प्रभाजी आसवन द्वारा हाइड्रोजन के सम्भावित भारी समस्थानिकों के सांद्रण का एक तरीका खोजा, और इस प्रकार **ड्यूटीरियम** की खोज करने में सफलता पाई। अगले तीन वर्षों में उन्होंने साधारण हाइड्रोजन से **ड्यूटीरियम** का पृथक्करण किया तथा उसके उष्मागतिकीय, भौतिक व वर्णक्रमीय गुणों का साधारण हाइड्रोजन से तुलनात्मक अध्ययन किया। **ई० डब्लू० वाशवर्न** के साथ उन्होंने हाइड्रोजन समस्थानिकों के पृथक्करण का विद्युत्-विश्लेषिक तरीका खोजा। 1934 में उन्होंने ड्यूटेरोमीथेन तैयार करने की प्रथम विधि खोजने में सफलता पायी। इसके बाद ड्यूटीरियम के अन्य व्युत्पन्नों का संश्लेषण व अध्ययन किया। इस कार्य ने **समस्थानिक-लेबलिंग** विधि की नींव डाली।

यूरे को ड्यूटीरियम की खोज के लिये 1934 में रसायन विज्ञान में नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया। उन्हें 1940 में **रॉयल सोसाइटी** का 'डेवी मेडल' प्रदान किया गया, तथा 1947 में उन्हें **रॉयल सोसाइटी** का विदेशी सदस्य मनोनीत किया गया।

यूरे के प्रारम्भिक शोधकार्य ने भारी तत्वों के समस्थानिकों के पृथक्करण, तथा प्रकृति में समस्थानिकों के वितरण का अध्ययन करने की प्रेरणा दी। इस कार्य ने बाद में पृथ्वी व अन्य ग्रहों की उत्पत्ति व संरचना से संबंधित रसायन विज्ञान का विस्तृत अध्ययन करने की प्रेरणा दी तथा **यूरे** ने पृथ्वी की संरचना के समय बदलते वायुमंडल, तथा घटकीय तत्वों से जीवन के लिये आवश्यक अमीनो अम्लों के निर्माण से संबंधित सिद्धांत प्रतिपादित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। उन्होंने पुरातापक्रम की माप, पृथ्वी तथा अन्य ग्रहों के निर्माण के रासायनिक पक्षों, तथा पृथ्वी पर जीवन की उत्पत्ति से संबंधित बहुत से लेख लिखे। **यूरे** के बहुत से विचार उनके द्वारा लिखित पुस्तक **"ग्रह : उनकी उत्पत्ति तथा विकास"**, जो 1952 में प्रकाशित हुई, में व्यक्त किये गये हैं।

यूरे को देश-विदेश की विभिन्न रासायनिक भूरासायनिक तथा खगोलीय संस्थाओं के बीस से भी अधिक पुरस्कार प्रदान किये गये। इनमें से कुछ प्रमुख हैं : गौरवशाली 'विलार्ड गिब्स मेडल' (1934 में), 'जोजेफ प्रीस्टले पुरस्कार' (1973 में) तथा 'नासा' का 'अपवाद भूत वैज्ञानिक लब्धि पुरस्कार' (1973 में)। उन्हें विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा डी० एस-सी० की मानद उपाधियों से भी विभूषित किया गया।

इस महान वैज्ञानिक की 87 वर्ष की उम्र में 5 जनवरी 1981 को मृत्यु हो गयी और इसके साथ ही विज्ञान जगत् ने एक बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न तथा कल्पनाशील विचारक खो दिया।

□□

रसायन विभाग, क्राइस्ट चर्च कॉलेज, कानपुर-208001

जीवाणु और नील-हरित शैवाल : कृषि के लिए वरदान

कु० अर्पिता

कृषि के क्षेत्र में यह एक सर्वविदित तथ्य है कि रासायनिक उर्वरकों के लगातार उपयोग से भूमि की उर्वरा शक्ति नष्ट होने लगती है और अंततः पूर्णरूपेण नष्ट हो जाने की आशंका बढ़ जाती है। रासायनिक उर्वरक दिन ब दिन मँहगे भी होते जा रहे हैं। और तो और भूमि में डाले गये उर्वरकों का मात्र 30 प्रतिशत भाग ही इस्तेमाल हो पाता है, शेष बेकार हो जाता है। भारत में आमतौर से प्रति हेक्टेयर उर्वरक की खपत लगभग 42 किलोग्राम है (41.9 किलोग्राम)। उर्वरक के इस्तेमाल की यह मात्रा हमारे पड़ोसी देशों, बंगला देश, श्री लंका और चीन से ज़्यादा है जबकि नाइट्रोजन उर्वरकों के उत्पादन में भारत चौथे स्थान पर और फॉस्फेट के उत्पादन में आठवें स्थान पर आता है।

उपरोक्त कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए भारतीय कृषि वैज्ञानिकों ने रासायनिक उर्वरकों के स्थान पर जीवाणुओं, नील-हरित शैवाल और **एज़ोला** आदि का उपयोग करके वाराणसी में 36 प्रतिशत और कानपुर में 38 प्रतिशत तक धान का उत्पादन बढ़ाने में सफलता पाई है। धान के अतिरिक्त चना, मूँग और अरहर के उत्पादन में भी जीवाणुओं के उपयोग से 9-55 प्रतिशत तक वृद्धि हुई है।

इस नयी कृषि विधि द्वारा मिट्टी में उर्वरक नहीं डालना पड़ता बल्कि उसके स्थान पर जीवाणु डाल दिये जाते हैं। इससे पौधे अपने अन्दर ही ज़रूरी उर्वरकों का उत्पादन कर लेते हैं। इसमें संदेह नहीं कि इक्कीसवीं सदी की खेती इसी जैव तकनीक पर आधारित होगी। इस प्रक्रिया से वायु में विद्यमान गैसीय नाइट्रोजन को पानी में घुलनशील नाइट्रोजन से यौगिकों में परिवर्तित करने की नैसर्गिक क्षमता का उपयोग पौधे स्वयं कर लेंगे। इस प्रकार न केवल मिट्टी की उत्पादन क्षमता बनी रहेगी बल्कि उस धन और ऊर्जा की भी बचत होगी जो रासायनिक उर्वरकों के उत्पादन में खर्च होती है। जीवाणुओं में **राइज़ोबियम, एज़ेटोबैक्टर, एज़ोस्पाइरिलम, क्लोसीरीडिया,** नील-हरित शैवाल और पानी का फर्न **एज़ोला** प्रमुख हैं। एक अनुमान के अनुसार भारत में प्रतिवर्ष लगभग 36 मिलियन टन नाइट्रोजन उर्वरकों का इस्तेमाल कृषि में किया जाता है जबकि वातावरण से लगभग 139 मिलियन टन नाइट्रोजन उपलब्ध हो सकती है। साथ ही वायु में 79 प्रतिशत नाइट्रोजन गैस विद्यमान होती है।

एक सर्वेक्षण में देश के विभिन्न भागों से मिट्टी के 2213 नमूने एकत्र किए गये। इसमें से 33 प्रतिशत में नाइट्रोजन को स्थिर करने वाले शैवाल पाये गये। भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान (IARI) के **डॉ० जी० एस० वेंकटरामन** और उनके सहयोगियों ने विभिन्न क्षेत्रों से लिए गये मिट्टी/शैवालों के 25,000 नमूनों से शैवालों के 500 से अधिक उपभेदों (Strains) को अलग किया है।

डॉ० वेंकटरामन के अनुसार इन शैवालों के उपयोग की संस्तुति केवल धान की खेती के लिए की गयी है जहाँ नमी या जल पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है, किन्तु इनका उपयोग सब्ज़ियों, कपास और गन्ने की खेती में भी सफलतापूर्वक किया जा सकता है। वैसे गेहूँ की खेती के लिए इनका उपयोग नहीं करना चाहिए। किसानों में शैवाल का उपयोग लोकप्रिय हो रहा है। तमिलनाडु, आन्ध्रप्रदेश का गोदावरी क्षेत्र और महाराष्ट्र के किसान शैवालों का इस्तेमाल कर रहे हैं। तमिलनाडु में तो कृषि विभाग उन्नत बीजों और खेती की अन्य आवश्यक वस्तुओं के साथ डिब्बा बन्द शैवाल भी कृषकों को उपलब्ध कराता है। पर खेतों में डाले जाने वाले कीटनाशियों (पेस्टीसाइड्स) से शैवालों को हानि पहुँचती है। इस कारण भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान के वैज्ञानिक नील-हरित शैवालों की ऐसी किस्मों को विकसित करने में लगे हुए हैं जिन्हें पेस्टीसाइड्स प्रभावित न कर सकें। □□

जगत तारन गर्ल्स इण्टर कॉलिज, इलाहाबाद

परिषद् का पृष्ठ

विज्ञान परिषद्, प्रयाग द्वारा अपनी स्थापना की 75 वीं वर्षगाँठ के अवसर 10 मार्च 1988 को 'राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला' नई दिल्ली के प्रेक्षागृह में **डॉ० आत्माराम** की स्मृति में एक व्याख्यान का आयोजन किया गया। 'राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला' नई दिल्ली के निदेशक **डॉ० श्रीकृष्ण जोशी** ने आरंभ में व्याख्यादाता **स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती**, वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद् (C. S. I. R.) के महानिदेशक **डॉ० ए० पी० मित्र**, **डॉ० आत्माराम जी के परिवारजनों** एवं उपस्थित श्रोताओं का स्वागत किया। इसके पश्चात् व्याख्यान की अध्यक्षता कर रहे **डॉ० ए० पी० मित्र** ने 'डॉ० आत्माराम स्मृति व्याख्यानमाला' के उद्देश्यों के बारे में बताते हुए व्याख्यानदाता का परिचय दिया। **डॉ० मित्र** ने 'विज्ञान परिषद्' की स्थापना और विज्ञान के प्रचार-प्रसार संबंधी उसकी उपलब्धियों का ज़िक्र करते हुए करतल ध्वनि के बीच यह सूचना भी दी कि परिषद् के 'अमृत जयंती वर्ष' के समारोहों की औपचारिक शुरुआत इसी व्याख्यान से हो रही है।

स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती ने 'डॉ० आत्माराम और उनका व्यक्तित्व' विषय पर अपना व्याख्यान देते हुए डॉ० आत्माराम जी की निर्धन ग्रामीण पृष्ठभूमि के संदर्भ में उनकी अंतर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त वैज्ञानिक उपलब्धियों का

[चित्र में बायें से डॉ० शिवगोपाल मिश्र, डॉ ए० पी० मित्र, स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती एवं डॉ० श्रीकृष्ण जोशी। फोटो सौजन्य श्री आर० सी० धवन]

विश्लेषण किया। आजादी पूर्व के जमाने में, जबकि विज्ञान का सारा ज्ञान अंग्रेजी में ही उपलब्ध था, डॉ० आत्माराम ने विज्ञान-शिक्षा के अपने दो महत्वपूर्ण सोपान हिन्दी की सहायता से ही तय किये। इण्टर में **डॉ० फूलदेव सहाय वर्मा** ने उन्हें हिन्दी में विज्ञान व्यक्तिगत रुचि लेकर पढ़ाया और एम०एस-सी० की 'इम्प्रेस विक्टोरिया रीडरशिप' भी उन्हें 'विज्ञान' (मासिक) में प्रकाशित उनके लेखों की बदौलत ही मिली। यदि हिन्दी ने उनके जीवन के महत्वपूर्ण मोड़ों पर उनकी सहायता न की होती, तो वे संभवत: इन्टर में विज्ञान विषय लेकर न पढ़ पाते और न ही वैज्ञानिक शोध के क्षेत्र में अपना उल्लेखनीय योगदान कर पाते। यही कारण है कि आजीवन वे हिन्दी के अनन्य प्रेमी व नि:स्वार्थ सेवक बने रहे और 'विज्ञान परिषद् प्रयाग' से अभिन्न रूप से जुड़े रहे। स्वभाव, प्रकृति एवं पहनावे से पूर्णत: गाँधीवादी डॉ० आत्माराम जी के लिए हिन्दी राजनीति का प्रश्न न होकर साधारण जनता तक विज्ञान पहुँचाने का माध्यम थी।

आत्माराम जी परम पुरुषार्थ में विश्वास रखते थे और किसी भी समस्या को नियति के भरोसे छोड़ने को तैयार न थे। उन्होंने स्वयं को जीवन भर जनता का आदमी समझा और आम जनता की समस्याओं व दु:ख-दर्द को अपना मानकर उनके समाधान का प्रयास करते रहे। निरंतर चुनौतीपूर्ण निराशाजनक परिस्थितियों के बावजूद सफलता एवं प्रसिद्धि के उच्चतम शिखर तक पहुँचने वाले डॉ० आत्माराम के चरित्र की यह विशेषता थी कि भूतकाल को वे तत्क्षण विस्मृत कर देते थे, भविष्य कभी उनकी चिंता का विषय न रहा और वर्तमान में जो भी स्थिति आई उसको उन्होंने स्वीकार किया। उस स्थिति में जो कुछ भी करना था, डॉ० आत्माराम ने उसे 'पूर्णता' से किया।

इस प्रकार स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती जी ने डॉ० आत्माराम के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं को उजागर किया और उनके **डॉ० शान्ति स्वरूप भटनागर, डॉ० नीलरतन धर, डा० मेघनाद साहा** और अपने अंतरंग संबंधों की भी चर्चा की।

इस रोचक व विश्लेषणतात्मक व्याख्यान के पश्चात् **डॉ० शिवगोपाल मिश्र** ने डॉ० मित्र, डॉ० जोशी, स्वामी जी एवं उपस्थित श्रोताओं के प्रति विज्ञान परिषद् की तरफ से आभार व्यक्त किया। व्याख्यान के आयोजन में सहायता एवं सहयोग के लिए राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला के **श्री के० सी० खुल्लर, श्री विष्णुदत्त शर्मा** एवं अन्य कर्मियों को उन्होंने विशेष रूप से धन्यवाद दिया। □□

—प्रस्तुति : अनिल कुमार शुक्ल

प्रो० देवेश चन्द्र पाण्डेय नहीं रहे

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के वनस्पति विज्ञान विभाग के अध्यक्ष **प्रो० देवेश चन्द्र पाण्डेय** का स्कूटर दुर्घटना में 5 मार्च की दोपहर को स्वर्गवास हो गया। चोट उनके सिर में लगी थी।

55 वर्षीय प्रो० पाण्डेय मूल रूप से प्रतापगढ़ के निवासी थे। उन्होंने 1957 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय से एम० एस-सी० की डिग्री प्राप्त की और प्रसिद्ध शैवाल-विज्ञानी **प्रो० मित्र** के निर्देशन में डी० फिल० डिग्री लेने के बाद 1963 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के ही वनस्पति विज्ञान विभाग में प्रवक्ता नियुक्त हुए। 1987 में प्रो० पाण्डेय ने विभागाध्यक्ष का कार्यभार संभाला। शैवाल विज्ञान(Algology) के क्षेत्र में उनके उच्चस्तरीय योगदान ने उन्हें अंतर्राष्ट्रीय स्तर का वैज्ञानिक बना दिया था। प्रो० पाण्डेय द्वारा रचित पुस्तक 'ए टेस्ट बुक ऑन एल्गी' विद्यार्थियों और अध्यापकों में समान रूप से लोक-प्रिय थी। राष्ट्र भाषा हिन्दी से उनका विशेष लगाव था। 'विज्ञान परिषद्, प्रयाग' से आपका सदैव निकट का संबंध रहा। प्रो० पाण्डेय ने हिन्दी में विज्ञान की एक पत्रिका 'विज्ञान भारती' का कई वर्षों तक सफल प्रकाशन भी किया और अनेक लेख लिखे।

प्रो० पाण्डेय के निधन से विज्ञान जगत् को अपूरणीय क्षति हुई है। विज्ञान परिषद् परिवार की स्व० प्रो० पाण्डेय को भावभीनी श्रद्धांजलि। □□

विज्ञान समाचार

उदय नारायण सिंह

1. 150 वर्ष तक कैसे जियें ?

पाइनल ग्लैंड (शंकु रूप), एपिफीसिस द्वारा उत्पन्न किये गये मिश्रणों को यदि शरीर में प्रवेश करा दिया जाये तो आयु का प्रभाव पड़ने की प्रक्रिया धीमी पड़ जाती है और इस तरह पशुओं की, मनुष्य की आयु बढ़ जाती है। ऐसा दावा 'लेनिनग्राद ओन्कोलॉजी संस्थान' के अनुसंधानकर्त्ताओं ने किया है। उन लोगों ने पशुओं पर, खास तौर से चूहे पर, इसका प्रयोग किया है।

एपिफीसिस असंक्राम्यता को बढ़ाता है। इसके वर्द्धित प्रयोग से, जिन पशुओं पर जाँच की गई, उनकी आयु औसतन 20 प्रतिशत बढ़ गई और ट्यूमर ज्यादा नहीं बढ़ा।

विशेषज्ञ एकमत हैं कि मनुष्य के जीवन की जननिक सीमा 150 साल है। अब तक बहुत थोड़े लोग इस आयु तक जी सके हैं।

2. प्रत्येक व्यक्ति पर दवा का प्रभाव समान नहीं

पिल्स और मिक्शचर, जो एक रोगी के लिए लाभकर है, वह दूसरे के लिए प्रभावहीन साबित हो सकते हैं अथवा नुकसान भी पहुँचा सकते हैं। किसी व्यक्ति में किसी दवा की प्रतिक्रिया उसके "जेनेटिक कोड" के मुताबिक होती है। यह मत कियेव के 'बाल--चिकित्सा, प्रसूति विज्ञान और नारी विज्ञान संस्थान' के वैज्ञानिकों का है।

"हमने पता लगाया कि एक ही दवा की समान खुराक का असर बच्चों के वंशगत गुणों पर निर्भर करता है," ऐसा उक्राइन के जाने-माने विशेषज्ञ **मिरन तारा-खोवस्की** ने कहा।

इन नई खोजों के आधार पर वैज्ञानिकों को गंभीर पुराने रोगों के इलाज के लिए प्रत्येक बच्चे के लिए निरापद और कारगर दवायें तैयार करने में मदद मिलेगी।

3. नशेबाजी और धूम्रपान का इलाज

उक्राइनियाई नगर फियोदोसिया के एक डॉक्टर **अलेग्ज़ांदर दोवझेन्को** ने 1,00,000 नशेड़ियों और धूम्र-पान करने वालों को उनसे हुई विभिन्न बीमारियों से छुट-कारा दिलाया है। उनकी चिकित्सा-पद्धति को "स्ट्रेस थेरापी' कहा जाता है और इसका इस्तेमाल हकलाहट, एलर्जी से होने वाले रोगों तथा न्यूरोसिस में भी किया जा सकता है। उनके सुझावों का उपयोग मनोरोग विशे-षज्ञों तथा नार्कोलाजी विशेषज्ञों की ट्रेनिंग में किया जायेगा।

डॉ० दोवझेन्को मिस्री, चीनी, तिब्बती, भारतीय, पश्चिम यूरोपीय तथा रूसी दवाओं का अध्ययन करते रहे हैं।

उनका दावा है कि उनकी चिकित्सा-प्रणाली दशकों पुरानी 'पीने की आदत' छुड़ा देती है।

4. विमान में सर्जिकल वार्ड

एक एएन-26 परिवहन विमान, जिसे सर्जरी की सारी सुविधाओं से युक्त एंबुलेंस का रूप दे दिया गया है, कठोर जलवायु वाले क्षेत्रों के लिए इमरजेंसी की स्थितियों में बड़ा उपयोगी साबित हुआ।

इस विमान के भीतर एक सघन चिकित्सा यूनिट, एक पूर्ण साधन-सम्पन्न पुनरुज्जीवन व शल्य-चिकित्सा वार्ड तथा एक रिकवरी रूम है, जिसमें कृत्रिम फेफड़े, हृदय-रोग के उपचार के लिए तथा खून की जाँच के लिए उपकरण, खून चढ़ाने के साधन आदि हैं।

इस एएन-26 विमान का नाम है—"रक्षक"। चिकित्सा के उपकरणों को जरूरत पड़ने पर ज्यादा बिजली मिल सके, इसके लिए इसमें अतिरिक्त विद्युत्-संयंत्र भी हैं और किसी भी मौसम में इसमें आवश्यक तापमान बनाये रखा जाता है। □□

सेक्टर 5/1017, आर० के० पुरम, नई दिल्ली—22

विज्ञान वक्तव्य | भारत का पहला दूरसंवेदी उपग्रह

आई० आर० एस० 1-ए भारत का प्रथम दूर संवेदी उपग्रह अंतरिक्ष विज्ञान के क्षेत्र में भारत की ऐसी महान उपलब्धि है, जिसने देश को विश्व के गिने-चुने सक्षम देशों की श्रेणी में ला खड़ा किया है। भारत से पूर्व केवल समृद्धशाली सोवियत संघ, जापान, अमेरिका और फ्रांस में ही दूर संवेदन उपग्रह की इस प्रकार की सुविधा सुलभ थी। उपलब्धि की अनुभूति इसलिए भी तीव्र हो जाती है, क्योंकि इसे पूर्णरूपेण स्वदेशी तकनीक से भारत में ही भारतीय वैज्ञानिकों द्वारा बनाया गया था। इसके सूक्ष्मनिरीक्षण पर सोवियत वैज्ञानिकों ने भी इसकी कारीगरी को संतोषजनक पाया। केवल ईंधन भरने व बाइकोनूर अंतरिक्ष केन्द्र (सोवियत संघ) से **'वास्तोक'** नामक सोवियत अंतरिक्ष यान द्वारा इसके प्रक्षेपण व निर्धारित कक्षा में इसे स्थापित करने का कार्य सोवियत वैज्ञानिकों की सहायता से सम्पन्न हुआ है। भारत में यह उपग्रह 'भारतीय अनुसंधान संगठन' की वर्षों के कड़े परिश्रम के फलस्वरूप निर्मित किया जा सका है। इस कार्य में 'हिन्दुस्तान एरोनॉटिक्स लिमिटेड' और 'भारत इलेक्ट्रॉनिक्स लिमिटेड' द्वारा महत्वपूर्ण योगदान प्रदान किया गया है।

आई० आर० एस० 1-ए 980 किलोग्राम भार वाला ऐसा दूर संवेदी उपग्रह है जो पृथ्वी से 904 किलोमीटर की ऊँचाई पर स्थित है। इसे सूर्योन्मुखी भूस्थिर कक्षा में स्थापित किया गया है। इस उपग्रह में तीन ऐसे अत्यंत शक्तिशाली कैमरों की व्यवस्था है जो प्रकाश व इन्फ्रारेड किरणों के माध्यम से फोटो खींच सकते हैं। इनके द्वारा प्रेषित चित्रों में पृथ्वी पर 32 मीटर दूर स्थित वस्तुओं को भी बहुत साफ़ देखा जा सकेगा। 103 मिनट में पृथ्वी की एक परिक्रमा कर लेने वाला यह दूर संवेदी उपग्रह भारतीय समय के अनुसार रोज सुबह दस बजे भूमध्य रेखा पर से गुज़रेगा। इसकी परिक्रमा व गति इस प्रकार से नियंत्रित है कि यह पृथ्वी के किसी भाग विशेष पर से बाइसवें दिन गुज़रेगा। इस प्रकार हर बाइस दिन के अंतराल पर इसके द्वारा भेजे गये चित्रों से उस अवधि से बीच उस स्थान पर हुये भौतिक परिवर्तनों का अध्ययन सुगमता से किया जा सकेगा।

दूरसंवेदी के प्रेषित चित्र, भूगोल, कृषि, वन, नदियों, खनिजों, सागरों, भूसंरक्षण, मत्स्य-पालन आदि क्षेत्रों से संबंधित इतनी बहुमूल्य जानकारी देने में समर्थ होंगे जिसे परंपरागत साधनों से प्राप्त करने में वर्षों लग जाते। यही नहीं इसके अतिरिक्त यह उपग्रह भूगर्भ में स्थित जल, पर्वतों की हिमराशि, सौर प्रकाश और ऊर्जा के सही सदुपयोग और पृथ्वी की तहों में छिपी ध्वस्त प्राचीन सभ्यताओं तक के विषय में अपने चित्रों द्वारा सूचनायें उपलब्ध कराने में सक्षम है। बाढ़, अकाल और उचित फ़सलों व बीजारोपण के क्षेत्र में अपने बहुमूल्य योगदान द्वारा यह उपग्रह अत्यंत लाभकारी सिद्ध होगा, इसमें शंका नहीं।

दूरसंवेदी उपग्रह द्वारा प्रेषित इन सभी सूचनाओं को प्राप्त करने की व्यवस्था हैदराबाद के निकट स्थित 'राष्ट्रीय दूर संवेदन एजेन्सी भूकेन्द्र' (शादनगर) में है। अनुमान है कि उपग्रह से प्रतिदिन भेजे जाने वाले आँकड़े इतने अधिक होंगे कि उसको फिल्मों और फोटोग्राफों में रूपान्तरित करने में महीनों का समय लग जायेगा और भारत की सत्तर से अधिक संस्थायें इन सूचनाओं से लाभान्वित होंगी।

इस सफल कार्यक्रम के उपरांत अब भारतीय वैज्ञानिक अपना निजी प्रक्षेपणयान बनाने की दिशा में प्रयत्नशील हैं। कुछ ही वर्षों में भारत इस दिशा में पूर्ण समर्थ हो जायेगा और उस अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक बिरादरी का अति सम्मानित सदस्य बन सकेगा जिनके पास ऐसी सुविकसित सुविधायें हैं। अंतरिक्ष अनुसंधान के क्षेत्र में इससे भारत की साख बढ़ी है। □□

कैसे कार्य करते हैं ये अंकीय एकीकृत परिपथ

आशुतोष मिश्र

कंप्यूटर को अक्सर हम ऐसे स्विचों के जंजाल के रूप में लेते हैं, जो निरन्तर "ऑन" तथा "ऑफ़" होते रहते हैं। आप पिछले कुछ लेखों में इस विषय में बहुत कुछ जान चुके हैं। आपके मन में कभी-कभी यह प्रश्न आता होगा–आखिर ये स्विच होते कैसे हैं ?, कितने बड़े होते हैं ? और सबसे बड़ी बात तो यह कि ये स्वत: "ऑन-ऑफ़" कैसे होते रहते हैं ? ये स्विच गोल होते हैं कि चौकोर ? या फिर कहीं षट्कोण के आकार के तो नहीं होते ? ये एक माइक्रॉन बड़े होते हैं ? या फिर एक सेन्टीमीटर बड़े ?······छोड़िए, पहेली बुझाने के बजाए हम ही आपको बताए देते हैं–तो चलिए, चलें अंकीय एकीकृत परिपथों (Digital Integrated Circuits) की अद्‌भुत दुनिया में।

कंप्यूटरों में समस्त तार्किक गणनाएँ ऐसे तार्किक परिपथों के माध्यम से होती हैं, जिनकी दो स्थिर अवस्थाएँ होती हैं—और ये दो अवस्थाएँ भली-भाँति निर्धारित रहती हैं। इसका कारण यह है कि, किसी भी तार्किक प्रश्न के दो निष्कर्ष होते हैं--सत्य (Truth) अथवा असत्य (False)। इन दोनों अवस्थाओं को कंप्यूटर में एक (1) तथा शून्य (0) द्वारा व्यक्त किया जाता है। इसी कारणवश कंप्यूटर में द्विआधारी संख्या पद्धति (Binary Number System) का विस्तृत प्रयोग होता है। इस पद्धति में प्रत्येक संख्या 0 तथा 1 द्वारा व्यक्त की जा सकती है। जैसे 17=10001 यानि कि–

$$17=1\times2^{0}+0\times2^{1}+0\times2^{2}+0\times2^{3}+1\times2^{4}$$

यह तो हमने जान लिया कि इस पद्धति का प्रयोग कंप्यूटरों में संभव है, परन्तु कैसे ? किस प्रकार आप कंप्यूटर को बताएंगे कि अब उसकी अवस्था शून्य वाली होनी चाहिए और अब एक वाली !! यह वास्तव में एक कठिन कार्य होता है, तथा इसके लिए दो मुख्य युक्तियाँ प्रयोग में लायी जाती हैं—

(i) **वोल्टेज स्तरों द्वारा**—इस विधि में अधिक वोल्टता स्तर (higher voltage level) "तर्क-1" की स्थिति दर्शाता है, तथा निम्न वोल्टता स्तर "तर्क-शून्य" की स्थिति ! इस प्रकार विभिन्न बिट्स (bits = binary digits) को भिन्न-भिन्न वोल्टता स्तर देकर, पूर्ण संख्या तैयार की जाती है—तथा ये वोल्टता स्तर तब तक स्थिर रहते हैं, जब तक उस संख्या को प्रदर्शित करना होता है, अथवा उस पर गणनाएँ करनी होती हैं, या फिर उन्हें **मेमोरी** (memory) में संचयित करना होता है।

(ii) **स्पंदों द्वारा** (Pulses)—इस विधि में स्पंद की उपस्थिति "तर्क-1" की द्योतक होती है, तथा स्पंद की अनुपस्थिति "तर्क-शून्य" की।

वोल्टता स्तर विधि में भी दो प्रणालियाँ प्रयुक्त होती हैं—

(i) **धनात्मक तार्किक प्रणाली** (Positive logic convention)—यदि अधिक धनात्मक वोल्टेज "तर्क-1" तथा कम धनात्मक वोल्टेज "तर्क-0" प्रदर्शित करते हैं, तो वे धनात्मक तार्किक प्रणाली के अन्तर्गत आते हैं।

(ii) **ऋणात्मक तार्किक प्रणाली** (Negative logic convention)--यदि अधिक ऋणात्मक वोल्टेज "तर्क-1" व कम ऋणात्मक वोल्टेज "तर्क शून्य" प्रदर्शित करते हैं, तो वे ऋणात्मक तार्किक प्रणाली के अन्तर्गत आते हैं।

इन दोनों प्रणालियों में से कोई भी एक सुविधानुसार प्रयोग में लायी जा सकती है—तथा सूक्ष्म परिवर्तनों द्वारा दोनों को आपस में बदला भी जा सकता है।

गेट (Gate)—"**गेट**" अथवा "**द्वार/प्रवेश**" से तो आप भलीभाँति परिचित होंगे—आपने भिन्न-भिन्न प्रकार के द्वार भी देखे होंगे—यूनिवर्सिटी के "यूनियन गेट" से लेकर "इंडिया गेट" तक गेट ही गेट भरे पड़े हैं—परन्तु सबका मुख्य कार्य एक ही होता है—किसी बाहरी वस्तु के प्रवेश को अनुमति देना अथवा अवरुद्ध करना।

भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, कानपुर (उत्तर प्रदेश)

तो आइए एक अन्य गेट पर भी दृष्टि डालें--यह है एक **इलेक्ट्रॉनिक गेट**, जो सभी अंकीय परिपथों में प्रयुक्त होता है। इसका कार्य होता है--आने वाले सिग्नलों (signals) के वोल्टता स्तरों को परखना, तथा यह निर्णय लेना कि किस स्थिति में कितने सिग्नलों को बाहर निकलने देना है, और कितनों को रोक देना है। गेट मुख्यतः तीन प्रकार के होते हैं—
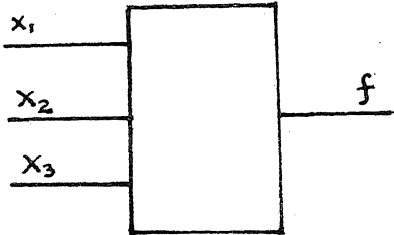
साधारण गेट का तार्किक संकेत चिह्न

(i) AND **गेट**—यह "तर्क-1" अवस्था तभी प्राप्त करता है जब कि समस्त निवेश सिग्नलों (input signals) का वोल्टता स्तर "तर्क-1" वाला होता है। यदि किसी भी एक सिग्नल का वोल्टता स्तर "तर्क-शून्य" का हो, तो यह गेट भी "तर्क-शून्य" की स्थिति में आ जाता है। अर्थात् सिग्नलों का बहिर्गमन (output) रोक देता है।

(ii) OR **गेट**—इस गेट में "तर्क-1" अवस्था तब आती है, जब किसी एक निवेश सिग्नल का वोल्टता स्तर अथवा समस्त सिग्नलों का वोल्टता स्तर "तर्क-1" की स्थिति का होता है—इसकी "तर्क-0" की दशा तभी आती है, जब सभी निवेश सिग्नलों का वोल्टता स्तर "तर्क-शून्य" का हो।

गेट बनाते हैं, तथा NOL व OR गेट मिलकर NOR
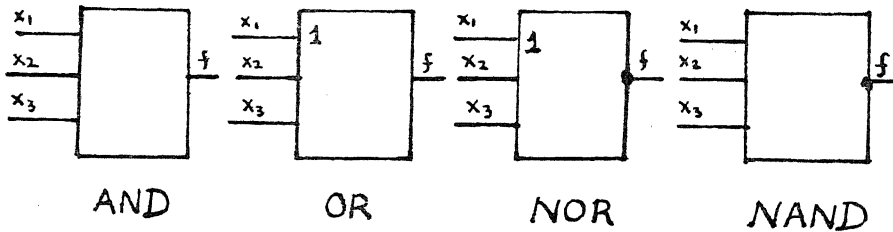
इन्वर्टर परिपथ

(iii) NOT **गेट**—यह एक **इन्वर्टर** (inverter) का कार्य करता है—अर्थात 1 को शून्य में तथा शून्य को 1 में परिवर्तित कर देता है।

प्रयोग में लाए जाने वाले परिपथों में गेटों को अलग अलग प्रयोग में न लाकर संयुक्त रूप में प्रयुक्त किया जाता है--जैसे कि AND तथा NOT गेट मिलकर NAND **गेट** बनाते हैं। यदि किसी गेट के n निवेश टर्मिनल (input terminals) हैं, तो उनसे 2^n भिन्न संयोजन (combinations) संभव होंगे। मान लीजिए, किसी गेट के तीन निवेश टर्मिनल हैं, तो ये $2^3 = 8$ संयोजन (combinations) इस प्रकार होंगे—
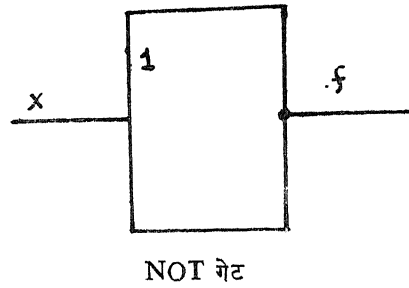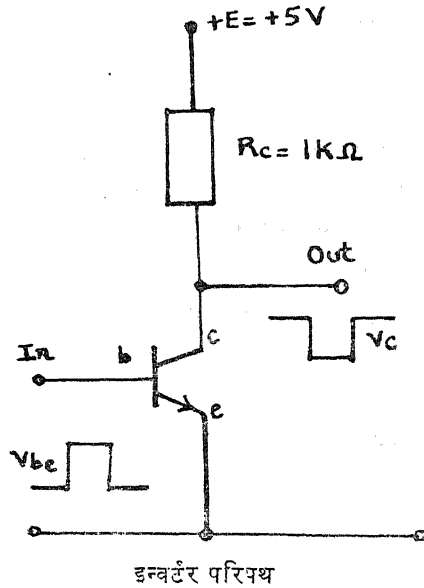
निवेश (input)			निर्गम (output)			
X_1	X_2	X_3	AND	OR	NAND	NOR
0	0	0	0	0	1	1
0	0	1	0	1	1	0
0	1	0	0	1	1	0
0	1	1	0	1	1	0
1	0	0	0	1	1	0
1	0	1	0	1	1	0
1	1	0	0	1	1	0
1	1	1	1	1	0	0

सभी एकीकृत परिपथों में निर्मित गेट विभिन्न अर्धचालक घटकों (semiconductor components), जैसे प्रतिरोधों (resistances), संधारित्रों (capacitors), डायोडों (diodes) तथा ट्रांजिस्टरों (transistors) के बने होते हैं। आइए देखें इनका वास्तविक रूप कैसा होता है—मान लीजिए हम एक NOT गेट को ले रहे हैं, जो कि इन्वर्टर (inverter) का कार्य करता है—इसमें एक ट्रांजिस्टर तथा एक प्रतिरोध चित्र के अनुसार जुड़े होते हैं। जैसा कि आप जानते हैं, किसी ट्रांजिस्टर के तीन भाग होते हैं—बेस (base), एमिटर (emitter) तथा कलेक्टर (collector)। मान लीजिए कि E की वोल्टता +5 वोल्ट के बराबर है। यदि बेस पर वोल्टता स्तर (इस pnp ट्रांजिस्टर में) 0.7 वोल्ट के नीचे है, तो ट्रांजिस्टर "ऑफ़" अवस्था में रहता है, तथा निर्गम (output) वोल्टता E के बराबर = 5 वोल्ट रहती है। यदि बेस पर वोल्टता ≥0.8 वोल्ट हो, तो एमिटर व कलेक्टर के बीच का वोल्टेज 0.2 वोल्ट के बराबर हो जाता है, जो कि संतृप्त (saturated) वोल्टता के बराबर होता है। इस प्रकार हमें दो निर्गम वोल्टता स्तर प्राप्त होते हैं—

(i) **E = 5 वोल्ट**—जो "तर्क-1" का द्योतक है, चूँकि इसकी वोल्टता 0.2 वोल्ट से अधिक है।

(ii) **0 2 वोल्टता स्तर**— जो 'तर्क-शून्य" की स्थिति का द्योतक है, चूँकि इसकी वोल्टता 5 वोल्ट से कम है। अब जरा देख लें कि इस परिपथ ने इन्वर्टर (inverter) का (यानि कि NOT गेट का) कार्य किया अथवा नहीं—

निवेश सिग्नल	**निर्गम वोल्टता**
1. <0.7 वोल्ट (तर्क-0)	$=E=5$ वोल्ट (तर्क-1)
2. ≥ 0 8 वोल्ट (तर्क-1)	$=0.2$ वोल्ट (तर्क-0)

इस प्रकार इस परिपथ ने सफलतापूर्वक 'तर्क--0" को "तर्क--1" में तथा "तर्क--1" को "तर्क--0" में परिवर्तित कर दिया है।

इस प्रकार ही अन्य गेट भी कार्य करते हैं—उनकी कार्यविधि का विस्तृत वर्णन पढ़कर आप ऊब उठेंगे, इसलिए उनका संक्षिप्त ब्योरा इस प्रकार है :

(i) Direct Coupled Transistor Logic (DCTL) यह NOR गेट का कार्य करती है।

(ii) Resistor-Transistor Logic (RTL)—यह भी NOR गेट का कार्य करती है।

(iii) Resistor-Capacitor Transistor Logic (RCTL)—यह एक अन्य NOR गेट है।

(iv) Diode Transistor Logic (DTL)—इसमें AND gate गेट के रूप में प्रयुक्त एक डायोड तथा NOT गेट (inverter--जिसके विषय में अभी आपने पढ़ा) के रूप में एक ट्रांजिस्टर होते हैं, जो मिलकर NAND गेट बनाते हैं।

(v) Transistor Transistor Logic (TTL अथवा T^2L)—यह भी NAND गेट होता है।

(vi) Emitter Coupled Logic (ECL)—इसकी कार्यगति तीव्रतम होती है—तथा यह OR व NOR दोनों गेट का कार्य करता है।

(vii) IC MOS Logic—ये Metal oxide semiconductors (MOS—धातु ऑक्साइड अर्धचालकों) द्वारा निर्मित Field Effect Transistors (FET) पर आधारित होते हैं तथा NAND व NOR दोनों प्रकार के गेटों का कार्य करते हैं।

(viii) Complementary MOSFET Logic (C-MOS) ये भी NAND तथा NOR, दोनों प्रकार के गेटों का कार्य करने में सक्षम होते हैं, तथा अत्यधिक कार्यकुशल होते हैं। आजकल C-MOS परिपथों पर आधारित अनेक इलेक्ट्रॉनिक युक्तियाँ जैसे C-MOS digital घड़ियाँ व कैलकुलेटर बाज़ारों में उपलब्ध हैं।

अंकीय एकीकृत परिपथों का यह संक्षिप्त विवरण उनकी कार्यविधि की एक झलक मात्र देता है। वास्तविकता में ये परिपथ अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं, तथा एक ही सिलिकॉन चिप पर हज़ारों परिपथ बने रहते हैं। कैसे होते हैं ये परिपथ? किस प्रकार इन्हें सिलिकॉन चिप पर बनाया जाता है? ऐसे अनेक प्रश्नों का उत्तर भविष्य में एक अन्य लेख में दिया जाएगा। आपको एक बार फिर याद दिला दें, कंप्यूटर कोई रहस्यमय वस्तु नहीं है—मात्र इलेक्ट्रॉनिक घटकों का एक जंजाल-सा है जो निश्चित कार्य करने हेतु परिपथों में निश्चित स्थानों पर जुड़े रहते हैं—ऐसे कि आपको उनके कार्य करने का लेशमात्र भी आभास नहीं हो पाता। □□

मीटरी पद्धति का उद्भव और विकास

सुधांशु द्विवेदी एवं पी० सी० जैन

सन् 1790-99 की फ्रेंच क्रांति के फलस्वरूप तौल तथा माप की मीटरी पद्धति का जन्म हुआ। उस समय फ्रांस में तौल तथा माप की अनेक पद्धतियाँ प्रचलित थीं किन्तु उनमें आपसी ताल-मेल की कमी थी। अतः वैज्ञानिक कई वर्षों से किसी ऐसी पद्धति की खोज में थे जिसे पूरे विश्व में लागू करके सभी देशों के बीच मापन के क्षेत्र में सामंजस्य स्थापित किया जा सके।

लायन्स में सेंट पॉल के धार्मिक अध्यक्ष **गैब्रोल मूटॉन** ने सन् 1617 में पृथ्वी की परिधि के एक अंश की माप के आधार पर एक व्यापक दशमिक पद्धति तैयार करने का सुझाव दिया। 1671 में फ्रांसीसी खगोलज्ञ **जीन पिकार्ड** ने सुझाव दिया कि सेकंडी लोलक की लम्बाई को लम्बाई का मानक माना जाए। इसी प्रकार अन्य कई सुझाव सामने आए किन्तु अगले सौ वर्षों तक इस संबंध में कोई निर्णय नहीं लिया जा सका।

फ्रांस की प्रसिद्ध क्रांति ने इस क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई क्योंकि इस क्रांति का उद्देश्य सामंतशाही और राजसत्ता को समूल नष्ट करना और फ्रांसीसी वैज्ञानिकों के प्रभाव को स्थापित करना था जो इस प्रगतिशील परिवर्तन के अंतर्राष्ट्रीय महत्व को पहचानते थे।

तौल एवं माप की नई पद्धति को स्थापित करने के लिए इसके प्रोत्साहकों का विचार था कि इस पद्धति में स्थिरता लाने के लिए अपरिवर्तनशील प्राकृतिक नियमों और मापों का सहारा लिया जाए। इस प्रकार नई पद्धति ऐसे **"प्राकृतिक सार्वभौम मात्रकों"** पर आधारित थी जिन पर किसी एक देश का आधिपत्य नहीं था और जिन्हें सभी राष्ट्र बिना परस्पर वैमनस्य के अपना सकते थे।

नई पद्धति में लम्बाई का मात्रक चुनने के लिए तीन सुझाव मुख्य रूप से सामने आए—

1. पृथ्वी के ध्रुववृत्त की लम्बाई के एक निश्चित अंश,
2. पृथ्वी की विषुवत रेखा की लम्बाई के एक अंश या
3. सेकंड लोलक की लम्बाई को लम्बाई का मात्रक माना जाए। सेकंड लोलक की लम्बाई को मात्रक मानने का सुझाव यद्यपि आकर्षक प्रतीत होता था फिर भी इसे अस्वीकार कर दिया गया। इसका पहला कारण तो यह था कि सेकंड लोलक की लम्बाई गुरुत्वाकर्षण पर आधारित है जो भिन्न-भिन्न स्थानों के लिए भिन्न-भिन्न है इसलिए हर स्थान के लिए सेकंड लोलक की लम्बाई भी अलग-अलग होती है। दूसरा कारण यह था कि इस परिभाषा में समय का मात्रक सेकंड भी सम्मिलित हो गया था जिससे यह मात्रक स्वतंत्र होने के बजाए एक और मात्रक अर्थात् सेकंड पर भी निर्भर हो गया।

मार्च, 1790 में **टेलीरैंड** ने संविधान सभा के सम्मुख लोलक की लम्बाई पर आधारित तौल तथा माप के एकीकरण की एक योजना प्रस्तुत की। सभा ने 'फ्रेंच एकेडेमी ऑव साइंसेज' से सभी प्रकार की माप तथा तौल के लिए **"अपरिवर्तनशील मानक"** नियत करने को कहा। इस अकादमी ने एक आयोग नियुक्त किया जिसने तौल, माप तथा सिक्कों के सभी प्रकार के विभाजन के लिए दशमिक पैमाने को अपनाया।

रैखिक माप (लम्बाई) का मानक नियत करने का भार एक अन्य आयोग को सौंपा गया। उपर्युक्त कारणों से इस आयोग ने लोलक की लम्बाई को मानक के रूप में नियत करने के विचार को रद्द कर दिया। इसके स्थान पर पृथ्वी के ध्रुववृत्त के चतुर्थांश के एक करोड़वें भाग लम्बाई को लम्बाई का मात्रक मान लिया गया। स्पष्टतः इस लम्बाई को मापना बहुत कठिन कार्य था। इसलिए यह निर्णय लिया गया कि डंकर्क तथा बार्सीलोना के बीच की चाप (आर्क) को मापा जाए। इस चाप के दोनों सिरे 45वें समांतर के क्रमशः उत्तर तथा दक्षिण में समुद्र-तल पर स्थित हैं। सभा ने 26 मार्च, 1791 को इस योजना

राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला, हिल साइड रोड, नई दिल्ली–110012

को स्वीकार कर लिया तथा अकादमी ने इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए तुरंत विभिन्न आयोग नियुक्त कर दिए।

देलाम्बर तथा मैशें को इस चाप की लम्बाई ज्ञात करने का कार्य सौंपा गया। अन्य कई विशेषज्ञों को जल की एक विशिष्ट मात्रा का भार ज्ञात करने का कार्य सौंपा गया जिससे तौल तथा माप के मात्रकों की स्थापना की जा सके।

नई पद्धति को अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप देने के लिए फ्रांस के प्राधिकारियों ने इस कार्य में इंग्लैंड तथा अमेरिका से भी सहयोग माँगा किन्तु उन्होंने इस कार्य विशेष में रुचि नहीं ली। विश्व के इन सबसे महत्वपूर्ण देशों के सहयोग का अभाव होने पर भी फ्रांस इस कार्य में जुट गया, जिसने यद्यपि जन्म फ्रांस में लिया किन्तु जो अन्तत: पूरे विश्व के लिए उपयोगी सिद्ध हुआ।

टेलीरैंड की योजना के प्रस्तुतीकरण (सन् 1790) से लेकर दिसम्बर, 1799 में नए मात्रक (मीटर) का मान अंततः निर्धारित करने में लगभग 10 वर्ष बीत गए जो कि एक बहुत लम्बा अरसा लगता है किन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि लम्बाई और तौल के मात्रक ज्ञात करने का यह सारा कार्य उस दौरान सम्पन्न हुआ जबकि फ्रांस में क्रांति का दौर अपनी चरम सीमा पर था। अनिश्चितता के इस वातावरण के कारण माप के इस कार्य में बहुत रुकावटें आईं। इस राजनीतिक अशांति के दौरान वैज्ञानिकों को देशभक्ति की परीक्षा, गिरफ्तारी, कारावास, यहाँ तक मृत्युदंड तक भुगतना पड़ा।

देलाम्बर तथा मैशें ने स्वयं अपने हाथों से क्लासिकल सर्वेक्षण तकनीकों द्वारा डंकर्क और बार्सीलोना (स्पेन) के बीच की दूरी को मापा। इसके लिए 'टॉइस' को मात्रक माना गया जो कि उन दिनों फ्रांस में प्रचलित लम्बाई का मात्रक था।

दूसरे आयोग ने बारी-बारी से जल के भीतर और वायु में एक खोखले सिलिंडर को तौला। इस सिलिंडर के आकार को बहुत सावधानी से मापा गया और पानी के एक निश्चित आयतन का भार ज्ञात किया गया। इस प्रकार पानी के उच्चतम घनत्व (4°सेल्सियस) की अवस्था में एक घन डेसीमीटर पानी का भार निर्वात में ज्ञात हो गया। इस प्रयोग के द्वारा पानी की इस मात्रा का भार 1882.715 ग्रेन ज्ञात हुआ, जिसे एक किलोग्राम कहा गया।

इस प्रकार इन महत्वपूर्ण परिणामों के प्राप्त हो जाने पर लम्बाई तथा तौल के मानकों के मान निर्धारित करने केलिए सभी जानकारी उपलब्ध हो गई।

7 अप्रैल, 1795 को जिस कानून के अंतर्गत दशमिक पद्धति को अपनाया गया उसी के अंतर्गत विभिन्न मात्रकों के लिए नाम भी निर्धारित किए गए जो आज भी प्रचलित हैं—

लम्बाई के लिए मीटर,
क्षेत्रफल के लिए एयर,
मात्रा (आयतन) के लिए लिटर तथा
द्रव्य मान के लिए ग्राम (बाद में किलोग्राम)।

मीटर शब्द की उत्पत्ति ग्रीक शब्द "**मेट्रॉन**" से हुई है जिसका अर्थ "मापक" है।

इन मापों के आधार पर मीटर तथा किलोग्राम के मानक बनाए गए जिससे इन मानकों को भौतिक रूप दिया जा सके।

मीटर को निरूपित करने के लिए "रेखा" मानक के बजाए "अंत्य" मानक का निर्माण किया गया। रेखा मानक में मानक लम्बाई दो निश्चित निशानों के बीच की दूरी के बराबर होती है जबकि अंत्य मानकों में यह लम्बाई मानक (वस्तु) के दोनों सिरों की सतहों के बीच की दूरी के बराबर होती है। यह मानक प्लैटिनम धातु की 25.3×4 मिमी० अनुप्रस्थ काट वाली आयताकार छड़ के रूप में तैयार किया था।

किलोग्राम का मानक प्लैटिनम के एक ऐसे सिलिंडर रूप में बनाया गया जिसकी लम्बाई उसके व्यास के बराबर थी।

सन् 1799 में फ्रांस के अभिलेखागार को यह दोनों आदि प्रारूप सौंप दिए गए जिसके कारण इनका नाम क्रमश: "अभिलेखागार का मीटर" तथा "अभिलेखागार का किलोग्राम" पड़ा।

इस प्रकार तौल एवं माप के एकीकरण का यह महान् कार्य सम्पन्न हुआ जिसके बारे में प्रसिद्ध वैज्ञानिक **लेवोजियर** का कहना है कि "मनुष्य के हाथों से अब तक इससे अधिक शानदार, सरल तथा पूरी तरह से सुसंगत कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं हुआ है।"

मीटरी पद्धति के प्रवर्तकों की इस आशा के विपरीत कि सभी उन्नत राष्ट्र बेझिझक इस पद्धति को अपना लेंगे, मीटरी पद्धति बहुत समय तक बेकार पड़ी रही, यहाँ तक कि स्वयं फ्रांस में भी उसे तुरंत वह लोकप्रियता प्राप्त नहीं हुई जिसकी आशा थी। फ्रांस तथा अन्य देशों के विद्वान समय-समय पर मीटरी पद्धति के आधार पर तौल एवं माप की पद्धतियों के एकीकरण की माँग करते रहे। उन्होंने अनुभव किया कि अब आवश्यकता इस बात की है कि फ्रांस और योरोप के अन्य देश मिलकर इस क्षेत्र में कोई कदम उठाएँ। इसलिए फ्रांस ने सन् 1870 में अनेक देशों के प्रतिनिधियों को पेरिस में बैठक के लिए आमंत्रित किया। चौबीस देशों ने यह आमंत्रण स्वीकार किया किन्तु तभी फ्रांस तथा प्रशिया के बीच युद्ध छिड़ गया जिसके कारण इनमें से केवल पन्द्रह देशों के ही प्रतिनिधि भाग ले सके। इन प्रतिनिधियों ने "कमीशन इंटरनैशनल ड्यू मीटर" नामक आयोग का गठन किया किन्तु वे कोई कार्यकारी निर्णय नहीं ले सके। सन् 1872 में इस आयोग ने पुनः कार्य आरंभ किया। इस बार इसमें तीस देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया जिनमें बारह देश अमेरिकी महाद्वीप के थे।

इस बैठक में नए आदिप्रारूप तैयार करने से संबंधित कुल चालीस प्रस्ताव पारित किए गए तथा सम्बद्ध देशों के सहयोग से "इंटरनैशनल ब्यूरो ऑफ़ वेट्स एण्ड मेज़र्स" नामक समिति की स्थापना की सिफारिश की गई।

इस समिति के सामने मुख्य कठिनाई यह थी कि इसके सभी सदस्य वैज्ञानिक होने के कारण उन्हें अपने देश की सरकार की ओर से इस सम्बन्ध में कोई निर्णय लेने का अधिकार नहीं था। अतः कुछ वर्ष बाद सन् 1875 में पेरिस में एक और संगोष्ठी आयोजित की गई जिसमें सभी सदस्य देशों की सरकारों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस बार ठोस निर्णय लिए गए तथा 20 मई, 1875 को "कन्वेंशन ड्यू मीटर" नामक समझौते पर 28 राष्ट्रों ने हस्ताक्षर किए। इस समझौते के अंतर्गत सदस्य राष्ट्रों ने सम्मिलित खर्चे से तौल तथा माप संबंधी एक वैज्ञानिक संस्था की स्थापना तथा उसके संचालन का निश्चय किया। इस संस्था का नाम "ब्यूरो इंटरनैशनल डेस पॉइड्स एट मेज़र्स" (बी० आई० पी० एम०) रखा गया। आरंभ में इस संस्था का कार्य मीटर तथा किलोग्राम के उच्चतम स्तर के मानकों का निर्माण तथा रख-रखाव, विभिन्न देशों में रखे गए मानकों से इनकी तुलना, मापन का कार्य सम्पन्न करने की विधियों में सुधार करना तथा मापिकी के सभी क्षेत्रों को विकसित करना निर्धारित किया गया। बाद में इस ब्यूरो के कार्यक्षेत्र में विद्युत्, प्रकाश तथा आयनीकारक विकिरणों से सम्बन्धित मापों को भी सम्मिलित कर लिया गया।

ब्यूरो के कार्य को चलाने के लिए "कान्फ्रेंस जनरेल डेस पॉइड्स एट मेज़र्स," (सी० जी० पी० एम०) नामक समिति गठित की गई जिसके वे सभी देश सदस्य हैं जिन्होंने "कन्वेंशन ड्यु मीटर" पर हस्ताक्षर किए हैं या जो बाद में इसमें सम्मिलित होने का विचार रखते हैं। संक्षेप में सी० जी० पी० एम० के कार्य इस प्रकार हैं—

1. मीटरी पद्धति में सुधार लाने तथा उसका विस्तार करने के लिए विचार-विमर्श करके आवश्यक कार्यवाही करना,
2. नए मूलभूत मापिकी संबंधी निर्धारण तथा विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय महत्व के वैज्ञानिक प्रस्तावों को मंजूरी देना और
3. संगठन के संबंध में महत्वपूर्ण निर्णय लेना तथा बी० आई० पी० एम० का विकास करना।

मापिकी के क्षेत्र में सर्वोच्च प्राधिकरण, सी० जी० पी० एम० की हर चार वर्ष में (पहले 6 वर्ष में) नियमित रूप से बैठकें आयोजित की जाती हैं जिनमें मानकों से सम्बन्धित नई और रूपांतरित परिभाषाओं तथा वित्त और भविष्य की योजनाओं आदि से संबंधित निर्णय लिए जाते हैं। इन बैठकों में लिए गए निर्णयों के कार्यान्वयन के लिए गठित की गई समिति "कमिटी इंटरनैशनल डेस पॅइड्स एट-एट मेज़र्स" (सी० आई० पी०

एम०) के सदस्य भी सी० जी० पी० एम० द्वारा ही नियुक्त किए जाते हैं। सी० आई० पी० एम० की सदस्यता के लिए सी० जी० पी० एम० के सदस्य देशों में से एक बार में अधिकतम अठारह सदस्य चुने जाते हैं। प्रत्येक दो वर्ष या उससे भी कम में सी० आई० पी० एम० की बैठकें आयोजित की जाती हैं। इसका कार्य सी० जी० पी० एम० द्वारा लिए गए निर्णयों का कार्यान्वियन तथा ब्यूरो की व्यवस्था तथा कार्य की देख-रेख करना है। सी० आई० पी० एम० अपनी विशेषज्ञ समितियाँ स्वयं नियुक्त करती है। फिलहाल इस प्रकार की सात समितियाँ हैं जिनका कार्य क्रमशः मीटर की परिभाषा, तापमिति, विद्युत्, प्रकाशमिति, आयनकारी विकिरण तथा एस० आई० मात्रकों से संबंधित है।

अब तक चालीस से अधिक राष्ट्र "मीटर कन्वेंशन" समझौते पर हस्ताक्षर कर चुके हैं। यह सभी राष्ट्र सी० जी० पी० एम० के सदस्य हैं। प्रत्येक सदस्य देश संयुक्त राष्ट्र द्वारा निर्धारित अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार अंशदान देता है। किसी भी देश का अंशदान संगठन के कुल योग का कम से कम 0.5 तथा अधिक से अधिक 10 प्रतिशत होता है।

वे सभी देश जो ब्यूरो को चलाते हैं इसकी संपत्ति के स्वामी हैं। इन सभी देशों को निःशुल्क मानक उपलब्ध कराए जाते हैं और वे निःशुल्क मापन सेवाएँ प्राप्त कर सकते हैं।

सन् 1875 की कन्वेंशन के नियमों का पालन करते हुए ब्यूरो ने अंतर्राष्ट्रीय मीटर तथा किलोग्राम के मान ज्ञात करके और मानकों का निर्माण करके मापों के एकीकरण का कार्य सम्पन्न किया। इसके अतिरिक्त उन सभी देशों को इन मानकों की प्रतिकृतियाँ प्रदान कीं जिन्होंने इन्हें प्राप्त करने की इच्छा व्यक्त की। नए मानकों को तैयार करने के सम्बन्ध में जो निर्णय लिए गए उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

1. परस्पर तुलना करने में सरलता तथा रख-रखाव में आसानी होने के कारण लम्बाई के मानक को रेखा मानक के रूप में बनाया जाए।
2. इन मानकों को तैयार करने लिए 90% प्लैटिनम तथा 10% इरीडियम धातु का प्रयोग किया जाए।
3. मीटर की छड़ का अनुप्रस्थ परिच्छेद एच० ट्रेस्का को गणना के अनुरूप "X" के आकार का है।
4. मीटर तथा किलोग्राम का मान अभिलेखागार मीटर के तत्कालीन मान के अनुसार निर्धारित किया जाए।

बी० आई० सी० एम० द्वारा किए गए महत्वपूर्ण कार्य के कई वर्ष पश्चात् सन् 1889 में आयोजित प्रथम सी० जी० पी० एम० ने मीटर तथा किलोग्राम की नई परिभाषाओं को अपना लिया। नई परिभाषा के अनुसार 0° सेल्सियस तापमान पर प्लैटिनम-इरीडियम मिश्रधातु की विशेष रूप से बनाई गई छड़ के ऊपर खींची गई दो रेखाओं के बीच की दूरी को एक मीटर कहा गया। प्लैटिनम-इरीडियम के एक विशेष रूप से निर्मित सिलिंडर के द्रव्यमान को एक किलोग्राम माना गया। इन दोनों आदि प्रारूपों को बहुत सावधानी से इस प्रकार बनाया गया जिससे यथासंभव इनका मान मूल परिभाषा के समान रहे। इनको बी० आई० पी० एम० की प्रयोगशालाओं में विशेष रूप से निर्मित सुरक्षित स्थानों में रखा गया जिससे इनका उपयोग ब्यूरो तथा अन्य सदस्य देशों को दी जाने वाली इनकी प्रतिकृतियों का अंशशोधन करने में किया जा सके।

ब्यूरो की इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका तथा अनेक विकसित देशों के सहयोग के फलस्वरूप मीटरी पद्धति में और अधिक सुधार के साथ-साथ लम्बाई और द्रव्यमान के मूल मात्रकों के अतिरिक्त अन्य अनेक मात्रकों को मीटरी पद्धति के अंतर्गत लाया गया है। सन् 1960 में समय, तापमान, विद्युत्धारा तथा प्रकाश की तीव्रता के मानकों को मात्रकों की अंतर्राष्ट्रीय पद्धति में सम्मिलित कर लिया गया। बाद में "मोल" को भी सातवें मूल मात्रक के रूप में स्वीकार कर लिया गया।

विज्ञान के विकास के साथ-साथ अनेक मात्रकों के मानकों का रूप भी बदला है। लम्बाई के मानक का स्थान अब प्लैटिनम-इरीडियम की छड़ के बजाय एक विशेष तरंग-लम्बाई वाले प्रकाश ने ले लिया है जिसकी निश्चित संख्या की तरंगों की कुल लम्बाई को मीटर माना गया है। इस प्रकार मीटरी पद्धति के संगठन बहुत ही विकसित तथा परिष्कृत वैज्ञानिक कार्य से संबद्ध हैं। अतः शायद बहुत से विकासशील देश इनसे अधिक लाभ न उठा सकें। किन्तु यह आवश्यक भी नहीं है कि सभी देशों के मानक इतने ही उच्चस्तरीय हों जिन्हें बी० आई० पी० एम० की सेवाओं की आवश्यकता हो। ☐☐

इंटरफेरॉन

राजेन्द्र कुमार राय

सन् 1957 में संक्रामक रोगों की चिकित्सा के क्षेत्र में एक क्रांतिकारी परिवर्तन उस समय आया, जब 'नेशनल इंस्टिट्यूट फॉर मेडिकल रिसर्च, लन्दन' के दो वैज्ञानिक **ए० आइज़क्स एवं जोन लिडमेन** का एक शोधपत्र प्रकाशित हुआ। इन दोनों वैज्ञानिकों ने अपने शोधपत्र में लिखा था कि वाइरस (विषाणु) संक्रमण के समय जन्तु कोशिकाओं में एक विशेष प्रकार के पदार्थ का स्रवण आरम्भ होने लगता है और यह विशेष पदार्थ दूसरी कोशिकाओं के सम्पर्क में आने पर उन्हें संक्रमण प्रतिरोधक बना देता है। चूंकि इस पदार्थ से कोशिकाओं के अन्दर वाइरस की संक्रामक क्रियाओं में विघ्न पड़ता है, अतः इसे इंटरफेरॉन' (इंटरफियर करने वाला) का नाम दिया गया।

टोकियों स्थित संक्रामक रोग के विशेषज्ञ **वाई० कोजीमा और आर० वाई० नागानो** ने भी इन्टरफेरॉन के विषाणुरोधी सक्रियता की पुष्टि की है। **कोजीमा** एवं **नागानों** ने बताया कि इन्टरफेरॉन की सक्रियता किसी विशेष विषाणुओं के प्रति न होकर प्रायः अधिकांश विषाणुओं के प्रति होती है, और आज अधिकांश चिकित्सा विज्ञानियों का मानना है कि विषाणु संक्रमण के समय कोशिकाओं में प्राकृतिक रूप से बनने के कारण अनेक नई औषधियों की तुलना में इस पदार्थ का एक निश्चित मात्रा में उपयोग अधिक सुरक्षित रहेगा। कोशिकाओं में होने वाली अनेक रासायनिक क्रियायें जिस प्रकार इन्टरफेरॉन द्वारा प्रभावित होती हैं, उससे चिकित्सा के क्षेत्र में इनके व्यापक प्रयोग की सम्भावना काफी बढ़ गयी है। वैज्ञानिकों के लिए यह बात बहुत दिनों तक एक समस्या बनी रही कि इन्टरफेरॉन का कोशिकाओं के अन्य घटकों से विलगावन तथा शुद्धिकरण कैसे किया जाए। जब तक कोई भी रासायनिक पदार्थ पूर्ण रूप से शुद्ध अवस्था में नहीं मिलता, तब तक उसकी रासायनिक संरचना व विशिष्ट क्रियाओं का अध्ययन काफी कठिन होता है और अभी इन्टरफेरॉन का उत्पादन बहुत ही कम मात्रा में में होता है। यही कारण रहा कि इन्टरफेरॉन से सम्बन्धित शोधकार्य बहुत ही कम हुआ। लेकिन पिछले दशक से नवीन तकनीकों द्वारा अब स्थिति में काफी परिवर्तन आ रहा है। आज कई मानव-इन्टरफेरॉन शुद्ध अवस्था में प्राप्त किए जा चुके हैं व उनकी रासायनिक संरचना व विशिष्ट क्रियाओं को समझा जा रहा है।

रासायनिक संरचना व कार्यपद्धति के आधार पर इन्टरफेरॉन को प्रोटीन वर्ग में रखा गया है। एमीनो एसिड के कई अणुओं के पेप्टाइड बंध (बांड) से जुड़ने पर प्रोटीन का निर्माण होता है। इसलिए इन्टरफेरॉन की संरचना देखने के लिए उसके अणु में एमीनों एसिडों के क्रम का अध्ययन करना पड़ता है। **डेविड मिल्वर व कुग** नामक दो वैज्ञानिकों ने मानव-इंटरफेरॉन रवों की बनावट का एक्स किरणों की सहायता से अध्ययन किया है।

वैज्ञानिकों ने अध्ययन के बाद मानव-इंटरफेरॉन को तीन वर्गों में बाँटा है। (1) **एल्फा इंटरफेरॉन**—यह वाइरस संक्रमण के समय मुख्यतः श्वेत रक्त कणों (ल्यूकोसाइट्स) में बनने वाले इंटरफेरॉन हैं। (2) **बीटा इंटरफेरॉन**—कनेक्टिव टिशूज़ (संयोजी ऊतकों) की कोशिकाओं तथा तन्तु कारक कोशिकाओं में विषाणु के समय बनने वाले इंटरफेरॉन है। (3) **गामा इंटरफेरॉन**--लिम्फ कोशिकाओं (लिम्फोसाइट्स) में मानव रोग प्रतिरोधक क्रियाओं के परिणामस्वरूप बनने वाले इंटरफेरॉन, इन्हें **टी-सेल इटरफेरॉन** भी कहते हैं।

वाइरस संक्रमण के कारण जब उसका आनुवंशिक पदार्थ डी० एन० ए० (डी ऑक्सीराइबोजन्यूक्लियिक एसिड) कोशिकाओं के भीतर पहुँचता है तो उस समय बाह्य पदार्थ की उपस्थिति कोशिका को इंटरफेरॉन के संश्लेषण तथा स्रवण के लिए प्रेरित करता है। फिर यह स्रावित इंटरफेरॉन अन्य कोशिकाओं की सतह पर उपस्थित एक विशिष्ट रिसेप्टर (ग्राही) के साथ एक हल्के बंध

'प्रतिमा प्रकाशन', निकट वैशाली होटल, बलिया—277001 (उत्तर प्रदेश)

के साथ बँध कर उनमें अनेक रासायनिक क्रियाओं को आरम्भ करा देता है, अब इन क्रियाओं का परिणाम यह होता है कि इन कोशिकाओं में प्रोटीन संश्लेषण होने लगना है। ये प्रोटीन, कोशिकाओं को वाइरस संक्रमण के प्रभावों से सुरक्षित रखते हैं।

पर्याप्त मात्रा में इंटफेरॉन प्राप्त करने के लिए डी० एन० ए० का सहारा लिया जाता है। प्रोटीन का निर्माण करने वाले एक विशेष जीन के डी० एन० ए० को **ई० कोलाई** नामक बैक्टीरिया के अन्दर पहुँचा कर उसे इंटरफेरॉन बनाने के लिए प्रेरित करते हैं। फिर कोशिका के अन्य पदार्थों से इंटरफेरॉन को अलग कर लिया जाता है। यह पूरी तकनीक काफी कठिन होती है। इंटरफेरॉन एक अत्यन्त सक्रिय और शक्तिशाली पदार्थ है। इसके प्रभाव काफी व्यापक हैं। यह कोशिकाओं को वाइरस संक्रमण के समय अवरोधी बनाने के साथ ही उनके विभाजन को रोकता है। इंटरफेरॉन हमारी प्रतिरक्षा प्रणाली की प्राकृतिक किलर (हन्ता) कोशिकाओं को उत्तेजित करता है, इस कारण हमारी रोगप्रतिरोधक शक्ति बढ़ती है। हाल में जन्तुओं पर किए कई परीक्षणों से यह पता चला है कि बाह्य माध्यमों द्वारा रक्त में इंटरफेरॉन की मात्रा को बढ़ाकर वाइरस संक्रमण पर नियंत्रण रखा जा सकता है। **यह भी पता चला है कि मानव-इंटरफेरॉन मनुष्य को चेचक, छोटी माता, जुकाम, आँखों पर असर डालने वाले हरपीस वाइरसों के संक्रमण से सुरक्षित रखता है।** इन रोगों से बचने के लिए इंटरफेरॉन की अत्यन्त सूक्ष्म मात्रा की ही आवश्यकता होती है।

आजकल इंटरफेरॉन का उपयोग कैंसर की पूर्व सूचना के लिए व रोकथाम में भी किया जा रहा है। वास्तव में इंटरफेरॉन में कोशिकाओं की सतही संरचना को परिवर्तित करने की क्षमता होती है। पुनर्योजित इंटरफेरॉन-ए में बड़ी आँत, स्तन और मैलिग्नेंट मेलानोमा की गाँठों की सतह पर स्थित ट्यूमर से संबंधित प्रोटीनों की एक्सप्रेशन (अभिव्यक्तता) को बढ़ाने की क्षमता होती है। इन गाँठों के प्रतिजन से बनने वाले मोनोक्लोनल प्रतिपिंडों की सहायता से कैंसर की प्राथमिक अवस्था में ही पहचान सम्भव है। मानव-इंटरफेरॉनों को कैंसर के उपयोग में लाया जा रहा है। अस्थि-कैंसर के इलाज में यह काफी सहायक हैं। इंटरफेरॉन के कैंसर और विषाणु-अवरोधी क्षमता से सम्बन्धित प्रयोग अभी हो रहे हैं।

अभी इंटरफेरॉन-ए ही बैक्टीरिया से प्राप्त वह पहला इंटरफेरॉन है जिसे प्रयोग में लाया गया है। **एल्फा वर्ग** के कई और इंटरफेरॉन अब उपयोग के लिए उपलब्ध हैं। **बीटा** एवं **गामा वर्ग** के इंटरफेरॉन पर अभी कम काम हुआ है। वैज्ञानिकों का विचार है कि किसी विशेष रोग की चिकित्सा में कई प्रकार के इंटरफेरॉनों को अलग-अलग अनुपात में यौगिक बना कर उनका उपयोग अधिक लाभदायक सिद्ध होगा। लेकिन इस विषय पर प्रयोग होना अभी शेष है। शायद वह दिन अब ज्यादा दूर नहीं जब इंटरफेरॉनों का उपयोग किसी भी रोग को ठीक करने में किया जाए और शत-प्रतिशत सक्षम इंटरफेरॉन अपनी इच्छानुसार बनाये जाएँ।

□□

ऑपरेशन के बिना पथरी का इलाज

सोवियत वैज्ञानिकों ने भी आपरेशन के बिना पराध्वनि से पथरी का इलाज करने का उपकरण तैयार कर लिया है। "उराट—2" नामक यह उपकरण गुर्दे की पथरी को शरीर के भीतर ही तोड़कर बिलकुल बालू में बदल देता है।

सोवियत संघ में इस दिशा में आठवें दशक से ही काम हो रहा था। इसके लिए सोवियत इंजीनियर एल० युत्किन को 1959 में आविष्कार का प्रमाणपत्र भी दिया गया था। लेकिन 1980 में पश्चिमी जर्मनी इस क्षेत्र में आगे बढ़ गया जहाँ की डोर्नियर कंपनी ने पहला "लिथोट्रिप्टर" तैयार कर दिया।

अब सोवियत वैज्ञानिकों ने जो उपकरण बनाया है वह इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि डोर्नियर मॉडल में एक 'ऑपरेशन" के लिए जहाँ दो इलेक्ट्रोड जरूरी होते हैं वहा सोवियत मॉडल का एक ही इलेक्ट्रोड अनेक रोगियों की चिकित्सा के लिए पर्याप्त होता है।

वानिकी-उद्यान

सतीश कुमार शर्मा

उद्यानों के विविध रूप जैसे फल-उद्यान, आर्किड-उद्यान, वानस्पतिक-उद्यान आदि वर्षों से हमारे परिचित रहे हैं, परन्तु हाल ही के वर्षों में 'वानिकी-उद्यान' की संकल्पना हमारे लिये नवीन है।

'वानिकी-उद्यान' (Forestry Garden) वह विशेष प्रकार का उद्यान होता है जिसमें मुख्य रूप से वे वनस्पतियाँ उगाई जाती है जिनका संबंध वनों से होता है। दूसरे शब्दों में, वनों में उगने वाले वृक्ष एवं झाड़ियों की प्रजातियों का एक स्थान पर किया गया संग्रह 'वानिकी-उद्यान' कहलाता है।

'वानिकी-उद्योग' वानस्पतिक-उद्यान (Botanical Garden) से भिन्न है। वानस्पतिक-उद्यान में वनस्पतियों के विविध प्रकार जैसे शैवाल, लाइकेन आदि अपुष्पी पादपों से लेकर अनावृतबीजी और आवृतबीजी तक के विविध आवासों में रहने वाले पौधे संग्रहीत किये जाते हैं, जबकि वानिकी-उद्यान में वनों में उगने वाली प्रजातियाँ, विशेषकर वृक्ष एवं झाड़ियाँ ही संग्रहीत की जाती हैं।

वानिकी-उद्यानों की शुरूआत हमारे देश में राजस्थान प्रान्त से हो चुकी है। समारोह पूर्वक, देश के इस प्रथम वानिकी-उद्यान को तत्कालीन मुख्य मंत्री हरिदेव जोशी ने 'विश्व पर्यावरण दिवस,' 1986 के दिन राष्ट्र को समर्पित कर दिया। स्मरण रहे 'विश्व वानिकी वृक्ष उद्यान' के नाम से विख्यात यह वानिकी-उद्यान जयपुर में स्थापित किया गया है।

वन, वन्यप्राणी और पर्यावरण के क्षेत्र में स्वर्गीया श्रीमती इन्दिरा गाँधी के योगदान को चिरस्थायी बनाने के लिए यह उद्यान उन्हीं को समर्पित किया गया है। इस उद्यान की विशेषता यह होगी कि अपने जीवन काल में स्वर्गीया श्रीमती गाँधी जिस-जिस भी देश में गईं, वहाँ की प्रमुख वृक्ष प्रजातियों को इस उद्यान में रोपित किया जायेगा।

निर्गुट राष्ट्रों के हित में निभाई गई उनकी भूमिका को अविस्मरणीय बनाये रखने के लिये तृतीय विश्व के इन 159 राष्ट्रों से पौधे मँगाये जाकर एक समूह में यहाँ रोपित किये जायेंगे। यही नहीं, देश के विभिन्न प्रान्तों से भी यहाँ पौधे लाकर लगाये जायेंगे।

वानिकी-उद्यान हमारे लिये कई तरह से उपयोगी सिद्ध होंगे। वनस्पतिज्ञों, वनविदों पर्यावरण विशेषज्ञों से लेकर जनसाधारण सभी इनसे कुछ न कुछ लाभ प्राप्त कर सकेंगे। यदि जनसाधारण के लिये ये मनोरंजन के स्थल होंगे तो प्रकृतिविदों के लिये अध्ययन-स्थल।

इन उद्यानों में विलुप्त होती प्रजातियों को सुरक्षित रखकर उनका वर्धन करना संभव हो सकेगा। वन प्रजातियों के 'जीन बैंक' के रूप में भी इनका उपयोग रहेगा। यही नहीं, विदेशी प्रजातियों (Exotics) को व्यापक रूप से उगाने से पहले इन उद्यानों में उन्हें उगा कर उनकी उपयोगिता तथा वृद्धि संबंधी परीक्षण किये जाने संभव हो सकेंगे। उन्नत प्रजातियों के विकास में भी इनका उपयोग हो सकेगा। और सबसे बड़ी बात यह होगी कि ये राष्ट्रीय एकता एवं विश्वबन्धुत्व की भावना के प्रतीक होंगे।

□□

वन प्रसार अधिकारी, वन चेतना केन्द्र, गुलाब बाग, उदयपुर – 313001 (राजस्थान)

पश्चिमी घाट बचाओ अभियान

विजय जी

केरल, कर्नाटक, गोवा और महाराष्ट्र के पश्चिमी हिस्सों से बने भारत के पश्चिमी घाट ऊँची-नीची पर्वत-मालाओं, नदियों, सघन वनों, विविध और दुर्लभ जीव-जन्तुओं तथा पेड़-पौधों के लिये दुनिया में विख्यात रहे हैं। लेकिन प्रकृति का यह अनूठा क्षेत्र लगातार अपनी पहिचान खोता जा रहा है। यहाँ के निवासी क्षेत्र की घटती हरियाली से बेचैन हैं। इन्हीं समस्याओं के गहन अध्ययन, अवलोकन और जन-शिक्षण के लिये लगभग 170 स्वयंसेवी संस्थाओं ने पश्चिमी घाट बचाओ अभियान शुरू किया।

प्रचुर जैविक और वानस्पतिक संपदा

विकास की मार से क्षत-विक्षत पश्चिमी घाट आज भी विविध दुर्लभ जैविक और वानस्पतिक संपदा को अपने में समेटे हुये है। भारत की 13,000 फूल वाली वनस्पति प्रजातियों में 3,500 तो इसी क्षेत्र में उपलब्ध हैं। इनमें भी 1,500 वनस्पति प्रजातियाँ ऐसी हैं जो देश के अन्य हिस्सों में नहीं पायी जातीं। पश्चिमी घाट विभिन्न किस्म के मेढकों, छिपकलियों आदि के लिये प्रसिद्ध रहे हैं। यहाँ की पर्वतश्रेणियों में मेढकों की 18 स्पीशीज़ अब भी मौजूद हैं। यहाँ शेर की पूँछ वाला मकाका बन्दर, नीलगिरि लंगूर दुर्लभ प्राणी हैं। यहाँ कभी उड़ने वाली छिपकली पायी जाती थी जो अब समाप्त हो चुकी है। पश्चिमी घाट के जंगल और पर्वतश्रेणियाँ आज भी दुर्लभ किस्म की जड़ी-बूटियों से भरी पड़ी है। यहाँ के प्रमुख उत्पाद कालीमिर्च, इलायची और चंदन आज भी देश की अर्थ व्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। ये मसाले शताब्दियों पूर्व से चीन, अरब देश और योरोप को भेजे जाते रहे हैं।

यहाँ के आदिवासी आज भी सैकड़ों किस्म की जड़ी-बूटियों का प्रयोग दवा-दारू के रूप में कर रहे हैं। इनमें कुछ का ज्ञान ही आधुनिक चिकित्साशास्त्रियों तक पहुँच पाया है।

पश्चिमी घाट बचाओ अभियान

केरल, कर्नाटक, गोवा, तमिलनाडु तथा महाराष्ट्र के अनेक संगठन पश्चिमी घाटों के पर्यावरण के प्रति काफी पहले से सचेत रहे हैं। छिट-पुट रूप से ये संगठन जनता के बीच पर्यावरण के लिये काम भी कर रहे थे, लेकिन यह पहला मौका है जब इन क्षेत्रों के छोटे-बड़े 170 संगठन एक साथ बैठे। इनमें से लगभग सभी गैर सरकारी एवं स्वयंसेवी संगठन हैं। इन संगठनों ने निश्चय किया कि पश्चिमी घाटों के सम्पूर्ण पर्यावरण की जानकारी और जन-जन तक पर्यावरण को बचाने की चेतना फैलाने के लिए पद-यात्रा से उपयुक्त अन्य कोई साधन नहीं होगा।

पश्चिमी घाट की कुल 4000 किमी० लम्बाई को लगभग 100 दिन में तय करने का निश्चय किया गया। इस कार्यक्रम के अनुसार पदयात्रा एक साथ दो जगहों से शुरू हुई—उत्तर में महाराष्ट्र के धुलिया जिले में नवापुर नामक स्थान से तथा दक्षिण में कन्याकुमारी से। उत्तर वाला दल दक्षिण की ओर बढ़ा और दक्षिण वाला दल उत्तर की ओर बढ़ा। यह पदयात्रा 1 नवम्बर 1987 को शुरू हुई और योजना यह बनी की दोनों दल 29 जनवरी को गोवा के पोंडा नामक स्थान पर मिलेंगे, जहाँ अनुभवों पर आधारित एक 'सेमिनार' के बाद यात्रा समाप्त हो जायेगी।

पश्चिमी घाट की यात्रा पर निकले दोनों दलों में विविध क्षेत्रों के अनेक नामी-गिरामी लोगों ने भी भाग लिया। इन यात्राओं में 6 वर्ष के बच्चे से लेकर 75 वर्ष के बूढ़ों तक ने हिस्सा लिया। इस यात्रा में कन्याकुमारी से जो दल रवाना हुआ उसे रवाना करने वालों में 'चिपको आन्दोलन' के प्रसिद्ध नेता तथा 'मैगसेसे पुरस्कार' से सम्मानित **चंडीप्रसाद भट्ट** भी शामिल थे। यात्रा के शुभारंभ के समय उन्होंने प्रकृति की प्रशंसा में एक कविता पढ़ी। उनके अलावा वैज्ञानिक, सामाजिक

जवाहर कॉलेज, जारी, इलाहाबाद—212106

कार्यकर्त्ता, किसान, मजदूर, औरतें, बच्चे, बूढ़े, देशी, विदेशी हर तरह के लोग समय-समय पर इन यात्राओं में शामिल हुये।

उत्तरी दल के नेता **जगदीश गाडबोले** पुणे विश्वविद्यालय में राजनीतिशास्त्र के शोधछात्र हैं। उनके सहायक **मनोहर** एक लेखक हैं। उत्तरी दल में भाग लेने वाली तीन महिलाओं में पर्वतारोही **ललिता ओझा** और इतिहासकार **अलंकार खरे** भी थे। **मारुति थिट्के** तथा **सुगन्ध राघव तुपे** ने भी भाग लिया। ये किसान पुणे के पास बने पौना बाँध से विस्थापित कर दिये गये थे। वहाँ इन किसानों ने सरकारी विकासवादी नीतियों के खिलाफ संघर्ष भी किया था। ये लोग नंगे पैर ही पदयात्रा में शामिल हुये थे। पदयात्रियों में बम्बई के वकील **निलोफर भागवत,** सांगली के व्यवसायी **पापा पाटिल** और 75 वर्षीय सेना से रिटायर्ड **पुरुषोत्तम वामन फड़के** भी शामिल हुये। **गौतम** नाम का 6 वर्षीय बालक अपने माता-पिता के साथ पूरी यात्रा में साथ रहा।

पदयात्रियों के अनुभव

आज के राकेट-युग में पैदल चलना वैसे भी कष्टकारी माना जाता है, फिर यदि पदयात्रा जंगलों और पहाड़ों के बीच की हो तो कहना ही क्या? प्रतिदिन के लिए आवश्यक सामग्री की न्यूनतम मात्रा को झोले या पीठ पर लाद कर 10-15 किमी० तक की यात्रा कोई आसान काम नहीं होता। इस यात्रा में पदयात्रियों को अनेक खट्टे-मीठे अनुभव मिले। जगह-जगह गाँव वालों ने दिल खोलकर इन लोगों का स्वागत-सत्कार किया। गाँवों में जहाँ भी लोग मिल जाते ये पदयात्री रुक कर उन्हें वृक्षों की महत्ता समझाते, वृक्षारोपण को प्रोत्साहित करते, देशी मूल के वृक्षों को लगाने पर जोर देते। इसके अलावा लोगों को स्वास्थ्य सम्बन्धी अनेक बातें बताते। गाँवों में फैली हुई कुरीतियों और पाखण्ड को समाप्त करने के लिये उनसे तर्क-वितर्क करते।

अपनी बातों को तर्कपूर्ण ढँग से रखने के लिये पदयात्रियों ने अनेक दृश्य-श्रव्य साधनों का प्रयोग किया। ये लोग अपने साथ बैनर और चार्ट लिये हुये चल रहे थे। बैनर में लिखा था:

'पश्चिम घाट बचाओ मुहिम'।

बैनर पर 'पश्चिम घाट बचाओ मुहिम' का मोनोग्राम बना था। इस मोनोग्राम का रेखाचित्र W की तरह का है। जिसके किनारे के दोनों बाजू हाथ की तरह उठे हैं तथा बीच के त्रिभुज का शीर्ष एक पहाड़ की तरह है जहाँ एक वृक्ष उग रहा है। यही मोनोग्राम पदयात्रियों के सीने पर भी लगा हुआ था। पदयात्री अपने साथ जो पोस्टर और चार्ट लिये चल रहे थे उनमें निम्न तरह के वाक्य, रेखाचित्र तथा पेंटिंग बने हुये थे:

- ☐ वृक्ष हमारे राष्ट्र की
अमूल्य सम्पत्ति हैं।
- ☐ वृक्ष बचाओ : देश बचाओ।
- ☐ जहाँ वृक्षमय सृष्टि,
वहाँ हमेशा वृष्टि।
- ☐ दु:खी कुदरत करे पुकार,
बन्द करो यह अत्याचार।
- ☐ वृक्ष नहीं तो छाया नहीं
पानी नाहीं, जीवन नाहीं।
- ☐ वृक्ष बचाओ : देश बचाओ।
- ☐ वृक्ष हमारे सगे सहोदर हैं।

ये और इनकी तरह के अन्य बहुत से नारे स्थानीय भाषाओं में लिखे गये थे।

दो हफ्ते की प्रारंभिक यात्रा में ही पदयात्रियों ने देखा कि वे आदिवासी जिनके आस-पास के जंगल उजड़ गये हैं, काफी दु:खी हैं। लेकिन जहाँ आज भी सघन जंगल है वहाँ के आदिवासी अपेक्षाकृत अधिक सुखी हैं। जहाँ जंगल उजड़ गये हैं वहाँ के लोग देशी प्रजाति के जंगल को पुन: अपने आस-पास देखना चाहते हैं, लेकिन यह कैसे होगा उनकी समझ में नहीं आ रहा है।

जिन इलाकों में जंगल साफ़ किये गये हैं वहाँ **सामाजिक वानिकी योजना** के तहत व्यापक रूप से वृक्षारोपण किया गया है। लेकिन यह वृक्षारोपण मात्र **यूकलिप्टस** का ही है जो आदिवासियों के किसी काम का नहीं है। न चारा, न फल, न लकड़ी और न छाया। यूकलिप्टस

को बढ़ावा देने से स्थानीय लोगों का जीवन दिनों दिन कठिन होता जा रहा है और आक्रोश भी फैल रहा है।

पैदल मार्च के पूर्व एक प्रश्नावली बनाई गयी थी और 350-400 गाँवों के सर्वेक्षण का लक्ष्य रखा गया था। लेकिन केवल 116 गाँवों का ही सर्वेक्षण किया जा सका। तमिलनाडु का कोई गाँव सर्वे में नहीं आ सका, जबकि केरल के मात्र 9 गाँवों का ही सर्वे हो सका। सर्वे के लिये जो प्रश्नावली बनाई गयी थी उसमें पर्यावरण व जन-स्वास्थ्य सम्बन्धी प्रश्न थे। जैसे पेय जल की वर्तमान स्थिति, कुछ दशकों पूर्व की स्थिति, जानवरों के चारे आदि की समस्या, योजना की समस्या, जंगलों के विनाश में किन लोगों का हाथ है, स्वास्थ्य के लिये सरकारी, गैर सरकारी सुविधा या जड़ी-बूटी की सुविधा आदि।

किया गया सर्वे यद्यपि पश्चिमी घाट का सम्पूर्ण चित्र नहीं खींच सका, फिर भी प्रमुख बातें तो उभर कर आ ही गयी। पदयात्रियों ने देखा की कर्नाटक के 'हन्सूर' नामक स्थान पर लोग शताब्दियों से जंगल को सुरक्षित रखते आ रहे हैं और अभी भी जंगलों को सरकारी हस्त-क्षेप से बचाये हुये हैं। आसपास के गाँव भी इसी तरह के नियमों को बनाकर उनका पालन कर रहे हैं। अलहल्ली नामक स्थान पर स्वयंसेवक रात मे भी जंगलों की रक्षा करते हैं। पिछले आठ वर्षों में यहाँ 120 हेक्टयर जमीन को पुनः हरा-भरा किया। कर्नाटक के मुरूकाल्बे में जंगल पंचायत जैसी संस्था का अस्तित्व दिखायी पड़ा, जिसने 2000 एकड़ का जंगल सुरक्षित रख रखा है। महाराष्ट्र के धुले जिले में चिंचपाड़ा गाँव में पियाभात नाम की जनजाति है। ये लोग एक भूभाग की वनस्पति को जानवरों के चरने से रोके हुये है साथ ही 32 महत्वपूर्ण वनस्पति प्रजाति को पुनः उगाने में सफल हुये हैं।

कई हिस्सों में देशी प्रजाति की गायों की जगह संकर नस्ल की गायों का प्रचार बढ़ा है, क्योंकि अब लोगों को चराई के लिये सुविधा समाप्त हो गयी है। उत्तरी कनारा क्षेत्र में धान के खेत कपास के खेतों में बदल गये हैं क्योंकि यहाँ पानी की कमी होने लगी है। यहाँ की आदिवासी जनसंख्या लगातार लुप्त हो रही है क्योंकि उनके जीवनाधार देशी प्रजाति के जंगलों को उजाड़कर व्यावसायिक वन लगाये जा रहे हैं। केरल के कुछ हिस्सों में छायादार हरे पेड़ों को सुखाये जाने की एक तरकीब देखी गयी, जिसमें तने में सूराख करके मरकरी भर दिया जाता है। पेड़ सूख जाने के बाद उसे गिरा दिया जाता है। एक पदयात्री **मोहन कुमार** ने केरल के वेलियम पट्टी में ऐसे 250 वृक्षों की गिनती की। 'साइलेंट वैली क्षेत्र' में जंगल में आग लगी देखी गयी तथा कुछ जगहों पर पानी की कमी देखी गयी। महाराष्ट्र के कोयला क्षेत्र में ऐसे नंगे क्षेत्र देखे गये जिनकी गिनती सरकारी रिकार्ड में जंगल दिखायी गयी है। कोंकण क्षेत्र में लकड़ी का कोयला बनाने के लिये बड़ी मात्रा में वृक्षों को बलि देते हुये देखा गया।

पश्चिमी घाटों के सुदूर गाँवों में भी स्वयंसेवी संस्थाओं की सक्रियता से पदयात्री बहुत प्रभावित हुये। सर्वे में इन संस्थाओं की गतिविधियों की पूरी जानकारी नहीं ली गयीं। लेकिन इतना अवश्य है कि इनमें अधिकांश पर्यावरण के क्षेत्र में सजग हैं। यह भी देखा गया कि दक्षिणी क्षेत्रों में ये संस्थायें उत्तरी क्षेत्रों की अपेक्षा अधिक सक्रिय हैं। सर्वे किये गये 60 प्रतिशत दक्षिणी क्षेत्र के गाँवों में ये संस्थायें मिलीं जबकि उत्तरी क्षेत्र के मात्र 13 प्रतिशत गाँवो में ही इनका काम था। पदयात्रियों की बातें जितनी तन्मयता से गाँव वालों ने सुनीं उतनी शहर वालों ने नहीं। इससे पदयात्रा का गाँव वालों के लिये महत्व स्पष्ट हो जाता है।

यात्रा की समाप्ति

जनवरी के अन्त मे गोवा में दोनों दल मिले, जहाँ एक मिला-जुला सेमिनार हुआ। पदयात्रियों ने अपने-अपने अनुभव सुनाये। संगठनों के वैचारिक मतभेद के कारण सुझाव में विभिन्नता भी मिली। सभी संगठनों को मिला कर यहाँ एक तदर्थ कमेटी बनाई गयी। इसी कमेटी के तत्वावधान में अगले अप्रैल में सभी पदयात्रियों की बैठक बेंगलूर में बुलाई गई है। बैठक में पदयात्रा से जुड़े अन्य महत्वपूर्ण लोग भी रहेंगे। वहीं आगे की योजना पर विचार-विमर्श करके निर्णय लिये जायेंगे।

□□

विज्ञान समाचार | उदय नारायण सिंह

1. रेंडियर की सींगों से नयी दवा

धुर उत्तरी क्षेत्र के 'नोरिल्स्क कृषि संस्थान' में रेंडियर की सींगों से एक नई दवा तैयार करने की विधि विकसित की गई है। इस दवा का नाम "रैंटरिन" है। इसे शिकार वाले मौसम में तैयार किया जाता है और मुख्य रूप से तैमीर पेनिन्सुला में बनाया जाता है, क्योंकि यहाँ दुनिया में सबसे ज्यादा संख्या में रेंडियर हैं—6,00,000 से ज्यादा।

2. ध्वनि और बिजली से किडनी का इलाज

मास्को के डॉक्टरों ने कुछ ऐसे साधन बनाये हैं, जिनसे किडनी या गुर्दा संबन्धी, गंभीर मूत्र संबन्धी रोगों में 50 प्रतिशत इलाज बिना चीर-फाड़ के संभव हो गया है।

किडनी की वाहिनी में पथरी वाले लगभग 40 प्रतिशत रोगी इस रोग के शिकार होते हैं। छोटी पथरियाँ जो चार मिलीमीटर तक की होती हैं, अपने आप या परंपरागत चिकित्सा से निकल जाती हैं। बड़ी पथरियों को आपरेशन करके निकाला जाता है।

इस नई विधि में डॉक्टर किडनी का इलाज बिजली के झटकों अथवा ध्वनि सिग्नलों से करते हैं ताकि पथरी धक्के से निकल जाये। किडनी की पथरी को बाहर करने में एक सप्ताह से तीन महीने का समय इस विधि में लगता है। ज़्यादा गंभीर मामलों में जब ऑपरेशन ज़रूरी होता है, ध्वनि और बिजली का झटका सर्जन के काम को आसान बना देता है।

इन नये यंत्रों का इस्तेमाल अन्य मूत्र रोगों के इलाज में भी किया जा सकता है।

3. आत्मा के निकलने के बाद शरीर की क्या स्थिति होती है?

सोवियत भौतिक-इंजीनियरी संस्थान के प्रोफेसर **एम० मिरोश्निकोव** ने वैज्ञानिक प्रयोगों से इस आम धारणा का निराधार सिद्ध कर दिया है कि आत्मा के निकल जाने के बाद मृत शरीर का भार कम हो जाता है। उन्होंने सिद्ध किया है कि जीवित शरीर दाब की स्थिति में हल्का होता है और मृत्यु के बाद उसका भार बढ़ जाता है।

प्रो० मिरोश्निकोव ने बताया है कि इस सिलसिले में डिस्टिल्ड पानी और चूहे के साथ प्रयोग किया गया। 20 से लेकर 100 डिग्री सेंटीग्रेड तापमान पर पानी का भार नापा गया तथा चूहे का जीवित और मृत अवस्था में भार लिया गया। वैज्ञानिकों ने देखा कि गरम किये जाने पर एक लीटर पानी का द्रव्यमान 0.1 ग्राम बढ़ जाता है और मृत जीव के शरीर के भार में जीवितावस्था की तुलना में एक-दसहज़ारवें अंश की वृद्धि हो जाती है। प्रयोग से सिद्ध हुआ कि शरीर का भार काफी हद तक उसके गरम या ठंडा होने की दर पर निर्भर करता है। यही नहीं, जीवित शरीर का द्रव्यमान साधारण की अपेक्षा दबाव की स्थिति में कम होता है। वैज्ञानिकों का मत है कि इसका कारण जीवधारियों के मामले में बाह्य परिस्थिति में निहित है और वस्तुएँ ऊर्जा क्षेत्रों के परिवर्तन से प्रभावित होती हैं।

प्रो० मिरोश्निकोव का कहना है कि इन प्रयोगों से गैरसंतुलन की प्रक्रियाओं की समानता के सिद्धान्त की पुष्टि होती है जो ब्रह्मांड में और पृथ्वी पर भी ऊर्जा और द्रव्यमान के परस्पर संबन्ध को प्रभावित कर रहा है। इन प्रयोगों से ताप और विद्युत्-चुम्बकीय ऊर्जा के द्रव्यमान में और इसके विपरीत होने वाले परिवर्तन की भी पुष्टि हो जाती है।

उन्होंने बताया है कि विद्युत्चुम्बकीय, ताप और अन्य प्रकार की ऊर्जा काफी हद तक किसी वस्तु के और विशेष रूप से किसी भी सजीव संरचना के आंतरिक गुणों को निश्चित करती है। दैनिक जीवन में हम इस सिद्धांत का लाभ विद्युत्चुम्बकीय क्षेत्र के उपयोग से थकान या तनाव को कम करने के लिए कर सकते हैं।

**सेक्टर 5|1017, आर० के० पुरम, नई दिल्ली-22

4. ज्वार-भाटा से बिजली

खंभात और कच्छ की खाड़ी में तथा भारत के समुद्र तट पर स्थित अनेक स्थानों में ज्वार-भाटा से चलने वाले बड़े बिजलीघर स्थापित किये जा सकते हैं। संसार में ऐसे लगभग 200 तटवर्ती स्थान हैं जो इस प्रकार के बिजलीघरों की स्थापना के लिए उपयुक्त हैं। इस विषय में भारतीय विशेषज्ञों द्वारा विदेशों में किये जा रहे कार्य में रुचि लेना स्वाभाविक ही माना जायेगा। नई दिल्ली में इसी मास एक अन्तर्राष्ट्रीय सेमिनार का आयोजन होने वाला है।

सोवियत ज्वार-भाटा बिजलीघर संस्थान के मुख्य इंजीनियर **लेव बर्नश्तीन** ने एक भेंटवार्ता में बताया है कि इस सिलसिले में पहला प्रयास 1930 के दशक में अमेरिका में पेस्सामाकोडी खाड़ी में किया गया था लेकिन वह असफल रहा, क्योंकि उसमें बिजली-उत्पादन में खर्च बहुत अधिक आता था। बाद में 1960 के दशक में सोवियत संघ को इस क्षेत्र में उल्लेखनीय सफलता मिली जिसमें समुद्र में तैरते हुए बिजलीघर स्थापित किये गये। इससे निर्माण-कार्य पर आने वाला खर्च 25 से 35 प्रतिशत तक कम हो गया। पहले गोदी में तैरने वाले ब्लाक बनाये गये और उन पर हाइड्रोयूनिट फिट कर दिये गये। इस तरह पूरे बिजलीघर तैयार करके उन्हें नावों से खींचकर समुद्र में यथास्थान स्थापित कर दिया गया।

सबसे पहले 1968 में एक तैरने वाला ब्लाक बनाया गया था और उस पर 400 किलोवाट क्षमता की टरबाइन लगायी गई थी। बाद में उसे खाड़ी में स्थापित किया गया। यह विधि "सोवियत" के नाम से विख्यात हुई। इसी नमूने पर कनाडा और ब्रिटेन में भी ज्वार-भाटा चालित बिजलीघर बनाये गये। बाद में फ्रांस और ब्रिटेन में इस प्रकार के अनेक बिजलीघर निर्यात के लिए भी तैयार किये गये।

इसी विधि से सोवियत संघ में उच्च-वोल्टता वाली लाइनें भी समुद्र के आर-पार बिछायी गईं। इसके लिए 100-120 मीटर लम्बे खंभे नावों के जरिये समुद्र में पहुँचाये गये।

38,000 किलोवाट क्षमता वाला कोला ज्वार-भाटा बिजलीघर इस समय निर्माणाधीन है। श्वेत सागर और ओखोत्स्क सागर में निर्मित हो रहे बिजलीघर क्रमशः 1.5 करोड़ और एक करोड़ किलोवाट की क्षमता के होंगे। बाद में ओखोत्स्क सागर में 8.7 करोड़ किलोवाट का एक बिजलीघर स्थापित किया जायेगा जो ज्वार-भाटा से चालित होगा।

सोवियत-भारत आर्थिक सहयोग में विद्युत् उद्योग का महत्वपूर्ण स्थान है। सोवियत संघ भारत में विंध्याचल ताप बिजलीघर के प्रथम चरण के निर्माण में तथा कहलगांव के तापबिजलीघर और टेहरी पनबिजलीघर की डिज़ाइन तैयार करने में भारत की मदद कर रहा है। 575 किलोमीटर लम्बी विंध्याचल-जबलपुर-इटारसी पावर ट्रांसमीशन लाइन भी सोवियत सहायता से ही बिछायी जा रही है।

5. वृक्षों की सहायता से हीरों की खोज

मास्को के धातुविज्ञान, भूरसायान और क्रिस्टल रसायन संस्थान के वैज्ञानिकों ने पता लगाया है कि याकुतिया क्षेत्र के श्रीदारु (लार्च) वृक्ष की शाखाओं, छाल और फल में सामान्य की अपेक्षा अधिक मात्रा में अजैविक तत्व पाये जाते हैं, जिनके अध्ययन से भूगर्भ में हीरों की खोज की जा सकती है।

सोवियत वैज्ञानिकों का कहना है कि **किम्बरलाइट** किस्म की वह चट्टान जिसमें हीरे मिलते हैं, अपने ऊपर की भूमि को रासायनिक दृष्टि से प्रकाशित करती है क्योंकि उसमें लोहे, निकल टाइटेनियम और क्रोमियम की मात्रा सामान्य चट्टान से 50गुना अधिक होती है। ये तत्व जल के प्रभाव से भूमि के वृक्षों में प्रवेश कर जाते हैं। इन वृक्षों का परीक्षण करने से पता लगाया जा सकता है कि किस स्थान पर भूगर्भ में हीरे मिलने की संभावना है।

6. 1987 का अखिल भारतीय वानिकी साहित्य पुरस्कार घोषित

देहरादून की **डॉ० (कु०) अमिता अग्रवाल** का लेखा 'कालीदासीय नाटकों में वन एवं वन्य जीवन' अखिल भारतीय वानिकी साहित्य पुरस्कार योजना के अंतर्गत वर्ष 1987 का श्रेष्ठ लेखक पुरस्कार विजेता लेख घोषित किया गया है। उन्हें भारत सरकार के वन अनुसंधान संस्थान द्वारा प्रशस्तिपत्र सहित 500 रुपये की नकद राशि प्रदान की जायेगी। उत्तम लेखन पुरस्कार देहरादून के ही **श्री विजयराज सिंह रावत** एवं **श्रीमती लक्ष्मी रावत** लिखित लेख 'भारत में ईंधन व चारे की समस्या तथा समाधान में वानिकी क्षेत्र का योगदान' ने जीता है। लेखक द्वय को प्रशस्तिपत्र सहित 350 रुपये नकद प्रदान किये जायेंगे। 200 रुपये नकद का सराहनीय लेखन पुरस्कार विजेता लेख 'वन संरक्षण में काष्ठ प्रौद्योगिकी की भूमिका' है जिसे **श्री रामलाल** एवं **श्री जितेन्द्र कुमार बग्गा** ने मिलकर लिखा है। 100 रुपये का प्रोत्साहन पुरस्कार विजेता लेख **श्री प्रमोद कुमार पांडे** लिखित 'वन पारिस्थितिकीय तंत्र में करकट उत्पादन और उसका महत्व' है।

1986 तक 32 लेख और 11 ग्रंथ इस योजना में पुरस्कृत हो चुके हैं। 1987 के ग्रंथ पुरस्कारों की घोषणा बाद में की जायेगी।

7. माइक्रोकांटैक्ट—भौतिकी शोध की नई विधि

'उक्राइनी विज्ञान अकादमी' के 'निम्न-तापमान भौतिकी-तकनीकी संस्थान' के वैज्ञानिकों ने मनुष्य के बाल से भी हज़ार-गुना पतले धातु के ऐसे तारों का विकास किया है जो अत्यधिक घनत्व वाली विद्युत्-धारा का संचार करते हुए भी गरम नहीं होते हैं। 'माइक्रोकांटैक्ट' कहलाने वाले इन तारों का आविष्कार खारकोव और मास्को के वैज्ञानिकों ने संयुक्त रूप से किया है। इनमें से प्रमुख वैज्ञानिक **प्रो० इगोर यानसोन** को गत वर्ष 'यूरोपीय भौतिकी सोसाइटी' ने पुरस्कृत किया था।

माइक्रोकांटैक्ट उच्च-ताप सुपरकंडक्टिविटी के रहस्य का पता लगाने के लिए किये जा रहे सूक्ष्म परीक्षाओं के लिए भी उपयोगी हैं। पूर्व-निर्धारित गुणधर्म से युक्त कृत्रिम मोनोक्रिस्टलों के अध्ययन के लिए भी इनका उपयोग किया जा रहा है।

8. जनप्रिय विज्ञान

तीन महीनों तक सड़कों पर प्रदर्शन के बाद, अपनी तरह का अद्वितीय 'भारत जन विज्ञान जत्था' 7 नवम्बर 1987 को भोपाल में आकर समाप्त हो गया। इसके आयोजकों की मीटिंग (सभा) केरल प्रदेश के कान्नानोर में 11 और 12 फरवरी 1988 को, देश में विज्ञान को लोकप्रिय बनाने के लिए पूरे देश में जाल-सा बिछाने के उद्देश्य से हुई। इसमें सर्वसम्मति से यह तय किया गया कि हर वर्ष एक अधिवेशन होगा और हर मास 'विज्ञान माह' मनाया जायेगा। सर्वसम्मति से 53 वर्षीय **डॉ० एम० परमेश्वरम्** को नवगठित 'अखिल भारतीय जन विज्ञान कांग्रेस' (All-India People's Science Congress) का संयोजक चुना गया।

'भारत जन विज्ञान जत्था' के जनक 'द नेशनल काउंसिल फॉर साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी कम्यूनिकेशन' ने दो नये पुरस्कारों की भी घोषणा की है। एक तो एक संस्था के लिए और दूसरा एक व्यक्ति के लिए। पहला जन-जन में विज्ञान को लोकप्रिय बनाने के लिए और दूसरा बच्चों में। एक लाख रुपये का 'नेहरू पुरस्कार' 'कर्नाटक राज्य विज्ञान परिषद्' को और 50,000 रुपये का पुरस्कार पुणे के **श्री अरविन्द गुप्त** को प्रदान किया गया है। □□

टूटी हड्डियों को जोड़ने के लिए शल्यक्रिया जरूरी नहीं

सोवियत संघ में हड्डी टूटने के जटिल मामलों के इलाज की एक नई विधि का विकास किया गया है। यह विधि बड़ी सफल सिद्ध हुई है और इसमें हड्डियों को गलत ढंग से जुड़ने का खतरा भी नहीं रहता है। 'वोरोनेज़ चिकित्सा संस्थान' के प्रोफेसर **किर्सानोव** ने, जिन्होंने इस विधि का विकास किया है, बताया है कि इस विधि में पहले की तरह शल्यक्रिया की भी ज़रूरत नहीं होती है। इसमें एक विशेष बरमे की सहायता से ऐसी बारीक़ सुइयाँ अस्थिभंग के क्षेत्र में प्रवेश करायी जाती हैं, जिनके दूसरे सिरे पर एल्युमिनियम की एक प्लेट को बोल्ट से कसा जा सकता है। इस विधि से इलाज होने पर पैर की हड्डी टूटने का रोगी तीन दिन में ही बैसाखी के सहारे चलने लगता है।

लेसर : एक अद्भुत प्रकाश-पुंज

ज्ञानेन्द्र सिंह

लेसर की अद्भुत क्षमता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि विश्व की दो बड़ी शक्तियाँ— सोवियत संघ और अमेरिका—इस दिशा में प्रयत्नशील हैं कि लेसर अस्त्रों का जाल पृथ्वी की कक्षा में बुन दिया जाय, जिससे दुश्मन के इरादों को विफल किया जा सके।

यह लेसर है क्या ?

लेसर उस प्रक्रिया को कहते हैं जो विकिरण के उद्दीप्त उत्सर्जन के द्वारा प्रकाश का प्रवर्धन करता है। लेसर का पूरा नाम "लाइट एम्पलीफिकेशन बाई स्टिमुलेटेड एमीशन ऑव रेडिएशन" है। वैसे तो एक फोटॉन की ऊर्जा बहुत कम होती है, परन्तु अत्यधिक अणुओं अथवा परमाणुओं के होने के कारण लेसर-पुंज की ऊर्जा अधिक हो जाती है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

यद्यपि उद्दीप्त उत्सर्जन के सिद्धांत को **आइन्सटीन** ने सन् 1917 में ही प्रस्तुत कर दिया था और उद्दीप्त उत्सर्जन का प्रायोगिक मॉडल 'अमोनिया मेसर' के रूप में सन् 1954 में **टाउन्स** द्वारा प्रदर्शित किया गया, परन्तु प्रथम लेसर का अमेरिका के वैज्ञानिक **टी० एच० मैमन** ने सन् 1960 में रूबी लेसर (तरंगदैर्घ्य $6943 A^{0}$) के रूप में आविष्कार किया। कुछ समय बाद **अली-जवान** द्वारा हीलियम-नीओन गैस मिश्रण से अवरक्त लेसर (तरंग दैर्घ्य $1{\cdot}15 \mu m$) का प्रदर्शन किया गया। सन् 1962 में **हाल, नाथन** और **क्विस्ट** ने अर्धचालक लेसर (तरंगदैर्घ्य $0{\cdot}8$-$0{\cdot}9 \mu m$) प्रदर्शित किये।

लेसर का सिद्धांत

किसी पदार्थ के अणु या परमाणु-तंत्र के दो स्तरों में इलेक्ट्रॉन के इधर से उधर विस्थापन से ऊर्जा का उत्सर्जन या अवशोषण होता है। माना दो स्तरों में ऊर्जा की मात्रा E_1 और E_2 है। प्लैंक के नियम के अनुसार

$$E_2 - E_1 = h\upsilon$$

या $\upsilon = \dfrac{E_1 - E_2}{h}$

यहाँ h = प्लैंक स्थिरांक और

υ = उत्सर्जित अथवा अवशोषित विकिरण की आवृत्ति। यदि $E_2 > E_1$ है तो विकिरण का उत्सर्जन होगा और यदि $E_2 < E_1$ है तो विकिरण का अवशोषण होगा।

लेसर के मूल सिद्धांत को समझने के लिये तीन क्रियाओं का समझना आवश्यक है। 1. स्वतः उत्सर्जन, 2. उद्दीप्त उत्सर्जन और 3. उद्दीप्त या प्रेरित अवशोषण।

1. स्वतः उत्सर्जन (SPONTANEOUS EMISSION)

जब किसी पदार्थ का अणु या परमाणु-तंत्र बिना किसी बाहरी ऊर्जा के प्रभाव के उच्च ऊर्जा स्तर से निम्न ऊर्जा स्तर या धरातल स्तर पर पहुँचता है तो विकिरण उत्सर्जित होता है जिसे स्वतः उत्सर्जन कहते हैं। (चित्र–1 देखें)

2. उद्दीप्त उत्सर्जन (STIMULATED EMISSION)

यदि किसी पदार्थ के अणु या परमाणु-तंत्र पर बाहरी ऊर्जा आपतित है और इस ऊर्जा की आवृत्ति और तंत्र के दो स्तरों में विस्थापन ऊर्जा की आवृत्ति बराबर है, तो उस तंत्र से उसी आवृत्ति व प्रावस्था का विकिरण निकलेगा जो आपतित ऊर्जा का है और आपतित तरंग का दोलन बढ़कर दो गुना हो जायेगा और यह क्रिया सतत होगी। इस परिघटना (PHENOMENON) को उद्दीप्त उत्सर्जन कहते हैं। (देखिये चित्र–2)।

3. उद्दीप्त या प्रेरित अवशोषण (STIMULATED OR INDUCED ABSORPTION)

उपरोक्त दो क्रियाओं के अतिरिक्त एक तीसरी क्रिया भी होती है, जिसमें उत्सर्जन न होकर

रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर, राजस्थान

अवशोषण होता है। जब आपतित ऊर्जा किसी अनुत्तेजित अणु या परमाणु तन्त्र से टकराती है और उसे धरातल ऊर्जा स्तर से उत्तेजित कर अगले ऊर्जा स्तर में पहुँचा देती है तो इस प्रक्रिया में ऊर्जा का उत्सर्जन न होकर अवशोषण होता है जिसे उद्दीप्त या प्रेरित अवशोषण कहते हैं। (देखिये चित्र-3)

वस्तुतः किसी भी तन्त्र में सभी तीनों क्रियायें स्वतः उत्सर्जन, उद्दीप्त उत्सर्जन और अवशोषण होती हैं। इनमें कौन सी क्रिया प्रमुख है यह शुद्ध निष्पाद (OUTPUT) पर निर्भर करता है।

आपतित ऊर्जा का फोटॉन तन्त्र के अणुओं / परमाणुओं से अन्तःक्रिया करने पर एक ही प्रावस्था के और फोटॉन पैदा करता है फिर जैसे ही ये फोटॉन और अणुओं / परमाणुओं के सम्पर्क में आते हैं तो फिर एक ही प्रावस्था के और फोटॉन उत्पन्न हो जाते हैं और इस तरह फोटॉन की संख्या बढ़ती चली जाती है और सम्बद्ध विकिरण (COHERENT RADIATION) उत्पन्न हो जाता है। यदि इस विशिष्ट प्रक्रिया में

$\nu = E_2 - E_1/h$ सूक्ष्म तरंग क्षेत्र में है तो मेसर बनता है यदि $\nu = E_2 - E_1/h$ प्रकाशीय (दृश्य, अवरक्त, पराबैंगनी) क्षेत्र में है तो लेसर बनता है। इस प्रकार उत्सर्जित या अवशोषित ऊर्जा वर्णक्रम के दृश्य, अवरक्त, पराबैंगनी या सूक्ष्म तरंग किसी भी क्षेत्र में हो सकती है। यह ν के मान पर निर्भर करता है।

यदि पदार्थ को दो दर्पणों M_1 और M_2 (जिसमें M_1 शतप्रतिशत परावर्तन क्षमता वाला और M_2 आंशिक निर्गत करने वाला) में स्थिति कर धनात्मक पुनर्निवेश (POSITIVE FEEDBACK) प्रदान किया जाय तो लेसर निष्पाद (LASER OUTPUT) प्राप्त होता है, क्योंकि विद्युत्चुम्बकीय किरणें, जो दर्पण सतह के लम्बित दिशा में चलती हैं, दोनों के बीच आगे-पीछे उच्छलन (BOUNCE) करती हैं और प्रवर्धन शुरू हो जाता है। जब प्रवर्धन क्षीणन की पूर्ति कर लेता है तो दोलन (OSCILLATION) शुरू हो जाता है और लेसर दोलित्र बन जाता है और आंशिक निर्गत करने वाले दर्पण M_2 में होकर लेसर निष्पाद प्राप्त होता रहता है। लेसर दोलित्र में ऊर्जा बाहर से नहीं दी जाती बल्कि स्वतः उत्सर्जन ही प्रवर्धन शुरू करता है। (देखिये चित्र-4)

लेसर की विशेषतायें

लेसर की चार मुख्य विशेषतायें होती हैं—(1) दिशात्मकता, (2) एकवर्णीयता, (3) सम्बद्धता या संसक्तता और (4) तीव्रता।

अर्थात् साधारण प्रकाश से सात रंगों के विपरीत लेसर किरण का एक ही रंग होता है और लेसर-पुंज सम्बद्धता एवं तीव्रता के साथ-साथ उच्चकोटि की समान्तरता लिये होता है। लेसर क्रिया प्रत्येक तरह के पदार्थ जैसे ठोस, द्रव, गैस या प्लाज़्मा के अणुओं अथवा परमाणुओं में उत्पन्न की जा सकती है और लेसर निष्पाद माइक्रोवाट से गीगावाट तक प्राप्त किया जा सकता है। लेसर की कार्य शैली सतत (CONTINUOUS) भी होती है और स्पंदी (PULSED) भी। इस ऊर्जा को सुरक्षित भी रखा जा सकता है और यथा समय काम में लिया जा सकता है।

लेसर के प्रकार

जिस पदार्थ से लेसर-पुंज प्राप्त किया जाता है उसी पदार्थ के नाम से लेसर नामित किये जाते हैं जैसे रूबी लेसर, याग लेसर, हीलियम-नीओन लेसर, कार्बन डाइऑक्साइड लेसर, अमोनिया लेसर, ऑरगन लेसर इत्यादि। परन्तु वर्गीकरण पदार्थ की प्रकृति व अवस्था के आधार पर किया जाता है। इस प्रकार कुछ वर्गीकृत लेसर निम्नलिखित हैं—

1. ठोस अवस्था लेसर (SOUND STATE LASER)
   उदाहरण जैसे—रूबी लेसर (6943A°) और याग लेसर (1·06μm)
2. द्रव लेसर (LIQUID LASER)
   जैसे—विभिन्न प्रकार के डाई लेसर (0·4-10μm)
3. गैस लेसर (GAS LASER)
   जैसे—नाइट्रोजन लेसर (3371A°) और कार्बन-डाइऑक्साइड लेसर (10·6μm)

4. अर्धचालक लेसर (SEMICONDUCTOR LASER)

जैसे—गैलियम आर्सेनाइड लेसर (0·84μm) और (गैलियम, अलमोनियम) आर्सेनाइड लेसर (0.64—0·84μm)

5. रासायनिक लेसर (CHEMICAL LASER)
जैसे—हाइड्रोब्रोमिक लेसर और हाइड्रोक्लोरिक लेसर (2μm—5μm)

6. उत्तेजद्वयी लेसर (EXCIMER LASER)
जैसे—क्रिप्टॉन लेसर (1460A°) और जिनॉन लेसर (1700A°)

7. प्रकाशिक वियोजन लेसर (PHOTO DISSOCIATION LASER)
जैसे—आयोडीन लेसर (13150A°)

लेसर की उपयोगिता

लेसर किरणों के अनेक उपयोग हैं। वास्तविकता यह है कि लेसर किरणें अभिशाप भी हैं और वरदान भी, क्योंकि इनका उपयोग असाध्य रोगों के निदान से लेकर मिसाइलों, राकेटों और अंतरिक्षयानों को नष्ट करने के लिये किया जाता है। लेसर किरणों की उपयोगिता के मुख्य क्षेत्र निम्नलिखित हैं—

(1) सेना, (2) उद्योग, (3) चिकित्सा, (4) संचार, (5) कृषि, (6) मनोरंजन एवं शिक्षा, (7) होलोग्राफी, (8) रसायनशास्त्र और (9) प्रदूषण।

1. सेना

लेसर किरणों का वेग राकेट और मिसाइल से लगभग पचास हज़ार गुना अधिक होता है। इसलिये ये किरणें सामाजिक क्षेत्र में अत्यधिक घातक सिद्ध हुई हैं। इन किरणों पर आधारित अस्त्र-शस्त्रों द्वारा न केवल शत्रु के एक-एक अस्त्र-शस्त्र की सही स्थिति का ज्ञान किया जाता है अपितु उन्हें पल भर में नष्ट भी किया जा सकता है। लेसर गाइडेड मिसाइल, लेसर ट्रेकर, लेसर रडार, लेसर द्वारा अंतर्जलीय सर्वेक्षण, लेसर बीकन, गुप्त माइक्रोफोन आदि में इन किरणों का विभिन्न रूपों से उपयोग किया जाता है। 'स्टार वार' कार्यक्रम में लेसर की महत्वपूर्ण भूमिका है। राष्ट्र के प्रहरी की तरह ये लेसर किरणें पृथ्वी की कक्षा में घूमते हुये शत्रु के उपग्रह पर आक्रमण करके उसे नष्ट कर सकती हैं। राष्ट्र के ऊपर मँडराने वाले शत्रु के विमानों को मार गिराने में सहायक होती हैं। समुद्री बेड़ों पर स्थित होकर देश की ओर बुरी नजर से बढ़ने वाले मिसाइलों को धूल चटा सकती हैं।

2. उद्योग

औद्योगिक क्षेत्र में भी लेसर किरणों के विभिन्न उपयोग हैं। धातुओं को जोड़ने, काटने, छेद करने, पदार्थ की अशुद्धता नापने में लेसर किरणों का उपयोग किया जाता है। लेसर किरणों को एक प्रकाशीय लैंस द्वारा सूक्ष्म बिन्दु पर केन्द्रित किया जा सकता है अतः इस तकनीक का सहारा लेकर किसी भी मोटे इस्पात या हीरे तक को भेदा जा सकता है। इस भेदन में किसी प्रकार का भौतिक सम्पर्क नहीं होता एवं आसपास की वस्तुओं को छुपाये बिना ही बारीक से बारीक छेद किया जा सकता है। लेसर का उपयोग वाष्पीकरण, कण क्षेपण (SPUTTERING), तापानुशीतन (ANNEALING) व पालिशिंग इत्यादि कार्यों में किया जाता है। अर्धचालक उद्योगों में अपमिश्रण (DOPING), ट्रिमिंग व वर्धन आदि कार्यों में भी लेसर किरणों का उपयोग होता है।

3. चिकित्सा

लेसर की अतिसंघनित शक्तिशाली किरणें चिकित्सा विज्ञान में सर्वाधिक उपयोगी हैं। ये आँख के बारीक से बारीक शल्यक्रिया में मदद देती हैं ताकि रेटिना दुबारा ठीक हो सके और मनुष्य साधारण रूप से दुबारा देख सके। इस तरह ये किरणें शल्यक्रिया के लिये वरदान साबित हुई हैं। आँख के रेटिना को दोषमुक्त करने के अलावा ट्यूमर और रोगग्रस्त टिश्यू दूर करने के लिये भी लेसर किरणों का उपयोग किया जाने लगा है। प्लास्टिक सर्जरी, कैन्सर, आँतों की सर्जरी इत्यादि में इनका उपयोग बढ़ता जा रहा है। इसके अलावा दंत चिकित्सा व पथरी के इलाज में लेसर ने नये आयाम स्थापित किये हैं। अभिप्राय यह है कि दुनिया के सफलतम सर्जन किसी भी

छुरी से जो कारनामा करने में अक्षम हैं वही लेसर किरणों द्वारा कुछ सेकन्डों में ही कर दिया जाता है और साथ वाले अन्य टिश्यू को भी हानि नहीं पहुँचती !

4 संचार

लेसर क्षीण संकेतों को प्रवर्धित करने में सहायक होता है अतः संचार उपग्रह से आने वाले क्षीण संकेत इसके द्वारा प्रवर्द्धित किये जाते हैं । टेलीविज़न के लिये भी लेसर का उपयोग किया जाने लगा है। माइक्रोवेव संकेतों को यह लेसर चित्रों में परिवर्तित करता है । माइक्रोवेव संकेतों का चित्र लेसर किरणों पर अंकित किया जाता है जिससे टेलीविजन की फ़ोटो-ट्यूब द्वारा ये लेसर किरणें ग्रहण की जाती हैं और माइक्रो संकेतों में बदल जाते हैं । जब ये वीडियो-बिम्ब परिवर्तित होते हैं तो टेलीविज़न में चित्र दिखाई देते हैं । आधुनिकतम रडार यंत्र से आम रडार यंत्र की अपेक्षा किसी लक्ष का सौ गुन अच्छा चित्र लिया जा सकता है । इसके अलावा इन किरणों का उपयोग तन्तु संचार एक उपग्रह से दूसरे उपग्रह तक संचार, आकाशीय वस्तुओं की छोटी-छोटी दूरियाँ आदि पता करने में किया जाता है ।

5. कृषि

लेसर किरणों का उपयोग कृषि में भी उपयोगी सिद्ध हुआ है । पराबैंगनी लेसर द्वारा पौधों की अनेक बीमारियों जैसे वायरस एवं दूसरे हानिकारक सूक्ष्म कीटाणुओं से रक्षा की जाती है । लेसर किरणों द्वारा बीजों को निर्गम या रोगाणुरहित (Sterlise) किया जाता है ।

6. मनोरंजन एवं शिक्षा

मनोरंजन के क्षेत्र में लेसर त्रिआयामी चल एवं अचल चित्रों के लिये प्रकाश स्रोत का कार्य करता है । वीडियो चक्री पर खेलने वालों के लिये वीडियो संकेत प्राप्त कर उन्हें अकित करता है ।

शिक्षा-क्षेत्र में लेसर का उपयोग प्रकाशीय क्षेत्र के प्रायोगिक कार्यों, लाइब्रेरी की ढेरों किताबों का लेखा-जोखा छोटी-सी वीडियो चक्री पर अंकित करने में किया जाता है । इसके अलावा लेसर किरणों की तीव्रगति के कारण कम्प्यूटर में फोटो संवेदन सतह पर आँकड़े सुरक्षित करने में उपयोग किया जाता है ।

7. होलोग्राफी

लेसर का एक अन्य उपयोग भी है होलोग्राम बनाने में मदद करना । होलोग्राम तकनीक का सहारा लेकर त्रिआयामी फिल्में बनायी जाती हैं। इसके अलावा द्रुत-गति से फोटोग्राफी एवं संसक्ति चित्र निर्माण आदि में लेसर किरणों का सहारा लिया जाता है ।

8. रसायनशास्त्र

समस्थानिकों को अलग करने के लिए भी लेसर किरणों का उपयोग किया जाता है । मुख्यतः यूरेनियम के समस्थानिकों को अलग करना काफी महत्वपूर्ण होता है ।

9. प्रदूषण

धूल एवं राख की तरह के पदार्थों के अलावा वायुमंडल को नाइट्रोजनऑक्साइड, कार्बनमोनोऑक्साइड सल्फर डाइऑक्साइड, ओज़ोन आदि गैसें प्रदूषित करती हैं । इस प्रदूषण को उपयुक्त तरंगदैर्घ्य का लेसर पुंज वायुमंडल में भेजकर मॉनीटर किया जाता है और प्रदूषकों का पता किया जाता है ।

उपरोक्त विवरण से पता चलता है कि लेसर किरणें घातक भी हैं और लाभदायक भी । अगर सामरिक क्षेत्र में लेसर का उपयोग होता है तो घातक है और यदि इसके विपरीत मानव-विकास-क्षेत्रों में जैसे शल्यक्रिया, चट्टानों के नीचे छिपी सम्पदा चट्टानों को भेदकर खोजना आदि कार्यों में होता है तो लाभदायक ही है । अतः विकास क्षेत्रों में लेसर का अधिकाधिक उपयोग मानव के लिये श्रेयस्कर है ।

लेसर किरणों का उपयोग बड़ी सावधानी से किया जाता है । अगर ये आँखों पर पड़ जायँ तो मनुष्य पल भर में अन्धा हो सकता है । इस प्रकार ये किरणें एक ओर जहाँ रेटिना के इलाज में मदद करती हैं वहीं उसे नष्ट भी कर सकती हैं । लेसर किरणें त्वचा के लिये भी हानिकारक हो सकती हैं । अभिप्राय यह है कि लेसर किरणों का हानिकारक या लाभप्रद होना इस बात पर निर्भर करता है कि मानव या वैज्ञानिक इन्हें कितनी सावधानी से किस क्षेत्र में उपयोग में लेता है । □□

(पृष्ठ 21 पर चित्र देखें)
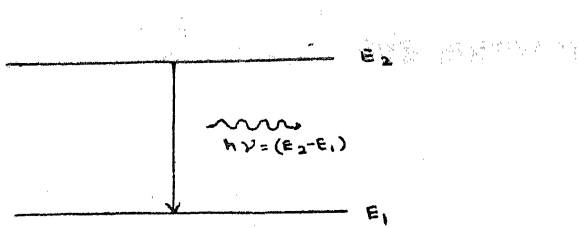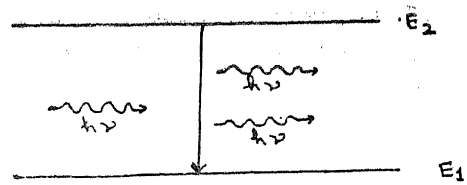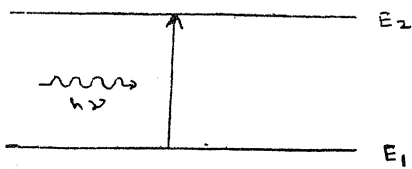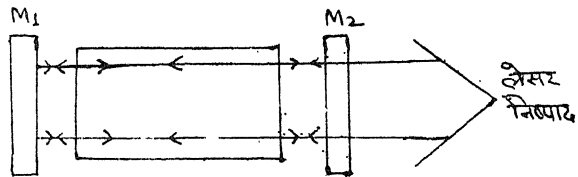
(पृष्ठ 23 का शेष)

के लिए तो इनके कार्यक्रमों का किसी रूप में बने रहना पहली शर्त है। दूसरी बात यह कि 'हम आपके शहर में आये हैं—हमें आकर सुनिए' के स्थान पर 'आप हमें सुनना चाहें या नहीं, हम आपके द्वार-द्वार आकर अपनी बात सुनाएँगे'। 'डोर टू डोर कैनवासिंग' सदृश कोई नीति तैयार करनी पड़ेगी। तभी सच्चे अर्थों में जन-आन्दोलन तथा विज्ञान को जनसाधारण तक पहुँचाने की बात की जा सकेगी।

'भारत जन विज्ञान जत्था' की एक अन्य महत्वपूर्ण और रचनात्मक भूमिका यह भी हो सकती है कि वह स्थानीय सामग्री की सहायता से भारतीय आवश्यकताओं के अनुरूप बालकों के लिए वैज्ञानिक उपकरण को लोकप्रिय बनाए, जिससे आयातित तकनीक पर निर्भरता और मानसिक रूप से विदेशी परावलंबन को समाप्त किया जा सके। □□

हिन्दी विज्ञान लेखक पुरस्कृत

युवा विज्ञान लेखक **श्री शुकदेव प्रसाद** को उनकी पुस्तक 'नाभिकीय ऊर्जा' पर भारत सरकार के विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग से पन्द्रह हज़ार रुपये का प्रथम पुरस्कार दिए जाने की घोषणा हुई है।

'विज्ञान प्रगति' के संपादक **श्री श्याम सुन्दर शर्मा** को उनकी पांडुलिपि 'सूक्ष्म इलेक्ट्रानिकी' पर विज्ञान और प्रौद्योगिकी विभाग (भारत सरकार) ने अपनी पुरस्कार योजना (1987) के अंतर्गत द्वितीय पुरस्कार प्रदान किया है।

दोनों लेखकों को विज्ञान परिषद् परिवार की बधाई।

भारत जन विज्ञान जत्था : एक समीक्षात्मक दृष्टि

मंजुलिका लक्ष्मी

'भारत जन विज्ञान जत्था' की सफलता या असफलता पर निश्चित रूप से कुछ कहने के लिए अभी कुछ समय तक और प्रतीक्षा करनी होगी। इतनी जल्दी कोई राय बनायी भी नहीं जा सकती। किन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि इस जत्थे से जनमानस में जिस वैज्ञानिक चेतना के जाग्रत होने की आशा बंधी थी, वह पूरी नहीं हुयी। कारण अनेक हो सकते हैं। जत्थे की अपनी कठिनाइयाँ और सीमायें भी हो सकती हैं। पर एक बात स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आई है, वह यह है कि विज्ञान के प्रचार-प्रसार में रत स्थानीय स्वयंसेवी संस्थाओं को किनारे रखकर यह जन आन्दोलन का कार्य प्रारम्भ हुआ। जगह-जगह जत्थे के नये कार्यालय खोल लिए गये। अच्छा तो यह होता की पुरानी संस्थाओं और स्कूल-कॉलेजों से और अधिक सहयोग लिया गया होता। अभी भी समय है और इस त्रुटि का परिमार्जन किया जा सकता है। प्रस्तुत है मंजुलिका लक्ष्मी की क़लम से इस जन आन्दोलन पर एक समीक्षात्मक दृष्टि।]

—सम्पादक

भारतीय विज्ञान के इतिहास में 'भारत जन विज्ञान जत्था' के रूप में एक ऐसे अभूतपूर्व आन्दोलन ने जन्म लिया है जिसका कोई उदाहरण अन्यत्र नहीं मिलता। ऐसा समझा जाता है कि इस आन्दोलन के माध्यम से अब विज्ञान के विशिष्ट ज्ञान को साधारण मानव के द्वार-द्वार तक पहुँचाने की प्रक्रिया सम्भव हो सकेगी और कालान्तर में इस प्रगति में तेज़ी भी लाई जा सकेगी।

मूलरूप से वैज्ञानिक ज्ञान प्रसार के इस जन-आन्दोलन के बीज 'केरल शास्त्र साहित्य परिषद्' द्वारा आयोजित 1970 के उस विज्ञान जत्थे में देखे जा सकते हैं, जिसमें परिषद् के कार्यकर्त्ताओं ने केरल के सुदूर ग्रामों में जाकर भाषणों, प्रदर्शनों और प्रश्नोत्तर कार्यक्रमों के द्वारा वैज्ञानिक चेतना जाग्रत करने का प्रथम सफल प्रयास किया। जनसाधारण की उत्साहवर्धक प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप 'जत्थे' का आयोजन नियमित वार्षिक कार्यक्रम के रूप में किया जाने लगा। एक तरह से सत्तर का पूरा दशक 'भारत जन विज्ञान जत्था' के वर्तमान राष्ट्रीय स्वरूप के लिए एक ठोस पृष्ठभूमि तैयार कर रहा था।

इस प्रकार 1987 में 'भारत जन विज्ञान जत्था' का उद्भव 'केरल शास्त्र साहित्य परिषद्' की गतिविधियों का एक स्वाभाविक परिणाम कहा जा सकता है। 1987 के अक्टूबर माह के प्रारम्भ में पाँच क्षेत्रीय जत्थों ने अपने-अपने क्षेत्र से यह भ्रमणशील कार्यक्रम प्रारम्भ किया और लगभग एक माह में अपना दौरा पूरा कर सभी देश के हृदय मध्यप्रदेश की राजधानी भोपाल में एकत्र हुये। 2 अक्टूबर—'गाँधी जयंती'—को जत्थे का शुभारम्भ और 7 नवम्बर—'रामन जयंती'—को भोपाल आगमन की ये दोनों तिथियाँ बड़ी सार्थक रहीं। गाँधी सत्य के अनन्य पुजारी और रामन—विज्ञान की अद्वितीय शिखा के रूप में जगत्प्रसिद्ध रहे हैं। इन महान विभूतियों के नाम से जत्थे का यह अप्रत्यक्ष संयोग एक सुखद घटना रही है, क्योंकि अंततः जत्था भी वैज्ञानिक रीति से 'सत्य' तक पहुँचने का ही एक माध्यम बना है।

क्षेत्रीय जत्थों को अपने-अपने क्षेत्र के दौरों की अवधि में 5000-6000 किलोमीटर की दूरी तय करने के साथ ही साथ हर पड़ाव पर तीन-चार ऐसे सार्थक प्रदर्शन करने थे जो विज्ञान प्रसार को सहज बनाते। इस कार्य के लिए प्रत्येक क्षत्रीय जत्थे में 15-20 कलाकारों के रूप में एक 'कला जत्था' प्रभाग भी बनाया गया था जिसके वैज्ञानिक चेतना जाग्रत करने वाले रोचक और विचारोत्तजक कार्यक्रमों और मंच प्रदर्शनों ने विज्ञान प्रसार के लक्ष्य को सरल बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इसके अतिरिक्त वैज्ञानिक साहित्य से संबंधित चित्रों की प्रदर्शनी और स्लाइड प्रदर्शन के माध्यम से भी जत्थों ने अपनी बात साधारण जन तक पहुँचाने में सफलता पाई है। जत्थे के दूसरे महत्वपूर्ण विभाग में वे वैज्ञानिक थे जो रोचक

भाषणों और प्रश्नोत्तर सत्रों के द्वारा श्रोताओं की जिज्ञासाओं को शांत कर विज्ञान के गंभीर पक्ष को संप्रेषित करने का कार्य कर रहे थे। इन कार्यक्रमों का एक संतोषजनक पक्ष यह भी था कि यह सभी कार्यक्रम उन सभी क्षेत्रीय भाषाओं में तैयार किये गये थे जिन क्षेत्रों का दौरा क्षेत्रीय जत्थों को करना था। इस सराहनीय कदम के कारण कार्यक्रमों की गुणवत्ता और सार्थकता दोनों में ही वृद्धि हुई। 7 नवम्बर को समस्त क्षेत्रीय जत्थों के भोपाल में एकत्र होने के पश्चात् अंतिम चरण के कार्यक्रमों में इस जनविज्ञान आन्दोलन की विशाल रैली इस आयोजन का सबसे भावाकर्षक और विचारोत्तेजक पक्ष रहा। अनेक प्रान्तीय और क्षेत्रीय भाषाओं में प्रदर्शित पोस्टरों और बैनरों द्वारा विज्ञान की सार्वभौमिकता और समस्त विवादों से परे सब को एक सूत्र में बद्ध करने की उसकी असाधारण क्षमता एक बार पुनः सिद्ध कर दी गई। एकता की यह आस्था एक बार पुनः मुखरित हुई। सभी क्षेत्रीय जत्थों द्वारा प्रस्तुत एक सम्मिलित सांस्कृतिक कार्यक्रम में जब विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं में एक साथ उसे हज़ारों-हज़ार दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत किया गया। भारत जन-विज्ञान जत्था के क्षेत्रीय दौरों और भोपाल के सात दिवसीय स्थानीय कार्यक्रमों, दोनों में ही सारे देश की कतिपय अन्यान्य संस्थाओं ने भी स्वेच्छा से भाग लिया। सहयोग और सहभागिता के ये कदम इस बात के द्योतक बने कि रंग, वर्ण, धर्म और क्षेत्र से ऊपर विज्ञान का सत्य वह एकमात्र सार्वकालिक और सार्वभौम सत्य है जो मानवमात्र को तुच्छ आपसी द्वेषों से ऊपर ले जा सकने में समर्थ है।

यह सत्य है कि यह विशाल 'विज्ञान जन-आन्दोलन' का कार्यक्रम अपने स्वरूप और व्यापकता दोनों ही दृष्टियों से अभूतपूर्व रहा। किन्तु साथ ही साथ यह भी सत्य है कि इस कार्यक्रम के अंतर्गत आन्दोलन के कुछ ऐसे पक्ष भी सामने आये जिन पर प्रश्नचिह्न लग सकते हैं।

सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न तो यह है कि 'जत्था आंदोलन' जनसाधारण की चेतना को प्रभावित कर उनमें वैज्ञानिक मनोवृत्ति उपजाने या तदनुरूप माहौल तैयार करने के लिए एक ठोस पृष्ठभूमि बनाने में कितना सफल रहा, कितना सहायक रहा है? क्या उनके द्वारा प्रदर्शित 'वैज्ञानिक सामग्री' और कार्यक्रम हमारे देश की 75% जनसंख्या की शिक्षा और जागरूकता के अनुरूप थी? क्या यह आन्दोलन बड़े शहरों और कस्बों के मुख्य चौकों और केन्द्रों के अतिरिक्त झोपड़पट्टियों और पिछड़े-उजड़े गाँवों के लोगों को भी छू सका है? क्या यह 'अपने लक्ष्यों'— 'अपनी बात' बताने-कहने के स्थान पर लोगों की आवश्यकताएँ, जिज्ञासाएँ, बाधाएँ क्या हैं, यह जान सका है? यदि हाँ, तो भविष्य में क्या इस विशेष दृष्टिकोण के अनुरूप जत्थे को पुनर्गठित और पुनर्योजित करने का कोई भावी कार्यक्रम बनाया जा रहा है? यदि नहीं, तो एन० सी० एस० टी० सी० द्वारा प्रदत्त एक बड़ी राशि व्यय कर इस विशाल आन्दोलन को खड़ा करने की सार्थकता और औचित्य क्या रहा? यह तो भविष्य ही बता सकेगा कि जत्था तेज़ चमक दिखा कर बुझ जाने वाला अग्नि स्फुलिंग सिद्ध होता है या लंबे समय तक स्थिर लौ के साथ जलने वाला दीपक, पर एक बात निर्विवाद है कि इस जन आन्दोलन को अधिक प्रभावी और स्थायी बनाने के लिए कुछ बातों पर विशेष ध्यान देना पड़ेगा। सर्वप्रथम तो यह कि इन जत्थों को भव्य स्तर पर आयोजित वार्षिक सांस्कृतिक कार्यक्रम बनाने के स्थान पर देश के सुदूर प्रान्तरों में नियमित जाल बिछाकर जन जागरण के कार्यक्रमों को निरंतर गति से चलाये रखना पड़ेगा। यह कार्य कठिन, दुरूह और असंभव जैसा भले लगे पर जत्थे की सार्थकता इसी में है। हर स्तर पर स्कूलों, कॉलेजों से जोड़कर तथा 'कैच देम यंग' (Catch them young) की नीति को सत्य करते हुये ही इस आन्दोलन को स्थायी और प्रभावोत्पादक बनाया जा सकता है। वस्तुतः मानव-मन उस इस्पात जैसा नहीं है जिसे एक बार तपाकर मन चाहा स्थायी आकार दिया जा सके। यह तो उस कोमल 'स्पंज' के टुकड़े की तरह है, जिस पर दबाब डालिए तो वह दब जायेगा। दबाव के हटते ही वह पुनः अपनी पूर्व स्थिति में आ जायेगा। तात्पर्य यह कि उस पर कोई स्थायी प्रभाव डालने के लिए दबाव का नैरन्तर्य आवश्यक होगा। यही कारण है कि ऐसे आन्दोलनों का जन्म और समापन एक घटना मात्र बनकर रह जाते हैं। स्थायित्व

(शेष पृष्ठ 21 पर)

विज्ञान वक्तव्य | लड़ाई जारी है

बात अभी पिछले सप्ताह की है। बी० एस-सी० प्रथम वर्ष वनस्पति विज्ञान की एक कक्षा में अपना भाषण समाप्त करने के बाद ज्यों ही बाहर आता हूँ, पीछे से एक शिष्या आवाज़ देती है, "सर, एक मिनट।" मैं ठहर जाता हूँ। "क्या हिन्दी माध्यम से प्रश्नों के उत्तर लिखने पर नम्बर काट लिए जाते हैं?" यह प्रश्न मात्र एक शिष्या का नहीं। स्नातक स्तर के विद्यार्थी, विशेष रूप से प्रथम खण्ड के विद्यार्थी, यह प्रश्न अकसर पूछते हैं। मैं सदैव एक ही उत्तर देता हूँ, "जब अंग्रेजी भाषा के साथ ही विज्ञान विषयक प्रश्न पत्र हिन्दी भाषा में भी छपे रहते हैं तो तुम्हें हिन्दी में उत्तर लिखने में संकोच क्यों।"

पिछले पच्चीस वर्षों का अध्यापकीय अनुभव मुझे यह कहने को बाध्य करता है कि हमारी लड़ाई अभी खतम नहीं हुई है। हिन्दी भाषा को राष्ट्रभाषा होने का गौरव तो मिल गया, किन्तु देश की भाषा, भारत की भाषा हो सकने के सम्मान से हिन्दी अभी भी वंचित है। यह हमारा दुर्भाग्य है। पिछले दिनों जो समाचार अखबार और पत्रिकाओं की सुर्खियों में था, वह था, दिल्ली के भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान के विद्यार्थियों की हिन्दी के पक्ष में 'बहुजन हिताय' लड़ाई। वैसे यहाँ मैं यह फिर से बता दूँ कि इसके पूर्व दो युद्ध जीते जा चुके हैं। एक तो हिन्दी में परीक्षा देने और दूसरी हिन्दी भाषा के माध्यम से ही शोध प्रबंध के प्रस्तुतिकरण की। और यह तीसरी लड़ाई है—भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान की संयुक्त प्रवेश परीक्षा का माध्यम भारतीय भाषायें होने की जायज माँग को लेकर। इस लड़ाई के शीर्षस्थ नेता हैं श्याम रुद्र पाठक और अमरेन्द्र कुमार सिंह जो अंततः कुछ अन्य छात्रों के साथ अनशन पर भी बैठे। इसके पूर्व श्याम रुद्र पाठक अपना शोधप्रबंध हिन्दी में प्रस्तुत कर एक युद्ध जीत चुके हैं और अपनी बात मनवा चुके हैं। उन्हें इस बार भी पूरी आशा है, कि देर-सबेर उनकी बात अवश्य ही मानी जायेगी। प्रवेश परीक्षा का माध्यम जब तक अंग्रेज़ी बनी रहेगी, अंग्रेज़ी माध्यम से पढ़ाई करने वाले विद्यार्थी ही प्रवेश पाते रहेंगे और अपनी मातृभाषा के माध्यम से पढने वाले प्रतिभाशाली विद्यार्थी पिछड़ते रहेंगे।

हर देश की अपनी भाषा होती है और उन्हें उस भाषा पर गर्व होता है, किन्तु यह कितने दुर्भाग्य की बात है कि हिन्दी राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन है पर अंग्रेज़ी जानने वाला ही पहले दर्जे का नागरिक समझा जाता है। अतएव लड़ाई जारी रहनी चाहिए, तब तक कि हिन्दी देश की भाषा के रूप में महिमामंडित न हो जाये। □□

विज्ञान वक्तव्य

पर्यावरण की क्षति से गरीब वर्ग अधिक प्रभावित

यह एक कटु सत्य है कि पर्यावरण की क्षति से सबसे अधिक प्रभावित गरीब लोग ही हुये हैं। इनमें भी आदिवासी और गाँवों में रहने वाले लोग तो कुछ और भी ज़्यादा। गाँवों में साधारणतया कृषि कर्म से संबंधित तीन श्रेणी के लोग रहते हैं। बड़े किसान जिनके पास अधिक ज़मीन होती है। इनके जानवरों के लिए चारा और भोजन पकाने के लिए ईंधन की कमी नहीं होती। इसके बाद आते हैं मध्यम दर्ज़े के किसान। इनके पास इतनी ज़मीन तो होती है कि खाने के लिए इन्हें कोई कमी नहीं, पर ईंधन और चारे के लिए इन्हें बड़े किसानों पर निर्भर रहना पड़ता है। तीसरी श्रेणी में ऐसे खेतिहर हैं जिनके पास भूमि या तो नाम मात्र की होती अथवा ये भूमिहीन होते हैं। इनके लिए ज़िन्दा रहने का आधार हैं गाँव के बड़े लोग। इन्हीं बड़े लोगों के चरागाहों पर ये भूमिहीन लोग उनके पशुओं को चराते हैं और बदले में मजदूरी प्राप्त करते हैं। इन्हीं साधनसम्पन्न लोगों से श्रमिकों को जलावन की लकड़ी मिलती है और यदि इन पर कृपा कुछ अधिक हो गई तो इन्हें थोड़ा-बहुत जंगली उत्पाद भी मिल जाता है। जंगल पर इन्हीं धनी लोगों का आधिपत्य होता है और व्यवहार में जंगल इनकी निजी सम्पत्ति होती है।

अतएव जब जंगलों का सफाया होता है तो सबसे अधिक यही तीसरी श्रेणी के श्रमिक और भूमिहीन खेतिहर प्रभावित होते हैं। सरकार द्वारा लागू किए गए बीस-सूत्री कार्यक्रम द्वारा भूमिहीनों में भूमि आवंटित करके बड़े किसानों और भूमिहीनों के बीच की खाईं को पाटने का प्रयास किया गया है, किन्तु विडम्बना यह है कि यहाँ भी येन-केन-प्रकारेण बड़े किसान ही इससे लाभान्वित हुए हैं। गरीब तो जहाँ थे, वहीं रह गए, क्योंकि गाँवों के साधनसम्पन्न और सक्षम लोगों ने इस कार्यक्रम का मुँह अपनी ओर मोड़ लिया।

वनों की कटाई का प्रभाव भी सबसे अधिक इन्हीं निर्धनों पर ही पड़ा है। आदिवासी ज़िलों में बहुत से गाँव वाले ऐसे जंगलों के मालिक बन बैठे हैं, जिन वनों की ज़मीनें उनके नामों से दर्ज हैं। इन निजी जंगलों का ठेकेदारों द्वारा, आदिवासियों को थोड़ा सा लाभ देकर, मनमाने ढँग से सफाया कर दिया गया है। यदि इन्हीं काट दिए गये वनों का ठीक से प्रबंध किया गया होता तो आज ये जंगल आदिवासियों की आय के स्रोत होते।

जंगलों का इस तरह का सफाया पूरे भारत में देखा जा सकता है किन्तु मध्य प्रदेश के बेटुला, छिंदवाड़ा, ओनी और बस्तर ज़िलों में जंगलों का इस तरह बेरहमी से काटा जाना कुछ अधिक देखने में आता है। इन निजी जंगलों के अतिरिक्त भारत के लगभग सभी गाँवों के बड़े क्षेत्रों पर पहले वन हुआ करते थे, जिन पर ज़मींदार या मालगुजार अथवा गाँव के मुखिया का हुक्म चलता था। सामन्तवादी तंत्र के और जो भी दोष रहे हों, वन क्षेत्रों का विभाजन और प्रबंध आज से कहीं अच्छा था। उस समय जंगलों की अंधाधुन्ध कटाई नहीं होती थी।

स्वतंत्रता प्राप्ति के लगभग चार वर्षों बाद 1957 में गाँवों के जंगलों का प्रबंध राजस्व विभाग को सौंप दिया गया। राजस्व विभाग जंगलों के कटाव पर नियंत्रण नहीं रख सका। संभवतः विभाग की अपनी सीमायें रही हों, पर अकेले मध्यप्रदेश में ही 1951-1961 के बीच गाँव-गँवई के 1.8 मिलियन हेक्टेयर क्षेत्र से वनों का सफाया हो गया। इस प्रकार राजस्व विभाग द्वारा मात्र 10 वर्षों तक जंगलों के प्रबंध ने ही भारतीय गाँवों के चेहरे को—पर्यावरणीय चेहरे को—विकृत करके रख दिया।

जंगलों के कटने का ही परिणाम है कि आज हर वह घंटा जिसे गाँववासी ईंधन और चारे की खोज में लगाता है, ऐसा महत्वपूर्ण समय है जिसमें उसने किसी बड़े कृषक के खेत में मजदूरी की होती और कुछ कमाया होता। यद्यपि ईंधन और चारे को एकत्र करने का काम अधिकतर महिलायें ही करती हैं, पर यह भी सच है कि ईंधन बीनने वाले समय का सदुपयोग ये महिलायें भी खेतों में

मजदूरी का काम करके कर सकती हैं। इस प्रकार इन महिलाओं को अपनी मजदूरी से भी हाथ धोना पड़ता है। जहाँ तक गरीब ग्रामीणों का प्रश्न है, जंगल की कटाई ने उनकी आर्थिक दशा को चौपट कर दिया है। यही नहीं, उन्हें मजदूरी के काम से वंचित रखकर अपना सारा समय मात्र जिन्दा रहने के संघर्ष में लगाने पर विवश कर दिया है।

सुरक्षित वन सदैव से गरीबों की आय और आजीविका के मुख्य स्रोत रहे हैं। ये वन हमेशा पेड़-पौधों और वनस्पतियों से भरे रहे हैं। इन वनों में गाँव वालों के मवेशी चरा करते थे और सूखी लकड़ियाँ जलावन के काम आती थीं। इसके अतिरिक्त आदिवासियों को फल-फूल, गोंद, कन्द और बीज मुफ्त में मिलते रहे हैं। इससे इस बात का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि वनों के कटने से इन गरीब लोगों की कितनी हानि हुई है। इन्हें अपनी आजीविका से हाथ धोना पड़ा है।

पर्यावरण के असंतुलन का प्रभाव अन्य रूपों में भी देखने में आया है। हमारे अनेक जल स्रोत प्रदूषित हो गए हैं, बहुत से सूख गए हैं। कभी मध्य भारत के पहाड़ी इलाकों में नदी के किनारे-किनारे जंगलों और पेड़-पौधों की मेखला (बेल्ट) के कारण नदी का जल स्वच्छ रहता था और ग्रीष्मकाल में जल का बहाव भी एक समान बना रहता था। इससे इस बात की पुष्टि होती है कि उस समय इन क्षेत्रों में पानी की कमी जैसी कोई समस्या नहीं थी किन्तु वर्तमान में वृक्षों के कटाव के परिणामस्वरूप जल स्रोत सूख गए हैं और आज इन क्षेत्रों में लोग ताल-तलैया के रुके हुये प्रदूषित जल को पीने के लिए विवश हैं। कुछ क्षेत्रों में तो लोग पानी के दर्शन को भी तरस रहे हैं।

कोई भी उद्योग अथवा खनन कार्य नदी के जल को प्रदूषित कर देता है। इसका ज्वलंत उदाहरण हैं बस्तर जिले में बिलाडिल की नीचे की ओर बहती दनखानी और शनखानी नदियाँ। मात्र नदियाँ ही नहीं, सागर भी अछूते नहीं रहे। कोंकण के समुद्रतटीय क्षेत्रों में स्थित रासायनिक कारखानों के अनुपचारित अपशिष्टों के सागर जल में मिलने से मछलियाँ समाप्त हो गई हैं और गरीब मछुआरों को अपनी आजीविका से हाथ धोना पड़ा है।

पर्यावरण प्रदूषण से एक और चिंताजनक हानि हुई है कृषि को, विशेषरूप से शुष्क क्षेत्रों में। सूखे के लिए संवेदनशील अनेक ज़िलों में वर्षा तो कम हुई ही है, साथ ही जल स्तर भी नीचे गिर गया है। तेज़ हवा के झोंकों और जल से उपजाऊ मिट्टी के अपरदन के कारण मृदा की गुणवत्ता भी कम हो गई है। इसका एकमात्र कारण है ऐसे क्षेत्रों में वृक्षों और वनस्पतियों के आवरण—भूमि की हरी चूनर—के अभाव में भूमि का नंगा होना। सौराष्ट्र का तो सारा क्षेत्र मरुभूमि में बदल गया है क्योंकि पहले जहाँ कभी चारागाह थे, वहाँ अब फसलें उगाई जाने लगी हैं। और तो और, कँटीले वृक्षों को भी काट दिया गया है। चारागाहों के क्षेत्र सीमित हो जाने से बचे हुये छोटे चारागाहों में मवेशियों की अत्यधिक चराई के कारण वहाँ का पारिस्थितिक तंत्र क्षत-विक्षत हो गया है। धनी किसानों ने तो आय के कुछ अन्य स्रोत जुटा लिए हैं पर गरीब लोगों की आर्थिक दशा अत्यंत शोचनीय हो गई है।

इस सच्चाई से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि पर्यावरण को सुधारने-संवारने से संबंधित योजनाओं में हमने निर्धन व्यक्तियों का ध्यान नहीं रखा है। हमारी योजनाओं की यह सबसे बड़ी कमी रही है। वनीकरण से संबंधित बड़े-बड़े कार्यक्रम सम्पन्न किए जाते हैं, बड़े-बड़े बाँध बनाए जाते हैं और उद्योगों पर बड़ी-बड़ी धन-राशियाँ खर्च की जाती हैं, किन्तु पर्यावरण की ऐसी कौन सी योजना है जिसकी ओर गरीब लोग भी आकर्षित हों?

वनीकरण की अनेक योजनायें विफल हो जाती हैं क्योंकि अधिक उत्साह में आकर ऐसी बंजर भूमि में भी वृक्ष लगा दिए जाते हैं जो वृक्षारोपण के लिए सर्वथा अनुपयुक्त हैं। जब बाँध बनते हैं तो वहाँ से गरीब लोग ही विस्थापित होते हैं, पर लाभ सारा गाँवों के धनी वर्ग को जाता है। जब कोई उद्योग लगाया जाता है तो नाम-मात्र के ग्रामीण लोग ही काम पाते हैं और काफी बड़ा ग्रामीण समाज उपेक्षित रह जाता है।

इस समय भारतीय गाँवों में ऐसी योजनाओं की आवश्यकता है जिनसे निर्धन ग्रामीण समाज को देश की

(शेष पृष्ठ 19 पर)

पर्यावरण की समस्या सारे विश्व की समस्या है

आशुतोष मिश्र

पर्यावरण एक ऐसा विषय है, जिस पर एक व्यक्ति-विशेष भी विचार कर सकता है, एक राष्ट्र भी, अथवा समस्त विश्व भी। परन्तु एक बात समझ में नहीं आती—इतनी ढेर सारी अन्तर्राष्ट्रीय गोष्ठियाँ व सम्मेलन आयोजित करने का महत्व क्या है? यदि किसी राष्ट्र की पर्यावरण से संबद्ध कोई समस्या है तो इसके लिए विश्वभर को चिंतित होने की क्या आवश्यकता? यदि ध्यान से देखा जाए तो अनेक ऐसी समस्याएँ हैं, जिनसे अनेक राष्ट्र एक साथ प्रभावित होते हैं। 5 जून 1972 को स्टॉकहोम में मानव पर्यावरण पर आयोजित प्रथम अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में इस श्रेणी की अनेक समस्याओं को प्रकाश में लाया गया—उदाहरणस्वरूप राइन नदी में बढ़ता हुआ कचरा, पश्चिमी यूरोप में व्यापक स्तर पर अम्लीय वर्षा, नेपाल में तेज़ी से पेड़ों का कटना तथा इसके द्वारा गंगा नदी के प्रवाह में परिवर्तन आना, जैसी विविध समस्याएँ कई राष्ट्रों को संयुक्त रूप से प्रभावित कर रही थीं। इसी प्रकार बाल्टिक तथा भूमध्य सागरों में व्हेल मछलियों का वध तटवर्ती राष्ट्रों के लिये चिन्ता का विषय बना हुआ था। इस अधिवेशन से विश्व को पहली बार इस बात का आभास हुआ कि अपने लाभ के लिए एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की पर्यावरणीय सरमस्याओं को अनदेखा नहीं कर सकता। हम आपसी सहयोग के बिना इन समस्याओं का हल भी नही ढूंढ़ सकते।

परन्तु 1972 में ये समस्याएँ एक राष्ट्र अथवा राष्ट्रों के छोटे समूहों की हुआ करती थीं, जिस के कारण दूसरे राष्ट्र उन्हें अनदेखा कर देते थे। यदि रूस बैंकाल झील को गंदा कर रहा है, तो हमसे क्या मतलब? तब इस बात पर गौर नहीं किया जाता था कि बैकाल झील में मछलियों की 2000 प्रजातियों का नष्ट होना मात्र रूस की समस्या नहीं, वरन् समस्त विश्व के लिए एक चिन्ताजनक विषय है।

आज, स्थिति कुछ भिन्न ही है। पुरानी समस्याएँ आज भी हमें घेरे हैं, साथ ही साथ हर रोज़ कोई नई समस्या भी आ खड़ी होती है। और तो और, इनमें ऐसी अनेक समस्याएँ होती हैं जो सारे विश्व को प्रभावित करती हैं। स्टॉकहोम अधिवेशन में जिन दो प्रमुख बातों पर चर्चा हुई, वे थीं—न्यूक्लीय हथियारों के परीक्षण से उत्पन्न प्रभाव—जिनका सारे विश्व पर कुछ न कुछ असर अवश्य पड़ता है, तथा जंगलों के उत्पादों का अंतर्राष्ट्रीय व्यापार। हम चाहे जितनी भी योजनाएँ बना लें, मुख्य समस्या आती है उनको लागू करने में। विकासशील राष्ट्र यह चाहते हैं कि उनकी योजनाओं में कोई खलल न डाले; यदि वे अपने सारे जंगलों को काटकर घर बनाना चाहते हैं, तो किसी से क्या मतलब? यह उनका राष्ट्रीय मामला है—और ऊपर से सीमित साधन—उनकी आपत्ति भी उचित जान पड़ती है। परन्तु वास्तविकता यह है कि इस प्रकार का दृष्टिकोण ही पर्यावरण संरक्षण के लिए सबसे घातक सिद्ध होता है।

(i) **समस्याएँ जो कई एक राष्ट्रों को प्रभावित करती हैं, यदि अनेक को नहीं** (Problems that affect several if not many nations)—आइए पर्यावरण संबंधी कुछ ज्वलन्त समस्याओं पर एक नजर डाली जाए। हानिकर रसायनों ने आज अनेक राष्ट्रों के लिए भीषण समस्या उत्पन्न कर रखी है। अंतर्राष्ट्रीय बाजार में आज 80,000 से भी अधिक रसायन उपलब्ध हैं तथा इनकी संख्या में प्रतिवर्ष 1000 की वृद्धि होती है। व्यापार के माध्यम से ये एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र में जाते हैं—इनमें से कुछ तो अत्यन्त हानिकारक होते हैं। लगभग सारे औद्योगिक राष्ट्र बहुत अधिक मात्रा में रासायनिक अपशिष्ट पदार्थों को समुद्रों में बहा देते हैं तथा पर्यावरण के लिये गंभीर समस्या उत्पन्न करते हैं। इसके लिये यह अति-आवश्यक है कि ऐसे सभी राष्ट्र मिलकर इस प्रकार की नीति तैयार करें जिससे पर्यावरण प्रदूषण को रोका जा सके।

भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, कानपुर (उत्तर प्रदेश)

(ii) **समस्याएँ जो अनेक राष्ट्रों को प्रभावित करती है, यदि अधिकतर को नहीं** (Problems that affect many, if not most nations)—ऐसी समस्याओं के अन्तर्गत आती है समुद्र की तली में उपस्थित खनिजों आदि के उत्खनन से संबद्ध समस्या। इन बहुमूल्य खनिजों का यदि सुनियोजित रूप से प्रयोग किया जाय, तो हमें बहुत लाभ हो सकता है, परन्तु आवश्यकता से अधिक प्रयोग तथा गलत नीतियाँ स्थिति को बहुत बिगाड़ सकती हैं। इसलिए **'सागर संधि नियम'** (Law of Sea Treaty) के अन्तर्गत इन सब पक्षों को ध्यान में रखते हुए नियम बनाये गए हैं। इसी श्रेणी में ही आती है अंटार्कटिका की समस्यायें। आखिर अंटार्कटिका किसका है ? क्या मात्र उन राष्ट्रों का जो उस पर अपने अभियान दल भेजते हैं और वहाँ के खनिज भण्डारों में अपने हिस्से का दावा करते हैं ? अंटार्कटिका तो समस्त विश्व का है, फिर उसकी सम्पदाओं का प्रत्येक राष्ट्र को हिस्सा मिलना चाहिए। यह एक गम्भीर समस्या है और इसका हल अवश्य निकलना चाहिए।

(iii) **समस्याएँ जो अधिकतर राष्ट्रों को प्रभावित करती हैं, यदि सभी को नहीं** (Problems that affect most, if not all nations)—इसके अन्तर्गत आती है, विभिन्न प्रजातियों के लुप्त हो जाने की समस्या। आज विश्व में ऐसे अनेक जीव-जन्तु हैं जो पूर्णतया लुप्त हो जाने की कगार पर खड़े हैं। किसी भी कीमत पर हमे इनकी रक्षा करनी है। आम आदमी सोचता है कि भला एक छोटी सी चिड़िया लुप्त भी हो गई तो उसे क्या घाटा ? उसे तो बस अपनी चिन्ता है—ऐसे स्वार्थी प्रवृत्तियों को हमें अपने मन से निकाल देना है तथा सहअस्तित्व के मूलभूत सिद्धान्तों को मन में बैठा लेना है। किसी भी प्रजाति का विनाश एक ऐसी अपरिवर्तनीय प्रक्रिया है जिससे प्राकृतिक सम्पदा का ह्रास होता है। जन्तुओं की ऐसी अनेक जातियाँ हैं जो आज चिकित्सा के क्षेत्र में महत्पूर्ण योगदान दे रही हैं, परन्तु उनके लुप्त हो जाने का भय है। ये जातियाँ मात्र एक राष्ट्र के लिये उपयोगी नहीं, वरन् सम्पूर्ण मानव जाति के लिये उत्सुकता का विषय हैं। यही बात वनों पर भी लागू होती है। उदाहरणस्वरूप उष्णकटिबंधीय वन (tropical rain forests), जो कि विश्व के कुछ गिने चुने राष्ट्रों में ही पाए जाते हैं, अनेक राष्ट्रों जैसे जापान, ऑस्ट्रेलिया, अर्जेन्टीना, कनाडा तथा अमेरिका को विशिष्ट लकड़ी, जेनेटिक (आनुवंशिक) सामग्रियाँ आदि प्रदान करते हैं। इसलिये इनका काटा जाना इन सभी राष्ट्रों को अनेक रूपों में प्रभावित करता है। अनेक राष्ट्रों की वन नीतियाँ इस प्रकार बनायी गई हैं कि वे उस राष्ट्र की दृष्टि से तो सर्वोत्तम हैं, परन्तु व्यापक रूप से देखा जाए तो वे अधिक महत्वपूर्ण नहीं होतीं। जैसे, जापान की वन नीति के अंतर्गत उनके वनों को अधिक से अधिक संख्या में आरक्षित घोषित करके उनका कटना रोक दिया जाता है, तथा राष्ट्रीय आवश्यकताओं के लिये दक्षिणपूर्व एशिया से लकड़ी मंगवाई जाती है। उनके अनुसार ये आरक्षित वन भविष्य मे राष्ट्र की माँगों को पूरा करेंगे। परन्तु जापान शायद इस पर ध्यान नहीं देता कि उसकी नीति के कारण उष्णकटिबंधीय (tropical) क्षेत्रों के वनों का आवश्यकता से अधिक नाश हो रहा है, जिसे रोका जाना अतिआवश्यक है।

(iv) **समस्याएँ जो सभी राष्ट्रों को प्रभावित करती हैं** (Problems that affect all nations)—इसके अंतर्गत पृथ्वी के वायुमंडल से संबद्ध समस्याएँ आती है जैसे—ओज़ोन परत का नष्ट होना तथा वायुमंडल में कार्बन डाइ ऑक्साइड का जमाव। इन समस्याओं को यदि न सुलझाया गया, तो वे सभी राष्ट्रों को एक रूप से प्रभावित करेंगी। एक बात और—इन सभी समस्याओं को खड़ा करने की ज़िम्मेदारी जाती है समस्त राष्ट्रों पर—इसलिए सभी को इनसे जूझना पड़ेगा। ओज़ोन समस्या के मुख्य रूप से ज़िम्मेदार हैं विकसित पश्चमी राष्ट्र जो उत्पादों में एक रसायन क्लोरोफ्लोरोकार्बन (Chlorofluorocarbons) का प्रयोग करते हैं। यदि ओजोन परत को वास्तव में कोई हानि होती है तो समस्त मानवजाति त्वचा के कैंसर से पीड़ित होगी तथा सभी कृषि सामग्रियों के उत्पादन में बहुत कमी आ जाएगी। आज ऐसा समय आ गया है कि हमारी एक छोटी सी भूल अतिविनाशकारी सिद्ध हो सकती है तथा नई समस्याओं को जन्म दे सकती है। अपनी स्वार्थी नीतियों को छोड़कर, हमें एक होकर ऐसी योजनाएँ बनानी हैं जो सबके लिए उपयोगी हों। यह पृथ्वी हम सबकी है। इसके पर्यावरण को स्वच्छ और प्रदूषणरहित बनाना हम सबका कर्त्तव्य है, जिसे निभाने का समय आ गया है। □□

चिन्तन के लिये प्रेरित करता है यह पर्यावरण दिवस

□ डॉ० शिवगोपाल मिश्र

यदि मैं प्रकृति को पर्यावरण का पर्याय कहूँ तो यह मानना होगा कि वैदिक काल से ही हमारे देशवासी इससे अवगत थे—इससे प्रेरणा प्राप्त करते थे और प्रभावित होते थे। हाँ, अन्तर इतना ही है कि प्रकृति प्रतिक्षण नूतन लगती थी और पर्यावरण है कि हमें बोझ लगने लगा है। इसमें जीवित रहना दूभर हो रहा है। लेकिन क्या पर्यावरण हमारे लिए ही चिन्ता का विषय है—क्या इसके अन्य अंग इससे चिन्तित, आतंकित या प्रभावित नहीं ?

एक तरह से मनुष्य ने ही पर्यावरण से छेड़छाड़ प्रारम्भ की। उसने खेती करनी सीखी तो जंगलों को नष्ट करके कृषि योग्य भूमि प्राप्त की। लेकिन खेती करना तो हमारे सभ्य होने का सूचक है। इसी सभ्यता की होड़ ने पर्यावरण को क्षत-विक्षत किया है और जब तक अधिकाधिक सभ्य बनने का नाटक रचा जाता रहेगा तब तक रंगमंच की तैयारी से पर्यावरण प्रभावित होता रहेगा।

तो क्या पर्यावरण की सुरक्षा के लिए सभ्यता की दौड़ बन्द कर दी जाय ? लगता तो यही है। आज नाभिकीय अस्त्रों के भण्डार को विनष्ट करने की जो मन्त्रणा हो रही है वह इसका स्पष्ट संकेत है कि सभ्यता अपनी पराकाष्ठा पर है। या तो पुनः पुरातन पर्यावरण की स्थिति प्राप्त की जाय या विनाश के लिए तैयार रहा जाय। मानवता को कभी स्वीकार नहीं होगा कि विनाश हो—प्रलय हो—संहार हो।

यह सच है कि हमारे ऋषियों-मुनियों ने तपोवनों में रहकर फल-फूल खाकर उच्चकोटि का साहित्य रचा। आज गगनचुम्बी प्रासादों में रहने वाले आमिषाहारी विद्वान भी वही कार्य—उससे भी बढ़कर कार्य कर रहे हैं। तो फिर हमारी दुश्चिन्ता का कारण क्या है ? तब के और अब के पर्यावरण में यदि अन्तर है तो उससे क्या ? उपलब्धियाँ तो अपेक्षतया अधिक हैं।

शायद 5 हज़ार वर्षों तक मनुष्य ने पर्यावरण के अन्य अंगों का भी ध्यान रखा—सहभागिता—सहकारिता उसे पसन्द थी। उसी में मनुष्य ढला और इतनी दीर्घ अवधि तक अपने को तथा अपने पर्यावरण को सुरक्षित रख पाया। कविवर बिहारी का एक दोहा है—

> कहलाने एकत बसत अहि मयूर मृग बाघ।
> जगत तपोवन सम कियौ दीरघ दाघ निदाघ ॥

यह ग्रीष्मकालीन भयंकर गर्मी से पीड़ित जंगली पशुओं के एक स्थान पर एकत्र होने का चित्रण है। संसार तपोवन जैसा बना हुआ है।

बीसवीं सदी की वैज्ञानिक क्रान्ति ने तपोवन की विचारधारा का उपहास उड़ाया है। उसने प्रकृति का दोहन—शोषण—करके पर्यावरण को प्रदूषित कर दिया है। यह प्रदूषित पर्यावरण उसकी प्रगति का मानदण्ड है—उसी की देन है अतएव उसे ही उससे निपटना होगा।

पर्यावरण को सबसे बड़ी ठेस लगी है जंगलों के विनाश से। हमारे पूर्वजों ने भी जंगलों को नष्ट करके खेती का उपक्रम किया था, किन्तु धरती का क्षेत्रफल सीमित होने और मानव-आवश्यकताओं की निरन्तर वृद्धि होने के कारण धरती का सभी प्रकार से दोहन हुआ है। संयम की बात लाभ-लोभ के सामने व्यर्थ है। न तो इन्द्रिय संयम की बात चलाई जा सकती है, न प्रगति के संयम की। हमारे विज्ञानी, अनुभव के आधार पर पृथ्वी मंडल के एक तिहाई भाग को हरा-भरा, वनस्पतियों से पूर्ण रखना चाहते हैं जिसमें चित्र विचित्र पशु-पक्षी निवास करें और जहाँ से ईंधन, लकड़ी, फल-फूल मिलें। लेकिन मजे की बात कि सिद्धान्त ताक पर रखा रह गया और पता चला है कि विगत 50 वर्षों में जंगलों का प्रायः सफाया हो चुका है। अब चिल्ल-पों मचाने से क्या लाभ ? यदि सामाजिक वानिकी या वृक्षारोपण की बातें राष्ट्रीय नीति कही या बताई जाती हैं तो सिद्धान्त रूप में ही—कहाँ है जमीन जहाँ जंगल लगाये जायँ, कौन लगाये ? सरकार से कितनी आशाएँ की जायँ। जो नागरिक कर्त्तव्य था, उसका अतिक्रमण करके, संयम को लात मार कर जनता

(शेष पृष्ठ 13 पर)

पर्यावरण प्रदूषण रोकने की आवश्यकता

अमिताभ प्रेमचन्द्र

इस धरती पर, मनुष्य जाति के प्रादुर्भाव से आज तक का मानव-इतिहास साक्षी है कि, मानव कभी भी प्रकृति का मित्र बनकर नहीं रह सका। उसकी उत्तरोत्तर बढ़ती आकांक्षाओं और भौतिक सफलताओं ने, आज के मानव समाज को, विनाश के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है।

इसका यह अर्थ नहीं है, कि मनुष्य को अपनी सुविधा-पूर्ति के संसाधन नहीं विकसित करने चाहिये, परन्तु हम यह भूल गये कि अपने अस्तित्व की संरक्षा के लिए भी प्रकृति और मानव का सही सामंजस्य आवश्यक है।

पर्यावरण के विभिन्न अवयवों में, सन्तुलन की दशा में, एक निश्चित अनुपात होता है। इसके भौतिक, रासायनिक और जैविक लक्षणों में, असामान्य, अवांछनीय परिवर्तन को प्रदूषण कहते हैं। पर्यावरण एक व्यापक शब्द है, जिसमें हमारे चारों तरफ का वातावरण अर्थात् मिट्टी, जल, वायुमण्डल, जीव-जन्तु और पौधे शामिल हैं। प्रकृति में सभी जीव एक दूसरे पर पूर्णतः आश्रित हैं, एक का भी नष्ट होना हमारे पर्यावरण की अकल्पनीय और अपूरणीय क्षति है।

हमारे पर्यावरण के सबसे महत्वपूर्ण घटक हैं वृक्ष, परन्तु आज वनों और वृक्षों के साथ जैसा दुर्व्यवहार हो रहा है, उससे सम्पूर्ण पारिस्थितिक तन्त्र के लड़खड़ा जाने की स्थिति बन गयी है। जरा अनुमान लगाइये कि पूरी जर्मनी के क्षेत्रफल के बराबर वन प्रति वर्ष सारे संसार में काटकर नष्ट कर दिये जाते हैं। जहाँ एक ओर बढ़ती जनसंख्या के दबाव से वन काटकर कृषि योग्य भूमि प्राप्त की जा रही है, वहीं अनुपजाऊ भूमि का भी भयावह विस्तार हो रहा है। इन मनमाने अत्याचारों के कारण रेगिस्तान बढ़ रहे हैं, भूमि का अपरदन हो रहा है, उपजाऊ मिट्टी बह कर नदियों में समा रही है और वनों की कमी से वर्षा में कमी हो रही है। फलस्वरूप जहाँ हमें भीषण सूखे और सर्वभक्षी बाढ़ जैसी विभीषिकाओं का सामना करना पड़ता है, वहीं अनेक महत्वपूर्ण पौधों और जन्तुओं की जातियाँ विलुप्त होती जा रही हैं।

एक ओर अपरदन के कारण उपजाऊ भूमि की कमी हो रही है, दूसरी ओर हम उर्वर भूमि का एक बड़ा भाग, मृदा के प्रदूषण के कारण, खोते जा रहे हैं। इस मृदा प्रदूषण के कारण हैं कृषि में उपज बढ़ाने हेतु प्रयोग किये जा रहे कृत्रिम अकार्बनिक उर्वरक, कीटनाशी, एवं अन्य रसायन। मृदा प्रदूषण के अन्य कारणों में प्रमुख हैं भूमि में दबा दिये जाने वाले अपशिष्ट, जिनमें औद्योगिक व घरेलू कचरा शामिल है। इन सबके कारण भूमि की उर्वरता घटती जा रही है।

साथ ही जल के साथ, मिट्टी के बहने पर, ये रसायन जल स्रोतों में पहुँचकर, उन्हें भी प्रदूषित कर देते हैं।

इसके अतिरिक्त नदियों के किनारे बसे नगरों का मल एवं कूड़ा-करकट तथा उद्योगों के अपशिष्ट को उपचारित किए बिना नदियों में बहा दिये जाने से जीवनदायिनी नदियाँ भी नष्ट हो रही हैं, उदाहरणतः लखनऊ में गोमती अथवा यूरोप में राइन को लोग जहाँ सम्मान देते थे, वहीं अब गन्दे नाले के नाम से पुकारते हैं। हमारी पतित-पावनी गंगा के मल प्रवाहिनी बन जाने की कथा तो आज सारे भारत को विदित है।

जल प्रदूषण के अतिरिक्त, जीवन के लिए घातक बन जाने वाला पर्यावरण का दूसरा प्रमुख घटक है वायु। वायु प्रदूषण के लिए, मुख्यतया, विभिन्न उद्योगों और स्वचालित वाहनों से निकलने वाली विषैली गैसें जिम्मेदार हैं। अनेकानेक गैसों की बात न कर यदि हम केवल कार्बनडाइ ऑक्साइड की ही बात करें, तो चौंकाने वाले तथ्य सामने आते हैं। कार्बनडाइ ऑक्साइड जीवधारियों के लिए अत्यन्त आवश्यक है, साथ ही अधिक घातक भी नहीं, परन्तु आज सारे विश्व में कार्बनडाइ ऑक्साइड

छात्र; तृतीय वर्ष जीव विज्ञान, सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद

की मात्रा असामान्य रूप से बढ़ रही है। इस समय यह गैस, सारी पृथ्वी के वायु मण्डल में, एक पर्त की तरह एकत्र हो गई है, जिसे वेधकर सूर्य का प्रकाश व ऊष्मा पृथ्वी तक आ तो जाता है, परन्तु बाहर नहीं जा पाता। अनुमानतः सन् 2000 तक पूरे विश्व का तापमान 1 डिग्री सेन्टीग्रेड बढ़ जायेगा और इसके दुष्प्रभाव से संयुक्त राज्य अमेरिका की सारी उपजाऊ भूमि सूख जायेगी, सहारा का मरुस्थल बढ़कर भूमध्य सागर तक पहुँच जायेगा, उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों की बर्फ पिघलने से समुद्रों का जलस्तर एक मीटर ऊँचा हो जायेगा, जिससे भूमि का एक बड़ा भाग जलमग्न हो जायेगा। हानिकारक गैसीय प्रदूषण का एक दूसरा रूप भी है--वायु मण्डल में एकत्र विभिन्न विषैली गैसें, जो वर्षा के साथ अम्ल के रूप में पृथ्वी पर वापस आती हैं। इस अम्ल वर्षा से, जीव-जन्तुओं और पौधों की अनेक प्रजातियों का जीवन तथा विश्व के प्रख्यात कला स्मारकों का सौन्दर्य खतरे में पड़ गया है। मथुरा तेल शोधक कारखाने से ताजमहल की संगमरमरी शुभ्रता पर लगने वाला दाग इसका ज्वलन्त उदाहरण है। अम्ल वर्षा के विषैले प्रभाव से जल एवं वायु प्रदूषण की समस्या भी द्विगुणित हो जाती है।

बड़े नगरों में जल और वायु प्रदूषण के अतिरिक्त, उद्योगों और बड़ी संख्या में उपयोग किए जा रहे स्वचालित वाहनों से निकलने वाला शोर भी, ध्वनि प्रदूषण के रूप में, स्वस्थ पर्यावरण की दिशा में एक बड़ी बाधा है। ध्वनि प्रदूषण का मानव शरीर पर अत्यन्त हानिकारक प्रभाव होता है। इससे एकाग्रता तो भंग होती ही है, बहुत लम्बे समय तक, ऊँची ध्वनि के सम्पर्क में रहने पर चक्कर आने लगते हैं, मानसिक तनाव बढ़ जाता है, मानसिक संतुलन बिगड़ने लगता है और आदमी पूर्णतः बहरा भी हो सकता है।

औद्योगिक प्रगति की अन्धी दौड़ में हम नित नये-नये आविष्कार कर रहे हैं, नये अनजाने पदार्थों का संश्लेषण कर रहे हैं और ऐसे रसायनों का प्रयोग कर रहे हैं, जिनके विनाशकारी दुष्प्रभावों का पता हमें तब चलता है जब कोई बड़ी दुर्घटना हो जाती है। भोपाल गैस काण्ड में कारखाने से रिसने वाली मिथाइल आइसोसाइनेट गैस के प्रभाव से, हज़ारों जानें गयीं तथा हजारों लोग इसके प्रभाव से जिन्दगी भर पीड़ित रहेंगे। हमने नाभिकीय ईंधन से ऊर्जा उत्पन्न कर ली है, परन्तु उससे उत्पन्न होने वाली रेडियोधर्मिता पर हम कोई प्रतिबन्ध नहीं लगा पाये हैं। रेडियोधर्मिता का मानव एवं पृथ्वी के अन्य जीवों पर अत्यन्त हानिकारक प्रभाव पड़ता है। इसका ताज़ातरीन उदाहरण है रूस में चेर्नोबिल स्थित परमाणु ऊर्जा संस्थान में हुआ विस्फोट। विस्फोट के बाद रूस में फसल का 10% अंश तुरन्त नष्ट हो गया, लोगों में गंजापन दिखने लगा, जल में रेडियोधर्मिता का स्तर हानिकारक सीमा तक बढ़ गया। आने वाली पीढ़ियाँ भी इस रेडियोधर्मिता के दुष्प्रभावों से अछूती न रह सकेंगी। हिरोशिमा और नागासाकी पर गिराये गये परमाणु बमों के दुष्प्रभाव से आज तक लोगों में आनुवंशिक अपंगता प्रकट हो रही है।

आज पर्यावरण संरक्षण की दिशा में विभिन्न संस्थायें और व्यक्ति संलग्न हैं। भारत में भी पर्यावरण की सुरक्षा हेतु विभिन्न कदम उठाये गये हैं। जन्तुओं और पौधों की रक्षा के लिए संरक्षित क्षेत्र, जैसे नेशनल वाइल्ड लाइफ पार्क इत्यादि का विकास, प्रदूषित गंगा और यमुना की सफाई के लिए विशाल योजनायें और जन-मानस में बिगड़ते पर्यावरण के प्रति चेतना जगाने हेतु उत्तर भारत का 'चिपको आन्दोलन', दक्षिण का 'एपिको आन्दोलन', नर्मदाघाटी और पश्चिमी घाट बचाओ' अभियान जैसे प्रयास सराहनीय होने के साथ-साथ अति महत्वपूर्ण भी हैं।

वस्तुतः पर्यावरण के क्षेत्र में एकल या सीमित प्रयास संतोषजनक परिणाम नहीं दे सकते। इसके लिए आवश्यक है कि हम सामूहिक रूप से अपनी आदतों को को सुधारें, उत्तरदायित्व के प्रति सचेत हों, और अपनी-अपनी तरह से प्रदूषणमुक्ति और पर्यावरण-संरक्षण हेतु कार्य करें। हमें समझना चाहिये कि पृथ्वी के सभी जीवों को पृथ्वी पर जीने का समान अधिकार है और मानव सबके साथ सामंजस्य बनाकर ही अपने अस्तित्व की रक्षा कर सकता है। मुझे मनुष्य के विवेक पर आस्था है और मेरा यह निश्चित मत है कि जब हम इक्कीसवीं सदी में प्रवेश करेंगे तो स्थिति बहुत हद तक नियन्त्रण में होगी और प्रकृति तथा मानव के बीच संतुलन स्थापित हो चुका होगा। □□

पर्यावरण और हमारा दायित्व

□ दिनेश द्विवेदी मणि'

पर्यावरण का स्वच्छ होना सम्पूर्ण मानवता के लिए आवश्यक है। राष्ट्रीय स्तर पर जहाँ एक ओर 'भोपाल गैस कांड' ने हम लोगों को पर्यावरण के प्रति कुछ सोचने को विवश किया है वहीं दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की कुछ एक घटनाओं ने तो हमें पूरी तरह झकझोर कर पर्यावरण के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाने के लिये, यथाशीघ्र प्रभावी कदम उठाने के लिये प्रेरित किया है—चाहे वह कोलम्बिया में ज्वालामुखी विस्फोट की घटना हो या रूस के चेर्नोबिल एटॉमिक प्लान्ट में लगी भीषण आग। इन सब घटनाओं ने सारी मानव जाति के अस्तित्व को एक चुनौती दी है।

यह बात निर्विवाद रूप से सत्य है कि आज मनुष्य ने प्रकृति के साथ किये जाने वाले अपने व्यवहार को इस सीमा तक अनैतिक बना दिया है कि प्रकृति को भी विरोधी रवैया अपनाना पड़ा और आज जब उसने हमसे बदला लेना शुरू कर दिया है तो हम हाय-तौबा करने लगे हैं, जबकि इस हाय-तौबा से तब तक कुछ होने वाला नहीं, जब तक कि हम अपनी सुषुप्तावस्था को तोड़कर चेतनता में नहीं आ जाते हैं और विकास के नाम पर विनाश की दौड़ में अंधे होकर दौड़ना बन्द नहीं कर देते हैं।

औद्योगिक विकास के अतिरिक्त हमारी भौतिक-वादिता, सुख-सुविधाओं में निरन्तर वृद्धि की लालसा जैसी विचारधाराओं ने प्राकृतिक सम्पदाओं का इस तरह से असंयमित उपभोग करना शुरू कर दिया है कि आज सम्पूर्ण मानव-जाति, पेड़-पौधे, जीवजन्तु का अस्तित्व ख़तरे में है।

यह कैसी विडम्बना है कि प्रकृति की विकृति का प्रभाव उन्हीं लोगों पर सबसे अधिक पड़ा है जो शायद विकास के मायने से भी परिचित न हों। यह कितने दुख की बात है कि जो लोग अपनी विलासिता के लिये, अपने स्तर को बढ़ाने के लिये प्राकृतिक सम्पदाओं की लूट में लगे हुये हैं वे तो एक दम से पाक-साफ और बेदाग़ हैं। किसी भी कानून के हाथ इतने बड़े नहीं जो उन तक पहुँच सके। परन्तु यह निश्चित है कि दो जून की रोटी के प्रयास में लगे लोग, चाहे वह मजदूर हों या किसान हों, ईंधन के लिये लकड़ी जुटाना उनकी आवश्यकता है। अपने दो-चार पशुओं के लिये चारा जुटाना और खाने के लिये भोजन जुटाने की कोशिश में ज़मीन के बंजर होने तक खेती करते रहना उनकी विवशता है और इस तरह पर्यावरण के बिगड़ने के लिये सबसे अधिक उत्तरदायी कारक बनने का श्रेय हासिल करने के बाद पर्यावरण संरक्षण कानून के अन्तर्गत सजा पाना उनका पारितोषिक है। क्या इस वास्तविकता पर चिन्तन करना हम सबका कर्त्तव्य नहीं है?

आज जहाँ हमने अपनी प्रगति अंतरिक्ष की ऊँचाइयों व सागर की गहराइयों तक की है, वहीं दूसरी ओर हमने पर्यावरण की समस्या को भी इतना बढ़ा लिया है कि आज मरुस्थल का विस्तार बर्मा तक पहुँच रहा है। रेगिस्तान बढ़ रहे हैं, तो उपजाऊ भूमि भी समाप्त हो रही है। पारम्परिक ऊर्जा-स्रोत चुक रहे हैं, प्राकृतिक संतुलन बिगड़ रहा है, अपशिष्टों के कारण नदियाँ प्रदूषित हो रही हैं तथा इनके जल-स्तर में कमी आ रही है। पशु-पक्षियों, जीव-जन्तुओं की अनेक प्रजातियाँ विलुप्त हो रही हैं। क्या इक्कीसवीं सदी के सुनहरे सपने कभी साकार हो सकेंगे? (यदि हम इसी तरह तमाम त्रासदियों को जन्म देते रहे।)

यह कहाँ की बुद्धिमत्ता है जो हम पत्थर जैसी सामग्री को छोड़कर ईंटों को इस्तेमाल में लाकर, लगातार उपजाऊ मिट्टी को नष्ट कर रहे हैं, जिसके बनने में न जाने कितने सहस्र वर्ष लगे। हम जंगलों को काट कर काग़ज़ बनाने के कारखाने के लिये कच्चे माल की आपूर्ति की जरूरत को तो महसूस कर लेते हैं, किन्तु नये वृक्षों को लगाकर

(शेष पृष्ठ 13 पर)

शीलाधर मृदा अनुसंधान संस्थान, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

पर्यावरण संरक्षण के लिए मृदा संरक्षण आवश्यक

चन्द्र प्रकाश श्रीवास्तव

पर्यावरण को समृद्ध बनाने में विज्ञान और तकनीकी का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। चूँकि मनुष्य स्वयं अपने पर्यावरण का एक मुख्य अवयव है, अतः भुखमरी और गरीबी की चपेट से परे रहने वाला प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक और सांस्कृतिक वातावरण के विकास में निश्चित रूप से योगदान करता है। इस दृष्टिकोण से पर्यावरण पर विज्ञान एवं तकनीकी के प्रभाव को अतिशयोक्ति नहीं माना जा सकता।

वैज्ञानिक प्रगति ने तो हर क्षेत्र में धूम मचा दी है और सचमुच में उपलब्धियाँ भी अनेक हुई हैं, लेकिन उद्योगीकरण और शहरीकरण का प्रसार, पृथ्वी के अन्दर छिपी ऊर्जा के प्रयोग, रासायनिक खादों एवं कीटनाशक दवाओं के अत्यधिक प्रयोग ने मृदा, जल और वनस्पतियों पर बुरा प्रभाव डाला है। इन सारी बातों ने पर्यावरण प्रदूषण में अत्यधिक योगदान दिया है।

पर्यावरण को क्षति पहुँचाने वाले प्रदूषकों के विस्तार के तरीके भिन्न-भिन्न है किन्तु इनमें से कुछ मुख्य हैं—कारखानों से निकले कचरे एवं पानी का बिना शोधन किये प्रयोग, शहरी मल-मूत्र इत्यादि का सिंचाई में प्रयोग। इन्हीं सब कारणों के चलते नई-नई बीमारियों का प्रादुर्भाव भी हुआ है।

पर्यावरण का मुख्य हिस्सा मृदा, जिससे कि पौधे, जीव-जन्तु सभी प्रभावित होते हैं, में जिस तेज़ी से विषाक्तता फैल रही है उससे अनुमान लगाया जा सकता है कि वह दिन दूर नहीं है जबकि भारत की 60 फीसदी जनता चर्म रोग, फेफड़े के रोग एवं लकवा जैसी भयंकर बीमारियों से ग्रसित हो जायेगी।

एक मृदा शोध छात्र होने के कारण मैं यह कहना चाहूँगा कि ऐसी स्थिति में जनता को जागरूक होना पड़ेगा। तभी वह इन कारणों से मुकाबला करने में सक्षम हो पायेगी। मैंने अपने शोध कार्य के दौरान यह देखा कि तमाम ऐसे कारण हैं, जिनको कि हम उतना महत्व नहीं देते हैं, किन्तु उन्हीं कारणों से गम्भीर समस्यायें उत्पन्न होने जा रही हैं। उदाहरणस्वरूप शहरों में शाक-सब्जियों के उगाने हेतु शहर के ही सीवेज-स्लज का सिंचाई हेतु प्रयोग, छोटे-छोटे कल-कारखानों से निकले पानी एवं कचरे को सीधे सीवरों के द्वारा बहाना इत्यादि।

समस्यायें तो अनेक हैं और अब तो उनकी जानकारी भी भली-भाँति हो गई है। उन समस्याओं से बचने के लिए हमारे निम्न सुझाव कुछ हद तक कारगर सिद्ध होंगे—

(1) आम जनता को पर्यावरण की समस्याओं के प्रति जागरूक एवं शिक्षित बनाया जाना चाहिए।

(2) औद्योगिक प्रदूषित जल एवं मल-जल को नदियों, तालाबों में सीधे न बहाया जाय।

(3) गन्दे नाले एवं कचरे (स्लज) आदि से उगाये गये शाक-सब्जियों का प्रयोग न किया जाय।

(4) कृषि योग्य भूमि या आबादी के करीब ईंट के भट्ठे नहीं बनाने चाहिए क्योंकि उनसे पर्यावरण का प्रदूषण भी बढ़ता है और भूमि की उर्वरा शक्ति भी कम होती है।

(5) भूमिगत जल का सटीक सर्वेक्षण करके उपयोग की नीति निर्धारित की जाय।

(6) बड़े-बड़े शहरों में म्यूनिसिपल वेस्ट एवं सीवेज के लिए पुनरावर्ती संयन्त्र की स्थापना होनी चाहिए।

अन्त में मैं एक बात ज़ोर देकर कहना चाहूँगा कि भारत जैसे कृषिप्रधान देश में यह भी आवश्यक है कि एग्रोनॉमी जैसे विज्ञान का विकास हो जिसमें जैवचिकित्सा और अभियांत्रिकी (इंजीनियरिंग) का समावेश होता है। □□

शोध छात्र, शीलाधर मृदा संस्थान, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

पार्थेनियम : एक हानिकारक घास

डॉ० जितेन्द्र प्रताप सिंह

पार्थेनियम गेंदा या कम्पोजिटी (ऐस्टेरेसी) कुल का पौधा है। इसे कांग्रेस घास भी कहते हैं। यह अपने आप शीघ्रता से बढ़ने वाला पौधा (खरपतवार) है, जो एक मीटर से डेढ़ मीटर तक ऊँचा होता है। इसकी पत्तियाँ गाजर और गुलदाउदी की पत्तियों की तरह होती हैं। यह कहीं भी उग सकता है, लेकिन विशेषतया उन जगहों पर प्रकोप अधिक होता है जहाँ कि निराई, गुड़ाई या खेती का कार्य कम होता है। यह पौधा पानी की नमी की स्थिति में भी उग सकता है और फूल और बीज पैदा कर सकता है। आरम्भ में यह पौधा बहुत धीरे-धीरे बढ़ता है, लेकिन जमने के एक माह बाद इसमें तीव्रता से वृद्धि होती है। इसके फूल सफेद रंग के होते हैं और शाखाओं के शीर्ष पर लगते हैं। इस पौधे में फूल वर्ष के किसी भी मौसम में आ सकते हैं और प्रत्येक पौधा अनगिनत संख्या में बीज पैदा करने की शक्ति रखता है। इसके फूलों से परागकण बड़ी मात्रा में बनते हैं और हवा के साथ दूर-दूर तक फैल सकते हैं। इस पौधे के बीज भी हवा और पानी के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान तक आसानी से जा सकते हैं। पौधों पर सर्वत्र घने रोयें पाये जाते हैं जो तेज़ हवा चलने पर पौधों के आपस में रगड़ने से टूटकर हवा के साथ उड़ते हैं। **पार्थेनियम** के ये रोयें मनुष्य के लिए बहुत हानिकारक हैं।

स्वास्थ्य पर प्रभाव

पार्थेनियम के कारण मनुष्य के शरीर में तरह-तरह के चर्म-रोग होते हैं। इसके कारण गर्दन, चेहरे तथा बाहों की चमड़ी सख्त होकर फट जाती हैं और उसमें घाव बन जाते हैं। पौधों के अधिक सम्पर्क में आने से खाज और खुजली भी होती है। लगातार सम्पर्क बने रहने पर शरीर की चमड़ी के ऊपर ''एक्ज़ीमा'' की तरह का प्रभाव पड़ता है। जो लोग इस खरपतवार के सीधे सम्पर्क में नहीं आते, उन्हें भी **पार्थेनियम** के कारण चर्म रोग हो सकता है, क्योंकि आपके निवास के आस-पास इस खरपतवार के उगने का बहुत ही अच्छा वातावरण रहता है। इस खरपतवार के रोयें और परागकण के द्वारा मनुष्य को ''एलर्जी'' हो सकती है। ये दुष्परिणाम, इस पौधे में उपस्थित ''पार्थीनीन'' नामक रसायन के कारण होते हैं।

श्वास सम्बन्धी बीमारियाँ, जैसे—'दमा' या अस्थमा, ''रिन्हीटायटीस'' तथा ''हाई फीवर'' आदि भी इसी खरपतवार के रोयें और परागकण के द्वारा होती है। साधारणत: ये बीमारियाँ **पार्थेनियम** के फूलों, बीजों तथा पौधों पर उपस्थित रोओं के कारण होती हैं। गहन अध्ययन के बाद यह पाया गया कि इस पौधे में उपस्थित ''पार्थीनीन'' रसायन मनुष्य के तंत्रिका तंत्र (नर्वस सिस्टम) को प्रभावित करके ''डिप्रेशन'' की बीमारी पैदा करता है।

नियंत्रण

इतनी जानकारी के बाद आप स्वयं निर्णय कर सकेंगे कि इस पौधे का आस-पास होना बहुत ही हानिकारक है और इसे समूल नष्ट करने का प्रयास करना आपका कर्त्तव्य है। यदि आपने इस पौधे को पहचान लिया है तो भरसक यह प्रयास करें कि इस पौधे को उगते ही नष्ट कर दिया जाये। यह भी सम्भव न हो तो इस पौधे में फूल आने से पहले ज़रूर नष्ट कर दें अन्यथा फूल बनने से बीज बनने की सम्भावना बहुत अधिक हो जाती है। इस पौधे को उखाड़ते समय कभी भी हाथ से स्पर्श न करें। खुरपी या उसी प्रकार के यंत्र से ही इस पौधे को जड़ से निकालना चाहिए। यदि आप अपने हाथों में रबड़ के दस्ताने पहन सकते हैं तो उसका प्रयोग अवश्य करें। पौधे को उखाड़ते समय इस बात पर अवश्य ध्यान दें कि पौधे का कोई भाग शेष न रहे अन्यथा इस पौधे के पुन: बढ़ने की सम्भावना अधिक रहती है।

आरम्भ की अवस्था में जब पौधे 2-3 पत्तियों के के हों, इस खरपतवार को 2-4 डी० नामक रसायन के 2 कि० ग्रा० (सोडियम लवण) को 600 लीटर पानी में घोलकर प्रति हेक्टेयर की दर से छिड़क सकते हैं। इसके अतिरिक्त नमक के 20 प्रतिशत घोल का छिड़काव करते समय पौधों को घोल से अच्छी तरह भिगोना आवश्यक है। मुझे पूरा विश्वास है कि आप अपने आस-पास उगने वाले **पार्थेनियम** के दुष्प्रभाव को रोकेंगे और अपने आस-पास इस खतपतवार को उगने नहीं देंगे। ☐☐

प्रवक्ता, सस्य विज्ञान विभाग, कृषि विज्ञान संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

वायुमण्डल में कार्बन डाइऑक्साइड की बढ़ती मात्रा : एक समस्या

डॉ० अशोक कुमार गुप्ता

ऑक्सीजन सम्पूर्ण भूमण्डल के जीवों के लिए प्राण-दायी गैस है, पर श्वसन आदि के द्वारा उसके बदले में उत्सर्जित होने वाली कार्बन डाइऑक्साइड की महत्ता जीवों के लिए कम नहीं है। वायुमण्डल में उपस्थित कार्बन डाइऑक्साइड द्वारा ही सौर ऊर्जा का संचय रासायनिक ऊर्जा में कार्बनिक पदार्थों के रूप में होता है। यह पुनः जीवों में ऑक्सीकृत होकर कार्बन डाइ ऑक्साइड में परिवर्तित हो जाता है। पर्यावरण में भी कार्बन डाइऑक्साइड महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह गैस 'ग्रीन हाउस गैस' के नाम से भी विख्यात है जो सूर्य से आने वाले लघुतरंगी सौर विकिरण को तो भूमि तक आने देती है, पर पृथ्वी से टकरा कर वापस जाने वाले दीर्घतरंगी विकिरण को अवशोषित कर लेती है। अतः इस गैस के बढ़ने से भू-सतह का ताप बढ़ जाता है।

भूमण्डल पर आने वाली सौर ऊर्जा का 46 प्रतिशत भाग दृश्य क्षेत्र तरंग दैर्ध्य (4000 से 8000 एंगस्ट्राम) में होता है तथा 47 प्रतिशत अवरक्त तरंग दैर्ध्य (7000 एंगस्ट्राम से अधिक) क्षेत्र में होता है, जिसका 35 से 50 प्रतिशत भाग पृथ्वी से टकराने के बाद पुनः अंतरिक्ष में वापस चला जाता है। इसका 10 से 15 प्रतिशत भाग वायुमण्डल में अवशोषित होता है। सौर विकिरण का 45 से 50 प्रतिशत भाग भूमण्डल पर पहुँचता है जो भूमण्डल के तापमान को बढ़ाकर भूमि, समुद्र तथा जैव-मण्डल को गर्म कर देता है। गर्म भू-सतह सूर्य से पहुँचने वाली इन प्रकाश तरंगों का पुनर्विकिरण कर अवरक्त तरंग दैर्ध्य के रूप में परिवर्तित कर देता है। इस बाहर जाने वाले विकिरण को वायुमण्डल में विद्यमान कार्बन डाइऑक्साइड गैस के अणु अवशोषित कर लेते हैं और **'ग्रीन हाउस प्रभाव'** (ग्रीन हाउस इफेक्ट) प्रदर्शित करते हैं। 'ग्रीन हाउस प्रभाव' को सर्वप्रथम सन् 1827 में फ्रांस के प्रसिद्ध गणितज्ञ **जे० फोरियर** ने देखा था।

यह लगभग निश्चित है कि 4·5 अरब बिलियन वर्ष पूर्व सूर्य की ज्योति (सूर्य के प्रकाश की तेजी) इस समय से 20 स 40 प्रतिशत अधिक रही होगी तथा पृथ्वी से टकरा कर वापस जाने वाली विकिरण की मात्रा भी अधिक रही होगी। इससे यह अनुमान लगता है कि पृथ्वी पर पड़ने वाला सौर विकिरण एक अरब वर्ष पूर्व आज की अपेक्षा निश्चय ही कम रहा होगा परिणामस्वरूप भू-सतह का तापमान कम रहा होगा, सम्भवतः जल के क्वथनांक से भी नीचे। लेकिन भू-विज्ञान द्वारा प्राप्त तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि लगभग एक अरब वर्ष पूर्व सतह का ताप, वर्तमान तापक्रम से लगभग 10° सेन्टीग्रेड ज्यादा रहा होगा तथा ध्रुवों पर बर्फ न रही होगी। एक अनुमान के अनुसार ऐसा 'ग्रीन हाउस प्रभाव' के कारण ही रहा होगा।

आज मनुष्यों के द्वारा किए जा रहे विभिन्न प्रकार के विकास संबंधी कार्यों, विशेषकर ऊर्जा की खपत, जन-संख्या में वृद्धि, जंगलों की कटाई, कृषि के लिए उपयोगी भूमि के स्थान पर बड़े-बड़े उद्योगों की स्थापना, जीवाश्म कार्बन-स्रोतों की बेहद खपत आदि ने कार्बन डाइ ऑक्साइड के संवेदनशील प्राकृतिक संतुलन को बिगाड़ दिया है। मनुष्यों द्वारा प्रयोग किये जाने वाले संपूर्ण ऊर्जा स्रोतों में से 90 प्रतिशत जीवाश्म कार्बन-स्रोतों से प्राप्त होता है। इन स्रोतों से प्राप्त कार्बन के दहन से 3·5 गुने से अधिक कार्बन डाइऑक्साइड प्राप्त होती है। 1970 से पूर्व व युमण्डल में कोयला व लकड़ी ही कार्बन डाइऑक्साइड के उत्सर्जन के प्रमुख स्रोत थे, पर पिछले लगभग दो दशकों में पेट्रोल एवं पेट्रोल-उत्पाद की खपत कोयले से कई गुना बढ़ गई है। इससे उत्सर्जित कार्बन डाइऑक्साइड निश्चय ही पहले की अपेक्षा कई गुना ज्यादा है। जंगलों की अन्धाधुन्ध कटाई तथा लकड़ी के जलने से, वायुमण्डल में कार्बन डाइऑक्साइड की

इलाहाबाद एग्रीकल्चरल इंस्टीट्यूट, इलाहाबाद
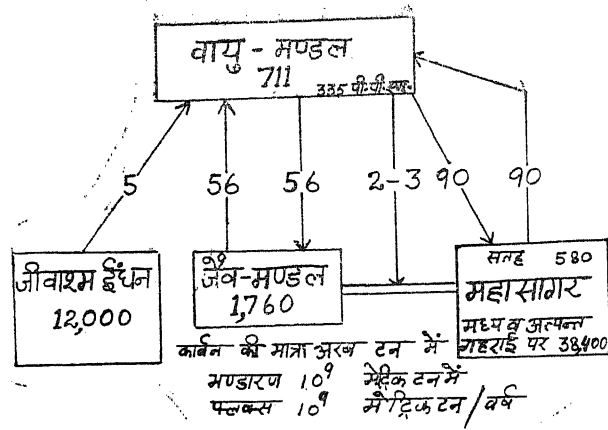
1977 में वैज्ञानिक कार्यशाला (जेनेवा) में प्रस्तुत किया गया एक मॉडल

मात्रा बढ़ी है। पौधों की अनुपस्थिति में भूमि में पड़े **ह्यूमस** का भी ऑक्सीकरण होता है पर पेड़-पौधों से ढँके रहने के कारण वे सुरक्षित रहते हैं। यह भी देखा गया है कि उष्णकटिबन्धीय प्रदेशों में 1950 तक 39 प्रतिशत से भी अधिक ह्यूमस की कमी हुई तथा 1977 तक 23 प्रतिशत की।

कार्बन के चार महत्वपूर्ण भण्डार हैं—(i) जीवाश्म ऊर्जा, (ii) वायुमण्डल, (iii) जैवमण्डल तथा (iv) महासागर। शोधकर्ता इस बात से एकमत हैं कि वायुमण्डल में 700 अरब टन (गीगाटन) कार्बन डाइऑक्साइड विद्यमान है, जबकि सम्पूर्ण भूमण्डल पर उपस्थित कार्बन की मात्रा 2800 अरब टन है। वैसे तो भूमण्डल पर सम्पूर्ण कार्बन की अपेक्षा वायुमण्डल में कार्बन डाइ ऑक्साइड की मात्रा कम है, पर अन्य कार्बन भण्डारों में परिवर्तन होने पर वायुमण्डलीय कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा भी परिवर्तित होती रहती है। महासागर में कार्बन का विशाल भण्डार है। इस भण्डार को पेट्रोल के माध्यम से बाहर निकालने से वायुमण्डल में कार्बन डाइ ऑक्साइड की मात्रा बढ़ती ही जायेगी। परिणामस्वरूप पर्यावरण असंतुलित हो जायेगा।

कार्बन-चक्र पारिस्थितिक संतुलन को बनाये रखने में महत्वपूर्ण योगदान देता है। एक तरफ पेड़-पौधे और हरी वनस्पतियाँ, कार्बन डाइऑक्साइड का उपयोग प्रकाश-संश्लेषण में करती हैं, तो दूसरी तरफ सम्पूर्ण जीव श्वसन द्वारा पुनः कार्बन डाइऑक्साइड गैस वायुमण्डल में छोड़ते हैं। पर्यावरणीय वैज्ञानिक महासागर में वास्तविक कार्बन स्रोत और मात्रा जानने को उत्सुक हैं। समुद्र विज्ञान से प्राप्त तथ्यों से स्पष्ट है कि महासागर कार्बन का प्रमुखतम स्रोत है। महासागर वायुमण्डल से कार्बन डाइऑक्साइड का अवशोषण करता है। अनुमान है कि अगले एक हज़ार वर्षों में महासागर वायुमण्डल के कार्बन डाइऑक्साइड के 4/5 वें भाग को अवशोषित कर लेगा, पर अवशोषण गति के विषय में कुछ ठीक नहीं कहा जा सकता। पर्यावरण विशेषज्ञों का मत है कि महासागर कार्बन डाइ ऑक्साइड का अवशोषण उस गति से नहीं कर सकते जिस गति से कार्बन डाइऑक्साइड मुक्त होकर वायुमण्डल में बढ़ती जा रही है। परिणाम स्वरूप वायुमण्डल में कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा निरन्तर बढ़ती जा रही है। यह सारे विश्व के लिए चिंता का विषय है।

एक अन्य अनुमान के अनुसार वर्ष 2025 तक वायुमण्डल में कार्बन डाइऑक्साइड गैस की वर्तमान मात्रा 350 पी० पी० एम० से बढ़ कर 600 पी० पी० एम० हो जायेगी।

वायुमण्डलीय कार्बन डाइऑक्साइड द्वारा अवरक्त तरंग का अवशोषण एक अत्यन्त महत्वपूर्ण गुण है जो सम्पूर्ण भूमण्डल के ताप को नियंत्रित करता है और उसी के अनुसार जलवायु का निर्धारण होता है। वायुमण्डलीय कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा से जलवायवीय परिवर्तन

का भी अनुमान सहज हो जाता है क्योंकि, वायुमण्डल में उपस्थित कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा का जलवायु से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

हजारों वर्ष पूर्व 'हिमयुग' में कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा आज की अपेक्षा कम थी तथा इसकी मात्रा वायुमण्डल में बढ़ने से भूमण्डल का ताप बढ़ा है। 1979 में अमेरिका के 'राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी' के एक दल द्वारा किये गये सर्वेक्षण द्वारा यह पाया गया है कि कार्बन डाइऑक्साइड की दो गुनी मात्रा से सम्पूर्ण भूमण्डल का ताप 3° सेन्टीग्रेड बढ़ जायेगा। तीन वर्ष बाद एक अन्य सर्वेक्षण ने पूर्व सर्वेक्षण के आँकड़ों पर सहमति प्रकट करते हुए बताया कि कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा दो गुनी बढ़ाने से भूताप 1·5 से 4·5° सेन्टीग्रेड तक बढ़ जायेगा। यह भी देखा गया है कि भूताप बढ़ने से कार्बन डाइ ऑक्साइड की मात्रा विभिन्न जलवायु वाले क्षेत्रों में एक सी नहीं बढ़ती। उष्णकटिबन्ध में इसकी मात्रा तो कम पर ध्रुवों पर अधिक बढ़ती है। परिणामस्वरूप ध्रुवों पर ताप में अत्यधिक परिवर्तन होता है। कार्बन डाइऑक्साइड की दो गुनी मात्रा बढ़ने पर भूमध्य क्षेत्र में तो दो से तीन सेन्टीग्रेड ताप बढ़ता है, पर ध्रुवों पर इस मात्रा के कारण तापमान 8 से 10° सेन्टीग्रेड बढ़ता पाया गया है। परिणामस्वरूप विशाल हिमशिलायें पिघल-पिघल कर सागर के जल-स्तर को बढ़ा देंगी।

वैज्ञानिकों का अनुमान है कि बढ़ती आबादी से, बढ़ते उद्योगों से, ऊर्जा की बढ़ती खपत से निश्चय ही वायुमण्डल में कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा बढ़ेगी तथा निकट भविष्य में मध्यपूर्वी देशों जैसे—अफ्रीका, आस्ट्रेलिया में, दक्षिणी अमेरिका, यूरोप तथा रूस की अपेक्षा तापमान अधिक बढ़ जायेगा।

वैज्ञानिकों का यह भी अनुमान है कि अमेरिका, यूरोप और रूस में वर्षा की कमी होगी पर दक्षिण पूर्व एशिया और अफ्रीका में वर्षा अधिक होगी।

अतः विश्व के वैज्ञानिक अभी से इस सम्बन्ध में चेतना जाग्रत करने के लिए ज़ोर दे रहे हैं। राष्ट्रों को कार्बन डाइऑक्साइड की इस बढ़ती मात्रा के प्रति सजग रहना होगा अन्यथा इसकी उपेक्षा भविष्य में भयावह स्थिति पैदा कर सकती है। □□

(पृष्ठ 5 का शेष)

ने यह सब किया है। लगता है कि मानवप्रकृति पर्यावरण-विरोधी है। इसीलिए पहले प्राकृतिक शक्ति की बात चलाई जाती थी। शायद वैज्ञानिक प्रगति के सामने प्राकृतिक शक्ति ने अपना सर झुकाना श्रेयस्कर समझा है—यही मानव की प्रकृति पर विजय है। इस विजय का मद प्रदूषण के रूप में प्रकट हो रहा है। मैं नहीं समझता कि उल्टी धारा बहाई जा सकती है। मनुष्य को अपनी करनी की भरनी चखनी होगी।

आखिर सरकार कितना खर्च करे पर्यावरण स्वच्छता पर। एक शहर की एक गली की सफाई के लिए जिन्हें नियुक्त किया गया है वे अपना कार्य नहीं करते। गंगा सफाई के अभियान में से यदि अर्थ को हटा लिया जाय तो वह निष्प्राण हो जावेगा। नदियों का पानी सिमट रहा है, वायु में से प्राणवायु घट रही है—हाँ फैक्टरियों में नाना प्रकार के रासायनिक पदार्थ बन रहे हैं, नई नई गैसें निकल रही हैं—कभी-कभी भोपाल जैसे कांड होते रहते हैं, ताज महल में कैंसर लगने की खबरें प्रकाश में आती हैं किन्तु शान्त घाटी (साइलेन्ट वैली) जैसी खबरें दब कर रह जाती हैं।

पर्यावरण सुधार का यही उपाय है कि सभ्य मनुष्य नई श्वसन प्रणाली, नई भोजन व्यवस्था, नये पेय पदार्थों के लिए अभ्यस्त बने। अभी इक्कीसवीं सदी की दस्तक तक तो नहीं, हाँ पचीसवीं-तीसवीं सदी तक वह पर्यावरण या पारिस्थितिकी की बातें नहीं करेगा। □□

(पृष्ठ 8 का शेष)

पुनः जंगल बनाने की बात को सोचते ही नहीं। क्या हमने कभी सोचा है कि यह हमारा स्वार्थी, लोभ-लाभ से परिपूर्ण दृष्टिकोण हमें कहाँ ले जायेगा?

जहाँ तक पर्यावरणीय समस्याओं के समाधान की बात है तो उचित यही होगा कि हम सबसे पहले यह अच्छी तरह समझ लें कि पर्यावरण की समस्या परोक्ष या अपरोक्ष रूप से अशिक्षा और गरीबी से सम्बन्धित है साथ ही साथ हमारी विलासी तथा स्वार्थी प्रवृत्ति भी इसके लिये उत्तरदायी है। अतः इससे छुटकारा पाने के लिये पर्यावरणीय शिक्षा (पारिस्थितिकी युक्त) बहुत जरूरी है साथ ही हमें अपने दृष्टिकोणों में सृजनात्मक परिवर्तन लाकर स्वैच्छिक रूप से मिल-जुल कर अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह करना है। □□

पर्यावरण संतुलन : किसानों का दायित्व

उमेश सिंह

विश्व में ऊर्जा संकट की गहराती आशंका को ध्यान में रख कर कुछ वर्षों से जैवमास (Biomass), ऊर्जा फसलें और ऊर्जा वानिकी को लेकर बहसें चल रही हैं और इस विषय में प्रचुर साहित्य हमारे सामने आया है। हमारे देश के वैज्ञानिकों ने भी पहल की है और आम जनता में भी इसकी प्रतिक्रिया हुई है। लेकिन अभी भी किसानों को न तो अपने में निहित क्षमता का ज्ञान है, न ही उन्हें अपने पूरे-पूरे उत्तरदायित्व का ही आभास है। मनुष्य स्वभाव से ही क्रियाशील है, किन्तु इसकी क्रियाशीलता का राष्ट्र को पूरा-पूरा लाभ तभी मिल सकता है जब वह लीक पर चले।

विश्व की जनसंख्या जिस गति से बढ़ रही है उसे दृष्टि में रखते हुए नितान्त आवश्यक होगा कि अन्नोत्पादन में वृद्धि की जाये। लेकिन यह अन्नोत्पादन दिनों-दिन ऊर्जा पर आश्रित होता जा रहा है (सारणी-1)। अतएव ऊर्जा संकट की स्थिति आ जाने पर अन्नोत्पादन बुरी तरह प्रभावित हो सकता है। भोजन, ईंधन तथा चारे की समस्यायें ऊर्जा से जुड़ी हुई हैं।

सारणी–1

विभिन्न क्षेत्रों में ऊर्जा के विभिन्न स्रोतों की सापेक्ष हिस्सेदारी (1981)

क्षेत्र	कोयला	तेल	बिजली	कुल का %
घरेलू कार्य	10	71.2	18.2	13.7
कृषि	0.0	61.8	38.2	10.6
उद्योग	44.5	7.9	47.6	38.5
परिवहन	11.3	83.9	2 8	31.7
अन्य	11.9	36.2	51.9	5.5

ऊर्जा संकट की ओर वैज्ञानिकों का ध्यान सर्वप्रथम 1973 ई० में गया। शायद पहली बार दुनिया ने यह महसूस किया कि हमारी आधुनिक सभ्यता ऊर्जा के अक्षय नहीं अपितु नश्वर आधार पर टिकी है। फलस्वरूप ऊर्जा के पारम्परिक स्रोतों—कोयला, गैस, पेट्रोल के अतिरिक्त गैर-पारम्परिक अर्थात् वैकल्पिक स्रोतों की खोज की जाने लगी। सौर ऊर्जा विश्व का संभवतः वह अक्षय ऊर्जा भंडार है जिसकी ओर वैज्ञानिकों ने फिर से ध्यान देना प्रारम्भ किया। इसी परिप्रेक्ष्य में **बायोमास** (Biomass) या जैव पदार्थ का सर्वाधिक महत्व सामने आया। यह ऊर्जा का नवीकरणीय स्रोत है जिसका उत्पादन सौर ऊर्जा में संभव है। लेकिन अनुमान है कि पौधे प्रतिवर्ष केवल 0.1% कुल उपलब्ध सौर ऊर्जा का उपयोग करते हैं और इस प्रकार प्राय: 20 हजार मिलियन टन (2×10^{10}) जैवपदार्थ उत्पन्न होता है जिसमें (3×10^{12}) जूल ऊर्जा संचित रहती है (सारणी 2,3)। सौर ऊर्जा अर्थात् सूर्य का प्रकाश प्राकृतिक सम्पदाओं में सर्वोपरि है। भारत इस मामले में अत्यन्त भाग्यशाली देश रहा है। देश के केन्द्रीय भागों में विविध स्थानों पर सूर्य का सीधा विकिरण पड़ता है और देश के अधिकांश भागों में वर्ष में 9—10 महीने धूप खिली रहती है। इस प्रकार हमारा देश सौर ऊर्जा का सर्वाधिक दोहन कर सकता है। वैज्ञानिकों ने सौर ऊर्जा के दोहन का प्रभाव विविध तकनीकों (सौर सेल आदि) के रूप में किया है परन्तु यह तकनीकी अत्यन्त खर्चीली है और किसानों के बूते से परे है। फलतः किसानों को सौर ऊर्जा प्राप्त करने के लिये उस प्राकृतिक तकनीक पर निर्भर करना पड़ता है जिसे वैज्ञानिक-जन **प्रकाश संश्लेषण** (Photosynthesis) कहते हैं और जो सौर ऊर्जा को वानस्पतिक या जैव ऊर्जा (बायोमास) में परिणित करने का सर्वश्रेष्ठ साधन है। यह सृष्टि के प्रारम्भ से चला आ रहा है और इसी पर ध्यान दिये जाने की आवश्यकता है। कहना चाहें तो कह सकते हैं कि हमारा समाज और हमारा अर्थतन्त्र बायोमास पर आश्रित है। इस बायोमास का पुनर्नवीकरण हो सकता है।

सारणी—2

भारत में स्थल पर उत्पन्न होने वाला बायोमास

	क्षेत्रफल करोड़ हेक्टेयर	बायोमास उत्पादन करोड़ टन
कृष्य भूमि	16·3	90
चरागाहें	1.2	4.5
जंगल	6.6	26.2
अन्य	8.4	4.2

सारणी—3

बायोमास की अनुमानित संभाव्य ऊर्जा

फ़सल अवशेष 27.3 करोड़ टन	520.4×10^9	मेगाजूल
कुल संभाव्य ऊर्जा————	3.45×10^{12}	मेगाजूल
संभाव्य बायोमास ऊर्जा का प्रतिशत	—	77%
वर्तमान हिस्सा	—	40%

वर्तमान कृषि कार्य ऊर्जा आश्रित होता जा रहा है। यदि हमें अधिक अन्न-उत्पादन करना है तो ऊर्जा का उपयोग अपरिहार्य होगा। इसलिये ऊर्जा की वर्तमान स्थिति और भावी रूपरेखा पर किसानों को ध्यान देना होगा।

विकसित देशों में अन्न-उत्पादन का मूलमंत्र है ऊर्जा का उपयोग। यदि मक्के की फ़सल में एक इकाई ऊर्जा व्यय की जाती है तो बदले में छः इकाई ऊर्जा की फ़सल ली जाती है। यह ऊर्जा उर्वरकों के बनाने, सिंचाई के लिये पानी निकालने आदि में व्यय होती है। अनुमान है कि एक टन फॉस्फेट उर्वरक बनाने में 1000 किलोवॉट घंटा बिजली, 6 गैलन डीज़ल तथा 3000 गैलन पानी खर्च होता है।

कृषि कार्यों में सम्प्रयुक्त ऊर्जा मुख्यतः **प्राकृतिक गैस डीज़ल तेल, पेट्रोल, बिजली** आदि से प्राप्त की जाती है किन्तु **पवन ऊर्जा** तथा **बायोमास ऊर्जा** का भी उपयोग हो सकता है। यदि ऊर्जा के समस्त साधनों में से किसानों को चुनाव करना हो तो स्वाभाविक है कि वह सबसे सस्ते साधन का चुनाव चाहेगा। निःसन्देह पवन ऊर्जा तथा सौर ऊर्जा सस्ती लगेगी क्योंकि प्रकृति में हवा तथा सूर्य प्रकाश मुफ्त ही उपलब्ध हो सकते हैं। किन्तु सौर ऊर्जा को कृत्रिम साधनों से ग्रहण करने में काफी व्यय होता है। पवन ऊर्जा तथा बायोमास ऊर्जा की तुलना में सौर ऊर्जा 5-10 गुनी मँहगी पड़ेगी। पवन ऊर्जा की भी अपनी सीमायें हैं—निश्चित ऋतु में और वह भी यदा-कदा वेग से हवायें चलती हैं जिससे वैकल्पिक साधन के रूप में ही इसका प्रयोग हो सकता है। अब बच रहती है **बायोमास ऊर्जा** जो वनस्पतियों द्वारा सौर ऊर्जा का ही रूपान्तरण है। यही सरलता से उपलब्ध एकमात्र स्रोत है। यह ऊर्जा बायोमास को सीधे **जलाकर** (ऊष्मीय ऊर्जा), उसके **गैसीकरण** से, उससे **मीथेन** या **एल्कोहॉल** उत्पन्न कर के प्राप्त की जा सकती है किन्तु बायोमास का उपयोग ऊर्जा के लिये तभी हो सकता है जब वह पशुओं के चारे के रूप में प्रयुक्त न होता हो, रेशा प्राप्त करने के काम न आता हो तथा सर्वोपरि वह भोजन के रूप में प्रयुक्त न होता हो।

वास्तव में ईंधन अर्थात् जलाने की लकड़ी के लिये बायोमास का अधिकांश प्रयुक्त होता है। खेतों में उगी फ़सलों के डंठल, पुआल, अन्य अपशिष्ट तथा जंगलों में उगने वाले वृक्षों की टहनियों, तने आदि ईंधन के रूप में काम में लाये जाते हैं। देश में कृषि अपशिष्ट की अनुमानित मात्रा प्रतिवर्ष 29 करोड़ टन से कुछ अधिक होगी, यह औसत 8.75 टन प्रति हेक्टेयर है। 20 वर्ष पूर्व यह 2.24 टन था (सारणी-4)। इसी प्रकार धान की भूसी, गन्ने की खोई, लकड़ी का बुरादा आदि मिलाकर तीन करोड़ टन होंगे। देश की कुल ऊर्जा का 77% इसी तरह के बायोमास से उपलब्ध किया जा सकता है, किन्तु अभी तक केवल 40% का ही उपयोग हो पाया है। (देखें सारणी 3)

सारणी—4

कृषि अपशिष्ट और उपजात

फसल अवशेष	मात्रा करोड़ टन
अनाज	19.68
दालें	1.44
तिलहन	0.58
बागान फसलें	3.44
रेशेदार फसलें	1.74
फल	0.33
सब्जियाँ	0.12
गन्ने की खोई	0.52
कुल	29.86
गोबर	86.00

भारत जैसे विकासशील देश में बैलों तथा अन्य पशुओं (भैंसा, ऊँट, घोड़ा) की पशु ऊर्जा का उपयोग खेत जोतने, अनाज माँड़ने, गाड़ी से इधर-उधर सामान लाने-ले जाने के लिये किया जाता है। सिंचाई में भी रहट या पुर द्वारा कुओं से पानी निकाल कर सिंचाई करने में पशु ऊर्जा व्यवहृत की जाती है। मनुष्य स्वयं दौरी से सिंचाई करते हैं जिसमें मानव ऊर्जा प्रयुक्त होती है। खेती काटने में एकान्तिक रूप से मानव ऊर्जा ही उपयोग में लायी जाती है। अतएव स्पष्ट है कि उर्वरक उत्पादन में विशेष रूप से जो ऊर्जा व्यय होती है उसके लिये तथा सिंचाई जल को अधिक गहराई से निकालने के लिये या ट्रैक्टर से खेत की जुताई करने में जितनी ऊर्जा चाहिये उसके लिये उसे परम्परागत या गैर-परम्परागत स्रोतों को **बचा कर रखना होगा**। यही नहीं, उसे उन नवीन साधनों की खोज करनी होगी जिससे इन स्रोतों को सुरक्षित रखा जा सके।

आज किसानों पर दोहरा उत्तरदायित्व आ पड़ा है—जिस भूमि से उसे अन्न उत्पन्न करना है उसी से उसे ऊर्जा भी उत्पन्न करती है। उसे भोजन तथा ईंधन में से विकल्प नहीं ढूँढ़ना बल्कि दोनों के लिये एक साथ उद्योग करने हैं। उसके सामने सबसे बड़ी चुनौती यह आयी है कि वह कितनी भूमि में अन्न उपजाये और कितनी भूमि में ऊर्जा उत्पन्न करे। भूमि जिस पर खेती की जाती है उसका क्षेत्रफल सीमित है। उसने बहुत बड़े क्षेत्रफल को अनुर्वर या बंजर-ऊसर बना दिया है—या तो अन्धा-धुन्ध सिंचाई करके या फिर उपज की दर बढ़ा कर। बदले में वह पड़ती जमीन या न जोती जाने वाली या जंगलों से ढ़की जमीन को तोड़कर खेती करने का लोभ संवरण नहीं कर पाया। इससे स्थिति यह हो गई है कि देश की भूमि का बहुत बड़ा क्षेत्रफल भूमि-क्षरण से ग्रस्त है। नदियों की बाढ़ें भी समय-समय पर काफी बड़े क्षेत्रफल को जलमग्न करती रहती हैं। किसान की स्थिति बड़ी दयनीय है। यदि ऐसी परिस्थिति में उससे यह कहा जाये कि तुम अपनी भूमि में अन्न तथा ऊर्जा दोनों उत्पन्न करो तो वह भौंचक्का रह जायेगा।

किन्तु इक्कीसवीं सदी के किसान को सोचना होगा कि वह भूमि का उपयोग भोजन के लिये करे या ऊर्जा के लिये। इसी तरह उसे सोचना होगा कि वह जल का उपयोग अन्न उगाने के लिये करे या या पीने के लिये या कि ऊर्जा उत्पादन के लिये। भावी कृषि-कार्य जटिलताओं एवं चुनौतियों से भरा होगा। उसे इस दुविधा से उबारने में कृषि-वैज्ञानिक सहायक बन सकते हैं। उसे उनकी शरण लेनी होगी या फिर सर्वनाश के लिये तैयार रहना होगा।

यह विचारणीय विषय है कि क्या भूमि का उपयोग ऊर्जा के उत्पादन के लिये हो? इसका उत्तर देने के पूर्व स्पष्ट हो जाना चाहिये कि किसी समय भूमि के बहुत बड़े भाग में जंगल ही जंगल थे, किन्तु इधर उनका विनाश जिस द्रुत गति से हुआ है उससे अब 11% क्षेत्रफल में ही जंगल बचे हुए हैं, जबकि राष्ट्रीय वननीति के अनुसार 33% भूमि पर जंगल होने चाहिये। तो क्या इन जंगलों से ऊर्जा की पूर्ति नहीं हो पायेगी? उत्तर होगा नहीं। ऊर्जा के जितने भी साधन हैं—चाहे सूर्य हो, कोयला, पेट्रोलियम गैस, जल-विद्युत् या नाभिकीय ऊर्जा, किसी एक से देश की 20% से अधिक आवश्यकता की पूर्ति नहीं हो सकती। इसलिये **समुचित मिश्रित व्यवस्था करनी होगी**। इसीलिये कृषि-वैज्ञानिक अब इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि **कृष्य भूमि में ही ऊर्जा भी** उत्पन्न **की जाय—ऊर्जा की खेती** की **जाये**। अन्नोत्पादन भी ऊर्जा उत्पादन है। किन्तु नहीं, हम उस ऊर्जा के उत्पादन की बात करना चाह रहे हैं जिसका उपयोग कृषि कार्यों के लिये किया जा सके—भोजन या ईंधन के रूप में नहीं। ईंधन के लिये पड़ती, बंजर या पहाड़ी इलाकों की भूमि का उपयोग किया जाना चाहिये।

ऊर्जा-उत्पादन के लिये भूमि का उपयोग नया नहीं है। प्रायः 50 वर्षों से अमेरिका में अन्न का उपयोग एल्कोहॉल उत्पादन के लिये होता चला आ रहा है। ब्राज़ील में पेट्रोल की कमी की पूर्ति एल्कोहॉल से ही की जाती है। इसके लिये गैसोलिन में 10% एल्कोहॉल मिलाकर गैसोहॉल तैयार किया जाया है जिसका उपयोग यातायात वाहनों में होता है। हमारे देश में **अन्न का** उपयोग केवल भोजन के लिये होता आया है। उसे हम

इस तरह की ऊर्जा के लिये प्रयुक्त नहीं कर सकते, केवल विकसित राष्ट्र ही ऐसा कर सकते हैं। इसी तरह से **वानस्पतिक तेल** भी ऊर्जा के स्रोत बन सकते हैं। इन वानस्पतिक तेलों को डीज़ल के साथ मिलाया जा सकता है और डीज़ल की बचत की जा सकती है। यह वानस्पतिक तेल सूरजमुखी, सोयाबीन, मूंगफली से प्राप्त किया जा सकता है और ये तेलहन की फसलें खेतों में उगाई जाती हैं। स्मरण रहे कि तेलहन फसलों के उगाने से सौर ऊर्जा सबसे अच्छी तरह प्रयुक्त होती है। किसानों को चाहिये कि अपनी भूमि के काफी बड़े अंश में फसलचक्र अपनाकर तेलहनी फसलों को अवश्य उगायें। 'हरित क्रान्ति' ने हमारे किसानों को गेहूँ और धान जैसी फसलों के प्रति मानों प्रतिबद्ध करा दिया है। कृषि वैज्ञानिक चाहते हैं कि सारे किसान अब तेलहनी फसलें बोयें। **यही ऊर्जा की खेती** है। गेहूँ की अपेक्षा तेलहन की खेती करने से ऊर्जा-संकट से निपटने में सहायता मिल सकती है। यद्यपि हमारे देश में वनस्पति तेल का उपयोग भोजन के लिये किया जाता है किन्तु वह दिन दूर नहीं जब इसका उपयोग ऊर्जा के लिये भी हो सकेगा।

एक अन्य उपाय भी है। किसान को अपनी भूमि से प्राप्त होने वाले **कृषीयअपशिष्ट** (Agricultural Wastes) का बेहतर उपयोग सीखना होगा। याद रहे, फसलों के अपशिष्टों में ऊर्जा की विपुल संभावना छिपी हुई है। इन अपशिष्टों को यदि बचा कर इनका जल-अपघटन करके इनसे शर्करा प्राप्त की जाये और फिर किण्वन किया जाये तो बड़ी मात्रा में **एल्कोहॉल** प्राप्त किया जा सकता है जिसका उपयोग कृषि कार्यों के लिये ऊर्जा प्राप्ति हेतु किया जा सकता है। लेकिन क्या इतना कृषीय अपशिष्ट प्राप्त हो सकता है? क्यों नहीं। उसे व्यर्थ में जलाया या नष्ट न होने दिया जाये। यह सूचना प्राप्त है कि अकेले पंजाब में 60 लाख टन धान की पुआल जला दी जाती है। इसे बचाया जा सकता है। जहाँ यांत्रिक खेती का प्रचलन है, वहाँ पशुओं के न होने से कृषीय अपशिष्ट, डंठल आदि बचे रहते हैं। अतएव काफी मात्रा में इनका संग्रह कम मूल्य पर हो सकता है। अमेरिका में मक्का के डंठलों से ऊर्जा प्राप्त करने के लिये उन्हें कोयले के साथ जलाया जाता है जिससे कोयले की बचत की जाती है और वायु प्रदूषण भी घटता है क्योंकि कोयले की तुलना में मक्के के डंठलों में गंधक की मात्रा कम रहती है। पन्तनगर में कुछ प्रयोग मक्के की गिल्ली के साथ किये गये हैं जिनमें गिल्ली से कोयला तैयार किया गया है।

एक अन्य तरीके से भी ऊर्जा प्राप्त की जा सकेगी यदि पहाड़ी ढालों पर घासें उगाई जायें और वहाँ पशु पाले जायें तथा पशुओं से प्राप्त गोबर और मूत्र का प्रयोग **बायो गैस** उत्पादन के लिये किया जाये। मैदानों में ऐसा कठिन है क्योंकि पशुओं के गोबर की खाद खेतों में डाली जाती है। बायोगैस उत्पादन की प्रविधि का विकास किया जा चुका है। किसानों को अपनी खेती के साथ इस ओर भी ध्यान देना होगा। हमारे देश में इसकी विपुल संभावनायें हैं।

गन्ने की खेती के विषय में एक उल्लेख प्रासंगिक होगा। गन्ने से चीनी प्राप्त की जाती है और तमाम शीरा निकलता है। गन्ने से भी एल्कोहॉल प्राप्त करके ऊर्जा की समस्या हल की जा सकती है।

स्पष्ट है कि भावी किसान को अधिक क्षेत्रफल में तेलहन एवं गन्ना उपजाना होगा और इनसे प्राप्त ऊर्जा से उर्वरक तैयार करके या सिंचाई के लिये जल निकाल कर शेष भूमि पर भोजन के लिये अन्नोत्पादन करना होगा। सामाजिक वानिकी के अन्तर्गत उपजाऊ भूमि में वृक्षों को उगाना शायद किसानों के लिये लाभप्रद न रहे। इसलिये खेती के साथ साथ इस पर बल नहीं दिया गया। □□

शोध छात्र, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

वन्यजीव संरक्षण हेतु बायोपार्क

सतीश कुमार शर्मा

वन्य प्राणी संरक्षण एवं संवर्धन की संकल्पना तथा तकनीक में उत्तरोत्तर सकारात्मक प्रगति होती रही है। यों तो वन्य प्राणियों का सबसे उत्तम, सबसे आरामदायक एवं शत-प्रतिशत ग्राह्य पर्यावरण उसका प्राकृतिक आवास ही होता है, लेकिन सुदूर भूत से ही मनुष्य ने वन्य प्राणियों को उनके आवास के बाहर रखने के सफल-असफल प्रयास किये हैं।

जब चिड़ियाघर (Zoo) बनाने के विचारों का जन्म भी नहीं हुआ था, उससे पहले ही, मनुष्य अपने पास खूंखार वन्य प्राणियों को रखने का शौकीन हो चुका था। प्राचीन समय में राज-दरबार गंभीर अपराधों में लिप्त अपराधियों को भूखे शेर के सामने छोड़ देने तक का हुक्म सुना दिया करते थे। ऐसे अभागे अपराधियों को सज़ा देने हेतु बाकायदा पिंजरों में शेर पाले जाते थे तथा सजा देने के समय एक बड़े बाड़े में अपराधी तथा शेर को आपस में भिड़ने के लिये छोड़ दिया जाता था। जनता मृत्यु का खेल अपनी आंखों से देखा करती थी ताकि उनमें से भविष्य में कोई और अपराध करने का साहस भी न कर सके।

देखा जाये तो दुनिया के पहले चिड़ियाघर ये ही दरबारी पिंजड़े थे जिनमें वन्य प्राणियों को बहुत छोटे-छोटे पिंजरों में रखा जाता था। इन पिंजर-चिड़ियाघरों का उद्देश्य जनता को वन्य प्राणियों संबंधी ज्ञान देने या मनोरंजन का नहीं बल्कि अपराधियों को आतंकित करने या मृत्युदण्ड देने का था।

धीरे-धीरे वन्य प्राणियों के संबंध में मनुष्य की जानकारी व दिलचस्पी बढ़ने लगी और बड़े-बड़े शहरों में चिड़ियाघर स्थापित होने लगे। इन चिड़ियाघरों में अलग-अलग पिंजरों में अलग-अलग प्रजाति के वन्य प्राणी रखे जाने लगे। पिंजरों वाले ये चिड़ियाघर प्राणी उद्यान (Zoological gardens) कहलाये। इन प्राणी उद्यानों के पिंजरों में प्राणी पूरा जीवन एक बंदी की हालत में गुजारते हैं जहाँ प्राणी खुलकर घूम भी नहीं सकता। उसके पिंजरे की प्राय: पक्की फर्श तथा ऊपर टीन या कंक्रीट की छत माहौल को घुटनशील बना देता है। ऐसे में भला कृत्रिम आवास में कोई प्राणी अपनी विभिन्न नैसर्गिक क्रियायें कैसे कर सकता है? ऐसे पिंजरे वाले चिड़ियाघरों में अधिकांश बन्दी वन्य प्राणी प्रजनन जैसी स्वाभाविक क्रिया तक त्याग देते हैं।

धीरे-धीरे प्राणीउद्यान की कमियों की तरफ़ वन्य प्राणी विशेषज्ञों का ध्यान आकृष्ट होने लगा तथा वन्य प्राणियों को पिंजरों में कैद रखने के स्थान पर उन्हें बड़े-बड़े बाड़ों में रखा जाना प्रारंभ किया गया। जानवर बाड़े से बाहर न निकल पायें इस उद्देश्य से बाड़े के चारों तरफ पर्याप्त गहराई व चौड़ाई वाली सूखी या पानी भरी खाई या लोहे के सरियों की बाड़ की व्यवस्था की जाती है। इन बाड़ों में फर्श प्राकृतिक भूमि धरातल ही होता है। बाड़े में कुछ वनस्पतियाँ उगा कर माहौल को अधिक प्राकृतिक बनाने का भरसक प्रयास किया जाता है। ऐसे बाड़ों वाले चिड़ियाघरों को ज़ूलॉजिकल पार्क (Zoological Parks) कहा जाता है। हमारे देश में नेहरू ज़ूलॉजिकल पार्क, नन्दन कानन बॉयोलॉजिकल पार्क, इन्दिरा गाँधी ज़ूलॉजिकल पार्क, अन्ना ज़ूलॉजिकल पार्क आदि महत्वपूर्ण ज़ूलॉजिकल पार्क हैं।

बंदी वन्य प्राणियों के आवास में जो सुधार की प्रक्रिया ज़ूलॉजिकल पार्क से शुरू हुई उसे और आगे बढ़ाया गया। वन्य प्राणियों को छोटे बाड़ों में रखने की बजाय उन्हें बहुत बड़े-बड़े बाड़ों (Large enclosures) में रखा जाना शुरू हुआ जिनमें पर्याप्त संख्या में वृक्ष, झाड़ियाँ आदि उगा कर बंदी आवास को अधिक प्राकृतिक बनाया गया ताकि वन्य प्राणियों को 'लघु प्राकृतिक आवास' मिल सके। ऐसे आवास में वन्य प्राणी अधिक उन्मुक्त होकर अपनी प्राकृतिक क्रियाओं को कर सकते हैं। ऐसे बड़े बाड़ों वाले पार्कों को सफारी पार्क (Safaris or Safari Park) कहते हैं।

वन प्रसार अधिकारी, वनचेतना केन्द्र, गुलाब बाग, उदयपुर—313001 (राजस्थान)

पिंजरों वाले घिड़ियाघरों एवं छोटे बाड़े वाले चिड़ियाघरों में दर्शक पिंजरे या बाड़े के बाहर रह कर ही वन्य प्राणियों का अवलोकन करते हैं परन्तु सफारी पार्क में इन्हें वाहन द्वारा बाड़े में अन्दर ले जाकर वन्य प्राणियों को देखने का मौका दिया जाता है, जिससे दर्शकों को ज्यादा रोमांच होता है तथा जंगल में घूमने की सी अनुभूति होती है।

नेहरू ज़ूलॉजिकज पार्क तथा नन्दन कानन बॉयोलॉजिकल पार्क में सिंह सफारियाँ बनाई गई हैं, जहाँ बड़े-बड़े बाड़ों में सिंहों को उन्मुक्त रखा गया है। इसी तरह विशाखापट्टनम् स्थित इन्दिरा गाँधी ज़ूलॉजिकल पार्क में मृग सफारी की स्थापना की गई है।

बंदी अवस्था में वन्य प्राणियों के आवास सुधार का चरम बायोपार्क (Biopark) में ही देखने को मिलता है। संरक्षण का सामान्य सिद्धान्त यह है कि कोई भी वन्य प्राणी सबसे अधिक सुखी तथा सुरक्षित अपने प्राकृतिक आवास में ही महसूस करता है। विभिन्न तरह के पार्कों में उन्हें जो आवास उपलब्ध कराया जाता है वह कृत्रिम होता है। यदि वन्य प्राणियों को बड़े-बड़े बाड़ों में रखकर उन बाड़ों में वही माहौल उत्पन्न किया जाये जो उनके प्राकृतिक आवास में उपलब्ध है तो बंदी आवास की कृत्रिमता घटाई जा सकती है फलतः बंदी अवस्था में वन्य प्राणी का स्वास्थ्य अच्छा रहता है, आयु बढ़ जाती है तथा वह बंदी अवस्था में भी सफलतापूर्वक प्रजनन करने लगता है।

बायोपार्कों के आवास में सुधार के लिये यह प्रयत्न किया जाता है कि जानवरों के बाड़ों में वे ही वृक्ष, झाड़ियाँ, घास आदि पनपाये जाते हैं जो उनके प्राकृतिक आवास में उगते हैं। वनस्पतियों की विशिष्ट सघनता, जलाशय, चट्टानें, वृक्षों के ठूंठ, शुष्क या नम क्षेत्र आदि विशिष्ट सूक्ष्म प्राकृतिक आवासीय आवश्यकतायें बाड़ों में उपलब्ध कराई जाती हैं। दूसरे शब्दों में बंदी आवास को सूक्ष्म स्तर तक प्राकृतिक बनाने का प्रयास किया जाता है। बायोपार्क निर्माण में एक बाघ तथा एक बन्दर के बाड़े में एक जैसी वनस्पति नहीं उगाई जा सकती क्योंकि दोनों की अपनी विशिष्ट प्राकृतिक आवासीय भिन्नतायें हैं।

चिड़ियाघरों के आवास में उत्तरोत्तर सुधार कर उन्हें बायोपार्क बनाने की दिशा में प्रयास जारी हैं। ऐसे ही सुधारों का परिणाम है कि आज हमारे अनेक चिड़ियाघर अधिक सुन्दर, नियोजित एवं प्रभावशाली सिद्ध हो रहे हैं जिनमें वन्य प्राणी बंदी अवस्था में रहते हुये भी अपने को प्रकृति के निकट अनुभव करते हैं। निस्संदेह बायोपार्क संकल्पना बंदी वन्य प्राणियों के कल्याण की दिशा में उल्लेखनीय प्रयास है। आज आवश्यकता इस बात की है कि प्रकृति और वन्य जीवों के संरक्षण हेतु देश में अधिक से अधिक बायोपार्कों की स्थापना की जाये।

□□

(पृष्ठ 2 का शेष)

मुख्य धारा के साथ जोड़ा जा सके। यहाँ एक उदाहरण देना समीचीन होगा जैसे सौराष्ट्र और झाबुआ जैसे ज़िलों में छोटी योजनायें बननी चाहिए जो जल के संरक्षण और चारागाहों से संबंधित हों। मैं किसी की आलोचना नहीं करना चाहता पर वास्तविकता यह है कि बड़े किसान को तो विकास के नाम पर उर्वरक उद्योग लगाने के लिए बड़ी धनराशि मिल सकती है पर छोटे-छोटे चारागाहों को विकसित करने की योजनाओं के लिए न तो कोई कार्यक्रम है और न ही धन। आज सरकार द्वारा जो भी सहायता राशि प्रदान की जाती है उसका पूरा लाभ गरीबों को नहीं मिल पाता।

अतएव अब आवश्यकता इस बात की है कि पर्यावरण की क्षति को रोकने या क्षत-विक्षत पर्यावरण को सुधारने के लिए जो भी योजनायें बनाई जायें उनमें इस बात का ध्यान रखा जाये कि लाभ गरीब ग्रामीणों को मिले, क्योंकि जब भी पर्यावरण को क्षति पहुँचती है तो गरीब वर्ग ही सबसे पहले और सबसे अधिक प्रभावित होता है। □□

पर्यावरण संतुलन और पेड़-पौधों की भूमिका

डॉ० उमेश पाण्डेय

पेड़-पौधे, इस पृथ्वी पर मनुष्यों को प्राणवायु-ऑक्सीजन प्रदान करते हैं। वह हमें प्राकृतिक आपदाओं से बचाते हैं और पर्यावरण प्रदूषण को भी रोकते हैं। अतएव वृक्षारोपण मानवता के लिए हितकारी ही नहीं, वरदान तुल्य है। सड़कों के दोनो ओर छायादार वृक्ष लगाने के और भी कई लाभ हैं।

किसी विद्वान ने कहा है, "हम पृथ्वी पर पौधों के अतिथि बनकर आये हैं।" वृक्ष वर्षों से पृथ्वी पर पर्यावरण संतुलन की भूमिका निभाते आये हैं और हमें आगे भी अपने अस्तित्व के लिए पेड़-पौधों पर आश्रित रहना पड़ेगा। वृक्षारोपण के व्यापक कार्यक्रमों द्वारा ही हम पर्यावरण प्रदूषण पर नियंत्रण पा सकेंगे।

वास्तव में यदि प्रकृति की व्यवस्थित परम्परा के विपरीत कोई भी कार्य किया जाता है तो प्रतिक्रिया अवश्य होती है। चूँकि मनुष्य अन्य जीवों और पेड़-पौधों से कहीं अधिक विकसित है और बुद्धिमान भी अतएव उसे अपने हित-अहित के प्रति ज्यादा सोचना एवं सचेत रहना पड़ता है।

मनुष्य के अनधिकृत हस्तक्षेप से, जिसके पहले शिकार पेड़-पौधों हैं, प्रकृति का संतुलन बिगड़ता जा रहा है। पर्यावरण की प्राकृतिकता व निर्मलता दूषित होने लगी है। यह ख़तरे की घण्टी है।

बाढ़ तथा सूखा जैसी दैवी विपदाओं से मानव मात्र एवं पर्यावरण की सुरक्षा करने में वृक्षों (पेड़-पौधों) की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका होती है। पेड़-पौधे लगाने से भूक्षरण (स्वायल इरोजन) रुकता है, यह बात हम सभी जानते हैं, फिर भी वृक्षारोपण करके पूरी तौर पर अभी इस दिशा में विशेष प्रगति हासिल नहीं हो पायी है। "वन महोत्सव" हर साल बड़े ही धूमधाम से मनाया जाता है। 'वन महात्म्य' भी दोहराया जाता है लेकिन मात्र रस्मअदायगी के लिए ही। कोई जिम्मेदारी या ज़रूरत समझ कर नहीं। फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि मानव-जाति की युगों पुरानी सहयोगी वनस्पतियाँ प्रदूषण-नियंत्रण में अपना योगदान पूर्ववत ही दे रही हैं।

वायुमण्डल में छितराने वाले प्रदूषक सूक्ष्म कणों को वायु के मार्ग में कोई अवरोध रखकर या उसे छानकर-निक्षेपित करके दूर किया जा सकता है। इस प्रकार के अवरोध निर्माण हेतु वृक्ष सर्वोपरि और सुलभ साधन हैं। सूक्ष्म कण, जो हल्के और वर्षाजल में अविलेय होते हैं, वृक्षों द्वारा प्रभावी ढँग से अवशोषित कर लिये जाते हैं।

वायु से गैसीय प्रदूषक अलग करने के लिए उनकी अन्य गैसों से क्रिया कराकर वर्षाजल अथवा किसी सतह पर उपस्थित नमी में उनका अवशोषण अथवा वायु में तैरते ठोस कणों पर उनका अधिशोषण कराया जा सकता है। ऑक्सीकरण एक महत्वपूर्ण क्रिया है और पर्यावरण में विद्यमान ऑक्सीजन की एक निश्चित मात्रा (जो पेड़-पौधों से प्राप्त होती है) इसके लिए वरदान सिद्ध हुई है। सामान्यतः उस प्रकार होने वाली गैसीय आदान-प्रदान के साथ विषैली एवं दूषित गैसें भी पत्तियों में समा जाती हैं।

सड़कों के इर्द गिर्द विशाल-भूक्षेत्र संबद्ध रहता है। इस भूक्षेत्र पर वृक्षारोपण करने से उपरोक्त सभी लाभों के अतिरिक्त सड़कों की रमणीकता बढ़ती है, एकरसता घटती है और प्रयोक्ताओं को सुरक्षा के साथ-साथ आराम मिलता है। सिद्धान्त रूप से यह कहा जा सकता है कि वृक्षों की उन जातियों का चयन (चुनाव) करना चाहिए, जो प्रदूषण प्रतिरोधी हों, जिनकी वृद्धि की गति तीव्र हो, जो संबंधित स्थान के वातावरण में अपना अस्तित्त्व बनाये रख सकें। जहाँ तक प्रदूषण-प्रतिरोधी क्षमता का प्रश्न है कोई भी वृक्ष एक साथ सभी प्रदूषकों के प्रति पूर्ण प्रतिरोधी नहीं हो सकता। इसलिए विभिन्न पर्यावरण परिस्थितियों में आरक्षी वृक्षारोपण के लिए भिन्न-भिन्न जातियों एवं प्रजातियों का चयन करना आवश्यक है।

अतएव यह आवश्यक है कि वृक्षारोपण को राष्ट्रीय

कर्त्तव्य माना जाए। सड़कों के किनारे वृक्ष लगाना केवल किसी सरकारी विभाग (वनविभाग) की ज़िम्मेवारी नहीं है, बल्कि आसपास के शहर, गाँव या कस्बों में बसे सभी आम व्यक्तियों का भी कर्त्तव्य है कि इस दिशा में वे भी अपने दायित्वों का यथाशक्ति निर्वाह करें। इसके लिए गाँवों तथा नगरों में समन्वित विकास योजनाओं को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

बस्तियों में पेड़-पौधे उगाने का कार्य स्थानीय जनता के सुपुर्द कर दिया जाना चाहिए तथा सड़कों के किनारे लगे वृक्षों की सुरक्षा व रखरखाव की ज़िम्मेवारी भी उन्हें सौंपी जानी चाहिए।

पेड़ लगाने की योजना बनाने से लेकर उनके सफल क्रियान्वयन, संरक्षण व पोषण के लिए व्यक्तिगत दिलचस्पी की आवश्यकता है। यह तो तभी हो सकेगा जब ऐसी प्रजातियों का रोपण किया जाये, जिनसे मनुष्यों एवं पशुओं की भूख की समस्या का स्थायी समाधान भी निकले। "चिपको आन्दोलन" के प्रणेता श्री **सुन्दर लाल बहुगुणा** ने पंचजीवन महावृक्ष का सूत्र प्रतिपादित किया है—खाद्य, चारा, ईंधन, उर्वरक और रेशा देने वाले वृक्ष।

अलग अलग जलवायु और परिस्थितियों के अनुसार उनकी प्रजातियाँ निश्चित की जा सकती हैं। सड़कों के किनारे लगे वृक्ष निकटस्थ बस्तियों के लोगों के लिए वृक्षारोपण का आदर्श प्रस्तुत करते हैं।

व्यापारिक और औद्योगिक वानिकी के अन्तर्गत हमारे देश में सर्वत्र उद्योगों के लिए कच्चा माल उपलब्ध कराने हेतु **यूकेलिप्टस** जैसी भूमि शोषक विदेशी प्रजातियों का रोपण किया जा रहा है। यह हमारे देश की परिस्थितियों एवं पर्यावरणीय दशाओं के अनुकूल नहीं है।

हमें यानी हमारे देश को वनों पर आधारित उद्योगों की आवश्यकता तो है, लेकिन विभिन्न उद्योगों की विभिन्न प्राथमिकताएँ होती हैं। अवएव उनके आधार पर ही वृक्षों का चयन किया जाना चाहिए।

यह कहना समीचीन होगा कि वृक्ष (पेड़-पौधे) पर्यावरणीय संतुलन बनाये रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। □□

(पृष्ठ 22 का शेष)

ध्यान में रखकर राष्ट्रीय नीति बनायी जाय तो वह अवश्य ही प्रभावी और कारगर होगी। इसी संदर्भ में कल-कारखानों के प्रभावों, प्राकृतिक स्रोतों के अनाप-शनाप क्षय होते जाने जैसे घटकों को ही नहीं, बल्कि बढ़ती जनसंख्या, गरीबी तथा इससे जुड़ी अस्वच्छता और बीमारियों जैसी समस्याओं को भी इसके साथ लेना होगा। कोई भी वास्तविक प्रयोगात्मक तरीका तभी सही होगा जब वह इन सभी घटकों के आधार पर और पर्यावरण की सम्पूर्णता को समझ कर तैयार किया जाय।

आज हमारे सामने यह बात स्पष्ट है कि पर्यावरण के दूषित होने को रोकने के प्रयत्न में हर इन्सान का भागीदार होना आवश्यक है। इसके लिये हमको अपने सोचने के पारंपरिक ढँग में आमूल बदलाव करना होगा और प्रकृति के शोषण की लालसा त्यागनी होगी। तभी हम अपना और अपने पर्यावरण का संतुलन ठीक करने में सफल हो पायेंगे। इसके लिए हमको अपनी राष्ट्रीय पर्यावरण नीति को लागू करने में ठोस योगदान देना चाहिये। पर्यावरण सम्बन्धी उपायों को प्रभावी बनाने का भरसक प्रयास करना चाहिये। पर्यावरण कार्यक्रमों को जनहित के लिये ईमानदारी से सम्पन्न करना चाहिये। जनसाधारण को पर्यावरण से जुड़ी समस्याओं से परिचित कराना चाहिये। हमको अपने पर्यावरण के साथ किये गये हस्तक्षेप को बन्द कर वापस प्राकृतिक सीमाओं में रहना होगा।

जिस प्रकार विकास के हर एक कार्यक्रम के दौरान हम प्रभावित होते हैं उसी प्रकार हमारा पर्यावरण और यह प्रकृति, जिसके हम अंश हैं, शायद इन विकास कार्यक्रमों में विपरीत तौर से प्रभावित हुए हैं। फलतः हम भी विपरीत असर के चंगुल में आ गये हैं। इसलिये आज इस बात की पहले से कहीं अधिक ज़रूरत है कि विकास की गति को इस प्रकार नियंत्रित किया जाय कि बिना प्रदूषण के हमको सुख-सुविधा के साधन मुहैया होने के साथ-साथ प्रकृति पर कोई दबाव न पड़े ताकि प्राकृतिक-चक्र संतुलित रहे। □□

पर्यावरण प्रदूषण दूर करने में हमारी भागीदारी

डॉ० अशोक महान

'विश्व पर्यावरण दिवस' प्रति वर्ष 5 जून को हम जनमानस में पर्यावरण सम्बन्धी जागरूकता बढ़ाने के लिए मनाते हैं, तथा सामाजिक ढाँचे को ऐसा गठित करने की चेष्टा करते हैं ताकि पर्यावरण-प्रदूषण की दिशा में किये जा रहे पहलुओं के प्रति सजगता बरती जा सके। पर्यावरण वर्तमान् समय में एक गम्भीर समस्या बन गया है। जाने-अनजाने मानव समाज की विभिन्न क्रियाओं का ही यह परिणाम है। कल-कारखानों की ज़हरीली गैसों एवं विषाक्त द्रवों का उचित रूप में निष्कासन न हो पाने से, स्वचालित वाहनों की भीड़ से उत्पन्न घना धुआँ, और बढ़ती हुई जनसंख्या आदि इसके कुछ ऐसे कारण हैं जिनसे हमारा पर्यावरण पर्याप्त प्रभावित हो चुका है। प्राकृतिक वातावरण, वायुमंडल, धरती, जल, जंगल, जीव-जन्तु आदि सभी की नैसर्गिक विधियों पर अभूतपूर्व प्रभाव पड़ने से उनकी मौलिकता नष्ट होती जा रही है। फलतः हमको इसके महत्व को समझते हुये पर्यावरण संरक्षण हेतु कदम उठाने पड़ रहे हैं। अतः हम सभी लोगों को इसके लिये विशेष ध्यान देना होगा तभी स्वस्थ एवं वांछित उपलब्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं। प्रदूषण निवारण हेतु प्रत्येक व्यक्ति को हर क्षेत्र में, अपने जीवन-काल में मर्यादा से कार्य करना होगा। जिस प्रकार हम अपने परिवार और अपनी उन्नति के लिये बचत कराते हैं, पैतृक सम्पति का सदुपयोग करते हैं ताकि हम उन्नति करें और अपनी आने वाली पीढ़ी के सामने ऐसी परम्परा छोड़ जायें कि वह भी उन्नति करे। उसी प्रकार अगर हम इस आशय को मानवीय सीमा से हट कर प्रकृति के विशाल क्षेत्र में लगायें और प्राकृतिक सम्पदा की भी बचत उसी तरह करें तो हमारा प्रयास पर्यावरण सम्बन्धी समस्याओं के समाधान में सफल भूमिका अदा कर सकेगा, जिसकी अब और आवश्यकता पड़ गयी है। अब और समय व्यतीत करने में नुकसान की दर कई गुना बढ़ सकती है तथा सामने आने वाले विनाश के स्वरूप का अन्दाज़ा नहीं किया जा सकता कि वह कितना विराट एवं भयंकर होगा।

इस समय अपने देश के पर्यावरण की स्थिति वास्तव में बहुत खराब है और जटिल भी। जैसे 70 प्रतिशत के लगभग जल प्रदूषित है जो मानव, पौधों, जीव-जन्तुओं आदि सभी को प्रभावित कर रहा है, सभी में बीमारियाँ हो रही हैं; काफी बड़ी मात्रा में उपजाऊ मिट्टी हर छः माह में धरती की सतह से बहती जा रही है; अनेक नदीय घाटी परियोजनाओं के बावजूद बाढ़ग्रस्त भूमि का क्षेत्र पिछले 10 सालों में दूना हो गया है। इसी प्रकार बड़े शहरों में प्रदूषण बढ़ ही रहा है। कानपुर जैसे शहरों में प्रदूषण स्तर पार हो चुका है, फलतः हर तीन मिनट में एक बच्चा अतिसार (शिशु डायरिया) से मर रहा है। इसमें गरीबी, कुपोषण, अस्वच्छ वातावरण, दूषित पेयजल जैसे पर्यावरण सम्बन्धी कारण मुख्य हैं।

चूँकि पर्यावरण के संदर्भ में संरक्षण एव प्रदूषण को अलग नहीं किया जा सकता, इसलिये उनकी वैज्ञानिक जानकारी भी भलीभाँति आवश्यक है। पर्यावरण-संरक्षण अभी भी अधिकतर लोगों के लिये कुल मिलाकर एक उलझा हुआ जटिल विषय बना हुआ है। सामान्यतः लोग इसके बहुमुखी स्वरूप से अवगत नहीं हैं। यही कारण है कि विभिन्न संस्थानों एवं विभागों द्वारा जो पर्यावरण के लिये व्यय किया जारहा है वह सही स्थान पर, उचित वरीयताक्रम से नहीं हो पा रहा है। आवास, स्वच्छता, खाना पकाने का ईंधन, स्वास्थ्य आदि आदमी की रोज़-मर्रा की ज़रूरतों को इसमें शामिल नहीं किया गया है। इसी तरह जंगलों का कटते जाना, जल-जमाव, ऊसरों का बनना, मिट्टी का कटाव जैसे मुद्दों पर तात्कालिक उचित रूपरेखा निर्धारित नहीं हो पायी है। जबकि साधारण गरीब जनता, जो देश का मुख्य हिस्सा है, इन्हीं समस्याओं से ग्रस्त है। पर्यावरण कार्यक्रम में साधारण जनता को

(शेष पृष्ठ 21 पर)

रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्व विद्यालय, इलाहाबाद—211002

पर्यावरणीय चेतना का आर्थिक दृष्टिकोण

अनिल कुमार शुक्ल

अपने पर्यावरण की सुरक्षा एवं उसके संतुलन के प्रति सामाजिक राष्ट्रीय दायित्व की जिस चेतना का विकास हाल के वर्षों में, अपने देश में दृष्टिगत हो रहा है उसका आधार अभी तक वैज्ञानिक स्रोतों से ज्ञात कसौटियाँ ही रही हैं। देश की पर्यावरणीय समस्याओं पर अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण से विचार किये जाने की परंपरा तो अभी शुरू ही नहीं हुई। छिटपुट तौर पर अलग-अलग विषय क्षेत्रों में जो प्रारंभिक प्रयास हुए हैं, उन्हें समेकित रूप से पर्यावरणीय चेतना के व्यापक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया जाना जरूरी है; क्योंकि ऐसे अध्ययन पर्यावरण संतुलन की वैज्ञानिक कसौटियों के पूरक सिद्ध होंगे और पर्यावरणीय आन्दोलनों को सुदृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित करेंगे। ऐसे अर्थशास्त्रीय अध्ययनों के परिप्रेक्ष्य में यह बात ध्यान रखने की है कि पर्यावरणीय चेतना का प्रश्न मूलतः समष्टिभावी अर्थशास्त्र (Macro Economics) की समस्या है, अतः पर्यावरण-संरक्षण और प्रदूषण-निवारण की समस्या को आर्थिक उपयुक्तता (Economic feasibility) की कसौटी पर कसते वक्त सारा विश्लेषण व्यष्टि केन्द्रित न होकर समष्टि केन्द्रित होगा। व्यक्तिगत हितों पर समाज के सामूहिक हितों को वरीयता मिलेगी। इसी प्रकार सामाजिक गुटों पर राष्ट्रीय हित वरीयता प्राप्त करेंगे और राष्ट्रीय हितों पर अन्तर्राष्ट्रीय हितों को प्राथमिकता देनी पड़ेगी। **लागत लाभ विश्लेषणों** (Cost-benefit analysis) में अल्पकालीन आकलनों के साथ-साथ दूरगामी परिणामों को शामिल करना पड़ेगा। अतः प्राकृतिक या पर्यावरणीय संतुलन के अध्ययन में अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण **प्रावैगिक संतुलन** (Dynamic Equilibrium) की अवधारणा को पुष्ट करेगा तथा इस परिप्रेक्ष्य में **स्थैतिक** (static) संतुलन के ख़तरों को उजागर करेगा।

शाब्दिक व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'पर्यावरण' शब्द से आशय हमारे **'परितः'** (चारों ओर) प्राप्य जल, स्थल एवं वायु का **'आवरण'** है। हमारे आस-पास जो कुछ भी है—हानिकर या लाभप्रद—वह सब हमारे पर्यावरण का अभिन्न और आवश्यक अंग है। इनमें से किसी एक के भी बिना, संभव है, तात्कालिक दृष्टि से हम अपना काम चला लें या अल्पकाल में **'लाभ'** हासिल कर लें, पर दीर्घकाल में हमें इसका परिणाम भुगतना ही पड़ेगा। तात्कालिक लाभ या स्वार्थ हेतु मनुष्य कई बार ऐसे कार्य भी कर बैठते हैं, जिनसे भविष्य में अपूरणीय क्षति उठानी पडती है। उदाहरण के लिए **मेडागास्कर** (मारीशस) में **डोडो** पक्षी के अंधाधुंध शिकार के फलस्वरूप **कालवेरिया** वृक्षों के जंगल नष्ट हो गये—क्योंकि इन वृक्षों के कठोर बीज डोडो पक्षी के पेट में पाचक रसों से उपचारित होकर जब मल के साथ ज़मीन पर गिरते थे, तभी अंकुरित हो पाते थे! प्रकृति के विभिन्न अंगों में इसी प्रकार की अन्योन्याश्रयी (पारस्परिक) निर्भरता के अनेक जटिल संबंध हैं, जिन्हें छेड़ना अपने विनाश को बुलावा देना भी हो सकता है!!

हमारे रहन-सहन के तौर-तरीके, हमारे स्वभाव और व्यवहार हमारे पर्यावरण को कब, किस प्रकार और कितना प्रभावित कर देते हैं, हमें सामान्यतः पता नहीं रहता। इस लेख में ऐसी ही छोटी-छोटी बातों के जरिए वनों के कटाव और ऊर्जा-संरक्षण संबंधी प्रश्न उठाए गये हैं तथा पर्यावरण संतुलन के व्यापक परिप्रेक्ष्य में उन्हें अर्थशास्त्रीय कसौटियों पर परखने का प्रयास किया गया है।

ऋषियों-मुनियों की तपोभूमि कहे जाने वाले इस देश में जब हमने पश्चिमी प्रभाव में रहन-सहन के नये तरीके अपनाने शुरू किये तो जंगलों में वृक्षों की कटाई, ठेकेदारों का लाभप्रद व्यवसाय बन गया और हमारे यानी बहुसंख्यक आम जनता के हिस्से आये बाढ़ और सूखा! वनविहीन नंगे पहाड़ों पर वर्षा की तीव्र बौछार से मृदा अपरदन (soil erosion) का जो क्रम शुरू हुआ तो पानी की धार के साथ बहती माटी ने नदियों नहरों, तालाबों

एम० ए० उत्तरार्ध (अर्थशास्त्र), इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद—211002

आदि के तल पाटकर उनकी जलग्रहण क्षमता को कम कर दिया—बाढ़ आयी, फसलें बह गईं और किसान की गाढ़ी कमाई डूब गई। विकास परियोजनाओं के लिए निर्धारित धनराशि बाढ़ सहायता के **अनुत्पादक मद** में खर्च कर दी गई।

क्या कभी हमने सोचा है कि वनों की अंधाधुंध कटाई से हुए 'लाभ' के बदले मृदा अपरदन, अन्नोत्पादन में कमी, बाढ़ के कारण धन-जन की हानि, बाढ़ सहायता पर हुए खर्च और इन सबके फलस्वरूप **राष्ट्रीय विकास दर** में आई गिरावट के रूप में हमें कितनी 'हानि' हुई है? इस हानि का और यथार्थ मूल्यांकन करने के लिए हमें वह खर्च भी जोड़ना चाहिए जो पुनर्वनीकरण (Reforestation) तथा नदी-नहर-तालाबों को बार-बार खोदकर गहरा करने के लिए व्यय करने पड़ते हैं। साथ ही बड़े-बड़े बांधों में **सिल्ट** (नदी-जल के साथ आयी मिट्टी आदि) के कारण उनके अनुमानित **जीवन-काल** में संभावित कमी तथा उनकी जलग्रहण क्षमता घटने के साथ विद्युत्-उत्पादन एवं सिंचाई हेतु जल की उपलब्धता में आई गिरावट पर भी इस संदर्भ में ध्यान रखना पड़ेगा। आइए सोचें कि, उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में जंगलों के काटे जाने पर पूरी रोक लगाये जाने की मांग क्या जायज़ नहीं है? क्या 'चिपको' और 'एपिको' जैसे पर्यावरण आंदोलन गैर वैज्ञानिक, **अनार्थिक** और जनविरोधी हैं?

शायद हम नहीं जानते कि वन-विनाश के जरिए हम अपने विनाश को निमंत्रित करते हैं। स्थिति कितनी जटिल है, इसकी कल्पनामात्र से पर्यावरणविद सिहर उठते हैं। वनविनाश के प्रभावों के बारे में जनता को शिक्षित करने के लिए 1986 में विश्वभर के पर्यावरण-विद वाशिंगटन में इकट्ठा हुए थे। इस अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में चौंकाने वाले अनेक तथ्य सामने आये। उदाहरण के लिए—

(i) प्रतिवर्ष निर्वनीकरण (deforestation) के फलस्वरूप लगभग 92000 वर्ग किलोमीटर (यानी श्रीलंका के कुल क्षेत्रफल का डेढ़ गुना) भूभाग से वृक्षों का सफ़ाया हो जाता है। झूम खेती व जल भराव के कारण भी करीब इतने ही क्षेत्र से वन उजड़ जाते हैं।

(ii) भारत में **निर्वनीकरण** के फलस्वरूप करीब 15000 पादप प्रजातियों तथा 75000 जंतु प्रजातियों के विलुप्त हो जाने का ख़तरा पैदा हो गया है। इनमें से विलुप्ति के कगार पर बची हुई 134 पादप प्रजातियों में से 99 हिमालय एवं उत्तरपूर्वी क्षेत्रों में हैं।

(iii) उष्ण कटिबंधीय (Tropical) वन, यद्यपि कि विश्व के मात्र 7 प्रतिशत भूभाग पर स्थित हैं, परंतु करीब आधी **जीव प्रजातियाँ** इन्हीं वनों में पाई जाती हैं। ऐसे महत्वपूर्ण वनक्षेत्र में हुए **निर्वनीकरण** के प्रभावों को **सीमित** करने के प्रयास में, अगले पाँच वर्षों में, करीब 8000 मिलियन डालर की ज़रूरत होगी।

(iv) खाद्य एवं कृषि संगठन (FAO) तथा संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम (UNEP) के एक अनुमान के अनुसार 2135 ई० में विश्व की जनसंख्या 11000 मिलियन होगी, पर तब तक पृथ्वी से वनों का सफाया हो चुका रहेगा।

यदि वन इसी दर से कटते रहे तो उस समय तक विश्व के जीवों (पादप व जंतुओं) की आधी प्रजातियाँ भी वनों के साथ-साथ विलुप्त हो चुकी रहेंगी। यानी स्थिति, कमोबेश, आज से 65 मिलियन वर्ष पूर्व सी होगी जबकि अन्य जीव प्रजातियों के साथ-साथ सारे **डायनासोर** अचानक विलुप्त हो गये थे!

यदि हम अभी भी न सँभले तो इस पृथ्वी से मानव सभ्यता के विनाश के लिए किसी परमाणुबम या अन्य अत्याधुनिक शस्त्रास्त्रों की ज़रूरत ही नहीं पड़ेगी। वन-विनाश की अपनी 'भस्मासुरी' प्रवृत्ति के कारण हम सब डायनासोरों की तरह, खुद अचानक विलुप्त हो जाएँगे।

सोचने की बात है कि वनों की अंधाधुंध कटाई के कारण सिमटते जा रहे वनों के फलस्वरूप इस संभावित विनाश लीला से बचाव का रास्ता क्या है? सामान्यतः इसका उत्तर पुनर्वनीकरण बताया जाता है, पर यह पूर्ण

समयोचित और **आर्थिक समाधान** नहीं है। वैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो प्राकृतिक विकास एक दीर्घकालीन जटिल प्रक्रिया है। प्रकृति का कोई भी काम हड़बड़ी में नहीं होता। सब कुछ अत्यंत धीरे-धीरे अपनी स्वाभाविक गति से होता रहता है। वनों को काटकर वहाँ पेड़ तो लगा सकते हैं, पर वन नहीं उगा सकते—क्योंकि किसी स्थल पर लगे **पेड़ों के समूह** को वन का रूप लेने में सैकड़ों या हज़ारों साल लग सकते हैं! ध्यान रहे कि **वनों का मतलब केवल छोटे-बड़े पेड़ों या बेतरतीब उगे झाड़-झंखाड़ों से ही नहीं है, वरन् पत्तियों, टहनियों आदि के गिरने-पड़ने, सूखने व सड़ने से बने ह्यूमस (Humus) में पैदा होने व पलने वाले असंख्य प्रकार के जीवाणुओं व कीड़े-मकौड़ों के अनोखे संसार से भी है।** जब हम अपने तात्कालिक 'लाभ' के लिए वनों को उजाड़कर मैदान में बदल देते हैं, तो उसी के साथ ये सब भी अचानक नष्ट हो जाते हैं, पर इनकी नयी दुनियाँ बसाने में प्रकृति को क्रमशः सैकड़ों साल तक अपने संचित शक्ति-स्रोतों को खर्चना पड़ता है। हम मानव शायद यह भूल गये हैं कि किसी के भरे-पूरे संसार को उजाड़ना तो आसान है, पर उसे फिर बसा देना अत्यंत मुश्किल! क्यों न हम इस सीख को पुनः याद करें और अभी तक बचे हुए वनों को ही बचाए रखने में अपनी पूरी ताकत लगा दें!!

ऐसा प्रयास प्राकृतिक विकास के वैज्ञानिक सिद्धांत के अनुरूप तो है ही, **आर्थिक दृष्टि से** भी ग्राह्य है—क्योंकि वनों को काटते समय हम अपने समय, श्रम तथा वित्त का निवेश (Investment) करते हैं और फिर उसके बदले वन लगाने के लिए भी अपना समय, श्रम और वित्त निवेशित करते हैं। यदि हम वनों की कटाई पर पाबंदी लगा सकें तो यह दुहरा व्यय बचेगा और इस बचत को हम किसी विकासपरक **उत्पादक** (Productive) परियोजना में लगा दें तो हमें अतिरिक्त लाभ भी मिलेगा! फिर, वनीकरण के बजाय वन संरक्षण पर ही बल क्यों न दिया जाय?

वनों की कटाई पर पूर्ण प्रतिबंध की माँग करना जितना आसान है उससे कहीं अधिक कठिन है उस माँग को मान लेना और उसे लागू कर पाना। वनों की कटाई पर पूर्ण प्रतिबंध की माँग को सिद्धांततः स्वीकार करने से पूर्व हमें—सरकार और जनता को—अपनी प्राथमिकताएँ बदलनी पड़ेंगी। लकड़ी का प्रयोग खाना पकाने, फर्नीचर बनाने व शहरी कार्यालयों में प्लाईवुड के अस्थाई पार्टीशन खड़े करने में ही मुख्यतः होता है। अतः सरकारी स्तर पर अपनी योजनाओं में जहाँ एक ओर हमें खाना बनाने के लिए वैकल्पिक ईंधन स्रोत उपलब्ध कराने पर विशेष बल देना पड़ेगा वहीं दूसरी ओर इस दिशा में वैज्ञानिक अनुसंधानों को केन्द्रित करना पड़ेगा। गोबर गैस, बायो गैस (जैव ऊर्जा), सौर ऊर्जा, मिट्टी के तेल तथा खाना पकाने की गैस की उपलब्धता सुनिश्चित करने के साथ-साथ इनके उपयोग को बढ़ावा देने तथा लकड़ी का प्रयोग कम करने के लिए व्यापक सुनियोजित प्रचार करना पड़ेगा। स्पष्टतः हमें योजनाओं की प्राथमिकताएँ बदलनी पड़ेंगी, विभिन्न मदों पर होने वाले खर्च को इस दिशा में मोड़ना पड़ेगा। खाना पकाने के क्षेत्र में, एक प्रकार से, **ईंधन क्रांति** लानी होगी। फर्नीचरों के संबंध में भी अपने दृष्टिकोण में व्यापक परिवर्तन करना पड़ेगा—लकड़ी से लोहे की ओर मुड़ना पड़ेगा। लोहे की उपलब्धता भी असीमित नहीं है, तथापि हमें यह तय करना पड़ेगा कि हमारे पर्यावरण को, यानी हमें, कम हानि किसमें है—लोहे के प्रयोग में या लकड़ी के प्रयोग में? कार्यालयों में प्लाईवुड लकड़ी के पार्टीशनों के बजाय क्या प्लास्टिक या अन्य सिंथेटिक पार्टीशनों का प्रयोग अव्यावहारिक होगा? उत्तर चाहे जो हो, लकड़ी का विकल्प तो हमें खोजना ही पड़ेगा।

समय बड़ा बलवान होता है। समय की माँग को ठुकराना प्रायः असंभव होता है। हमें वही करना पड़ता है जो समय चाहता है। आज समय की पुकार है कि पेड़ बचाये जायँ। हमारे स्वभाव में हमारे सोचने के ढँग में थोड़ा सा परिवर्तन बड़े काम का सिद्ध हो सकता है। अपने ही देश में कर्नाटक में किये गये एक अध्ययन से पता चला है कि एक ग्रामीण अपने पूरे जीवनकाल में खाना पकाने के लिए 600-1000 किग्रा लकड़ी जलाता है, पर जब वह खुद मरता है तो उसे जलाने के लिए 250-400 किग्रा लकड़ी लगती है! सोचिए, यदि हम

अपने शवों को जलाने के लिए विद्युत् शवदाह गृहों का प्रयोग करने लगें तो कितनी लकड़ी बच जाएगी ! यदि पाँच शवों को लकड़ी के बजाय विद्युत् शवदाह गृहों में जलाएँ तो दो व्यक्तियों के लिए पूरी ज़िंदगी खाना बनाने के लिए लकड़ी बच जाय !! कितनी बड़ी बचत है यह और कितना आसान है बचाना, पर क्या हम इस दृष्टि से सोचना सीख पाएँगे ?

वनों के बाद, आइए, पर्यावरण के दूसरे महत्वपूर्ण पक्ष **ऊर्जा** के आर्थिक पहलुओं को समझने की चेष्टा करें। ऊर्जा जीवमात्र के लिए इतनी महत्वपूर्ण है कि उसके बिना जीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। हमारा उठना-बैठना, चलना-फिरना, सोचना-समझना सब कुछ ऊर्जा के बिना असंभव है। इन शारीरिक कार्यों के लिए ऊर्जा हमें अपने भोज्य पदार्थों से मिलती है और ये भोज्य पदार्थ, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, पेड़-पौधों के जरिए भूमि से प्राप्त होते हैं। ऊर्जा की इन प्राथमिक आवश्यकताओं से कई गुनी अधिक ऊर्जा हम अन्य जीवनोपयोगी आवश्यकताओं के लिए ख़र्च करते हैं। स्वस्थ और आकर्षक दिखने के लिए साबुन, इत्र, तेल के साथ-साथ वस्त्रों के उत्पादन में; गर्मी-ठंडक से राहत के लिए पंखे, कूलर व वातानुकूलन संयंत्रों के उपयोग में; अंधकार मिटाने के लिए विद्युत् के प्रयोग में; परिवहन सुविधाओं के विस्तार में या फिर व्यंजन बनाने व मनोरंजन के बहाने हम ऊर्जा का ही तो उपयोग करते हैं। खेती के काम में हम बैलों का उपयोग करें या ट्रैक्टर का, ऊर्जा तो खर्च होती ही है ! पर सवाल यह है कि इन सबका उपयोग हम कितने 'विवेक' से करते हैं !!

ऊर्जा के प्रयोग में **'विवेक'** के उपयोग से तात्पर्य इतना ही है कि हमारी कार्यप्रणाली इतनी दक्ष हो कि कम से कम ऊर्जा के उपयोग से अधिकाधिक काम पूरे हो सकें। पर **दक्षता** की कसौटी क्या है ? कितनी ऊर्जा का प्रयोग 'कम से कम' माना जाएगा और कितना काम 'अधिक से अधिक' कहा जाएगा ? इन प्रश्नों का उत्तर बड़ा जटिल है क्योंकि 'कम' व 'अधिक' जैसे मापक स्वयं में निरपेक्ष न होकर **सापेक्ष अवधारणा** के द्योतक हैं। आज हम वैज्ञानिक औद्योगिक प्रगति के जिस स्तर पर हैं उस दृष्टि से किसी काम को करने में व्यय की जाने वाली ऊर्जा, संबंधित क्षेत्र की प्रौद्योगिकी में सुधार आने से, संभव है 10 वर्षों बाद 'अधिक' लगने लगे ! पर सामान्यतः जब हम 'कम' या 'अधिक' की चर्चा करते है तो इस प्रकार की जटिलता से बचने के लिए समय को स्थिर मान लेते हैं यानी 'वर्तमान' को ठहरा हुआ मानकर ही अपने विश्लेषण करते हैं। स्वभावतः ऐसे विश्लेषणों में स्थैतिक विश्लेषणों की कमियाँ रहेंगी—हमें अपने भविष्य का सही खाका नहीं पता चल सकेगा। अतः प्रावैगिक विश्लेषण पद्धति का सहारा लेते हुए अपनी विकास परियोजनाओं का पर्यावरणीय संतुलन की दृष्टि से मूल्यांकन करना होगा।

दरअसल, जब हम ऊर्जा संरक्षण की दृष्टि से **ऊर्जा-दक्षता** का सवाल, पर्यावरण के व्यापक परिप्रेक्ष्य में उठाते हैं तो हम मानव को एक विवेकशील प्राणी मानकर चलते हैं—जो अपनी 'विवेकशीलता' के कारण सदैव ही अपने व्यापक हितों का ध्यान रखता हो, अपनी प्राथमिकताओं का सही चयन करता हो और परिस्थितियों के गुणावगुण पर विचार कर निष्पक्ष निर्णय लेता हो। पर हाल के वर्षों में मानव ने अपने पर्यावरण के साथ जिस तरह खिलवाड़ किया है, उसे देखकर 'मानवीय विवेक' संदेहास्पद हो गया है—क्योंकि मानव ने समाज के वृहत्तर हितों के बजाय व्यक्तिगत हितों को ही वरीयता दी है और अपने व्यक्तिगत हितों को भी केवल तात्कालिक आर्थिक हितों तक सीमित कर लिया है। उसके कारनामे उसकी सीमाओं के द्योतक हैं, पर ये सीमाएँ संभवतः उसके विवेक की नहीं, अज्ञान की हैं। अगर मनुष्य को अपनी इन विध्वंसक कार्यवाहियों के परिणाम का ज्ञान ही नहीं है, तो उसके निर्णयों में 'विवेक' ढूँढ़ना शायद निराशाजनक निष्कर्षों का पोषक होगा ! वस्तुतः मानव में यह 'विवेकशीलता' वैज्ञानिक-पर्यावरणीय चेतना के रूप में तो वांछित है ही, आर्थिक विवेकशीलता भी महत्वपूर्ण है। मानव यदि **सही और व्यापक अर्थों में** आर्थिक विवेकशीलता का परिचय दे तो उसके निर्णय प्रायः पर्यावरणीय चेतना को पुष्ट करने वाले ही होंगे।

उदाहरण के लिए नर्मदा घाटी व टेहरी बाँध जैसी

विभिन्न परियोजनाओं के संदर्भ में यदि **दीर्घकालीन** लागत-लाभ विश्लेषण किये जायँ तो इन परियोजनाओं को दी गयी सरकारी मंजूरी रद्द करनी पड़ेगी। पर दुर्भाग्य से अभी भी अर्थशास्त्र में **दीर्घकाल** से तात्पर्य सामान्यतः 'बीस साल' होता है! लाखों वर्ष पुरानी मानव सभ्यता व करोड़ों वर्ष पुराने जैव-इतिहास में यह **बीस वर्षीय दीर्घकाल** ही हमारे आर्थिक विवेक को भ्रामक बना देता है। इसी प्रकार विकास के अर्थशास्त्र में हमें **विकास** की परिभाषा को युक्तिसंगत बनाना होगा। प्रतिव्यक्ति उत्पादन और प्रतिव्यक्ति ऊर्जा खपत जैसी अवधारणाओं को विकास का सूचक मानने के बजाय प्रति व्यक्ति उत्पादन दक्षता और प्रति व्यक्ति ऊर्जा-दक्षता जैसे मानक अपनाने पड़ेंगे। हमें अमेरिका की कृषि को विश्व की सर्वाधिक दक्ष कृषि प्रणाली कहने से पूर्व यह सोचना पड़ेगा कि प्रति व्यक्ति या प्रति एकड़ उत्पादन अधिक होना 'दक्षता' का सही मापक नहीं है! **दक्षता** का सही मापक प्रति इकाई उत्पादन में व्यय की गई ऊर्जा होनी चाहिए। पर विकसित देशों ने 'विकास' और 'दक्षता' की त्रुटिपूर्ण व भ्रामक परिभाषाएँ देकर मानव सभ्यता को आज विनाश के कगार पर ला खड़ा किया है। जरा सोचिए कि गरीब देशों का किसान 1 कैलोरी ऊर्जा खर्च करके 10 कैलोरी ऊर्जा वाला खाद्यान्न पैदा कर लेता है जबकि अमेरिकावासी 1 कैलोरी वाले खाद्यान्न के लिए 10 कैलोरी ऊर्जा खर्च करता है। इतनी दक्ष है अमेरिका की कृषि व्यवस्था! एक उदाहरण और अमेरिका में विश्व की 6% जनसंख्या रहती है पर विश्व की 33% ऊर्जा उपभोग करती है। इस अमेरिका में केवल वायुशीतन (एयर कंडीशनिंग) के लिए तीन महीने में उतनी ऊर्जा खर्च होती है जितनी कि चारगुनी जनसंख्या वाला चीन पूरे साल भर में खर्च करता है! शायद पाठक सोचते हों कि ऐसा अमेरिका में रहन-सहन के उच्चस्तर के कारण है, पर यह भी भ्रम है—क्योंकि अमेरिका के ही समान जीवन स्तर वाले देश स्वीडन और प० जर्मनी, अमेरिका की तुलना में केवल आधी ऊर्जा खर्च करते हैं!

क्यों है ऐसा? ऐसा शायद इसलिए है कि अमेरिका अपने को विश्वशक्ति समझता है। वह चाहे जो करे, कोई उँगली नहीं उठा सकता। उसके पास इफ़रात मुद्रा संसाधन हैं, जिनके मनचाहे प्रयोग से वह विश्वबाज़ार से खनिज तेल व ऊर्जा के अन्य संसाधन खरीद सकता है या फिर प्रौद्योगिकी उन्नत करके **सौर व समुद्री** ऊर्जा का अंधाधुंध दोहन कर सकता है। वह ऊर्जा का **अपव्यय** कर सकता हैं क्योंकि अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किसी से 'भीख' नहीं माँगता। 'बिगड़े रईस' को इससे क्या वास्ता कि उसके क़दम समाज को किस अंधे कूप में ढकेल रहे हैं। अमेरिकावासी को तो जब प्रोटीन की ज़रूरत होती हैं तब खेतों में सोयाबीन उगाकर सूअर-घोड़ों को खिलाया जाता है और फिर उन्हें खाकर अपनी प्रोटीन की ज़रूरत पूरी की जाती है। उन्हें इससे मतलब नहीं कि इस दुहरी प्रक्रिया में कितनी ऊर्जा खर्च हो गयी।

ऊर्जा का यह अपव्यय रोकना होगा। अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र व विकास के अर्थशास्त्र में इन पहलुओं पर विचार होना चाहिए। संयुक्त राष्ट्र संघ के मंच पर एवं **उत्तर-दक्षिण संवाद** में 'विकास', 'उत्पादकता' तथा 'ऊर्जा-दक्षता' जैसे महत्वपूर्ण मसलों पर गंभीर चर्चा होनी चाहिए। एक नए अर्थशास्त्र का जन्म होना चाहिए—पर्यावरणवादी विकास के अर्थशास्त्र का (Economics of Environmental Development)। यह अर्थशास्त्र **विनाश के लिए विकास** को रोकेगा। विकास के नाम पर विनाश की इस प्रक्रिया ने हमारी आँखों पर एक सुनहरा आवरण डाल रखा है—दूध की शक्ल में मीठा ज़हर पी रहे हैं हम। हमें जगना पड़ेगा और रचना पड़ेगा एक नया अर्थशास्त्र—ऐसा अर्थशास्त्र जो हमें 'विकास' की सही परिभाषा सिखाए, 'विनाश' से बचाए और 'विवेकी' बनाए। महाशक्तियों द्वारा परमाणु हथियारों पर पाबंदी हेतु वार्तालाप एक शुभ संकेत है, पर उससे भी महत्वपूर्ण है इस नये आर्थिक दृष्टिकोण का विकास। विश्व भर के पर्यावरणविदों, अर्थशास्त्रियों, बुद्धिजीवियों एवं राजनेताओं को 'सुरक्षित विकास' के लिए अपने वर्तमान दृष्टिकोण में क्रांतिकारी परिवर्तनों के लिए एकजुट होकर प्रयास करना चाहिए। हमें यह

सुनिश्चित करना पड़ेगा कि हमारा विकास, पर्यावरण के नाजुक संतुलन से अनावश्यक छेड़छाड़ न करे और प्रदूषण का पर्याय न बने—बल्कि एक ऐसा तंत्र विकसित हो, जिसमें हमारी विकासपरक गतिविधियाँ पर्यावरणीय संतुलन को पुष्ट बनाती हों।

दरअसल, अर्थशास्त्र के प्रचलित विषय क्षेत्र में पर्यावरणीय असंतुलन और प्रदूषण के प्रभावों का अध्ययन शामिल ही नहीं रहा है। अतः अर्थशास्त्र अपने वर्तमान रूप में, अधूरा सा लगने लगा है। हम अपनी वर्तमान उत्पादन व्यवस्था में केवल उत्पाद की 'लागत' जोड़ते हैं, उस उत्पाद के कारण पर्यावरण पर पड़ने वाले प्रभावों की चिंता नहीं करते। हम और हमारा वर्तमान अर्थशास्त्र, इन उत्पादों के द्वारा, पृथ्वी, वायु, जल व अन्य जीवों पर—जो कि हम सभी के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण हैं, पड़ने वाले प्रभावों का 'मूल्य' नहीं लगाते। ये प्रभाव अल्पकालिक भी होते हैं और दीर्घकालिक भी। इन प्रभावों का 'मूल्य' निर्धारित करना अत्यंत कठिन है, क्योंकि ये प्रभाव प्रायः मानसिक भी होते हैं तथा परिस्थितिवश परिवर्तनीय भी जान पड़ते हैं। उदाहरण के लिए यदि सल्फर डाइऑक्साइड के कारण सैकड़ों वर्गमील, ज़मीन पथरीली हो जाय तो उसका 'मूल्य' निर्धारित करते वक्त हमें उपरोक्त बातें ध्यान में रखनी पड़ेंगी। यदि वह भूमि मानवोपयोगी रही हो तो उसका 'मूल्य' भी उसी अनुपात में अधिक लगाना पड़ेगा, अन्यथा कम।

इस परिप्रेक्ष्य में नये **पर्यावरणवादी अर्थशास्त्र** के दो प्रमुख आधार हो सकते हैं। पहला, मानवीय एवं परिस्थितिकीय पर्यावरण पर प्रदूषण की 'लागत' के मूल्यांकन की व्यापक प्रणाली विकसित करना तथा दूसरा, अपने विश्लेषणों में दीर्घकालीन कारकों (factors) को ध्यान में रखते हुए नई आर्थिक प्रणाली का विकास।

चूंकि अ-नवकरणीय (non-renewable) संसाधनों की पूर्ति सीमित है, अतः अपने वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति निर्धारित करते वक्त अपने सुदूर भविष्य का भी ध्यान रखना आवश्यक है। यदि हम पूरे विश्व की दृष्टि से देखें तो सर्वाधिक सुलभ तत्व हैं—सिलिकॉन, ऑक्सीजन, लोहा और ऐलुमीनियम। इनकी तुलना में अन्य सारे तत्व तो 'दुर्लभ' तत्वों की श्रेणी में ही गिने जाने चाहिए। अतः पृथ्वी द्वारा इनकी पूर्ति अत्यंत सीमित है। विशेषतः इस कारण कि पृथ्वी स्वयं सीमित और निश्चित है और इसमें भी विभिन्न तत्व कुछ विशिष्ट स्थानों पर ही केन्द्रित पाये जाते हैं। यद्यपि प्रौद्योगिकी में सुधार के जरिए इन 'तत्वों' के नये स्रोत खोजे जा सकते हैं या कम सान्द्रता वाले खनिजों से उनका निष्कर्षण लाभदायक बनाया जा सकता है, पर प्रौद्योगिकी में सुधार की भी सीमाएँ हैं।

हमें इस सत्य को भी ध्यान में रखना है कि नयी और सुधरी हुई 'प्रदूषणमुक्त और समस्यारहित' प्रौद्योगिकी की कल्पना एक सपना है। अतः हमें उत्पादन-अर्थशास्त्र (Production economics) की मूल अवधारणों को ही बदलने की तरफ ध्यान केन्द्रित करना पड़ेगा तथा लागत-लाभ विश्लेषण की विधियों को और व्यापक बनाना पड़ेगा। हमें 'संवृद्धि' (growth) के आर्थिक दर्शन पर भी पुनर्विचार करना पड़ेगा, क्योंकि हमारा समूचा आर्थिक तंत्र **दो त्रुटिपूर्ण अवधारणाओं** पर निर्मित है। पहली यह कि, हमारे प्राकृतिक संसाधन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं और दूसरी कि, सकल राष्ट्रीय उत्पाद (G.N.P.) में वृद्धि संसाधनों (और ऊर्जा) की बढ़ती उपभोग दर से परिलक्षित होती है।

इन भ्रामक अवधारणाओं के स्थल पर नयी अवधारणाओं का विकास करके, उन्हें मान्यता दिलाना ही—नये पर्यावरणवादी अर्थशास्त्र का उद्देश्य है। इस नये अर्थशास्त्र में किसी संसाधन (resource) के उपभोग को अधिकतम करने के लिए, पुनःचक्रण (Recycling) का सहारा लिया जायगा, जिसके फलस्वरूप संसाधन के मूल स्रोत से प्रतिवर्ष केवल उतना ही लिया जायगा जितना कि घर्षण-क्षरण आदि के कारण अपरिहार्य हो जाता है। यद्यपि कि पुनःचक्रण सभी स्थितियों में संभव नहीं है, तथापि अधिकांश स्थितियों में इसका उपयोग हमारी अनेक समस्याएँ आसान बना देगा।

अर्थशास्त्र के विषय क्षेत्र में पर्यावरण केन्द्रित नयी अवधारणाओं के विकास के साथ-साथ हमें 'व्यक्ति' और उसकी 'स्वतंत्रता' को भी नये सिरे से परिभाषित करना

पड़ेगा। चूँकि हमारी 'स्वतंत्रता' मूलतः वैज्ञानिक प्रौद्योगिक प्रगति के जरिए मानव की प्रकृति पर हुई 'विजय' के फलस्वरूप विकसित अवधारणा है। इस 'विजय' के कारण मानव ने प्रकृति और प्रकृति के अन्य अंगों से स्वयं को उत्कृष्ट समझना शुरू कर दिया है। मानव अब प्रकृति का 'दास' नहीं रहा, 'स्वतंत्र' हो गया ! अभी तक इस विजय का केवल स्वाद ही हमने चखा है, उसका मूल्य हमने नहीं चुकाया है। अपनी विजय के मद में हमने प्रकृति को दासी मान लिया और उसके सारे संसाधन विशेषकर वन, हमने 'मुफ्त उपहार' मानकर निःसंकोच अपना लिये। इनके दोहन और उपयोग पर सामान्यतः कोई रोक-टोक नहीं रही, जिस व्यक्ति की जितनी सामर्थ्य और क्षमता थी, उसने उनका उतना उपयोग किया। पर कोई भी संसाधन-स्रोत किसी एक पीढ़ी के केवल कुछ व्यक्तियों की निजी संपत्ति नहीं है, यह हम सब की—जीवन मात्र की—साझी विरासत है। हम इसके ट्रस्टी (न्यासी) हैं, स्वामी नहीं। अतः इनके उपयोग व उपभोग संबंधी निर्णय करते समय हमें अगली असंख्य पीढ़ियों का भी ध्यान रखना है। इसलिए कृषि-भूमि के विकास, नये शहरों के निर्माण, वनों के कटाव, मत्स्याखेट आदि से संबंधित सारे निर्णय अल्पकालीन आवश्यकताओं और वैयक्तिक 'स्वतंत्रता' के भ्रामक नारे के तहत न लेकर दीर्घकालीन परिप्रेक्ष्य में ही लेना उचित होगा।

काम कठिन है, नया और जटिल है, पर खुद हमारे अपने अस्तित्व के लिए जरूरी है। 'नवीन' का प्रतिरोध 'प्राचीन' का स्वभाव है, अतः संघर्ष अनिवार्य एवं स्वाभाविक है। पुरानी मान्यताओं को ध्वस्त कर नयी मान्यताओं का प्रतिष्ठापन होना है। ऐसे शुभ कार्य की शुरूआत जितनी जल्दी हो, उतना ही अच्छा ! □□

अतिसूक्ष्म शल्यचिकित्सा

श्याम सरन 'विक्रम'

[कहते हैं प्लास्टिक सर्जरी मूलत: भारत की ही देन है। आचार्य सुश्रुत इस चिकित्सा विज्ञान के प्रणेता माने जाते हैं। एकबार उनके पास एक ऐसा व्यक्ति आया जिसकी नाक किसी दुर्घटना में कट गई थी। सुश्रुत ने पत्ते का दोना सा बनाया और औषधि के साथ उसकी नाक से चिपका दिया। आज तो वैज्ञानिकों ने अतिसूक्ष्म शल्य-चिकित्सा की अनेक विधियाँ आविष्कृत करली हैं, जिनकी सहायता से कटे अंगों को पुन: जोड़ सकना संभव हो चुका है। अमेरिका, जापान, चीन आदि देशों की तुलना में अतिसूक्ष्म शल्य-चिकित्सा के क्षेत्र में भारत भी पीछे नहीं है। मद्रास स्थिति राजकीय स्टैनली अस्पताल के 'इंस्टीट्यूट फॉर रिसर्च एण्ड रिहैबिलिटेशन ऑव हैण्ड एण्ड डिपार्टमेंट ऑव प्लास्टिक सर्जरी' में इस चिकित्सा की सुविधा उपलब्ध है।

'राजकीय स्टैनली अस्पताल, मद्रास' के अतिरिक्त 'क्रिश्चियन मेडिकल कॉलेज, लुधियाना' में भी माइक्रोसर्जरी द्वारा लोगों के कटे अंगों को जोड़कर उन्हें पुन: नया जीवन दिया जा रहा है।

एक औद्योगिक दुर्घटना में एक युवक के बायें हाथ की हथेली सहित आधी बाँह कट चुकी थी। दुर्घटना के 6 घंटे के अंदर अस्पताल में पहुँच जाने पर 14 घंटे के ऑपरेशन के बाद उसकी बाँह जोड़ दी गई। इसी प्रकार अन्य एक व्यक्ति, अपने दाहिने हाथ का अंगूठा जिसे वह एक वर्ष पूर्व एक दुर्घटना में गँवा बैठा था, इस चिकित्सा पद्धति के द्वारा पुन: पा सका। राजकीय स्टैनली अस्पताल, मद्रास की ये और इसी प्रकार की अनेक उपलब्धियाँ माइक्रोसर्जरी के क्षेत्र में भारतीय चिकित्सकों की सफलता की कहानी कहती हैं।

वैसे सफल इलाज के लिए इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि कटे अलग हुए अंग को बर्फ के साथ पालीथीन की थैली में रखकर यथाशीघ्र दुर्घटनाग्रस्त व्यक्ति के साथ अस्पताल पहुँचा दिया जाये।

पाठक अधिक जानकारी के लिए डॉ० आर वेंकटस्वामी, जो स्टैनली अस्पताल, मद्रास के प्लास्टिक सर्जरी विभाग के अध्यक्ष हैं, से सम्पर्क कर सकते हैं।

—सम्पादक]

पड़ाव-दर-पड़ाव शल्यचिकित्सा भी कैसे-कैसे रोमांचक मुकामों से गुजरी है! मोटी-झोटी चीरफाड़...याने बढ़ई की आरी, बसूले से हाथ-पाँव काट कर फेंक दिया: तनिक गहन-गंभीर शल्यक्रिया मानो दिल-गुर्दे जैसे भीतरी पुराने अंगों को निकालकर नये पुर्जे की भाँति फिट कर दिये। और सूक्ष्मता के दायरे में आये तो नेत्रों की अथवा मस्तिष्क की बारीक और नाजुक शल्य-करिश्माकारी।

हमारे देश के औसत जानकारीयुक्त व्यक्ति के लिये इससे बढ़कर और कोई भी नया कदम एक नये आश्चर्य से कम न होगा......ऐसा आश्चर्य, मानो सिर के बाल को चीर कर रख दिया हो या ऐसी सूक्ष्मतम कारीगरी जो घड़ीसाज की भाँति एक सूक्ष्मदर्शी के तले ही संभव हो, हमारी आज की बात इसी पृष्ठभूमि पर आधारित है। हमारे लिये यह बात नयी हो सकती है परंतु जापान, जर्मनी, अमेरिका आदि में तो इसका प्रादुर्भाव सन् 1960 में हो चुका था और 1970 से तो यह अपने प्रगति-प्रवास पर अनवरत अग्रसर है।

बात कॅन्टकी (अमेरिका) के एक बढ़ई की हो जो स्वचालित औजार से हाथ की तीन अंगुलियाँ गवाँ बैठा था अथवा इलिनॉय के प्रो० माइकल बोगाज की हो जिनके मस्तिष्क की एक शिरा ने रक्तावरोध के फलस्वरूप लगभग मृत्यु सरीखे झटके से जीवन में अँधेरा कर दिया था। दोनों उदाहरणों में अति सूक्ष्म शल्यक्रिया ने एक को अंगुली बख्श दी तो दूसरे की रक्तवाहिनी को अवरोध मुक्त करके उसे नवजीवन प्रदान कर दिया। स्पष्ट है, ऐसी चमत्कारी शल्यक्रिया से पहले तक इन कष्टों से मुक्ति का कोई मार्ग नहीं था। कॅन्टकी वाले बढ़ई की कट कर अलग गिरी तीनों अँगुलियों को देखकर वहाँ की लुईविले मेडिकल स्कूल के डॉ० जॉसेफ कूज ने एक बार तो सोचा कि शायद केस ला-इलाज है परंतु ज़ोर लगाकर गौर किया तो एक अँगुली पुन:रोपण की संभावना के दायरे में नज़र आयी। बस, बढ़ई की बिगड़ी किस्मत सँवर

68 असिस्टेन्ट लेन, बिरलानगर, ग्वालियर—474004 (म० प्र०)

गयी। इसी प्रकार इलिनॉय में जब प्रो० बोगाज को अवरुद्ध मस्तिष्क शिरा नये ऑक्सीजन के अभाव में अर्द्ध प्राणघातक झटका दे बैठी तो वहाँ के डॉ० लुई सालाजार ने सूक्ष्मदर्शी के लेन्स तले अत्यन्त सूक्ष्म औजारों से रक्त-वाहिनी का अवरोध निकालकर, सामान्य नेत्रों से नज़र न आने वाले सूक्ष्म तंतु से सिलाई कर दी और प्रोफेसर को नया जीवन मिल गया ! अधिक प्रचलन में तो अब यह भी संभव हो चला है कि आज नर-नसबंद करा लीजिये और कुछ समय बाद संतानेच्छा पुनर्जागृत होने पर नसों का पुन:संयोजन करा लीजिये।

जैसे भी हैं, ये सारे विषय सूक्ष्म शल्यचिकित्सा के क्षेत्रान्तर्गत हैं। इस क्षेत्र में अन्यों की अपेक्षा जर्मनी के डा० वर्नर शुल्ज और डा० बन्फे की सेवायें उल्लेखनीय हैं। यह भी कहना अतिशयोक्ति न होगा कि इस नयी विधा के सूत्रधार ही ये दोनों हैं। इस चिकित्सा में प्रमुख भूमिका तो विशेष प्रकार के सूक्ष्मदर्शी और विलक्षण सूक्ष्म यंत्रों, औजारों, खास कर सुई और नंगी आँखों से नजर न आने वाले तंतुओं की रहती है। दो सर्जन एक साथ काम कर सकें ऐसे दो नेत्रकलेन्सयुक्त सूक्ष्मदर्शी बनाने में कुछ अमेरिकी और ज़ांयस नामक जर्मन कंपनी प्रवर्त्तक मानी जाती हैं।

ऐसे नवनिर्मित सूक्ष्मदर्शी के जो पुर्जे दोनों हाथ घिरे रहने के कारण चलाये नहीं जा सकते उन्हें पद-चालित रखा जाता है। साथ ही एक अतिरिक्त लेन्स ऐसा रहता है जो शल्यक्रियागत स्थलविशेष को किसी भी अगम्य कोण से चिकित्सक को दर्शा सकता है।

इतने पर भी जर्मन और अमेरिकी चिकित्सक यह देखकर आश्चर्यविमुग्ध हैं कि उनसे भी पूर्व चीन का चिकित्सक जगत् इस क्षेत्र में अधिक पारंगत है। वहाँ तो ऐसे अनगिनत चिकित्सा केन्द्रों का जाल फैला हुआ है जिनसे अधिक नहीं तो बीस करोड़ जनता लाभ उठा रही है। वहाँ के चिकित्सक तो मानो खुला निमंत्रण दे रहे हैं कि आपको सूक्ष्म शल्यचिकित्सा करानी हो तो पश्चिम का लोभ छोड़कर आप चीन में चले आइये।

कटी-फटी अंगुलियों के पुन:रोपण से भी कहीं अधिक विलक्षण है मस्तिष्क के तंतुओं की शल्यक्रिया। लासएनजेलस (द० केलिफोर्निया) के न्यूरोसर्जरी विभागाध्यक्ष डॉ० थियोडोर कुर्ज़ की कार्य कीर्ति इस क्षेत्र में उल्लेखनीय है। इनके प्रयत्नों से मस्तिष्क-शोथ जनित मृत्यु 97% से 85% तक घटायी जा सकी है। आगे प्रयत्न जारी है।

डा० बन्के के कथनानुसार सूक्ष्म शल्यचिकित्सा में अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा प्लास्टिक सर्जरी में सेवाओं की सर्वाधिक संभावनायें हैं।

यह विधा जितनी चमत्कारिक है, उतनी ही श्रम और कष्ट साध्य है—इसमें पारंगत होना। मस्तिष्क की शल्यक्रिया कहीं अधिक जटिल हुयी तो शल्यचिकित्सक और उसके सहायक दल को 14-15 घंटे खड़े पाँव रहना पड़ता है। उस स्थिति में निद्रा तथा थकावट पर पूर्ण नियंत्रण रखने के लिये मद्यपान तथा नशीले पेय से सर्वथा परहेज रखना और खानपान भी अपेक्षाकृत कम मात्रा में तथा संतुलित रखना पड़ता है। इन जटिलताओं को देखते हुए कोई चिकित्सक अपना कार्य क्षेत्र बदलने को अर्थात् सूक्ष्म से हटकर स्थूल शल्यक्रिया में सीमाबद्ध होने को लालायित भले ही हो जाये परंतु अपने मन में तो वह मानता ही है कि जीवन रक्षक सेवाओं के श्रेय की प्राप्ति सूक्ष्म शल्यचिकित्सा में अधिकतम निहित है। □□

सेरेमिक पदार्थों में अतिचालकता

डॉ० रामचरण मेहरोत्रा एवं राजेन्द्र कुमार मेहरोत्रा

अतिचालकता का महत्व

विज्ञान तथा तकनीकी के क्षेत्र में इधर इतनी शीघ्रता से अप्रत्याशित गवेषणाएँ और प्रगति हो रही है कि इधर कुछ वर्षों से किसी अनूठे अनुसंधान से भी कोई विशेष आश्चर्य नहीं होता। परन्तु साधारण तापक्रम पर किसी पदार्थ में अवरोध-रहित विद्युत्-प्रवाह की प्रत्यक्ष सम्भावना से वैज्ञानिक जगत् में विशेष उत्तेजना की लहर-सी फैल गई है। अधिक कौतूहल की बात तो यह है कि यह अवरोधरहित प्रवाह या अतिचालकता 'सेरेमिक' (मृत्तिका) पदार्थों में पायी गयी है जो अभी तक अचालक माने जाते थे अर्थात् जो विद्युत्-प्रवाह में विशेष अवरोह प्रदर्शित करते थे। इस खोज के महत्व को इसी से आँका जा सकता है कि इस क्षेत्र में अभी तक 9 वैज्ञानिकों को 'नोबेल पुरस्कार' से सम्मानित किया जा चुका है। ऐसा क्यों है ?

वास्तव में अतिचालक पदार्थों की खोज द्वारा अनेक महत्वपूर्ण क्षेत्रों में क्रांतिकारी उपलब्धियों की आशा बँधी है। इन पदार्थों के उपयोग द्वारा कम्प्यूटरों की गति, घर्षणरहित अत्यधिक तेज़ यातायातीय साधन, आकाशगामिता (levitation), चिकित्सा, अनेक वैज्ञानिक उपकरणों एवं ऊर्जा संरक्षण में अभूतपूर्व सफलता मिलने की सम्भावनाएँ स्पष्ट हैं। **साथ ही इनसे महानगरों में प्रदूषण कम करने में भी सहायता मिलेगी।** बिजली को एक स्थान से दूसरे स्थान तक स्थानान्तरित करने में होने वाली क्षति को अतिचालक तारों के प्रयोग द्वारा बहुत कम किया जा सकेगा, अतएव इस प्रकार धन की भी बचत होगी। अतिचालक चुम्बकों के प्रयोग से भौतिक अनुसंधानों के अत्यन्त महत्वपूर्ण उपकरण जैसे कण गतिवर्द्धकों (Particle accelerators) के बनाने की लागत कम हो जायेगी। अतिचालक चुम्बकों की सहायता से वैद्युत्चालित सुपरफास्ट रेलगाड़ियों द्वारा, अधिक तेज़, सुरक्षित एवं सस्ती यात्रा की जा सकेगी। इस प्रकार की सुपरफास्ट रेलगाड़ियों का उपयोग जापान एवं पश्चिमी जर्मनी में किया भी जा चुका है। इसी प्रकार अनेक आधुनिक मँहगे चिकित्सा सम्बन्धी उपकरणों की कीमत को बहुत कम किया जा सकेगा जिससे कि हर वर्ग के लोगों तक इन सुविधाओं का लाभ पहुँचाया जा सकेगा।

अतिचालकता की गवेषणा

बहुत निम्न तापक्रम अर्थात् 4 K (हीलियम द्रव) पर पारे में अतिचालकता की गवेषणा इस शताब्दी के आरम्भ में **ओनेस** द्वारा की जा चुकी थी। उसके बाद साधारण तापक्रमों पर इस गुण को प्राप्त करने के सतत् प्रयास होते रहे हैं परन्तु इस दिशा में ठोस सफलता अभी पिछले वर्ष (सन् 1987) ही मिलती प्रतीत हुई है। इस तथ्य का आभास इस बात से मिलता है कि 16 से 20 मार्च, 1987 को न्यूयार्क में होने वाली 'अमेरिकन फ़िज़िकल सोसायटी' की वार्षिक बैठक में इस विषय पर विश्व भर के वैज्ञानिकों ने अपार उत्साह दिखाया। उसके बाद ही पिछले वर्ष से अनेक प्रतिष्ठित वैज्ञानिक पत्रिकाओं में इस विषय पर महत्वपूर्ण लेखों की धारा सी बह निकली है। यह भी उल्लेखनीय है कि इस क्षेत्र में भारत जैसे विकासशील देश के वैज्ञानिकों का भी योगदान सराहनीय है। इस सन्दर्भ में दिल्ली की 'राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला', बम्बई स्थित 'टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ फण्डामेन्टल रिसर्च', एवं 'भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र', 'इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ साइंस', बैंगलोर तथा 'राष्ट्रीय रासायनिक प्रयोगशाला', पूना के नाम उल्लेखनीय हैं। राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला के **डॉ० नारलीकर** का दावा है कि उन्हें साधारण (कमरे के) तापक्रम पर अतिचालकता प्रावस्था प्राप्त करने में लगभग सफलता मिल चुकी है। इस विषय के महत्व को देखते हुए इस कार्य को प्रोत्साहन देने के लिए भारत सरकार ने भी एक उच्चस्तरीय समन्वय समिति का गठन किया है।

रसायन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर—302004

अतिचालकता की व्याख्या

अतिचालकता को समझने लिये इससे सम्बन्धित कुछ शब्दों की व्याख्या करना उपयुक्त होगा। साधारण पदार्थों को विद्युत्चालकता की दृष्टि से दो वर्गों में बाँटा जा सकता है—**सुचालक** तथा **कुचालक**। प्रथम वर्ग में साधारणत: धात्विक तत्व जैसे ताँबा, चाँदी, एल्यूमिनियम रखे जाते हैं और द्वितीय श्रेणी में लकड़ी एवं प्लास्टिक, काँच जैसे सेरेमिक पदार्थ। सुचालक पदार्थों में बिजली का प्रवाह स्वच्छन्द रूप से होता है परन्तु कुचालक पदार्थों में इसके प्रवाह में प्रतिरोध होता है। किसी पदार्थ की सुचालक प्रवृत्ति का अनुमान इस बात से लगाया जाता है कि उसके द्वारा विद्युत्धारा के स्वच्छन्द प्रवाह में कितना प्रतिरोधन होता है। यद्यपि आमतौर से बिजली को स्थानान्तरित करने के लिये उपयोग किये जाने वाले ताँबे
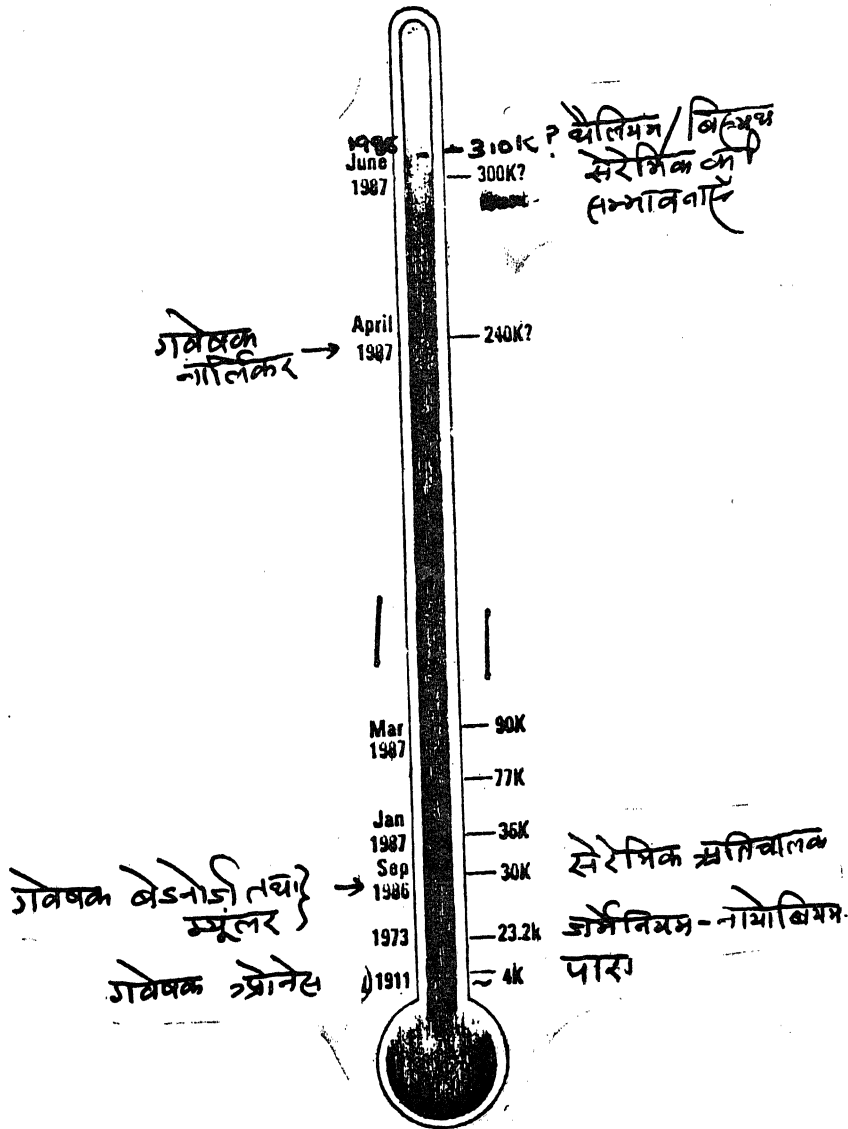
चित्र 1—1911 से 1988 के बीच उपलब्ध T_c के मानों में वृद्धि के मुख्य चरण

के तार में अवरोधक गुण बहुत कम होता है तथापि इसमें भी विद्युत्शक्ति की, ताप के रूप में कुछ क्षति तो होती ही है। इसके विपरीत जब कोई पदार्थ अतिचालक के रूप में व्यवहार करता है तो उसमें अवरोधन पूर्णतया समाप्त हो जाता है एवं विद्युत्धारा का प्रवाह बिना किसी ऊर्जा-क्षति के होता रहता है। ऐसा देखा गया है कि धातुओं की अवरोधक शक्ति तापक्रम के कम होने के साथ-साथ कम होती जाती है तथा केल्विन मापक्रम के परम शून्य, OK (निम्नतम तापक्रम) पर यह लगभग नगण्य हो जाती है।

परम शून्य अथवा OK पर कितना ठण्डा होता है! तापक्रम को इंगित करने के दो मापक्रम हैं। पहला सेल्सियस मापक्रम है। इसे दैनिक जीवन में भी उपयोग किया जाता है और इससे हम सब भली-भाँति परिचित हैं। इसके अनुसार जल का हिमांक एवं क्वथनांक क्रमश: 0° एवं 100° सेल्सियस हैं। वैज्ञानिक मतानुसार निम्नतम् प्राप्य तापक्रम—273°C होना चाहिये। इस तापक्रम पर ठण्डक का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि पृथ्वी धरातल पर ठण्डे से ठण्डे मौसम और स्थान पर निम्नतम नापा गया तापक्रम केवल–89 2°C ही है। अत्यधिक कम तापक्रमों अर्थात् शून्य अथवा इससे भी कम को ऋण रूप में लिखने की असुविधा को ध्यान में रखते हुये एक नये मापक्रम, केल्विन का सुझाव दिया गया। इसके अनुसार—273°C को परम शून्य OK कहा जाता है तथा इस मापक्रम में जल के हिमांक एवं क्वथनांक क्रमश: 273 एवं 373 K हैं। अब इस बात को बड़ी सुगमता से समझा जा सकता है कि किसी धातु में अतिचालक गुण प्राप्त करने के लिये इतने कम तापक्रम OK को प्राप्त करना कितना कठिन होगा। इसी कारण वैज्ञानिकों का सदा से ही यह प्रयास रहा है कि पदार्थों में निहित अतिचालकता गुण को साधारण वातावरण के तापक्रम पर प्राप्त किया जा सके; जिससे कि इस महत्वपूर्ण गुण का दैनिक जीवन में सहजता से उपयोग किया जा सके।
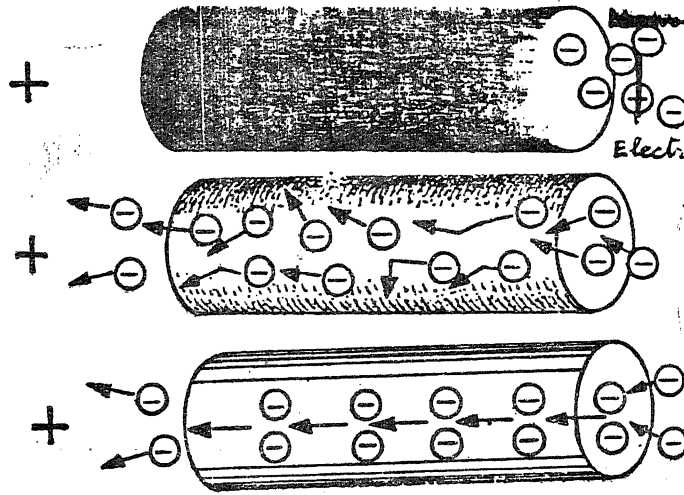
चित्र 2—क : बन्धित इलेक्ट्रॉनों वाले चालक
ख : इलेक्ट्रानों की स्वछन्दता से धातुओं की साधारण चालकता
ग : अतिचालक जिनमें इलेक्ट्रान युग्म बिना आपसी टकराव के व्यवस्थित रूप में प्रवाहित होते हैं

वह तापक्रम जिस पर कोई पदार्थ अतिचालक गुण प्राप्त कर लेता है उसका संक्रमण ताप Tc कहलाता है। उदाहरणार्थ पारे का Tc 4·2 K एवं टिन तथा सीसा के Tc, क्रमशः 3·8 एवं 7·3 K हैं। जैसा कि पहले बताया जा चुका है इन महत्वपूर्ण पदार्थों को वास्तविक उपयोग में लाने में सबसे बड़ी कठिनाई अत्यधिक निम्न तापक्रम प्राप्त करने की रही है। इस कठिनाई को दूर करने के लिये उच्च Tc वाले पदार्थों को प्राप्त करने की दिशा में किये गये प्रयास स्वाभाविक ही हैं। दुर्भाग्यवश इस क्षेत्र में सफलता की गति बहुत ही धीमी रही है। सन् 1940 एवं 1973 के बीच हुई गवेषणाओं के फलस्वरूप जिस उच्चतम् Tc (23 K), वाले चालक का पता चल सका वह जर्मेनियम-नायोबियम मिश्र धातु थी। इसके विपरीत वैज्ञानिक तो साधारण तापक्रम, लगभग 25-30°C या लगभग 300 K पर कार्य करने वाले अतिचालक का स्वप्न देख रहे हैं। प्रगति की गति इतनी धीमी होते हुए भी विश्व भर में उच्च Tc वाले पदार्थों को प्राप्त करने की एक होड़ सी लगी हुई है और पिछले वर्ष की गवेषणाओं से वह दिन दूर नहीं प्रतीत होता, जबकि वातावरण के तापक्रम पर कार्य करने वाले अतिचालक पदार्थों को दैनिक जीवन में उपयोग में लाया जा सकेगा।

सन् 1986 के अंत में अतिचालक पदार्थों को बनाने में एक नई दिशा मिली जबकि सर्वप्रथम "सेरेमिक" (मृत्तिका शिल्प, Ceramic) पदार्थों का उपयोग किया गया। इसी सन्दर्भ में "सेरेमिक" पदार्थों का संक्षिप्त परिचय देना उपयुक्त होगा। 'सेरेमिक' शब्द की उत्पत्ति यूनानी शब्द "केरामिकास" से हुई जिसका अर्थ है "पॉटरी" (चीनी मिट्टी के बर्तन)। सर्वविदित है कि बर्तन बनाने में आग द्वारा पकाने की महत्वपूर्ण प्रक्रिया होती है। सम्भवतः इसी कारण "सेरेमिक" की उत्पत्ति मूलतः संस्कृत शब्द "श्रापाके" से हुई हो। मोटे तौर पर "सेरेमिक" पदार्थ एक प्रकार से विभिन्न धात्विक ऑक्साइडों के मिश्रण होते हैं, जिनको उच्च तापक्रम पर गर्म करने की प्रक्रिया द्वारा प्राप्त किया जाता है, ठीक वैसे ही जैसे कि कुम्हार अपने मिट्टी के बर्तनों को आग में पका कर "घड़े" या "चीनी" के बर्तन आदि प्राप्त करता है। इन पदार्थों की सूची बहुत लम्बी है जिसमें काँच एवं विभिन्न प्रकार के यौगिक जैसे ऑक्साइड, सिलिकेट, कार्बाइड, नाइट्राइड, बोराइड इत्यादि शामिल हैं। दुर्भाग्यवश, सेरेमिक पदार्थ भंगुर (brittle) होते हैं। अर्थात् वह मामूली आघात लगने अथवा गिरने पर टूट जाते हैं तथा इनका यह गुण इसके उपयोग में बाधक है। परन्तु इस दोष पर नियंत्रण पाने में कुछ सीमा तक सफलता मिली है और अब इन पदार्थों को ऊर्जा अवरोधक, एवं इलेक्ट्रॉनिक पदार्थों के अतिरिक्त, विशिष्ट प्रकार के इंजनों, कर्तन औजारों, वायु, आकाश (levitation) एवं चिकित्सा क्षेत्रों में उपयोग किया जा रहा है। सबसे आश्चर्य में डालने वाली बात तो यह है कि इधर इन पदार्थों के उपयोग द्वारा उच्च Tc वाले अतिचालक पदार्थों को प्राप्त करने में भी सफलता मिल रही है। इन अप्रत्याशित सेरेमिक पदार्थों में अतिचालकता की खोज के लिये ही मूलर एवं बेडर्नोज को सन् 1987 के 'नोबेल पुरस्कार' द्वारा सम्मानित किया गया।

'सेरेमिक' पदार्थों की उपादेयता को देखते हुए इनको प्राप्त करने की दिशा में भारत सहित विश्व की अनेक प्रयोगशालाओं में पिछले दो दशकों से अनुसंधान कार्य हो रहे हैं। अतिचालक 'सेरेमिक' पदार्थ जो कि विभिन्न धात्विक ऑक्साइडों के मिश्रण हैं, को परम्परागत विधि के अनुसार, सिलिका को विभिन्न धात्विक ऑक्साइडों के साथ उच्च ताप पर गलाकर प्राप्त किया जाता है। परन्तु अभी हाल ही में, इन पदार्थों को, 'धात्विक ऐल्काक्साइडों' जैसे नये वर्ग के यौगिकों द्वारा सुगमता से प्राप्त करने की दिशा में एक नई आशा बँधी है। 'ऐल्काक्साइड' यौगिक जल से क्रिया करके 'जेल' (gel) रूप में धात्विक ऑक्साइड बनाते हैं एवं इस 'जेल' मिश्रण को कम तापक्रम पर ही गर्म करके सेरेमिक पदार्थों को मनचाहे आकार व रूप में प्राप्त किया जा सकता है। सौभाग्यवशः 'सेरेमिक' जैसे महत्वपूर्ण पदार्थों को प्राप्त करने में काम आने वाले 'धात्विक ऐल्काक्साइडों' पर उच्चकोटि का अनुसंधान कार्य भारतीय प्रयोगशालाओं में हुआ है। अतः राष्ट्रीय हित को देखते हुए उपरोक्त तकनीक द्वारा महत्वपूर्ण अतिचालक 'सेरेमिक' पदार्थों को बनाने में अधिक ध्यान दिया जाना सर्वथा उपयुक्त होगा, क्योंकि 'ऐल्काक्साइड' के क्षेत्र में अधिकाधिक ज्ञान हमारे देश में उपलब्ध है।

साधारणतः 'सेरेमिक' अतिचालक पदार्थों को Y $Ba_2Cu_3O_{7-x}$ सूत्र द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है। इसमें x का मान लगभग शून्य होने पर श्रेष्ठ गुणों वाला अतिचालक प्राप्त होता है तथा इसको 'सेरेमिक' अतिचालक 1-2-3 के नाम से भी जाना जाता है। पाठकों के लिये यह संतोष का विषय होगा कि इन महत्वपूर्ण पदार्थों को बहुत सुगमता से बनाया जा सकता है। अमेरिका जैसे समृद्ध देश में तो स्कूली बच्चे तक अपने पाठ्यक्रम में इन पदार्थों को साधारण प्रयोगशालाओं में बनाकर इनके गुणों का अध्ययन कर रहे हैं। उपरोक्त कथन, सबसे अधिक चर्चित 'सेरेमिक 1-2-3' नामक पदार्थ को बनाने की सरल विधि के विवरण से स्पष्ट हो जायेगा। इसके अंतर्गत, इट्रियम, बेरियम एवं ताँबा के ऑक्साइडों को 1 : 2 : 3 के अनुपात में लेकर पीस लिया जाता है व मिश्रण को 900-950^0 तापक्रम पर लगभग 12 घंटे तक गर्म किया जाता है। इसके उपरांत, उपरोक्त पदार्थ को ऑक्सीजन के वातावरण में उत्पन्न धीमी गति (100 से 125^0 प्रति घन्टा) से 100^0 तापक्रम तक ठंडा करने पर एक अर्धगलित सा पदार्थ प्राप्त होता है। इस पदार्थ को पीस कर टिकियों के रूप में परिवर्तित कर लिया जाता है। इन टिकियों का पुनः अनीलीकरण (annealing) करने के लिये उपर्युक्त प्रक्रिया को दोहराया जाता है व अपेक्षित 'सेरेमिक' पदार्थ को प्राप्त कर लिया जाता है।

अप्रैल 1988 में अमेरिका के रीनो नामक स्थान पर आयोजित मैटिरियल रिसर्च सोसाइटी की एक बैठक में इट्रियम के स्थान पर बिस्मथ तथा थैलियम के उपयोग की सम्भावनाओं पर विस्तृत चर्चा हुई।

अतिचालकता के सिद्धांत

अतिचालक पदार्थों को विभिन्न क्षेत्रों में उपादेयता की दृष्टि से, इनकी कार्य विधि एवं सिद्धांतों के विषय में कुछ शब्द कहना उपयुक्त होगा। इस प्रक्रम को समझने के लिये अनेक कार्य-विधियों एवं सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया जाता है। हँसी में कहा तो यह जाता है कि अतिचालकता के उतने ही सिद्धांत हैं जितने कि इस क्षेत्र में सक्रिय वैज्ञानिक हैं, फिर भी इसके बारे में कोई निश्चित मत नहीं प्रतीत होता है।

धात्विक पदार्थों के अतिचालक गुणों के लिये सबसे पुराना सिद्धान्त **बारडीन-कूपर-श्राइफर** द्वारा दिया गया था जिनको 'बी० सी० एस० सिद्धान्त' के नाम से जाना जाता है। इस कार्य के लिए उनको 'नोबेल पुरस्कार' से सम्मानित भी किया गया। धातुओं में 'मुक्त इलेक्ट्रॉन सिद्धान्त' के अनुसार, विद्युत् एवं ताप का प्रवाह इलेक्ट्रॉनों की गतिशीलता के कारण होता है। इस माडल के अनुसार धात्विक क्रिस्टल में उपस्थित संयोजक इलेक्ट्रॉन एक प्रकार का 'ऋणात्मक समुद्र' बना लेते हैं, जो कि जालक के धनायनों द्वारा वैद्युत् बल से आकर्षित रहते हैं। साथ ही दोषयुक्त धात्विक जालक में इलेक्ट्रॉनों के मध्य पारस्परिक प्रतिकर्षण अथवा टकराव के कारण विद्युत् प्रवाह में प्रतिरोध पैदा होता है। यही कारण है कि एक आदर्श एवं दोषरहित क्रिस्टल जालक अवरोध-रहित होगा क्योंकि उसमें पड़ोसी आयनों के मध्य परस्पर टकराव निरस्त हो जाते हैं। 'बी० सी० एस०' के अनुसार अतिचालक पदार्थों में जालक कम्पनों (phonons) के कारण इलेक्ट्रॉनों के मध्य टकराव समाप्त हो जाता है तथा इलेक्ट्रॉन, युग्मों के रूप में (Cooper pairs) बिना किसी टकराव के स्वच्छन्द विचरण करते हैं, जिससे कि बिजली का प्रवाह अति सुगमता से होता रहता है। इन इलेक्ट्रॉन युग्मों का अंश OK पर शून्य से बढ़ कर किसी पदार्थ के Tc पर एक हो जाता है। इससे यह आसानी से समझा जा सकता है कि अतिचालक पदार्थ ए० सी० (A. C.) बिजली की धारा के प्रति तो कुछ अवरोध पैदा करते हैं जबकि डी० सी० (D. C.) धारा में ऐसा नहीं होता है।

'सेरेमिक' पदार्थों में अतिचालकता गुणों का समझना अभी भी अनिश्चित सा है। फिर भी Y $Ba_2Cu_3O_{7-x}$ संघटन वाले सबसे अधिक उपयोगी 'सेरेमिक' की संरचना-अध्ययन द्वारा इस पर कुछ प्रकाश डाला गया है। इसकी जालक संरचना में अनेक रिक्त स्थान पाए गए जहाँ पर ऑक्सीजन अपना स्थान ग्रहण कर सकती है। यह भली-भाँति ज्ञात है कि अतिचालक प्रावस्था में ये स्थान (छिद्र) सुव्यवस्थित रहते हैं जबकि Tc से अधिक तापक्रम पर ये अव्यवस्थित हो जाते हैं। अतः ऐसी मान्यता

(शेष पृष्ट 39 पर)

ग्रेगर योहान मेण्डल

कु० पूनम वार्ष्णेय

ग्रेगर योहान मेण्डल ने आनुवंशिकता (heredity) के नियमों की खोज करके जनन विज्ञान (Science of Genetics) की आधारशिला रखी। **मेण्डल** का जन्म हाइनज़ेनडोर्फ (Heinzendorf), जोकि तब आस्ट्रियन साइलेशिया (Silecia) में था, में 22 **जुलाई** 1822 को हुआ था। अब उस स्थान का नाम हाइन्सिसे (Hyncice) है और यह चेकोस्लोवाकिया में है।

मेण्डल के माता-पिता कृषक थे। वह अपने पिता की फलों के बाग की देखभाल में मदद किया करते थे।

मेण्डल की रुचि विज्ञान में बचपन से ही हो गयी थी। आलमुट्ज़ के (Olmutz) फिलॉसफिकल इंस्टीट्यूट में दो वर्ष अध्ययन करने के बाद, उन्होंने 1843 में ब्रून (Brunn), मोराविया (Moravia) की अगस्टीनियन मठ में ग्रेगर नाम लेकर प्रवेश किया। ब्रून (Brunn) का वर्तमान नाम बर्नो (Brno) है और वह चेकोस्लोवाकिया में है। मेण्डल 1847 में पादरी नियुक्त किये गये। मठ से सम्बन्धित प्रशिक्षण के दौरान उन्होंने विज्ञान के कुछ विषयों के बारे में भी स्वयं पढ़ा। 1845 में ब्रून (Brunn) के नज़दीक ज़्नैम (Znaim) में इन्होंने अस्थायी अध्यापक के रूप में माध्यमिक (सेकेण्डरी) स्कूल में ग्रीक और गणित कुछ समय के लिये पढ़ायी। 1850 में स्थायी अध्यापक होने के लिये इन्होंने परीक्षा दी, लेकिन अनुत्तीर्ण हो गये। जीवविज्ञान और भूगर्भशास्त्र में इनके अंक बहुत कम आये थे। अब इन्हें इनके मठाधीश द्वारा वियना विश्वविद्यालय में भेज दिया गया, जहाँ 1851 से 1853 के दौरान इन्होंने भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, गणित, जन्तु विज्ञान और वनस्पति विज्ञान का अध्ययन किया। 1854 में मेण्डल ब्रून (Brunn) लौट आये और टेकनिकल हाईस्कूल में प्राकृतिक विज्ञान 1868 तक पढ़ाते रहे, यद्यपि वे अध्यापक का प्रमाण-पत्र प्राप्त करने की परीक्षा में कभी सफल नहीं हुए। इसी वर्ष अपने मठ के मठाधीश चुने गये।

मेण्डल के वह प्रयोग जिनसे उन्होंने आनुवंशिकता के सिद्धान्त की खोज की तथा जनन विज्ञान की नींव डाली, मठ के छोटे बाग़ में 1856 में आरम्भ हुये थे। मठ तथा स्कूल दोनों के पुस्तकालयों में विज्ञान की आवश्यक पुस्तकें थीं। मेण्डल को वनस्पति विज्ञान उद्यान विज्ञान (horticulture) तथा कृषि में विशेष रुचि थी—इन विषयों पर पुस्तकालयों में बहुत सी पुस्तकें थीं।

उन्होंने मटर के पौधों को कई पीढ़ियों तक उगाया और उससे पौधों की आनुवंशिकता पर निष्कर्ष निकाले। हर उपज के बाद भिन्न प्रकार के मटर के पौधों के बीजों को वह सावधानी से अलग रखते थे और फिर नई पीढ़ी के लिये बीज़ों को अलग-अलग बोते थे। उन्होंने पाया कि बौने पोधों के बीजों से केवल बैने पौधे ही उगते हैं और यही परिणाम हर बाद की पीढ़ी में प्राप्त हुए।

पर लम्बे पौधों के बीजों ने भिन्न प्रकार के परिणाम दिये। कुछ बीज़ों से (लगभग एक तिहाई) तो लम्बे पौधे ही निकले, जोकि पीढ़ी दर पीढ़ी लंबे पौधे ही ही अभिजनित (breed) करते रहे। पर अन्य बीज़ों में कुछ-लम्बे पौधे निकले तथा कुछ बौने। इससे यह निष्कर्ष निकला कि लम्बे पौधे दो प्रकार के थे—शुद्ध तथा अशुद्ध। मेण्डल ने बौने पौधों को शुद्ध लम्बे पौधों के साथ संकर (Cross-breed) किया। उन्होंने पाया कि नई पीढ़ी के सब पौधे लम्बे थे, जैसे कि बौनापन गायब हो गया हो।

इसके बाद मेण्डल ने इन दोगले (hybrid) पौधों का परागण (Self pollintion) किया। नई पीढ़ी के सब पौधे दोगले क़िस्म के थे पर इसके बीजों ने रोचक परिणाम दिया। एक चौथाई में से बौने क़िस्म के पौधे निकले, एक चौथाई शुद्ध लम्बे क़िस्म के तथा आधे अशुद्ध लम्बे क़िस्म के पौधे निकले।

इन परिणामों को समझने के लिये उन्होंने एक सिद्धान्त दिया, जिसमें दो नियम हैं। इन नियमों को (Law of Segregation तथा Law of the Independent Assortment of Characters कहते हैं।

द्वारा प्रो० वाई० पी वार्ष्णेय, प्रोफेसर, ओटावा, कनाडा

मेण्डल ने अपने इन अन्वेषणों का विवरण 'बर्नो नैचुरल साइंटिफिक सोसायटी' (Brno Natural Scientific Society) की 1865 को दो मासिक सभाओं में दिया तथा उसको इस सोसायटी के कार्य विवरण में 1866 में प्रकाशित भी किया। उनके शोधपत्र का शीर्षक था—"Versuche uber Ptlanzenhybriden" (दोगले पौधों के साथ प्रयोग)। इस शोधपत्र का उस समय के जीवविज्ञानियों (biologists) पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा यद्यपि यह जर्नल यूरोप तथा अमेरिका के प्रमुख पुस्तकालयों में जाता था। किसी ने भी मेण्डल के प्रयोगों को दुहराने या उसके सिद्धान्तों को समझने की चेष्टा नहीं की।

मेण्डल ने अपने शोध पत्र को उस समय के एक प्रमुख वनस्पतिविज्ञानी **के० डब्लू० फॉन नैगेली** (K. W. von Nageli), जो जर्मनी के म्यूनिख् विश्वविद्यालय में प्रोफेसर थे, के पास भी भेजा। **नैगेली** पुराने विचार के वैज्ञानिक थे और कदाचित् वह मेण्डल के क्रान्तिकारी सिद्धान्तों तथा उनकी गणित को नहीं समझ सके। उन्होंने उस पेपर को मेण्डल के पास संक्षिप्त में गुणहीन बता कर लौटा दिया। उन्होंने बाद के मेण्डल के पत्रों का उत्तर भी नहीं दिया और बीस वर्ष बाद उन्होंने इस विषय पर किताब लिखी तो मेण्डल के कार्य का कोई ज़िक्र तक नहीं किया।

मेण्डल ने फिर भी अपना शोधकार्य जारी रखा व 1869 में उन्होंने एक दूसरा शोधपत्र इस विषय पर प्रकाशित किया। पर इसके बाद वह अपना शोधकार्य जारी न रख सके। इसके दो मुख्य कारण थे—नैगेली के व्यवहार ने उन्हें हतोत्साहित किया था तथा 1868 में वह मठाधीश नियुक्त हो गये थे और इस नये कार्य में उन्हें बहुत समय देना पड़ता था। आस्ट्रिया की सरकार ने उनके मठ पर नये कर लगा दिये थे। मेण्डल की निगाहों में यह एक गलत कदम था और इस कारण उन्हें आस्ट्रिया सरकार से एक लम्बा संघर्ष करना पड़ा। मेण्डल के स्वास्थ्य पर इस संघर्ष के तनाव का बुरा प्रभाव पड़ा और वह बीमार रहने लगे। उनकी मृत्यु 6 जनवरी 1884 को हुई।

मेण्डल की मृत्यु के 16 वर्ष बाद 1900 में यूरोप में तीन भिन्न स्थानों पर तीन वैज्ञानिकों ने, बिना मेण्डल का शोध कार्य जाने हुए, उसी तरह के प्रयोग किये और उन्हें वैसे ही परिणाम मिले। ये तीन वैज्ञानिक थे-एमस्टर्डम के **ह्यूगो दे व्रीज़** (Hugo de Vries), ट्यूबिगन के **कार्ल कोरेन्स** (Carl Correns) तथा वियना के **ऐरिक फॉन शरमैक** (Erich von Tschermak) तीनों ने वैज्ञानिक पत्रिकायें ढूँढ़ने पर पाया कि उनके परिणाम व उनको समझने के सिद्धान्त 34 वर्ष पूर्व मेण्डल दे चुके थे।

मेण्डल का शोधकार्य अब जनन विज्ञान (genetics) की आधारशिला माना जाता है, पर मेण्डल को अपने जीवन काल में इस बात के लिये कोई मान्यता नहीं मिली। तथापि मेण्डल सर्वथा एक नये विज्ञान, आनुवंशिक विज्ञान, के जनक के रूप में सदैव के लिए अमर हो गये। □□

भौंकने वाला हिरण

अभी तक आप यही जानते हैं कि कुत्ते ही भौंकते हैं। पर आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि हिरण भौंकते हैं। उत्तर प्रदेश के तराई क्षेत्रों में पाया जाने वाला हिरण भों-भों कर बोलता है। इसलिए इसे भौंकने वाला हिरण भी कहते हैं। इस हिरण की एक खूबी यह भी है कि यह रात को ज़्यादा सक्रिय होता है।

ऐसा ही एक हिरण दिल्ली के चिड़ियाघर में भी है। इस हिरण ने चिड़ियाघर के प्रबन्धकों की नाक में दम कर दिया। यह प्रबधकों के साथ आँखमिचौनी खेलते हुए उनके हाथ नहीं आ रहा था।

कुछ दिन पहले यह हिरण चिड़ियाघर से चुपके से खिसक गया। चिड़ियाघर के साथ ही सटा हुआ एक जंगल है। हिरण इसी जंगल में जा छिपा।

काफी आंखमिचौनी करने के बाद वह पकड़ में आया।

पुस्तक समीक्षा

डॉ० शिवगोपाल मिश्र

प्राथमिक पर्यावरण शिक्षा : लेखक डॉ० श्यामसुन्दर पुरोहित। प्रकाशक एग्रोबोटैनिकल पब्लिशर्स, बीकानेर। पृष्ठ संख्या 43। मूल्य 9रुपये।

यह पुस्तक प्राथमिक स्तर के विद्यार्थियों के लिए लिखी गई है जिसका उद्देश्य है पर्यावरण के विविध पहलुओं से उन्हें परिचित कराना। पुस्तक में छः अध्याय हैं—1. पर्यावरण क्या होता है 2. भारतीय संस्कृति और पर्यावरण शिक्षा 3. स्थानीय पर्यावरण और शिक्षा 4. पर्यावरण शिक्षा क्यों 5. पर्यावरण शिक्षा कैसे। इस अध्याय के अन्तर्गत ही 8 प्रयोग दिये गये हैं तथा 6. औपचारिक पर्यावरण शिक्षा।

यह सच है कि विद्यार्थियों में पर्यावरण के प्रति रुचि उत्पन्न करना आवश्यक है जो शिक्षा के माध्यम से सम्भव है। फलतः विद्यार्थियों तथा अध्यापकों के लिए कुछ निर्देश पुस्तकों की आवश्यकता है। लेखक ने इसी दृष्टि से पुस्तक में कई अध्यायों की सृष्टि की है किन्तु वह अपने प्रयास में कहाँ तक सफल हुआ है यह तो पाठकवृन्द ही निर्णय देगा किन्तु मुझे लगता है कि पुस्तक जल्दी में लिखी गई है अन्यथा जिस लेखक ने जन-जीवन और प्रदूषण जैसी पुस्तक लिखी हो, उसने पुस्तक को सुयोजित ढंग से क्यों नहीं लिखा।

वैसे पुस्तक में चित्र भी हैं और प्रयोगों को समझाने के प्रयास भी हैं किन्तु वर्तनी की इतनी अधिक भूलें हैं, शब्दों के इतने गलत रूप हैं और वाक्यों में इतने व्याकरणिक दोष हैं कि जिन विद्यार्थियों के लाभ के लिए यह पुस्तक लिखी गई है उन्हें यह भाषा की दृष्टि से दिग्भ्रमित अधिक कराने वाली है। अध्यापक तो इन अंशों को पढ़कर मुस्कायेंगे, मुँह बिचकावेंगे।

हिन्दी में सत्साहित्य का अभाव है अतएव जो भी नया प्रयास हो उसे साज-सँवारकर किया जाना चाहिए। हिन्दी को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर दिलाने का गुरुतर भार विद्वान लेखकों पर है। जहाँ यह सन्तोष होता है कि चलो एक पुस्तक आई वहीं यह पश्चाताप होता है कि हिन्दी के प्रेस क्यों नहीं योग्य प्रूफरीडर रखते और वे सामग्री का पुनरीक्षण क्यों नहीं करा सके। इससे हिन्दी का हित से अधिक अहित होता है। तथापि लेखक को बधाइयाँ—नये प्रयास के लिए। □□

(पृष्ठ 36 का शेष)

है कि 'सेरेमिक' पदार्थों में अतिचालक गुण इन ऑक्सीजन छिद्रों के कारण ही होते हैं ना कि इलेक्ट्रॉन युग्मों के कारण। सन् 1987 में 'नोबेल पुरस्कार' से सम्मानित **ऐण्डरसन** ने एक नया 'अनुनादी संयोजकता बंध सिद्धान्त' प्रतिपादित किया जिसके अनुसार इलेक्ट्रॉन युग्म Tc से ऊँचे तापक्रम पर भी उपस्थित रहते हैं। इलेक्ट्रॉन युग्मों को बाँधने वाले बल में उतार-चढ़ाव से इनका अस्थानीकरण हो जाता है एवं डोपिंग (doping) के कारण अतिचालकता गुण उत्पन्न हो जाते हैं। जहाँ एक ओर सैद्धान्तिक वैज्ञानिक उच्च तापीय अतिचालकता की विषमताओं को समझने का प्रयास कर रहे हैं वहीं दूसरी ओर प्रायोगिक वैज्ञानिक विभिन्न प्रतिपादित सिद्धान्तों के वाद अथवा प्रतिवाद में निरन्तर नए-नए प्रयोग करने में व्यस्त हैं। सर्वाधिक प्रचलित 'सेरेमिक' अतिचालक पदार्थ, बेरियम, ताँबा एवं ऑक्सीजन के यौगिक हैं। परन्तु इन तत्वों के स्थान पर अन्य तत्वों का प्रयोग कर उच्च Tc वाले नए सेरेमिक पदार्थों को प्राप्त करने के प्रयास बराबर हो रहे हैं।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट है कि अनेक बाधाओं के होते हुए भी अतिचालक पदार्थों को कई महत्वपूर्ण क्षेत्रों में उपयोग किया जा रहा है। अभी तक सबसे बड़ी बाधा निम्न तापक्रम को प्राप्त करने की रही है जो कि हीलियम गैस (मूल्य 500 रुपये प्रति लीटर) के प्रयोग के कारण बहुत मँहगी भी है। परन्तु नाइट्रोजन द्रव के तापक्रम तक कार्य करने वाले अतिचालक पदार्थों की खोज से वह कठिनाई कुछ सीमा तक दूर हो गई है। तथापि वास्तव में तो वह दिन स्वर्णिम होगा जब कि कमरे के तापक्रम पर कार्य करने वाले अतिचालक पदार्थों की जानकारी द्वारा, इनको विभिन्न क्षेत्रों में आसानी से प्रयुक्त किया जा सकेगा। □□

विज्ञान समाचार

संकलन : कु० विनीता शुक्ला

(1) नेत्र चिकित्सा की नई विधि लेसर सर्जरी

नेत्र-शल्यचिकित्सा के क्षेत्र में एक नई क्रांतिकारी सर्जरी विकसित की जा रही है। इस विधि से कुछ ही सेकेण्डों में दृष्टि दोष दूर किया जाना संभव हो सकेगा। इसके बाद उस व्यक्ति को चश्मा या काण्टैक्ट ग्लास लगाने की ज़रूरत नहीं होगी। अमेरिकी ब्रिटिश संयुक्त अनुसंधान दल के नेता प्रोफेसर **जॉन मार्शल** ने उक्त जानकारी देते हुये बताया कि इस पद्धति से कॉर्निया दोष दूर हो जाता है। कम्प्यूटर से कॉर्निया ऑपरेशन को नियमित किया जाता है और केवल कॉर्निया की सतह पर लेसर विधि से ऑपरेशन किया जाता है। इस विधि का बंदरों पर सफल परीक्षण किया जा चुका है। यह विधि 2 वर्षों के अंदर सामान्य प्रयोग के लिये उपलब्ध हो जायेगी।

(2) हृदय, फेफड़ा और लीवर का एक साथ प्रत्यारोपण

ब्रिटेन के सर्जनों ने एक 35 वर्षीया महिला के हृदय, फेफड़े और लीवर को प्रत्यारोपित करने में सफलता प्राप्त की है। चार सर्जनों के नेतृत्व में 15 सदस्यीय चिकित्सा दल ने 6 घण्टे में एक साथ इन अंगों को बदल दिया। मध्य इंग्लैण्ड के हण्टिंगडन नामक स्थान में स्थित अस्पताल में उक्त महत्वपूर्ण ऑपरेशन किया गया। यह दुनिया का इस प्रकार का पहला ऑपरेशन है। महिला की हालत पूरी तरह संतोषजनक है।

(3) इलेक्ट्रॉन किरणों से कैंसर की चिकित्सा

अमेरिकी वैज्ञानिक (चिकित्सा) **जेम्स एनालसन** के अनुसार इलेक्ट्रॉन किरण कोशिकाओं में गहराई तक जाने में सक्षम हैं। कोई भी इलेक्ट्रॉन किरण इन कोशिकाओं पर दबाव डालती है जहाँ से होकर उन्हें जाना होता है। किंतु निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचते ही इलेक्ट्रॉन किरणें अधिकांश ऊर्जा छोड़ देती हैं। इस प्रकार ये किरणें आसपास की कोशिकाओं को बिना नुकसान पहुँचाये कैंसर क्षेत्र पर कारगर असर करने में सक्षम हैं।

(4) हिममानव की तलाश का प्रण

जाना माना ब्रिटिश पर्वतारोही **क्रिस बानिंग्टन** यह प्रण करके हिमालय की ओर रवाना हो गया है कि इस बार वह यति (हिममानव) को खोजकर ही लौटेगा।

क्रिस बानिंग्टन ने पिछले वर्ष हिमालय के अभियान के दौरान यति के बड़े-बड़े पदचिह्नों को देखने का दावा किया है। पिछली शताब्दी में ऐसे 24 मामले प्रकाश में आये जब यति के बारे में सूचित किया गया। बानिंग्टन के अनुसार यह संभव है कि यति वास्तव में प्रागैतिहासिक आदमी हो और छोटी-मोटी गुफाओं में गुजर-बसर करते हुये लोगों की नजरों से बचता रहा हो।

(5) रक्त का नियंत्रित नाड़ी दाब चिरयौवन का मूल कारण

मोतीलाल नेहरू मेडिकल कॉलेज, इलाहाबाद में एनॉटॉमी विभाग के प्रवक्ता डॉ० केशव कुमार ने यह दावा किया है कि रक्त का नियंत्रित नाड़ी दाब ही चिरयौवन का मूल कारण है। उन्होंने बताया कि उक्त रहस्य अब तक विश्व में अज्ञात था। उनके अनुसार आयु वृद्धि की प्रक्रिया को नियंत्रित किया जा सकता है, परंतु वृद्धावस्था को पुन: यौवन की तरफ नहीं लाया जा सकता है। डॉ० कुमार ने बताया कि धमनियों में एथसेस्क्लीरोसिस के परिवर्तनों के बिना आयुवृद्धि की प्रक्रिया वृद्धावस्था की ओर अग्रसर नहीं हो सकती। उन्होंने आगे बताया कि शारीरिक सक्रियता में कमी के साथ मानसिक सक्रियता में वृद्धि के कारण रक्त का नाड़ी दबाव बढ़ता है, जिसे शारीरिक सक्रियता में वृद्धि के साथ मानसिक सक्रियता में कमी करके नियंत्रित किया जा सकता है। □□

ए-6 यूनिवर्सिटी फ्लैट्स, चैथम लाइन, इलाहाबाद–211002

विज्ञान वक्तव्य

'विज्ञान' के प्रिय पाठको !

वर्षों पूर्व किसी विद्वान की परम अंग्रेजी भक्ति और इस विदेशी भाषा को 'शेरनी के दूध' की संज्ञा दिए जाने पर **गाँधी जी ने** कहा था, "यदि अंग्रेज़ी शेरनी का दूध है तो उसे शेर के बच्चे पिएँ। हम तो आदमी हैं, हमें तो अपनी माँ का दूध (हिन्दी) चाहिए।"

गाँधी जी का यह कथन आज भी शतप्रतिशत सत्य और महत्त्वपूर्ण है। देश में 'आदमियों' को तैयार करने के लिए अपनी भाषा ही प्रभावकारी हो सकती है।

यह निर्विवाद सत्य है कि कोई भी देश ज्ञान, विज्ञान या कला—किसी भी क्षेत्र में तभी शीर्ष पर पहुँच सकता है जब उसकी शिक्षा का माध्यम उस देश की अपनी भाषा हो। आज हमारे समक्ष उच्चस्तरीय विज्ञान-शिक्षण की समस्या विकराल होकर खड़ी है। ऐसी स्थिति में आवश्यकता है कि विश्वविद्यालय स्तर पर विज्ञान की शिक्षा का माध्यम अविलम्ब ही हिन्दी हो। किन्तु अपना देश अनेक धर्मों और भाषाओं का देश है। इस कारण विज्ञान का शिक्षण उस समय तक अनिवार्य रूप से प्रान्तीय भाषा या क्षेत्र विशेष की भाषा में होना चाहिए जब तक पूरे देश के लोग हिन्दी भाषा को सीखकर इसका प्रयोग न करने लगें।

पर, मूल प्रश्न यह है कि 'विज्ञान' की उच्चस्तरीय शिक्षा हिन्दी या प्रांतीय भाषाओं में हो तो कैसे? क्या हम केन्द्रीय और राज्य सरकारों से यह अपेक्षा करें कि वे इसे कानून के ज़ोर से लागू करेंगी? सम्बद्ध अध्यापक हिन्दी अथवा प्रादेशिक भाषाओं में पढ़ाने लग जायेंगे? या विद्यार्थी परीक्षा में प्रश्नों के उत्तर हिन्दी अथवा प्रांतीय भाषाओं में लिखने लगेंगे? इन्हीं के साथ कुछ और प्रश्न उठ कर सामने आते हैं। क्या अध्यापक के पास पढ़ाने के लिए शोध और उच्चस्तरीय साहित्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है? विद्यार्थी के लिए क्या ऐसी पुस्तकों का प्रणयन किया जा चुका है, जिनकी भाषा सरल है और जिसे विद्यार्थी आसानी से समझ सकते हैं? इन प्रश्नों का उत्तर दे पाना बड़ा ही कठिन है। पुस्तकों की बातें जाने भी दें तो क्या हिन्दी में विज्ञान की ऐसी पत्रिकाएँ उपलब्ध हैं, जो अपने स्तरीय होने का दावा कर सकें? क्या हिन्दी में कोई ऐसी पत्रिका है जो अंग्रेज़ी भाषा में छपने वाली पत्रिकाओं 'साइंसटुडे' (Science Today), 'साइंस रिपोर्टर' (Science Reporter) अथवा 'साइंस एज' (Science Age जो सम्भवतः अब प्रकाशित नहीं हो रही है) की समानता कर सकें। मुझे ऐसा लगता है कि 'आविष्कार' पत्रिका को छोड़कर कोई भी हिन्दी की पत्रिका (विज्ञानविषयक) अपने उच्चस्तरीय होने का दावा भले ही करे, वास्तविकता से कोसों दूर है। 'विज्ञान परिषद्, प्रयाग' द्वारा प्रकाशित मासिक 'विज्ञान' 1915 से निरन्तर छप रही है, पर धनाभाव के कारण विज्ञान परिषद् चाहते हुये भी इसके स्तर और संख्या को बढ़ा सकने में अपने को असहाय पाता है। 'शब्दावली आयोग' (दिल्ली) की मासिक पत्रिका 'विज्ञान गरिमा सिन्धु' अपने दावे के अनुसार विद्यार्थियों को उनके पाठ्यक्रम की जानकारी दे सकेगी, ऐसा मानना संदेह से परे नहीं है।

इस प्रकार कुल मिलाकर स्थिति दयनीय ही है। किन्तु मैं अपने पिछले लगभग 25 वर्षों के अध्यापन के अनुभव के आधार पर यह कह सकता हूँ कि एक वर्ग फिर भी ऐसा है जो निश्चित रूप से हिन्दी लाकर ही दम लेगा। और, यह वर्ग है विद्यार्थियों का।

पिछले लगभग 15 वर्षों से मैं स्नातकस्तर पर वनस्पति विज्ञान विषय को विद्यार्थियों को समझाने के लिए हिन्दी भाषा का प्रयोग कर रहा हूँ। मेरे बहुत से सहयोगी भी ऐसा ही कर रहे हैं। बिना हिन्दी की सहायता के विषय की बारीकियाँ विद्यार्थी की समझ में ठीक से नहीं आतीं। वस्तुतः आज के विद्यार्थी का अंग्रेज़ी भाषा का ज्ञान इतना अधकचरा है कि वह अंग्रेज़ी में विषय को ठीक से समझने में असमर्थ होता है। मैं इसे कुछ दृष्टियों से शुभ लक्षण मानता हूँ।

शुभ लक्षण इसलिए कि अंग्रेज़ी का हमारा मोह टूट रहा है और यह कि विज्ञान की उच्चस्तरीय शिक्षा का माध्यम हिन्दी होकर ही रहेगी क्योंकि शुभारंभ हो चुका है ।

एक बात और । विषय को हिन्दी भाषा के माध्यम से समझाने में अभी न तो मैं हिन्दी के तकनीकी शब्दों का प्रयोग करता हूँ और न मेरा विद्यार्थी, फिर भी विषय को समझने-समझाने में कठिनाई नहीं होती । हिन्दी के तकनीकी शब्दों का प्रयोग मैं जानबूझ कर इसलिए नहीं करता हूँ क्योंकि अधिकतर हिन्दी के शब्द विद्यार्थी को उतने ही कठिन जान पड़ते हैं जितनी अंग्रेज़ी भाषा के । अतएव इस ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है कि **कठिन शब्दों का अविलम्ब सरलीकरण किया जाये ।** दूसरा और अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है शब्दावली की एकरूपता । 'शब्दावली आयोग' और भारत सरकार से मेरी एक प्रार्थना है । पहले तो शब्दकोश एक ही होना चाहिए । आज बाज़ार में अनेक शब्दकोश उपलब्ध हैं, जो शब्दावली आयोग द्वारा प्रकाशित मानक शब्दकोश से भिन्न हैं और दुःख का विषय यह है कि उनमें से कुछ सरकारी अनुदान से प्रकाशित हैं । अतएव अध्यापक, शब्दावली आयोग, लेखक और विद्यार्थी जब तक गोष्ठियों के माध्यम से एक मंच पर नहीं आयेंगे और तकनीकी शब्दों में एकरूपता नहीं स्थापित कर लेंगे तब तक राष्ट्र भाषा होते हुए भी हिन्दी के विज्ञान की उच्चस्तरीय शिक्षा का माध्यम बन पाने में गतिरोध उत्पन्न होता रहेगा ।

इन व्यवहारिक समस्याओं के कारण ही प्रायः कुछ विरोधी यह कहते पाये जाते हैं कि हिन्दी अपेक्षाकृत नई अथवा निर्धन भाषा है । उन्हें यह बताना आवश्यक होगा कि हिन्दी की एक हज़ार वर्ष पुरानी परम्परा में न जाने कितने उच्चकोटि के साहित्यिक और साहित्येतर विषयों के ग्रन्थ रचे गए हैं । हिन्दी की समृद्धि और सामर्थ्य पर प्रश्नचिह्न लगाना या तो हास्यास्पद प्रयास है या फिर अज्ञानता का द्योतक । वस्तुतः आवश्यकता है आज **हिन्दी में वर्तनी और शब्दों के सम्बन्ध में बढ़ती अराजकता पर अंकुश लगाकर प्रायोगिक एकरूपता को स्थापित करने की ।** यही एक सत्प्रयास हिन्दी को तमाम आरोपों से मुक्त कराकर उचित स्थान दिला सकता है ।

जहाँ तक प्रयासों का प्रश्न है यहाँ मैं स्मरण करा दूँ कि 1910 में 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' का जन्म हुआ और 1913 में 'विज्ञान परिषद्, प्रयाग' का । 1931 से 1950 तक 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' अपने वार्षिक अधिवेशनों के अवसर पर विज्ञान परिषद् नाम से विज्ञान-गोष्ठियाँ आयोजित करता रहा है । 'विज्ञान परिषद्, प्रयाग' भी 1915 से 'विज्ञान' मासिक और 1958 से 'विज्ञान परिषद् अनुसन्धान पत्रिका' नामक एक शोध-पत्रिका प्रकाशित कर रहा है । इस शोध-पत्रिका ने यह सिद्ध कर दिया है कि विज्ञान की शोध स्तरीय सामग्री का प्रकाशन हिन्दी में बखूबी किया जा सकता है । पर ये प्रयास नितांत अपर्याप्त हैं । राष्ट्र-भाषा हिन्दी को तब तक न तो उसका वास्तविक स्थान दिलाया जा सकेगा और न राष्ट्रभाषा के वास्तविक गौरव से मण्डित किया जा सकेगा जब तक विज्ञान को हिन्दी की मुख्यधारा से न जोड़ा जायेगा और उसे देश के विश्वविद्यालयों में विज्ञान की उच्चस्तरीय शिक्षा का अनिवार्य रूप से माध्यम न बनाया जाएगा ।

विज्ञान वक्तव्य समाप्त करने के पूर्व मेरा यह पुनीत कर्त्तव्य है कि इस अंक की सामग्री को उपलब्ध कराने के लिए **प्रोफेसर ओम प्रभात अग्रवाल** के प्रति हृदय से आभार व्यक्त करूँ, जिन्होंने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के 44वें अधिवेशन के अवसर पर विज्ञान परिषद् नाम से आयोजित गोष्ठी में इस सामयिक विषय को विचार-विमर्श के लिए चुना । हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रति मैं विशेष रूप से अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ क्योंकि सम्मेलन ने 38 वर्ष के लम्बे अन्तराल के बाद इस अधिवेशन में पुनः 'विज्ञान परिषद्' की बैठक का समावेश किया । इस बैठक में भाग लेने वाले सभी वक्ता साधुवाद के पात्र हैं, जिन्होंने देश के सुदूर अंचलों से आकर इस गोष्ठी में अपने विचार व्यक्त किए ।

इस अंक की सामग्री प्रबुद्ध पाठकों को सोचने और कुछ करने को विवश करेगी, इस आशा और विश्वास के साथ ।

आपका
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

संयोजक का वक्तव्य | डॉ० ओम प्रभात अग्रवाल

बन्धुओं, यह बड़े विषाद का विषय है कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में अंगीकार किये जाने के अड़तीस वर्षों के बाद भी आज हमें इस बात पर विचार-विमर्श करना पड़ रहा है कि विज्ञान की उच्च शिक्षा का माध्यम अविलंब हिन्दी या प्रादेशिक भाषायें हो जानी चाहिये। सम्भवतः संसार में एक हमारा देश ही ऐसा अभागा है जहाँ आज भी नवयुवकों को ज्ञानार्जन के लिये पहले एक विदेशी भाषा में पारंगत होना पड़ता है। ज्ञातव्य है कि स्वतंत्रता-पूर्व ही **राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी** ने लिखा था कि मनुष्य के मस्तिष्क के विकास के लिये मातृभाषा उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी कि बच्चे के जीवन के लिये माँ का दूध और इसीलिये शिक्षार्थियों पर शिक्षा के लिये किसी अन्य भाषा का बोझ डालना मातृभूमि के प्रति किया गया घोर पाप है। वस्तुतः 1937 में ही वारधा द्वारा प्रस्तुत 'ज़ाकिर हुसैन रपट' में इस बात की सिफारिश की गई थी कि शिक्षा का माध्यम आद्योपांत विद्यार्थी की मातृभाषा ही होनी चाहिये। 1948 में **प्रोफेसर तारा चन्द** की अध्यक्षता में गठित एक दूसरी कमेटी ने फिर से सिफारिश की कि शिक्षा के माध्यम के रूप में पाँच वर्ष की अवधि में मातृभाषा द्वारा अंग्रेज़ी का विस्थापन कर दिया जाना चाहिये। 'कुंजरू कमेटी' ने फिर इसी विचार का प्रतिपादन किया। इस समय आश्चर्यजनक लग सकता है, परन्तु यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि 8 सितम्बर 1956 को स्वयं **श्री जवाहर लाल नेहरू** ने चिंता व्यक्त की थी कि कहीं आने वाले समय में भारत में भाषा के आधार पर नया जातिभेद न उत्पन्न हो जाय। उन्होंने कहा था कि अंग्रेज़ी जानने वालों और न जानने वालों की जातियों के प्रादुर्भाव को रोकने के लिये यह आवश्यक है कि शिक्षा का माध्यम हिन्दी और प्रादेशिक भाषायें ही बनें। भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय द्वारा भारत की भावनात्मक एकता की समस्या पर विचार करने को गठित एक कमेटी ने 1962 में इसी चिंता को पुनः स्वर देते हुये संस्तुति की कि यदि विश्वविद्यालयों के स्तर पर प्रादेशिक भाषाओं को शिक्षा का माध्यम स्वीकार कर लिया जाय तो बुद्धिजीवियों एवं जनसाधारण के मध्य उपस्थित खाई को पाटने में बड़ी सहायता मिलेगी। राष्ट्रीय एकता समिति ने अपनी प्रारम्भिक सभाओं में ही मत व्यक्त किया था कि जब तक विश्वविद्यालयों के आचार्यों एवं जनता के बीच प्रादेशिक भाषा माध्यम के रूप में एक पुल का निर्माण नहीं होता, तब तक ये विद्वान उच्च शिक्षा, विशेष रूप से विज्ञान और तकनीकी, के क्षेत्र में अपना अधिकतम योगदान देने में असमर्थ रहेंगे। समिति ने अपना निश्चित मत व्यक्त करते हुये कहा था कि यदि उच्च शिक्षा का माध्यम मातृभाषायें नहीं बनाई जातीं तो देश में मौलिक प्रतिभा का विकास अवरुद्ध हो जायेगा। 1964-66 के शिक्षा आयोग ने भी एक बार पुनः मातृभाषा को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाये जाने की प्रक्रिया अविलंब प्रारम्भ करने की सिफारिश की। ज्ञातव्य है कि इसके पूर्व 'राधाकृष्णन आयोग' ने भी इसी विचार का प्रतिपादन किया था। इस आयोग का भी विचार था कि यदि हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं को उच्च शिक्षा का भी माध्यम न बनाया गया तो देश विभक्त व्यक्तित्व वाला मानसिक रोगी बन जायेगा और समाज में मौलिक प्रतिभा के स्थान पर बाबू मानसिकता का विकास होगा। आयोग ने कहा कि अंग्रेज़ी माध्यम में जो भी गुण हों तथा उनके विस्थापन में जो भी ख़तरे हों, दीर्घकाल में लाभ का पलड़ा परिवर्तन के पक्ष में ही रहेगा।

इतना सब होते हुये भी स्थिति वही बनी रही। परन्तु राजनैतिक नेतृत्व तथा नौकरशाही यदि अड़ियल रुख अपनायें तो भी स्थितियों में प्राकृतिक बदलाव

प्रोफेसर, रसायन विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक, हरियाणा—124001

तो कभी रुकता नहीं। विद्यार्थियों का अंग्रेज़ी ज्ञान बराबर घटता गया। देश भर में खुलने वाले अंग्रेज़ी माध्यम के असंख्य विद्यालय, या यों कहिये कि हमारी दास मनोवृत्ति को भुनाने वाली शिक्षा की दूकानें भी इस गिरावट को रोक नहीं पा रही हैं—जो कि स्वाभाविक भी है। अब स्थिति यह हो गई है कि विद्यार्थी अंग्रेज़ी में तो प्रवीण हो ही नहीं पाता—अपनी मातृभाषा पर भी उसकी पकड़ बड़ी कमज़ोर रहती है। मुझे, विश्वविद्यालयीय अध्यापन के 25 वर्षों के अनुभव के आधार पर बड़े दुःख के साथ यह कहना पड़ता है कि विश्वविद्यालयों के प्राध्यापकों तक का अंग्रेजी ज्ञान हास्यास्पद स्तर तक गिर चुका है, यद्यपि अधिकांश अभी भी अंग्रेज़ी माध्यम से चिपटे रहना चाहते हैं। इस स्थिति में यह समझ से परे हो जाता है कि ये विद्वान विज्ञान के जटिल विषयों को, विशेष रूप से स्नातकोत्तर स्तर पर, किस प्रकार पूर्ण पांडित्य के साथ कक्षा में समझा सकते हैं और किस प्रकार अंग्रेज़ी के अधकचरे भी नहीं, चौथाई कचरे ज्ञान वाले विद्यार्थी उन्हें पूर्ण रूप से आत्मसात कर सकते हैं। दूसरी ओर, ज्ञातव्य है कि भौतिक शास्त्र के अनन्य विद्वान **प्रोफेसर सत्येन्द्र नाथ बोस** (एक महत्वपूर्ण शोध कार्य में जिनका नाम **आइंस्टाइन** के साथ जुड़ा है और जो इस देश के दो सर्वप्रथम राष्ट्रीय प्रोफेसरों में से एक थे) ने एक बार यह वक्तव्य देकर भारतीय शिक्षाशास्त्रियों को चकित कर दिया था कि स्नातकोत्तर कक्षाओं में भी अध्यापन के लिये उन्होंने बंगला के अतिरिक्त किसी अन्य भाषा का कभी प्रयोग नहीं किया।

यहाँ हममें से अनेक लोग विज्ञान की उच्च शिक्षा से सम्बद्ध हैं और वे यह मानेंगे कि उत्तर-पुस्तिकाओं की भाषा को समझना, यहाँ तक कि प्रायोगिक कक्षाओं के रिकार्डों तक को देखना अब एक दुःखदायी अनुभव ही रहता है। विद्यार्थी भी मानक ग्रंथों के अवलोकन से भाग कर भारतीय लेखकों द्वारा शुद्ध व्यवसायिक दृष्टिकोण से लिखित सस्ती पुस्तकों पर निर्भर करता है क्योंकि लेखक के स्वयं के सीमित अंग्रेज़ी ज्ञान के कारण ऐसी पुस्तकों में प्रयुक्त शब्दावली ही उसकी पकड़ में कुछ-कुछ आ पाती है।

अभी लगभग दो माह पूर्व, 26 मार्च 1988 को 'टाइम्स ऑव इंडिया' जैसे राष्ट्रीय महत्व के अखबार में लब्धप्रतिष्ठ पत्रकार **श्री शाम लाल** ने एक लेख लिखा जिसमें पाठकों का ध्यान भारत में अंग्रेज़ी की दुरावस्था की ओर आकर्षित किया गया था। उनकी नज़र में छठीं कक्षा के स्तर की विज्ञान की एक अंग्रेज़ी पुस्तक आई जिसकी भाषा का परिष्कार लेखक ने किसी विश्वविद्यालय के एक विद्वान अंग्रेज़ी प्रोफेसर से कराया था। इसके बाद भी पुस्तक में भाषागत इतनी भयंकर भूलें हैं कि श्री शाम लाल को यह लेख लिखने को विवश होना पड़ा। इस लेख की प्रतिक्रियास्वरूप सुश्री **माधुरी पालेकर** ने संपादक को लिखा कि ऐसे उदाहरण तो आम हो चुके हैं। उन्होंने दिल्ली के एक बड़े प्रकाशक द्वारा प्रकाशित एक महत्वपूर्ण मोनोग्राफ का हवाला देते हुये उसकी भाषा के बारे में अपने विचार **सोवियत नेता खुरशोव** द्वारा आमूर्त कला पर व्यक्त किये विचारों के रूप में प्रकट किया। खुरशोव का अभिमत मैं अंग्रेज़ी में ही उद्धृत कर रहा हूँ ताकि हिंदी अनुवाद में उसका स्वाद नष्ट न हो जाय। आमूर्त कला के बारे में उनका मत था—"A donkey's tail flicking over an infants dropings"। अभी 22-4-88 को ही उसी पत्र के संपादक के नाम एक अन्य पत्र में बताया गया कि 1988 की अखिल भारतीय सीनियर सेकेण्डरी स्कूल परीक्षा के अंग्रेज़ी के प्रश्न-पत्र में वर्तनी एवं व्याकरण संबंधी 22 भूलें थीं।

मेरे सामने एक पुस्तक है अंग्रेज़ी के **प्रोफेसर तुलसीराम** द्वारा लिखित "Trading in Languages"। पुस्तक उनके द्वारा इंग्लैंड में रह कर किये गये शोध का परिणाम है। पुस्तक में इस बात पर खुल कर विचार किया गया है कि किस प्रकार हम अंग्रेज़ी में पांडित्य हासिल करने में असमर्थ रहे हैं और इसके अधकचरे ज्ञान ने हमारे समाज और हमारी शिक्षा व्यवस्था के साथ कितनी गंदी होली खेली है। उन्होंने दो उदाहरण स्वयं अपने दिये हैं। जब वे कुछ लिख

कर अपने प्रोफेसर, लंदन विश्वविद्यालय के क्वीनमेरी कॉलेज के **डॉ० नार्मन कलान** के पास ले गये तो कुछ पृष्ठ पढ़ने के बाद उन्होंने तुलसी राम जी की आँख में झाँकते हुये पूछा, "क्या आप सोचते हिन्दी में हैं और फिर उसका उल्था कर अंग्रेज़ी में लिखते हैं ?" तुलसी राम जी का उत्तर था, "आप सत्य कह रहे हैं। हम भारतीय जब अंग्रेज़ी में लिखते हैं तो सोचते हिन्दी में हैं और जब हिन्दी में लिखते हैं तो अकसर अंग्रेज़ी में सोचते हैं।

इसी प्रकार, जब वे अपना शोध प्रबंध टाइप करा रहे थे तो टाइप करने वाली महिला ने एक दिन पूछा कि क्या अंग्रेज़ी उनकी सचमुच में मातृभाषा है ? जब उन्होंने नकारात्मक उत्तर दिया तो उसकी प्रतिक्रिया थी कि तभी जो कुछ टाइप हो रहा है वह उसके आधे का भी अर्थ नहीं समझ पाती। संभवतः आगे कुछ ऐसी ही स्थिति बनेगी कि हम अंग्रेज़ी के नाम पर जिस भाषा में लिखेंगे वह उनके लिये कदापि बोधगम्य न होगी, जिनकी मातृभाषा अंग्रेज़ी है।

तो यह स्थिति है आज ! निश्चय ही इसके चलते हमारी नई पीढ़ी, जिसके ऊपर भारी उत्तर-दायित्व है, मौलिकता, श्रेष्ठ ज्ञान एवं पांडित्य से विहीन होती जा रही है। भविष्य में इस पीढ़ी के बुद्धिजीवी, समाज को किस प्रकार का दिशानिर्देश देंगे—यह गंभीर चिन्ता का विषय है और इसीलिये हम आज यहाँ एकत्र हुये हैं। संगोष्ठी की पृष्ठभूमि की इस विवेचना के साथ अब मैं अध्यक्ष महोदय से निवेदन करूँगा कि वे कार्यवाही प्रारंभ करें। □□

[पृष्ठ 7 का शेषांश]

अपने अध्यक्षीय भाषण में डॉ० शिवगोपाल मिश्र ने इस बात पर प्रसन्नता व्यक्त की कि 1950 के बाद बन्द हो गई सम्मेलन की विज्ञान परिषद् की बैठक फिर से प्रारम्भ की गई है। उनका मत था कि स्थिति निराशाजनक नहीं है। आधारभूत साहित्य लिखा जा चुका है, शब्द कोश तैयार है, उच्च कोटि का लोक-विज्ञान साहित्य लिखा जा रहा है, विश्वकोष जैसे सन्दर्भ ग्रन्थ तक तैयार हो चुके हैं तथा उच्च कोटि की अनेक विज्ञान-पत्रिकाओं का प्रकाशन हो रहा है। उनके मतानुसार विश्वविद्यालयों में हिन्दी माध्यम से अध्ययन-अध्यापन का पूरा वातावरण बन चुका है—कमी है तो केवल हिन्दी प्रेमी विज्ञान-प्राध्यापकों में आत्मविश्वास की। यदि वे आशंकाओं से निर्मित अपने व्यामोह को तोड़ दें तो हिन्दी माध्यम के रूप में शीघ्र प्रतिष्ठित हो सकती है। उन्होंने ज़ोर दिया कि आगे से गोष्ठियाँ किसी विशेष शीर्षक पर उपलब्ध वैज्ञानिक साहित्य की विवेचना के लिए या नये साहित्य सृजन पर विचार-विमर्श के लिए ही आयोजित की जायें।

परिषद् का समापन, संस्तुतियों (रपट के साथ संलग्न) के पारण के साथ हुआ। □□

विज्ञान परिषद् की कार्यवाही पर एक रपट

डॉ० ओम प्रभात अग्रवाल

हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के इलाहाबाद में सम्पन्न हुए **44वें** वार्षिक अधिवेशन के अंतिम दिन, **3 मई 1988** को सम्मेलन की ही एक शाखा, विज्ञान परिषद् के तत्वावधान में "**विज्ञान की उच्च शिक्षा का माध्यम अविलंब हिंदी/प्रादेशिक भाषायें हो जानी चाहियें**" विषय पर विचार-विमर्श के लिए एक संगोष्ठी का आयोजन हुआ। संगोष्ठी के संयोजक थे—महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय के रसायन विभाग के **प्रोफेसर ओम प्रभात अग्रवाल** तथा अध्यक्षता का भार इलाहाबाद विश्वविद्यालय के 'शीला धर शोध संस्थान' के निदेशक **प्रोफेसर शिवगोपाल मिश्र** ने वहन किया। संगोष्ठी में भाग लेने वाले प्रमुख वक्ता थे—भारत सरकार के इलेक्ट्रॉनिकी विभाग, दिल्ली के **डॉ० ओम विकास**, "आविष्कार" के सम्पादक **श्री देवेन्द्र नाथ भटनागर**, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय के **डॉ० बृज भूषण** (रसायनज्ञ) तथा **डॉ० कोटा वेंकट सुब्बाराव** (भौतिक शास्त्री), बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के कृषि शोध संस्थान के **डॉ० ब्रह्म देव सिंह**, अवधेश प्रताप विश्वविद्यालय, रीवां के रसायन विभाग के अध्यक्ष, **डॉ० के० वी० पांडेय**, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के रसायन विभाग के सेवानिवृत प्रोफेसर, **डॉ० पूर्ण चन्द्र गुप्त**, विक्रम साराभाई अंतरिक्ष शोध केन्द्र, त्रिवेन्द्रम के **श्री सुभाष चन्द्र गैधर** तथा दूरसंचार विभाग, हैदराबाद के **डॉ० वाई० एन० राव**। कुछ गैरवैज्ञानिकों ने भी वाद-विवाद में भाग लिया जिनमें प्रमुख थे—रांची महिला कालेज के हिंदी विभाग की अध्यक्ष **प्रोफेसर ऊषा सक्सेना, श्री ओमप्रकाश "कमल"** तथा **डॉ० ब्रह्म मित्र अवस्थी**। विद्यार्थियों का दृष्टिकोण प्रस्तुत करने वाले छात्रों के नाम हैं—भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, कानपुर के **श्री आशुतोष मिश्र**, शीलाधर शोध संस्थान, इलाहाबाद के **श्री दिनेशमणी दुबे** तथा इलाहाबाद विश्वविद्यालय के **श्री अनिल शुक्ल**। इनके अतिरिक्त भाभा परमाणु शोध केन्द्र बम्बई के वैज्ञानिक **डॉ० देवेन्द्र नाथ श्रीवास्तव** तथा भारतीय स्टेट बैंक के **श्री द्वारिका प्रसाद शुक्ल**। प्रौद्योगिकी संस्थान, दिल्ली के गणित के एमेरिटस प्रोफेसर **डॉ० जे० एन० कपूर** ने उपस्थित हो पाने की असमर्थता के कारण अपने विचार लिख कर भेजे थे।

विषय प्रवर्तन के रूप में संयोजक प्रोफेसर ओम प्रभात अग्रवाल ने कहा कि यह बड़ी चिन्ता का विषय है कि संविधान लागू होने के अड़तीस वर्षों के पश्चात् भी हिंदी तथा प्रादेशिक भाषायें विज्ञान की उच्च शिक्षा का माध्यम नहीं बन पाई हैं। स्थिति यह हो चली है कि विद्यार्थी का अंग्रेज़ी का ज्ञान तो अधकचरे से भी कम रहता ही है, मातृभाषा पर भी पकड़ कमज़ोर रहती है, जिसके कारण वह विज्ञान के जटिल विषयों को आत्मसात करने तथा उन्हें अंग्रेज़ी में अच्छी तरह अभिव्यक्त करने में असमर्थ होता जा रहा है। नयी पीढ़ी के शिक्षकों के सीमित अंग्रेज़ी ज्ञान से यह स्थिति और भी गंभीर हो गई है। उन्होंने चिंता प्रकट की कि यदि शिक्षा के माध्यम के सम्बन्ध में कोई साहसिक निर्णय शीघ्र न लिया गया तो विज्ञान के क्षेत्र में मौलिकता, श्रेष्ठ ज्ञान तथा पांडित्य धीरे-धीरे लुप्त होने लगेगा। डॉ० ओम विकास ने शोध संस्थानों में कार्यरत हिंदी प्रेमी वैज्ञानिकों की दुर्दशा की चर्चा करते हुए कहा कि उनमें भय व्याप्त है कि हिंदी के लिए काम का उल्लेख अधिकारियों की दृष्टि में उन्हें "वैज्ञानिक" भी नहीं रहने देगा। उन्होंने कहा कि केवल अनुवाद के सहारे भारतीय भाषाओं के माध्यम से उच्च शिक्षा की व्यवस्था असम्भव है। आवश्यकता है कि भरतीय भाषाओं में अधिकाधिक मौलिक शोध कार्य उपलब्ध किया जाये और इसके लिए विशेष

प्रोफेसर, रसायन विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक

शोध जर्नल निकाले जायें। हिंदी/प्रादेशिक भाषाओं को प्रभावी माध्यम बनाने के लिए उन्होंने एक सात-सूत्री कार्यक्रम भी प्रस्तुत किया।

"आविष्कार" के सम्पादक, श्री देवेन्द्र नाथ भटनागर ने एक सम्पादक के लम्बे अनुभव से जन्मे विश्वास के साथ कहा कि हिन्दी में विज्ञान को अभिव्यक्त करने की पूर्ण क्षमता है। हिन्दी में विज्ञान के अधिकाधिक लेखन से तकनीकी हिन्दी निश्चित रूप से तकनीकी अंग्रेज़ी की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय हो सकेगी।

डॉ० बृजभूषण का विचार था कि अंग्रेजी माध्यम ने विद्यार्थी को 'रट्टू तोता' बना दिया है, जिसके कारण विषय को वह गहराई से नहीं समझ पाता। उन्होंने इजरायल की चर्चा की जहाँ विज्ञान की उच्चतम शिक्षा तथा शोध कार्य **हिब्रू में** ही किया जाता है जबकि हिब्रू उस देश की स्थापना के पहले लगभग मृत भाषा बन चुकी थी। डॉ० कोटा वेंकट सुब्बाराव ने ध्यान दिलाया कि विद्यालयों और कॉलेजों में अंग्रेजी भाषा की पढ़ाई का स्तर बहुत गिर चुका है जिसके कारण उच्च कक्षाओं में विज्ञान के जटिल सिद्धान्तों को उनके शुद्ध रूप में समझना विद्यार्थी के लिये संभव नहीं हो पा रहा है। अब तो स्थिति यह आ गई है कि इस प्रकार बनी अशुद्ध धारणायें तथा संकल्पनायें एक पीढ़ी द्वारा दूसरी को उत्तराधिकार में दी जा रही हैं। इसीलिए माध्यम के रूप में हिन्दी/प्रादेशिक भाषाओं का प्रयोग आवश्यक हो चला है। हाँ यह ज़रूर है कि अंग्रेज़ी को बिकुल समाप्त न किया जाये ताकि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इसके कारण होने वाले लाभ हमें मिलते रहें।

डॉ० ब्रह्म देव सिंह का मत था कि विज्ञान, हिन्दी के लिये नई वीथी है, अतः भटकन तो होगी ही, परन्तु अन्त में वह मुख्य राह से अवश्य जा मिलेगी क्योंकि हिन्दी एक समर्थ भाषा है। उन्होंने तकनीकी हिन्दी के मानकीकरण के सम्बन्ध में भी उपयोगी सुझाव दिये। प्रोफेसर के० बी० पाण्डेय के विचार में क्योंकि विज्ञान दुरूह है अतः इससे सम्बन्धित भाषा समस्या भी कठिन है। परन्तु अपने स्वयं के अनुभवों के आधार पर उनका मत था कि विद्यार्थी अंग्रेज़ी से आज़ादी चाहता है। यदि उसे विश्वास दिलाया जाये कि मातृभाषा माध्यम अपनाने से उसे जीविका मिलने में परेशानी न होगी तो वह अपने सर से यह बोझ तुरन्त उतार फेंकेगा।

श्री सुभाष गैंधर ने स्मरण दिलाया कि अंग्रेज़ी जब इंगलैंड में शिक्षा का माध्यम बनी तो सबसे अधिक विरोध अंग्रेज़ों द्वारा ही किया गया था – बिलकुल वैसे ही जैसे भारतीय भाषाओं का आज भारत में विरोध है। पर हमें विरोध की परवाह न कर कार्य करते जाना चाहिये। उन्होंने सभी भारतीय भाषाओं को एक-सूत्रबद्ध करने हेतु संस्कृत के पठन-पाठन की भी संस्तुति की।

प्रोफेसर पूर्णचंद्र गुप्त ने मत प्रकट किया कि विज्ञान की उच्च शिक्षा के माध्यम के रूप में हिंदी के प्रतिष्ठित होने में सबसे बड़ी बाधा है सरकारी तन्त्र। सरकार बातें तो लच्छेदार करती है पर बहाने बनाने में भी कसर नहीं छोड़ती। उन्हें तथाकथित हिंदी सेवियों से भी शिकायत थी। जिन्होंने कभी विज्ञान का क ख ग भी नहीं पढ़ा, वे विज्ञान के क्षेत्र में हिंदी को आगे बढ़ाने वाली संस्थाओं के सर्वेसर्वा बने बैठे हैं। उन्होंने संस्तुति की कि एक ऐसा संगठन होना चाहिये जो सरकारी तन्त्र को सही दिशा में कार्य करने के लिये प्रेरित करे। श्री ओम प्रकाश "कमल" ने सूचना दी कि केन्द्रीय सचिवालय हिन्दी परिषद् तथा केन्द्रीय हिंदी निदेशालय, हिंदी को विज्ञान की भाषा बनाने के लिये सतत प्रयत्नशील है। डॉ० उषा सक्सेना ने सिफारिश की कि ऐसी कार्यशालायें आयोजित की जानी चाहियें जिनमें प्राध्यापकों को हिंदी माध्यम से विज्ञान की शिक्षा देने का प्रशिक्षण दिया जाये। डॉ० वाई० एन० राव ने "कम्प्यूटरों की भाषा के रूप में हिंदी के प्रयोग" की समस्या पर प्रकाश डाला।

[शेष पृष्ठ 5 पर]

संस्तुतियाँ

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के तत्वाधान में आयोजित विज्ञान परिषद् की यह संगोष्ठी "विज्ञान की उच्च शिक्षा का माध्यम अविलंब हिंदी/प्रादेशिक भाषायें हो जानी चाहिये" विषय पर गंभीर विचार-विमर्श के पश्चात् निम्नलिखित संस्तुतियाँ करती हैं—

1. भारत की संघीय एवं राज्य सरकारों तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को विज्ञान की उच्च कक्षाओं में प्राध्यापन एवं परीक्षा के क्षेत्र में अविलंब अधोलिखित कदम उठाने चाहिये—

(क) प्रश्न-पत्रों में अँग्रेज़ी के साथ अनिवार्य रूप से हिंदी/प्रादेशिक भाषाओं का उपयोग।

(ख) विद्यार्थियों को उत्तर देने के लिये उनकी इच्छानुसार भाषा के उपयोग की स्वतन्त्रता।

(ग) प्राध्यापक को विद्यार्थियों की सुविधा का ध्यान रखते हुये व्याख्यान की भाषा के चुनाव की स्वतन्त्रता।

(घ) प्रायोगिक कक्षाओं में अभ्यासों के लेखे-जोखे के लिए विद्यार्थी को इच्छानुसार भाषा के चुनाव की छूट।

(ङ) विद्वानों द्वारा मौलिक पाठ्यपुस्तकों के हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में लिखे जाने को भरपूर प्रोत्साहन।

2. शोध के क्षेत्र में निम्नलिखित बातें लागू की जानी चाहिये—

(क) शोध प्रबन्ध के लिये विद्यार्थी को इच्छानुसार भाषा के चुनाव की स्वतन्त्रता दी जानी चाहिये।

(ख) विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा विज्ञान की विभिन्न शाखाओं के ऐसे विशेषज्ञों की सूची तैयार की जानी चाहिये जो हिंदी/प्रादेशिक भाषाओं में लिखे गये शोध प्रबन्धों के मूल्यांकन में समर्थ हों।

(ग) वैज्ञानिक एवं औद्योगिक शोध परिषद् द्वारा अविलम्ब कम से कम एक शोध जनरल का हिन्दी में एक वर्ष के अन्दर प्रकाशन प्रारम्भ किया जाना चाहिये। विभिन्न प्रदेशों की सरकारों द्वारा अपनी भाषाओं के सन्दर्भ में भी यही निर्णय लिया जाना चाहिये। शोधपत्रों में सारांश अंग्रेज़ी में दिया जाना चाहिये जैसा कि अंग्रेज़ीतर अधिकांश अन्तर्राष्ट्रीय जरनलों में किया जाता है।

(घ) विश्वविद्यालय अनुदान आयोग तथा वैज्ञानिक एवं औद्योगिक शोध परिषद् द्वारा प्रति वर्ष ऐसी संगोष्ठियों का आयोजन किया जाना जाहिये जिनमें मौलिक शोध को केवल हिन्दी/प्रादेशिक भाषाओं में प्रस्तुत करने की व्यवस्था हो।

3. विश्वविद्यालय अनुदान आयोग तथा वैज्ञानिक एवं औद्योगिक शोध परिषद् एवं राज्य सरकारों आदि द्वारा शोध छात्रवृत्तियों एवं चिकित्सा तथा तकनीकी संस्थानों में प्रवेश के लिये परिचालित सभी प्रतियोगिता परीक्षाओं में हिन्दी/प्रादेशिक भाषाओं के माध्यम के रूप में चुनाव तथा ऐसी उत्तर पुस्तिकाओं के मूल्यांकन की समुचित व्यवस्था अविलम्ब की जानी चाहिये।

4. हिन्दी समेत अन्य भारतीय भाषाओं में विज्ञान के क्षेत्र में कार्यरत संस्थायें जैसे विज्ञान परिषद्, प्रयाग, मराठी वि० प०, केरल शास्त्र साहित्य परिषद्, तेलगू वि० प०, असम सा० सो०, मिलजुल कर विज्ञान की उच्च शिक्षा के क्षेत्र में अंग्रेज़ी को विस्थापित करने का प्रयत्न करें। आवश्यकता है कि इन सबका एक सम्मेलन बुलाया जाये जिसमें एक स्पष्ट नीति तथा कार्यक्रम की रूपरेखा निश्चित की जाये। □□

अध्यक्षीय भाषण

विज्ञान की उच्च शिक्षा का माध्यम

प्रो० शिवगोपाल मिश्र

बन्धुओ,

हिन्दी साहित्य सम्मेलन की इस ऐतिहासिक 'विज्ञान परिषद्' के अन्तर्गत **विज्ञान की उच्च शिक्षा का माध्यम अविलंब हिन्दी/अन्य भारतीय भाषाएँ हो जानी चाहिए**—शीर्षक सामयिक संगोष्ठी में उपस्थित सभी विज्ञान सेवियों एवं भाषाप्रेमियों का स्वागत है। प्रारम्भ में ये 'विज्ञान परिषदें' हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशनों की अभिन्न अंग होती थीं। पहिली विज्ञान परिषद् 1931 ई० में झाँसी अधिवेशन के अवसर पर आयोजित की गई थी जिसका सभापतित्व **श्री हीरालाल खन्ना** ने किया था। ऐसी परिषदें 1950 ई० तक आयोजित होती रहीं, किन्तु उसके बाद ठप्प हो गईं। अब 1988 में 38 वर्ष बाद जब इस विज्ञान परिषद् का आयोजन हुआ है तो आश्चर्य होना स्वाभाविक है। 1935 ई० की 'विज्ञान परिषद्' में भाषण करते हुए **डॉ० गोरखप्रसाद** ने हर्ष व्यक्त किया था कि हाईस्कूल में हिन्दी को विज्ञान की परीक्षाओं का माध्यम स्वीकार कर लिया गया है अतएव विज्ञान के प्रत्येक विषय पर पुस्तकें लिखी जानी चाहिए। 1940 ई० में **डॉ० सत्यप्रकाश** ने अपने अध्यक्षीय भाषण में इंगित किया था कि उस काल तक हिन्दी में कुल मिलाकर डेढ़ हज़ार पृष्ठ का वैज्ञानिक साहित्य उपलब्ध है। उन्होंने मराठी तथा तमिल भाषाओं में प्राप्य वैज्ञानिक साहित्य की भी चर्चा की थी।

तब से आधी शती बीत चुकी है। पारिभाषिक शब्दावली के लिए 1950 ई० में ही शिक्षा मन्त्रालय ने 'वैज्ञानिक शब्दावली बोर्ड' की स्थापना करके उसमें चुने हुए वैज्ञानिकों एवं शिक्षाविदों को रख कर विज्ञान के सभी अंगों की शब्दावलियाँ पूरी करा ली हैं और सरकार ने संस्तुति की है कि **भारत की विभिन्न भाषाएँ इन शब्दावलियों का उपयोग करें** जिससे एकरूपता उत्पन्न हो जो वैज्ञानिक लेखन एवं अध्ययन-अध्यापन के लिए मूलभूत आवश्यकता है।

अब कुछ विश्वविद्यालयों ने हिन्दी को समस्त विषयों के अध्ययन एवं परीक्षा का माध्यम भी स्वीकार कर लिया है और विद्यार्थियों को छूट दी गई है कि वे चाहें तो हिन्दी में प्रश्नोत्तर लिख सकते हैं। यहाँ तक कि अखिल भारतीय प्रशासनिक सेवाओं की प्रतियोगिता परीक्षाओं में भी वैज्ञानिक विषयों में हिन्दी या प्रादेशिक भाषाओं के प्रयोग करने की छूट है।

1947 ई० के बाद हिन्दी में जो वैज्ञानिक साहित्य रचा गया है उसकी कुछ उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं—यथा उच्चकोटि के लेखकों का हिन्दी में पदार्पण, भाषा एवं शैली में स्पष्टता तथा प्रवाह, मौलिक लेखन तथा अनुवाद। निजी प्रकाशकों ने भी जो पुस्तकें प्रकाशित की हैं उनके बाह्य आवरण आकर्षक, सुसज्जित एवं उनके आकार वृहद् हैं जिससे वैज्ञानिक विषयों को चित्रों से समन्वित किया जा सका है। आज ऐसी अनेक पुस्तकें प्राप्त हैं जो विदेशी पुस्तकों से होड़ ले सकती हैं।

वस्तुतः विज्ञान परिषदों में समय-समय पर जो कुछ कहा गया या जो-जो आशाएँ व्यक्त की गई थीं उनमें से बहुत बड़े अंश की पूर्ति हो चुकी है। 1970 ई० में हिन्दी प्रदेशों में ग्रन्थ अकादमियों की स्थापना

प्रोफेसर, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद—211002

करके केन्द्रीय सरकार ने एक-एक करोड़ रुपये की राशि प्रदान की जिससे विश्वविद्यालय स्तर की पाठ्य पुस्तकें तैयार की गई हैं, जिनमें स्वीकृत पारिभाषिक शब्दावली का ही उपयोग हुआ है।

हाल ही में विश्वविद्यालय स्तर की विज्ञानविषयक पुस्तकों की एक सूची प्रकाशित हुई है जिसमें से अधिकांश पुस्तकें हिन्दी ग्रन्थ अकादमियों द्वारा प्रकाशित हैं। इसमें 750 पुस्तकों की वृहद् सूची है जिसमें से रसायन की 112, भौतिकी की 115, वनस्पति विज्ञान की 81, प्राणि विज्ञान की 50, गणित की 85, इंजीनियरी की 56, आयुर्विज्ञान तथा भेषज की 66 एवं कृषि विषयक 126 पुस्तकें हैं। इन पुस्तकों के अतिरिक्त भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद् ने उत्तमोत्तम पुस्तकें प्रकाशित की हैं। स्पष्ट है कि विश्वविद्यालयों में विज्ञान विषय के अध्ययन-अध्यापन के लिए प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। इंजीनियरी तथा चिकित्सा—ये दो क्षेत्र हैं जिनमें वैज्ञानिक साहित्य का अभाव बताया जाता है किन्तु इस सूची से स्पष्ट है कि यह यथार्थ को छिपाना होगा।

जनोपयोगी साहित्य में भी यथेष्ट सामग्री उपलब्ध है। डॉ० गोरखप्रसाद तथा प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा ने जो स्वप्न देखे थे वे साकार हो चुके हैं। कृषि विषयक पुस्तकों के लेखन एवं प्रकाशन में पन्तनगर कृषि विश्वविद्यालय अग्रणी है। यही नहीं, 1940 ई० में डॉ० सत्यप्रकाश ने हिन्दी में वैज्ञानिक अनुसन्धान पत्रिका प्रकाशित करने का जो सुझाव रखा था वह भी 1958 ई० में पूरा हो चुका है। डॉ० गोरखप्रसाद ने हिन्दी विश्वकोश का जो सपना देखा था वह भी पूर्ण हो चुका है। सन्दर्भ ग्रन्थ के रूप में सी० एस० आई० आर०, नई दिल्ली से 'भारत की सम्पदा' के सात मनोहारी खण्ड छप चुके हैं। कई एक वैज्ञानिक कोश भी निकल चुके हैं। 'विज्ञान', 'विज्ञान प्रगति', 'वैज्ञानिक', 'आविष्कार' जैसी पत्रिकाएँ जन-सामान्य में विज्ञान विषयक चेतना का प्रसार कर रही हैं। हाल ही में दिल्ली आई० आई० टी० ने 'जिज्ञासा' नाम की एक पत्रिका प्रकाशित करने का संकल्प किया है। भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद् 'कृषि चयनिका' नामक शोध-पत्रिका निकाल रही है। अनेक शोध संस्थानों से उनकी प्रगति रिपोर्टें हिन्दी में छपने लगी हैं। कई विश्वविद्यालयों में विज्ञान के शोध प्रबन्ध भी हिन्दी में लिखे जा चुके हैं। कुछ सुप्रसिद्ध विज्ञान लेखकों को राज्यों के सर्वोच्च पुरस्कार भी मिल चुके हैं।

केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय दिल्ली द्वारा विश्वविद्यालयों में विज्ञान के अध्यापन के लिए कई कार्यशालाएँ भी आयोजित हो चुकी हैं जिनमें अध्यापकों ने बड़े ही मनोयोग से अध्यापन करते हुए अपनी क्षमता का परिचय दिया है। पाठ्यपुस्तकों के लेखन एवं प्रतिष्ठित अंग्रेजी ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद करने की प्रक्रिया में उच्चस्तरीय विज्ञान लेखकों की एक बहुत बड़ी टोली तयार हो चुकी है।

मेरे इस विवेचन का उद्देश्य यह बताना है कि विश्वविद्यालयों में हिन्दी के माध्यम से अध्ययन-अध्यापन का पूरा-पूरा वातावरण बन चुका है। यदि कोई हिचक या अटक है तो वह है आत्मविश्वास की कमी। जिस हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए इतने प्रयास हुए उसे यदि उच्च शिक्षा के क्षेत्र में व्यवहृत नहीं किया जा रहा तो यह हमारी दुर्बलता ही है। क्या सरकार ने ऐसा कुछ कहा है कि हम विश्वविद्यालयों में विज्ञान की शिक्षा के लिए हिन्दी का व्यवहार न करें? नहीं। यह तो हमारे कुछ प्रतिनिधियों के अन्तःकरण की पुकार है कि वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली क्लिष्ट है—इसे सरल बनाया जाय। शायद उन्हें ज्ञात नहीं कि पारिभाषिक शब्द कभी भी क्लिष्ट नहीं होते। वे एक निश्चित भाव को प्रकट करने के लिए निर्मित किये जाते हैं। यह कटु सत्य है कि विज्ञान-शब्दावली नितान्त कृत्रिम होती है और सर्वसाधारण के उपयोग के लिए नहीं होती। अतएव जब वरिष्ठ वैज्ञानिक शब्दावली की क्लिष्टता की बात करते हैं तो यह बात समझ में नहीं आती। तब तो यही लगता है कि यह बहाना है। जहाँ इण्टरमीडिएट कक्षाओं तक सारे छात्र हिन्दी माध्यम से

विज्ञान पढ़ते हैं वहीं विश्वविद्यालय में पहुँचते ही उन्हें अंग्रेज़ी में विज्ञान पढ़ने के लिए बाध्य होना पड़ता है। उनकी आशाओं पर तुषारापात हो जाता है। शायद ही कोई शिक्षक उसे उचित राह दिखाता हो।

इतनी बड़ी विडम्बना विश्व के किसी अन्य राष्ट्र में नहीं मिलेगी। अध्यापक की जो महत्वपूर्ण भूमिका है, उसे भुला दिया गया है। अब समय आ गया है कि हम आत्मालोचन करें, अपने हृदयों में झाँकें, उस व्यामोह को तोड़ दें जो आशंकाओं से निर्मित है। अध्यापक का दायित्व बहुत बड़ा है। वह छात्रों की आवश्यकताओं को समझे और उन्हें सही मार्गदर्शन करावे। अब समय नहीं रहा कि गोष्ठियों द्वारा हम हिन्दी को शिक्षा का माध्यम स्वीकार किये जाने का समर्थन करावें। जब सारी तैयारियाँ हो चुकी हैं तो फिर आगा-पीछा या तर्क-वितर्क करने से क्या लाभ।

मेरा तो यही अनुरोध है कि जितने भी मौलिक ग्रंथ लिखे गये हैं उनका सांगोपांग अवगाहन किया जाय और उत्तम ग्रंथों को चुनकर विद्यार्थियों तथा अध्यापकों को पढ़ने के लिए दिया जाय। हमने जितने ग्रंथों का अनुवाद कराया है उनका भी पुनरीक्षण हो। यह पश्चाताप करने से कोई लाभ नहीं कि पुस्तकें पढ़ने वाला कोई नहीं, पुस्तकें सड़ रही हैं। निर्णय हमारा था, हमीं उससे उबरने का प्रयास करें, किन्तु जल्द से जल्द।

जब तक हर विज्ञान प्रेमी नित्य ही हिन्दी में लिखेगा नहीं, अपने विचारों को हिन्दी पत्रिकाओं में प्रकाशित करेगा नहीं और सतर्क नहीं रहेगा, तब तक प्रगति मन्द रहेगी। हमारे वरिष्ठ वैज्ञानिकों को अंग्रेज़ी के उच्च प्रासादों से उतर कर हिन्दी की कुटिया में आना होगा। उन्हें अपने मन से ऊँच-नीच का भेदभाव निकालना होगा। उन्हें देश में, देश की भाषाओं में विचार व्यक्त करने होंगे। अपने शोध-परिणामों को देश की पत्रिकाओं में प्रकाशित करना होगा।

हिन्दी के लिए जो वातावरण बन चुका है वह स्वास्थ्यप्रद तभी हो सकता है जब उसमें हर विशेषज्ञ अपना योगदान दे। हमने अभी तक जो कुछ अर्जित किया है उसे लुटने न दें। हमारी गति मन्द न पड़े, उसके लिए प्रयत्नशील रहना होगा। चीखने से लाभ होने वाला नहीं। सामयिक साहित्य लिखा और पढ़ा जाय। अच्छी पुस्तकें लिखी जायँ। अच्छे लेखक पुरस्कृत हों। हिन्दी अकादमियाँ अपनी शीतनिद्रा तोड़ें। वे अपने दायित्व को निभावें। उनके पुरस्कार गुणवत्ता पर आधारित हों, व्यक्ति पर नहीं।

कुछ लोग लोकप्रिय वैज्ञानिक साहित्य के स्तर से देश के वैज्ञानिक वातावरण का अनुमान लगाना चाहते हैं। यह ठीक नहीं। शास्त्रीय साहित्य से उसे मिश्रित न किया जाय। मेरा अनुभव है कि चिकित्सा और इंजीनियरी के क्षेत्रों में भी हिन्दी के प्रति ललक है, अतएव उसको सही दिशा प्रदान की जावे।

भविष्य में हमारे जो भी सम्मेलन, गोष्ठियाँ या परिषदें आयोजित हों वे माध्यम के विषय में बहस के लिए न हों अपितु किसी विशेष शीर्षक पर उपलब्ध साहित्य की विवेचना के लिए या नये साहित्य सृजन को लेकर हों। हमें शक्ति का अपव्यय नहीं, अपितु सदुपयोग करना है। मुझे तो हिन्दी का भविष्य बहुत ही उज्ज्वल प्रतीत हो रहा है। आइये हम इस महायज्ञ में अपनी-अपनी क्षुद्र आहुति डाल कर अपना कर्तव्य पूरा करें।

□□

भारतीय भाषाओं के माध्यम से विज्ञान शिक्षण हेतु एक सार्वभौम शैली के सिद्धान्त

डॉ० देवेन्द्र नाथ श्रीवास्तव

यह विज्ञान का युग है। विज्ञान की कम से कम प्रारम्भिक शिक्षा के बिना किसी भी व्यक्ति का शिक्षित कहा जाना हास्यास्पद सा लगता है। भारतीय विद्यालयों में विज्ञान शिक्षण का माध्यम प्राय: अंग्रेज़ी ही है। इसको हिन्दी तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं में बदलने में कुछ मूलभूत कठिनाइयाँ हैं।

सबसे पहली बात जो सामने आती है वह है रोज़गार की। अंग्रेज़ी माध्यम से विज्ञान पढ़ा हुआ व्यक्ति फिलहाल तो पूरे देश में कहीं भी नौकरी प्राप्त कर सकता है तथा विदेशों में भी काम पा सकता है, परन्तु प्रादेशिक भाषा के माध्यम से पढ़ा हुआ व्यक्ति अपने प्रदेश के बाहर काम नहीं कर सकेगा। चूँकि विज्ञान तथा तकनीकी के छात्रों को रोजगार के लिए बहुधा दूसरे प्रान्तों में जाना पड़ता है, अत: केवल प्रादेशिक भाषा के माध्यम से शिक्षा पाये हुए छात्रों का भविष्य अन्धकारमय हो जायेगा।

दूसरी जो व्यवहारिक समस्या सामने आती है, वह है पाठ्य पुस्तकों की। अंग्रेज़ी से देश की तरह प्रादेशिक भाषाओं में पाठ्य पुस्तकें तैयार करना उनमें प्रतिवर्ष नवीन तथ्यों का समावेश करना कितना मँहगा और कठिन होगा। विज्ञान की मौलिक पुस्तकें अधिकांशत: अंग्रेजी में ही हैं। हालाँकि कुछ महत्वपूर्ण पुस्तकों के अनुवाद हिन्दी में किये गये हैं, लेकिन विज्ञान का साहित्य इतनी तीव्र गति से बढ़ रहा है कि केवल अनुवादों के सहारे ही उनके साथ चलना असम्भव है। अत: यह कटु सत्य स्वीकार करना ही होगा कि विज्ञान तथा तकनीकी में उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए तथा शोधकार्य के लिए अंग्रेज़ी अनिवार्य है।

अंग्रेज़ी एक विदेशी भाषा है। यह सर्वविदित है कि **अपनी मातृभाषा का आधार लेकर ही मनुष्य की कल्पना निर्बाध गति से उड़ान भरती है और उसी में मौलिक रचनाएँ स्वाभाविक रूप ग्रहण करती हैं।** किसी भी विदेशी भाषा के माध्यम से पढ़े हुए व्यक्ति की बुद्धि विदेशी साहित्य के भँवर में अपने आपको एक पराये वातावरण में पाती है और स्वच्छन्द गति से प्रवाहित नहीं हो सकती। बुद्धि के स्वच्छन्द प्रवाह के बिना ज्ञान का विकास और विस्तार सम्भव नहीं है। यही प्रधान कारण है कि भारतीय वैज्ञानिकों की यथेष्ट संख्या होते हुए भी, आधुनिक विज्ञान तथा तकनीकी के विकास में उनका मौलिक योगदान बहुत ही कम हो पाया है। अत: विज्ञान के क्षेत्र में अच्छे मौलिक कार्य करके अपनी बौद्धिक दासता तथा मानसिक पिछड़ेपन को दूर करने के लिए, कम से कम स्नातक दर्जे तक, प्रादेशिक भाषाओं में शिक्षा देने की नितान्त आवश्यकता है। ऐसा ही अंग्रेज़ी भाषी कितने ही विकसित देश कर रहे हैं।

प्रादेशिक भाषाओं के माध्यम से विज्ञान-शिक्षण में उत्पन्न उपरोक्त समस्याओं के समाधान के लिए चार उपाय हैं।

सर्वप्रथम तो भारत की सभी भाषाओं की लिपि एक होनी चाहिए जैसे कि हिंदी तथा मराठी की

वैज्ञानिक अधिकारी, इलेक्ट्रॉनिकी प्रभाग, भाभा परमाणु शोध केन्द्र, ट्राम्बे, बम्बई—400094

है। यूरोप में भी अनेक भाषाओं की लिपि एक ही है।

दूसरा उपाय है वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दों का भारतवर्ष की सभी भाषाओं का एक सार्वभौम मानक कोश तैयार करना। विज्ञान की प्रगति से नये-नये शब्दों की रचना तथा उनके अर्थों का नवीन परिवेश में स्पष्टीकरण आवश्यक है। यदि नवीन शब्दों की रचना ऐसी की जाय कि वे सभी प्रादेशिक भाषाओं में प्रचलित हो सकें तो वैज्ञानिकों को अपने विचारों के आदान-प्रदान में अपार सहायता मिल सकेगी।

तीसरा उपाय है भाषा में प्रचलित साधारण शब्दों के एक नवीन सार्वभौम शब्दकोश की रचना जिसमें ऐसे समानार्थी शब्दों का संकलन हो जो भारत की सभी प्रादेशिक भाषाओं में लगभग मिलती-जुलती ध्वनि रखते हैं। इन शब्दों को उभयनिष्ठ शब्द कहा जायेगा। विज्ञान तथा तकनीकी पाठ्यपुस्तकों में अधिक से अधिक इस प्रकार के उभयनिष्ठ शब्दों का यदि उपयोग हो तो एक भाषी दूसरे भाषा की पुस्तक यदि पूर्णरूपेण न पढ़ सके तो भी आवश्यक सूचना तथा आँकड़े प्राप्त कर सकेगा।

चौथा उपाय है भारतीय भाषाओं की लचक, उनकी ध्वनि संपन्नता और गेयता का वैज्ञानिक उपयोग। भारतीय राष्ट्र गीत सभी प्रादेशिक भाषाओं में लिखा जाता है और उसका अर्थ किसी भी प्रादेशिक भाषा का व्यक्ति समझ सकता है। इसका प्रधान कारण है कि राष्ट्रगीत में अधिकांश उभयनिष्ठ शब्द हैं। भारतीय भाषाओं की भाषा-वैज्ञानिक धरोहर अभी तक अछूती रही है। इसके नये परिवेश में समुचित उपयोग से विज्ञान के शिक्षण और अध्ययन में अभूतपूर्व सरलता लाई जा सकती है। तब देशी-विदेशी भाषा के माध्यम से शिक्षा का वाद-विवाद स्वतः ही समाप्त हो जायेगा।

यदि विज्ञान की मूलभूत प्रक्रियाओं, उनके मानक शब्दों, स्थिरांकों तथा आँकड़ों को उभयनिष्ठ शब्दों के सहारे छन्दबद्ध कर दिया जाय तो उन्हें किसी भी प्रादेशिक भाषा में लिखा जा सकता है और दसवीं कक्षा तक पहुँचते-पहुँचते छात्र उसे कंठस्थ कर लेंगे। तत्पश्चात् उसका विस्तार किसी भी प्रादेशिक भाषा में करना कठिन नहीं होगा। यहाँ तक कि आगे चलकर अंग्रेज़ी में शोधकार्य करते समय भी प्रारम्भिक कक्षा के वैज्ञानिक छन्दों में समाहित ज्ञान उनके लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होंगे।

सभी भारतीय भाषाओं की एक लिपि कोई भाषा-वैज्ञानिक समस्या नहीं है। यह तो केवल राजनीतिक समस्या है। अतः इसका समाधान सरल होते हुए भी कठिन है। परन्तु सार्वभौम मानक शब्दकोश की रचना, उभयनिष्ठ शब्दों का संकलन और उनकी सहायता से छन्दबद्ध नवीन वैज्ञानिक साहित्य का सृजन लिपियों की विविधता में भी किया जा सकता है। इस संबंध में अपना राष्ट्रगान ही सबसे बड़ा पथ-प्रदर्शक है। उदाहरण के लिये **बोहर** के परमाणु मॉडेल के एक सिद्धान्त का उभयनिष्ठ शब्दों के द्वारा द्विपदी छन्द में सूत्र रूप से वर्णन हिन्दी में यहाँ प्रस्तुत किया जाता है—

परमाणु ग्रह मंडला, वृत्त गति ऋण इलेक्ट्रॉन।
न्यूक्लियस केन्द्रित भार धन, द्वी आवेश समान॥

परमाणु ग्रह-मंडल की भाँति होता है जिसमें ऋणात्मक इलेक्ट्रॉन वृत्ताकार पथ पर गतिमान रहते हैं। केन्द्र के धनात्मक न्यूक्लियस पर सारा भार होता है। **परमाणु** में दोनों प्रकार के विद्युत् आवेश समान होते हैं। □□

टिप्पणी : इस आलेख में लेखक के व्यक्तिगत विचार प्रस्तुत किये गये हैं। इनका किसी भी संस्था के किसी कार्यक्रम से कोई सम्बन्ध नहीं है।

हमें क्या करना चाहिये

डॉ० ओम विकास

विज्ञान में उच्च शिक्षा तो संयुक्त राज्य अमेरिका तथा इंग्लैण्ड में मिलती है। हमारे जो सहपाठी विदेश में शिक्षित हुए हैं—उन्हें अधिक सम्मान और सुविधायें उपलब्ध हैं। प्रमोशन के समय पूछा जाता है कि कितने पेपर अन्तर्राष्ट्रीय (अर्थात विदेशी) जर्नलों में प्रकाशित हुये हैं? भारत के तो अंग्रेज़ी के भी जर्नल हेय माने जाते हैं। आइ० आइ० टी०, पी० एम० टी० अथवा आइ० ए० एस० में सफलता पाने के लिये बच्चों की अंग्रेज़ी पर विशेष ध्यान दिया जाता है। और तो और हमारे चुने हुए विधायक और सांसदों को कुर्सी पाने और बचाने के लिये भी अंग्रेज़ी का ही सहारा लेना पड़ता है। हिन्दी में उत्साह दिखाने वाले वैज्ञानिकों की अवमानना से यहाँ उपस्थित सभी वैज्ञानिक अवगत हैं। राजकाज में राजभाषा के प्रयोग की दुहाई देने के लिये कभी कभार जलसे तो मनाये जाते हैं लेकिन कर्मचारियों की ए० सी० आर० केवल अंग्रेज़ी में ही लिखी जाती है। राजभाषा के लिये किये गये प्रयासों और बलिदानों का उल्लेख करने के लिये कोई कालम या प्रविष्टि भी नहीं होती। भय व्याप्त है कि हिन्दी के लिये काम का उल्लेख उन्हें 'वैज्ञानिक' भी नहीं रहने देगा। ज्ञातव्य है कि भारत सरकार ने Divide and Conquer के आधार पर सैकड़ों हिन्दी समूहों को स्वतन्त्र मान्यतायें और अनुदान देते रहने की प्रथा जारी रखी है। इस नीति ने हिन्दी सेवियों को बहुत कम और हिन्दी नेताओं को बहुत बढ़ाया है। नेताओं के संगठन के बारे में तो आप जानते ही हैं। इस सन्दर्भ में अपना एक व्यंग्य प्रस्तुत करता हूँ—

"हिन्दी के प्रेमियो !
लक्ष्य प्राप्ति के अपूर्ण प्रयासों में
यौवन ढल चुका है।
जब शक्ति के शिखर पर थे
बिखरे थे, टकराये थे।
मकरंद के प्रलोभन में
फँसे हैं अब
समाहित सुकोमल पंखुड़ियों में।"

यहाँ तो एकत्व में अनेकत्व का नाद सदा गूँजता रहता है। C S T T, C H D, KHS जैसी सरकारी संस्थाओं पर करोड़ों रुपये वार्षिक व्यय होते हैं लेकिन उनका योगदान नगण्य है।

ऐसी स्थिति में क्या यह नहीं लगता कि विज्ञान में उच्च शिक्षा का माध्यम हिन्दी कदापि नहीं हो सकती है? और यदि ऐसा हुआ तो हमारे बच्चे क्या हीन ग्रंथि से ग्रसित नहीं हो जायेंगे? लगता है 21वीं सदी में अंग्रेज़ी परस्त पहले प्रवेश करेंगे और तब कैसी दयनीय दशा होगी हिन्दी समर्थकों की? फिर क्या करें? तड़पन छोड़ दें स्वाभिमान की और प्रगतिमूलक आत्मनिर्भरता की? आप ही बतायें "उधार का महल" चाहिये अथवा "मेहनत का अपना उद्योग?"

अंग्रेज़ों के शासन काल से आज तक के अनुभव और अवलोकन के आधार पर हम जानते हैं कि अंग्रेज़ी हमारी संस्कृति का अंग नहीं बन पायी। हमसे बड़ों ने इसे उधार लिया और संभाले रखा। लेकिन प्रक्रिया में हमने अपना पुरुषार्थ खो दिया है। विज्ञान और तकनीकी के अपने बलबूते का विकास करने से हम कतराये और अहम् तुष्टि के लिये नये भारत का शृंगार उधार ली गई तकनीकी से करने लगे। पर क्या हम अपनी भारतमाता को इसी प्रकार सजी-धजी परन्तु रुग्णकाय देखना चाहते हैं? आइये विचार करें

इलेक्ट्रॉनिकी विभाग, भारत सरकार, नई दिल्ली —110032

कि भारतमाता के रुग्णकाय हो जाने का कारण क्या है ? कैसे नैसर्गिक सौन्दर्य और स्वास्थ्य प्रदान कर हम उसे शक्तिरूपा बनाकर स्वयं उसके यशस्वी वीर पुत्र बन सकते हैं ?

भारतमाता के रोगी हो जाने के कारण मनोवैज्ञानिक हैं और वे हैं—आविष्कारोन्मुखी प्रवृत्ति का अभाव, आत्मविश्वास का अभाव और अपने ढँग से जीने तथा आगे बढ़ने की लालसा का अभाव। इसका उपचार भी विचारों से ही होगा - बाहरी दवा-दारू से नहीं। तकनीकी के क्षेत्र में मशीनी क्रांति, औद्योगिक क्रांति और अब सूचना क्रांति के बारे में हम सब ने सुना है। तकनीकी का आधार विज्ञान है। भारतमाता को स्वास्थ्य और नैसर्गिक सौंदर्य प्रदान करने के लिये विज्ञान-विचार क्रांति की आवश्यकता है। यह क्रांति सफल और लाभदायिनी हो—इसके लिये आवश्यक है कि हम सभी सक्रिय बनें। क्रांति का लक्ष्य हो—उत्कृष्टता प्राप्ति और नारा हो—"आविष्कार हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।" कार्य जटिल है और इसीलिये योजनाबद्ध कार्यान्वियन अपेक्षित है। यहाँ पर हम इस क्रांति के एक अति महत्वपूर्ण मुद्दे पर ही चर्चा कर रहे हैं और वह है—उच्च शिक्षा।

विज्ञान = वि + ज्ञान अर्थात् विशेष रूप से जाना हुआ, सुगठित एवं सुव्यवस्थित ज्ञान ही विज्ञान' है। अनेकत्व में एकत्व की स्थापना की संभावना ने विज्ञान को बढ़ाया है। प्रकृति के गूढ़ रहस्यों के उद्घाटन, विश्लेषण और परीक्षण द्वारा किसी निश्चित निष्कर्ष तक पहुँचना ही इसीलिये विज्ञान है। अवलोकन और चिंतन की प्रक्रियाओं में क्रमशः समाजभाषा और बालभाषा का महत्वपूर्ण स्थान है। बालभाषा से तात्पर्य है—बचपन की समाजभाषा जिसके माध्यम से मूर्त से अमूर्त चिंतन का अभ्यास बनता है। अधिकांशतः बालभाषा मातृभाषा होती है। तथ्यों का संग्रह करने, समझने एवं विचार विनिमय के लिये समाजभाषा का विशेष महत्व है। इसीलिये समाज की संरचना और भाषा पर विचार करना आवश्यक है। हमारे समाज में पचासी प्रतिशत या तो ग्रामवासी हैं अथवा नगरों की झुग्गी-झोपड़ी कॉलोनियों में रहने वाले हैं। इनकी समाजभाषा अंग्रेज़ी कदापि नहीं बन सकती। जिस समाज में साक्षरता एक तिहाई से अधिक नहीं है, उसमें बाहरी भाषा को थोपना एक दुर्गम कार्य है। हाँ, इस बहुसंख्यक वर्ग को उपेक्षित अवश्य रखा जा सकता है। परन्तु विज्ञान-विचार क्रांति में तो सभी का सहयोग एक आवश्यक शर्त है। इसीलिये हमारी शिक्षा-दीक्षा का माध्यम समाजभाषा ही हो सकती है। भारत के विशाल भूखंड पर हिंदी समाजभाषा के रूप में तथा एकता की दृष्टि से शृंखला-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित है। तमिल, तेलुगू, मलयालम, बंगला, गुजराती आदि प्रादेशिक भाषायें विभिन्न राज्यों की समाजभाषायें हैं।

शिक्षा के तीन पहलू हैं—बाल शिक्षा, उच्च शिक्षा और प्रशासन। तीनों की समन्वित योजना से ही सफलता संभव है।

बालशिक्षा

केन्द्रीय विद्यालय, मानक विद्यालयों के रूप में उभर रहे हैं। ये सरकारी हैं। इनमें विज्ञान और गणित की पढ़ाई कक्षा एक से ही अंग्रेज़ी में होती है। यदि इन विद्यालयों में विज्ञान और गणित की पढ़ाई लोकभाषा हिंदी में होने लगे तो निम्नलिखित लाभ होंगे—

(1) अधिकांश बच्चों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास होगा।

(2) कान्वेन्टी स्कूलों की व्यवस्था स्वतः ही चरमराने लगेगी।

हम सभी का संकल्प होना चाहिये कि केन्द्रीय विद्यालयों में विज्ञान और गणित की शिक्षा कक्षा एक से ही हिंदी में हो।

उच्च शिक्षा

अनुवाद के सहारे हिंदी/प्रादेशिक भाषाओं के माध्यम से उच्च शिक्षा की व्यवस्था असंभव है। आवश्यक है कि अधिकाधिक वर्तमान शोध कार्य हिंदी में उपलब्ध हो। सरकार के तकनीकी विभाग एवं शिक्षा विभाग हिन्दी में शोध-पत्रिकायें प्रकाशित करने

की व्यवस्था करें। Extended Abstract (विस्तृत सारांश) अंग्रेज़ी में और सम्पूर्ण लेख हिन्दी में हो। शोधपरक संगोष्ठियाँ आयोजित की जायें। अध्यापक-प्रशिक्षण एवं पुनश्चर्या कार्यशालायें हिन्दी के माध्यम से आयोजित की जायें। B.E., B. Tech. एवं M Sc. के पाठ्यक्रमों में एक अनिवार्य विषय हो—"लोकभाषा में तकनीकी अभिव्यक्ति कौशल।"

प्रशासन

नौकरियों तथा आइ० आइ० टी०, पी० एम० टी० जैसी प्रवेश परीक्षाओं में प्रश्नोत्तर माध्यम मूलतः हिन्दी हो। भारत सरकार का शिक्षा विभाग भी जागे और हिन्दी को शोध माध्यम बनाने की दिशा में ठोस प्रयत्न करे। वै० त० श० आयोग सभी विषयों के जेबी कोश प्रकाशित करे तथा विज्ञान की पुस्तकों के लेखन, प्रकाशन एवं वितरण की समुचित व्यवस्था करे। इसका अध्यक्ष अनिवार्यतः वैज्ञानिक होना चाहिये। पिछले दस वर्षों से इस आयोग का अध्यक्ष वैज्ञानिक नहीं है। इसका परिणाम सभी भोग रहे हैं और आगे भी भोगेंगे। केन्द्रीय हिन्दी संस्थान से आशा थी कि वे हिन्दी के व्यवहारिक और तकनीकी पक्ष को मजबूत करेंगे, लेकिन वे राजनीति से ग्रस्त हो गये। अधिकांश सरकारी हिन्दी संस्थान रुग्ण हैं। सभी भाषा संस्थानों के शासी मण्डली में आधा प्रतिनिधित्व वैज्ञानिकों का हो। राजभाषा विभाग सुनिश्चत करे कि तकनीकी विभागों में हिन्दी सेवी वैज्ञानिकों की प्रताड़ना नहीं की जायेगी, उन्हें उबारा जायेगा और आगे प्रोत्साहन के लिये A C R में अनिवार्य प्रविष्टि हो - "अधिकारी ने राजभाषा के प्रयोग, संवर्धन एवं तकनीकी विकास की दिशा में क्या योगदान किया ?"

अन्त में हम एक सात सूत्री कार्यक्रम बना सकते हैं--

(1) **संस्थागत सहयोग**

लोकभाषा संस्थायें संगठित और सुव्यवस्थित हों।

(2) **प्राथमिक विज्ञान शिक्षा हिन्दी में**

केन्द्रीय विद्यालयों में कक्षा एक से विज्ञान और गणित की पढ़ाई हिन्दी/प्रादेशिक भाषाओं में हो।

(3) **हिन्दी में शोध-पत्रिकायें**

हिन्दी में विज्ञान/तकनीकी उच्चस्तरीय शोध-पत्रिकायें (जर्नल) प्रकाशित करने के लिये भारत सरकार के तकनीकी विभागों से सतत अनुदान की व्यवस्था हो।

(4) **शासी मण्डलों में वैज्ञानिक प्रतिनिधित्व**

सभी भाषा संस्थानों के शासी मण्डलों में आधी संख्या वैज्ञानिकों की हो। वै० त० श० आयोग का अध्यक्ष अनिवार्यतः वैज्ञानिक हो।

(5) **नौकरियों में हिन्दी सेवा को मान्यता**

ACR में हिन्दी माध्यम से विज्ञान प्रचार-प्रसार और तकनीकी विकास किये जाने का उल्लेख अनिवार्यतः हो। प्रमोशन के समय भी इसे महत्व दिया जाय।

(6) **प्रतियोगिता परीक्षायें हिन्दी में**

उच्च शिक्षा और नौकरियों की सभी प्रवेश परीक्षायें हिन्दी में कराये जाने की तुरन्त व्यवस्था हो।

(7) **हिन्दी शिक्षण सामग्री एवं प्रशिक्षण कार्यशालायें**

प्राध्यापक प्रशिक्षण कार्यक्रम, पुनश्चर्या पाठ्यक्रम तथा तकनीकी लेखन कार्यशालायें हिन्दी में आयोजित की जायें। इसके लिये सामग्री हिन्दी में उपलब्ध हो। NCERT विज्ञान और गणित की पुस्तकें मूलतः हिन्दी में तैयार कराये, अनुवाद न कराये। हिन्दी में विज्ञान की पुस्तकों के लेखन, प्रकाशन और वितरण—तीनों की समुचित व्यवस्था हो। □□

विज्ञान की उच्च शिक्षा का माध्यम मातृभाषा

डॉ० वृजभूषण

अभी कुछ दिन पूर्व ही हमने अपनी आज़ादी की चालीसवीं वर्षगांठ मनाई है। स्वाधीनता संग्राम के दिनों में स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् के भारत की एक स्वर्णिम कल्पना हमारे मन में थी। क्या हमने उन सभी लक्ष्यों को प्राप्त कर लिया है? मेरे विचार से तो शिक्षा के क्षेत्र, विशेषकर विज्ञान की उच्च शिक्षा के क्षेत्र में तो हम अभी उस आज़ादी से कोसों दूर हैं, क्योंकि विज्ञान की उच्च शिक्षा अभी भी एक विदेशी भाषा 'अंग्रेज़ी' के माध्यम से दी जाती है। मैं यहाँ यह कहने के लिए क्षमा प्रार्थी हूँ कि विज्ञान की उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाले अधिकतर विद्यार्थियों की स्थिति एक रट्टू तोते के समान होती है। वास्तव में दोष उनका नहीं है। इसके लिए उत्तरदायी है शिक्षा का माध्यम। जिस भाषा पर हममें से अधिकतर की पकड़ नहीं, उस भाषा के माध्यम से शिक्षा ग्रहण करने पर हम विषय की गहराई में पहुँचने की अपेक्षा कैसे कर सकते हैं? हाँ अधिक से अधिक अंक प्राप्त करने के लिए मुख्य विषय को छोड़कर भाषा से जूझते हुए विषय को रटने को ही बाध्य होना पड़ता है। मैं अपने 12 वर्षों के व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर कह सकता हूँ कि बी० एस-सी० क्या एम० एस-सी० की कक्षाओं में भी कुछ जटिल विषयों को समझाने के लिए आज भी हिन्दी का सहारा लेना पड़ता है। प्रायः सभी विज्ञान के छात्रों में यह स्वाभाविक रुचि होती है कि उन्हें अपने देश के लेखकों की पुस्तकें पढ़ने को मिलें। कारण विदेशी विद्वानों की लिखी पुस्तकों में एक तो अंग्रेज़ी भाषा के कठिन शब्दों का प्रयोग अधिक होता है और दूसरे पारिभाषिक शब्दों की दुरूहता भी उन्हें अखरती है। इन सबसे यह स्पष्ट होता है कि विज्ञान की उच्च शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी रखकर हम एक झूठा दिखावा कर रहे हैं। क्यों न हम सच्चाई को स्वीकारें और विज्ञान की उच्च शिक्षा का माध्यम हिन्दी या प्रादेशिक भाषा कर दें? विज्ञान की उच्च शिक्षा का माध्यम हिन्दी या अन्य प्रादेशिक भाषाएँ होंगी, तो छात्रों में रट्टू-प्रवृत्ति स्वयमेव दूर हो जायेगी और वे अपनी भाषा के आनन्द में मग्न होकर कठिन से कठिन विषय को भी विचार और समझ के द्वारा ग्रहण करने में समर्थ हो सकेंगे। कहने का तात्पर्य यह है कि शिक्षा का माध्यम अगर अपनी मातृभाषा हो तो निश्चय ही हमारे युवा वैज्ञानिक किसी भी विषय की बारीकियों को समझने के उपरान्त उसकी तह में पहुँच कर उसके अनमोल रत्न ढूंढ़ निकालेंगे।

विज्ञान की उच्च शिक्षा का माध्यम हिन्दी अथवा प्रादेशिक भाषा न होने का एक और घातक परिणाम जो देश को भुगतान पड़ रहा है, वह है समकालीन वैज्ञानिक चिन्तन के उपक्रमों का वर्तमान देश की दिशा से न जुड़ना। विज्ञान के विविध विषयों में जो वैज्ञानिक शोध आजकल देश में हो रहा हैं, उनमें अधिकतर का देश की समस्याओं से कोई सरोकार नहीं होता है। हमारे वैज्ञानिक उद्देश्यों से आँख मूंदकर केवल अर्थ और अहं की तुष्टि की अन्धी दौड़ दौड़ रहे हैं। उनमें यह एक मिथ्या धारणा है कि उनको ख्याति तभी प्राप्त होगी, जब उनके शोध लेख विदेशों से प्रकाशित होने वाली पत्रिकाओं में छपेंगे। इस प्रवृत्ति की धारा में बहकर हमने अपनी मौलिक चिन्तन-शक्ति का हनन करना शुरू कर दिया है। यह स्थिति अत्यन्त चिन्ता-

रसायन विभाग, महर्षिदयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक, हरियाणा—124001

जनक है और हमें इससे उबरने के लिए सामूहिक प्रयास करना होगा। हमें यह स्पष्ट करना होगा कि ख्याति केवल विदेशी भाषाओं में प्रकाशित होने वाले शोध ग्रन्थों में लेख छपवा कर ही नहीं मिलती, बल्कि इसके लिए लीक से हटकर मौलिक और जनोपयोगी काम करना होगा। जर्मनी, रूस, फ्रांस आदि देशों के वैज्ञानिक इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

विज्ञान की पुस्तकें यदि सरल हिन्दी या अन्य प्रादेशिक भाषाओं में उपलब्ध हों, तो साधारण जन समुदाय में भी वैज्ञानिक विचारों का प्रचार भली-भाँति हो सकेगा। दूसरे शब्दों में हम वैज्ञानिक जन-समुदाय के अति निकट आ जायेंगे और निश्चय ही उनमें फैली अनेक भ्रांतियों को दूर करके एक नए वातावरण, जो देश की प्रगति के लिए आवश्यक है, का निर्माण कर सकेंगे।

अन्त में मैं इतना ही कहूँगा कि 'सुबह का भूला अगर शाम को घर लौट आए तो उसे भूला नहीं कहते हैं।' अब समय आ गया है जब हम वैज्ञानिक एक-मत होकर अपनी आवाज़ बुलंद करते हुए जनमत को अपने साथ लेकर अपने ही देश में विदेशी भाषा के शिकंजे में कसमसा रहे अपने विद्यार्थी वर्ग को विदेशी भाषा की गुलामी से आज़ादी दिलायें। मेरा सरकार से आग्रह है कि वह अधिक से अधिक संख्या में मौलिक प्रतिभाओं को आगे लाने के लिये विज्ञान की उच्च शिक्षा का माध्यम अविलंब हिन्दी अथवा प्रादेशिक भाषा करे। □□

[पृष्ठ 22 का शेषांश]

मिलती जायेगी। यह एक अत्यन्त सभ्य प्रकार का अधःपतन तथा केवल सांस्कृतिक क्षय है जिसके चलते केवल कुछ अंग्रेज़ी शब्दों के प्रयोग मात्र से व्यक्ति को पांडित्य की प्रभा से मंडित मान लिया जाता है। यह एक ऐसी त्रासदी है जिसे और भीषण बनने के पूर्व रुकना ही चाहिये। इसका प्रावधान यही है कि उच्च-तर स्तरों पर सभी विषयों का शिक्षण हिन्दी या प्रादे-शिक भाषाओं के माध्यम से किया जाय।

ज्ञान-वर्धन के लिये विभिन्न विषयों का अध्ययन तो हमें अपनी मातृभाषा के माध्यम से ही करना चाहिये परन्तु उसके लिये भी निम्नलिखित दो शर्तों का पूरा होना आवश्यक है—(i) सम्बन्धित प्रादेशिक भाषा का शिक्षण अत्यन्त सावधानीपूर्वक एवं त्रुटिहीन रूप से किया जाना चाहिये। वैसे, यह शर्त अंग्रेज़ी को इसी प्रकार पढ़ाये जाने की अपेक्षा कहीं अधिक सुगम है। (ii) अंग्रेज़ी भाषा को भी भावनात्मक अथवा किसी अन्य प्रकार के पूर्वाग्रह के पढ़ाया जाना चाहिये ताकि हम अपने को विश्व से बिलकुल अलग-थलग महसूस करने के बजाय उसका एक हिस्सा अनुभव करें।

हमारे सामने एक बहुत बड़ा कार्य है अंग्रेज़ी तकनीकी शब्दों का अनुवाद प्रादेशिक भाषाओं में इस प्रकार करना कि उनका मूल अर्थ बना रहे। जहाँ तक संभव हो उन्हें वैसा का वैसा ही अपनाया जा सकता है—इससे हमारी भाषायें समृद्ध ही होंगी। आवश्य-कता केवल प्रादेशिक भाषाओं के वाक्य विन्यास के ढंग तथा व्याकरण को सुरक्षित रखने की है ताकि सिद्धांतों की अभिव्यक्ति सफल रूप में की जा सके। आइये हम विवेक का सहारा लें और भावनाओं को न उभाड़ें। आइये हम कठोर यत्न करें। आइये हम अपनी मौलिक प्रतिभा को विकसित होने दें ताकि भारतीय भाषाओं एवं संस्कृति के प्रति आदर और विस्मय से **मैकाले** अपनी कब्र में करवट लेने को विवश हो जाय। □□

नैतिकता का अभाव

अनिल कुमार शुक्ल

माननीय अध्यक्ष जी, संयोजक महोदय एवं उपस्थित भाषाप्रेमी विद्वज्जन ! करीब 37 साल के लम्बे कष्ट्रप्रद अन्तराल के पश्चात् हिन्दी साहित्य सम्मेलन के 'हीरक जयंती' समारोहों के अंतर्गत आयोजित इस 'विज्ञान परिषद्' का ऐतिहासिक महत्व है। यह ऐतिहासिक महत्व केवल इसी अर्थ में नहीं है कि यह इतने वर्षों के अन्तराल के बाद पुनः आयोजित है, बल्कि इस अर्थ में भी यह ऐतिहासिक है कि यह वर्ष, 1988 इसी शहर में स्थापित देश की सबसे पुरानी संस्था 'विज्ञान परिषद्, प्रयाग' का 75वाँ यानी 'अमृत जयंती' वर्ष भी है। पर सम्मेलन के तत्वावधान में 'विज्ञान परिषदों' के आयोजन की श्लाध्य परम्परा 1931 के झांसी अधिवेशन से जब शुरू हुई थी तो हिन्दी भाषा के समक्ष एक बहुत बड़ी चुनौती थी–'साहित्यिक' हिन्दी के साथ-साथ 'वैज्ञानिक' हिन्दी के विकास की। उस चुनौती को हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं ने बखूबी स्वीकार किया। परिणामस्वरूप हिन्दी और भारतीय भाषाओं में प्रचुर मात्रा में वैज्ञानिक साहित्य का सृजन हुआ है। लोकप्रिय वैज्ञानिक साहित्य के साथ-साथ विज्ञान की पारंपरिक शाखाओं में पर्याप्त पाठ्यपुस्तकें भी तैयार हो चुकी हैं। इनमें से अनेक पुस्तकें स्तरीय भी हैं। हाँ, यह सम्भव है कि इनमें से कुछ की भाषा में शैलीगत सौन्दर्य व व्याकरणिक अशुद्धियाँ हों। पर इसका तो परिमार्जन हो सकता है और होगा भी ! फिर विज्ञान की उच्च शिक्षा का माध्यम हिन्दी व अन्य भारतीय भाषाएँ क्यों नहीं बन पा रही हैं ?

कारण स्पष्ट है, पर जटिल है। जटिलता हम भारतीय भाषाप्रेमियों की मानसिकता एवं चरित्र सम्बंधी है। अगर विद्वान श्रोता कटुसत्य के लिए मुझे माफ करें तो मैं कहूँगा कि हम सारे भारतीय मानसिक रूप से बीमार हैं, हीन भावना से ग्रस्त हैं, स्वभाव से दब्बू हैं और दुर्बल चरित्र के हैं। हम अपना आत्म-विश्वास गिरवी रख चुके हैं। हम अपनी क्षमताओं को जानते हुऐ भी, अपने अंग्रेजीदां मालिकों का उपदेश सुनते रहते हैं। हमारे ये सरमायेदार तथाकथित बुद्धिजीवी विद्वान और नेता—जब हमें यह उपदेश पिलाते हैं कि हिन्दी व अन्य भारतीय भाषाओं को वैज्ञानिक अभिव्यक्ति के योग्य बनाया जाय, उनमें और वैज्ञानिक साहित्य रचा जाय तो हममें इतना चारित्रिक साहस नहीं रहता कि उनसे उलटकर पूछ सकें कि क्या उन्होंने कभी इन भाषाओं में रचे गये वैज्ञानिक साहित्य को पढ़ा है ? क्या उनमें से कोई यह बता सकता है कि इन भाषाओं की **अभिव्यक्ति क्षमता** कहाँ और कैसे कम है ? जितना साहित्य रचा जा चुका है, उसे तो काई पढ़ने वाला नहीं है। और साहित्य भी रचा जा सकता है, रचा जाना चाहिए, पर उसे पढ़ेगा कौन ? आज वैज्ञानिक साहित्य रचने की आवश्यकता उतनी नहीं है जितनी कि रचे गये साहित्य को पढ़े जाने की जरूरत है। जब हम—यानी वैज्ञानिक, शिक्षक व छात्र—पूर्व रचित साहित्य को पढ़ेंगे, तभी हमें यह बोध होगा कि क्या लिखा जा चुका है, क्या लिखना है ! पढ़ लेने के बाद हमारा यह व्यामोह (भ्रम) भी टूट जाएगा कि भारतीय भाषाएँ समर्थ नहीं हैं। भारतीय भाषाओं में अब तक रचे गए वैज्ञानिक साहित्य को पढ़े बिना हम अपने आत्मविश्वास को नहीं हासिल

संयुक्त मंत्री, विज्ञान परिषद् प्रयाग, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद

कर सकेंगे और अंग्रेजीपरस्तों को झूठे बयानों का मुँहतोड़ जवाब देने का चारित्रिक साहस भी नहीं पा सकेंगे।

जहाँ तक विज्ञान की उच्च शिक्षा के माध्यम का प्रश्न है, निर्विवादतः हिन्दी व अन्य भारतीय भाषाएँ ही हो सकती हैं और हो के रहेंगी। प्रश्न केवल समय का है। और समय का यह प्रश्न सीधे उच्चशिक्षा से प्रत्यक्षतः सम्बन्धित शिक्षकों एवं छात्रों की मानसिकता से जुड़ा है! इन्टर तक अपनी मातृभाषा के माध्यम से विज्ञान पढ़कर आने वाले 95 प्रतिशत छात्र अपनी कक्षा में बलपूर्वक एकमत होकर अपरिचित भाषा में विज्ञान पढ़ाए जाने के खिलाफ आवाज़ क्यों नहीं उठाते? जिस तरह कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के छात्रसंघ ने इस वर्ष असाधारण चारित्रिक साहस का परिचय देते हुए विश्वविद्यालय की कार्यवाहियाँ केवल हिन्दी में प्रकाशित कराने का निर्णय कार्यसमिति में पारित करा लिया वैसे ही सभी उच्चशिक्षा संस्थानों/विश्वविद्यालयों के छात्र अथवा छात्रसंघ विज्ञान की उच्चशिक्षा का माध्यम हिन्दी या भारतीय भाषाओं को अविलम्ब बना देने के लिए ही क्यों नहीं करते? इसी प्रकार हमारे शिक्षक कक्षाओं में अपनी भाषा में क्यों नहीं पढ़ाते? कौन रोकता है उन्हें? वे पढ़ाना तो शुरू करें—रोकने वाले अधिकारी/सरकार की अकल ठिकाने आ जाएगी। प्रारम्भ में शिक्षकों को कठिनाई हो सकती है। पर कितनी बड़ी कठिनाई है यह? एक कक्षा में प्रत्येक शिक्षक मुश्किल से 35-40 व्याख्यान साल में देता है। अगर वे अपनी भाषा में व्याख्यान तैयार करने की ठान लें तो कठिनाई बहुत थोड़ी है। उनकी सहायता के लिए पारिभाषिक शब्दावली है और प्रत्येक विषय-शाखा पर औसतन पाँच पुस्तकें हैं! [यदि मूलशाखा जैसे भौतिकी, रसायन, इन्जीनियरी आदि के आधार पर गिनें तो किसी में भी—हिन्दी में—पचास से कम पाठ्यपुस्तकें नहीं हैं]।

कमी केवल हमीं में है - शिक्षकों-छात्रों में। कुछ शिक्षक छात्रों को यह कहकर दिग्भ्रमित करते हैं कि हिन्दी में पुस्तकें हैं ही नहीं! शिक्षकों को खुद हिन्दी में उपलब्ध अपने विषय की सारी पुस्तकें पढ़नी चाहिए और उनमें से उपयुक्त पुस्तकें पढ़ने के लिए छात्रों को प्रेरित करना चाहिए। अधिकांश छात्र इस तथ्य से अपरिचित हैं कि किसी भी विश्वविद्यालय/उच्चशिक्षा संस्थान में केवल **अंग्रेजी में** प्रश्नोत्तर लिखने की बाध्यता नहीं है। विश्वविद्यालयों के शिक्षकों का दायित्व है कि वे छात्रों में व्याप्त इस भ्रम को तोड़ें। यदि कहीं, ऐसा कोई प्रतिबन्ध है, तो उसे भी तोड़ने का व्रत लें—जैसा कि आई० आई० टी० दिल्ली के **श्री श्याम रुद्र पाठक** ने किया था।

अपने अधिकारों के प्रति जब तक आप खुद सजग नहीं होंगे, तब तक आप दर-दर की ठोकरें खाते रहेंगे। आप वैज्ञानिक हों, शिक्षक हों या छात्र हों अपनी भाषा में भी पढ़ने, लिखने और बोलने का साहस रखिए। भाषा कोई सजीव वस्तु नहीं है, अतः कोई भी भाषा खुद समर्थ या विकसित नहीं होती। उसकी समृद्धि और सामर्थ्य तो उस भाषा का व्यवहार करने वालों पर निर्भर होती है। इसीलिए मेरा दृढ़ विश्वास है कि जिस दिन हमलोग अपनी **निराधार** हीन भावना से मुक्त हो, अपनी शीतनिद्रा त्याग देंगे, उसी दिन और उसी क्षण, विज्ञान की उच्च शिक्षा का माध्यम हिन्दी व अन्य भारतीय भाषाएँ हो जाएँगी!

जय हिन्दी! जय भारत!! □□

शोक समाचार

प्रो० बाबूराम सक्सेना का निधन

इलाहाबाद के प्राख्यात वयोवृद्ध शिक्षाशास्त्री, भाषाविद्, संस्कृत के मूर्धन्य विद्वान, रायपुर और इलाहाबाद विश्वविद्यालयों के भूतपूर्व उप-कुलपति, हिन्दी-प्रेमी, आर्यसमाज के सुदृढ़ स्तम्भ तथा 'विज्ञान परिषद् प्रयाग' के भूतपूर्व सभापति का गत 13 जुलाई को निधन हो गया। विज्ञान परिषद् परिवार उन्हें हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता है।

इंजीनियरी में हिन्दी

आशुतोष मिश्र

आज की इस विज्ञान परिषद् में 'हिन्दी और विज्ञान'' को लेकर अत्यन्त गूढ़ विचारधाराएँ प्रस्तुत की गई हैं। मैं आपका ध्यान एक छोटे किन्तु विचारणीय विषय की ओर आकृष्ट करना चाहूँगा। वह है—**इंजीनियरी विषयों का हिन्दी में अध्ययन-अध्यापन।** आजकल सभी इंजीनियरिंग व प्रौद्योगिकी संस्थानों में शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी है, परन्तु इस बात के अच्छे संकेत हैं कि सरकार हिन्दी को उसका स्थान दिला सकने के लिए यत्नशील है। उदाहरणस्वरूप भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थानों (I I T's) की प्रवेश परीक्षा में इस वर्ष से पूर्व अंग्रेज़ी का एक अनिवार्य पेपर होता था, जिसके कारण ग्रामीण क्षेत्रों के अनेक उद्यमी एवं प्रतिभावन छात्र प्रवेश पा सकने में असमर्थ होते थे। यह तो कह सकना कठिन है कि इस वर्ष ऐसे कितने छात्रों की प्रतिभा पहचानी जा सकेगी, पर हाँ, एक बात अवश्य है कि असफल छात्रों के पास यह कहने को नहीं बचेगा कि ''अरे! बाकी विषयों में तो मेरे शत प्रतिशत अंक थे—केवल अंग्रेज़ी के कारण ही मेरा चुनाव रुक गया !!''

यह तो हुई प्रवेश पाने की बात। मान लीजिए प्रवेश तो मिल गया, पर समस्या रह गई अध्ययन-अध्यापन के माध्यम की। यह बात अवश्य है कि विज्ञान की कोई भाषा नहीं होती, इसलिए विज्ञान के विषय—भौतिकी, रसायन व गणित—अधिक समस्या नहीं उत्पन्न करते, परन्तु इंजीनियरी के विषयों की जटिलताओं को व्यक्त करना एक कठिन कार्य होता है और इंजीनियरी का अधिकतर साहित्य अंग्रेज़ी में सरलता से उपलब्ध है। यह बात नहीं कि हिन्दी मे इंजीनियरी की अच्छी पुस्तकें उपलब्ध नहीं हैं अथवा लिखी नहीं जा सकती हैं, दुःख इस बात का है कि उनकी संख्या बहुत कम है, जिसके कारण उनकी ओर कोई नज़र उठाकर भी नहीं देखता। इसलिए इंजीनियरी के विषयों को हिन्दी में पढ़ने-पढ़ाने से पूर्व बोधगम्य, उच्चस्तरीय पुस्तकों का लिखा जाना नितान्त आवश्यक है। उदाहरणस्वरूप—''कंप्यूटर कैसे चलता है'', ''रोबोट क्या है'', ''राकेट की कहानी'' आदि शीर्षकों की अनेक रंग-बिरंगी पुस्तकें आपको मिल जाएँगी, पर शायद ही ''कंप्यूटर प्रोग्रामिंग'' अथवा ''रोबोटिक'' पर कोई उच्चस्तरीय पुस्तक हिन्दी में लिखी गई हो। आखिर क्यों? सिर्फ इसलिए कि विदेशी इंजीनियरी पुस्तकों के आगे वह रद्दी के भाव भी नहीं बिकेंगी? आज हम चाहते तो अवश्य हैं कि इंजीनियरी का माध्यम हिन्दी हो, पर जब पुस्तकें ही नहीं उपलब्ध होंगी तो छात्र पढ़ेगा कहाँ से?

···एक बात और···हिन्दी का कट्टरपंथी सेवक बनकर हमें कुछ हाथ नहीं लगेगा। हम शायद यह भूल जाते हैं कि आज हमारे इंजीनियरी के अनेक छात्र विदेश उच्चशिक्षा ग्रहण करने जाते हैं। उनके लिए हमने क्या समाधान खोजा? 'भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान', कानपुर से ही प्रति वर्ष, पौने तीन सौ छात्रों के बैच से लगभग 50 विदेश जाते हैं—इसके लिए उन्हें अनेक परीक्षाओं से गुज़रना पड़ता है, जिन सबका माध्यम अंग्रेज़ी होता है। इन उन्नीस प्रतिशत छात्रों का क्या होगा? इसके लिए भी समाधान है। हम मुख्य माध्यम को हिन्दी बनाए रखते हुए भी ऐसे छात्रों को अंग्रेज़ी में विशेष सहायता प्रदान कर सकते हैं। यह कार्य कठिन है, और इसमें अड़चनें अवश्य आएँगी, परन्तु मेरे विचार से यह असंभव नहीं।

सबसे बड़ा भ्रम तो छात्रों के ही मन में है। वे ऐसा समझते हैं, कि बगैर अंग्रेज़ी के उनका भविष्य अन्धकारमय है। हमें उनके मन से भय निकालने का आश्वासन मात्र ही नहीं देना है, वरन् कुछ ऐसा करके दिखलाना है, जिससे कि वे अपनी मातृभाषा का प्रयोग करने में गर्व का अनुभव कर सकें। □□

भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, कानपुर (उत्तर प्रदेश)

माध्यम के रूप में हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का महत्व

डॉ० कोटा वेंकट सुब्बाराव

यह सर्वमान्य है कि शिक्षा के मुख्य दो उद्देश्य हैं : (i) लोगों में जानकारी पैदा करना तथा जानकारी में वृद्धि करना एवं (ii) इस प्रकार प्राप्त जानकारी के सही उपयोग के लिये उन्हें दक्ष बनाना । व्यक्ति और समष्टि के कल्याण के लिये इन दोनों ही उद्देश्यों की पूर्ति युगों-युगों से संचित ज्ञान के प्रसारण द्वारा सम्भव हो पाती है । यह कथन तो एक पृष्ठोक्ति बन गया है कि मनुष्य के बौद्धिक विकास तथा आर्थिक समृद्धि के लिये शिक्षा महत्वपूर्ण है ।

लोगों को शिक्षित करने का एक सुक्षिधाजनक तरीका है—ज्ञान को विभिन्न विषयों के रूप में व्यवस्थित करना । यही नहीं, शिक्षार्थी की आयु के आधार पर ज्ञान को स्कूल, कॉलेज तथा विश्वविद्यालय रूपी चरणों में वर्गीकृत भी करना पड़ता है । जहाँ तक मैं समझता हूँ, इस संगोष्ठी का उद्देश्य यह निर्धारित करना है कि मातृभाषा अथवा प्रादेशिक भाषा के उपयोग से शिक्षार्थी को कितने प्रभावी ढँग से न केवल किसी विषय से अवगत कराया जा सकता है बल्कि भविष्य में उपयोग के लिये उसे उस विषय के आधारभूत सिद्धांतों से कितनी अच्छी तरह परिचित कराया जा सकता है ।

भाषा न केवल सामाजिक-सांस्कृतिक वातावरण का एक अंग बल्कि सम्प्रेषण का माध्यम भी होती है । शैशव से ही मस्तिष्क जिस भाषा विशेष—साधारणतः मातृभाषा—के लिये सुग्राही बन जाता है, अन्य किसी भाषा की अपेक्षा उसी के माध्यम से वह विचारणीय संकल्पनाओं को अधिक प्रभावी ढँग से आत्मसात कर सकता है । इसीलिये मातृभाषा के माध्यम से प्रशिक्षित विद्यार्थी भविष्य में ज्ञान के उपयोग के लिये कहीं अधिक तैयार होता है ।

तकनीकी के इस युग में अधिकांश वैज्ञानिक/तकनीकी अन्वेषण पश्चिमी संसार में ही किये जाते हैं । अनेक देशों ने इन अन्वेषणों का आयात कर अपने लोगों के कल्याण के लिये उनका उपयोग किया है; जापान इसका एक अत्यंत महत्वपूर्ण उदाहरण है । फिर भी भारत तथा सम्भवतः एक दो अन्य देशों को छोड़ कर सभी अंग्रेजीतर देशों में भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, जीवशास्त्र, यहाँ तक कि अर्थशास्त्र तक का पठन-पाठन वहाँ की अपनी भाषा में किया जाता है । हमारे यहाँ इससे (ऐसा न करने से) दुहरी समस्या पैदा हुई है । वैज्ञानिक विषय उस ढँग से तो पढ़ाये नहीं ही जाते, जिस ढँग से उन्हें वस्तुतः पढ़ाया जाना चाहिये, साथ में पढ़ाई का माध्यम भी अंग्रेजी रहती है । इस प्रकार इन विषयों को ग्रहण करने की कठिनाई द्विगुणित हो जाती है ।

तर्क दिया जा सकता है कि उच्चतर स्तर पर शिक्षा के माध्यम के रूप में अंग्रेजी को अपनाने में कोई हानि नहीं है । परिस्थितियाँ ऐसी लगती हैं कि आपत्ति नहीं होनी चाहिये । परन्तु स्थिति की वास्तविकता यह है कि विद्यालयों में पढ़ाई जाने वाली अंग्रेजी पूर्णतः अशुद्ध और निम्न कोटि की होती है । भाषा की इस अधकचरी समझ के परिणामस्वरूप विज्ञान के सिद्धांतों की सही समझ बन ही नहीं पाती ।

ख़तरा तो यह है कि विज्ञान की यही अधूरी समझ एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को उत्तराधिकार में

[शेष पृष्ठ 18 पर]

भौतिक विज्ञान विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक, हरियाणा

अनुवादक—डॉ० ओम प्रभात अग्रवाल

तकनीकी हिन्दी एवं शिक्षा-तंत्र

प्रोफेसर जे० एन० कपूर

बारहवीं शताब्दी तक भारत गणित और विज्ञान में सारे विश्व का नेता था। आज हम कुछ प्रगतिशील देशों से लगभग पचास वर्ष पीछे हैं। हमें इन देशों के साथ आना है और फिर उनसे भी आगे बढ़ना है। अगले पचास वर्षों में ऐसा हो ही जाना चाहिये। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये हमें अपने मानव संसाधनों का पूर्णरूप से विकास करना पड़ेगा। चीन के पश्चात् हमारे ही पास विश्व का मानव संसाधनों का सबसे बड़ा कोष है। इन संसाधनों का विकास एक अर्थपूर्ण एवं सुनियोजित शिक्षा-तंत्र द्वारा ही सम्भव है। अभी तो अपने मानव संसाधनों के एक प्रतिशत का ही हम विकास कर सके हैं। पर अपने संसाधनों के इस अल्प विकास के बावाजूद हमने विज्ञान और तकनीकी के हर क्षेत्र में अच्छा योगदान किया है।

यदि हमारी आवश्यकता केवल कुछ हजार वैज्ञानिकों की हो तो हम उन्हें अंग्रेज़ी माध्यम से प्रशिक्षित कर सकते हैं, परन्तु यदि आवश्यकता इसकी अपेक्षा बहुत अधिक हो तब तो हमें प्रशिक्षण के लिये हिन्दी एवं प्रादेशिक भाषाओं को ही माध्यम बनाना होगा। विज्ञान और तकनीकी में प्रशिक्षण की आवश्यकता न केवल कुशल वैज्ञानिक तैयार करने के लिये, बल्कि उससे भी अधिक, देश में वैज्ञानिक मानसिकता के प्रसार के लिये है ताकि अंधविश्वासों को दूर किया जा सके, वस्तुपरकता का महत्व स्थापित किया जा सके एवं समाज में सभी का बौद्धिक स्तर सामान्यतः ऊपर उठाया जा सके। इस उद्देश्य के लिये व्यापक रूप से विज्ञान की शिक्षा का दिया जाना आवश्यक है।

कभी-कभी स्कूलों में कम्प्यूटरों की व्यवस्था किये जाने पर आपत्ति की जाती है कि अभी तो बहुत से विद्यालयों में श्यामपट तक नहीं हैं। परन्तु विद्यालयों में श्यामपटों अथवा खड़ियामिट्टी का न होना धन की कमी के कारण नहीं बल्कि इसलिये है कि अकसर बजट का अठ्ठानवे प्रतिशत तनख्वाहों पर ही खर्च हो जाता है। शिक्षा संहिता में इस बात का प्रावधान होना चाहिये कि बजट का सत्तर प्रतिशत से अधिक तनख्वाहों पर खर्च नहीं किया जायेगा ताकि अध्यायकों की तनख्वाहों में वृद्धि के साथ विद्यालय को श्यामपटों तथा अन्य ज़रूरियाती सामानों के लिये भी अधिक पैसे मिल सकें। यह तो हमें किसी भी हालत में करना ही होगा कि हमारे बच्चों को कम्प्यूटरों पर आधारित शिक्षा मिले क्योंकि कम्प्यूटर आधुनिक तकनीकी का एक अनिवार्य अंग बन चुके हैं। **यह कम्प्यूटर प्रशिक्षण भी हिन्दी माध्यम से ही होना चाहिये।**

स्कूलों में गणित और विज्ञान की पूरी शिक्षा हिन्दी माध्यम से दी जा सकती है और दी जानी चाहिये। परन्तु इसके लिये अच्छी पुस्तकें और पत्रिकायें आदि हिन्दी में निकाले जाने का भी एक वृहद् कार्यक्रम चलाया जाना चाहिये। इसके लिये हमें धन और सर्मपित अध्यापकों तथा वैज्ञानिकों की आवश्यकता है। दुर्भाग्य की बात है कि आज भी हिन्दी में गणित की कोई अच्छी पत्रिका नहीं निकलती जबकि गुजराती, मराठी, बंगाली और अंग्रेज़ी में ऐसी पत्रिकायें निकल रही हैं। हिन्दी में 'साइंस टुडे' (Science Today)

ऑनरेरी विजिटिंग प्रोफेसर, आई० आई० टी० दिल्ली एवं विश्वविद्यालय, वरिष्ठ वैज्ञानिक इण्डियन नेशनल साइन्स अकादमी

के स्तर की भी कोई पत्रिका नहीं निकल रही है। वयस्कों के लिये भी हिन्दी में लोक विज्ञान साहित्य की आवश्यकता है और यह भी कि आकाशवाणी से हिन्दी में विज्ञान वार्तायें प्रसारित की जायें तथा दूर-दर्शन पर और भी ऐसे कार्यक्रम प्रस्तुत किये जायें।

स्नातक एवं स्नोतकोत्तर स्तरों पर भी विज्ञान और तकनीकी की शिक्षा हिन्दी माध्यम से दी जा सकती है। हिन्दी एक शक्तिशाली भाषा है और उसका शब्दकोश भी समृद्ध है। एक कठिनाई यह है कि कॉलेज़ों एवं विश्वविद्यालयों के बहुत से प्राध्यापक तकनीकी हिन्दी, विशेषकर उसकी पारिभाषिक शब्दा-वली से परिचित नहीं हैं। छोटे-छोटे (अल्प अवधि वाले) प्रशिक्षण कार्यक्रमों तथा कार्यशालाओं के द्वारा यह कठिनाई दूर की जा सकती है। एक अन्य दिक्कत हिन्दी में स्तरीय पाठ्यपुस्तकों का अभाव है। पिछले अठारह वर्षों में पाँच हिन्दी अकादमियों ने विश्व-विद्यालय स्तर की गणित की लगभग अस्सी पुस्तकें प्रकाशित की हैं, जिनमें पचास मौलिक हैं और तीस अनुवाद। इसी अवधि में अंग्रेज़ी में अनुमान है कि भारत में लगभग आठ सौ और समस्त विश्व में लगभग अस्सी हज़ार से भी अधिक गणित की पुस्तकें प्रकाशित हुई होंगी। ये आँकड़े दर्शाते हैं कि विश्व-विद्यालयीय स्तर पर हिन्दी में पुस्तकें प्रकाशित करने के लिए कितने बड़े प्रयत्न की आवश्यकता है।

ऊपर जिन तीस अनूदित पुस्तकों की चर्चा की गई है वे ऐसी पुस्तकें हैं जो 30-40 वर्षों पहले तो खूब इस्तेमाल होती थीं परन्तु अब केवल "क्लासिक" बन गई हैं। मौलिक पुस्तकें औसत स्तर की हैं। कई पुस्तकों में लेखकों ने बहुत मेहनत नहीं की शायद इसलिये कि उन्हें शंका थी कि ये पुस्तकें व्यव-हार में आयेंगी भी या नहीं। स्नातक कक्षाओं में पढ़ाये जाने वाले पचहत्तर प्रतिशत 'टॉपिक' इन पुस्तकों में विवेचित हैं परन्तु स्नातकोत्तर कक्षाओं के लिये यह प्रतिशत केवल दस है। इसीलिए कोई भी विश्वविद्यालय स्नातकोत्तर स्तर पर गणित का अध्ययन हिन्दी से नहीं कर सकता और स्नातक स्तर पर भी यह केवल उनमें संभव है जिनका पाठ्यक्रम पुराने किस्म का है। तर्क दिया जाता है कि यदि सभी विश्वविद्यालय 1987 से अपने यहाँ स्नातक स्तर पर विज्ञान और गणित की पढ़ाई हिन्दी माध्यम से करने का निर्णय कर लें तो एक वर्ष में इनसे सम्बन्धित विषयों की हिंदी पाठ्यपुस्तकों की बाज़ार में बाढ़ आ जायेगी। यह सच भी है परन्तु इसके लिये हिन्दी माध्यम अनिवार्य करना पड़ेगा। यदि आज की ही तरह माध्यम की वैकल्पिक व्यवस्था रही तो फिर अंग्रेज़ी की पुस्तकें चलती रहेंगी और हिन्दी की नई पुस्तकें सामने नहीं आयेंगी। पूरक और संदर्भ ग्रंथों की भी कमी हिन्दी में बनी रहेगी क्योंकि पुस्तकालय तो अंग्रेज़ी पुस्तकों से भरे हुये हैं। इससे हमारे उन अस्सी प्रतिशत युवकों का तो कोई नुकसान न होगा जो केवल एक, और वह भी 'हेल्प बुक' प्रकार की पुस्तक का सहारा लेते हैं। परन्तु उन थोड़े से विद्यार्थियों को गहरा नुकसान होगा जो गहरे अध्ययन में विश्वास रखते हैं और जिनमें से ही भावी वैज्ञानिक तैयार होते हैं। ये विद्यार्थी पुस्तकालय की अंग्रेज़ी पुस्तकों का निश्चित रूप से सहारा लेंगे (और इस प्रकार नुकसान नहीं होने पायेगा)। यदि 1987 का कार्य-क्रम अपना लिया जाय तो हमारे विश्वविद्यालय 1988 अथवा 1989 से स्नातकोत्तर स्तर पर भी हिन्दी माध्यम अपना सकते हैं क्योंकि तब तक लेखकों और प्रकाशकों को हिन्दी पुस्तकें लिखने और छापने का यथेष्ट समय मिल जायेगा।

यदि माध्यम हिन्दी करने का निर्णय ले भी लिया जाय तो भी हमें विज्ञान के विद्यार्थियों के लिये तक-नीकी अंग्रेज़ी की अच्छी जानकारी पर ज़ोर देना होगा और इसके लिये उपयुक्त पाठ्यक्रम भी बनाने होंगे। पारिभाषिक शब्दावली के सन्दर्भ में उन्हें द्विभाषी होना पड़ेगा। उन्हें लैटिन पर आधारित अंग्रेज़ी और संस्कृत पर आधारित हिन्दी—दोनों ही प्रकार की पारि-भाषिक शब्दावलियों का ज्ञान प्राप्त करना होगा। गणि-तीय समीकरणों को रोमन लिपि में लिखना पड़ेगा, जैसा कि रूसी एवं जर्मन पुस्तकों में भी किया जाता है।

विद्यार्थी को तकनीकी अंग्रेज़ी और दो भाषाओं की पारिभाषिक शब्दावली सीखने के लिये कुछ अतिरिक्त मेहनत करनी पड़ेगी, परन्तु बह उसकी अपेक्षा कहीं कम होगी जो एक विदेशी भाषा के माध्यम से पठन-पाठन में आज करनी पड़ती है। बल्कि आज तो इतने परिश्रम के बाद भी उन्हें विषय-ज्ञान का पूर्ण सन्तोष नहीं हो पाता। हिन्दी-भाषी राज्यों के विश्वविद्यालयों को हिन्दी माध्यम अनिवार्य बनाने, ज़रूरी तकनीकी अंग्रेज़ी के पाठ्यक्रम तैयार करने, द्विभाषिक पारिभाषिक शब्दावलियों के पाठ्यक्रम तैयार करने, प्राध्यापकों के प्रशिक्षण आदि के कई चरण वाले कार्यक्रमों के बारे में सामूहिक निर्णय लेना चाहिये। उन्हें पुस्तकालय बजट का भी 20-25 प्रतिशत भाग विज्ञान की हिंदी पुस्तकों के क्रय के लिये निश्चित कर देना चाहिये।

गणित, विज्ञान और तकनीकी की सस्ती हिंदी पुस्तकें उपलब्ध कराने के लिये यथेष्ट आर्थिक सहायता की व्यवस्था होनी चाहिये क्योंकि यदि ये पुस्तकें मँहगी हुईं तो विद्यार्थी उन्हें खरीद नहीं पायेंगे। शोध के स्तर पर हिंदी शोध-पत्रिकाओं (जर्नलों) को पूरा प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये। हिंदी में छपने वाले सर्वोत्तम शोधपत्रों (पेपरों) पर पारितोषिक दिये जाने की व्यवस्था की जानी चाहिये। समीक्षात्मक शोध निबन्धों पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये। विद्यार्थियों को हिंदी में शोध प्रबन्ध लिखने की अनुमति होनी चाहिये। परन्तु इस पूरी प्रक्रिया में अंग्रेज़ी के अध्ययन को कमज़ोर नहीं पड़ने देना चाहिये। अखिल भारतीय कान्फ्रेंसें तो अंग्रेज़ी में फिलहाल चलने देनी चाहिये, परन्तु विभिन्न राज्यों में प्रादेशिक भाषाओं में भी इन्हें आयोजित किया जाना चाहिये। अंग्रेज़ी में तो जर्नल चलते रहें परन्तु हिंदी में भी उनका प्रकाशन प्रारम्भ होना चाहिये।

कृषि विज्ञान की पढ़ाई हिंदी माध्यम से हो सकती है परन्तु तकनीकी एवं ओषधि के क्षेत्र में माध्यम परिवर्तन धीरे-धीरे किया जाना चाहिये।

शिक्षा-तन्त्र का उद्देश्य वर्तमान ज्ञान का प्रसारण एवं नये ज्ञान का उत्पादन है। इन दोनों को ही पूर्ति प्रभावी ढंग से जनता की अपनी भाषा के माध्यम से ही हो सकती है, विदेशी भाषा के माध्यम से नहीं। यदि रटाई को विदा करना है और सर्जनात्मक विचारों को एक आदत बनाना है तो हिन्दी माध्यम अत्यावश्यक है, परन्तु परिवर्तन कई चरणों में पूरा किया जाना चाहिये। साथ ही यह अत्यन्त सुनियोजित ढंग से होना चाहिये और शेष विश्व के वैज्ञानिक समाज से सम्पर्क बनाये रखने के लिये सम्पर्क भाषा के रूप में अंग्रेज़ी की स्थिति कमज़ोर नहीं करनी चाहिये। □□

(अंग्रेज़ी में मूल लेख 'यूनिवर्सिटी न्यूज़' के 8 सितम्बर 1986 के अंक में प्रकाशित। संक्षिप्त अनुवाद किया है डॉ० ओम प्रभात अग्रवाल ने।)

निवेदन

पाठकों से अनुरोध है कि वे कृपया 2 पृष्ठों में हमें संस्मरण के रूप में यह लिख भेजें कि वे किस प्रकार 'विज्ञान परिषद्, प्रयाग' से अथवा 'विज्ञान' पत्रिका से अवगत हुए और उन्हें विज्ञान में रुचि उत्पन्न करने अथवा हिन्दी में लिखने के लिए परिषद् अथवा परिषद् से संबंधित किस व्यक्ति से प्रेरणा मिली।

—सम्पादक

हिन्दी समर्थ भाषा है

डॉ० ब्रह्म देव सिंह

हिन्दी समर्थ भाषा है, सक्षम है। पर मेरे विचार से—

☐ तकनीकी शब्द सरल हों, उच्चारण में सुगम हों, उपयोग करने वाले की सुविधा को ध्यान में रखा जाए।

☐ विज्ञान हिन्दी के लिए नई वीथी है; भटकन होगी ही लेकिन अंत में राह में मिलेगी।

☐ हिन्दी में तकनीकी शब्द बनाने के लिए नए नियम बनाये जायें; प्रादेशिक भाषाओं से भी शब्द लिए जायें।

☐ भारतीय भाषाओं के लिए एक ही तकनीकी शब्दकोश हो। इससे एक तो अलग-अलग शब्दकोष बनाने का बोझ कम होगा और दूसरे एक भाषा-भाषी दूसरे भाषा-भाषी से संवाद करने में कुछ सुविधा अनुभव करेगा।

☐ हिन्दी तकनीकी शब्दों को समय-समय पर सरल किया जाए। उदाहरणतः कांजुगेशन (Conjugation) का कांजुगीकरण से कांजुगन।

☐ हिन्दी में शोध पत्रिकाओं की अनिवार्य आवश्यकता है।

☐ हिन्दी भाषा की शिक्षा में आवश्यक परिवर्तन हो जिससे छात्रों को वैज्ञानिक हिन्दी को समझने में सुविधा हो और वे उसे आसानी से सीख सकें।

☐ तकनीकी शब्द बनाने वाले विद्वानों का अध्यापकों तथा विद्यार्थियों; जो इन शब्दों का उपयोग करते हैं, के साथ समय-समय पर विचार-विनिमय (Interaction) का अवसर मिले। ☐☐

कृषि विज्ञान संस्थान, आनुवंशिकी एवं पादप प्रजनन विभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

विज्ञान तथा तकनीकी शिक्षा का प्रारंभ अविलम्ब हिन्दी में हो

डॉ० उषा सक्सेना 'माधवी'

मेरे विचार से विज्ञान तथा तकनीकी शिक्षा का अध्यापन हिन्दी में अविलम्ब प्रारम्भ हो। इसके लिए आवश्यक है कि—

(i) विज्ञान, तकनीकी, चिकित्सीय तथा इंजीनियरिंग शिक्षा के प्रशिक्षण हेतु सर्वप्रथम हिन्दी में ट्यूटोरियल कक्षाएँ प्रारम्भ की जायें।

(ii) वैज्ञानिक पुस्तकों का अनुवाद ही पर्याप्त नहीं है, जब तक कि उनके द्वारा प्रशिक्षण प्रारम्भ न हो। इससे अनुवाद के दोषों का ही परिहार नहीं होगा वरन् अत्यंत मौलिक पुस्तकों के सृजन की प्रेरणा भी लेखकों को मिलेगी।

(iii) शिक्षकों का भी कर्तव्य है कि वे स्वतः हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य का सृजन मात्र ही न करें प्रत्युत अपने सहयोगियों तथा छात्रों को भी कार्य के लिए प्रेरित करें।

(iv) हिन्दी में जो विज्ञान से सम्बद्ध पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं उनमें पाश्चात्य विद्वानों के शोध प्रबन्ध या निबन्धों का अनुवाद प्रस्तुत किया जाए।

(v) हिन्दी विश्वविद्यालय की सार्थकता तभी है जबकि उसमें विज्ञान, तकनीकी, औद्योगिक, चिकित्सीय, इंजीनियरिंग आदि का प्रशिक्षण केवल हिन्दी माध्यम से हो। ☐☐

प्रोफेसर, रांची महिला कॉलेज, रांची (बिहार)

विज्ञान शिक्षण के लिए हिन्दी सर्वश्रेष्ठ भाषा

द्वारिका प्रसाद शुक्ल

हिन्दी हमारी राष्ट्र भाषा है। भारत की सर्वश्रेष्ठ भाषा है। जितनी सरलता ने हिन्दी के माध्यम से विचारों का संप्रेषण हो सकता है, अन्य किसी भाषा द्वारा नहीं। हिन्दी फिल्मों की लोकप्रियता इसका सबसे बड़ा उदाहरण है। मैं प्रांतीय भाषाओं के विरुद्ध नहीं। वास्तविकता यह है कि कोई भी मनुष्य अपने विचारों का संप्रेषण अपनी मातृभाषा में ही भली-भाँति कर सकता है। इस दृष्टि से प्रांतीय भाषाओं के महत्व को कम करके नहीं आँका जा सकता। पर एक राष्ट्र की एक ही राष्ट्र भाषा हो सकती है, जो सारे राष्ट्र को एक सूत्र में बाँध सके और यह काम हिन्दी बखूबी कर रही है। अतएव अब समय आ गया है जब विज्ञान की स्नातकोत्तर स्तर की शिक्षा हिन्दी में प्रारम्भ कर दी जाये—पहले कम से कम हिन्दी भाषी क्षेत्रों में और फिर धीरे-धीरे अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में। काम कठिन है पर असम्भव नहीं। अतएव अब अधिक वाद-विवाद न करके हमें इस पुनीत कार्य में जुट जाना चाहिये। मैं स्नातकोत्तर स्तर की बात इसलिए कर रहा हूँ कि अनेक विश्वविद्यालयों में स्नातक स्तर की परीक्षाओं के प्रश्न पत्र हिन्दी में छपे रहते हैं, विज्ञान के अनेक विद्यार्थियों ने मुझे बताया है कि वे प्रश्नों का उत्तर हिन्दी में लिखते हैं और अध्यापक हिन्दी में भी विषय को समझाते हैं। विज्ञान की पुस्तकों और पत्रिकाओं का भी अभाव नहीं है। फिर शुभ कार्य में विलम्ब क्यों ?

□□

मुख्य प्रशिक्षक, स्टाफ प्रशिक्षण केन्द्र, भारतीय स्टेट बैंक आफ इण्डिया, इलाहाबाद

सहयोग की आवश्यकता

ओमप्रकाश शर्मा 'कमल'

प्रगति सहयोग एवं सहअस्तित्व की भावना से ही सम्भव है। अतः केन्द्रीय सचिवालय हिन्दी परिषद् के सतत प्रयास से सभी कार्यालयों में हिन्दी व्यवहार के रूप में उत्तरोत्तर प्रगतिपथ पर अग्रसर है। परिषद् के प्रयास से विज्ञान सम्बन्धी तकनीकी शब्दावली तथा चार्ट आदि तैयार किए गए और वैज्ञानिक कार्यालयों में कार्य उत्तरोत्तर प्रगति के पथ पर अग्रसर है।

परिषद् के सहयोग से इसे और आगे बढ़ाया जा सकता और तकनीकी शब्दावली में सरलीकरण और सरसता लाई जा सकती है।

मेरा अनुरोध है कि इस दिशा में अधिक सक्रिय कार्य किया जाये, गोष्ठी आदि की व्यवस्था कर इसको अधिकाधिक सबल बनाया जा सकता है।

□□

महामंत्री, शोधसंस्थान, नई दिल्ली द्वारा श्री देव नारायण, पान भण्डार, अहाता ठाकुरदास, न्यू रोहतक रोड, नई दिल्ली—5

डॉ० रत्नकुमारी स्वाध्याय संस्थान

विज्ञान परिषद् भवन

महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद—211002

के प्रकाशन

		मूल्य
1. सूर्य सिद्धान्त	महावीर प्रसाद श्रीवास्तव	120.00
2. हिन्दी काव्य का मूल्यांकन	विदुषियों द्वारा	8.00
3. माधवानल कामकन्दला	डॉ० रामकुमारी मिश्रा डॉ० शिवगोपाल मिश्र	10.00
4. बिहारी के कवित और दोहे	डॉ० रामकुमारी मिश्रा	15.00
5. वृन्द सतसई : पाठ एवं विवेचन	,, ,,	10.00
6. प्राची-प्रतीची	डॉ० रत्न कुमारी	8.00
7. दयानन्द, देश और आर्य समाज	प्रो० श्री प्रकाश	4.00
8. दयानन्द के सपनों का आर्य समाज	,,	5.00
9. भारतीय नारियों का योगदान	सकलन : डॉ० एस० रंगनायकी	3.00
10. इकेबाना (जापानी पुष्प सज्जा)	डॉ० कृष्णा मिश्रा	4.00
11. अंगद-पैज	डॉ० रामकुमारी मिश्रा डॉ० शिवगोपाल मिश्र	7.00

पुस्तकों के मिलने का पता

गंगाधर तिवारी

व्यवस्थापक

डॉ० रत्न कुमारी स्वाध्याय संस्थान

विज्ञान परिषद् भवन

महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद–211002

अन्य पते

1. स्वामी सत्यप्रकाश
   आर्य समाज, मन्दिर मार्ग
   नई दिल्ली—110001
2. डॉ० प्रशस्य मित्र शास्त्री
   स्वामी सत्यप्रकाश प्रतिष्ठान
   बी/29, आनन्द नगर, रायबरेली (उ० प्र०)

अमरता की ओर

श्यामसरन विक्रम

मनुष्य की कल्पना-शक्ति भले ही अनन्त हो, उसकी क्षमतायें, उसके साधन तो सीमित हैं। इसके विपरीत सृष्टि में सिद्धान्तों के, पदार्थों के, तत्वों के चमत्कार अनन्त हैं। फिर भी चिन्तनशील, अनवरत-अन्वेषी और खोजी प्रकृति के मानव-मन को चुप बैठे रहना गवारा नहीं। इसी के बल पर तो गुहामानव से आज के चन्द्र-विजयी मानव तक मनुष्य ने ऐतिहासिक और क्रान्तिकारी वैज्ञानिक उपलब्धियाँ अर्जित करके दिखायी हैं। उनमें कुछ उपलब्धियाँ निस्संदेह चमत्कार के स्तर की सिद्ध हुई हैं। उन्होंने विश्व के इतिहास को, मानव की जीवन धारा को मोड़कर रख दिया है। ऐसा पहला चमत्कार था, अग्नि से साक्षात्, दूसरा था पहिये का और तीसरा था भारोत्तोलन का आविष्कार। चौथा था, शब्द-परिचय और पाँचवाँ था चित्रांकन तथा लेखन—अर्थात् चौथा-पाँचवाँ मिलकर हो गया परस्पर संवाद-संचार का चमत्कार। चमत्कारों की यह सूची और भी लम्बी हो सकती है, परन्तु आज हम इसे यहीं विश्राम देकर आगे बढ़ेंगे।

आधुनिक युग की बात करें तो ऐसे एक चमत्कार से साक्षात् तब हुआ जब विगत शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सन् 1885 में प्रथम बार मनुष्य यह जान पाया कि पराशीत नामक कोई स्वप्नलोक भी है जिसे यथार्थ में बदला जा सकता है। वह ये जान पाया कि तब तक की प्रचलित मान्यता को बहुत पीछे छोड़कर हिमांक शून्य सेन्टीग्रेड से भी नीचे उतर कर पराशीत के उस स्वप्नलोक की लक्ष्मण रेखा में प्रवेश किया जा सकता है। उन दिनों प्रथम बार पोलेन्ड के वैज्ञानिक **ओल्जॅन्स्की** ने सामान्य वायु को शून्य से भी काफी नीचे, पराशीत पर द्रवित कर दिखाया! उसके दस वर्ष पश्चात् इन्हीं ओल्जॅन्स्की के साथ ब्रिटेन के वैज्ञानिक **जेम्स देवार** ने मिलकर हाइड्रोजन को द्रवित करने में सफलता प्राप्त की, उसके भी तेरह वर्ष बाद 1908 में हालेन्ड के भौतिकविद् **केमरलिंग ओनेस** वायुमंडल की अंतिम गैस हीलियम को भी द्रवित कर देने में सफल हुए। तब तो श्रृंखला खुल पड़ी और पराशीत के नये लोक की चाभी हाथ में आ जाने पर तो विभिन्न गैसों की प्रकृति समझना सहज होता गया। तब यह भी समझा जा सका कि गैसें उच्च दाब पर तप्त हो उठती हैं और दाब-मुक्त, फैलने पर ठंडी हो जाती हैं। आज के समूचे रेफ्रीजरेशन-उद्योग का आधार यही खोज, यही निष्कर्ष है।

पराशीत पर द्रवित गैसों से प्रारम्भिक परिचय स्वरूप आज से बीस-इक्कीस वर्ष पूर्व अमेरिका में तीन विभिन्न प्रयोग किये गये थे। प्रथम प्रयोग में एक कारखाने का श्रमिक एक शीशी में द्रवित गैस घर ले गया। वहाँ अपने बगीचे से मक्का के कुछ भुट्टे लेकर उस द्रव में डुबोने के पश्चात् फ्रीजर में रख दिये। तत्पश्चात् चार महीने, मौसम भर उन भुट्टों का आनन्द लेता रहा, मानो ताजा ही तोड़कर लाया हो। दूसरे प्रयोग में एक नेत्र-सर्जन ने द्रवित नाइट्रोजन में डुबोयी सुई द्वारा एक रोगी के नेत्र-पटल को यथा स्थान बिठाकर उसे नयी ज्योति प्रदान की।

68 असिस्टेंन्ट लाइन, बिरलानगर, ग्वालियर—474001

तीसरे प्रयोग में केलिफोर्निया स्थित एडवर्ड एयरफोर्स बेस पर अन्तरिक्ष को भेजे जाने वाले यान सेटर्न-V के रॉकेट के इंजिन में—181 सेन्टीग्रेड के पराशीत पर ऑक्सीजन केवल ढाई मिनिट में इतना भर दिया जो कि चन्द्रयात्रा के लिये आवश्यक था।

यों पराशीतलन के आविष्कार ने जो अनेक क्रान्तिकारी अन्वेषणों के द्वार खोल दिये हैं, उनमें अंग प्रत्यारोपण भी एक अत्यन्त उपयोगी विधा है। जो अब तक नितान्त असम्भव था, अब सम्भव किया जा चुका है। जहाँ मानव-शरीर को मृत होते ही जल, अग्नि अथवा कब्र के हवाले कर दिया जाता था, वहाँ विशिष्ट पूर्वानुबन्ध के अन्तर्गत मृत शरीर के उपयोगी अंगों को तत्काल ही निकालकर शीत भंडार में संरक्षित रख लिया जाता है ताकि आवश्यकता पड़ने पर उसका पुनरुपयोग किया जा सके। एक भिन्न प्रकार से देखें तो यह प्रवृत्ति मानव-कल्याणकारी होते हुए भी मानव-शरीर के रचयिता, जगन्नियन्ता के अधिकारिक दायरे में हस्तक्षेप तो है ही।

आजकी तेज़-कदम वैज्ञानिक प्रगति में जो कल चमत्कार था, आज सामान्य स्तरीय बन जाता है। अतः अंग-प्रत्यारोपण भी अब चमत्कार की श्रेणी से उतरकर मानवोपयोगी सेवा-उद्योग बन चुका है। अब इस क्षेत्र में पशुओं की नस्ल-सुधार दो कदम आगे है। नर पशु का वीर्य हो, मादा का डिम्ब हो, अथवा भ्रूण हो, पराशीतलन में संरक्षित करके उत्तम नस्ल के पशु की खोज और प्राप्ति तक कुछ समयोपरान्त निरापद रूप से इनका उपयोग किया जा सकता है।

इसी में नयी कड़ी जुड़ी है—अमरता की ओर··· बस बारह साल और···

आज से तेरहवें वर्षारम्भ पर ईस्वी सन् के दुये (2) पर तीन शून्य चढ़ जायेंगे; हो जायेगा सन् 2000 याने 21वीं सदी में साधिकार प्रवेश। बाअदब, बामुलाहजा होशियार! तब के लिये अभी से प्रयत्नशील है हमारा बैज्ञानिक वर्ग कि एक बार तो सिरहाने खड़ी मौत से कह सके: नाज़ किस बात पर ऐ मौत तुझे? हमने तेरा जवाब देखा है।

याने कि जो मरीज़ फिलहाल असाध्य रोग से मरणान्तक पीड़ित हो तो कुछ समय के लिये, उस रोग का उपचार सम्भव होने तक के लिये उस रोगी की कुल्फी जमा दीजिये···पराशून्यांक पर शीतलक में हिमवत् जमा दीजिये! गारंटी है कि रोगी को पूर्णतः मरने नहीं दिया जायेगा और कुछ अर्से बाद उपचार-साधन, औषधि मिल जाने पर पुनः उस शरीर को गरम करके मानवोचित ताप में लाकर पुनर्जीवित करके उसके रोग का उपचार किया जा सकेगा, नवजीवन प्राप्ति हेतु।

सच जानिये, युगयुगों की यह अमरत्व की कल्पना वैज्ञानिकों की प्रयोगशालाओं में अब वास्तविकता के आसार दिखाने लगी है। अमेरिका के बर्कले स्थित केलिफोर्निया विश्वविद्यालय के **डॉ० पाल सेगाल** ने अपने अनवरत प्रयोगों के पश्चात् इस क्रान्तिकारी सफल प्रयोग की घोषणा करके धमाकेदार तहलका मचा दिया है। चूँकि ऐसा हरेक प्रयोग मानव पर करने से पहले किसी पशु, जन्तु को ही बलि का बकरा बनाया जाता है, इस प्रयोग के लिये डा० पाल की सेवार्थ एक जैवभौतिकी अनुसंधानक **डॉ० बेज़** ने अपने परिवार का प्यारा-प्यारा कुत्ता 'माइलस' पेश किया। तीन वर्षीय माइलस कुनबे भर का चहेता था। इस कुत्ते को **डॉ० पाल** ने पराशीत सुप्तावस्था में पूरे पन्द्रह मिनिट तक जमा हुआ रखा। यह ज्ञातव्य है कि कुत्ते की तीन वर्ष की आयु, युवामनुष्य की अठारह वर्षीय आयु के समकक्ष होती है। इस हिसाब से प्रयोग के वे पन्द्रह मिनिट भी कुत्ते माइलस के लिए कम न थे। दूसरा तथ्य यह भी कि प्राणियों की शीत निद्रा के समान अर्द्ध मृतावस्था में, जिसे हाइबरनेशन कहते हैं, शरीर की आन्तरिक क्रियायें ही तो सुप्त हो जाती हैं। अनुकूल तापावस्था लौटने पर वे पुनः सक्रिय हो उठती हैं और वह प्राणी धूल झाड़कर खड़ा हो जाता है, सामान्य ढंग से गतिशील हो जाता है।

यों डॉ० पाल ने सोलहवें मिनिट से कुल्फी सदृश जमे उस कुत्ते को धीमे-धीमे गरमाना शुरू किया; जी हाँ, बहुत आहिस्ता-आहिस्ता और अन्त में प्रयोग की

[शेष पृष्ठ 5 पर]

विज्ञान का प्रचार : संदेश की अव्यवस्था

डॉ० जयंत विष्णु नार्लीकर

एक शिक्षित परन्तु विज्ञान से अपरिचित मित्र, जो "आकाश नील-वर्ण क्यों है?" विषय पर **सर सी० वी० रमन** का व्याख्यान सुनकर वापस आ रहे थे, से वर्षों पूर्व की भेंट का मुझे पुनर्स्मरण आता है। हमारे द्वारा प्रतिदिन अवलोकन की जाने वाली घटना के रहस्योद्‌घाटन पर मैं अपने मित्र की उत्तेजना का अनुभव कर सकता था। इस उत्तेजना के दो पहलू थे, प्रथम तो यह कि कोई व्यक्ति विज्ञान के ज्ञात नियमों के पदों में किसी प्राकृतिक घटना का स्पष्टीकरण प्राप्त कर सकता है। द्वितीय, तथा मेरे मित्र के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण पहलू यह था कि वह विज्ञान से असंबद्ध व्यक्ति इस स्पष्टीकरण को समझ सकते थे और यह भी कि एक 'नोबेल पुरस्कार' प्राप्त वैज्ञानिक अपने स्तर से निम्न स्तर पर सामान्य जन से वैज्ञानिक संप्रेषण कर रहा था। इस देश में विज्ञान की समृद्धि और प्रसार के लिए प्रथम तथ्य 'उत्तेजना' को विद्यालयों में युवा-प्रतिभाओं तक पहुँचाना है, जिससे कि उनमें के कुछ वैज्ञानिक आजीविका प्राप्ति की प्रेरणा का अनुसरण कर सकें। कुछ वर्षों पूर्व एक "राष्ट्रीय विज्ञान प्रतिभा खोज योजना" प्रतिभाशाली विज्ञानोन्मुखी बालकों को पुरस्कार प्रदान करती थी। अभी शीघ्र ही "विज्ञान" शब्द हटाकर 'राष्ट्रीय प्रतिभा खोज योजना' में परिवर्तित कर दी गई। यह अपने आप में कोई बुरी बात नहीं है, क्योंकि हमें विज्ञान के साथ-साथ मानविकी में भी प्रतिभा की आवश्यकता है।

परन्तु हम भारतीय सुनिश्चयी योजनाओं में विसंगतियाँ उत्पन्न करने में दक्ष हैं। सम्पूर्ण देश में राष्ट्रीय प्रतिभा खोज परीक्षा के प्रश्नपत्रों को हल करने की विधि सिखाने के लिए विशेष शिक्षण कक्षाएँ खुल गयी है। मैं नहीं जानता कि विशेष प्रशिक्षण से प्रतिभा किस प्रकार उत्पन्न की जा सकती है। इससे भी बुरी बात यह है कि इन कक्षाओं में गणित और भौतिक-शास्त्र, जिन विषयों में तात्कालिक चिंतन और मौलिकता की आवश्यकता होती है, को अनुत्साहित किया जाता है, और उसके स्थान पर भूगोल, जीव-विज्ञान या नागरिक शास्त्र विषयों को प्रोत्साहन दिया जाता है, क्योंकि उनमें कण्ठस्थ करने वाले तथ्यों की उपस्थिति अधिक अंक प्रदान कर सकती है। परिणाम यह है कि प्रतिभा की खोज के स्थान पर हम रूढ़ अधिगम को पहचान रहे हैं। स्वाभाविक है कि इस योजना से **सी० वी० रमन** या **रवीन्द्रनाथ टैगोर** जैसी प्रतिभाओं को खोजा नहीं जा सकता और न ही प्रोत्साहित किया जा सकता है।

क्या ये अधिक तार्किक नहीं होगा कि हम एक ऐसी परीक्षण योजना बनाएँ जो मौलिक चिंतन और नवाचारिता, जो विज्ञान के लिए आवश्यक हैं, को प्रोत्साहित करे। क्या हम युवकों को यह दिखा नहीं सकते कि विज्ञान-कर्म विचारों और प्रयोगों द्वारा प्रकृति की खोज में है। जैसी भी स्थिति है, उसमें अनावश्यक विवरण और रूढ़ अधिगम के बोझ द्वारा हम इन युवकों में वैज्ञानिक प्रेरणा को दमित करते हैं। दूसरी ओर विद्यालयी विज्ञान की स्थिति समान रूप से

टाटा इंस्टीट्यूट ऑव फण्डामेण्टल रिसर्च, बम्बई [प्रस्तुत लेख 'साइंस एज' (जून 1987) में प्रकाशित डॉ० नार्लीकर के लेख 'पापुलराईजिंग साइंस : मेकिंग ए मेस ऑव द मेसेज' का अनुवाद है। हम लेख के प्रकाशन के लिए 'साइंस एज' और डॉ० नार्लीकर के आभारी हैं।—संपादक]

दुखद है। एक दिन मेरी पाँचवर्षीय पुत्री ने यह भावना व्यक्त की कि उसे विज्ञान में रुचि नहीं है। ऐसी छोटी आयु में ऐसे एक निर्णयात्मक कथन से आश्चर्यान्वित होकर और आघात पाकर मैंने उससे इसका कारण पूछा। वह अपनी कक्षा-कार्य पुस्तिकाएँ ले आयी और उसमें उन शब्दों की ओर संकेत किया जिनकी वर्तनी उसे शुद्ध रूप में याद करनी थी। इन शब्दों में नेसेसरी (necessary), मेजरिंग (measuring), ब्रीदिंग (breathing), मसिल्स (muscles), रीक्रिएशन (recreation), वेजीटेबिल्स (vegetables), रीपेयर्ड (repaired), बुफैलो (bufallo) जैसे शब्द थे। जो भी जिज्ञासा उस पाँचवर्षीया बालिका में होगी उसे इन कठिन शब्दों के रटने की पद्धति द्वारा समाप्त तो किया जा सकता है, प्रोत्साहित नहीं किया जा सकता। यह उस, बच्चे का अनुभव है जो हमारी केन्द्रीय विद्यालय प्रणाली की पहली कक्षा में अध्ययन कर रहा है। क्या शास्त्री-भवन और अरविन्द मार्ग की शिक्षा संस्थाएँ इस तथ्य पर ध्यान देंगी? वैज्ञानिक कार्य को करने में वास्तविक उत्तेजनापूर्ण आनन्द, विवरण पुंज के नीचे क्रम और सुसंगति की खोज में छिपा है। यह आनन्द इन आविष्कारों को मानवीय अस्तित्व की भलाई के लिए परिवर्तित करसे से प्राप्त होता है। क्या हम बालकों को गणित से—जो विषय वैज्ञानिक की प्रकृति में निहित क्रम और सुसंगति की खोज में सहायता करता है, और शुद्ध ज्ञान को उपयोगी तकनीकी में बदलने के लिए आवश्यक है—से आतंकित करना चाहते हैं?

वैज्ञानिक कार्य को करने का आनन्द सामान्य व्यक्ति द्वारा भी बाँटा जा सकता है। विज्ञान द्वारा समृद्ध एक समाज अधिक महत्त्वपूर्ण रूप में वैज्ञानिक-ज्ञान के उपयोग सम्बन्धी निर्णयों को प्रभावित कर सकता है। विज्ञान के दुरुपयोग से दूसरी समस्याएँ उत्पन्न हो सकती हैं। निश्चित रूप से वैज्ञानिक उपलब्धियों के कारण ही मानवीय मृत्यु-दर में कमी आयी है, और औसत जीवन अधिक बढ़ गया है। परिणामस्वरूप यदि मानवीय वृद्धि-दर पर नियन्त्रण न लगाया गया तो जनसंख्या में बढ़ने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। चूँकि किसी देश के संसाधनों की भागीदारी उसके निवासियों द्वारा की जाती है, अत: यदि जनसंख्या को नियन्त्रण में न रखा जाय तो नागरिकों के जीवन-स्तर में सुधार नहीं किया जा सकता। कुछ देश इस लक्ष्य को वैधानिक नियमों द्वारा प्राप्त करते हैं, और कुछ स्वैच्छिक विधियों के लिए पुरस्कार देकर नागरिकों द्वारा परिवार-नियोजन के परिणामों पर भरोसा करते हैं। हमारे देश में जनसंख्या नियन्त्रण अति आवश्यक है, परन्तु दूसरी अपेक्षाकृत नम्र विधि का प्रयोग किया जाता है। यद्यपि पुरस्कार और चिकित्सकीय उन्नतियाँ सहायता करती हैं, परंतु अंतिम विश्लेषण में प्रबुद्ध आत्म-रुचि ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध होती है। अतः इस विषय में लोक-शिक्षण अत्यन्त आवश्यक है।

विज्ञान का प्रचार और उसे लोकप्रियता देने का कार्य हमारे देश के लिए और आवश्यक है। रेडियो, टी० वी०, व्याख्यान, व्याख्यान-प्रदर्शन, वैज्ञानिक प्रदर्शनियाँ, मेले, यात्राएँ और जत्थे तथा समाचार-पत्र ही इसके उपलब्ध साधन हैं और उनका उपयोग किया जा रहा है। अनेक व्यक्ति और स्वैच्छिक संस्थाएँ भी इस दिशा में सराहनीय भूमिका निभा रही हैं। अभी जल्दी ही भारत सरकार ने विज्ञान और तकनीकी सम्प्रेषण हेतु राष्ट्रीय परिषद् (NCST) का गठन ऐसे कार्यों को वित्तीय सहायता देने और उनमें तालमेल बिठाने के उद्देश्य से किया है। फिर भी एक सावधानी रखनी अपेक्षित है। किसी उपयोगी कार्य को आगे बढ़ाने के लिए शासन द्वारा बहुत अच्छे उद्देश्यों से एक संरचना का गठन हो सकता है, जब कि ऐसा लगे कि बहुत कुछ किया गया है, परन्तु उपलब्धि बहुत कम हो सकती है। 1982 में **'नेशनल बुक ट्रस्ट'** द्वारा 'नेहरू बाल पुस्तकालय' के बच्चों के लिए मुझसे खगोल-शास्त्र पर एक सरल पुस्तक लिखने को कहा गया था। मैंने पुस्तक लिखी, जो प्रकाशित की गयी और मैं उसके कलेवर से संतुष्ट भी हूँ। परन्तु आप इस पुस्तक को अब किसी पुस्तक की दुकान से नहीं प्राप्त कर सकते। न तो इसका उचित रूप से विज्ञापन

किया गया और न ही समीक्षा की गयी। परिणाम यह है कि जिनके लिए यह पुस्तक लिखी गयी है, वे इसके अस्तित्व के बारे में नहीं जानते। यदि ऐसी पुस्तकें अपने पाठकों तक न पहुँच सकें तो उनके लिए परिश्रम करने की आवश्यकता ही क्या है ? इसी प्रकार का एक निराशाजनक अनुभव मुझे एक अपनी मराठी पुस्तक के सम्बन्ध में हुआ, जिसे मैंने 'महाराष्ट्र राज्य साहित्य परिषद्' के लिये लिखा था। ऐसी संस्थाओं के वार्षिक प्रतिवेदन अपने द्वारा प्रकाशित पुस्तकों का विवरण तो देते हैं, परन्तु यह नहीं बताते कि ये पुस्तकें अपने वास्तविक पाठकों तक पहुँची या नहीं ?

फिर भी यह देखकर खुशी होती है कि 'नेशनल कौंसिल फॉर साइंस एण्ड टेक्नॉलॉजी कम्यूनिकेशन'' ने, व्यक्तियों और स्वयंसेवी संस्थाओं ने पहले से ही विज्ञान के लोक-प्रचार और विस्तार के लिए अच्छे सम्बन्ध स्थापित कर लिये हैं। ''एकलव्य'' (मध्य-प्रदेश में) और ''केरल शास्त्र साहित्य परिषद्'' जैसी संस्थाएँ इस क्षेत्र में ज्यादा भूमिका निभा रही हैं, पर उनका क्षेत्र और संख्या बढ़ाने की आवश्यकता है। इसलिए मैं आशा करता हूँ कि संरक्षण, प्रोत्साहन और यदि आवश्यक पूँजी प्रदान की जाय तो (NCST) एन० सी० एस० टी० के द्वारा यह कार्य भविष्य में और अच्छा होगा।

विज्ञान ने अपनी इस प्रकृति द्वारा वस्तुनिष्ठता और सर्वव्यापकता बनायी है, जो कि इसको जाति, धर्म और सामाजिक भिन्नता से ऊपर उठाते हैं। इसका प्रचार केवल लाभप्रद ही नहीं वरन् राष्ट्रीय एकता की सुरक्षा और देश की समृद्धि बढ़ाने में आवश्यक है। हम आशा करते हैं कि विज्ञान के द्वारा, एक चेतना के रूप में लाभप्रद रहन-सहन के लिए, मनुष्य के जीवन की ज़िम्मेदारियों के प्रति और प्रकृति के प्रति जागरूकता विकसित होगी। ऐसे लक्ष्य का अब स्वप्न देखा जा सकता है, क्योंकि 21वीं शताब्दी अत्यन्त निकट है। □□

अनुवादिका—सुषमा पाण्डेय, एम० एस-सी० द्वारा श्री प्रकाश चंद पाण्डेय, एडवोकेट, मालवीय रोड, वैरिहवा, **बस्ती** (उत्तर प्रदेश)

[पृष्ठ 2 का शेषांश]

सफलता सिद्ध करता हुआ माइलस कुत्ता पुनः जीवन्त, सचेष्ट और पूर्ववत् खिलंदड़ा, घर के बच्चों में उछल-कूद मचाने लगा—बल्कि पूर्व की अपेक्षा कुछ नयी स्फूर्ति मिली, सो ब्याज में !

इस प्रयोग से जिन कुछ नयी सम्भावनाओं के वातायन खुल पाये हैं, वे हैं :

1. असाध्य रोगी व्यक्ति को यूँ ही मरने देने के बजाय स्वाभाविक स्वस्थ मृत्यु तक के लिए मानो मोहलत माँगकर रोगी को पराशीतांक पर जमा दिया जायेगा और रोग की औषधि मिल जाने पर पुनः गर्म करके, जीवित करके उसे रोग से मुक्ति दिलाना तथा नया जीवन देना संभव हो सकेगा।

2. अंगदानकर्त्ता मृत व्यक्ति के कुछ विशिष्ट अंगों को जिन्हें आज अति सीमित, अल्प समय में ही अन्य व्यक्ति के शरीर में प्रत्यारोपित करना पड़ता है, उन अंगों को पराशीत अंक पर सुदीर्घ समय तक संरक्षित किया जा सकेगा।

3. रक्तहीन शल्य-क्रिया की संभावनायें बढ़ जायेंगी।

उदाहरणार्थ, शल्य-क्रिया से पूर्व शरीर का रक्त बाहर निकाल कर उसे शीतलक में रखकर, दूसरा संश्लेषित पूरक रक्त शरीर में देकर शल्य-क्रिया सम्पन्न कर ली जायेगी। शल्य-क्रिया के दौरान अकस्मात् किसी शिरा के कट जाने पर भी जीवन संकट उपस्थित न हो पायेगा।

इस पूरी कहानी का एक रोचक पक्ष यह भी हो सकता है कि असाध्य रोग से ग्रसित मरणोन्मुख रोगी भी वसीयत कर सकेगा कि मेरे शरीर को प्राणान्त से पूर्व ही पराशीतांक पर जमा दिया जाये तथा रोग की औषधि मिल जाने पर पुनर्जीवित करके रोग से मुक्ति दिलायी जाये !

21वीं सदी का स्वागत इससे बढ़कर धमाकेदार क्या होगा !! □□

कैसे सुरक्षा देती है ओज़ोन छतरी

डॉ० महेन्द्र सिंह वर्मा

यह दुनिया रसायनों का खेल है। विश्व के सारे पदार्थ, वे चाहे निर्जीव हों या सजीव, विभिन्न तत्वों के परमाणुओं के संयोग से ही बनते हैं। यह बात अलग है कि उनमें से कुछ पदार्थ एक ही तत्व के परमाणुओं के मिलने से बनते हैं तथा कुछ अन्य भिन्न-भिन्न पदार्थों के परमाणुओं के संयोग से। उदाहरणार्थ—ऑक्सीजन गैस का अणु उसी के दो परमाणुओं के मिलने से बनता है जबकि हाइड्रोजन सल्फाइड गैस का अणु हाइड्रोजन के दो परमाणु तथा सल्फर के एक परमाणु के संयोग से बनता है। आचर्यजनक तथ्य यह है कि ऑक्सीजन के दो परमाणुओं से बना अणु उसके तीन परमाणुओं से बने अणु से पूर्णत: भिन्न स्वभाव और गुणधर्मों वाला होता है।

आज यह निर्विवाद रूप से सत्य है, कि कोई भी प्राणी बिना हवा के जीवित नहीं रह सकता। हवा का वह अवयव जो हमें जीवित रखता है, ऑक्सीजन गैस है। इसीलिए इसे प्राणवायु भी कहा जाता है। जब मरीज़ सामान्यत: सांस लेने में असमर्थ हो जाता है तो उसे ऑक्सीजन के बल पर ही जीवित रखा जाता है। इस प्रकार हम ऑक्सीजन को जीवनदायिनी शक्ति अर्थात् अमृत भी कह सकते हैं।

परन्तु यह भी एक तथ्य है कि यही प्राणवायु (ऑक्सीजन गैस) अपने एक और परमाणु से मिलकर ओज़ोन गैस बनाती है, जिसकी अल्प मात्रा ही प्राण हरने के लिए काफी होती है। वास्तव में, हवा के दस लाख भागों में ओज़ोन का एक भाग ही प्राण हरने के लिए काफी है। इस प्रकार ऑक्सीजन का यह रूप विष का कार्य करता है। परन्तु आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि यही ओज़ोन **समताप मण्डल**, में एक छतरी बनाती है जो जैव मण्डल के लिए **जीवन रक्षा कवच** का कार्य करती है। असल में, पृथ्वी से ऊपर 15 से 50 किलोमीटर के बीच वायुमण्डल में ओज़ोन की एक परत है जो सूरज तथा अन्य अन्तरिक्षीय पिंडों से आने वाली पराबैंगनी किरणों को सोख लेती है तथा साथ ही पृथ्वी से जाने वाली अवरक्त किरणों को रोक लेती है। इस प्रकार यह दो प्रकार से हमारी रक्षा करती है। एक तो पराबैंगनी किरणों से होने वाले नुकसान से बचा लेती है और दूसरी तरह पृथ्वी की गर्मी को बरकरार रखती है।

यदि पराबैंगनी किरणें सीधे पृथ्वी पर आ जायें तो **त्वचा कैंसर** और **मोतियाबिन्द** जैसे रोग बहुत बढ़ जायेंगे। एक सर्वेक्षण के अनुसार, ओज़ोन परत में यदि 1% की गिरावट आ जाय तो अकेले अमेरिका में त्वचा कैंसर की 20,000 घटनाएँ प्रति वर्ष के के हिसाब से बढ़ जायेंगी।

ओज़ोन परत में सिर्फ ओज़ोन गैस ही नहीं, वहाँ पर ऑक्सीजन गैस और उसके परमाणु भी मिलते हैं। वास्तव में, ऑक्सीजन और ओज़ोन का मिश्रण ही सारी पराबैंगनी किरणों को सोखने में समर्थ होता है। यदि इस परत में दोनों गैसों में से किसी एक की भी कमी होगी तो सारी पराबैंगनी किरणें अवशोषित नहीं की जा सकेंगी क्योंकि 250 nm (नैनोमीटर) से कम लम्बाई की पराबैंगनी किरणों को ऑक्सीजन गैस सोखती है और अपने दो परमाणुओं में विभाजित हो जाती है। ये परमाणु ऑक्सीजन के अन्य अणुओं से मिलकर ओज़ोन गैस बनाते हैं। इस

2/बी–5, शिक्षक आवास, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

प्रकार ऑक्सीजन गैस ओज़ोन के निर्माण में कच्चे माल का कार्य करती है।

250 nm से अधिक लम्बाई की पराबैंगनी किरणों को ओज़ोन गैस सोखती है और ऑक्सीजन गैस के एक अणु तथा एक परमाणु में विभाजित हो जाती है। यह नया परमाणु ओज़ोन के एक और अणु को ऑक्सीजन गैस में बदल देता है। इस प्रकार ओज़ोन ऑक्सीजन में परिवर्तित होती रहती है। अन्ततः इन दोनों परिवर्तनों में एक साम्य स्थापित हो जाता है अर्थात् जितनी ऑक्सीजन ओज़ोन में बदलती है, उतनी ही ओज़ोन ऑक्सीजन में बदल जाती है। इस प्रकार इन अभिक्रियाओं के फलस्वरूप सारी पराबैंगनी किरणें ओज़ोन परत द्वारा सोख ली जाती हैं। पराबैंगनी किरणों की सीमा 320 nm तक है। इससे अधिक लम्बाई की किरणें दृश्य, अवरक्त आदि क्षेत्रों में आती हैं जिनके लिए ओज़ोन परत पूर्णतः पारदर्शी होती है।

आम धारणा यह है कि ओज़ोन परत के पूर्व जीवन केवल जल के अन्दर ही था, ज़मीन पर नहीं। धीरे-धीरे ऑक्सीजन समुद्र से उत्पन्न होकर वायुमंडल में मिलती गई और प्रकाश-रासायनिक क्रिया द्वारा ओज़ोन में बदलती गई और एक समय ऐसा आया कि ओज़ोन परत इतनी सक्षम हो गई कि वह सारे पराबैंगनी विकिरणों को सोखने लगी। इसके बाद पृथ्वी पर भी जीवन पनपने लगा। प्रकृति ने विविध प्रकार के जीव-जन्तु उत्पन्न किये। अनेक प्रकार की वनस्पतियाँ पैदा कीं। यह सब करते समय प्रकृति से एक भूल हो गई। उसने मनुष्य नामक प्राणी भी पैदा किया, साथ ही दूसरी भूल यह की कि मनुष्य को उत्कृष्ट कोटि का मस्तिष्क दे दिया, जिससे मनुष्य खुद तो परेशान हुआ ही, उसने अन्य जीवों को भी परेशान किया और अपने लिए सुख-सुविधाएँ जुटाने में ऐसे कार्य कर गया जिनसे उसका अपना जीवन भी ख़तरे में पड़ गया। उसे अपने दो पैरों से चलना और थोड़ी देर में गन्तव्य तक पहुँचना रास नहीं आया। अतः उसने तेज़ से तेज़तर चलने वाले यान, विमान बनाए। युद्ध जीतने के जेट विमान तक बना डाले। सुपरसॉनिक विमान बनाने की योजना तक पहुँच गया। वास्तव में, इन विमानों के इंजन अत्यधिक गर्मी उत्पन्न करते हैं और इतनी ऊँचाई पर उड़ते हैं कि इनके द्वारा बने नाइट्रोजन ऑक्साइड ओज़ोन को खाने लगते हैं। इससे ओज़ोन की चादर झीनी होने लगती है। सौभाग्य से इस बात का पता वैज्ञानिकों को शीघ्र ही चल गया और सुपरसॉनिक ट्रान्सपोर्ट के बेड़े नहीं बनाए गए।

लेकिन ऐसा तो है नहीं कि मनुष्य सिर्फ एक दिशा में सोचता हो। उसका मस्तिष्क तो संभावनाएँ खोजता रहता है। **महात्मा गांधी** ने कहा भी है, "**Mind is a restless bird, the more it eats, the more it wants.**" अर्थात् "मन एक असन्तुष्ट चिड़िया है, जितना अधिक यह खाती है, उतना ही अधिक और चाहती है।" जब ऊँचे आकाश में तेज़ गति से चलने को उसे मना कर दिया गया तो उसने अपने घर को स्वर्ग बनाने की ठान ली। ठंडा पानी पीने, खाने की चीजों को सड़ने से बचाने तथा कुछ अन्य आनन्द उठाने के लिए उसने फ्रिज बनाया। सारे घर को, कार्यालय को मनोनुकूल ताप पर रखने के लिए उसने एअरकंडीशनर खोज डाला। इन दोनों तकनीकों में जो शीतलक काम आते हैं, उन्हें क्लोरोफ्लोरोकार्बन कहते है। ये क्लोरीन, फ्लोरीन तथा कार्बन के यौगिक होते हैं। ये बहुत ही निष्क्रिय तथा विषहीन होते हैं। अतः जीवन को इनसे कोई ख़तरा नहीं होता। मुख्यतः दो क्लोरोफ्लोरोकार्बन हैं जो अधिकतर प्रयोग में आते हैं। इनके नाम हैं (1) फ्लोरोकार्बन 11 तथा (2) फ्लोरोकार्बन 12। फ्लोरोकार्बन नं० 11 का सूत्र है $CF\,Cl_3$ तथा फ्लोरोकार्बन 12 का सूत्र है $CF_2\,Cl_2$। फ्लोरोकार्बन 11,1948 में 2270 टन बनता था, 1973 में 302000 टन बनता था तथा आज लगभग 2 करोड़ 50 लाख टन बनने लगा है। इसी प्रकार फ्लोरोकार्बन 12, 1948 में 2220 टन तथा 1973 में 383000 टन बनता था और आज लगभग 7 लाख टन बनता है। सन् 2000 तक इनका

उत्पादन, अगर इसी गति से बढ़ता गया तो आज का दो गुना होने लगेगा।

लेकिन आप जानते हैं कि वैज्ञानिक आदमी की तरह शान्त और सन्तोषी नहीं हो सकता। वह नयी-नयी तकनीकें खोजता है, उन्हें उपभोक्ता तक पहुँचाने में मदद करता है; फिर भी निश्चिन्त होकर नहीं बैठ पाता, क्योंकि उसको मालूम है कि अच्छी से अच्छी तकनीक के भी इतर प्रभाव होते हैं, जो खतरनाक भी हो सकते हैं। इसलिए क्लोरोफ्लोरोकार्बन बनाने के बाद उसे यह चिन्ता हमेशा सताती रही कि यह देखना अत्यावश्यक है कि इनके इतर प्रभाव कैसे पड़ते हैं। सत्तर के दशक के मध्य में वैज्ञानिकों को, कुछ प्रयोगों तथा अन्वेषण के आधार पर यह आभास हुआ कि क्लोरोफ्लोरोकार्बन ओज़ोन परत को अण्टार्कटिका के ऊपर झीनी कर रहे हैं। वास्तव में, अण्टार्कटिका हमारी पृथ्वी का दक्षिणी ध्रुव है, जहाँ पर पूरे साल बर्फ जमी रहती है। अतः वहाँ के वायुमंडल में प्रदूषण की आशंका कम होनी चाहिए। परन्तु यह आशंका गलत सिद्ध हुई और वहाँ के वायुमंडल में क्लोरोफ्लोरोकार्बनों के अणु प्राप्त होने की सम्भावना प्रबल होती गई। वास्तव में, क्लोरोफ्लोरोकार्बन निष्क्रिय ही नहीं, बहुत स्थायी भी होते हैं। सैकड़ों वर्षों तक वायुमंडल में उपस्थित रह सकते हैं। ओज़ोन मंडल में पहुँचने के बाद इनको सारे वायुमंडल में मिलने में सिर्फ 2 वर्ष लगते हैं। अण्टार्कटिका के ऊपर के वातावरण में परावैंगनी किरणों से क्रिया करके ये परमाणविक क्लोरीन मुक्त करते हैं जो ओज़ोन को ऑक्सीजन में परिवर्तित कर देती है और ओज़ोन ओढ़नी झीनी होने लगती है। इन्होंने इतनी अधिक क्लोरीन मुक्त की कि उसके द्वारा विनष्ट ओज़ोन की क्षतिपूर्ति, ऑक्सीजन का ओज़ोन में परिवर्तन, नहीं कर पाया और वैज्ञानिकों ने ओज़ोन चादर में छेद होने की घोषणा कर दी। अगर सारी ओज़ोन नष्ट हो जाती है तो पराबैंगनी किरणें अपनी विनाश लीला स्वच्छन्द होकर दिखायेंगी। फिर क्या-क्या बीमारियाँ फैलेंगी तथा कितना जीवन-नाश होगा, कहना कठिन है। इसके अलावा पृथ्वी की बर्फ पिघल कर सब कुछ जलमग्न कर देगी या पृथ्वी की सारी गर्मी निकल जायेगी, जिससे हिमयुग आ जायेगा, और सारी पृथ्वी जम कर बर्फ बन जायेगी।

इसलिए मार्च 1988 में 'राष्ट्रीय वैमानिकी एवं अन्तरिक्ष अभिकरण' (नासा, अमेरिका का) के नेतृत्व में अन्तरराष्ट्रीय वैज्ञानिकों के एक दल ने 1969 से अब तक किए गये ओज़ोन सम्बन्धी अध्ययन का जो खुलासा किया है, वह हमारे जैव मण्डल के लिए 'खतरे की घंटी' है। यह रपट उस आसन्न संकट की ओर संकेत करती है जो ओज़ोन कवच को जर्जर कर रहा है। अमेरिका के सभी राज्यों, कनाडा, पश्चिमी यूरोप, रूस, चीन तथा जापान के ऊपर यह जीवनरक्षक ओढ़नी लगभग 3% झीनी हुई है। अलास्का तथा स्कैण्डनेविया पर यह 6% झीनी हो गई है। वास्तव में, ओज़ोन परत के 1% झीना होने पर त्वचा कैंसर में 5% वृद्धि हो जाती है। त्वचा तथा आँख के ट्यूमर के मामले 2% तक बढ़ जाते हैं। वर्तमान में यह रोग 500 अमेरिकियों की जान ले लेता है। इसके अतिरिक्त पराबैंगनी विकिरणों की मार फसलों को भी चौपट कर देती है।

इन सब संकटों से बचना उतना ही आवश्यक है जितना भोजन। इसीलिए 24 देशों ने मिलकर कनाडा के मॉन्ट्रियल शहर में सितम्बर 1987 में एक प्रस्ताव पास किया जिसके अनुसार विश्वभर के देशों को ऐसे कदम उठाने चाहिए जिससे वायुमण्डल के प्रदूषण को और ओज़ोन परत के क्षरण को रोका जा सके। इसके लिए 1986 के स्तर के आगे क्लोरोफ्लोरोकार्बनों का उत्पादन बन्द होना चाहिए। 1994 तक विकसित देश उत्पादन में 20% कमी करेंगे और 2000 तक 30% और कमी करेंगे अर्थात् 2000 तक इनका उत्पादन आधा रह जायेगा। वर्तमान में अमेरिका 30%, यूरोप के देश 48%, जापान और रूस 10-10% और सारे विकासशील देश 2% क्लोरोफ्लोरोकार्बन उत्पन्न करते हैं। विकासशील देशों को भी अगले दशक से इनका उत्पादन घटाना होगा। □□

अलेक्जेण्डर तेरेनिन
(1896–1967)

राघवेन्द्र कृष्ण प्रताप

सोलह वर्ष के उस किशोर ने अभी डायरी लिखना शुरू ही किया था। अपनी डायरी में उसने लिखा—"विज्ञान ही मेरा धर्म है।" 1912 में लिखे गये इस वाक्य से **तेरेनिन** ने अपनी जीवन-धारा निर्धारित कर ली थी।

सोवियत प्रकाश-विज्ञान के महान अनुसन्धानी **अलेक्जेण्डर तेरेनिन** का जन्म 6 मई 1896 को मास्को के दक्षिण में कालुगा नामक स्थान पर हुआ था। उनके पिता **निकोलाई तेरेनिन** माध्यमिक स्तर से आगे शिक्षा नहीं प्राप्त कर सके थे परन्तु संगीत और कला में उनकी गहरी रुचि थी। मास्को में त्रेत्याकोव कला वीथिका के संस्थापक **पी० त्रेत्याकोव** से उनकी घनिष्ठता उनकी कलात्मक रुचि का साक्ष्य है। अपने बच्चों की शिक्षा-दीक्षा में भी वे पर्याप्त सचेत थे।

अपने भाई बहनों में छठे और सबसे छोटे तेरेनिन का पुकारने का नाम शूरा था। वह शरीर से अत्यधिक निर्बल थे और बच्चों के खेल-कूद और शरारतों में उनकी रुचि बिल्कुल नहीं थी। उनकी रुचि थी अध्ययन में और फ्रेंच और अंग्रेज़ी पर उन्होंने जल्दी ही अधिकार प्राप्त कर लिया था। परन्तु इस शारीरिक दुर्बलता के कारण तेरेनिन ग्यारह वर्ष की आयु में ही विद्यालय में प्रवेश प्राप्त कर सके।

चीजों को रटने में रुचि न होने पर भी तेरेनिन कक्षा के श्रेष्ठ विद्यार्थियों में से थे। वह आधारभूत तथ्यों तक पहुँचाना और घटनाओं-वस्तुओं के प्रति अपनी स्वतन्त्र धारणा निर्मित करना चाहते थे। उनकी रुचि के विस्तार में भौतिकी, रसायनशास्त्र, वैमानिकी, दर्शन, संगीत, अभियंत्रण, इतिहास, कानून, साहित्य और कलाएँ—सभी का समावेश था। उनकी डायरी की एक टिप्पणी उनके इस व्यापक-विस्तृत रुचि क्षेत्र का संकेत देती है।

"मुझे खेद है कि मुझे मानव जाति के सम्पूर्ण ज्ञान के क्षेत्र में कार्य करने के स्थान पर एक संकुचित क्षेत्र में विशेषज्ञता के लिए कार्य करना पड़ेगा। **लोमोनोसोव** ऐसे महान वैज्ञानिक विज्ञान की प्रारम्भिक अवस्था में ही कार्य कर पाते हैं। परन्तु **लियोनार्दो दा विंची** का आदर्श सचमुच चमत्कारिक प्रभाव रखता है···।"

सोलह वर्ष की अवस्था में ही तेरेनिन का परिचय सोवियत वैमानिकी के अग्रदूत **कोन्स्तांतिन त्सियोलकोव्स्की** से हो गया, जो कालुगा के ही निवासी थे। इस छोटी अवस्था में ही तेरेनिन अंतरिक्षयानों के मॉडल बनाते और घन्टों त्सियोलकोव्स्की से चर्चा करते थे। वे चाहते थे कि त्सियोलकोव्स्की के सैद्धान्तिक विचारों को शीघ्रातिशीघ्र मूर्त रूप दिया जाये।

कालुगा मॉडर्न स्कूल से स्नातक होने के पश्चात् तेरेनिन पेत्रोग्राद चले गये और बहुत उहापोह के पश्चात् वहाँ मनोरोग एवं स्नायविक संस्थान के विद्यार्थी हो गये।

तेरेनिन के अध्ययन का यह समय प्रथम विश्व युद्ध का समय था। अक्टूबर 1915 में तेरेनिन को सेना में भर्ती किया गया परन्तु उन्हें तोपखाना विभाग

शिक्षाशास्त्र विभाग, ए० पी० एन० डिग्री कॉलेज, बस्ती–272001

के रसायन विभाग में कार्य करने के लिये भेजा गया। वहाँ से उनकी प्रोन्नति करके पेत्रोग्राद कारतूस कारखाने के सहायक अधीक्षक पद पर भेज दिया गया। **1916** में जब वे कारखाने में कार्यरत थे तभी उन्होंने पेत्रोग्राद विश्वविद्यालय के भौतिकी और गणित विभागों में विशेष छात्र के रूप में अध्ययन प्रारम्भ किया। **1917** में वह सेना की केन्द्रीय तकनीकी प्रयोगशाला के तकनीकी विशेषज्ञ के रूप में कार्य कर रहे थे तभी उन्होंने वर्णक्रममापन प्रविधि के द्वारा जर्मनों द्वारा राइफलों पर लगाए जाने वाले दीप्त-पदार्थ की संरचना ज्ञात की।

15 दिसम्बर **1918** को सोवियत प्रकाश संस्थान की स्थापना हुयी। इस संस्थान का विचार अकादमीशियन **दिमत्री रोज्देस्त्वेंस्की** का था और इसे **लेनिन** का पूर्ण सहयोग प्राप्त था। इस प्रयोगशाला के निर्माण का उद्देश्य विज्ञान, तकनीक और उत्पादन में निकटतम सहयोग स्थापित करना था। 1922 में इस संस्थान में तेरेनिन को कनिष्ठ प्रयोगशाला सहायक के रूप में कार्य मिला। इस संस्थान से तेरेनिन का संबंध अर्द्ध शताब्दी तक रहा। अन्त में वे इस संस्थान के निदेशक हुए।

तेरेनिन के अनुसंधान कार्य को, जो विविध क्षेत्रों से सम्बन्धित है, ''पदार्थ और प्रकाश की अंत:क्रिया'' शीर्षक के अन्तर्गत समावेशित किया जा सकता है। 1943 में तेरेनिन ने अणुओं में त्रिक्-संरचना (ट्रिपलेट स्ट्रक्चर) की भविष्यवाणी की। वास्तव में यह अणु-सम्बन्धित ऐसा ऊर्जास्तर है जिसे चुम्बकीय क्षेत्र तीन स्तरों में विभाजित कर देता है। ऐसा उस विशेष ऊर्जा स्तर में आने पर अणु की ऊर्जा, चुम्बकीय-आघूर्ण की दिशा और परिमाण तथा अन्य कारकों के कारण— विभिन्न क्वांटम स्थितियों के फलस्वरूप सम्भव होता है। एक चुम्बकीय क्षेत्र की उपस्थिति में यह अवस्थाएँ अपने को अलग-अलग स्थापित कर लेती हैं और उनमें ऊर्जा के अन्तर भी होते हैं। यदि अणु को पर्याप्त ऊर्जा प्रदान की जाए और उसे इस अवस्था तक लाया जाये तो वह वहाँ लम्बे समय तक उस स्थिति में रह सकता है। उस स्थिति में उसकी रासायनिक क्रियाशीलता परिवर्तित हो जाती है और नवीन गुण उत्पन्न हो जाते हैं—उदाहरण के लिए प्रतिदीप्ति। त्रयी-स्थिति के अध्ययन से अणुओं के विशिष्ट गुणों का अध्ययन सम्भव है। इसी कारण अब यह प्रकाश-अनुसंधान का मूल्यवान क्षेत्र स्वीकार किया जाता है।

तेरेनिन ने वर्णक्रम मापन और प्रकाश-रसायन के क्षेत्र में अग्रगामी कार्य किया। उन्होंने प्रकाश की कार्बनिक-यौगिकों पर क्रिया, अधिशोषण-अवस्था का वर्णक्रमिक और प्रकाश रसायनिक अध्ययन तथा प्रकाश-संश्लेषण के प्राथमिक चक्र पर आधारभूत अनुसंधान किये। संक्षेप में उन्होंने एक नवीन विज्ञान की शाखा प्रारम्भ की जिसे उनके शब्दों में अणु-प्रकाशिकी (फोटोनिक्स ऑव मालीक्यूल्स) पुकारा गया, जिसका सम्बन्ध प्रकाश के प्रभाव में पदार्थ के गुणों के परिवर्तन से है।

एक विलक्षण प्रयोगकर्त्ता होने के साथ-साथ तेरेनिन एक महान अध्यापक भी थे। उनके शिष्यों की एक बड़ी संख्या, विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में योगदान कर रही है। तेरेनिन के अनुसार भावी प्रयोगकर्ताओं का प्रशिक्षण माध्यमिक स्तर से ही प्रारम्भ कर दिया जाना चाहिये और इसके लिये उन्हें अनुसंधान केन्द्रों से संबद्ध किया जाना आवश्यक होगा। उनका विश्वास था कि अनुसंधानी को, वैज्ञानिक कार्य को एक असाधारण दायित्व के रूप में ग्रहण करना चाहिये अन्यथा उससे महत्वपूर्ण परिणामों की आशा करना व्यर्थ होगा।

तेरेनिन परिश्रम में विश्वास करते थे और उनके सहयोगी अनुसंधानकर्ता में प्रतिभा चाहे न हो, विज्ञान में विश्वास करना एक अनिवार्यता थी। उन्हें युवा-वैज्ञानिकों के साथ कार्य करने में आनन्द आता था। अपने सहयोगियों में वे दक्षता और विवेकशीलता के गुण पसन्द करते थे। अपने जैसी समस्याओं पर कार्य कर रहे वैज्ञानिकों से उनके कार्य के सम्बन्ध में बातें करना, उन्हें सुझाव देना उनके व्यक्तित्व का एक मूलभूत अंग बन गया था।

कार्य में जल्दबाजी तेरेनिन को पसन्द नहीं थी। **प्रो० लिवशिन** के अनुसार वह किसी समस्या पर तब तक मनन करते रहते थे जब तक उसका गूढ़ अर्थ प्राप्त नहीं कर लेते थे। उस क्षेत्र में लेखकों की कृतियों से घनिष्ठ परिचय के कारण वह अप्रत्याशित परिणाम निकाल सकने में समर्थ थे।

कार्य उनके लिये आनन्द का स्रोत था और प्रयोगशाला में जाना जैसे अवकाश का प्रारम्भ होता था। उनकी उपस्थिति में प्रयोगशाला एक सर्जनात्मक प्रसन्नता का केन्द्र हो जाती थी। कोई भी इस वातावरण के प्रभाव से अछूता नहीं रह सकता था।

नवीन शोध-साहित्य पढ़ने और उस पर चर्चा करना भी तेरेनिन की रुचिकर क्रियाओं में एक था। **प्रो० यर मालायेक** ने तेरेनिन के सम्बन्ध में एक संस्मरण प्रस्तुत किया है। वे उनके विद्यार्थी जीवन में उन्हें स्वयं पुस्तकालय ले गये थे और वहाँ संदर्भ ग्रन्थ, पुस्तक सूचियाँ और पत्रिकाएँ किस प्रकार प्राप्त की जा सकती हैं, यह सिखाया था। इसी प्रकार वे अपने पढ़े हुए अलग-अलग लेखों के नाम विशेष कार्डों पर लिखकर अपने सहायकों में वितरित कर देते थे और फिर उनसे उन लेखों और निबन्धों के सम्बन्ध में प्रश्न पूछते थे। मनोरंजनक बात यह थी कि अनुसंधानकर्ता के विषय से पूरी तरह अलग विषय से सम्बन्धित लेख सदैव ही अनुसंधानकर्ता के परिणामों और कार्य से सम्बन्धित होता था।

विभाग की नियमित गोष्ठियाँ तेरेनिन के क्रिया-कलाप का महत्वपूर्ण अंश थी। जब वह किसी को गोष्ठी में अपने विचार व्यक्त करने के लिये कहना चाहते तो कहते "अमुक की इस सम्बन्ध में कोई शंका है।" इन गोष्ठियों का वातावरण अनौपचारिक होता था। प्रश्न पूछने के लिये वक्ता को कभी भी टोका जा सकता था और यह नियम तेरेनिन पर भी लागू होता था। गोष्ठियों से कोई अनुपस्थित रहे, यह तेरेनिन को बिल्कुल पसन्द नहीं था। यही कारण है कि भयंकर अस्वस्थता की स्थिति में चिकित्सालय से उन्होंने अपने सहायक **प्रो० फेदोर विलेसोव** को पत्र लिखाया था—"**प्रिय फेद्या,**......गोष्ठियाँ चलाते रहना...।"

तेरेनिन अपने शिष्यों से बहुत स्नेह करते थे। द्वितीय विश्व युद्ध में अपने शिष्य **के० कारयोरोव** की मृत्यु पर उन्होंने अपने एक विद्यार्थी को जो पत्र लिखा था, वह उनके उस महान स्नेह की अभिव्यक्ति करता है।

"अपनी माँ की मृत्यु के पश्चात् कार्य की मृत्यु से मैंने इसका गहरा आघात अनुभव किया है...तुम कल्पना कर सकते हो, उस पर अपनी कितनी आशाएँ केंद्रित कर रखी थीं। यह बेटे को खो देने से भी भयानक स्थिति है, क्योंकि पुत्र और पिता के बीच अधिक आध्यात्मिक बंधन नहीं रहते और उनकी रुचि के क्षेत्र भी भिन्न होते हैं।"

उनके शिष्य भी तेरेनिन के प्रति ऐसे ही आंतरिक लगाव का अनुभव करते थे। एक छात्र ने अपनी प्रौढ़ावस्था में तेरेनिन को लिखे पत्र में इस लगाव की चर्चा की थी।

'जिन वर्षों में मैं आपके साथ था, उनका अमिट प्रभाव मेरे मस्तिष्क पर है। उन्हें मैं अपने जीवन के सर्वाधिक प्रसन्नता देने वाले वर्षों के रूप में याद करता हूँ। यद्यपि मैं स्वयं तेजी से वृद्धावस्था की ओर बढ़ रहा हूँ, परन्तु अभी भी मेरे हृदय में आपके प्रति युवा श्रद्धा और प्यार भरा हुआ है...।"

तेरेनिन को अपने जीवन में जो अनेक महत्वपूर्ण सम्मान प्राप्त हुये उनमें प्रकाशजैविकी के लिये प्रदान किया जाने वाला 'नील्स फिन्सेन पदक' भी था, जो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उनकी उपलब्धियों के लिये प्रदान किया गया था।

1967 में इकहत्तर वर्ष की आयु में इस वैज्ञानिक ने देह त्याग किया। □□

वृक्ष जो विधवा हो गयी !!

सतीश कुमार शर्मा

एक वृक्ष विधवा हो गयी !!

जी हाँ चौंकिये नहीं। खबर किसी महिला की नहीं सचमुच एक मादा वृक्ष की है, जो 1954 से वैधव्य के दिन काट रही है।

सुनने में कुछ आश्चर्यजनक अवश्य है यह, लेकिन एकदम सत्य खबर है। यह हादसा मॉरीशस द्वीप की धरती पर हुआ है। मॉरीशस हिन्द महासागर में एक छोटा सा द्वीप है। यह छोटा सा देश प्राकृतिक सुन्दरता का धनी है। अभी तक इस देश की धरती पर पुष्पधारी पौधों के 50 कुल पहचाने जा चुके हैं। वनस्पतियों की 25 प्रजातियाँ तो यहाँ ऐसी पाई जाती हैं जो दुनिया में कहीं और नहीं पाई जाती हैं।

मॉरीशस की धरती पर पुष्पाधरी पौधों का एक वंश पाया जाता है, जिसे वैज्ञानिक भाषा में **डायोस्पाइ-रॉस** (*Diospyros*) कहा जाता है। इस वंश के पौधे ईबीनेसी कुल में वर्गीकृत किये गये हैं। **डायोस्पाइरॉस** वंश की कोई 17 प्रजातियाँ मॉरीशस में पाई जाती हैं, जिनमें कम से कम 10 प्रजातियाँ या तो पूरी तरह समाप्त हो चुकी हैं या समाप्त होने के कगार पर खड़ी हैं।

डायोस्पाइरॉस वंश की एक प्रजाति को 1867 में बनी एक पेन्टिग के आधार पर पहचाना गया था। इसका अभी पूर्ण नामकरण न होने से इसे वैज्ञानिक भाषा में *Diospyros Sp. nov* लिख कर ही काम चलाया जा रहा है।

इस अभागे वृक्ष की कहानी बहुत ही दर्दनाक है। वह वृक्ष हम मनुष्यों की तरह एकलिंगी (Dioecious) है। यानी नर एवं मादा लिंग वाले अलग-अलग वृक्ष होते हैं। नर वृक्ष नर पुष्प पैदा करता है एवं मादा वृक्ष मादा पुष्प। नर वृक्षों के फूलों में बने पराग कण विभिन्न वाहकों से जब मादा वृक्ष के मादा फूलों तक पहुँचते हैं तो पर-परागण की क्रिया संपन्न हो जाती है, जिससे नये बीजों का बनना सम्भव हो पाता है। यदि विपरीत लिंग वाला पौधा अनुपस्थित हो तो बीज नहीं बन सकते।

वनों के भारी क्षय से इस नई प्रजाति (*Diospyros Sp. nov* प्रजाति) के वृक्षों की संख्या में तेजी से कमी होती चली गई। इस जाति के बारे में जब हमें कुछ वैज्ञानिक ज्ञान हुआ तब तक बहुत देर हो चुकी थी। इस सदी के मध्य में इस प्रजाति के सिर्फ दो बूढ़े वृक्ष बचे थे। एक मादा तथा दूसरा नर।

स्थिति काफी गम्भीर थी। किसी भी एक वृक्ष की मृत्यु से भविष्य में नये बीज बनने की सम्भावना बिल्कुल समाप्त हो सकती थी अतः इस प्रजाति के दोनों वृक्षों को बचाने के प्रयास किये जाने लगे।

और फिर आया 1954 का साल। जैसी आशंका थी, वही हुआ। बूढ़ा नर वृक्ष स्वर्गवासी हो गया और पीछे रह गयी अकेली विधवा मादा वृक्ष। इतनी विशाल पृथ्वी और अकेली मादा **डायोस्पाइरॉस** वृक्ष !!!

इस खबर से विश्व के प्रकृतिविदों में खलबली मच गई। अकेले बचे मादा वृक्ष को किसी भी संभावित ख़तरे से बचाने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय प्रयत्न होने लगे। परन्तु ऐसा लगता नहीं कि हम इसे बचा पायेंगे। इस वृक्ष को 100 वर्षों की लम्बी आयु पहले ही मिल चुकी है और निरन्तर वृद्धावस्था की ओर अग्रसर है।

वन प्रसार अधिकारी, वनचेतना केन्द्र, उदयपुर (राजस्थान)–313001

दूसरे यह एक सड़क के किनारे स्थित है। दुर्भाग्यवश यदि किसी अनियन्त्रित वाहन ने इसे टक्कर मार दिया तो इस अकेले वृक्ष के भी दुर्घटना का शिकार होकर धराशायी हो जाने की आशंका निर्मूल नहीं है।

इस प्रजाति को बचाने का एक ही रास्ता है, और वह है इस मरणासन्न बूढ़े मादा वृक्ष से बीज पैदा करवा कर, उन बीजों को उगाया जाना। परन्तु समस्या यह है कि बीज कैसे पैदा करवाये जायें? हमारे पास तो एक भी नर वृक्ष नहीं है। यदि हमें बचा-खुचा कोई एक भी नर वृक्ष कहीं मिल जाये तो यह प्रजाति इस धरती से विलुप्त होने से बच सकती है। प्रकृतिविदों ने आशा नहीं छोड़ी है। मॉरीशस के जंगलों में नर **डायोस्पाइरॉस** की खोज जारी है परन्तु अभी तक सफलता हाथ नहीं लगी है।

इस वृक्ष की दयनीय स्थिति का सभ्य जगत् को आभास कराने के लिये आई० यू० सी० एन० की ख़तरे की पुस्तिका "रैड डेटा बुक" में भी इस वृक्ष को दर्ज किया जा चुका है। सभ्य जगत् को इस सबसे सचेत हो जाना चाहिये कि हम वनस्पतियों के विलुप्तीकरण को रोकें ताकि आने वाली पीढ़ियों हेतु उन्हें सुरक्षित एवं संरक्षित अवस्था में रखा जा सके अन्यथा वह दिन दूर नहीं जब हम अनेक किस्मों की वनस्पतियों से हाथ धो चुके होंगे।

□□

[शेषांश पृष्ठ 15 का]

है। कभी-कभी मसूड़े सूज कर नीले पड़ जाते हैं, और दाँतों को घेरकर छिपा लेते हैं। मसूड़ों के घाव से दुर्गन्धयुक्त स्राव निकला करता है। रोगी की श्वास भी दुर्गन्धयुक्त हो जाती है। अन्त में दाँत ढीले होकर गिर जाते हैं। पैरों में लाल रंग के मच्छरों के काटे जैसे दानें निकल आते हैं, जो बाद में हरे रंग के धब्बों में परिवर्तित हो जाते हैं। धब्बे शीघ्र ही गायब हो जाते हैं और उस स्थान की त्वचा उधड़ने लगती है। कभी-कभी दोनों के आपस में मिलने से घाव बन जाते हैं, जिनसे दुर्गन्धयुक्त स्राव बहा करता है। पैरों के अतिरिक्त ये लक्षण हाथ, कुहनी व निचले जबड़े की मांसपेशियों पर भी हो सकते हैं। नाक व मुँह की श्लैष्मिक कलाओं से भी रक्त-स्त्राव होता है। जैसे-जैसे रोग बढ़ता है, शरीर में रक्त की कमी होती जाती है, जिसकी वजह से रोगी के हृदय की धड़कन बढ़ जाती है और साँस फूलने लगती है। इस समय किसी दूसरी बीमारी के हो जाने पर रोगी का बचना असंभव हो जाता है। ऐसे रक्ताल्पता वाले रोगियों के घाव भरने में बहुत अधिक समय लगता है। किसी कड़ी वस्तु जैसे अमरूद आदि को दाँतों से काटने पर मसूढ़ों से खून आने लगता है। उपर्युक्त लक्षण वयस्कों में देखने को मिलते हैं। शिशुओं में विटामिन-सी की कमी से उत्पन्न रोग के लक्षण 8-12 महीनों के बीच प्रकट होते हैं। बच्चा दुखी एवं चिड़चिड़ा हो जाता है। उसे भोजन में कोई रुचि नहीं रहती है। पैरों में सूजन हो जाती है। आँखों में रक्तस्राव के कारण वे फूलकर बैगनी हो जाती हैं।

इस रोग से बचने का सर्वोत्तम उपाय प्रतिदिन के भोजन में 20-25 मिग्रा० विटामिन-सी की उपस्थिति है। रोग के लक्षण प्रकट होते ही रोगी को विटामिन-सी की उपयुक्त मात्रा देनी चाहिये। यह मात्रा इंजेक्शन द्वारा या संतरे नीबू. टमाटर का रस अथवा पालक, करमकल्ला आदि को उबालकर उसके पानी के रूप में देनी चाहिये। 1000 मिग्रा० शुद्ध विटामिन-सी लगातार इंजेक्शन द्वारा देना चाहिये। पाचन-संस्थान की अस्वास्थ्यकर दशाओं जैसे अतिसार, अलसरेटिव कोलाइटिस आदि बीमारियों में इंजेक्शन द्वारा विटामिन-सी देने पर इसका अधिकांश भाग मल के साथ निकल जाता है। इसलिये भोजन के साथ ही इस विटामिन को दिया जाना चाहिये, क्योंकि ग्लूकोज का इस विमामिन पर रक्षात्मक प्रभाव होता है।

विटामिन-सी के कार्य तथा हीनताजनित दोषों को जानकर अब यह अनुमान करना कठिन नहीं है कि स्वस्थ मानव शरीर के लिये विटामिन-सी कितना अधिक आवश्यक है। □□

विटामिन-सी

विनीता शुक्ला

विटामिन-सी का दूसरा नाम एस्कार्बिक एसिड भी है। इस विटामिन के स्कर्वी प्रतिकारक गुण के कारण ही इसका यह नाम पड़ा। इस विटामिन की कमी से उत्पन्न रोग का सामना सबसे पहले जलयान द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान तक भ्रमण करने वाले नाविकों को करना पड़ा था। सन् 1498 में जब **वास्कोडि-गामा** अपने 180 साथियों के साथ भारत की खोज में निकला था, तो भारतीय तट पर पहुँचने से पूर्व ही उसके 100 साथी 'स्कर्वी रोग' का शिकार होकर मृत्यु को प्राप्त हो चुके थे। उन दिनों भोजन सम्बन्धी अधिक ज्ञान न होने की वजह से इस रोग के कारणों का पता नहीं चल सका था। सन् 1593 में **सर रिचर्ड हॉकिन्स** ने दक्षिण यात्रा संबधी अपने अनुभवों में नीबू के रस से इस स्कर्वी रोग के उपचार का उल्लेख किया है। लेकिन इस विषय पर सारा ज्ञान यहीं तक सीमित रहा। परन्तु इससे लोग इतना अवश्य जान गये थे कि नीबू में कोई ऐसा आवश्यक तत्व होता है, जिसकी कमी से स्कर्वी रोग हो जाता है। सन् 1928 में **जियोर्जाई** नामक वैज्ञानिक ने विटामिन-सी का पृथक्करण करके स्कर्वी प्रतिरोधक गुण के कारण इसे 'एस्कार्बिक एसिड' का नाम दिया। यह जल में घुलनशील विटामिन है। यह 2 रूपों— L-**एस्कार्बिक एसिड** एवं D-**हाइड्रोएस्कार्बिक एसिड** में पाया जाता है।

यह विटामिन हरी शाक-भाजियों और ताजे फलों में अधिक होता है। नारंगी, नीबू, टमाटर, केला, आलू, पालक, करमकल्ला, शलगम, आँवला, पपीता (पका), धनिया, सैंजन और हरी मिर्च में बहुतायत से पाया जाता है। लगभग पाव भर आलू से 30 मिली ग्राम (mg) विटामिन सी मिलता है, जो दैनिक आवश्यकता की अधिकांश पूर्ति करता है। बासी रखे हुये फलों एवं सब्जियों में यह काफी मात्रा में नष्ट हो जाता है। फलों के बाहरी आवरण (छिलकों) में यह विटामिन सर्वाधिक होता है। अतः केवल मांस, दूध एवं अण्डों पर निर्भर रहने वाले व्यक्तियों को ही स्कर्वी रोग होता है। आँवला विटामिन-सी प्राप्त करने का सर्वोत्तम और प्राकृतिक साधन है। इसमें प्रचुर मात्रा में विटामिन-सी होता है। आँवले के ताजे रस में संतरों के रस से 20 गुना अधिक विटामिन-सी होता है। आँवले को सुखाने, भूनने या गरम करने से इसमें उपस्थित विटामिन की मात्रा पर कोई असर नहीं पड़ता है। दूध में यह विटामिन बहुत कम मात्रा में रहता है, जो उबाले जाने पर नष्ट हो जाता है। सब्जियों को काटकर धोने के पश्चात् उनमें इस विटामिन की मात्रा बहुत कम रह जाती है।

इसलिये सब्जियों को काटने के पहले ही धो लेना चाहिये। प्रकाश में रखने से भी यह विटामिन शीघ्रता से नष्ट होता है अतः इसे रंगीन शीशियों में रखा जाता है। जिन चीजों में विटामिन-सी पाया जाता है, उनमें एस्कार्बिक एसिड ऑक्सीडेज़ नामक पदार्थ होता है, जो शाक-भाजियों को पौधों से तोड़ने के बाद स्वतन्त्र हो जाता है और जिसका विटामिन सी पर विनाशकारी प्रभाव होता है। इसलिये सब्जियों को अधिक समय तक बिना उपयोग किए नहीं रखना चाहिये। सब्जियों को लोहे के चाकू से काटने, तराशने या कद्दूकस करने से भी उनमें उपस्थित विटा-

ए-6 विश्वविद्यालय आवास, चैथम लाइन्स, इलाहाबाद—211002

मिन-सी की मात्रा कम हो जाती है। इसलिये सब्ज़ियों का स्टेनलेस स्टील या एल्युमिनियम के बर्तनों में पकाना अधिक सुरक्षित रहता है। विटामिनों को नष्ट होने से बचाने के लिये सब्ज़ियाँ उबलते पानी में डाल-कर पकाई जानी चाहिये, जिससे एस्कार्बिक एसिड ऑक्सिडेज़ के नष्ट हो जाने से अधिक विटामिन नष्ट नहीं होता है। आलू में भी, जो कई देशों में एक प्रमुख खाद्य के रूप में इस्तेमाल किया जाता है, विटा-मिन-सी का सामंजस्य रहता है परन्तु इसका अधिकांश भाग छिलकों के रूप में रहता है, जो व्यर्थ समझकर फेंक दिया जाता है। इस विटामिन के नाश का एक और मुख्य कारण पकी सब्जियों को पुनः आग पर गर्म करना है। इस प्रकार से विटामिन-सी का नाश बड़ी शीघ्रता से होने लगता है और प्रति घन्टे इसकी नष्ट होने वाली मात्रा बढ़ती जाती है। ऐसा इसलिये होता है, क्योंकि पकाते समय जल से चारों ओर से घिरी होने के कारण वायु से सम्पर्क न हो पाने से विटामिन की मात्रा नष्ट नहीं हो पाती है परन्तु दुबारा गर्म करने पर वायु से सम्पर्क होने के कारण इसका नष्ट होना स्वाभाविक है। इसकी व्यापक उपयोगिता को देखते हुए यह आवश्यक है कि हमारे दैनिक आहार में कम-से-कम 15-30 मिग्रा० विटामिन-सी उपस्थित हो। यह मात्रा हमें स्कर्वी रोग से मुक्त तो रख सकती है, पर एक स्वस्थ शरीर के लिये इस विटामिन की 50 मिग्रा० मात्रा आवश्यक है। युवा स्त्री व पुरुष के लिए प्रतिदिन 70 मिग्रा० विटामिन-सी सामान्य अवस्था में आवश्यक है। बच्चों को इसकी कम मात्रा दी जानी चाहिये। युवाओं को ज्वर, रहयूमेटिक ज्वर, टी० बी०, न्यूमोनिया एवं डिप्थीरिया में सामान्य से अधिक विटामिन-सी आवश्यक है, क्योंकि शरीर में ऐसे समय रक्त के श्वेतकणों की आवश्यकता अधिक होती है। दूध में विटामिन-सी अल्पमात्रा में उपस्थित रहती है पर गाय के दूध में इसकी उपस्थित नहीं के बराबर होती है, जो गर्म करने पर नष्ट हो जाती है। थाय-राइड ग्रन्थि की अतिक्रियाशीलता, ल्यूकीमिया, कैंसर, भोजन में प्रोटीन की अधिकता या अधिक परिश्रम करने अथवा एस्प्रिन, एट्रोपीन आदि औषधियों का सेवन करने वाले व्यक्तियों को सामान्य से अधिक विटामिन-सी की आवश्यकता होती है। इसका संग्रह एड्रिनल, पिट्यूटरी, कार्पस ल्यूटियम व थायमस ग्रंथियों में होता है। लिवर, स्प्लीन, मस्तिष्क, गुर्दे, फेफड़े व हृदय में भी अल्प मात्रा में इसका संग्रह होता है। शरीर से इस विटामिन का निष्कासन मल, मूत्र व पसीने के साथ होता रहता है। शरीर में एक निश्चित मात्रा में इसकी उपस्थित के बाद इस विटामिन का संग्रह सम्भव नहीं है। कुत्तों व चूहों में इस विटामिन के स्वतः निर्माण की क्षमता होती है। यह शरीर में गुर्दों के ऊपर उपवृक्क ग्रन्थियों में निर्मित होता है, लेकिन मनुष्य में इस तरह की प्रणाली का अभाव होने के कारण ही हम अपने भोजन से विटामिन-सी प्राप्त करते हैं।

इस विटामिन की कमी से रक्तकोशिकाओं की कमी, जख्म भरने व टूटी हड्डी के जुड़ने में विलम्ब, दाँतों से संबंधित रोग, हड्डी का निर्माण रुकना, उनमें विकृतियाँ, संक्रमण प्रतिरोधक शक्तियों जैसे श्वेत रक्त कणिकाओं का निर्माण न होना, उनकी संख्या में कमी आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इस विटामिन की कमी से होने वाले अन्य रोगों में शरीर के स्वस्थ तन्तुओं का ह्रास होना है। रक्त कोशिकायें, जो मानव का कोमलतम अंग होती हैं, इनकी पतली दीवारों के कोषों से एक दूसरे से बाँधने वाले पदार्थ की कमी होने से जरा से दबाव से ही फूट जाती हैं और रक्त-स्राव होने लगता है। मसूड़ों का रक्त-स्राव इसी प्रकार का होता है। स्कर्वी इस विटामिन की कमी से होने वाला एक घातक रोग है, जिसकी उत्पत्ति में 4-6 महीनों का समय लग जाता है। विटामिन-सी की कमी के साथ-साथ यह भोजन में अन्य तत्वों की कमी, रोगी के शरीर, पाँचन संस्थान की दशा तथा आँत एवं अन्तःस्रावी ग्रंथियों की स्थिति पर भी निर्भर करती है। इस रोग के प्रारम्भिक मुख्य लक्षण कमजोरी, आलस्य, हाथ-पैरों में पीड़ा और थकान होती है। मसूड़े सूजने लगते हैं और हल्की सी रगड़ उनमें रक्त-स्राव कर सकती

[शेष पृष्ठ 13 पर]

रक्त में ग्लूकोज़ की मात्रा का नियन्त्रण

पुनीत चन्द्र

हमारे शरीर की कोशिकाओं को कार्य करने के लिए ऊर्जा की आवश्यकता होती है। यह ऊर्जा ग्लूकोज़ के ऑक्सीकरण से प्राप्त होती है। कोशिकाओं को ग्लूकोज़ देने का काम रक्त द्वारा होता है। अतः रक्त में ग्लूकोज की एक निश्चित मात्रा का बना रहना आवश्यक है। एक स्वस्थ मनुष्य में यह मात्रा 80–120 मि० ग्रा० प्रति 100 मि० ली० रक्त होती है। यदि यह मात्रा बढ़ती या घटती है, तो इस प्रकार की व्यवस्था होती है कि मात्रा उपरोक्त स्तर तक आ जाए। जैसे यदि भोजन में कार्बोहाइड्रेट की अधिक मात्रा ली जाती है तो ग्लूकोज़ का स्तर बढ़ता है तथा यदि भोजन काफी समय तक न लिया जाए तो रक्त ग्लूकोज़ का स्तर कम हो जाता है। दोनों ही स्थितियों में रक्त-ग्लूकोज़ की मात्रा क्रमशः घट कर या बढ़कर स्वतः नियन्त्रित हो जाती है।

वैज्ञानिक परीक्षणों द्वारा सिद्ध हो चुका है कि निम्न प्रक्रियाओं द्वारा रक्त में ग्लूकोज़ की मात्रा बढ़ती है—

(1) भोजन में ग्रहण किए गए कार्बोहाइड्रेट का अवशोषण।

(2) यकृत में एकत्र ग्लाइकोजन का विघटन।

(3) आवश्यकता पड़ने पर प्रोटीन तथा वसा का ग्लूकोज़ में परिवर्तन।

जो प्रक्रियायें रक्त में ग्लूकोज़ की मात्रा कम करती है वे इस प्रकार हैं—

(1) कोशिकाओं द्वारा ग्लूकोज़ का ऑक्सीकरण।

(2) ग्लूकोज़ की अधिक मात्रा का ग्लाइकोजन के रूप में यकृत तथा मांसपेशी की कोशिकाओं में संग्रहण।

(3) वसा में परिवर्तन।

(4) लैक्टोज़ (दूध में पाया जाने वाला कार्बोहाइड्रेट), न्यूक्लिक एसिड तथा पॉलीसेकराइड का संश्लेषण।

रक्त में ग्लूकोज़ के स्तर को बनाए रखने के लिए विभिन्न प्रकार के हार्मोन कार्य करते हैं। जो हार्मोन इस क्रियाविधि में भाग लेते हैं वे हैं—

(1) इन्सुलिन, (2) वृद्धि हार्मोन, (3) स्टीरॉयड हार्मोन, (4) एपीनेफरीन, (5) ग्लूकागॉन और (6) थायरॉयड हार्मोन। इन्सुलिन हार्मोन रक्त में ग्लूकोज़ के स्तर को घटाती है तथा अन्य हार्मोन ग्लूकोज़-स्तर को बढ़ाते हैं। परिस्थिति के अनुसार कार्य करते हुए हार्मोन रक्त-ग्लूकोज़ की मात्रा बनाए रखते हैं।

रक्त में ग्लूकोज़-स्तर बढ़ने का कारण ग्लूकोज़ की अधिक मात्रा का आंत्र द्वारा अवशोषण तथा शरीर में उपस्थित ग्लूकोज़ की मात्रा का कम उपयोग है। इसी प्रकार ज्यादा समय तक भोजन न ग्रहण करना तथा कुपोषण आदि रक्त में ग्लूकोज़-स्तर के घटने के कारण हैं।

यह सर्व विदित तथ्य है कि इन्सुलिन अग्न्याशय के लैंगरहंस द्विपिकाओं के बीटा कोशिकाओं में बनता है। रक्त में ग्लूकोज़ की मात्रा बढ़ते ही इस हार्मोन का स्रावण प्रारंभ हो जाता है। इस हार्मोन के स्रावण से एडीपोज़ तथा मांसपेशी की कोशिकाओं द्वारा ग्लूकोज ग्रहण करने की दर में वृद्धि हो जाती

सीनियर रिसर्च एसोशियेट, फ़सल अनुसंधान केन्द्र, नरेन्द्र देव कृषि एवं प्रौद्योगिक विश्वविद्यालय, फैज़ाबाद

है तथा वसा और ग्लाइकोजन की संश्लेषण-क्रिया में भी वृद्धि होती है। इस प्रकार ग्लूकोज़ की बढ़ी हुई मात्रा का उपयोग कोशिकाओं द्वारा कर लिया जाता है और रक्त में ग्लूकोज़ का स्तर बना रहता है। इस हार्मोन की कमी से मधुमेह (डायबटीज़) रोग हो जाता है।

अन्य हार्मोन कोशिकाओं द्वारा ग्लूकोज़ लेने की दर को घटाते हैं। स्टीरॉयड हार्मोन मुख्यत: वसा तथा प्रोटीन द्वारा ग्लूकोज़ बनाने की प्रक्रिया (ग्लूकोनियोजेनेसिस) को तेज़ करता है।

एपिनेफ्रीन तथा ग्लूकागॉन ग्लाइकोजन के ग्लूकोज़ में परिवर्तन की प्रक्रिया (ग्लाइकोजिनोलिसिस) को तेज़ करके रक्त-ग्लूकोज़ की मात्रा बढ़ाती है।

थायरॉयड हार्मोन भी रक्त-ग्लूकोज़ की मात्रा बढ़ाने में सहायक होती है। अधिक समय तक भोजन ग्रहण न करने से जब रक्त-ग्लूकोज़ का स्तर गिरता है तो उपरोक्त प्रक्रियाओं द्वारा स्तर सामान्य हो जाता है।

अब यह पूर्ण रूप से स्पष्ट हो चुका है कि भोजन में ग्लूकोज़ की अधिक मात्रा लेने पर या काफी समय तक भोजन ग्रहण न करने पर, दोनो ही स्थितियों में विभिन्न प्रक्रियाओं द्वारा रक्त में ग्लूकोज़ की मात्रा एक स्तर पर बनी रह सकती है। □□

विज्ञान परिषद् में अखिल भारतीय संगोष्ठी

यह वर्ष 'विज्ञान परिषद्, प्रयाग' का 75वां वर्ष या 'अमृत जयन्ती वर्ष' है। अमृत महोत्सव कार्यक्रमों के अन्तर्गत नवम्बर अथवा दिसम्बर माह में हम **'भारतीय भाषाओं में विज्ञान लेखन'** विषय पर एक अखिल भारतीय गोष्ठी भी आयोजित कर रहे हैं। इस सम्बन्ध में हमारा सभी से अनुरोध है कि वे इस गोष्ठी के लिए अपने लेख शीघ्र ही भेज दें। लेख इतना बड़ा होना चाहिए कि छपकर 3-4 पृष्ठों में आ सके। राष्ट्रभाषा हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं के विज्ञान लेखकों की भी अपनी-अपनी समस्यायें अवश्य होंगी। 'विज्ञान परिषद्, प्रयाग' इन सभी लेखकों को एक मंच पर लाकर समूचे देश में सभी भारतीय भाषाओं की विज्ञान लेखन सम्बन्धी जो समस्यायें हैं उनके समाधान के आशय से ही इस गोष्ठी का आयोजन करने जा रहा है। अतएव हमारा विनम्र निवेदन है कि आगामी गोष्ठी के लिए अपने आलेख शीघ्र भेज कर इस गोष्ठी को सफल बनायें। गोष्ठी के लिए आये आलेखों को पुस्तकाकार संगोष्ठी के अवसर पर ही प्रस्तुत करने का हमारा विचार है।

सुविधा के लिए कुछ विषय दिए जा रहे हैं–

1. हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं में विज्ञान पत्रकारिता की वर्तमान स्थिति, इतिहास एवं संभावनाएँ।
2. हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं में विज्ञान पत्रिकाओं के प्रकाशन का इतिहास, वर्तमान और भविष्य।
3. हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक पुस्तकों के प्रकाशन का इतिहास, वर्तमान एवं भविष्य।
4. हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं में विज्ञान कथा लेखन—इतिहास, वर्तमान और भविष्य।
5. हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं में विज्ञान लेखन/प्रकाशन संबंधी कठिनाइयाँ एवं उनके निराकरण हेतु सुझाव।
6. हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक शब्दावली के निर्माण एवं प्रयोग सम्बन्धी कठिनाइयाँ एवं उनके निवारण हेतु सुझाव।
7. हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक अनुवाद संबंधी कठिनाइयाँ एवं उनका समाधान।
8. हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य के प्रकाशन में लगी संस्थाओं की स्थापना एवं उपलब्धियों का समीक्षात्मक परिचय। □□

—संपादक

भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान : सफलतायें और सम्भावनायें

डॉ० अशोक कुमार गुप्ता

आज से लगभग तीन दशक पूर्व अंतरिक्ष विज्ञान मात्र गणितज्ञों, पुस्तकों और शोधपत्रिकाओं के मध्य ही सिमट कर रह गया था। आम जनता की रुचि अंतरिक्ष से सम्बन्धित विज्ञान गल्पों तक ही सीमित थी। प्रायोगिक स्तर पर पहली बार चमत्कार तब हुआ जब 1957 में सोवियत रूस ने **स्पुतनिक** उपग्रह का पृथ्वी की कक्षा में सफल प्रक्षेपण किया। इस सफलता ने अंतरिक्ष अनुसंधान के क्षेत्र में सम्भावनाओं के अनेक द्वार खोल दिए। भारत सहित अनेक देशों की रुचि अंतरिक्ष अनुसंधान में जागृत हुई और लगभग पाँच वर्षों की अवधि में (1962 में) अंतरिक्ष विज्ञान की नींव पड़ी। परमाणु विज्ञान विभाग को अंतरिक्ष अनुसंधान सम्बन्धी कार्य सौंपा गया। संयुक्त राष्ट्र संघ की अंतरिक्ष अनुसंधान कमेटी ने भारत के दक्षिणी भाग से गुजरने वाली चुम्बकीय भूमध्य रेखा पर समुद्र के किनारे एक 'रॉकेट प्रक्षेपण स्टेशन' स्थापित करने का सुझाव रखा। परमाणु ऊर्जा विभाग के तत्कालीन अध्यक्ष **डॉ० होमी जहाँगीर भाभा** ने इस प्रस्ताव से प्रभावित होकर **डॉ० विक्रम साराभाई** की अध्यक्षता में 'भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन,' **(इसरो)** का गठन 1963 में किया। सर्वप्रथम **डॉ० साराभाई** तथा उनके सहयोगियों ने गुब्बारे के साथ-साथ रॉकेट द्वारा प्रयोगों की योजना बनाई जिसके लिये प्रक्षेपण केन्द्र की स्थापना हेतु चुम्बकीय भूमध्य रेखा के समीप स्थित केरल में कोई उपयुक्त स्थान का चुनाव किया जाना था। क्विलन, पेरांबूर, थुंबा आदि स्थानों के तकनीकी पहलुओं पर गूढ़ता से विचार-विमर्श के बाद कोयम्बटूर से 12 किलोमीटर दूर स्थित **थुंबा** को ही उपयुक्त पाया गया। स्थान चुनाव के बाद अमेरिका से लिया गया रॉकेट **नाइक एपाचे** का प्रक्षेपण इसी प्रक्षेपण मंच से 21 नवम्बर 1963 को सफलता पूर्वक किया गया। इस प्रक्षेपण का उद्देश्य मौसम सम्बन्धी आँकड़ों की जानकारी करना था। इस सफलता ने भारतीय वैज्ञानिकों में उमंग भर दी परिणामस्वरूप **डॉ० साराभाई** ने रॉकेट का स्वदेश में ही निर्माण करने की एक महत्वाकांक्षी योजना रखी, जिसे पूरा करने में एक रॉकेट का विकास हुआ, जो पूर्णतः भारतीय प्रयासों से विकसित किया गया था। यह एक मीटर लम्बा तथा 75 मि० मी० व्यास वाले **फिनों** द्वारा स्थाईकृत एकचरणी रॉकेट था। इसका नाम रखा गया **रोहिणी**-75। इस रॉकेट का प्रक्षेपण 20 नवम्बर 1967 को थुंबा केन्द्र से किया गया। प्रक्षेपण पूर्णतः सफल रहा। कृत्रिम उपग्रह की महत्ता को देखते हुए तथा अमेरिका, रूस, फ्रांस के उपग्रहों की सफलता एवं उनके उपयोगों को ध्यान में रखते हुए भारत के भावी महत्त्वाकांक्षी अंतरिक्ष कार्यक्रमों को सार्थक करने हेतु **इसरो** ने पूर्णरूप से स्वदेशी तकनीकी से निर्मित एक उपग्रह परियोजना की रूप-रेखा तैयार की। 1972 में 'सोवियत अकादमी ऑव साइन्सेज' से एक समझौते के अनुसार रूसी **कॉस्मास** नामक उपग्रह प्रक्षेपणयान की मदद से प्रथम भारतीय उपग्रह को दो या तीन वर्षों के भीतर छोड़ा जाना सुनिश्चित हुआ। इस परियोजना को महान भारतीय गणितज्ञ **आर्यभट्ट** का नाम दिया गया। मई 1973 को **आर्यभट्ट** को

इलाहाबाद एग्रीकल्चरल इंस्टीट्यूट, इलाहाबाद

गुब्बारे की सहायता से 25 कि० मी० ऊँचाई पर ले जाकर इसकी जाँच की गई। विभिन्न परीक्षणों पर खरा उतरने के बाद **आर्यभट्ट** को **इन्टरकॉस्मास प्रक्षेपक यान** द्वारा 19 अप्रैल 1975 को अंतरिक्ष में स्थापित कर दिया गया। 6 माह की आयु वाले इस उपग्रह ने अपने जीवनकाल से अधिक कार्य किया।

आर्यभट्ट की सफलता के बाद सोवियत रूस से भारत का एक और समझौता हुआ जिसमें भारतीय उपग्रह **को रूसी कॉस्मोड्रॉम** द्वारा अंतरिक्ष में छोड़ा जाना था। कड़ी मेहनत के बाद भारतीय उपग्रह **भास्कर–1** को 1 जून 1979 को सोवियत अंतरिक्ष अड्डे से **इन्टर कॉस्मास** प्रक्षेपण यान द्वारा प्रक्षेपित किया गया। एक वर्ष के जीवनकाल वाले इस उपग्रह ने पृथ्वी के लगभग 72 प्रतिशत भू-भाग का आकलन किया। इसके द्वारा प्राप्त चित्रों, आँकड़ों आदि का मौसम विज्ञान में व्यापक उपयोग किया गया। इसी कार्यक्रम के अन्तर्गत दूसरे परीक्षण भू-उपग्रह **भास्कर–2** का प्रक्षेपण भी सोवियत अंतरिक्ष अड्डे से 20 नवम्बर 1981 को किया गया।

इन सफल प्रक्षेपणों के बाद भारतीय वैज्ञानिकों ने बहुत ही उमंग से रॉकेट निर्माण कार्यक्रमों की गति तेज़ कर दी इस आशय से कि हमें उपग्रह प्रक्षेपण हेतु अन्य देशों का मुँह न ताकना पड़े। इसके लिए एक सर्वथा नये प्रक्षेपण स्थान का भी चुनाव किया जाना आवश्यक था। तकनीकी, भौगोलिक तथा सामाजिक सुरक्षा के दृष्टिकोण से आंध्र प्रदेश स्थित **श्री हरिकोटा** के 150 वर्ग कि० मी० स्थान को चुना गया। आधुनिक प्रक्षेपण मंच, नियंत्रण कक्ष आदि बन जाने के बाद भारतीय वैज्ञानिकों की कड़ी मेहनत तथा लगन से तैयार किये गये प्रथम **ए० एस० एल० वी०–3** प्रक्षेपण वाहन को श्री हरिकोटा से छोड़ा गया पर उड़ान नियन्त्रण प्रणाली में खराबी आ जाने के कारण यह असफल हो गया। पुनः एक वर्ष के अन्दर ही 18 जुलाई 1980 को **ए० एस० एल० वी०–3** की दूसरी उड़ान द्वारा रोहिणी उपग्रह के प्रक्षेपण में ऐतिहासिक सफलता प्राप्त कर भारतीय अंतरिक्ष विज्ञानियों ने अंतरिक्ष विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में एक गौरवपूर्ण युग का सूत्रपात किया। इस सफलता से भारत कुछ विशिष्ट राष्ट्रों की कतार में आ खड़ा हुआ। 40 कि० ग्राम वाले इस **रोहिणी** उपग्रह से प्राप्त चित्रों एवं आँकड़ों के अध्ययन हेतु श्री हरिकोटा, अंडमान निकोबार तथा अहमदाबाद में केन्द्र स्थापित किये गये। इन सफलताओं ने वैज्ञानिकों को आत्मविश्वास तथा अनुभवों से परिपूर्ण किया, फलतः 31 मई 1981 तथा 17 अप्रैल 1983 को विकासात्मक उड़ानों द्वारा **रोहिणी** क्रम के अन्य स्वदेशी उपग्रहों को सफलतापूर्वक प्रक्षेपित किया गया।

1968 में ही राष्ट्रीय उपग्रह संचार अध्ययन समूह का गठन हो गया था। 1969 में इस समूह ने उपग्रह निर्देशीय दूरदर्शन प्रयोग '**साइट**' को अमेरिका की राष्ट्रीय अंतरिक्ष एजेन्सी (**नासा**) के **एटीस–6** उपग्रह द्वारा प्रारंभ करने का प्रस्ताव रखा, जिसे सरकार ने स्वीकार कर लिया। 1975-76 में देशव्यापी स्तर पर कई भूस्टेशनों तथा दूरदराज़ के ग्रामीण क्षेत्रों में सीधे ग्राही दूरदर्शन स्टेशनों की स्थापना की गई। भारतीय अंतरिक्ष विभाग के अंतरिक्ष उपयोग केन्द्र, अहमदाबाद और सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय के दूरदर्शन प्रभाग ने इस प्रयोग को सफल बनाया।

इस तरह **साइट** कार्यक्रमों से भूस्थाई उपग्रहों के देश में उपयोग के लिए विभिन्न भूप्रणालियों की रूपरेखा, निर्माण, स्थापना, क्रियान्वयन, प्रबन्ध एवं रख रखाव का एक ढाँचा तैयार हो गया। **इसरो उपग्रह केन्द्र**, बंगलोर ने प्रायोगिक **एप्पल** उपग्रह तैयार किया, जिसको 19 जून 1981 को यूरोपियन अन्तरिक्ष एजेन्सी के **एरियन** प्रक्षेपण यान द्वारा मौरू, फ्रेंचगयाना से प्रक्षेपित किया गया। उपग्रह संचार की बढ़ती हुई महत्ता को ध्यान में रखते हुये सीधे दूरदर्शन प्रसारण से सारे देश को एक सूत्र में पिरोने के निश्चय से भारतीय संचार उपग्रह **इनसेट**-1 को 1977 में ही परिभाषित कर दिया गया था। अमेरिका के 'फोर्ड एयरोस्पेस एण्ड कम्यूनिकेशन कॉर-

पोरेशन' को जुलाई 1978 में **इनसेट-1 ए** तथा **बी** उपग्रहों के निर्माण का ठेका दिया गया। 10 अप्रैल 1982 को **नासा** के **डेल्टा**-3910 प्रक्षेपणयान द्वारा **इनसेट-1 ए** छोड़ा गया पर दुर्भाग्यवश ईंधन बह जाने के कारण यह उपग्रह 6 सितम्बर 1982 को क्रिया-हीन हो गया। **इनसेट-1 बी** में अधिक सावधानी बरती गई तथा कड़े जाँच-परख के बाद 30 अगस्त 1983 को अमेरिका के अन्तरिक्ष शटल **चैलेन्जर** की तीसरी उड़ान द्वारा **इनसेट-1 बी** को अन्तरिक्ष में स्थापित कर दिया गया। सात वर्षों के जीवनकाल वाले इस उपग्रह में 900 वॉट विद्युत् उत्पादन क्षमता है तथा इसमें उच्च विभेदन रेडियो मीटर (वी० एच० एच० आर०) एवं 0.4-4 गीगा हर्ट्ज में मौसम विज्ञान सम्बन्धी आँकड़े भेजने की क्षमता है। इसके अतिरिक्त 36 मेगाहर्ट्ज चौड़ाई के 6/4 गीगाहर्ट्ज के बारह प्रेषानुकर (ट्रांसपोडर) दूर-संचार के लिए तथा इतनी ही चौड़ाई वाले 6/2·4 गीगाहर्ट्ज की उच्चशक्ति वाले दो प्रेषानुकर दूरदर्शन प्रसारण, रेडियो संचार जाल, ख़तरे की चेतावनी आदि सभी सुविधायें देश भर में उपलब्ध कराते हैं। **इनसेट-1 बी** प्रणाली का दूरसंचार घटक 8000 कि० मी० से अधिक लम्बी दूरी से टेलीफोन सर्किट प्रदान करता है।

भास्कर परियोजना के अन्तर्गत प्रायोगिक भू-प्रेक्षण **भास्कर** उपग्रहों का उद्देश्य भारत के भावी विकासात्मक सुदूर संवेदन उपग्रह के लिये आवश्यक तकनीकी, जानकारी तथा अनुभव प्राप्त करना था। इस परियोजना के आधार पर भारतीय सुदूर संवेदन **(रिमोट सेन्सिंग)** उपग्रह द्वारा पूर्णरूप से स्वदेशी तक-नीक द्वारा निर्मित भारतीय सुदूर संवेदन उपग्रह, **आई० आर० एस०-1 ए** का प्रक्षेपण 17 मार्च 1988 को सोवियत संघ के प्रक्षेपण यान **इन्टरकॉस्मास (वास्तोक)** द्वारा **बैकानूर** अन्तरिक्ष केन्द्र से सफलता-पूर्वक किया गया। यह उपग्रह बंगलोर, हैदराबाद, श्रीहरिकोटा, लखनऊ, तिरूअनन्तपुर, रूस, यूरोपीय अंतरिक्ष एजेन्सी, मारीशस, पश्चिम जर्मनी तथा अमे-रिका के **नासा** को संकेत भेजता है। तीन वर्षों के जीवनकाल वाला यह उपग्रह हर दिन प्रात: 10·25 बजे पृथ्वी से 904 कि० मी० की ऊँचाई पर भारत से गुजरता है। 200 करोड़ लागत वाले इस उपग्रह के शक्तिशाली कैमरे 32 मीटर आकार की वस्तु के अत्यन्त स्पष्ट चित्र एवं बहुउपयोगी आँकड़े भेजने में सक्षम हैं। 103 मिनट में यह पृथ्वी का एक चक्कर पूरा कर लेता है।

इस उपग्रह की मदद से भारतीय अंतरिक्ष अनु-संधान संगठन, राष्ट्रीय एजेन्सियों व अंतरिक्ष उपयोग केन्द्र, अहमदाबाद के माध्यम से एक विस्तृत परीक्षण कार्यक्रम चलाया जा रहा है। इस कार्यक्रम द्वारा फसलों में लगने वाली बीमारियों और कीटों का पता लगाना, वातावरण में नमी की मात्रा, सूखे व बाढ़ का मानीटरण, हिमगलन, भूमिगत जलाशयों का पता लगाना, मिट्टी के प्रकार, भूमिकटाव, मत्स्य-उद्योग, प्रदूषण, समुद्र विज्ञान, मौसम विज्ञान, खनिज भण्डार, पेट्रोलियम के स्रोतों, जंगलों के बारे में जानकारी तथा प्राकृतिक संसाधनों, यहाँ तक कि धूल और रेत में छिपी या दबी सभ्यताओं के अवशेषों के बारे में महत्व-पूर्ण सूचनायें सहज ही प्राप्त हो जायेंगी।

संवर्धित उपग्रह प्रक्षेपक वाहन **ए० एस० एल० वी०** तथा ध्रुवीय उपग्रह प्रक्षेपक वाहन **पी० एस० एल० वी०** की परियोजनायें आरम्भ की गई हैं। इनका मुख्य उद्देश्य **ए० एस० एल० वी०**—3 के ऐसे संवर्धित रूप का निर्माण करना है, जो **रोहिणी** उपग्रह के तीन गुना भार यानी 150 कि० ग्रा० भारवाले उप-ग्रह को निकट भूकक्षा में प्रक्षेपित कर सकने में सक्षम हों। रोहिणी से बड़े तथा उन्नत उपग्रह को स्वदेशी प्रक्षेपक **ए० एस० एल० वी०** द्वारा निकट भूकक्षा में प्रक्षेपित किया जायेगा। **पी० एस० एल० वी०** एक अत्यन्त महत्वाकांक्षी परियोजना है जिसकी लम्बाई **ए० एस० एल० वी०** से दो गुनी अर्थात करीब 44 मीटर एवं भार 1000 कि० ग्रा० होगा। यह सूर्य तुल्यकालिक कक्षा में उपग्रह प्रक्षेपित कर सकेगा।

भारतीय अंतरिक्ष विभाग का एक अन्य **भावी**

लक्ष्य है, भूस्थायी उपग्रह प्रक्षेपक यान परियोजना, **जी० एस० एल० वी०** की, जो 2.5 टन भारवाले **इनसेट**—2 को प्रक्षेपित करने में सक्षम हो तथा एक मुख्य प्रौद्योगिकी द्वारा जिसमें द्रव ऑक्सीजन एवं द्रव हाइड्रोजन पर आधारित क्रायोजनिक इंजिन लगा हो। इन दिनों इस परियोजना पर कार्य आरम्भ हो गया है।

सुदूरसंवेदी एक ऐसी तकनीक है, जिसकी मदद से भूसतह पर स्थित किसी भी वस्तु से उत्पन्न होने वाले या प्रतिबिम्बित होने वाले या टकराने वाले विकिरणों को प्रकाश और अवरक्त किरणों का इस्तेमाल करने वाले कैमरों से नीले-हरे, नीले-लाल और लगभग अवरक्त रंगों के चित्रों में उतारा जा सकता है और फिर इन रंगीन चित्रों को पृथ्वी पर प्राप्त करके उनको वास्तविक दिखने वाले चित्रों में बदला जाता है। इन चित्रों से कृषि, वानिकी, खनिज-संपदा, सागर-सर्वेक्षण, भू-संरक्षण आदि अनेक विषयों पर बहुमूल्य जानकारी इतनी जल्दी मिल जाती है जिसको प्राप्त करने में वैज्ञानिकों के एक बड़े दल को वर्षों का समय लगेगा।

आई० आर० एस०—1ए के सुदूरसंवेदी भाग के मध्य कक्ष में संवेदन प्रणाली है। यह अधिकांशतः देश में ही बनी है। अवरक्त पर्णक्रम पर कार्य करने वाली प्रणाली विदेश से ली गई है। इसके प्रतिबिम्बन सैंसरों (इमेजिंग सैंसर्स), लीनियर इमेजिंग, सेल्फ स्कैनिंग (**एल० ई० एस० एस०**—I एवं IIए और IIबी) किस्म के हैं। उपग्रह में इस किस्म के दो सेंसर लिस्स-प्रथम और लिस्स-द्वितीय लगे हैं। इस प्रकार के सेंसरों का उपयोग पहली बार देश में किया जा रहा है। फ्रांस ने इस प्रणाली का उपयोग अपने सुदूर-संवेदन उपग्रह **'स्पॉट'** में किया है। उपग्रह की प्रणालियाँ सौर पैनल और बैटरियों की मदद से कार्य करती हैं। ये प्रणालियाँ एक समय में 50,000 आदेश ले सकती हैं।

11 मीटर चौड़ाई वाले इस उपग्रह का भार 180 कि०ग्रा० है जिसमें 80 कि० ग्रा० मोनोप्रोपेलेन्ट हाइड्राजीन ईंधन हैं। इस सुदूर संवेदी उपग्रह को इस प्रकार कक्षा में स्थापित किया गया है कि प्रति दिन इसका चित्रण क्षेत्र 130.5 कि० मी० आगे बढ़ जाता है। इस तरह यह 22 दिन में 307 परिक्रमायें करके सम्पूर्ण पृथ्वी के एक-एक किलोमीटर क्षेत्र का चित्र खींच सकता है। हर 22 दिन के बाद यह पुनः अपनी निर्धारित कक्षा में आ जाता है और उसी स्थान का दोबारा चित्र भेज देता है। इस तरह यह उपग्रह दो वर्षों में भारत के एक निश्चित स्थान के ऊपर से 33 बार गुजरता है। यही नहीं, लगभग 3 वर्षों की आयु में एक-एक स्थान के पचास-पचास चित्र यह भेज सकेगा।

आई० आर० एस—1ए उपग्रह प्रतिदिन भारत के ऊपर से आठ बार गुजरता है। हर बार यह भारत के ऊपर पाँच से दस मिनट तक रहता है। पहला चित्र इस उपग्रह ने 21 मार्च को भेजा था। उपग्रह की गति को इस प्रकार निर्धारित किया गया है कि जब भी भूमध्य रेखा को यह पार करता है, उस समय वहाँ सुबह का समय दस बज कर पच्चीस मिनट होता है। उस समय चित्र लेने के लिये प्रकाश की स्थिति सर्वोत्तम रहती है। इसमें 6 पैनलों से ऊर्जा मिलती है और 709 वाट बिजली पैदा होती है जब सूर्य-प्रकाश का अभाव रहता है तो इसे चालू रखने के लिये दो निकिल-कैडमियम बैटरियाँ भी लगाई गई हैं। उपग्रह के अति संवेदी तीन कैमरों को निर्धारित सीमा के अन्दर रखने के लिए उपग्रह की अपनी वातानुकूलन प्रणाली है, जो कैमरों को ठंडा या गर्म नहीं होने देती। **आई० आर० एस०** श्रृंखला के अन्तर्गत 1990 तक एक अन्य उपग्रह **आई० आर० एस० ई० एम०** प्रक्षेपित करने की योजना है। **आई० आर० एस०—1 बी०** तथा **आई० आर० एस०—1 सी०** हर 2 वर्ष बाद प्रक्षेपित किया जायेगा।

भारतीय वैज्ञानिकों को कुछ असफलताओं ने सचेत कर दिया है ताकि भविष्य में असफलताओं का मुँह न देखना पड़े। **ए० एस० एल वी०**-प्रथम 24 मार्च 1987 को असफल हो गया। 13 जुलाई

[शेष पृष्ठ 23 पर]

विज्ञान परिषद् में हिन्दी दिवस | प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

14 सितम्बर 1988 को **हिन्दी दिवस** के अवसर पर 'विज्ञान परिषद्, प्रयाग' में '**वैज्ञानिक विकास में राष्ट्रभाषा की भूमिका** 'विषय पर एक गोष्ठी आयोजित की गयी। गोष्ठी की अध्यक्षता उत्तर प्रदेश के अवकाशप्राप्त संयुक्त निदेशक (उच्च शिक्षा) **डॉ० ओंकार नाथ श्रीवास्तव** ने की। परिषद् के प्रधानमंत्री **डॉ० पूर्णचंद्र गुप्त** ने विषय प्रवर्तन करते हुए कहा कि हिन्दी जानने वालों की संख्या देश में 38 करोड़ तथा विदेशों में 7 करोड़ है। इस प्रकार पूरे विश्व में बोलने-समझने वालों के लिहाज से, अंग्रेजी के बाद हिन्दी का ही स्थान है। अतः हमें निराश होने के बजाय अपने प्रयत्नों को संगठित और समन्वित करना चाहिए। बहस को आगे बढ़ाते हुए 'विज्ञान' मासिक पत्रिका के संपादक **प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव** ने बताया कि देश में पाँच प्रदेश हिन्दीभाषी हैं, अतः अन्य प्रादेशिक भाषाओं की तुलना में हिन्दी में पाँचगुना काम होना चाहिए था। लेकिन, दुर्भाग्य से, हिन्दी में अपेक्षित प्रगति नहीं हो सकी है। हिन्दी में सृजित वैज्ञानिक साहित्य की रफ्तार धीमी है। इसका मूल कारण हिन्दीभाषी क्षेत्र के वैज्ञानिकों का अंग्रेजी के प्रति झूठा व्यामोह है। उन्होंने सुझाव दिया कि हिन्दी भाषी वैज्ञानिक अंग्रेज़ी में लिखने के साथ-साथ हिन्दी में भी अवश्य लिखें।

परिषद् के संयुक्त मंत्री **श्री अनिल कुमार शुक्ल** ने 'वैज्ञानिक विकास' में 'राष्ट्रभाषा' की भूमिका के दोनों पहलू स्पष्ट किये। उन्होंने मत व्यक्त किया कि वैज्ञानिकों की संख्या की दृष्टि से, भारत का क्रम विश्व में तीसरा है, किन्तु भारतीय जनता को यह पता ही नहीं चल पाता कि इतनी बड़ी संख्या कौन सा शोध करती है। श्री शुक्ल के अनुसार इसका यह मतलब नहीं कि भारतीय वैज्ञानिक कोई उल्लेखनीय काम नहीं करते—बल्कि यथार्थ में उनके द्वारा किये गये कार्यों की जानकारी जनता तक पहुँच ही नहीं पाती। यदि विभिन्न भारतीय शोधों को अंग्रेज़ी के साथ-साथ हिन्दी में भी प्रकाशित करने की व्यवस्था हो जाय तो स्थिति बदल जायेगी। भारतीयों को अपने देशवासी वैज्ञानिकों द्वारा किये गये कार्यों की जानकारी भी हो जायेगी और उनका आत्मविश्वास भी बढ़ जायेगा। इस बढ़े हुए आत्मविश्वास का सबसे बड़ा फायदा मनोवैज्ञानिक होगा। अधिकाधिक लोग 'विज्ञान' की ओर उन्मुख होंगे तथा वैज्ञानिक शोध व विकास का स्तर सुधरेगा। दूसरी तरफ, नयी तकनीकों की जानकारी होने पर जनता में उनकी माँग होगी। इसके फलस्वरूप नयी उन्नत तकनीकों पर आधारित उद्योगों का विकास होगा। यानि तकनीकों के प्रयोगशालाओं तक ही सीमित रह जाने की समस्या भी सुलझ जायेगी। अतः वैज्ञानिक विकास में राष्ट्रभाषा की भूमिका की अनदेखी नहीं की जानी चाहिए।

डॉ० अशोक कुमार गुप्ता ने गोष्ठी का रुख़ ग्रामीण विकास की तरफ मोड़ते हुए उन 70% किसानों की याद दिलाई, जो उर्वरक, पेस्टिसाइड, इन्सेक्टिसाइड आदि के सही प्रयोग से वाकिफ़ न होने के कारण नुकसान उठा रहे हैं। सही समय और सही मात्रा में बीज, उर्वरक, सिंचाई आदि का प्रयोग न करने से खेतों के ऊसर होने, सीलन पैदा होने अथवा भूमिगत जलस्तर के घट जाने से अनेक कठिनाइयाँ पैदा हो रही हैं। परिणामस्वरूप देश का किसान 'विज्ञान' को कोसने लगा है—जबकि असली कारण है सही तकनीक का किसानों तक न पहुँच पाना। वैज्ञानिक खेती

की यह तकनीक जनभाषाओं के जरिए ही जनता तक पहुँचनी चाहिए न कि अंग्रेजी के द्वारा। अंग्रेजी तो मात्र 1.5 करोड़ भारतीयों तक पहुँच सकती है, पर हिन्दी 38 करोड़ भारतीयों की सेवा कर सकती है।

अपने अध्यक्षीय भाषण में **डॉ० ओंकारनाथ श्रीवास्तव** जी ने डॉ० गुप्ता की ही बात को आगे बढ़ाते हुए सुझाव दिया कि प्रौढ़शिक्षा कार्यक्रमों में ग्रामीणों को किसानी की मूलभूत बातों की जानकारी दी जानी चाहिए—उन्हें वैज्ञानिक खेती के तौर-तरीकों से परिचित कराया जाना चाहिए। वैज्ञानिक संस्थाओं को चाहिए कि वे प्रौढ़ शिक्षा केन्द्रों के लिए संबंधित पुस्तिकाएँ प्रकाशित करें। उन्होंने यह भी सुझाव दिया कि विज्ञान के पारिभाषिक शब्दों को हिन्दी की ध्वनिव्यंजना के हिसाब से, तद्भव शब्दों के रूप में सरल किया जाना चाहिए।

संस्तुतियाँ

अध्यक्षीय भाषण के उपरांत, अध्यक्ष जी की अनुमति से वक्ताओं द्वारा व्यक्त विचारों पर खुली परिचर्चा का क्रम आरंभ हुआ। परिचर्चा में **प्रोफेसर हनुमान प्रसाद तिवारी**, **डॉ० जगदीश सिंह चौहान**, **डॉ० रामसुरंजन धर दुबे** आदि अन्य लोगों ने भी अनेक सुझाव दिये। इस परिचर्चा में व्यक्त मतों के आधार पर निम्न प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकार किये गये—

(1) किसी भी देश की समृद्धि और सम्पन्नता का आधार वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति है, क्योंकि आज विश्व में जो भी समृद्ध देश हैं उन्हें यह सम्पन्नता विज्ञान और तकनीकी की प्रगति द्वारा ही मिली है। साथ ही, इन देशों में विज्ञान और तकनीकी विकास का माध्यम उनकी अपनी-अपनी राष्ट्रभाषायें ही रही हैं। अतः अपने राष्ट्र को उन्नत बनाने के लिए, हम अंग्रेज़ी का मोह त्यागकर अपनी राष्ट्रभाषा हिन्दी का ही उपयोग करें।

(2) ज्ञान-विज्ञान के संप्रेषण का सफल माध्यम होने के साथ-साथ राष्ट्रभाषा देश की एकता की कड़ी भी है। इस कड़ी को मज़बूत बनाने के लिए हमें अन्य भारतीय भाषाओं के अधिकाधिक शब्दों को हिन्दी में ग्रहण कर लेना चाहिए। इससे एक ओर हिन्दी भाषा का शब्द भंडार बढ़ेगा और दूसरी ओर अहिंदीभाषी लोगों को राष्ट्रभाषा में अपनी भाषा की झलक मिलेगी और राष्ट्रभाषा के प्रति उनका आकर्षण बढ़ेगा।

(3) देश की सभी वैज्ञानिक शोधपत्रिकाओं को अविलम्ब द्विभाषी बना दिया जाय ताकि सारी हिन्दी-इतर शोधपत्रिकाओं में निहित ज्ञान का लाभ राष्ट्रभाषा के माध्यम से समूचे देश को मिले। इसकी शुरुआत सभी शोध-आलेखों के सारांश हिन्दी में भी प्रकाशित करके सहज ही संभव है। □□

[पृष्ठ 21 का शेषांश]

1988 को श्रीहरिकोटा से छोड़ा गया **ए० एस० एल० वी०** भी असफल हो गया। इसी प्रकार 22 जुलाई 1988 को फ्रेंच गयाना से छोड़े गए **इन्सेट—1 सी०** के सौर पैनल (सार ऊर्जा प्रणाली) में कुछ खराबी आ जाने से यह अपनी पूरी क्षमता से काम नहीं कर पा रहा है। पर अंतरिक्ष विज्ञान की ये छोटी-मोटी असफलतायें नगण्य हैं। इनसे भविष्य में और भी अच्छे कार्यक्रम बनाने की प्रेरणा मिलती है। □□

निवेदन

पाठकों से अनुरोध है कि वे कृपया 2 पृष्ठों में हमें संस्मरण के रूप में यह लिख भेजें कि वे किस प्रकार 'विज्ञान परिषद्, प्रयाग' से, 'विज्ञान' पत्रिका से अथवा 'विज्ञान परिषद् अनुसंधान पत्रिका' से अवगत हुए और उन्हें विज्ञान में रुचि उत्पन्न करने अथवा हिन्दी में लिखने के लिए परिषद् अथवा परिषद् से संबंधित किस व्यक्ति से प्रेरणा मिली।

—संपादक

विज्ञान वक्तव्य

प्रिय पाठको !

'विज्ञान' का यह अंक आपके हाथों में देते हुए मैं अजीब तरह की मानसिक स्थिति से गुजर रहा हूँ। प्रसन्नता इस बात की है कि इस अंक के माध्यम से मैं 'विज्ञान परिषद्, प्रयाग' के 75वें वर्ष में अमृत महोत्सव कार्यक्रमों के अंतर्गत परिषद् द्वारा आयोजित की जाने वाली अनेक योजनाओं के सम्बन्ध में आपसें बात-चीत कर रहा हूँ। आपको स्मरण दिला दूँ कि इन कार्यक्रमों की कड़ी में ही 5 जून को 'विश्व-पर्यावरण दिवस' के अवसर पर परिषद् में एक गोष्ठी की गई थी। इसकी रिपोर्ट 'विज्ञान प्रगति' और 'आविष्कार' पत्रिकाओं में प्रकाशित भी हो चुकी है। इस गोष्ठी में प्रस्तुत आलेखों को 'विज्ञान' के जून-जुलाई अंक में प्रकाशित किया गया है। 14 सितम्बर को 'हिन्दी दिवस' के अवसर पर भी 'वैज्ञानिक विकास में राष्ट्रभाषा की भूमिका' विषय पर एक गोष्ठी परिषद् द्वारा आयोजित की गई थी। इसकी रिपोर्ट प्रस्तुत अंक में प्रकाशित की जा रही है। आपको इस गोष्ठी की संक्षिप्त रिपोर्ट संभवतः अन्य पत्रिकाओं में भी देखने को मिले।

अक्टूबर माह का प्रथम सप्ताह 'वन्य जीव सप्ताह' के रूप में मनाया जाता है। अतएव 7 अक्टूबर को परिषद् में 'वन्य जीव संरक्षण' विषय पर भी एक गोष्ठी की जायेगी।

नवम्बर अथवा दिसम्बर माह में 'भारतीय भाषाओं में विज्ञान लेखन' विषय पर एक अखिल भारतीय संगोष्ठी की जायेगी। इस गोष्ठी में हिन्दी एवं हिन्दीतर भारतीय भाषाओं के लेखकों को एक मंच पर लाकर सभी भारतीय भाषाओं की विज्ञान लेखन संबंधी समस्याओं पर विचार-विमर्श द्वारा समाधान ढूंढ़ने का प्रयास होगा।

'विज्ञान परिषद्, प्रयाग' विज्ञान की पुरानी संस्था है। इसने 75 वर्ष आपके सहयोग, स्नेह और कृपा द्वारा ही पूरे किए हैं। इस बीच विज्ञान की अनेक संस्थायें बनीं और टूटीं। अनेक विज्ञान पत्रिकाओं का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ और बंद हुआ। पर यदि 'विज्ञान' पत्रिका आज भी प्रकाशित हो रही है तो इसका श्रेय केवल आप सब को ही है। हम अनेक कार्यक्रम आपके बल-बूते पर ही आयोजित करने का संकल्प कर बैठते हैं और आपका सहयोग प्राप्त होते ही पूरा भी कर लेते हैं।

अमृत महोत्सव संबंधी अनेक कार्यक्रम आपके ही सहारे हमने अब तक पूरे किये हैं और आगे भी आपके सहयोग से पूरा करेंगे।

पर एक बात की आपको सूचना देते हुए मुझे थोड़ा दुःख हो रहा है। आर्थिक कठिनाइयाँ कुछ ऐसी हैं कि 'विज्ञान' के अक्टूबर, नवम्बर एवं दिसम्बर माहों के अंक हम प्रकाशित नहीं कर पायेंगे। अतएव तीन महीने का जो लम्बा अन्तराल होगा वह निश्चय ही मेरे साथ-साथ आप सबके लिए भी दुःखदायी होगा जिसके लिए हम क्षमाप्रार्थी हैं। इस बीच एक तो 'स्मारिका' का प्रकाशन होना है और दूसरा नवम्बर-दिसम्बर माह में आयोजित गोष्ठी के लिए प्राप्त आलेखों का पुस्तक रूप में प्रकाशन।

आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि 'विज्ञान' के सभी ग्राहकों को 'विज्ञान' पत्रिका के अक्टूबर, नवम्बर और दिसम्बर अंकों के स्थान पर ये दोनों प्रकाशन पूर्ववत् भेजे जायेंगे।

अंत में मैं आपसे विनम्र निवेदन करता हूँ कि आप अपने संस्मरण और गोष्ठी के लिए आलेख शीघ्र भेज कर अनुग्रहीत करें ताकि आपका आलेख 'स्मारिका' और पुस्तक में सम्मिलित किया जा सके।

परिषद् की अमृत जयंती के अवसर पर मेरा अभिनन्दन, मेरी शुभकामनायें स्वीकार करें और अपना आशीष भेजें। □□

के लिए। उदाहरण के लिए 'रॉयल सोसायटी' की स्थापना हुई, बड़ी नहीं, छोटी-छोटी समस्याओं पर विचार-विमर्श के लिए। विशेष रूप से भौतिकी और रसायन विज्ञान की समस्याओं पर विचार के लिए। अन्य विज्ञानों में भी ऐसा ही हुआ। कणाद नामक भारतीय वैज्ञानिक ने पहले ही 'अणुओं' की बात कही थी। बाद में PV=RT की बात भी प्रकाश में आई। प्लांक के सार्वभौमिक स्थिरांक 'h' का प्रयोग हाइजनबर्ग ने अपने 'अनिश्चितता' के सिद्धान्त में किया। (ब्वायल्स और चार्ल्स लॉ भी बाद में प्रकाश में आये।) वायु क्यों संकुचित हुई और उसका क्या प्रयोग हो सकता है, इसे उस समय कोई सोच भी नहीं सकता था। पर अब इस विषय में विचार व्यक्त किया जाने लगा। इस प्रकार इसी आधार पर अणुओं और परमाणुओं की बड़ी-बड़ी समस्याओं पर लोग सोचने लगे। यौगिकों को गर्म करने, तौलने की बात आगे आई। 'फ्लॉजिस्टन थियरी' का आविर्भाव हुआ। यह वह शिला है जिस पर रसायनशास्त्र का आधार तैयार हो रहा था। इसी पर विशाल रसायनशास्त्र की नींव पड़ी। आज हम उस युग को विज्ञान का आदिम या बचकाना युग कहते हैं।

16वीं, 17वीं और 18वीं शती में विचार आगे बढ़ते रहे। 19वीं शती तक काफी प्रगति हुई। PV=RT स्वीकृत हो गया। यह बात समझ में आई कि कुछ गैसें ऐसी हैं जिन्हें द्रव में परिवर्तित किया जा सकता है और कुछ ठोस भी। कुछ गैसें गैस अवस्था में ही रहीं। इसी के साथ-साथ मानव मस्तिष्क बहुत तेज़ी से काम कर रहा था। 1923 में मैंने इण्टर किया, 1925 में बी० एस-सी० और 1927 में एम० एस-सी०। ये सन् मैं इसलिए नहीं बता रहा हूँ कि अपने विषय में बताना चाहता हूँ। यह समय विज्ञान के उत्थान का था। धीरे-धीरे विचारक गणित और तर्क की ओर उन्मुख हुये पर इससे न तो विश्व की व्याख्या हो सकती थी और न अणु की ही। इसे समझने के लिए गणित के नये फार्मूले का पता लगा। डॉ० वैन्टहॉफ के 'थर्मोडायनमिक्स' के समीकरण ने रसायन विज्ञान में तहलका मचा दिया था। वैन्टहॉफ प्रथम 'नोबेल पुरस्कार' प्राप्त रसायनज्ञ थे। उन्हें यह पुरस्कार 1901 में प्रदान किया गया था। इसी थर्मोडायनमिक्स के समीकरण के आधार पर द्रव्य के सम्बन्ध में सभी कुछ कसा जाने लगा। द्रव्य और ऊर्जा के रूपांतर होते हैं, पर न तो द्रव्य नष्ट होता है और न ऊर्जा ही। इस प्रकार 'लॉ ऑव कंजर्वेशन' (Law of Conservation) का आविर्भाव हुआ। एक अलग शास्त्र विकसित हुआ। इसी के साथ 'क्वांटम केमिस्ट्री' आ गई।

हमारा कोई भी सिद्धान्त गलत नहीं होता क्योंकि वह प्रत्यक्ष पर आधारित है। अतएव सत्य तो होगा ही, पर जब प्रयोग हुये और प्रयोग की क्षमता बढ़ी तो पता लगा कि इनकी सीमाओं का विस्तार हो गया। विज्ञान प्रत्यक्ष पर चलता है पर इसे कितना त्रुटिरहित रखकर यथार्थ रखकर नापा जा सकता है। जब स्थूल तराजू सूक्ष्म बनने लगे तब दूसरे और तीसरे दशमलव के अन्तर को भी नापना आवश्यक हो गया। अतः छोटे-छोटे अन्तरों पर ध्यान दिया जाने लगा। लम्बाई, द्रव्यमान और समय पर सभी माप हैं। तब लगा हवा में कुछ और भी छिपा है। हाइड्रोजन, ऑक्सीजन, नाइट्रोजन के अतिरिक्त भी कुछ और अर्थात् और भी गैसें या तत्व हवा में हैं।

जब 'क्वार्टज' की घड़ियाँ बनीं तब हम समय को और भी ठीक से जानने लगे। इन उपकरणों ने विज्ञान की प्रगति में बड़ी सहायता की। ज्यों-ज्यों हमारे वैज्ञानिक उपकरण सूक्ष्म होते गये, त्यों-त्यों विज्ञान के विचार भी सूक्ष्म होते गये। यह सब बीसवीं शती में ही हुआ। पुराने गणित से छुटकारा मिला। आइंस्टाइन-बोस सांख्यिकी आने पर विज्ञान का नया युग आया। पिछले 50 वर्ष विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं। आज हमारे पास सूक्ष्म से सूक्ष्म उपकरण हैं और नया गणित है। इस कारण विचार भी सूक्ष्म होते गये। बीसवीं शती के विज्ञान का इतिहास विज्ञान के चरमोत्कर्ष का इतिहास है। आज विज्ञान निस्सीम हो